श्रीपूज्यपादाचार्यविरचिता

सर्वार्थसिद्धिः

चतुर्थ संस्करण

1. मूल और अनुवाद

समग्र जैन परम्परामे मूल तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध टीकाओमे लिखी गई 'सर्वार्थसिद्धिवृत्ति' यह प्रथम टीका है और सर्वाग अध्ययन करनेके वाद निश्चित होना है कि 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' इसके वादकी रचना है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके मध्यकालमे रची गयी है। यही कारण है कि तत्त्वार्थभाष्यमे स्वीकृत अनेक सूत्रोकी उसमे आलोचना दृष्टिगोचर होती है,[1] जवकि सर्वार्थसिद्धिवृत्तिके पहले तत्त्वार्थ-भाष्य लिखा गया था इस वात का आभास भी नही मिलता। यह ठीक है कि सर्वार्थसिद्धिकी रचना होनेके पूर्व श्वेताम्बर परम्परा मान्य तथाकथित आचारागादि नामवाले अगो की रचना हो गई थी। अन्यथा सर्वार्थ-सिद्धिमे केवलिकवलाहार आदि जैसे विपयोकी आलोचना दृष्टिगोचर नही होती।[2]

यह वस्तुस्थिति है। प्रज्ञाचक्षु स्व० श्री प० सुखलालजी इस स्थितिसे अच्छी तरह परिचित थे। फिर भी उनके द्वारा अनूदित तत्त्वार्थसूत्र के तृतीय सस्करण की प्रस्तावना पर दृष्टिपात करने से ऐसा नही लगता है कि उन्होंने अपने पुराने विचारो मे यत्किचित् भी परिवर्तन किया है। अस्तु, हम तो अभी तक जैन दर्शनकी शिक्षा द्वारा यही जान पाये हैं कि मोक्ष का अर्थ है आत्मा का सयोग और सयोग-वृत्ति से छुटकारा पाकर अकेला होना। और यह तभी सम्भव है जब जीवनमे पूर्ण स्वावलम्वन को वाहर-भीतर दोनो प्रकार से अगीकार किया जाय। दिगम्बर परम्परा पर हमारी श्रद्धा होनेका कारण भी यही है। इसलिए जहाँ हम जैनदर्शनके इस परमार्थभूत निष्कर्ष को स्वीकार करते हैं वहाँ हम तत्सम्बन्धी साहित्य की ऐतिहासिकता को भी उसी रूपमे स्वीकार करते हैं जिस क्रम से वह लिपिवद्ध होकर प्रकाशमे आया है। श्वेताम्बर परम्परा का आगम साहित्य ईसा की पाँचवी शताब्दी मे सकलित हुआ यह हमें मान्य है। अत स्पष्ट है कि उसका समर्थक अन्य साहित्य भी उसके वाद ही लिखा गया है। यही कारण है कि उसी सम्प्रदाय के लेखको ने 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' के लेखनकाल को आठवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से किये गये इस प्रकार के सामान्य अवलोकनके वाद, अव यहाँ हम सर्वार्थसिद्धि-के द्वितीय सस्करण के मूल और अनुवाद मे जो आवश्यक सशोधन किये गये उन्हें क्रम से यहाँ दे रहे हैं—

द्वितीय संस्करण	पृ०-पं०	प्रस्तुत संस्करण	पृ०-पं०
जीवमे जीवत्व सदा पाया जाता है	13-30	जीवन सामान्यकी अपेक्षा जीव सदा विद्यमान है।	13-30
शास्त्रमे अनेक	14-17	शास्त्रोमे प्रयोजनके अनुसार	14-18
स्वरूप प्रमाणो और नयोंके	14-35	स्वरूप दोनो प्रमाणो और विविध नयोंके	15-1
ज्ञान तो केवलज्ञानरूप तो माने ही गये हैं।	15-30	ज्ञान मात्र ज्ञानरूप माने गये हैं	15-31

---

1 पृथुतरा इति केषांचित् पाठ त०वा० 3-1। अथान्ये धर्माधर्मकालाकाशेषु अनादिः परिणामः आदिमान् जीवपुद्गलेषु इति वदन्ति। त०वा० 5-41 वार्तिक।

2. स०सि० 6-13।

द्वितीय संस्करण	पृ०-पं०	प्रस्तुत संस्करण	पृ०-पं०
क्षायोपशमिक पर्याप्त	16-35	क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्त	17-3
किन्तु अयोगी	17-30	किन्तु अपगतवेदी	17-32
सम्यग्दृष्टि जीव	19-13	क्षायिक सम्यग्दृष्टि और कृतकृत्यवेदक-सम्यग्दृष्टि जीव	19-15
सन्ति	23-10	सन्ति । अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्या-दीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति	23-13
सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर संयता-संयत तक पुरुषवेदवाले जीवों की वही संख्या है जो सामान्यसे कही है । प्रमत्त-संयतसे लेकर अनिवृत्ति-	26-28	सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-	27-2
अष्टौ भागा वा चतुर्दशभागा देशोना	33-2	अष्टौ द्वादश चतुर्दश भागा वा देशोना	33-2
तिर्यंचोंका	35-12	पचेन्द्रियों का	35-21
कम एकसौ बत्तीस	46-33	कम दो छ्यासठ	47-27
केवल क्षयोपशम	66-25	केवल बढ़ी हुई क्षयोपशम	68-13
रहित है	72-27	रहित होकर विषयको ग्रहण करता है	74-19
देशको विषय	77-11	देशमें स्थित पदार्थको विषय	78-33
देशघाती स्पर्धकोंका उदय	88-16	देशघाती स्पर्धकोंका उदय रहते हुए सर्वघाती स्पर्धकोंका उदया-	90-17
उदय का अभाव	112-14	स्वरूपसे उदय न होना	114-14
उनकी उदीरणा	112-16	उदयावलिसे ऊपरके उन निषेकोंकी	114-16
योगप्रवृत्तिके उदयसे अनुरंजित		योगप्रवृत्ति कषायोंके उदय से अनुरंजित होती रही ।	115-15
समाधान—आत्माके	114-17	समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के	116-23
ज्ञानकी पर्यायका	126-12	ज्ञानकी जाननेके सम्मुख हुई पर्यायका	128-16
भाव है । इस	135-21	भाव है । ये सब मिलाकर नौ योनियाँ जानना चाहिए ।	137-24
मध्यम मेरु	154-19	मध्यमें नाभिके समान मेरु	157-26
शब्द समुच्चय वाची	157-21	शब्द मध्यभागका समुच्चय करने के लिए	160-25
लम्बा है और पांचसौ	157-32	लम्बा है तथा उत्तर और दक्षिण पाँचसौ	161-16
आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार	162-15	आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार क्रम से	165-24
रहने से है यह अनुमान किया	165-32	रहने से यह प्रासाद दुमंजिला है यह समझा	169-24
स्थिति है और	192-36	स्थिति है, विजयादिकमें तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और	197-24
[illegible]	200-13	रूपमिति	206-2

द्वितीय संस्करण	पृ०-पं०	प्रस्तुत संस्करण	पृ०-पं०
असातारूप	214-24	असाताके उदयरूप	219-32
कषायरहित। कषाय अर्थात् क्रोधादि कषायके	240-20	कषाय रहित। क्रोधादि कषाय कहलाते हैं। कषाय के	246-18
रागवश प्रमादीका	241-26	रागवश स्नेहसिक्त होने का कारण प्रमादीका	247-26
पडनेवाले काय	252-25	पडनेवाले अनुपाय काय	258-34
तव भी योगवक्रता स्वगत है और विसवादन परगत है	253-22	तव भी स्वगत योगवक्रता कही जाती है और परगत विसवादन	259-30
वे कर्मस्कन्ध	307-20	वे आठ प्रकार की कर्मप्रकृतियो के योग्य कर्मस्कन्ध	315-35
-मन्त्यम्। तत्सामी-	341-11	मन्त्यम्। अन्त्य शुक्लम्। तत्सामी-	351-11
विप	342-21	अप्रिय है। विष	352-19
समाधान—वृद्धिको	356-27	समाधान -परिणामोकी विशुद्धि द्वारा वृद्धि	367-27
—स्वभावरूप केवल	357-25	-स्वभाव अवितर्क्य विभूति विशेष रूप	368-23

2 परिशिष्ट-2

पृष्ठ 390 क्रमाक 17.1—इसके अन्तर्गत 'तिरश्चीना क्षायिक नास्ति' इससे आगेका कथन मूल सर्वार्थसिद्धिका नही है यह इसीसे स्पष्ट है कि जो भी कृत्यकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरणकर चारो गतियोमे उत्पन्न होता है वह प्रथम नरक को छोडकर शेष तीन गतियोके पुरुषवेदियामे ही उत्पन्न होता है। वह न तो मरकर नपुसकवेदियोमे उत्पन्न होता है और न ही स्त्रीवेदियोमे। यदि मूलमे 'तिरश्चीना क्षायिक नास्ति' यह वचन न होता तो भी कोई आपत्ति नही थी। परन्तु सभी हस्तलिखित प्रतियोमे इस वचन के होनेसे हमने उसे मूलमे यथावस्थित रखा है। इस वाक्यके रहनेसे भवान्तरकी अपेक्षा मनुष्योमे भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कृत्यकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरणकर मनुष्यनियोमे नही उत्पन्न होता है इसका निर्देश करनेवाला वचन भी मूलमे होना चाहिए था। परन्तु कोई भी सम्यग्दृष्टि मरणकर प्रथम नरकको छोडकर निरपवाद रूपसे पुरुषवेदियोमे ही उत्पन्न होता है, अन्यमे नही—इस वचन से ही उक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है।

पृ० 395 पक्ति 29 मे निन्यानवें लाखके आगे निन्यानवें हजारकी छूट है तथा यहाँ जो सर्वसयतोकी सख्या दी है वह उपशम श्रेणीके चार गुणस्थानोमे से प्रत्येक गुणस्थानमे 299 तथा दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार क्षपकके प्रत्येक गुणस्थानकी और अयोगिकेवलीकी सख्या 598 स्वीकार कर सव सयतोकी सख्या 89999997 दी है। अत· प्रमत्तसयतसे लेकर पूरी सख्याका योग 89999997 होता है। यथा—

प्रमत्तसयत 59398206 + अप्रमत्त सयत 29699103 + चारो उपशमक 1196 + चारो क्षपक 2392 + सयोगकेवली 898502 + अयोगकेवली 598 = 89999997।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि उक्त पृष्ठ 395 पक्ति 19 मे जो "यदि कदाचित् एकस्मिन् समये सभवन्ति" यह कहा है सो सयतो की उक्त सख्या कभी भी एक समयमे न जानकर विवक्षा विशेषमे यह सख्या कही है। कारण कि न तो उपशमश्रेणिके चारो गुणस्थानोमे से प्रत्येकमे एक ही समयमे अपने-अपने गुणस्थान की सख्या का प्राप्त होना सम्भव है और न क्षपकश्रेणिके चारो गुणस्थानोमे से प्रत्येकमे एक ही समयमे अपने-अपने गुणस्थानकी सख्याका प्राप्त होना सम्भव है। हाँ, उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके प्रत्येक गुणस्थानमे, क्रमसे अपने-अपने गुणस्थानकी सख्या का कालभेदसे प्राप्त होना अवश्य सम्भव है। कारण कि जो जीव आठ समयोंमे इन श्रेणियोके आठवें गुणस्थानमे चढे वे ही अन्तर्मुहूर्त वाद नौवे गुणस्थानमे पहुँचते

3 इसपर टीका लिखनेका उपक्रम जगरूपसहायजी वकील एटा निवासीने भी किया है। जब वकील सा० इस टीकाको तैयार कर रहे थे तभी मैं श्री स्याद्वाद दिग० जैन महाविद्यालयके धर्माध्यापक पदसे अलग हो गया था। अत वकील सा० ने उसमे आवश्यक सशोधन व सुधार आदि करनेके लिए मुझे दिल्ली आमन्त्रित कर लिया था और एक माह रहकर मैंने उसमे आवश्यक सशोधन भी किया था। किन्तु काम हो जानेपर बिना सहारेके मुझे उससे अलग हो जाना पडा था। इस समय वह भी हमारे सामने नही है, अन्यथा उसमे क्या विशेषता आदि है इसपर भी मैं विशेष प्रकाश डालनेका उपक्रम करता।

इन तीनके अतिरिक्त अन्य किसीने सर्वार्थसिद्धिका हिन्दी अनुवाद या उसकी भाषा-वचनिका लिखी है, इसकी मुझे विशेष जानकारी नही है। विज्ञेषु किमधिकम्।

4. आभार

जैसाकि मैं प्रारम्भमें ही लिख आयाहूँ यह मूलानुगामी अनुवादसहित सर्वार्थसिद्धि-वृत्तिका जो सस्करण हमारे सामने उपस्थित है वह दूसरा सस्करण है। इसमे जो सशोधन हमने किये हैं उनके साथही थोडा-भी फेर-बदल किये बिना प्रस्तुत सस्करण मुद्रित होना है। भारतीय ज्ञानपीठके आदरणीय भाई लक्ष्मीचन्द्रजी की सूचना पर हमने मुद्रणके लिए यह सस्करण तैयार किया है, अत. हम उनके विशेष आभारी हैं। साथही, हम डॉ गुलाबचन्द्रजीके और भी विशेष आभारी है। यह उन्हीकी सत्प्रेरणाका फल है कि हम इस सस्करण का उनने अल्पकालम सशोधन-सम्पादन कर सके है। इस सस्करणके तैयार करनेमे हमने मूल और अनुवाद का अक्षरश मिलान किया है। और मूल और अनुवादमे जो सशोधन आवश्यक थे वे किए गये हैं। इसकी प्रस्तावनाका भी हमने अक्षरश पुन निरीक्षण किया है। उसमे ऐसी कोई बात नही लिखी गई है जिसकी आगमसे पुष्टि नही होती। आगमकी कसौटी पर कभी भी उसे कसा जा सकता है। इसी प्रस्तावना पर ही दिल्लीमें विज्ञानभवनम प्रशस्ति-पत्रके साथ भारतके उपराष्ट्रपतिके द्वारा न केवल हमारा स्वागत सत्कार हुआ था, अपितु हम 'सिद्धान्तरत्न' जैसी मानद उपाधिसे भी अलकृत किया गया था। यह सब पूज्य एलाचार्य विद्यानन्द महाराजकी सूझ-बूझका परिणाम है, अत' हम उनके प्रति विशेष आभारी है। हम चाहते है कि भारत-वर्षमें आगमानुसारी जितने भी विद्वान् हैं उन सबका भी इसी प्रकार स्वागत-सत्कार होना चाहिए। यह विशिष्ट बात है, जिससे प्रकार शास्त्रीय विद्वानोंकी यह परम्परा अविच्छिन्न चलती रहे—यह हमारी हार्दिक इच्छा है। पूज्य एलाचार्यजी महाराजमे वे सब गुण विद्यमान हैं, समाज पर उनका अक्षुण्ण प्रभाव भी है। वे यदि इस कार्यको अपने हाथमे ले तो हमे ऐसा एक भी कारण नही दिखाई देता कि इसमे सफलता नही मिलेगी, अवश्य मिलेगी ऐसा हमारा विश्वास है।

5 जुलाई 1983

—फूलचन्द्र शास्त्री

दो शब्द

1. सम्पादनका कारण
(प्रथम संस्करण से)

सर्वार्थसिद्धिको सम्पादित होकर प्रकाशमे आनेमे अत्यधिक समय लगा है। लगभग आठ नौ वर्ष पूर्व विशेष वाचनके समय मेरे ध्यानमे यह आया कि सर्वार्थसिद्धिमे ऐसे कई स्थल हैं जिनके कुछ अशको उसका मूल भाग माननेमें सन्देह होता है। किन्तु जब कोई वाक्य, वाक्याश, पद या पदाश लिपिकारकी असावधानी या अन्य कारणसे किसी ग्रन्थका मूल भाग बन जाता है तब फिर उसे बिना आधारके पृथक् करनेमे काफी अडचनका सामना करना पडता है। सर्वार्थसिद्धिके वाचनके समय भी मेरे सामने यह समस्या थी और इसीके फलस्वरूप इसके सम्पादनकी ओर मेरा झुकाव हुआ था।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अध्यायके 'निर्देशस्वामित्व' और 'सत्सख्या' इन दो सूत्रोकी व्याख्या षट्खण्डागमके आधारसे की है। इसका विचार आगे चलकर प्रस्तावनामे हम स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर करनेवाले हैं। यहाँ केवल यह देखना है कि इन सूत्रोकी व्याख्यामे कही कोई शिथिलता तो नहीं आने पायी और यदि शिथिलताके चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं तो उसका कारण क्या है?

'निर्देशस्वामित्व--' सूत्रकी व्याख्या करते समय आचार्य पूज्यपादने चारो गतियोंके आश्रयसे सम्यग्दर्शनके स्वामीका निर्देश किया है. वहाँ तिर्यंचनियोमे क्षायिक सम्यग्दर्शनके अभावके समर्थनमें पूर्व मुद्रित प्रतियोमे यह वाक्य उपलब्ध होता है—

'कुत इत्युक्ते मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणप्रारम्भको भवति। क्षपणप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्तमभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु ; द्रव्यवेदस्त्रीणा तासा क्षायिकासंभवात्। एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयं न पर्याप्तकानाम्।'

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओंके आगममे इस प्रकारके नियमका निर्देश है कि सम्यग्दृष्टि मर कर किसी भी गतिके स्त्रीवेदियोंमे उत्पन्न नहीं होता।

किन्तु श्वेताम्बर आगम ज्ञाताधर्मकथा नामके छठे अगमे मल्लिनाथ तीर्थंकरकी कथा[1] के प्रसगसे बतलाया गया है कि मल्लिनाथ तीर्थंकरने अपने पिछले महाबलके भवमें मायाचारके कारण[2] स्त्रीनामकर्म गोत्रको निष्पन्न किया था जिससे वे तीर्थंकरकी पर्यायमे स्त्री हुए। और इसी कारण पीछेके श्वेताम्बर टीकाकारोंने उक्त नियमका यह खुलासा किया है कि 'सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्री नहीं होता यह बाहुल्यकी अपेक्षा कहा है।'

यहाँ हमे इस कथाके सन्दर्भ पर विचार न कर केवल इतना ही देखना है कि यह स्त्री नामकर्म गोत्र क्या वस्तु है। क्या यह नौ नोकषायोंमेसे स्त्रीवेद नामक नोकषाय है या इस द्वारा अङ्गोपाङ्गका निर्देश किया गया है? जब महाबलकी पर्यायमे इस कर्मका बन्ध होता है तब वे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु थे और सम्यग्दृष्टिके स्त्रीवेदका बन्ध नहीं होता ऐसा कर्मशास्त्रका नियम है क्योंकि स्त्रीवेदका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। इसलिए यह बँधनेवाला कर्म स्त्रीवेद नामक नोकषाय तो हो नही सकता। रही अङ्गोपाङ्गकी बात सो एक तो अङ्गोपाङ्गमे ऐसा भेद परिलक्षित नही होता। अवान्तर भेदोकी

---

1 देखो अध्ययन 8। 2. तए णं से महब्बले अणगारे इमेणं कारणेण इत्थिणामकम्म गे य निव्वत्तिसु। ज्ञाता० पृ० 312।

अपेक्षा कदाचित् ऐसा भेद मान भी लिया जाय तो कर्मशास्त्रके नियमानुसार अशुभ अङ्गोपाङ्गका बन्ध प्रमत्त-नयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानमे होता है यह इसलिए सम्भव नही है क्योंकि स्त्रीवेद सम्बन्धी अशुभ अङ्गोपाङ्गकी वन्धव्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान तक होना ही सम्भव है। इसलिए प्रस्तुत प्रकरणमे न तो ज्ञाताधर्मकथाकी इस कथाको आधार माना जा सकता है और न ही इस आधारसे श्वेताम्वर टीकाकारोका यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीवेदियोमे नही उत्पन्न होता यह वाहुल्य की अपेक्षा कहा है।'

इतने विचारके वाद जव हम सर्वार्थसिद्धिके उक्त कथन पर ध्यान देते है तो हमे उसमे सन्देह होता है। उसमें तिर्यंचिनियोंमे क्षायिक सम्यग्दर्शन न होनेके हेतुका निर्देश किया गया है। यह तो स्पष्ट है कि जो मनुष्य तिर्यंचायुका वन्ध कर सम्यग्दृष्टि हो क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है वह उत्तम भोगभूमिके पुरुष-वेदी तिर्यंचोमे ही उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यंचोमे नही। किन्तु इसके समर्थनमे जो द्रव्यवेदस्त्रीणा तासा क्षायिकासंभवात्' यह युक्ति दी गयी है वह न केवल लचर है अपितु भ्रमोत्पादक भी है।

इस युक्तिके आधारसे पूरे वाक्यका यह अर्थ होता है कि तिर्यंच द्रव्यवेदवाली स्त्रियोमे चूँकि क्षायिक सम्यग्दर्शन सम्भव नही है, इसलिए क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्तम भोगभूमिके तिर्यंच पुरुषोमे ही उत्पन्न होते हैं। अव थोडा वारीकीसे पूरे सन्दर्भ पर विचार कीजिए। जो प्रश्न है, एक तरहसे वही समाधान है। तिर्यंचनियोमे क्षायिक सम्यग्दर्शन क्यो नही होता इसका विचार करना है। किन्तु उसके उत्तर मे इतना कहना पर्याप्त था कि वद्धतिर्यंचायु मनुष्य यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तो वह मरकर उत्तम भोग-भूमिके तिर्यंच पुरुषोंमे ही उत्पन्न होता है ऐसा नियम है। वहाँ समर्थनमे **'द्रव्यवेदस्त्रीणा तासा क्षायिका-संभवात्'** इस हेतु कथनकी क्या आवश्यकता थी। इसीको कहते हैं वही प्रश्न और वही उत्तर।

दूसरे यहाँ 'द्रव्यवेदस्त्रीणां' यह वाक्यरचना आगम परिपाटीके अनुकूल नही है अतएव भ्रमोत्पादक भी है, क्योंकि आगममे तिर्यंच, तिर्यंचनी और मनुष्य, मनुष्यिनी ऐसे भेद करके व्यवस्था की गयी है तथा इन मार्गणाओंका मूल आधार वेद नोकषायका उदय वतलाया गया है।

हमारे सामने यह प्रश्न था। हम वहुत कालसे इस विचारमे थे कि यह वाक्य ग्रन्थका मूलभाग है या कालान्तरमें उसका अंग वना है। तात्त्विक विचारणाके वाद भी इसके निर्णयका मुख्य आधार हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ ही थी। तदनुसार हमने उत्तर भारत और दक्षिण भारतकी प्रतियोका सकलन कर शका-स्थलोंका मुद्रित प्रतियोंसे मिलान करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप हमारी धारणा सही निकली। यद्यपि सब प्रतियोंमे इस वाक्यका अभाव नही है पर उनमेसे कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी थी जिनमे यह वाक्य नही उपलब्ध होता है।

इसी सूत्रकी व्याख्यामे दूसरा वाक्य 'क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव' मुद्रित हुआ है। यहाँ मनुष्यिनियोके प्रकरणमें यह वाक्य आता है। वतलाया यह गया है कि पर्याप्त मनुष्यिनियोके ही तीनो सम्यग्दर्शनोकी प्राप्ति सम्भव है, अपर्याप्त मनुष्यिनियोके नही। निश्चयत मनुष्यिनीके क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेदकी मुख्यतासे ही कहा है यह सूचित करनेके लिए इस वाक्यकी सृष्टि की गयी है।

किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि आगममे 'मनुष्यिनी' पद स्त्रीवेदके उदयवाले मनुष्य गतिके जीवके लिए आता है। जो लोकमे नारी, महिला या स्त्री आदि शब्दोके द्वारा व्यवहृत होता है, आगमके अनुसार मनुष्यिनी शब्दका अर्थ उससे भिन्न है। इसी अवस्थामे उक्त वाक्यको मूलका मान लेने पर मनुष्यिनी शब्दके दो अर्थ हो जाते हैं। उसका एक अर्थ तो स्त्रीवेदकी उदयवाली मनुष्यिनी होता ही है और दूसरा अर्थ महिला सामान्य होता है चाहे उसके स्त्रीवेदका उदय हो या न हो।

ऐसी महिलाओं भी जिनके स्त्रीवेदका उदय होता है मनुष्यिनी कहा जा सकता है और उसके क्षायिक सम्यग्दर्शनको सिद्ध करनेके लिए यह वाक्य आया है, यदि यह कहा जाय तो इस कथनमे कुछ भी तथ्यांश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि आगममे मनुष्यिनी शब्द भाववेदकी मुख्यतासे ही स्वीकृत हुआ है, अतएव यह केवल अपने अर्थमें ही चरितार्थ है। अन्य आपत्तियोका विधि-निषेध करना इसका काम नहीं है, यह चरणानुयोगका विषय है।

हमने इस वाक्य पर भी पर्याप्त ऊहापोह कर सब प्रतियोमे इसका अनुसन्धान किया है। प्रतियोंके मिलान करनेसे ज्ञात हुआ कि यह वाक्य भी सब प्रतियोमे नही उपलब्ध होता।

इसी प्रकार एक वाक्य 'सत्सख्या'—इत्यादि सूत्रकी व्याख्याके प्रसगसे लेश्या प्रकरणमे आता है। जो इस प्रकार है—

'द्वादशभागा. कुतो न लभ्यन्ते, इति चेत् तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव। अथवा येषां मते सासादनएकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया पञ्चैव।'

प्रकरण कृष्ण आदि लेश्यावाले सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोके स्पर्शनका है। तिर्यच और मनुष्य सासादनसम्यग्दृष्टि जीव मर कर नरकमे नही उत्पन्न होते। जो देवगतिमे जाते हैं या देवगतिसे आते हैं उनके कृष्ण आदि अशुभ लेश्याएँ नही होती। नरकमे आनेवालोके कृष्ण आदि अशुभ लेश्याएँ और सासादनसम्यग्दर्शन दोनो होते है। इसी अपेक्षा से यहाँ कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोका स्पर्शन क्रमसे कुछ कम पाँच बटे चौदह राजु, कुछ कम चार बटे चौदह राजु और कुछ कम दो बटे चौदह राजु कहा गया है।

यह षट्खण्डागमका अभिमत है। सर्वार्थसिद्धिमे सत्, सख्या और क्षेत्र आदि अनुयोगद्वारोका निरूपण जीवट्ठाण षट्खण्डागमके अनुसार ही किया गया है। कषायप्राभृतका अभिमत इससे भिन्न है। उसके मतसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव मर कर एकेन्द्रियोमे भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए इस अपेक्षासे कृष्ण लेश्यामे सासादनसम्यग्दृष्टिका कुछ कम बारह बटे चौदह राजु स्पर्शन भले ही बन जावे, परन्तु षट्खण्डागमके अभिप्रायसे इन लेश्याओ मे यह स्पर्शन उपलब्ध नही होता।

हमारे सामने यह प्रश्न था। सर्वार्थसिद्धिमे जब भी हमारा ध्यान 'द्वादशभागा कुतो न लभ्यन्ते' इत्यादि वाक्य पर जाता था, हम विचारमे पड जाते थे। प्रश्न होता था कि यदि सर्वार्थसिद्धिकारको मतभेदकी चर्चा करनी इष्ट थी तो सत्प्ररूपणा आदि दूसरे अनुयोगद्वारोमे उन्होने इस मतभेद का निर्देश क्यो नही किया? अनेक प्रकारसे इस वाक्य के समाधानकी ओर ध्यान दिया, पर समुचित समाधानके अभावमे चुप रहना पडा। यह विचार अवश्य होता था कि यदि सर्वार्थसिद्धिकी प्राचीन प्रतियोका आश्रय लिया जाय तो सम्भव है उनमे यह वाक्य न हो। हमे यह सकेत करते हुए प्रसन्नता होती है कि हमारी धारणा ठीक निकली। मूडविद्रीसे हमे जो ताडपत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हुई उनमे यह वाक्य नही है। इस आधारसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यह वाक्य भी सर्वार्थसिद्धिका नही है।

सर्व-प्रथम सर्वार्थसिद्धि मूलका मुद्रण कल्लप्पा भरमप्पा निटवेने कोल्हापुरसे किया था। दूसरा मुद्रण श्री मोतीचन्द्र गोतमचन्द्र कोठारी द्वारा सम्पादित होकर सोलापुरसे हुआ है। तथा तीसरी बार श्रीमान् पं० बंशीधरजी सोलापुरवालोंने सम्पादित कर इसे प्रकाशित किया है। पण्डितजी ने इसे सम्पादित करनेमे पर्याप्त श्रम किया है और अन्य सस्करणो की अपेक्षा यह सस्करण अधिक शुद्ध है। फिर भी जिन महत्त्वपूर्ण शकास्थलोकी ओर हमने पाठकोका ध्यान आकर्षित किया है वे उस सस्करणमे भी यथास्थान अवस्थित है।

सर्वार्थसिद्धिके नीचे जो टिप्पणियाँ उद्धृत की गयी हैं वे भी कई स्थलो पर भ्रमोत्पादक हैं। उदाहरणार्थ कालप्ररूपणामे अनाहारकोमे नाना जीवोकी अपेक्षा सासादनसम्यग्दृष्टियोका उत्कृष्ट काल आवलिके असख्यातवे भागप्रमाण बतलाया गया है। इस पर टिप्पणी करते हुए टिप्पणकार लिखते है—

'आवलिकाया असख्येयभाग इति—स च आवलिकाया असंख्येयभाग समयमात्रलक्षणत्वात् एकसमय एव स्यात्, आवल्याः असंख्यातसमयलक्षणत्वात्।'

इसका तात्पर्य यह है कि वह आवलिका असख्यातवाँ भाग एक समय लक्षणवाला होनेसे 'एक समय' प्रमाण ही होता है, क्योकि एक आवलिमें असख्यात समय होते हैं, अत उसका असख्यातवाँ भाग एक समय ही होगा।

स्पष्ट है कि यदि यहाँ आचार्योको एक समय काल इष्ट होता तो वे इसका निर्देश 'एक समय' शब्द द्वारा ही करते। जीवस्थान कालानुयोगद्वारमे आवलिके असख्यातवें भागप्रमाण कालका जो स्पष्टीकरण किया है उसका भाव यह है कि कई सासादनसम्यग्दृष्टि दो विग्रह करके दो समय तक अनाहारक रहे और तीसरे

समयमे अन्य सासादनसम्यग्दृष्टि दो विग्रह करके अनाहारक हुए। इस प्रकार निरन्तर आवलिके असख्यातवें भाग वार जीव दो-दो समय तक अनाहारक होते रहे। इसलिए आवलिके असख्यातवें भागप्रमाण काण्डकोको दो से गुणा करने पर अनाहारक सासादनसम्यग्दृष्टियोका कुल काल उपलब्ध होता है (जीवस्थान पु० ४)।

अधिकतर हस्तलिखित प्रतियोमे यह देखा जाता है कि पीछेसे अनेक स्थलो पर विषयको स्पष्ट करनेके लिए अन्य ग्रन्थोके श्लोक, गाथा, वाक्याश या स्वतन्त्र टिप्पणियाँ जोड दी जाती हैं और कालान्तरमे वे ग्रन्थका अग वन जाती हैं। सर्वार्थसिद्धिमे यह व्यत्यय वहुत ही वडी मात्रा मे हुआ है। ऐसे तीन उदाहरण तो हम इस वक्तव्यके प्रारम्भ मे ही उपस्थित कर आये हैं। कहना होगा कि यह किसी टिप्पणनकारकी सूझ है और उसने अपनी दृष्टिसे विषय को स्पष्ट करनेके लिए पहले वे वाक्य फुटनोटके रूप मे हासियामे लिखे होंगे और आगे चलकर उसपर-से दूसरी प्रति तैयार करते समय वे ही मूल ग्रन्थके अग वन गये होंगे। इसके सिवा आगे भी ऐसे कई वाक्याश या गाथाएँ मिली हैं जो अधिकतर हस्तलिखित प्रतियोमे उपलब्ध नही होती और जिन्हें दूर कर देनेसे प्रकरणकी कुछ भी हानि नही होती। यहाँ हम कुछ ऐसे उपयोगी वाक्याशके दो-तीन उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं जो प्राचीन सस्करणोंमे थे और इस सस्करणमे-से अलग करने पडे हैं—

1 कुछ प्रतियोमे तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्रकी वृत्तिमे 'घनं च घनो मन्दो महान् आयत इत्यर्थ' आदि पाठ उपलब्ध होता है। अव तककी मुद्रित प्रतियोंमे भी यह पाठ प्रकाशित हुआ है। हमारे समाने जो प्रतियाँ थीं उनमे से अधिकतर प्रतियोमे यह पाठ नही है और वृत्ति को देखते हुए वह वृत्तिकारका प्रतीत भी नही होता, इसलिए इस पाठ को ऊपर न देकर नीचे टिप्पणी मे दिखा दिया है।

2 नौवें अध्याय नौवें सूत्रके मलपरीषहके व्याख्यानके अन्तमे 'केशलुञ्चसंस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम्।' यह वाक्य मुद्रित प्रतियो मे उपलब्ध होता है। किन्तु हमारे सामने जो हस्तलिखित प्रतिया थी उनमे यह वाक्य नही पाया जाता। वाक्य-रचनाको देखते हुए यह सर्वार्थसिद्धिका प्रतीत भी नही होता। तथा किसी परीषहका स्वरूपनिर्देश करनेके वाद सर्वार्थसिद्धिमे पुन उस परीषहके सम्वन्धमे विशेष स्पष्टीकरण करनेकी परिपाटी भी नही दिखाई देती, इसलिए हमने इस वाक्यको मूलमें न देकर टिप्पणी मे अलगसे दिखा दिया है।

2 प्रस्तुत संस्करणमें स्वीकृत पाठकी विशेषता

यह हम पहले ही निर्देश कर आये हैं कि प्रस्तुत सस्करणके पहले सर्वार्थसिद्धिके अनेक सस्करण प्रकाशमे आ चुके थे। ऐसी अवस्थामे प्रस्तुत सस्करण के सम्पादनके किसी पाठको स्वीकार करने या अस्वीकार करनेमे हमारे सामने वडी कठिनाई रही है। साधारणत हमने इस वातका ध्यान रखा है कि मुद्रित प्रतियोंमे जो पाठ उपलब्ध होते हैं, सर्वप्रथम उन्हें ही प्रमुखता दी जाय। किन्तु इस नियमका हम सर्वत्र पालन नही कर सके। यदि हमे उनसे उपयुक्त पाठ अन्य हस्तलिखित प्रतियोमे उपलब्ध हुए तो उन्हे स्वीकार करनेमे हमने सकोच नही किया।

3. प्रति परिचय

और भी ऐसी अनेक कई वातें थीं जिनके कारण हमने कई प्राचीन प्रतियोके आधारसे इसे पुनः सम्पादित करनेका निश्चय किया इसके लिए हमने मूडविद्रीकी दो ताडपत्रीय प्रतियाँ, दिल्ली भाण्डारसे दो हस्तलिखित प्रतियाँ और जैन सिद्धान्तभवन आरासे एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त की। मुद्रित सस्करणोमे से हमारे सामने श्री प० कल्लप्पा भरमप्पा निटवे द्वारा सम्पादित और श्री पं० वंशीधरजी सोलापुर द्वारा सम्पादित प्रतियाँ थी। इस काममे मूडविद्रीकी एक ताडपत्रीय प्रति और दिल्ली भाण्डारकी एक हस्तलिखित प्रति विशेष उपयोगी सिद्ध हुईं। अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा ये अधिक शुद्ध थी। फिर भी आदर्श प्रतिके रूपमे हम किसी एक को मुख्य मानकर न चल सके। हम यह तो नही कह सकते कि सर्वार्थसिद्धिका प्रस्तुत सस्करण सब दृष्टियोंसे अन्तिम है, फिर भी इसे सम्पादित करते समय इस वातका ध्यान अवश्य रखा गया

है कि जहाँ तक बने इसे अधिक परिशुद्ध और परम्परागत आगमके अनुसार मूलग्राही बनाया गया है।

प्रतियोका परिचय देनेके पहले हम इस बातको स्पष्ट कर देना चाहते है कि सर्वार्थसिद्धिको सम्पादित होकर प्रकाशमे आनेमे आवश्यकतासे अधिक समय लगा है। इतने लम्बे कालके भीतर हमे अनेक बार गृह-परिवर्तन करना पडा है और भी कई अडचने आयी हैं। इस कारण हम अपने सब कागजात सुरक्षित न रख सके। ऐसे कई उपयोगी कागज पत्र हम गँवा बैठे जिनके न रहने से हमारी बडी हानि हुई है। उन कागज-पत्रोमें प्रतिपरिचय भी था, इसलिए प्रतियोका जो पूरा परिचय हमने लिख रखा था वह तो इस समय हमारे सामने नहीं है। वे प्रतियाँ भी हमारे सामने नही है जिनके आधारसे हमने यह कार्य किया है। फिर भी हमारे मित्र श्रीयुत प० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्री और प० दरबारीलालजी न्यायाचार्य दिल्ली की सत्कृपासे उक्त स्थानोकी प्रतियोका जो परिचय हमे उपलब्ध हुआ है वह हम यहाँ दे रहे हैं—

(1) ता०—यह मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रति है। लिपि कनाडी है। कुल पत्र 116 हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठमे पक्ति 10 और प्रत्येक पक्तिमे अक्षर लगभग 71 हैं। प्रति शुद्ध और अच्छी हालत मे है। सरस्वती गच्छ, बलात्कार गण कुन्दकुन्दान्वयके आ० वसुन्धरने भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा शालि० शक 1551 विलम्बि सवत्सरके दिन इसकी लिपि समाप्त की थी। हमारे सामने उपस्थित प्रतियोंमे यह सबसे अधिक प्राचीन थी। इसका सकेताक्षर ता० है।

(2) ना०—यह भी मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय प्रति है। लिपि कनाडी है। कुल पत्र 101 हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठमे पक्ति 9 और प्रत्येक पक्तिमे अक्षर लगभग 107 है। प्रति शुद्ध और अच्छी अवस्थामे है। इसमे लिपिकर्ता तथा लिपिकालका निर्देश नहीं है। इसका सकेताक्षर ना० है।

(3) दि० 1—यह श्री लाला हरसुखराय सुगनचन्दजीके नये मन्दिरमे स्थित दि० जैन सरस्वती भाण्डार धर्मपुरा दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति है। पत्र सख्या 201 है। प्रत्येक पत्रमे 18 पक्ति और प्रत्येक पक्तिमे लगभग 33 अक्षर हैं। पत्रकी लम्बाई 11 इच और चौडाई 5 इच है। चारो ओर एक-एक इच हासिया छोडकर बीचमे प्रतिलिपि की गयी है। कागज पुष्ट है, अक्षर भी बडे सुन्दर हैं जो बिना किसी कष्टके आसानीसे पढे जाते हैं। लेखनकार्य सवत् 1752 आषाढ सुदि 11 गुरुवारको समाप्त हुआ था। प्रतिके अन्तमे यह प्रशस्ति उपलब्ध होती है—

'प्रणिपत्य जिनवरेन्द्र वरविग्रहरूपरजितसुरेन्द्र। सद्गुणसुधासमुद्र वक्ष्ये सस्ता प्रशस्तिमहा ॥ 1 ॥ जगत्सारे हि सारेऽस्मिन्नहिंसाजलसागरे। नगरे नागराकीर्णे विस्तीर्णापणपण्यके ॥ 2 ॥ छ ॥ सवत् 1752 वर्षे आषाढ सुदि 11 गुरौ लिपायिताध्यात्मरतपरसाशेषज्ञानावरणीयक्षयार्थ लिखित।'

इसका सकेताक्षर दि० 1 है।

(४) दि० 2—यह भी पूर्वोक्त स्थानकी हस्तलिखित प्रति है। पत्र सख्या 111 है। प्रत्येक पत्रमे 12 पक्ति और प्रत्येक पक्तिमे लगभग 50 अक्षर हैं। मात्र प्रथम और अन्तिम पत्रमे पक्ति सख्या कम है। पत्रकी लम्बाई सवा ग्यारह इच और चौडाई 5 इच है। अगल-बगलमे सवा इच और ऊपर-नीचे पौन इच हाँसिया छोडकर प्रतिलिपि की गयी है। प्रतिके अन्तमे आये हुए लेखसे विदित होता है कि यह प्रति स० 1875 आश्विन वदि 14 मगलवारको लिखकर समाप्त हुई थी। लेख इस प्रकार है—

'सवत् 1875 मासोत्तममासे अश्विनीमासे कृष्णपक्षे तिथौ च शुभ चतुर्दशी भूमिदासरेण लिखित जैसिंहपुरामध्ये पिरागदास मोहाका जैनी भाई।'

इस प्रतिके देखनेसे विदित होता है कि यह सम्भवत दि० 1 के आधारसे ही लिखी गयी होगी। प्रतिकार श्री पिरागदास जी जैन हैं और नरसिंहपुरा (नयी दिल्ली) जिन मन्दिरमे बैठकर यह लिखकर तैयार हुई है। इसका सकेताक्षर दि० 2 है।

इन प्रतियोके सिवा पाँचवी प्रति श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा की है। ये प्रति [illegible] समय उपयोग मे ली गयी है। तथा मुद्रणके समय मध्यप्रदेश सागर जिलाके अन्तर्गत खिमलासा गाँवकी प्रति भी सामने रही है। यह गाँव पहले समृद्धिशाली नगर रहा है। यह बीना इटावाके मालगोनको [illegible] स्थित है और बीना इटावासे लगभग 12 मील दूर है। प्राचीन उल्लेखोंसे विदित होता है कि [illegible]

नाम क्षेमोल्लास है। खिमलासा उसीका अपभ्रंश नाम है। नगरके चारो ओर परकोटा और खण्डहर प्राचीन-कालीन नगरकी समृद्धिके साक्षी हैं। यहाँका जिनमन्दिर दर्शनीय है। इसमे एक सरस्वतीभवन है जिसमे अनेक ग्रन्थोकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ अब भी मौजूद है।

4 प्रकाशनमे ढिलाईका कारण

सर्वप्रथम इसका सम्पादन हमने स्वतन्त्र भावसे किया था। सम्पादनमे लगनेवाली आवश्यक सामग्री हमे स्वय जुटानी पडी थी। एक बार कार्यके चल निकलने पर हमे आशा थी कि हम इसे अतिशीघ्र प्रकाशमे ले आवेंगे। एक-दो साहित्यिक सस्थाएँ इसके प्रकाशनके लिए प्रस्तुत भी थी, परन्तु कई प्रतियोके आधारसे मूलका मिलान कर टिप्पण लेना और अनुवाद करना जितने जल्दी हम सोचते थे उतने जल्दी कर नही सके। परिणाम स्वरूप वह काम आवश्यकतासे अधिक पिछडता गया। इसी बीच वि० स० 2003 मे श्री पूज्य श्री 105 क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीकी सेवाओके प्रति सम्मान प्रकट करनेके लिए *श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला*की स्थापना की गयी और सोचा गया कि सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन इसी ग्रन्थमालाकी ओरसे किया जाय। तदनुसार श्री भार्गव भूषण प्रेस मे यह मुद्रणके लिए दे दी गयी। किन्तु प्रेसकी ढिलाई और ग्रन्थमालाके सामने उत्तरोत्तर दूसरे कार्योके आते रहनेके कारण इसके प्रकाशनमे काफी समय लग गया।

5 भारतीय ज्ञानपीठ

इस साल किसी तरह हम इसके मुद्रणका कार्य पूरा करनेकी स्थितिमे आये ही थे कि एक तो जैन साहित्यका इतिहास लिखाने का कार्य इस सस्थाने स्वीकार कर लिया, दूसरे और भी कई ऐसी आर्थिक व दूसरी अडचने ग्रन्थमालाके सामने उठ खडी हुई जिनको ध्यानमे रखकर ग्रन्थमालाने मेरी सम्मतिसे इसका प्रकाशन रोक दिया और मुझे यह अधिकार दिया कि इस कार्यको पूरा करनेका उत्तरदायित्व यदि भारतीय ज्ञानपीठ ले सके तो उचित आधारो पर यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठको साभार सौंप दिया जाय। ग्रन्थमाला-की इस मनसाको ध्यानमे रखकर मैंने भारतीय ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्रीमान् प० अयोध्याप्रसादजी गोयलीयसे इस सम्बन्धमे बातचीत की। गोयलीयजीने एक ही उत्तर दिया कि अर्थाभाव या दूसरे किसी कारणसे सर्वार्थसिद्धिके प्रकाशनमे श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला कठिनाई अनुभव करती है तो भारतीय ज्ञानपीठ उसे यो ही अप्रकाशित स्थितिमे नही पडा रहने देगा। वह मुद्रण होनेके बाद शेप रहे कार्यको तो पूरा करायेगा ही, साथ ही वर्णी ग्रन्थमालाका इसपर जो व्यय हुआ है उसे भी वह सानन्द लौटा देगा। साधारणत बातचीतके पहले भारतीय ज्ञानपीठमे यह कार्य करा लेना हम बहुत कठिन मानते थे, क्योकि उसके प्रकाशनोका जो क्रम और विशेषता है उसका सर्वार्थसिद्धिके मुद्रित फार्मोमे हमे बहुत कुछ अशोमे अभाव सा दिखाई देता था। किन्तु हमे यहाँ यह सकेत करते हुए परम प्रसन्नता होती है कि ऐसी कोई बात इसके बीच मे बाधक सिद्ध नही हुई। इससे हमे न केवल श्री गोयलीयजी के उदार अन्तःकरणका परिचय मिला अपि तु भारतीय ज्ञानपीठके सचालनमे जिस विशाल दृष्टिकोणका आश्रय लिया जाता है उसका यह एक प्राजल उदाहरण है।

6 अन्य हितैषियोसे

सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठमे हुआ है यह देख कर हमारे कतिपय मित्रो और हितैषियो-को, जिन्होंने इसके प्रकाशनमे ग्रन्थमालाको आर्थिक व दूसरे प्रकारकी सहायता पहुँचायी है, अचरज होगा। परन्तु यह बहुत ही छोटा प्रश्न है कि इस ग्रन्थका प्रकाशन किस सस्थासे हो रहा है। उनके देखनेकी बात तो केवल इतनी-सी है कि उन्होने साहित्यकी श्रीवृद्धिके लिए जो धन या दूसरे प्रकार की सहायता दी है उसका ठीक तरहसे उपयोग हो रहा है या नही। साधारणत प्रबन्ध और कार्यकर्ताओकी सुविधाकी दृष्टिसे ही अलग-अलग सस्थाओकी स्थापना की जाती है। परन्तु है ये सब एक ही महावृक्षकी शाखा-प्रशाखाएँ। अमुक फल अमुक शाखामे लगा और अमुक फल अमुक शाखामे यह महत्त्वकी बात नही है। महत्त्वकी बात

तो यह है कि उस महावृक्षकी हर एक शाखा-प्रशाखा तथा दूसरे अवयव अपने-अपने स्थानमे उचित कार्य कर रहे हैं, या नही। नाम रूपका आग्रह जैन परम्पराको न कभी इष्ट रहा है और न रहना चाहिए। केवल व्यवहारके सचालन हेतु इसको स्थान दिया जाता है। इसलिए सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन क्या वर्णी ग्रन्थ-मालासे हुआ, क्या भारतीय ज्ञानपीठसे दोनो चीजें एक हैं।

7 आभार प्रदर्शन

फिर भी यहाँ कई दृष्टियोसे हमे अपने सहयोगियो, मित्रो व हितैषियोके प्रति आभारस्वरूप दो शब्द अकित कर देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यह एक निश्चित सी बात है कि जैन समाजका ध्यान जैन साहित्यके प्रकाशनकी ओर अभी उतना नही गया है जितना कि जाना चाहिए था। प्राचीन कालमे मन्दिर प्रतिष्ठा और शास्त्रोको लिपिबद्ध कराकर यत्र तत्र प्रतिष्ठित करना ये दोनो कार्य समान माने जाते थे। अभी तक शास्त्रोकी रक्षा इसी पद्धतिसे होती आयी है। हमारे पूर्वज चाहे उन शास्त्रोके ज्ञाता हो चाहे न हो किन्तु वे शास्त्रो की प्रतिलिपि करा कर उनकी रक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे और इस कार्यमे प्रयत्नशील भी रहते थे, किन्तु जबसे मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ है तबसे एक तरहसे समाजने इस ओरसे अपनी आँख ही मूंद ली है। अब प्रतिलिपि कराना तो दूर रहा वे उनकी एक-एक मुद्रित प्रति निछावर देकर खरीदनेमे भी हिचकिचाने लगे हैं। इस मदमे व्यक्तिगत खर्च करनेकी बातको तो छोडो, वे सार्वजनिक धनसे भी यह कार्य सम्पन्न नही करना चाहते है जब कि वे इस धनका उपयोग दूसरे दिखावटी और अस्थायी कार्योमे करते रहते है। उनका तर्क है कि इतने बडे ग्रन्थोको हमारे यहाँ समझनेवाला ही कौन है? हम उनको मन्दिरमे रखकर क्या करेंगे? यदि इसी तर्कसे प्राचीन पुरुषोंने काम लिया होता तो क्या साहित्यकी रक्षा होना सम्भव था? यह कहना तो कठिन है कि हमने अपना पूरा साहित्य बचा लिया है। तथापि जो कुछ भी बचा लिया गया है वह पर्याप्त है। भगवान् महावीरकी चर्या और उनके उपदेशोंसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेकी क्षमता रखनेवाला एकमात्र साधन यह साहित्य ही है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इसकी सरक्षाके लिए हर एक सम्भव उपाय काममे लावें।

प्रसन्नता है कि इस ओर भारतीय ज्ञानपीठके सस्थापक व दूसरे कार्यकर्ताओका पर्याप्त ध्यान गया है और वे इस बातका विचार किये बिना कि इसके प्रकाशन आदि पर पडनेवाला व्यय वापस होगा या नही, सब प्रकारके प्राचीन साहित्यके प्रकाशनमे दत्तावधान है। सर्वार्थसिद्धिका भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होना उनकी इसी शुभ भावनाका सुफल है, इसलिए सर्वप्रथम हम नम्र शब्दोमे उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानते है। सर्वार्थसिद्धिके सम्पादक होनेके नाते तो हमे यह कार्य करना ही है, साथ ही वर्णी ग्रन्थमालाके सचालक होनेके नाते भी हमे इसका निर्वाह करना है।

श्री ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला एक ऐसी सस्था है जिसे समाजके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोका पृष्ठबल प्राप्त है इसलिए सर्वार्थसिद्धिका उस द्वारा प्रकाशित हो जाना कठिन कार्य नही था फिर भी जो कठिन परिस्थिति उसके सामने थी उसे देखते हुए उसने जिस अनुकरणीय मार्गका श्रीगणेश किया है इसके लिए हम वर्णी ग्रन्थ-मालाकी प्रबन्ध समितिके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानते हैं।

यहाँ हम उन महानुभावोके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझते हैं जिन्होंने एक मात्र सर्वार्थसिद्धिके प्रकाशनके प्रति अभिरुचि होनेके कारण अपनी उदार सहायता वर्णी ग्रन्थमाला को दी थी। देनेवाले महानुभाव ये हैं—

1. पूज्य श्री 108 आचार्य सूर्यसागरजी महाराजके सदुपदेशसे श्रीमान् ब्र० लक्ष्मीचन्द्रजी वर्णी। वर्णीजी ने 1500) इस कामके लिए दिल्लीकी पहाडी धीरज व डिप्टीगजकी समाजसे भिजवाये थे।

2 वर्णी ग्रन्थमालाके कोषाध्यक्ष बाबू रामस्वरूपजी बरुआसागर। आपने इस कामके लिए 1601) प्रदान किये थे।

3. उदारचेता श्रीमान् नेमचन्द बालचन्दजी सा० वकील उस्मानाबाद। आपकी पौत्री ब्र० गजराबाई हमारे पास लब्धिसार क्षपणासार पढने बनारस आयी थी और लगभग दो माह यहाँ रही थी। इसीके परिणाम-स्वरूप बहिन गजराबाईकी प्रेरणासे वकील सा० ने 1000) ग्रन्थमालाको प्रदान किये थे।

हस्तलिखित प्रतियोके प्राप्त करनेमे हमे श्रीमान् प० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली, पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य जैन सिद्धान्त भवन आरा, प० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्री और प० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य दिल्लीसे पूरी सहायता मिली है, अतएव हम इनके भी आभारी हैं।

भारतीय ज्ञानपीठके मैनेजर चि० श्री बाबूलालजी फागुल्ल उसके प्रकाशनोको सुन्दर और आकर्षक बनानेमे पर्याप्त श्रम करते रहते है। सर्वार्थसिद्धिको इस योग्य बनानेमे व दूसरे प्रकारकी सहायता पहुँचानेमे भी उन्होंने हमे सहयोग दिया है, अतएव हम उनके भी आभारी है।

सर्वार्थसिद्धिके परिशिष्ट और विषयसूची हमारे सहपाठी प० हीरालालजी शास्त्रीने तैयार किये हैं और आवश्यक सशोधनके साथ वे इसमे दिये गये है, अतएव हम इनका जितना आभार मानें थोडा है।

तत्त्वार्थसूत्रकी उपलब्ध टीकाओमे सर्वार्थसिद्धि प्रथम टीका है। इसमे प्रमेयका विचार आगमिक, दार्शनिक आदि सभी पद्धतियोसे किया गया है। हमे आशा है कि इस सम्पादनसे समाजमे इसका मान और अधिक बढेगा।

—फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रस्तावना

(प्रथम सस्करण से)

'मैं कौन हूँ, मेरा स्वभाव क्या है, मैं कहाँ से आया हूँ, मुझे उपादेय क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? जो मनुष्य इन बातोका विचार नही करता वह अपने गन्तव्य स्थानको प्राप्त करनेमे समर्थ नहीं होता।'

आचार्य वादीभसिहने क्षत्रचूडामणिमे तत्त्वज्ञानके प्रसगसे यह वचन कहा है। यह मनुष्यके र्तव्यका स्पष्ट बोध कराता है। कर्तव्यका विचार ही जीवनका सार है। जो तिर्यञ्च हैं वे भी अपने कर्तव्यका। चार कर प्रवृत्ति करते है फिर मनुष्यकी तो कथा ही अलग है।

प्रत्येक प्राणीके जीवनमे हम ऐसे-ऐसे विलक्षण परिणमन देखते है जिनकी कल्पना भी नही की जा सकती। ऐसा क्यो होता है ? क्या इसके लिए केवल बाह्य परिस्थिति ही एकमात्र कारण है ? एक पिताके दो बालक होते हैं। उनका एक प्रकारसे लालन-पालन होता है। एक पाठशालामें उन्हें शिक्षा मिलती है फिर भी उनके शील-स्वभावमे विलक्षण अन्तर होता है। क्यो ? इसका शारीरिक रचनाके सिवा कोई अज्ञात कारण अवश्य होना चाहिए। साधकोने इस प्रश्नका गहरा मन्थन किया है। उत्तरस्वरूप उन्होने विश्वको यही अनुभव दिया है कि जीवगत योग्यताके अनुसार पुराकृत कर्मोंके कारण प्राणियोके जीवनमे इस प्रकारकी विविधता दिखाई देती है।

विश्वकी विविधताका अवलोकन कर उन्होने कहा है कि इस प्राणीकी प्रथम अवस्था निगोद है। अनादि कालसे यह प्राणी इस अवस्थाका पात्र बना हुआ है। विस्तृत बालुकाराशिमे गिरे हुए वज्र सिकताकण का मिलना जितना दुर्लभ है, इस पर्यायसे निकल कर अन्य पर्यायका प्राप्त होना उतना ही दुर्लभ है। अन्य पर्यायोकी भी कोई गिनती नही। उनमे परिभ्रमण करते हुए इसका पञ्चेन्द्रिय होना इतना दुर्लभ है जितना कि अन्य सब गुणोके प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्यको कृतज्ञता गुणका प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह पञ्चे-न्द्रिय भी हो जाता है तो भी इससे इसका विशेष लाभ नही, क्योकि एक मनुष्य पर्याय ही वह अवस्था है, जिसे प्राप्त कर यह अपनी उन्नतिके सब साधन जुटा सकता है। किन्तु इसका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। एक दृष्टान्त द्वारा साधकोने इसे इन शब्दोमे व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी चौपथ पर रखी हुई रत्नराशिका मिलना दुर्लभ है उसी प्रकार अन्य पर्यायोमे परिभ्रमण करते हुए इसे मनुष्य पर्यायका मिलना दुर्लभ है। कदाचित् इसे मनुष्य पर्याय भी मिल जाती है तो भी उसे प्राप्त कर अपने कर्तव्याकर्तव्यके बोध द्वारा कर्तव्यके मार्गका अनुसरण करना और भी दुर्लभ है।

मनुष्य होने पर यह प्राणी नहीं मालूम कितनी ममताओमे उलझा रहता है। कभी यह पुत्र, स्त्री और घर-द्वारकी चिन्ता करता है तो कभी अपनी मानप्रतिष्ठाकी चिन्तामे काल-यापन करता है। स्वरूप सम्बोधन की ओर इसका मन यत्किञ्चित् भी आकर्षित नही होता। जो इसका नही उसकी तो चिन्ता करता है और जो इसका है उसकी ओर आँख उठाकर देखता भी नही। फल यह होता है कि यह न केवल परम दुर्लभ इस मनुष्य पर्यायको गवाँ बैठता है अपितु सम्यक् कर्तव्यका बोध न होनेसे इसे पुन अनन्त यातनाओका पात्र बनना पड़ता है।

इस स्थितिसे इस प्राणीका उद्धार कैसे हो, इस प्रश्नके समाधान स्वरूप साधकोंने अनेक मार्ग दरसाये हैं जिनमें सम्यक् श्रुतका अध्ययन मुख्य है। श्रुत दो प्रकारका है—एक वह जो ऐहिक इच्छाओंकी पूर्तिका मार्गदर्शन करता है और दूसरा वह जो विषय और कषायके मार्गको अनुपादेय बतला कर आत्महितके मार्गमे लगाता है। आत्माका हित क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर यदि हमे सक्षेपमें प्राप्त करना है तो यही कहा जा सकता है कि 'मोक्ष'। अतएव मोक्षप्राप्तिके साधनोका जिसमे सम्यक् प्रकारसे ऊहापोह किया गया है वही शास्त्र सम्यक् श्रुत कहलानेकी पात्रता रखता है।

इस दृष्टिसे जब हम प्राचीन साहित्यको देखते हैं तो सर्वप्रथम हमारी दृष्टि द्वादशांग श्रुत पर जाती है। इसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीरकी वाणीसे है। यह तथ्य है कि जितने भी तीर्थङ्कर होते हैं वे अर्थका उपदेश देते हैं और उनके प्रमुख शिष्य, जिन्हें कि गणधर कहते हैं, ग्रन्थ रूपमें अङ्गश्रुतकी रचना करते हैं। यह मुख्य रूपसे बारह भागो – विभागोमे विभक्त होनेके कारण इसे द्वादशांग कहते हैं और संघके मुख्य अधिपति गणधरों—गणियोके द्वारा इसकी रचना की जानेसे इसका दूसरा नाम गणिपिटक भी है।

भगवान् महावीरके मोक्ष जानेके बाद तीन अनुबद्ध केवली और पांच श्रुतकेवली हुए हैं। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इन तक यह अङ्गश्रुत अपने मूलरूपमें आया है। इसके बाद उत्तरोत्तर बुद्धिबल और धारणाशक्तिके क्षीण होते जानेसे तथा पुस्तकारूढ किये जानेकी परिपाटी न होने से क्रमश. वह विच्छिन्न होता गया है। इस प्रकार एक ओर जहाँ अगश्रुतका अभाव होता जा रहा था वहाँ दूसरी ओर श्रुतपरम्पराको अविच्छिन्न बनाये रखनेके लिए और उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीरकी वाणीसे बनाये रखनेके लिए प्रयत्न भी होते रहे हैं। अगश्रुतके बाद दूसरा स्थान अनगश्रुतको मिलता है। इसको अगबाह्य भी कहते हैं। इसके मूल भेद ये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। इनमेसे सर्वार्थसिद्धिमे उत्तराध्ययन और दशवैकालिक केवल इन दो का ही उल्लेख किया है। श्री धवला टीकाके आधारसे विदित होता है कि इनकी रचना भी गणधरोने ही की थी और अंगश्रुतके अस्तित्वकालमे ये उपस्थित थे। किन्तु धीरे-धीरे अंगश्रुतके समान इनको भी धारण करनेकी शक्तिवाले श्रमणोंके न रहनेसे इनका भी अभाव होता गया। फल यह हुआ कि एक प्रकारसे हम मूलश्रुतसे सर्वथा वंचित हो गये। श्वेताम्बर परम्परामें जो आचाराग आदि अगश्रुत और उत्तराध्ययन आदि अनगश्रुत उपलब्ध होता है वह विक्रम की पाँचवी शताब्दिके बादका संकलन है, इसलिए वह मूलश्रुतकी दृष्टिसे विशेष प्रयोजनीय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार अगश्रुत और अगबाह्यश्रुतके विच्छिन्न होनेमे कुल 683 वर्ष लगे हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नही कि उत्तरकालमे भगवान् महावीरकी वाणीका कहिए या द्वादशांग वाणीका कहिए वारसा हमे किसी रूपमे मिला ही नहीं। भद्रबाहु श्रुतकेवलीके कालमे ही जैन परम्परा दो भागोमे विभाजित हो गयी थी। पहली परम्परा जो भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करोंके तत्त्वज्ञानमूलक आचारको बिना किसी सशोधनके ग्राह्य मानती रही वह उस समय दिगम्बर परम्परा या मूल सघके नामसे प्रसिद्ध हुई और जिसने परिस्थितिवश सशोधन कर उसमे नये आचारका प्रवेश किया वह श्वेताम्बर परम्पराके नामसे प्रसिद्ध हुई। इस कारण मूल अंगश्रुत और अनंगश्रुतको तो लिपिबद्ध नही किया जा सका, किन्तु कालान्तरमें ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने अङ्गश्रुतके आश्रयसे श्रुतकी रक्षा करनेका प्रयत्न किया है। षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी रचना उन प्रयत्नोंमेसे सर्वप्रथम है। आचार्य कुन्दकुन्द लगभग उसी समय हुए हैं जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक शैली द्वारा जीवादि तत्त्वोका और मोक्षमार्गके अनुरूप आचारका विचार करते हुए न केवल तीर्थङ्करोंके स्वावलम्बी मार्गकी रक्षा करनेका प्रयत्न किया है, अपितु उसमें बहुत कुछ अशमें स्थिरता भी लायी है। इस तरह आरातीय आचार्यों द्वारा मूल श्रुतके अनुरूप श्रुतका निर्माण कर उसकी रक्षाके अनेक प्रयत्न हुए हैं। अखिल जैन परम्परामें रचनाकी दृष्टिसे जिस श्रुतकी सर्वप्रथम गणना की जा सकती है उसका संक्षेपमें विवरण इस प्रकार है—

ग्रन्थ नाम	कर्ता	रचनाकाल
षट्खण्डागम	आ० पुष्पदन्त भूतवलि	विक्रमकी दूसरी शताब्दी या इसके पूर्व
कषायप्राभृत	आ० गुणधर	,, ,, समकालीन
कषायप्राभृत की चूर्णि	आ० यतिवृषभ[1]	आचार्य गुणधरके कुछ काल वाद
समयप्राभृत, प्रवचनसारप्राभृत	आ० कुन्दकुन्द[2]	विक्रमकी पहली-दूसरी शताब्दी
पञ्चास्तिकायप्राभृत, नियमसार व अष्टप्राभृत	,,	,,
मूलाचार (आचारांग)	आ० वट्टकेर	आ० कुन्दकुन्दके समकालीन
मूलाराधना (भगवतीआराधना)	आ० शिवार्य	,, ,,
तत्त्वार्थसूत्र	आ० गृद्धपिच्छ	आ० कुन्दकुन्दके समकालीन या कुछ काल वाद
रत्नकरण्डश्रावकाचार	आ० समन्तभद्र	आ० कुन्दकुन्दके कुछ काल वाद

इसके वाद भी श्रुतरक्षाके अनेक प्रयत्न हुए हैं। श्वेताम्बर अगश्रुतका सकलन उन प्रयत्नो मे से एक है। यह विक्रमकी 6वीं शताब्दीमें सकलित होकर पुस्तकारूढ हुआ था।

1 तत्त्वार्थसूत्र

इनमेसे प्रकृतमें तत्त्वार्थसूत्रका विचार करना है। यह जैन दर्शनका प्रमुख ग्रन्थ है। इसमे जैनाचार और जैन तत्त्वज्ञानके सभी पहलुओ पर सूत्र शैलीमे विचार किया गया है। यह सुनिश्चित है कि जैन

---

1. इनके समयके विषयमे बड़ा विवाद है। वीरसेन स्वामीने इन्हें वाचक आर्यमक्षु और नागहस्तिका शिष्य लिखा है। इन दोनोंका श्वेताम्बर पट्टावलियोमे उल्लेख आता है। सम्भवत. ये और श्वेताम्बर परम्परामे उल्लिखित आर्यमंक्षु और नागहस्ति अभिन्न व्यक्ति हैं और वे ही आ० यतिवृषभके गुरु प्रतीत होते हैं। जीवस्थान क्षेत्रप्रमाणानुगमकी धवला टीकामे आचार्य वीरसेनने जिस तिलोयपण्णत्तिका उल्लेख किया है वह वर्तमान तिलोयपण्णत्तिसे भिन्न ग्रन्थ है। यह हो सकता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमे उसका कुछ भाग सम्मिलित कर लिया गया हो पर इससे दोनोंकी अभिन्नता सिद्ध नही होती। पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रस्तावनामें जैनसिद्धान्त भास्करके एक अकमे प्रकाशित मेरे लेखका खण्डन करते हुए जो वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी प्राचीन तिलोयपण्णत्तिसे अभिन्नता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह उनका उचित प्रयत्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें लोकके जिस आकारकी चर्चा की गयी है उसका प्राचीन तिलोयपण्णत्तिमे उल्लेख नही है और इस आधारसे यह मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिके आधारसे जो राजकाल गणनाके वाद आचार्य यतिवृषभकी स्थिति मानी जाती है वह भी उचित नहीं है। इसके लिए पहले यह सिद्ध करना होगा कि इस राजकाल गणनाका उल्लेख प्राचीन तिलोयपण्णत्तिमे भी पाया जाता है तभी यह मान्यता समीचीन ठहर सकेगी कि आचार्य यतिवृषभ महावीर सवत्से हजार वर्ष वाद हुए हैं। तत्काल धवलाके उल्लेखके अनुसार आचार्य यतिवृषभको महावाचक आर्यमक्षु और नागहस्तिका शिष्य होनेके नाते उन्हें उस समयका ही मानना चाहिए जिस समय उन दो महान् आचार्योंने इस भूमण्डलको अलंकृत किया था। 2 इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागम पर आ० कुन्दकुन्दकी टीकाका भी उल्लेख किया है। इस आधारसे षट्खण्डागमका रचनाकाल प्रथम शताब्दीसे भी पूर्व ठहरता है। अधिकतर विचारक 683 वर्षकी परम्पराके वाद इन ग्रन्थोंको स्थान देते हैं, किन्तु मेरे विचारसे श्रुतकी परम्परा किस क्रमसे आयी इतना मात्र दिखाना उसका प्रयोजन है। षट्खण्डागम आदिके रचयिता 683 वर्ष पूर्व हुए हों तो इसमे कोई प्रत्यवाय नहीं है।

आगमश्रुतकी मुख्य भाषा प्राकृत रही है तथा इसके आधारसे आरातीय आचार्योंने जो अगबाह्य श्रुत लिपिबद्ध किया है वह भी प्राय प्राकृत भाषामे ही लिखा गया है। प्राकृत भाषाके जो विविध स्थित्यन्तर उपलब्ध होते हैं उनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि यह भगवान् महावीर और उनके आगे-पीछे बहुत काल तक बोल-चालकी भाषा रही है। पालि, जिसमे कि प्राचीन महत्त्वपूर्ण बौद्ध साहित्य उपलब्ध होता है, प्राकृतका ही एक भेद है। प्रारम्भसे जैनो और बौद्धोकी प्रकृति जनताको उनकी भाषामे उपदेश देनेकी रही है। परिणाम-स्वरुप इन्होने अधिकतर साहित्य रचनाका कार्य जनताकी भाषा प्राकृतमे ही किया है। किन्तु धीरे-धीरे भारतवर्षमे ब्राह्मण धर्मका प्राबल्य होनेसे और उनकी साहित्यिक भाषा सस्कृत होनेसे बौद्धो और जैनोको सस्कृत भाषामे भी अपना उपयोगी साहित्य लिखनेके लिए बाध्य होना पडा है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना करते समय वह सस्कृत भाषामे लिखा गया है। जैन परम्पराके उपलब्ध साहित्यमे सस्कृत भाषामे रचा गया यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसके पहले केवल सस्कृत भाषामे जैन साहित्यकी रचना हुई हो इसका कोई निश्चित आधार उपलब्ध नही होता। तत्त्वार्थसूत्र लघुकाय सूत्रग्रन्थ होकर भी इसमे प्रमेयका उत्तमताके साथ सकलन हुआ है। इस कारण इसे जैन परम्पराके सभी सम्प्रदायोंने समान रूपसे अपनाया है। दार्शनिक जगत्‌मे तो इसे ख्याति मिली ही, आध्यात्मिक जगत्‌मे भी इसका कुछ कम आदर नही हुआ है। इस दृष्टिसे वैदिकोमे गीताका, ईसाइयोमे बाइबिलका और मुसलमानोमे कुरानका जो महत्त्व है वही महत्त्व जैन परम्परामे तत्त्वार्थसूत्रका माना जाता है। अधिकतर जैन इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं और कुछ अष्टमी-चतुर्दशीको। दशलक्षण पर्वके दिनोमे इसके एक-एक अध्याय पर प्रतिदिन प्रवचन होते हैं जिन्हे आम जनता बडी श्रद्धाके साथ श्रवण करती है। इसके सम्बन्धमे ख्याति है कि जो कोई गृहस्थ इसका एक बार पाठ करता है उसे एक उपवासका[1] फल मिलता है।

नाम—प्रस्तुत सूत्रग्रन्थका मुख्य नाम 'तत्त्वार्थ' है। इस नामका उल्लेख करनेवाले इसके टीकाकार मुख्य हैं। इनकी प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धिमे प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति-सूचक पुष्पिकामे यह वाक्य आता है—

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां .....अध्यायः समाप्तः।

इसके अन्तमे प्रशसासूचक तीन श्लोक आते हैं। उनमे भी प्रस्तुत टीकाको तत्त्वार्थवृत्ति कहकर प्रस्तुत ग्रन्थकी 'तत्त्वार्थ' इस नामसे घोषणा की गयी है। तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी भी यही स्थिति है। इन दोनो टीका-ग्रन्थोंके प्रथम मगल-श्लोकमे और प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिसूचक पुष्पिकामे मूल ग्रन्थके इसी नामका उल्लेख मिलता है।

तत्त्वार्थ सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। सम्यग्दर्शनके विषयरूपमे इन सात तत्त्वार्थोका प्रस्तुत सूत्र-ग्रन्थमे विस्तारके साथ निरूपण किया गया है। मालूम पडता है कि इसी कारणसे इसका तत्त्वार्थ यह नाम प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है।

लोकमे इसका एक नाम तत्त्वार्थसूत्र भी प्रचलित है। इस नामका उल्लेख वीरसेन स्वामीने अपनी धवला[2] नामकी प्रसिद्ध टीकामे किया है। सिद्धसेन गणि भी अपनी टीकामे कुछ अध्यायोकी समाप्तिसूचक पुष्पिकामे[3] इस नामका उल्लेख करते है। इसमे जीवादि सात तत्त्वार्थोका सूत्र शैलीमे विवेचन किया गया है इससे इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थसूत्र पडा जान पडता है। किन्तु पिछले नामसे इस नाममे सूत्र पद अधिक होनेसे सम्भव है कि ये दोनो नाम एक ही हो। केवल प्रयोगकी सुविधाकी दृष्टिसे कही इसका

---

1. 'दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति, फल स्यादुपवासस्य भाषित मुनिपुङ्गवै।' 2. 'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' इति दव्वकालो परूविदो। —जीवट्ठाणकालानुयोगद्वार पृ० 316 प्र० म०। 3. इति तत्त्वार्थसूत्र भाष्यसयुक्ते भाष्यानुसारिण्या तत्त्वार्थटीकायां द्रव्यप्रतिपादनपर पञ्चोऽध्याय समाप्त।

केवल 'तत्त्वार्थ' इस नामसे और कही 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामसे उल्लेख किया जाता रहा हो। किसी वस्तुका जो नाम होता है उसके एकदेशका उल्लेख करके भी उस वस्तुका बोध करानेकी परिपाटी पुरानी है। बहुत सम्भव है कि इसी कारण इसका 'तत्त्वार्थ' यह नाम भी प्रसिद्धिमे आया हो। सिद्धसेन गणिने[1] इसका तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थ इन दोनों नामोंके द्वारा उल्लेख किया है। इससे भी ये दोनो नाम एक ही हैं इस अर्थकी पुष्टि होती है।

इसका एक नाम मोक्षशास्त्र भी है। मोक्षशास्त्र इस नामका उल्लेख प्राचीन टीकाकारो या अन्य किसीने किया है ऐसा हमारे देखनेमे नही आया। तथापि लोकमे इस नामकी अधिक प्रसिद्धि देखी जाती है। तत्त्वार्थसूत्रका प्रारम्भ मोक्षमार्गके उपदेशसे होकर इसका अन्त मोक्षके उपदेशके साथ होता है। जान पडता है कि यह नाम इसी कारणसे अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है।

सर्वार्थसिद्धि के बाद इसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका तत्त्वार्थभाष्य माना जाता है। इसकी उत्थानिकामें यह श्लोक आता है —

'तत्त्वार्थाधिगमाख्य बह्वर्थं सग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ 2 ॥'

अर्थात् बहुत अर्थवाले और अर्हद्वचनके एक देशके सग्रहरूप तत्त्वार्थाधिगम नामके इस लघु ग्रन्थका मैं शिष्य-हितबुद्धिसे कथन करता हूँ।

तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे जो प्रशस्ति उपलब्ध होती है। उसमे भी तत्त्वार्थाधिगम इस नामका उल्लेख किया है। इस आधारसे यह कहा जाता है कि इसका मुख्य नाम तत्त्वार्थाधिगम है।

किन्तु इस आधारके होते हुए भी मूल सूत्र-ग्रन्थका यह नाम है इसमे हमे सन्देह है, क्योंकि एक तो ये उत्थानिकाके श्लोक और भाष्यके अन्तमे पायी जानेवाली प्रशस्ति मूल सूत्र-ग्रन्थके अग न होकर भाष्यके अग हैं और भाष्य सूत्ररचनाके बाद की कृति है। दूसरे तत्त्वार्थसूत्रके साथ जो भाष्य की स्वतन्त्र प्रति उपलब्ध होती है उसमे प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिकासे यह विदित नहीं होता कि वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थभाष्यको तत्त्वार्थाधिगमसे भिन्न मानते हैं। प्रथम अध्यायके अन्तमे पायी जानेवाली पुष्पिकाका स्वरूप इस प्रकार है—

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः[2]।

साधारणत यदि किसी स्वतन्त्र ग्रन्थके अध्यायकी समाप्ति-सूचक पुष्पिका लिखी जाती है तो उसमें केवल मूल ग्रन्थका नामोल्लेख कर अध्यायकी समाप्तिकी सूचना दी जाती है और यदि टीकाके साथ अध्यायकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका लिखी जाती है तो उसमे मूल ग्रन्थका नामोल्लेख करनेके बाद अथवा विना किये ही टीकाका उल्लेख कर अध्याय की समाप्तिकी सूचक पुष्पिका लिखी जाती है। उदाहरणार्थ केवल तत्त्वार्थसूत्रके अध्यायकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका इस प्रकार उपलब्ध होती है—

इति तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

तथा टीकाके साथ तत्त्वार्थसूत्रकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका का स्वरूप इस प्रकार है—

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञकायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

यहाँ पूज्यपाद स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रका स्वतन्त्र नामोल्लेख किये विना केवल अपनी तत्त्वार्थ पर लिखी गयी वृत्तिका उसके नामके साथ उल्लेख किया है। इससे इस बातका स्पष्ट ज्ञान होता है कि तत्त्वार्थ नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उस पर लिखा गया यह वृत्तिग्रन्थ है। बहुत सभव है कि प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिका लिखते समय यही स्थिति वाचक उमास्वातिके सामने रही है। इस द्वारा

---

1. देखो, सिद्धसेन गणि टीका अध्याय एक और छहकी अन्तिम पुष्पिका। 2 देखो, रायचन्द्र सेठ ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर सस्था द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थभाष्य प्रति।

वे तत्त्वार्थको स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर उसका अधिगम करानेवाले भाष्यको 'तत्त्वार्थाधिगम अर्हत्प्रवचनसंग्रह' कह रहे है। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थाधिगम यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न हो कर वाचक उमास्वातिकृत उसके भाष्यका है।

दो सूत्र-पाठ—प्रस्तुत ग्रन्थके दो सूत्र-पाठ उपलब्ध होते है—एक दिगम्बर परम्परा मान्य और दूसरा श्वेताम्बर परम्परा मान्य। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी रचना होनेके पूर्व मूल सूत्रपाठका क्या स्वरूप था, इसका विचार यथास्थान हम आगे करेंगे। यहाँ इन दोनो सूत्रपाठोका सामान्य परिचय कराना मुख्य प्रयोजन है।

दिगम्बर परम्पराके अनुसार दसो अध्यायोकी सूत्र सख्या इस प्रकार है—

33+53+39+42+42+27+39+26+47+9=357।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार दसों अध्यायोकी सूत्र सख्या इस प्रकार है—

35+52+18+53+44+26+34+26+49+7=344।

प्रथम अध्यायमे ऐसे पाँच स्थल मुख्य है जहाँ दोनो सूत्र पाठोमे मौलिक अन्तर दिखाई देता है। प्रथम स्थल मतिज्ञानके चार भेदोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'अवाय' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'अपाय' पाठको स्वीकार करती है। प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थसूत्रका विवेचन करते हुए भी मुख्यरूपसे 'अवाय' पाठको ही स्वीकार करते हैं। दूसरा स्थल मतिज्ञानके विषयभूत 12 पदार्थोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा क्षिप्रके बाद 'अनिसृतानुक्त—' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'अनिश्रितासन्दिग्ध—' पाठको स्वीकार करती है। यहाँ पाठभेदके कारण अर्थभेद स्पष्ट है। तीसरा स्थल 'द्विविधोऽवधि' सूत्र है। इसे श्वेताम्बर परम्परा सूत्र मानती है जब कि सर्वार्थसिद्धिमे यह 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' सूत्रकी उत्थानिकाका अश है। चौथा स्थल अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'क्षयोपशमनिमित्त' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'यथोक्त-निमित्त' पाठको स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल सात नयोका प्रतिपादक सूत्र है। यहाँ दिगम्बर परम्परा सातो नयोको मूल मानकर उनका समान रूपसे उल्लेख करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मूल नय पाँच मानती है और नैगम व शब्दनयके क्रमश दो व तीन भेदोका स्वतन्त्र सूत्र द्वारा उल्लेख करती है। साधारणतः दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामे मूल नय सात माने गये हैं और आगम साहित्यमे इनका मूल नयके रूपमे उल्लेख भी किया है। पर जहाँ नामादि निक्षेपोमेसे कौन नय किस निक्षेपको स्वीकार करता है इसका विचार किया जाता है वहाँ बहुधा नैगमादि पाँच नयोका[1] भी उल्लेख किया जाता है। बहुत सम्भव है कि इस परिपाटीको देखकर वाचक उमास्वातिने पाँच नय मूल माने हों तो कोई आश्चर्य नही।

दूसरे अध्यायमे ऐसे ती स्थल हैं। प्रथम स्थल पारिणामिक भावोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे पारिणामिक भावके तीन नाम गिनाने के बाद श्वेताम्बर परम्परा आदि पदको स्वीकार करती है जब कि दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नही करती। यहाँ जीवका स्वतत्त्व क्या है यह बतलाते हुए पारिणामिक भावो का उल्लेख किया है। दिगम्बर परम्परा अन्य द्रव्य साधारण पारिणामिक भावोकी यहाँ मुख्य रूपसे गणना नही करती और श्वेताम्बर परम्परा करती है यही यहाँ उसके आदि पद देनेका प्रयोजन है। दूसरा स्थल स्थावरकायिक जीवोके भेदोका प्रतिपादक सूत्र है। आगमिक परिपाटीके अनुसार स्थावरोके पाँच भेद दोनो परम्पराएँ स्वीकार करती हैं और दिगम्बर परम्परा इसी परिपाटीके अनुसार यहाँ पाँच भेद स्वीकार करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराने अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोको गतित्रस मानकर इनका उल्लेख त्रसोके साथ किया है। इस कारण कई सूत्रोकी रचनामे अन्तर आया है। तीसरा स्थल 'उपयोग स्पर्शादिषु' सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे स्वतन्त्र सूत्र मानती है जब कि दिगम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपसे

---

1 देखो, धवला पुस्तक 12 वेदनाप्रत्ययविधान नामक अधिकार। देखो, कषायप्राभृत प्र० पुस्तक परिशिष्ट पृष्ठ 7।

स्वीकार नहीं करती। उसके मतसे उपयोगके विषयका अलगसे प्रतिपादन करना वाछनीय नही, क्योकि प्रत्येक ज्ञानका विषय प्रथम अध्यायमे दिखा आये है। चौथा स्थल 'एकसमयाऽविग्रहा' सूत्र है। गतिका प्रकरण होनेसे दिगम्बर परम्परा इस सूत्रको इसी रूपमे स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा एक समयको विशेष्य मानकर यहाँ पुल्लिग एकवचनान्तका प्रयोग करती है। पाँचवाँ स्थल जन्मका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'पोत' पदको और श्वेताम्बर परम्परा पोतज' पदको स्वीकार करती है। छठा स्थल 'तैजसमपि' सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा सूत्र मानती है और श्वेताम्बर परम्परा नही मानती। यहाँ निमित्तज सभी शरीरोंकी उत्पत्तिके कारणोका विचार सूत्रोमे किया गया है फिर भी श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपमे स्वीकार नही करती और इसे तत्त्वार्थभाष्यका अङ्ग मान लेती है। सातवाँ स्थल आहारक शरीरका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्पराके 'प्रमत्तसयतस्यैव' पाठके स्थानमे श्वेताम्बर परम्परा 'चतुर्दशपूर्वधरस्यैव' पाठ स्वीकार करती है। आठवाँ स्थल 'शेषास्त्रिवेदा.' सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा स्वतन्त्र सूत्र मानती है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इसे परिशेष न्यायका आश्रय लेकर सूत्र माननेसे अस्वीकार करती है। नौवाँ स्थल अनपवर्त्य आयुवालों का प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्पराके 'चरमोत्तमदेहा' पाठके स्थानमे श्वेताम्बर परम्परा 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पाठको स्वीकार करती है।

तीसरे अध्यायमे ऐसे तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल पहला सूत्र है। इसमे 'अधोऽध' के अनन्तर श्वेताम्बर परम्परा 'पृथुतरा' पाठको अधिक स्वीकार करती है। दूसरा स्थल दूसरा सूत्र है। इसमे आये हुए 'नारका' पदको श्वेताम्बर परम्परा स्वीकार न कर 'तासु नरका' स्वतत्र सूत्र मानती है। यहाँ इन द्वितीयादि चार सूत्रोंमे नारकोकी अवस्थाका चित्रण किया गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार वह सब नरको—आवासस्थानोकी अवस्था का चित्रण हो जाता है। तीसरा स्थल ग्यारहवे सूत्रसे आगे 21 सूत्रो-की स्वीकृति और अस्वीकृतिका है। इनको दिगम्बर परम्परा सूत्र रूपमे स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इन्हे सूत्र नही मानती।

चौथे अध्यायमे ऐसे कई स्थल हैं। प्रथम मतभेदका स्थल दूसरा सूत्र है। इस सूत्र को दिगम्बर परम्परा 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या.' इस रूपमे और श्वेताम्बर परम्परा 'तृतीय पीतलेश्य' इस रूपमे स्वीकार करती है। श्वेताम्बर साहित्यमे ज्योतिषियोके एक पीतलेश्या कही है। इसीसे यह सूत्र विषयक मतभेद हुआ है और इसी कारण श्वेताम्बर परम्पराने सातवें नम्बरका 'पीतान्तलेश्या' स्वतत्र सूत्र माना है। दूसरा स्थल शेष कल्पोमे प्रवीचारका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा 'द्वयोर्द्वयो' पदको अधिक रूपमे स्वीकार करती है। इसके फलस्वरूप उसे आनतादि चार कल्पोको दो मानकर चलना पड़ता है। तीसरा स्थल कल्पोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्पराने सोलह और श्वेताम्बर परम्परा ने बारह कल्पोका नामोल्लेख किया है। चौथा स्थल लौकान्तिक देवोकी सख्याका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्पराने आठ प्रकारके और श्वेताम्बर परम्पराने नौ प्रकारके लौकान्तिक देव गिनाये हैं। इतना होते हुए भी तत्त्वार्थभाष्यमे वे आठ प्रकारके ही रह जाते हैं। 'औपपादिकमनुष्येभ्य' इत्यादि सूत्रके आगे इस अध्यायमे दोनो परम्पराके सूत्रपाठमे पर्याप्त अन्तर है। ऐसे अनेक सूत्र श्वेताम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठमे स्थान पाते हैं जिनका दिगम्बर परम्परामे सर्वथा अभाव है। कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जिनके विषयमे दिगम्बर परम्परा एक पाठ स्वीकार करती है और श्वेताम्बर परम्परा दूसरा पाठ। इस सब अन्तरके कई कारण हैं। एक तो कल्पोकी संख्यामे अन्तरको स्वीकार करनेसे ऐसा हुआ है। दूसरे भवनवासी और ज्योतिषी देवोकी स्थितिके प्रतिपादनमे श्वेताम्बर परम्पराने भिन्न रुख स्वीकार किया है, इससे ऐसा हुआ है। लौकान्तिक देवोकी स्थितिका प्रतिपादक सूत्र भी इस परम्पराने स्वीकार नही किया है।

पाँचवे अध्यायमे ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल 'द्रव्याणि' और 'जीवाश्च' ये दो सूत्र हैं। दिगम्बर परम्परा इन्हे दो सूत्र मानती है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इनका एक सूत्ररूपसे उल्लेख करती है। दूसरा स्थल धर्मादि द्रव्योके प्रदेशोकी सख्याका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा धर्म, अधर्म और एक

जीवके प्रदेशोकी एक साथ परिगणना करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा जीवके प्रतिपादक सूत्रको स्वतन्त्र मानकर चलती है। तीसरा स्थल 'सद्द्रव्यलक्षणम्' सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्ररूपमे स्वीकार नही करती। चौथा स्थल पुद्गलोका बन्ध होने पर वे किस रूपमे परिणमन करते है इस बातका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा 'सम' पदको अधिक स्वीकार करती है। साधारणत दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराएँ 'द्वियधिक गुणवाले का अपनेसे हीन गुणवालेके साथ बन्ध होता है' इस मतसे सहमत है किन्तु सूत्र रचनामे और उसके अर्थकी संगति बिठलानेमे श्वेताम्बर परम्परा अपनी इस आगमिक परिपाटीका त्याग कर देती है। पाँचवाँ स्थल काल द्रव्यका प्रतिपादक सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इस सूत्र द्वारा काल द्रव्यके अस्तित्वमे मतभेद स्वीकार करती है। समस्त श्वेताम्बर आगम साहित्यमे काल द्रव्यके स्थानमे 'अद्धासमय' का उल्लेख किया है और इसे प्रदेशात्मक द्रव्य न मान कर पर्याय द्रव्य स्वीकार किया है। छठा स्थल परिणामका प्रतिपादक सूत्र है। दिगम्बर परम्परा 'तद्भाव परिणाम' केवल इस सूत्रको स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके साथ तीन अन्य सूत्र स्वीकार करती है।

छठे अध्यायमे ऐसे दस स्थल है। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा एक और श्वेताम्बर परम्परा दो सूत्र मानती है। दूसरा स्थल 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया' इत्यादि सूत्र है। दिगम्बर परम्पराने इसे इसी रूपमे स्वीकार किया है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके स्थानमे 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया' यह पाठ स्वीकार करती है। तीसरा स्थल सातावेदनीयके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'भूतव्रतत्यनुकम्पादानसरागसयमादियोग' इस पाठको स्वीकार करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके स्थानमे 'भूतव्रत्यनुकम्पा दान सरागसयमादि योग' ऐसा पाठ स्वीकार करती है। चौथा स्थल चारित्रमोहके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा 'तीव्र' पदके बाद 'आत्म' पदको अधिक स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल नरकायुके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा मध्यमे 'च' पदको अधिक स्वीकार करती है। छठा स्थल मनुष्यायुके आस्रवके प्रतिपादक दो सूत्र हैं। इन्हे दिगम्बर परम्परा दो सूत्र मानती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा उन दोनोको एक मानकर चलती है। इतना ही नही, किन्तु वह 'स्वभावमार्दव' के स्थानमे 'स्वभावमार्दवार्जव' पाठ स्वीकार करती है। सातवाँ स्थल देवायुके आस्रवके प्रतिपादक सूत्र हैं। इन सूत्रोमे दिगम्बर परम्पराने 'सम्यक्त्व च' सूत्रका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपमे स्वीकार करने से हिचकिचाती है। आठवाँ स्थल शुभ नामके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'तत्' पदको अधिक स्वीकार करती है। नौवाँ स्थल तीर्थङ्कर प्रकृतिके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा 'साधुसमाधि' के स्थानमे 'सघसाधुसमाधि' पाठ स्वीकार करती है। दसवाँ स्थल उच्चगोत्रके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे 'तद्विपर्ययौ' के स्थानमे श्वेताम्बर परम्परा 'तद्विपर्ययो' पाठ स्वीकार करती है।

सातवें अध्यायमे ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल पाँच व्रतोकी पाँच-पाँच भावनाओके प्रतिपादक पाँच सूत्र हैं। इन्हें दिगम्बर परम्परा सूत्ररूपमे स्वीकार करती है और श्वेताम्बर परम्परा नही। दूसरा स्थल 'हिंसादिष्विहामुत्र' सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा 'अमुत्र' पदके बाद 'च' पदको अधिक स्वीकार करती है। तीसरा स्थल 'मैत्री—' इत्यादि सूत्र है। इसके मध्यमे दिगम्बर परम्परा 'च' पदको अधिक स्वीकार करती हैं। चौथा स्थल 'जगत्काय— इत्यादि सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'वा' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'च' पाठको स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल सात शीलोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'प्रोषधोपवास' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'प्रौषधोपवास' पाठको स्वीकार करती है। छठा स्थल अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचारोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे 'छेद'के स्थानमे श्वेताम्बर पाठ 'सविच्छेद' है।

आठवें अध्यायमे ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे दो सूत्र मानकर चलती है। दूसरा स्थल ज्ञानावरणके पाँच भेदोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा

ज्ञानके पाँच भेदोंका नाम निर्देश करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा 'मत्यादीनाम्' इतना कहकर ही छोड देती है। तीसरा स्थल दर्शनावरणके नामोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा पाँच निद्राओके नामोंके साथ 'वेदनीय' पद अधिक जोडती है। चौथा स्थल मोहनीयके नामोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे नामोके क्रमके प्रतिपादनमे दोनो परम्पराओने अलग-अलग सरणी स्वीकार की है। पाँचवें अन्तरायके नामोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा पाँच नामोका निर्देश करती है और श्वेताम्बर परम्परा 'दानादीनाम्' इतना कहकर छोड देती है। छठा स्थल पुण्य और पाप प्रकृतियोंके प्रतिपादक दो सूत्र हैं। यहाँ श्वेताम्बर परम्पराने एक तो पुण्य प्रकृतियो मे सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद इनकी भी परिगणना की है। दूसरे पापप्रकृतियोका प्रतिपादक सूत्र नही कहा है।

नौवें अध्यायमे ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल दस धर्मोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'उत्तम' पदको क्षमा आदिका विशेषण मानकर चलती है और श्वेताम्बर परम्परा धर्मका विशेषण मानकर चलती है, फिर भी वह 'उत्तम' पदका पाठ 'धर्म' पदके साथ अन्तमे न करके सूत्रके प्रारम्भमे ही करती है। दूसरा स्थल पाँच चारित्रोका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे दिगम्बर परम्परा 'इति' पदको अधिक स्वीकार करती है। तीसरा स्थल ध्यानका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे 'अन्तर्मुहूर्तात्' के स्थानमे श्वेताम्बर परम्परा 'आ मुहूर्तात्' पाठ स्वीकार कर उसे स्वतन्त्र सूत्र मानती है। चौथा स्थल आर्तध्यानके प्रतिपादक सूत्र हैं। इनमे श्वेताम्बर परम्पराने एक तो 'मनोज्ञस्य' और 'अमनोज्ञस्य' के स्थानमे बहुवचनान्त पाठ स्वीकार किया है। दूसरे 'वेदनायाश्च' सूत्रको 'विपरीत मनोज्ञस्य' के पहले रखा है। पाँचवाँ स्थल धर्मध्यानका प्रतिपादक सूत्र है। इसमे श्वेताम्बर परम्परा 'अप्रमत्तसयतस्य' इतना पाठ अधिक स्वीकार कर 'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च' यह सूत्र स्वतत्र मानती है। छठा स्थल 'एकाश्रये' इत्यादि सूत्र है। इसमे 'सवितर्कविचारे' के स्थानमे श्वेताम्बर परम्परा 'सवितर्के' पाठ स्वीकार करती है।

दसवें अध्यायमे ऐसे तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे दो सूत्र मानकर चलती है। दूसरा स्थल तीसरा और चौथा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा एक तो इन दो सूत्रोको एक मानती है। दूसरे 'भव्यत्वानाम्' के स्थानमे 'भव्यत्वाभावात्' पाठ स्वीकार करती है। तीसरा स्थल 'पूर्वप्रयोगात्' इत्यादि सूत्र है। इस सूत्रके अन्तमे श्वेताम्बर परम्परा 'तद्गति' इतना पाठ अधिक स्वीकार करती है। तथा इस सूत्रके आगे कहे गये दो सूत्रोको वह स्वीकार नही करती।

इन पाठ-भेदोंके अतिरिक्त दसो अध्यायोमे छोटे-मोटे और भी बहुतसे फर्क हुए हैं जिनका विशेष महत्त्व न होनेसे यहाँ हमने उनका उल्लेख नहीं किया है।

3. **सूत्र-पाठोंमे मतभेद**—यहाँ हमने दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामान्य जिस सूत्र-पाठोके अन्तरका उल्लेख किया है वह सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्र-पाठोको ध्यानमे रखकर ही किया है। यदि हम इन सूत्र-पाठोके भीतर जाते हैं तो हमे वह मतभेद और भी अधिक दिखाई देता है। फिर भी यह बात सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र-पाठ पर लागू नही होती। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने जो पाठ रहा है और उन्होंने निर्णय करके जिसे सूत्रकारका माना है, उत्तरकालवर्ती सभी दिगम्बर टीकाकार प्राय उसीको आधार मानकर चले हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। हरिभद्रसूरि और सिद्धसेन गणिने तत्त्वार्थभाष्यके आधारसे अपनी टीकाएँ लिखी अवश्य हैं और इन दोनो आचार्योंने तत्त्वार्थभाष्यके साथ तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्र-पाठकी रक्षा करनेका भी प्रयत्न किया है। किन्तु उनके सामने ही सूत्र-पाठमे इतने अधिक पाठभेद और अर्थभेद हो गये थे जिनका उल्लेख करना उन्हे आवश्यक हो गया। उदाहरणके लिए यहाँ हम पाँचवें अध्यायके 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रको उपस्थित करते हैं। सिद्धसेन गणिने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अनेक मतभेदोका उल्लेख किया है। उनके सामने इस सूत्रके जो प्रमुख मतभेद थे वे इस प्रकार हैं—

1. एक पाठके अनुसार 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' एक सूत्र न होकर दो सूत्र हैं। प्रथम 'नित्यावस्थितानि' और दूसरा 'अरूपाणि'। धर्मादिक चार द्रव्य अरूपी हैं यह सिद्ध करनेके लिए 'अरूपाणि' स्वतन्त्र सूत्र माना गया है।

2 दूसरे पाठके अनुसार 'नित्यावस्थितारूपाणि' सूत्र है। इसके अनुसार 'नित्यावस्थित—' पदके अन्तमें स्वतन्त्र विभक्ति देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। तीनों पद समसित होने चाहिए।

3 तीसरा मत है कि सूत्र तो 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ही है। किन्तु इसमें 'नित्य' पद स्वतन्त्र न होकर 'अवस्थित' पदका विशेषण है। इस मतके अनुसार प्रथम पदका 'नित्य अवस्थितानि नित्यावस्थितानि' यह विग्रह होगा।

4 इनके सिवा वहाँ दो मतोंका और उल्लेख किया है। किन्तु वे केवल अर्थविषयक ही मतभेद हैं इसलिए उनकी यहाँ हमने अलगसे चर्चा नहीं की है।

आगे चलकर तो ये मतभेद और भी बढ़े है। प्रमाणस्वरूप यहाँ हम तत्त्वार्थसूत्रकी उस सटिप्पण प्रतिके कुछ पाठभेद उपस्थित करते है जिनका परिचय श्रीमान् पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अनेकान्त वर्ष तीन किरण एकमें दिया है। यह प्रति पण्डितजीके पास श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने भेजी थी।

इस प्रतिके आलोडन करनेसे यह तो साफ जाहिर होता है कि यह किसी श्वेताम्बर आचार्यकी कृति है, क्योंकि इसमें दिगम्बर आचार्योंको जड, दुरात्मा और सूत्रवचनचौर इत्यादि शब्दो द्वारा सम्बोधित किया गया है। इसलिए इस प्रतिमे जो पाठभेद या अधिक सूत्र उपलब्ध होते हैं वे काफी महत्त्व रखते हैं। प्रतिमे पाये जाने वाले अधिक सूत्र ये हैं—

तैजसमपि 50, धर्मा वंशा शैलाञ्जनारिष्टा माघव्या माघवीति च 2, उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्या 23, स द्विविध 42, सम्यक्त्वं च 21, धर्मास्तिकायाभावात् 7।

तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें सूत्र रूपमे स्वीकार नही करते। साथ ही तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य टीकाकार हरिभद्रसूरि और सिद्धसेनगणि भी इन्हे सूत्र नही मानते, फिर भी टिप्पणकारने इन्हे सूत्र माना है। यदि हम इनके सूत्र होने और न होनेके मतभेदकी बातको थोडी देरको भुला भी दें तो भी इनके मध्यमे पाया जानेवाला 'सम्यक्त्व च' सूत्र किसी भी अवस्थामे नही भुलाया जा सकता। तत्त्वार्थभाष्यमे तो इसका उल्लेख है ही नही, अन्य श्वेताम्बर आचार्योंने भी इसका उल्लेख नही किया है, फिर भी टिप्पणकार किसी पुराने आधारसे इसे सूत्र मानते हैं। इतना ही नही वे इसे मूल सूत्रकारकी ही कृति मानकर चलते हैं।

यह तो हुई सूत्रभेदकी चर्चा। अब इसके एक पाठभेदको देखिए। दिगम्बर परम्पराके अनुसार तीसरे अध्यायमे सात क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रके आदिमे 'तत्र' पाठ उपलब्ध नही होता, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य उक्त सूत्रके प्रारम्भमे 'तत्र' पद उपलब्ध होता है। फिर भी टिप्पणकार यहाँ तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठको स्वीकार न कर दिगम्बर परम्परामान्य पाठको स्वीकार करते हैं।

यहाँ देखना यह है कि जब तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य एक ही व्यक्तिकी कृति थी और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको भलीभाँति समझते थे तब सूत्रपाठके विषयमे इतना मतभेद क्यों हुआ और खासकर उस अवस्थामे जब कि तत्त्वार्थभाष्य उसके द्वारा स्वीकृत पाठको सुनिश्चित कर देता है। हम तो इस समस्त मतभेदको देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ स्वीकृत होनेके पहले श्वेताम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठ निश्चित करनेके लिए छोटे-बडे अनेक प्रयत्न हुए हैं और वे प्रयत्न पीछे तक भी स्वीकृत होते रहे हैं। यही कारण है कि वाचक उमास्वाति द्वारा तत्त्वार्थभाष्य लिखकर सूत्रपाठके सुनिश्चित कर देने पर भी उसे वह मान्यता नही मिल सकी जो दिगम्बर परम्परामे सर्वार्थसिद्धि और उस द्वारा स्वीकृत सूत्र पाठको मिली है।

2. सर्वार्थसिद्धि

1 नाम की सार्थकता—उपलब्ध साहित्यमे **सर्वार्थसिद्धि** प्रथम टीका है जो **तत्त्वार्थसूत्र** पर लिखी

गयी है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें स्वयं आचार्य पूज्यपादने समाप्ति सूचक पुष्पिका[1] दी है। उसमे इसका नाम **सर्वार्थसिद्धि** बतलाते हुए इसे वृत्तिग्रन्थ रूपसे स्वीकार किया है। इसकी प्रशसामे टीकाके अन्तमे वे लिखते हैं—

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यैः जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या॥

जो आर्य स्वर्ग और मोक्षसुखके इच्छुक हैं वे जैनेन्द्र शासनरूपी उत्कृष्ट अमृतमे सारभूत और सज्जन पुरुषो द्वारा रखे गये सर्वार्थसिद्धि इस नामसे प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्तिको निरतर मन पूर्वक धारण करें।

वे पुन लिखते हैं—

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तैर्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्॥

सब पदार्थोके जानकार जो इस तत्त्वार्थवृत्तिको धर्मभक्तिसे सुनते हैं और पढते हैं मानो उन्होंने परम सिद्धिसुखरूपी अमृतको अपने हाथमे ही कर लिया है। फिर उन्हे चक्रवर्ती और इन्द्रके सुखके विषयमे तो कहना ही क्या है?

'सर्वार्थसिद्धि' इस नामके रखनेका प्रयोजन यह है कि इसके मनन करनेसे सब प्रकारके अर्थोंकी अथवा सब अर्थोंमे श्रेष्ठ मोक्षसुखकी सिद्धि प्राप्त होती है। यह कथन अत्युक्तिको लिये हुए भी नही है, क्योकि इसमें तत्त्वार्थसूत्रके जिस प्रमेयका व्याख्यान किया गया है वह सब पुरुषार्थोंमें प्रधानभूत मोक्ष पुरुषार्थका साधक है।

भारतीय परम्पराने अनेक दर्शनोको जन्म दिया है। किन्तु उन सबके मूलमे मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्ति प्रधान लक्ष्य रहा है। महर्षि जैमिनि पूर्वमीमासादर्शनका प्रारम्भ इस सूत्रसे करते हैं—

'ओं अथातो धर्मजिज्ञासा॥ 1॥'

और इसके बाद वे धर्मका स्वरूप निर्देश कर उसके साधनोका विचार करते हैं।

यही स्थिति व्यास महर्षिकी है। उन्होने शारीरिक मीमासादर्शनको इस सूत्रसे प्रारम्भ किया है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥ 1॥'

अब न्यायदर्शनके सूत्रोंको देखिए। उसके प्रणेता गौतम महर्षि लिखते हैं कि 'प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान इनका तत्त्वज्ञान होनेसे नि श्रेयसकी प्राप्ति होती है॥ 1॥' सूत्र इस प्रकार है—

'प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥ 1॥'

वैशेषिकदर्शनके प्रणेता महर्षि कणादने भी यह दृष्टि सामने रखी है। वे प्रारम्भ मे लिखते हैं—

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः॥ 1॥'

कपिल ऋषिकी स्थिति इससे कुछ भिन्न नही है। उन्होने भी अत्यन्त पुरुषार्थको ही मुख्य माना है। वे साख्य दर्शनका प्रारम्भ इन शब्दो द्वारा करते हैं—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥ 1॥'

योगदर्शनका प्रारम्भ तो और भी मनोहारी शब्दो द्वारा हुआ है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—'अब योगका अनुशासन करते हैं॥ 1॥ योगका अर्थ है चित्तवृत्तिका निरोध॥ 2॥ चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर ही द्रष्टाका अपने स्वरूपमे अवस्थान होता है॥ 3॥' इस विषयके प्रतिपादक उनके सूत्र देखिए—

'अथ योगानुशासनम्॥ 1॥ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ 2॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ 3॥'

इन सबके बाद जब हमारी दृष्टि जैन दर्शनके सूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र पर जाती है तो हमें यहाँ भी उसी तत्त्वके दर्शन होते हैं। इसका प्रारम्भ करते हुए आचार्य गृद्धपिच्छ लिखते हैं—

---

1. इति सर्वार्थसिद्धिसज्ञकाया तत्त्वार्थवृत्तौ प्रथमोऽध्याय समाप्त।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ 1 ॥'

यह है भारतीय दर्शनोके प्रणयनका सार। इसलिए पूज्यपाद स्वामीका यह कहना सर्वथा उचित है कि 'जो मनुष्य धर्मभक्तिसे इस तत्त्वार्थवृत्तिको पढते और सुनते है मानो उन्होंने परम सिद्धिसुखरूपी अमृतको अपने हाथमे ही कर लिया है। फिर चक्रवर्ती और इन्द्रके सुखोके विषयमे तो कहना ही क्या है।' इससे इसका 'सर्वार्थसिद्धि' यह नाम सार्थक है।

2 **रचनाशैली**—हम कह आये हैं कि सर्वार्थसिद्धि वृत्ति-ग्रन्थ है। वृत्तिकारने भी इसे 'वृत्ति' ही कहा है। जिसमे सूत्रके पदोंका आश्रय लेकर पद-घटनाके साथ प्रत्येक पदका विवेचन किया जाता है उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तिका यह अर्थ सर्वार्थसिद्धिमे अक्षरश घटित होता है। सूत्रका शायद ही कोई पद हो जिसका इसमे व्याख्यान नही किया गया है। उदाहरणार्थ—तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय 1 सूत्र 2 मे केवल 'तत्त्व' या 'अर्थ' पद न रखकर 'तत्त्वार्थ' पद क्यो रखा है इसका विवेचन दर्शनान्तरोका निर्देश करते हुए उन्होंने जिस विशदतासे किया है, इसीसे वृत्तिकारकी रचनाशैलीका स्पष्ट आभास मिल जाता है। वे सूत्रगत प्रत्येक पदका साङ्गोपाङ्ग विचार करते हुए आगे बढते हैं। सूत्रपाठमे जहाँ आगमसे विरोध दिखाई देता है वहाँ वे सूत्रपाठकी यथावत् रक्षा करते हुए बडे कौशलसे उसकी सङ्गति बिठलाते हैं। अध्याय 4 सूत्र 19 और सूत्र 22 मे उनके इस कौशलके और भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। सूत्र 19 मे 'नवग्रैवेयकेषु' न कहकर 'नवसु ग्रैवेयकेषु' कहा है। प्रत्येक आगमाभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि नौ ग्रैवेयकके सिवा अनुदिश सज्ञक नौ विमान और हैं। किन्तु मूल सूत्रमें नौ अनुदिशोका उल्लेख नही किया है। आचार्य पूज्यपादसे यह रहस्य छिपा नही रहता। वे सूत्रकारकी मनसाको भाप लेते हैं और 'नव' पदको समसित न रखनेका कारण बतलाते हुए वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि यहाँ पर नौ अनुदिशोंका ग्रहण करने के लिए 'नव' पदका पृथक्रूपसे निर्देश किया है। 22वें सूत्रकी व्याख्याके समय भी उनके सामने यही समस्या उपस्थित होती है। आगमके दूसरे कल्प तक पीतलेश्याका, बारहवें कल्पतक पद्मलेश्याका और आगे शुक्ललेश्याका निर्देश किया है। आगमकी इस व्यवस्थाके अनुसार उक्त सूत्रकी संगति बिठाना बहुत कठिन है। किन्तु वे ऐसे प्रसग पर जिस साहससे आगम और सूत्रपाठ दोनोकी रक्षा करते हैं उसे देखते हुए हमारा मस्तक श्रद्धासे उनके चरणोंमे झुके बिना नही रहता।

पाणिनीय व्याकरण पर पातञ्जल महाभाष्य प्रसिद्ध है। इसमे व्याकरण जैसे नीरस और कठिन विषयका ऐसी सरस और सरल पद्धतिसे विवेचन किया गया है कि उसे हाथमे लेनेके बाद छोडनेको जी नही चाहता। यह तो हम आगे चलकर देखेंगे कि सर्वार्थसिद्धिकारने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय उसका कितना उपयोग किया है। यहाँ केवल यही बतलाना है कि इसमे न केवल उसका भरपूर उपयोग हुआ है अपितु उसे अच्छी तरह पचाकर उसी शैली मे इसका निर्माण भी हुआ है। और आश्चर्य यह कि वह व्याकरणका ग्रन्थ और यह दर्शनका ग्रन्थ, फिर भी रचनामे कहीं भी शिथिलता नही आने पायी है। सर्वार्थसिद्धिकी रचना शैलीको हम समतल नदीके गतिशील प्रवाहकी उपमा दे सकते हैं जो स्थिर और प्रशान्त भावसे आगे एक रूपमे सदा बढता ही रहता है, रुकना कही वह जानता ही नही।

आचार्य पूज्यपादने इसमें केवल भाषा-सौष्ठवका ही ध्यान नही रखा है, अपितु आगमिक परम्पराका भी पूरी तरह निर्वाह किया है। प्रथम अध्यायका सातवाँ और आठवाँ सूत्र इसका प्राञ्जल उदाहरण है। इन सूत्रों की व्याख्या का आलोडन करते समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थो का कितना गहरा अभ्यास किया था इस बातका सहज ही पता लग जाता है। इस परसे हम यह दृढतापूर्वक कहनेका साहस करते हैं कि उन्होने सर्वार्थसिद्धि लिखकर जहाँ एक ओर सस्कृत साहित्यकी श्रीवृद्धि की है वहाँ उन्होंने परम्परासे आये हुए आगमिक साहित्यकी रक्षाका श्रेय भी सम्पादित किया है।

निचोडरूपमे सर्वार्थसिद्धिकी रचनाशैलीके विषयमे सक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि वह ऐसी प्रसन्न और विषयस्पर्शी शैलीमें लिखी गयी है जिससे उत्तरकालीन वाचक उमास्वातिप्रभृति सभी तत्त्वार्थसूत्रके भाष्यकारों, वार्तिककारों और टीकाकारोंको उसका अनुसरण करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है।

3. पाठभेद और अर्थान्तरन्यास—सर्वार्थसिद्धि लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखा गया अन्य कोई टीका-ग्रन्थ या भाष्यग्रन्थ था इसका तो स्वय उन्होने उल्लेख नही किया है किन्तु सर्वार्थसिद्धि परसे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह लिखते समय उनके सामने एक-दो छोटे-मोटे सूत्रपाठ या टीकाग्रन्थ अवश्य थे और उनमे एक-दो स्थलोपर महत्त्वपूर्ण पाठभेद भी थे। ऐसे पाठभेदोकी चर्चा आचार्य पूज्यपादने दो स्थलो पर की है। प्रथम स्थल है प्रथम अध्यायका 16वाँ सूत्र और दूसरा स्थल है दूसरे अध्यायका 53वाँ सूत्र।

1 प्रथम अध्यायका 16वाँ सूत्र इस प्रकार है—

बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ 16 ॥

इसमे क्षिप्रके बाद अनि सृत पाठ है। किन्तु इस पर आचार्य पूज्यपाद सूचित करते हैं कि **'अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः।'** अर्थात् अन्य आचार्योके मतसे क्षिप्रके बाद अनि सृतके स्थानपर नि सृत पाठ है।

वर्तमानमे हमारे सामने दिगम्बर और श्वेताम्बर जितने भी तत्त्वार्थसूत्रके टीकाग्रन्थ और सूत्रपाठ उपस्थित हैं उनमेसे किसीमे भी यह दूसरा पाठ उपलब्ध नही होता, इसलिए यह तो कहा ही नही जा सकता कि इनमेसे किसी एक टीकाग्रन्थ या सूत्रपाठके आधारसे आचार्य पूज्यपादने इस मतभेद का उल्लेख किया है। तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिने अवश्य ही सर्वार्थसिद्धिमान्य 'अनि सृत' पदको स्वीकार न कर उसके स्थानमे 'अनिश्रित' पाठ स्वीकार किया है। इसलिए यह भी शका नही होती कि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ था और उन्होने इस पाठान्तर द्वारा उसकी ओर इशारा किया है। सम्भव यही दिखाई देता है कि सर्वार्थसिद्धि टीका लिखते समय उनके सामने जो टीका-टिप्पणियाँ उपस्थित थी उनमेसे किन्हीमे यह दूसरा पाठ रहा होगा और उसी आधारसे आचार्य पूज्यपादने उस पाठभेदका यहाँ उल्लेख किया है। इतना ही नही, किन्तु किसी टीकाग्रन्थमे उसकी सगति भी बिठलायी गयी होगी। यही कारण है कि आचार्य पूज्यपाद केवल पाठभेद का उल्लेख करके ही नही रह गये। किन्तु इस पाठको स्वीकार कर लेनेपर उसकी व्याख्या दूसरे आचार्य किस प्रकार करते हैं इस बातका भी उन्होने **'ते एवं वर्णयन्ति'** इत्यादि वाक्य द्वारा उल्लेख किया है।

2. दूसरे अध्यायका 53वाँ सूत्र इस प्रकार है—

'औपपादिकचरमोत्तमदेहासख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ 53 ॥'

इसमे **'चरमोत्तमदेह'** पाठ है। इससे यह भ्रम होता है कि क्या चरमशरीरी सभी उत्तम देहवाले होते हैं या कोई-कोई। यदि सभी उत्तम देहवाले होते हैं तो उत्तम पदके देनेकी क्या आवश्यकता है। और यदि कोई-कोई उत्तम देहवाले होते हैं तो फिर क्या यह माना जाय कि जो चरमशरीरी उत्तम देहवाले होते हैं केवल वे ही अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं, अन्य चरमशरीरी नही ? बहुत सम्भव है कि इसी दोषका परिहार करनेके लिए किसीने **'चरमदेह'** पाठ स्वीकार किया होगा। जो कुछ भी हो। पूज्यपाद आचार्यके सामने दोनो पाठ थे और उन्होने **'चरमोत्तमदेह'** पाठको सूत्रकारका मानकर स्वीकार कर लिया और **'चरमदेह'** पाठका पाठान्तरके रूपमे उल्लेख कर दिया।

तत्त्वार्थभाष्यमान्य जो सूत्रपाठ इस समय उपलब्ध होता है उसमे **'चरमदेहोत्तमपुरुष'** पाठ है। इस परसे कुछ विद्वान् यह शका करते हैं कि बहुत सम्भव है कि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्य रहा हो और उसके आधारसे उन्होने सर्वार्थसिद्धिमे इस पाठान्तरका उल्लेख किया हो, किन्तु हमे उनके इस कथनमे कुछ भी तथ्याश नही दिखाई देता। कारण, एक तो तत्त्वार्थभाष्यमे 'चरमदेह' पाठ ही नही है। उसमे **'चरमदेहोत्तमपुरुष'** पाठ अवश्य ही उपलब्ध होता है किन्तु इस पाठके विषयमे भी उनकी [illegible] है। आचार्य सिद्धसेनने अपनी तत्त्वार्थभाष्यकी टीकामे इस प्रसगको उठाया है और अन्तमे यही कहा है कि हम नही कह सकते कि इस सम्बन्धमे वस्तुस्थिति क्या है।

दूसरे यदि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्यका पाठ उपस्थित होता तो वे 'चरमदेहा' इति वा पाठः' के स्थानमे 'चरमदेहोत्तमपुरुषा इति वा पाठ' ऐसा उल्लेख करते, क्योंकि उन्हें 'चरमोत्तमदेह' इस पाठके स्थानमे दूसरा पाठ क्या उपलब्ध होता है इसका निर्णय करना था। ऐसी अवस्थामे अधूरे पाठान्तर-का भूल कर भी वे उल्लेख नही करते।

स्पष्ट है कि 'क्षिप्रनिःसृत' के समान यह पाठान्तर भी आचार्य पूज्यपादको दूसरे टीका-ग्रन्थोंमे उप-लब्ध हुआ होगा और उसी आधारसे उन्होंने यहाँ उसका उल्लेख किया है।

3 अर्थान्तरन्यासका एक उदाहरण हम रचना शैलीके प्रसगमे अध्याय 4 सूत्र 22 का उल्लेख करते समय दे आये हैं। वहाँ हमने यह सकेत किया ही है कि उक्त सूत्रमे पूरे आगमिक अर्थकी सगति बैठती न देख आचार्य पूज्यपादने सूत्र और आगम दोनोका सुन्दरतापूर्वक निर्वाह किया है। यह प्रकृत अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है।

4 द्वितीय उदाहरण स्वरूप हम 9वें अध्यायका 11वाँ सूत्र उपस्थित करते हैं। इसमें वेदनीय निमित्तक 11 परीषह जिन के कही गयी है। इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिए हम थोडा विस्तारके साथ चर्चा करना इष्ट मानेगे।

परीषहो का विचार छठे गुणस्थानसे किया जाता है, क्योंकि श्रामण्य पदका प्रारम्भ यहीसे होता है, अत इस गुणस्थानमे सब परीषह होते है यह तो ठीक ही है, क्योंकि इस गुणस्थानमे प्रमादका सद्भाव रहता है और प्रमादके सद्भावमे क्षुधादिजन्य विकल्प और उसके परिहारके लिए चित्तवृत्तिको उस ओरसे हटाकर धर्म्यध्यानमे लगाने के लिए प्रयत्नशील होना यह दोनो कार्य बन जाते हैं। तथा सातवें गुणस्थानकी स्थिति प्रमाद रहित होकर भी इससे भिन्न नही है, क्योंकि इन दोनो गुणस्थानोमे प्रमाद और अप्रमादजन्य ही भेद है। यद्यपि विकल्प और तदनुकूल प्रवृत्तिका नाम छठा गुणस्थान है और उसके निरोधका नाम सातवाँ गुणस्थान है तथापि इन दोनो गुणस्थानोकी धारा इतनी अधिक चढा-उतारकी है जिससे उनमे परीषह और उनके जय आदि कार्योका ठीक तरहसे विभाजन न होकर ये कार्य मिलकर दोनोंके मानने पडते है। छठे गुणस्थान तक वेदनीयकी उदीरणा होती है आगे नही, इसलिए यह कहा जा सकता है कि वेदनीयके निमित्तसे जो क्षुधादिजन्य वेदनकार्य छठे गुणस्थानमे होता है वह आगे कथमपि सम्भव नही। विचारकर देखने पर बात तो ऐसी ही प्रतीत होती है और है भी वह वैसी ही, क्योंकि अप्रमत्तसयत आदि गुणस्थानोंमे जब जीवकी न तो बाह्यप्रवृत्ति होती है और न बाह्यप्रवृत्तिके अनुकूल परिणाम ही होते है। साथ ही कषायोका उदय अव्यक्तरूपसे अबुद्धिपूर्वक होता है, तब वहाँ क्षुधादि परीषहोका सद्भाव मानना कहाँतक उचित है यह विचारणीय हो जाता है। इसलिए यहाँ यह देखना है कि आगेके गुणस्थानोमे इन परीषहोका सद्भाव किस दृष्टिसे माना गया है।

किसी भी पदार्थका विचार दो दृष्टियोसे किया जाता है—एक तो कार्यकी दृष्टिसे और दूसरे

---

1 यद्यपि वाचक उमास्वातिने 'औपपातिक' सूत्रके प्रत्येक पदका व्याख्यान करते हुए 'उत्तमपुरुष' पदका स्वतन्त्र व्याख्यान किया है और बादमे उपसहार करते हुए उन्होने 'उत्तमपुरुष पदको छोडकर शेषको ही अनपवर्त्य आयुवाले बतलाया है, इसलिए इस परसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'चरमदेहोत्तम-पुरुष' पदके समान केवल 'चरमदेह' पद भी उन्हे स्वय इष्ट रहा है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि वाचक उमास्वातिने स्वय सूत्रकार होते हुए भाष्यमे ये दो पाठ किस आधारसे स्वीकार किये है। जब उनका यह निश्चय था कि उत्तमपुरुष भी अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं तब उपसहार करते हुए अन्योके साथ उनका भी ग्रहण करना था। किन्तु उन्होने ऐसा नही किया। इससे स्पष्ट विदित होता है कि वाचक उमास्वातिको भी दो पाठ उपलब्ध हुए होगे और उन्होने क्रमसे दोनोंका व्याख्यान करना उचित समझा होगा। इस आधारसे वे सूत्रकार तो किसी हालतमे हो ही नही सकते।

कारणकी दृष्टिसे। परीषहोका कार्य क्या है और उनके कारण क्या हैं इस विषयका साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह शास्त्रोमे किया है। परीषह तथा उनके जयका अर्थ है—बाधाके कारण उपस्थित होनेपर उनमे जाते हुए अपने चित्तको रोकना तथा स्वाध्याय ध्यान आदि आवश्यक कार्योमे लगे रहना। परीषह और उनके जयके इस स्वरूपको ध्यानमे रखकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान ही ऐसा है जिसमे बाधाके कारण उपस्थित होनेपर उनमे चित्त जाता है और उनसे चित्तवृत्तिको रोकनेके लिए यह जीव उद्यमशील होता है। किन्तु आगेके गुणस्थानोकी स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ बाह्य कारणोके रहनेपर भी उनमे चित्तवृत्तिका रंचमात्र भी प्रवेश नहीं होता। इतना ही नहीं, कुछ आगे चलकर तो यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि जहाँ न तो बाह्य कारण ही उपस्थित होते है और न चित्तवृत्ति ही शेष रहती है। इसलिए इन गुणस्थानोमे केवल अन्तरंग कारणोको ध्यानमे रखकर ही परीषहोका निर्देश किया गया है। कारण भी दो प्रकारके होते हैं—एक बाह्य कारण और दूसरे अन्तरङ्ग कारण। बाह्य कारणोके उपस्थित होनेका तो कोई नियम नहीं है। किन्हीको उनकी प्राप्ति सम्भव भी है और किन्हीको नही भी। परन्तु अन्तरङ्ग कारण सबके पाये जाते है। यही कारण है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओके ग्रन्थोमे परीषहोके कारणोका विचार करते समय मुख्यरूपसे अन्तरङ्ग कारणोंका ही निर्देश किया है। इसीसे तत्त्वार्थसूत्रमे वे अन्तरंग कारण ज्ञानावरण, वेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय और अन्तरायके उदयरूप कहे हैं, अन्यरूप नही।

कुल परीषह बाईस हैं। इनमेसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणके उदयमे होते हैं। ज्ञानावरणका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए इनका सद्भाव क्षीणमोह गुणस्थान तक कहा है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि प्रज्ञा और अज्ञानके निमित्तसे जो विकल्प प्रमत्तसंयत जीवके हो सकता है वह अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोमे भी होता है। आगेके गुणस्थानोमे इस प्रकारके विकल्पके न होनेपर भी वहाँ केवल ज्ञानावरणका उदय पाया जाता है, इसलिए वहाँ इन परीषहोका सद्भाव कहा है।

अदर्शनपरीषह दर्शनमोहनीयके उदयमे और अलाभ परीषह अन्तरायके उदयमे होते है। यह बात किसी भी कर्मशास्त्रके अभ्यासीसे छिपी हुई नही है कि दर्शनमोहनीयका उदय अधिकसे अधिक अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शन परीषहका सद्भाव अधिकसे अधिक इसी गुणस्थान तक कहा जा सकता है और अन्तरायका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए अलाभ परीषहका सद्भाव वहाँ तक कहा है। किन्तु कार्यरूपमे ये दोनो परीषह भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही जानने चाहिए। आगे इनका सद्भाव दर्शनमोहनीयके उदय और अन्तरायके उदयकी अपेक्षा ही कहा है।

प्रसङ्गसे यहाँ इस बातका विचार कर लेना भी इष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ बादरसाम्पराय जीवके सब परीषहोका सद्भाव बतलाते हैं। उन्हें बादरसाम्पराय शब्दका अर्थ क्या अभिप्रेत रहा होगा। हम यह तो लिख ही चुके हैं कि दर्शनमोहनीयका उदय अप्रमत्तसंयतगुणस्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शनपरीषहका सद्भाव अप्रमत्तसंयत गुणस्थानसे आगे कथमपि नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्थामे बादरसाम्पराय का अर्थ स्थूल कषाय युक्त जीव ही हो सकता है। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धिमे इस पद की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि 'यह गुणस्थानविशेषका ग्रहण नहीं है। तो क्या है? सार्थक निर्देश है। इससे प्रमत्त आदि संयतोंका ग्रहण होता है[1]।'

किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमे 'बादरसाम्पराये सर्वे।' इस सूत्रकी व्याख्या इन शब्दोंमे की है—'बादरसाम्परायसंयते सर्वे द्वाविंशतिरपि परीषहाः सम्भवन्ति।' अर्थात् बादरसाम्पराय संयतके सब अर्थात् बाईस परीषह ही सम्भव हैं। तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य व्याख्याकार सिद्धसेनगणि हैं। वे तत्त्वार्थभाष्यके उक्त शब्दोंकी व्याख्या इन शब्दोमे करते हैं—

---

1 नेदं गुणस्थानविशेषग्रहणम्। किं तर्हि? अर्थनिर्देशः। तेन प्रमत्तादीनां संयतानां ग्रहणम्। स०, अ० 9, सू० 12।

'बादरः स्थूलः साम्परायः कषायस्तदुदयो यस्यासौ बादरसाम्परायः संयतः। स च मोहप्रकृतीः कश्चिदुपशमयतीत्युपशमकः। कश्चित् क्षपयतीति क्षपकः। तत्र सर्वेषां द्वाविंशतेरपि क्षुदादीनां परीषहाणामदर्शनान्तानां सम्भवः।'

जिसके कषाय स्थूल होता है वह बादरसाम्पराय सयत कहलाता है। उनमेसे कोई मोहनीयका उपशम करता है, इसलिए उपशमक कहलाता है और कोई क्षय करता है, इसलिए क्षपक कहलाता है। इसके सभी बाईस क्षुधा आदि परीषहोका सद्भाव सम्भव है।

इस व्याख्यानसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनगणिके अभिप्रायसे तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिको यहाँ 'बादरसाम्पराय' पदसे नौवाँ गुणस्थान ही इष्ट है। प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रकी व्याख्यामे यही अर्थ स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—**'जिसमे साम्पराय-कषायका बादर अर्थात् विशेषरूपमे सम्भव हो ऐसे बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थानमे बाईस परीषह होते हैं। इसका कारण यह है कि परीषहोंके कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं।'**

'बादरसाम्पराय' पदकी ये दो व्याख्याएँ हैं जो क्रमश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमे उपलब्ध होती हैं। सर्वार्थसिद्धिकी व्याख्याके अनुसार बादरसाम्पराय पद गुणस्थान-विशेषका सूचक न होकर अर्थ-परक निर्देश होनेसे दर्शनमोहनीयके उदयमे अदर्शन परीषह होता है इस अर्थकी सङ्गति बैठ जाती है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकी व्याख्याको स्वीकार करने पर एक नयी अडचन उठ खडी होती है। दर्शनमोहनीयका सत्त्व उपशान्तमोह गुणस्थान तक रहता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उन्होने दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थान तक अदर्शन परीषह कहा होगा। किन्तु इस मतको स्वीकार करने पर दो नयी आपत्तियाँ और सामने आती हैं। प्रथम तो यह कि यदि उन्होने दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा अदर्शन परीषहका सद्भाव स्वीकार किया है तो उसका सद्भाव ग्यारहवें गुणस्थान तक कहना चाहिए। दूसरी यह कि **'क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण—'** इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि **'पञ्चानामपि कर्मप्रकृतीनामुदया'ते परीषहाः प्रादुर्भवन्ति।'** अर्थात् पाँच कर्मप्रकृतियोके उदयसे ये परीषह उत्पन्न होते हैं। सो पूर्वोक्त अर्थके स्वीकार करने पर इस कथनकी सङ्गति नही बैठती दिखलाई देती। क्योकि एक ओर तो दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा अदर्शन परीषहको नौवें गुणस्थान तक स्वीकार करना और दूसरी ओर सब परीषहोको पाँच कर्मोंके उदयका कार्य कहना ये परस्पर विरोधी दोनो कथन कहाँ तक युक्तियुक्त हैं यह विचारणीय हो जाता है। स्पष्ट है कि सिद्धसेन गणिकी टीकाके अनुसार तत्त्वार्थभाष्यका कथन न केवल स्खलित है अपितु वह मूल सूत्रकारके अभिप्रायके प्रतिकूल भी है, क्योकि मूल सूत्रकारने इन परीषहोका सद्भाव कर्मोके उदयकी मुख्यतासे ही स्वीकार किया है। अन्यथा वे अदर्शन परीषहका सद्भाव और चारित्रमोहके निमित्तसे होनेवाले नाग्न्य आदि परीषहोका सद्भाव उपशान्तमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थान तक अवश्य कहते।

नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये सात परीषह चारित्रमोहनीयके उदयमे होते हैं। सामान्यत चारित्रमोहनीयका उदय यद्यपि सूक्ष्मसाम्परायिक नामक दसवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए इन सात परीषहोका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक कहना चाहिए था ऐसी शका की जा सकती है, परन्तु इनका दसवें गुणस्थान तक सद्भाव न बतलानेके दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि चारित्रमोहनीयके अवान्तरभेद क्रोध, मान और मायाका तथा नौ नोकषायोका उदय नौवे गुणस्थानके अमुक भाग तक ही होता है, इसलिए इन परीषहोंका सद्भाव नौवें गुणस्थान तक कहा है। दूसरा यह कि दसवे गुणस्थानमे यद्यपि चारित्रमोहनीयका उदय होता है अवश्य, पर एक लोभ कषायका ही उदय होता है और वह भी अति सूक्ष्म, इसलिए इनका सद्भाव दसवें गुणस्थान् तक न कहकर मात्र नौवें गुणस्थान तक कहा है।

तथा क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह

परीषह वेदनीय कर्मके उदयमे होते है। वेदनीय कर्मका उदय जिनके भी होता है, इसलिए, इनका सद्भाव वहाँ तक कहा है।

इस प्रकार अप्रमत्तसयत आदि गुणस्थानोमे सूत्रकारने जो परीषहोका सद्भाव कहा है उसमे उनकी दृष्टि कारणको ध्यानमे रखकर विवेचन करनेकी ही रही है और इसीलिए सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादने पहले सूत्रकारकी दृष्टिसे 'एकादश जिने' इस सूत्रका व्याख्यान किया है। अनन्तर जब उन्होंने देखा कि कुछ अन्य विद्वान् अन्य साधारण मनुष्योके समान केवलीके कारणपरक परीषहोके उल्लेखका विपर्यास करके भूख-प्यास आदि बाधाओंका ही प्रतिपादन करने लगे हैं तो उन्होंने यह बतलानेके लिए कि केवलीके कार्यरूपमे ग्यारह परीषह नही होते 'न सन्ति' पदका अध्याहार कर उस सूत्रसे दूसरा अर्थ फलित किया है। इसमे न तो उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि रही है और न ही उन्होने तोड-मरोडकर उसका अर्थ किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि तो उनकी है जो उसे इस दृष्टिकोणसे देखते है। आचार्योमे मतभेद हुए है और हैं पर सब मतभेदोको साम्प्रदायिक दृष्टिका सेहरा बाँधना कहाँ तक उचित है यह समझने और अनुभव करनेकी बात है। आचार्य पूज्यपाद यदि साम्प्रदायिक दृष्टिकोणके होते तो वे ऐसा प्रयत्न न कर सूत्रका ही कायाकल्प कर सकते थे। किन्तु उन्होने अपनी स्थितिको बिलकुल स्पष्ट रखा है। तत्त्वत देखा जाय तो एक मात्र यही उदाहरण उनकी साहित्यिक प्रामाणिकताकी कसौटी बन सकता है। यह अर्थान्तरन्यासका दूसरा उदाहरण है। इसके सिवा अर्थान्तरन्यासके एक-दो उदाहरण और भी उपस्थित किये जा सकते हैं पर विशेष प्रयोजन न होनेसे उनका यहाँ हमने निर्देश नही किया है।

इस प्रकार इन चार उदाहरणोसे इस बातका सहज ही पता लग जाता है कि आचार्य पूज्यपादने मूल सूत्रपाठ और पाठान्तरोकी रक्षाका कितना अधिक ख्याल रखा है।

4. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य—ऐसा होते हुए भी आचार्य पूज्यपादके ऊपर यह आक्षेप[1] किया जाता है कि उन्होने उपलब्ध हुए सूत्रपाठमे सुधार और वृद्धि कर सर्वार्थसिद्धिकी रचना की है। सर्वार्थसिद्धि किस कालकी रचना है और तत्त्वार्थभाष्य किस कालका है यह तो हम आगे चलकर देखेंगे। यहाँ केवल तुलनात्मक दृष्टिसे इन दोनोके अन्त स्वरूपका पर्यालोचन करना है।

1 सूत्रपाठ—सर्व प्रथम हम सूत्रपाठको लेते हैं। सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठसे तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमे शब्दोके हेरफेरसे या सूत्रोके घटाने-बढानेसे छोटे-मोटे अन्तर[2] तो पर्याप्त हुए हैं किन्तु उन सबका ऊहापोह यहाँ नही करना है। जिनमे मौलिक अन्तर हुआ है ऐसे सूत्र तीन हैं। प्रथम स्वर्गोकी सख्याका प्रतिपादक सूत्र, दूसरा सानत्कुमार आदिमे प्रवीचारका प्रतिपादक सूत्र और तीसरा कालको स्वतन्त्र द्रव्य माननेवाला सूत्र।

स्वर्गोके प्रतिपादक सूत्रमे मौलिक अन्तर यह हुआ है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमे 16 कल्पोकी परिगणना की गयी है और तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमे 12 कल्पोकी परिगणना की गयी है। इस पर आक्षेप यह किया जाता है कि 'जब सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमे कल्पोपपन्न देवोके भेद[3] बारह बतलाये हैं और नामोकी परिगणना करते समय वे सोलह परिगणित किये गये हैं तब यह माननेके लिए पर्याप्त आधार हो जाता है कि या तो आचार्य पूज्यपादने या इनके पूर्ववर्ती अन्य किसी आचार्यने इस सूत्रको घटा-बढाकर उसे वर्तमान रूप दिया है जब कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए बहुत सम्भव है कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ मूल हो और उसमे सुधार कर उत्तरकालमे सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ निर्मित हुआ हो[4]।'

---

1. देखो पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० 84, 85। 2 देखो दो सूत्रपाठ प्रकरण, परिशिष्ट 1 और उसके टिप्पण। 3. देखो अ० 3 सू० 2। 4 इन आक्षेपके लिए देखो प० सुखलालजीका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना 73 से 89।

यहाँ सर्वप्रथम यह विचार करना है कि क्या उक्त सूत्रके आधारसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ मूल है और उसे सुधार कर या बढाकर सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ निर्मित हुआ है। यह तो स्पष्ट है कि किसी एक पाठमे परिवर्तन किया गया है पर वह परिवर्तन किस पाठमे किया जाना सम्भव है यही विचारणीय है। जैसा कि हम देखते हैं कि दिगम्बर परम्पराके अनुसार सर्वत्र कल्पोपपन्न देवोके भेद बारह और कल्प सोलह गिनाये गये हैं। कल्प कल्पोपपन्न देवोके आवासस्थानकी विशेष सज्ञा है। यदि कल्पोपपन्न देव बारह प्रकारके होकर भी उनके आवासस्थान सोलह प्रकारके माने गये है तो इसमे बाधा-की कौन-सी बात है। और इस आधारसे यह कैसे कहा जा सकता है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमे सुधार किया गया है। यदि सुधार करना ही इष्ट होता तो अध्याय 4 सूत्र तीनमे भी 'बारह' के स्थानमे 'सोलह' किया जा सकता था। प्रत्युत इसपरसे तो यही कहा जा सकता है कि पूज्यपाद स्वामीको जैसा पाठ मिला एकमात्र उसीकी उन्होने यथावत् रक्षा की है। दूसरी ओर जब हम तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठकी ओर ध्यान देते हैं तब भी इस सूत्रके आधारसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव प्रतीत नही होता। कारण कि वहाँ भी इस सूत्रमे घटा-बढीका ऐसा प्रबल कारण नही मिलता जिससे यह कहा जा सके कि उक्त सूत्रमे परिवर्तन किया गया है। दोनो ही परम्पराओके आचार्य अपनी-अपनी परम्पराकी मान्यतापर दृढ है, इसलिए इस आधारसे यही कहा जा सकता है कि जिसने उत्तरकालमे रचना की होगी उसीके द्वारा सूत्रोमे सुधार करना सम्भव है।

दूसरे, सानत्कुमार आदिमे प्रविचारका प्रतिपादक सूत्र है। दोनोमे इस सूत्रकी स्थिति इस प्रकार है —

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः। सर्वा०।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः द्वयोर्द्वयोः। त० भा०।

हम देखते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार इस सूत्रमे 'द्वयोर्द्वयो' इतना पद अधिक है जब कि सर्वार्थ-सिद्धिमे इसका सर्वथा अभाव है। इसके पहले दोनो ही परम्पराओमे '**कायप्रवीचाराः आ ऐशानात्**' यह सूत्र आता है। इस द्वारा सौधर्म और ऐशान कल्प तक प्रवीचारका विधान किया गया है। आगे सर्वार्थसिद्धिके अनुसार चौदह और तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार दस कल्प शेष रहते हैं जिनमे यह सूत्र प्रवीचारका विधान करता है। प्रकृतमे देखना यह है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य इन दोनोमे इसकी सगति किस प्रकार बिठलायी गयी है। यह तो स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिमे 'द्वयोर्द्वयो' पद न होनेसे आचार्य पूज्यपादको इसकी व्याख्या करनेमे कोई कठिनाई नही गयी। उन्होने तो आर्षके अनुसार इसकी व्याख्या करके छुट्टी पा ली। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकारकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। उनके सामने 'द्वयोर्द्वयो' पदके कारण इसकी व्याख्या करते समय यह समस्या रही है कि प्रवीचारके विषय चार और कल्प दस होनेसे इसकी सगति कैसे बिठलायी जाय। फलस्वरूप उन्हे अन्तके चार कल्पोको दो मानकर इस सूत्रकी व्याख्या करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है। उन्होने किसी प्रकार व्याख्या करनेका तो प्रयत्न किया पर इससे जो असगति उत्पन्न होती है वह कथमपि दूर नही की जा सकी है। इससे मालूम पडता है कि स्वय उन्होंने तत्त्वार्थभाष्यके आश्रयसे, इस सूत्रको स्पष्ट करनेकी मनसासे सूत्रमे यह पद बढाया है। यहाँ उत्तर विकल्पकी अधिक सम्भावना है।

हमे ऐसे एक दो स्थल और मिले हैं जिनमे तत्त्वार्थभाष्यके आश्रयसे सूत्रोकी संगति बिठलायी गयी है। उदाहरण स्वरूप '**यथोक्तनिमित्त**' पद लीजिए। यह प्रथम अध्यायके 22वें सूत्रमें आया है। इसके पहले एक सूत्रके अन्तरमे वे '**द्विविधोऽवधिः**' सूत्र कह आये हैं और इन भेदोका स्पष्टीकरण इस सूत्रके भाष्यमे किया है। प्रकृतमे '**यथोक्तनिमित्तः**' पदमे आये हुए '**यथोक्त**' पद द्वारा उनका संकेत इसी भाष्यकी ओर है। वे इस पद द्वारा कहना चाहते हैं कि दूसरे जिस निमित्तका सकेत हमने '**द्विविधोऽवधिः**' सूत्रके भाष्यमे किया है उस निमित्तसे शेष जीवोंके छह प्रकारका अवधिज्ञान होता है। किन्तु उस अवस्थामे जब कि सूत्र-रचना पहले हो चुकी थी और भाष्य बादमे लिखा गया है भाष्यकारकी स्थिति सन्देहजनक हो जाती है। और मानना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिने प्राचीन सूत्रपाठमे सुधार करनेका प्रयत्न किया है।

तीसरा कालके अस्तित्वको स्वीकार करनेवाला सूत्र है। यह सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमे इस

प्रकार उल्लिखित है—

कालश्च। सर्वा०।

कालश्चेत्येके। त० भा०।

इस द्वारा कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार ऐसा करते हुए भी अन्य आचार्योंके मतसे कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार करते है, स्वयं नही। यही कारण है कि उन्होने तत्त्वार्थ-भाष्यमें जहाँ जहाँ द्रव्योका उल्लेख किया है वहाँ वहाँ पाँच अस्तिकायोका[1] ही उल्लेख किया है और लोकको पाँच अस्तिकायात्मक बतलाया है। श्वेताम्बर आगम साहित्यमे छह द्रव्योका निर्देश किया है अवश्य और एक स्थानपर तो तत्त्वार्थभाष्यकार भी छह द्रव्योका[2] उल्लेख करते है, परन्तु इससे वे कालको द्रव्य मानते ही हैं यह नही कहा जा सकता। कारण यह है कि श्वेताम्बर आगम साहित्यमे जहाँ भी छह द्रव्योका नामनिर्देश किया है वहाँ कालद्रव्यके लिए **अद्धासमय'** शब्द प्रयुक्त हुआ है **'काल'** शब्द नही और अद्धासमय शब्दका अर्थ वहाँ पर्याय ही लिया गया है, प्रदेशात्मक द्रव्य नही। तत्त्वार्थभाष्यकारने भी इसी परिपाटीका निर्वाह किया है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके जिन सूत्रोमे **'काल'** शब्द आया है वहाँ तो उनकी व्याख्या करते हुए **'काल'** शब्दका ही उपयोग किया है किन्तु जिन सूत्रोमे **'काल'** शब्द नही आया है और वहाँ **'काल'**का उल्लेख करना उन्होने आवश्यक समझा तो **'काल'** शब्दका प्रयोग न कर **'अद्धासमय'**[3] शब्दका ही प्रयोग किया है।

तत्त्वार्थभाष्य और उस मान्य सूत्रपाठकी ये दो स्थितियाँ है जो हमे इस निष्कर्षपर पहुँचानेमे सहायता करती हैं कि प्रारम्भमे तो **'कालश्च'** इस प्रकारके सूत्रका ही निर्माण हुआ होगा, किन्तु बादमे वह बदलकर **'कालश्चेत्येके'** यह रूप ले लेता है।

2 शैली—यहाँ प्रसगसे सूत्र रचनाकी शैलीके विषयमे भी दो शब्द कहने हैं। सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठको देखते हुए तो यह कहा जा सकता है कि परिशेषन्यायसे उसमे कोई भी बात नही कही गयी है। वह सीधी सूत्र और उनके पदोंकी व्याख्या करते हुए आगे बढती है। इसके विपरीत दूसरी ओर जब हम तत्त्वार्थ-भाष्यको देखते हैं तो उसमे हमे कोई एक निश्चित शैलीके दर्शन नही होते हैं। कही वे परिशेषन्यायको स्वीकार करते हैं और कही नही। जैसे **'शेषाणां संमूर्छनम्'** और **'अशुभः पापस्य'** ये दो सूत्र परिशेषन्यायसे नहीं कहे जाने चाहिए थे फिर भी उन्होने इनको स्वतन्त्र सूत्र मान लिया है और **'शेषास्त्रिवेदा.'** तथा **'अतोऽन्यत्पापम्'** इनको छोड दिया। ऐसी अवस्थामे यह कहना कि आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थभाष्यको देखकर इन्हें स्वतन्त्र सूत्रोंका रूप दिया है युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। वस्तुत तत्त्वार्थभाष्यकार अपनेको ऐसी स्थितिमे नही रख सके हैं जिससे उनके विषयमे कोई निश्चित रेखा खीची जा सके। एक दूसरे अध्याय के शरीर प्रकरणको ही लीजिए। उसमे वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिके दोनो प्रकार तो सूत्रोमे दिखा दिये, किन्तु जब तैजस शरीरका प्रसग आया तो उसकी उत्पत्तिके प्रकारको सूत्रमे दिखलाना उन्होंने आवश्यक नही समझा। क्या इस प्रकरणको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह असगति मूलसूत्रकारको रुचिकर प्रतीत रही होगी। तत्त्वार्थभाष्यके अन्य सूत्रोमे भी ऐसी असगतियाँ दीख पडती हैं। चौथे अध्यायमे लौकान्तिक देवोंका प्रतिपादक सूत्र आता है। उसमे लौकान्तिक देवोके भेदोका प्रतिपादन करते समय नौ भेद दरशाये हैं, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमे **'एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवाः'** इन शब्दों द्वारा वे आठ ही रह गये हैं।

ये भी ऐसे उदाहरण हैं जो तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थितिमे सन्देह उत्पन्न करते हैं और यह माननेके लिए बाध्य करते हैं कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ पुराना है और उसमे ऐच्छिक परिवर्तन कर तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी रचना की गयी है।

3. पौर्वापर्यविचार—पिछले प्रकरणसे यद्यपि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी स्थिति बहुत कुछ

---

1. सर्वं पञ्चत्वमस्तिकायावरोधात्। अ० 1, सू० 35। पञ्चास्तिकायो लोक। अ० 3, सू० 6। पञ्चास्तिकायात्मकम्। अ० 9, सू० 7। 2. षट्त्वं षट्द्रव्यावरोधात्। अ० 1, सू० 35। 3 अ० 5 सू० 1।

स्पष्ट हो जाती है। तथापि कुछ अत्युपयोगी विषयोपर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि अन्तमे हमे यह देखना है कि इनकी रचनाकी आनुपूर्वी क्या है। इस प्रकरणको विशेष स्फुट करनेके लिए सर्व-प्रथम हम समान स्थलोका ऊहापोह करेंगे और उसके बाद उन स्थलोको स्पर्श करेंगे जिमसे इनके पौर्वापर्यके ऊपर प्रकाश पडता है; क्योकि सर्वप्रथम हमे यह दिखलाना है कि इन दोनो ग्रन्थोंकी स्थिति ऐसी है कि किसी एकको सामने रखकर दूसरा लिखा गया है और अन्तमे यह विचार करना है कि यह अनुसरणकी प्रवृत्ति किसमे स्वीकार की गयी है।

सर्वप्रथम प्रथम अध्यायका प्रथम सूत्र ही लीजिए। इसमे सर्वार्थसिद्धिमे यह वाक्य आता है—

एतेषां स्वरूप लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः।

यही वाक्य तत्त्वार्थभाष्यमे कुछ शब्दोके हेर-फेरके साथ इन शब्दो द्वारा स्फुट किया गया है—

त पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः।

आगे भी यह सादृश्य अन्त तक देखनेको मिलता है। यथा—

सर्वार्थसिद्धि

तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादि 1,2।

प्रशमसवेगानुकपास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षण प्रथमम्। 1,2।

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। अथ किं तत्त्वमित्यत इदमाह—उत्थानिका 1,4।

तद्यथा—नामजीव स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो न्यस्यते 1,5।

काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना। 1,5।

किंकृतोऽय विशेष ? वक्तृविशेषकृत। त्रयो वक्तार सर्वज्ञस्तीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्ट। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरै श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम्। तत्प्रमाणम्, तत्प्रामाण्यात्। आरातीयै पुनराचार्यै कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। 1,20।

तत्त्वार्थभाष्य

तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते। 1,2।

तदेव प्रशमसवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनमिति। 1,2।

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। तत्र किं तत्त्वमिति। अत्रोच्यते—उत्थानिका। 1,4।

तद्यथा—नामजीव स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति। 1,5।

य काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीव.। 1,5।

किंकृत प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते—वक्तृविशेषाद्द्वैविध्यम्। यद्भगवद्भि सर्वज्ञै सर्वदर्शिभि परमर्षिभिरर्हद्भि तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्त भगवच्छिष्यैरतिशयद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसपन्नैर्गणधरैर्दृब्ध तदङ्गप्रविष्टम्। गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यतविशुद्धागमै परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यै कालसहननायुर्दोषादल्पशक्तीना शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्त तदङ्गबाह्यमिति। 1,20।

यहाँ हमने इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए थोडेसे उदाहरण ही उद्धृत किए हैं। आगे उन स्थलोंको स्पर्श करना है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यको स्पष्ट करनेमे सहायता करते है।

प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य इनमेसे पहले कौन और बादमे कौन लिखा गया उसका विचार करते हुए शैलीभेद, अर्थविकास और साम्प्रदायिकता इन तीन उपप्रकरणो द्वारा इस विषयपर प्रकाश डाला है और इन आधारोसे तत्त्वार्थभाष्यको प्रथम ठहरानेका प्रयत्न किया है।

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीके कथनानुसार हम मान लें कि सर्वार्थसिद्धिकी शैली तत्त्वार्थभाष्यकी शैलीकी अपेक्षा विशेष विकसित और विशेष परिशीलित है। साथ ही यह भी मान लें कि सर्वार्थसिद्धिमे साम्प्रदायिक दृष्टिसे अर्थविकासके स्पष्ट दर्शन होते हैं। तथापि इन आधारोसे तत्त्वार्थभाष्यको पहलेकी और सर्वार्थसिद्धिको बादकी रचना घोषित करने का प्रयत्न करना सयुक्तिक प्रतीत नही होता। आचार्य पूज्य-

पादका व्याकरणके ऊपर लिखा गया 'जैनेन्द्र व्याकरण' प्रसिद्ध है। उन्होने न्यायके ऊपर भी ग्रन्थरचना की थी यह भी धवला टीकाके उल्लेखसे विदित होता है। ऐसी अवस्थामे उनके द्वारा रची गयी सर्वार्थसिद्धिमे इन विषयोका विशद और स्पष्ट विवेचन होना स्वाभाविक है। किन्तु वाचक उमास्वातिकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे मुख्यतया आगमिक विद्वान् थे। उनकी अब तक जितनी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं वे श्वेताम्बर आगम परिपाटीको लिए हुए ही है। यही कारण है कि उन्होने तत्त्वार्थभाष्यमे व्याकरण और दर्शन विषयका विशेष ऊहापोह नही किया है।

उनका तीसरा आक्षेप साम्प्रदायिकताका है। पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिमे प्रतिपादित ऐसे चार विषय चुने है जिनमे उन्हे साम्प्रदायिकता की गन्ध आती है। वे लिखते है कि 'कालतत्त्व' केवलिकवलाहार, अचेलकत्व और स्त्रीमोक्ष जैसे विषयोके तीव्र मतभेदका रूप धारण करनेके वाद और इन वातोपर साम्प्रदायिक आग्रह बँध जानेके बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गयी है, जब कि भाष्यमे साम्प्रदायिक अभिनिवेशका यह तत्त्व दिखाई नही देता।

प्रकृतमे इस विषयपर विचार करनेके पहले पण्डितजी ऐसा लिखनेका साहस क्यो करते है इस वात का विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता हे।

भगवान् महावीर स्वामीके मुक्तिलाभ करने पर जो पाँच श्रुतकेवली हुए हैं उनमे अन्तिम भद्रवाहु थे। इनके समयमे उत्तर भारतमे वारह वर्षका दुर्भिक्ष पडा था। इससे सघसहित भद्रवाहु दक्षिणकी ओर विहार कर गये थे। इस दुर्भिक्षका उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा भी करती है और साधुसघके समुद्रके समीप जाकर विखर जानेकी वात स्वीकार करती है। उस समय भद्रवाहुके मुख्य शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त भी उनके साथ गये थे और वहाँ पहुँचते-पहुँचते आयु क्षीण हो जानेसे भद्रवाहुने वही समाधि ले ली थी। किन्तु कुछ साधु श्रावकोके विशेष अनुरोधवश पटना ही रह गये थे और कालान्तरमे परिस्थितिवश उन्होने वस्त्र स्वीकार कर लिया था, जिससे जैन परम्परामे श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति मानी जाती है। जब वारह वर्षका दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तब कुछ साधु पुन पटना लौट आये। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार 'भद्रवाहु उस समय नेपालकी तराईमे थे और वारह वर्षकी विशेष तपश्चर्या करनेमे लगे हुए थे। साधुसघने भद्रवाहुको पटना बुलाया, किन्तु वे नही आये जिससे उन्हें सघवाह्य करनेकी धमकी दी गयी और किसी प्रकार उन्हे शिष्य समुदायको पढानेके लिए राजी कर लिया गया। स्थूलभद्रने अगज्ञान उन्हीसे प्राप्त किया है।' यदि श्वेताम्बर सम्प्रदायके इस कथनको सत्य मानकर चले तब भी श्वेताम्बर सम्प्रदायका अपनी परम्पराको स्थूलभद्रसे स्वीकार करना और पटना वाचनामे भद्रवाहुका सम्मिलित न होना ये दो वातें ऐसी हैं जो उस समय जैनसघमे हुए किसी बड़े भारी विस्फोटका सकेत करती हैं। स्पष्ट है कि उस समयकी वाचनाको अखिल जैनसघका प्रतिनिधित्व प्राप्त नही था और कालान्तरमे जो अगसाहित्य सकलित और लिपिबद्ध हुआ है वह सवस्त्रसाधुको जैन परम्परामे प्रतिष्ठित करनेकी दृष्टिसे ही हुआ है। इस समय जो श्वेताम्बर अग साहित्य उपलब्ध है वह लगभग भगवान् महावीर के मोक्ष-गमनके एक हजार वर्षके वादका ही सकलन है। सोचनेकी वात है कि जब भद्रवाहु के कालमे ही प्रथम वाचना हुई थी तब उसे उसी समय पुस्तकारूढ करके उसकी रक्षा क्यों नही की गयी? घटनाक्रमसे विदित होता है कि उस समय श्वेताम्बर सघके भीतर ही तीव्र मतभेद[1] रहा होगा और एक दल यह कहता होगा कि सघभेदकी स्थितिमे भी अगसाहित्यमे परिवर्तन करना इष्ट नही है। वहुत सम्भव है कि यदि उस समय श्वेताम्बर अग-साहित्य सकलित होकर पुस्तकारूढ किया जाता तो उसका वर्तमान मे रूप ही कुछ दूसरा होता।

यद्यपि श्वेताम्बर अगसाहित्यमे ऐसे भी उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं जो नग्नताके समर्थक हैं। किन्तु

---

1. सचेल दलके भीतर तीव्र मतभेदकी वात प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—'मथुराके बाद वलभीमे पुन श्रुतसस्कार हुआ जिसमे स्थविर या सचेल दलका रहा सहा मतभेद भी नाम शेष हो गया।' देखो तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० 30।

इन उल्लेखोको उसकी प्रामाणिकताकी कसौटी नही माना जा सकता। वस्तुत ये परिस्थितिवश स्वीकार किए गये हैं। प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी इस स्थितिसे अनभिज्ञ हो ऐसी बात नही है। वे जानते हुए भी किसी कारणवश इस स्थितिको दृष्टिओझल करनेके यत्नमे हैं और यह घोषित करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्वेताम्बर अगश्रुतमे अचेलकत्व समर्थक वाक्य ही भगवान् महावीरकी परम्पराके पूरे प्रतिनिधित्वके सूचक हैं।[1]

यह सत्य है कि श्रमण परम्परामे अचेलकत्व और सचेलकत्व दोनोको स्थान रहा है और यह भी सत्य है कि अचेलकत्व उत्सर्ग धर्म और सचेलकत्व अपवाद धर्म माना गया है। हमे दिगम्बर परम्पराके साहित्यमे भी ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिससे इस तथ्यकी पुष्टि होती है। किन्तु वहाँ अचेलकत्वसे तात्पर्य मुनिधर्मसे है और सचेलकत्वसे तात्पर्य गृहस्थधर्म या श्रावकधर्मसे है। श्रावकधर्म मुनिधर्मका अपवादमार्ग है। जहाँ गृहस्थ सब प्रकारकी हिंसा, असत्य, स्तेय और अब्रह्मका परिहार कर मुनि होता है वहाँ उसे सब प्रकारके परिग्रहका परिहार करना भी आवश्यक होता है। श्वेताम्बर अगश्रुत और प्रकीर्णक साहित्यमे वस्त्र और पात्रके स्वीकार करनेको भी सयमका साधन माना गया है, किन्तु सयमका साधन वह हो सकता है जो शरीरकी सुविधाके लिए आवश्यक न होकर मात्र प्राणिपीडा परिहारके लिए स्वीकार किया जाता है। किन्तु वस्त्र और पात्र प्राणिपीडा परिहारके लिए स्वीकार किए जाते हैं यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योकि इन साधनोंसे उक्त कार्य दृष्टिगोचर नही होता। दूसरे इन्हे उक्त कार्यका अनिवार्य अग मानकर चलने पर नग्नता और पाणिपात्रत्वका विधान करना नही बन सकता है। किन्तु हम देखते हैं कि श्वेताम्बर आगममे अचेलत्व और पाणिपात्रत्वका भी विधान है, अत वस्त्र और पात्र उन्हीके मतसे सयमके उपकरण नही हो सकते। एक चर्चा उत्सर्ग और अपवादलिंगकी की जाती है। यह कहा जाता कि नग्नता और पाणिपात्रत्व उत्सर्ग लिंग है, किन्तु इसका अपवाद भी होना चाहिए और अपवादरूपमे ही वस्त्र और पात्र स्वीकार किये जाते हैं। हम मानते हैं कि प्रत्येक उत्सर्गका अपवाद होता है और यह व्यवस्था श्रमण परम्पराने भी स्वीकार की है। तभी तो वह मुनिधर्म और गृहस्थधर्म इन इन दो भेदों का निर्देश करती है। मुनिधर्म उत्सर्ग लिंग है और गृहस्थधर्म उसका अपवाद है। इसलिए वस्त्र और पात्रका स्वीकार मुनि-आचारका अग नही बन सकता है। भले ही दुर्भिक्षके समय ऐसी परिस्थिति रही है जिससे उस समय उत्तर भारतमे जो साधु रह गये थे उन्हे वस्त्र और पात्र स्वीकार करने पडे थे। इतना ही नहीं, उन्हे कारणवश दण्ड भी स्वीकार करना पड़ा था। किन्तु इन्हे साधुका चिह्न मान लेना मुनि-मार्गके विरुद्ध है। यह हम पहले ही बतला आये है कि जो कम-जोरीवश वस्त्रादिको स्वीकार करते है वे श्रावक होते हैं। उनके परिणाम मुनिधर्मके अनुकूल नही हो सकते।

इस स्थितिके होते हुए भी आग्रहवश श्वेताम्बर अगश्रुतमे वस्त्र, पात्रादिको साधुके अग मानकर उनके जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दो भेद कर दिए गए है। इस कारण प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीको भी उसकी पुष्टिके लिए बाध्य होना पडा है। अन्यथा उन्हे जिन तथ्योके निर्देशमे साम्प्रदायिकताकी गन्ध आती है उन्हे वे न केवल तात्त्विक दृष्टिसे स्वीकार करते, अपितु वे परिस्थितिवश श्रमण परम्परामे हुई एक बहुत बडी गलतीका परिहारकर आगेका पथ प्रशस्त करनेमे सहायक होते।

यह हम पहले सकेत कर आये हैं कि पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिमेसे ऐसी चार बातें चुनी हैं जिनका निर्देश वे साम्प्रदायिक कोटिका मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिमे निर्णायकरूपसे काल तत्त्वका विधान किया गया है जब कि तत्त्वार्थभाष्यमे मतविशेषके रूपमे उसका उल्लेख है। सर्वार्थसिद्धि केवलिकवलाहार और स्त्री-मुक्तिका निषेधपरक तात्पर्य स्वीकार करती है जब कि तत्त्वार्थभाष्य परीषहोके प्रसगसे नाग्न्यको स्वीकार कर वस्त्र पात्र और स्त्री तीर्थंकरका भी विधान करता है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी यह स्थिति है जिस आधार पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिके विषयमे अपना उक्त प्रकारका मत बनाया है और इस आधारसे तत्त्वार्थभाष्यको सर्वार्थसिद्धिसे प्राचीन सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इस विषय में पण्डितजीका अभिमत है कि

---

1 प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीके लेखोका भाव। देखो, तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० 29।

'साम्प्रदायिक अभिनिवेश बढ जानेके बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गयी थी जब कि तत्त्वार्थभाष्यमे ऐसे अभिनिवेशका सर्वथा अभाव है।'

यह तो हम पहले ही बतला आये है कि जैन परम्परामे साधुओने वस्त्र और पात्र किस परिस्थितिमे स्वीकार किये थे और यह भी उल्लेख कर आये है कि श्वेताम्बर अगश्रुतकी रचना पाँचवी शताब्दीके बाद हुई है। अतएव यह भी सुनिश्चित है कि तत्त्वार्थभाष्य उसके बाद ही किसी समय लिखा गया होगा, क्योकि पण्डितजीके ही शब्दोमे 'उन्होने (तत्त्वार्थभाष्यकारने) तत्त्वार्थकी रचनाके आधाररूप जिस अग अनगश्रुतका अवलम्बन किया था वह पूर्णतया स्वविरपक्षको मान्य था।' इस अभिप्रायसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

साधारणत यह मतभेद श्वेताम्बरीय अगश्रुतके पुस्तकारूढ हो जानेके बाद ही उग्ररूपमे प्रकट होने लगा था, क्योंकि जैनपरम्पराके कहे जानेवाले अगश्रुत जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्यमे सवस्त्र मुक्ति और स्त्रीमुक्ति जैसे विषयका समावेश होना पुरानी परम्पराको ही नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली घटना थी। इस कालमे एक ओर जहाँ साम्प्रदायिक अभिनिवेशमे आकर उक्त बातोका विधान किया जाने लगा था वहाँ दूसरी ओर तात्त्विक-दृष्टिसे उसका निषेध करना और दर्शनमोहनीयके बन्धका कारण बतलाना अनिवार्य हो गया था। सर्वार्थसिद्धिकारने यह कार्य किया है और दृढताके साथ किया है। वस्तुत उस कालमे तात्त्विक पक्षकी रक्षाका भार उनपर था और उन्होने उसका सुन्दरतापूर्वक निर्वाह भी किया है।

ऐसी अवस्थामे हमे सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यका विचार अन्य प्रमाणोके आधारसे करना चाहिए। शैलीभेद, अर्थविकास और साम्प्रदायिकताके आधारसे इसका निर्णय करना गौण है। अत आइए, अन्य प्रमाणोके प्रकाशमे इस तत्त्वका निर्णय किया जाय।

इस समय तत्त्वार्थभाष्यपर मुख्यतया प्रथम दो टीकाएँ उपलब्ध होती है—प्रथम हरिभद्रकी टीका[1] और दूसरी सिद्धसेनगणिकी टीका। आचार्य हरिभद्र और सिद्धसेनगणि समकालीन या कुछ आगे पीछेके होते हुए भी भट्ट अकलक देवके बादमे हुए है। इतना ही नही सिद्धसेनगणिने तो भट्ट अकलक देवकी कृतियोंका भरपूर उपयोग भी किया है यह उनकी टीकाके देखनेसे भी विदित होता है। किन्तु प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी इस मतसे सहमत होते हुए भी दूर चले जाते हैं। वे तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० 96 मे लिखते है—

'किसी-किसी स्थलपर एक ही सूत्रके भाष्यका विवरण करते हुए वे पाँच-छह मतान्तर निर्दिष्ट करते है, इससे ऐसा अनुमान करनेका कारण मिलता है कि जब सिद्धसेनने वृत्ति रची तब उनके सामने कमसे कम तत्त्वार्थ सूत्रपर रची हुई पाँच टीकाएँ होनी चाहिए, जो सर्वार्थसिद्धि आदि प्रसिद्ध दिगम्बरीय तीन व्याख्याओसे पृथक् होगी ऐसा मालूम पडता है, क्योकि राजवार्तिक और श्लोकवार्तिककी रचनाके पहले ही सिद्धसेनीय वृत्तिका रचा जाना बहुत सम्भव है, कदाचित् उनसे पहले यह रची गयी हो तो भी इसकी रचनाके बीचमे इतना तो कमसे कम अन्तर है ही कि सिद्धसेनको राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकका परिचय मिलनेका प्रसग ही न आया।'

यहाँ हमे सर्वप्रथम पण्डितजीके इस वक्तव्यकी आलोचना करनी है और इसके बाद देखना है कि क्या सिद्धसेनगणिकी टीका राजवार्तिकका आलोडन किये बिना लिखी गयी थी।

पण्डितजीने सर्वप्रथम सिद्धसेनगणिकी अध्याय पाँच सूत्र तीनकी टीकाके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी पाँच-छह स्वतन्त्र टीकाओका अनुमान किया है इस आधारसे हम इसे ठीक मान लेते हैं। तथापि इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि सिद्धसेनगणिने तत्त्वार्थवार्तिकका आलोडन किये बिना ही अपनी टीका लिखी थी। इससे तो केवल इतना ही पता लगता है कि उनके सामने और भी कई टीकाएँ थी जो 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रके कई पाठ प्रस्तुत करती थी। यह स्वतन्त्र विषय है और इसपर स्वतन्त्र-

---

1. हरिभद्रकी टीका तीन लेखकोने पूरी की है ऐसा प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० 95 मे सूचित करते है और टीकाके देखनेसे यह मत समीचीन प्रतीत होता है।

रूपसे ही विचार होना चाहिए कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी टीका लिखते समय तत्त्वार्थवार्तिक था या नहीं और तत्काल हमे प्रसगोचित इसी बातका विचार करना है।

इसमे सन्देह नहीं कि सिद्धसेनगणि बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने अपनी टीकामे तत्त्वार्थसूत्रके अनेक पाठान्तरो, मत-मतान्तरो, ग्रन्थो, आचार्यो और प्रमाणोका उल्लेख किया है, जिनसे अनेक ऐतिहासिक तथ्योपर प्रकाश पडता है। इस प्रसगसे वे भट्ट अकलक देवके सिद्धिविनिश्चय और तत्त्वार्थवार्तिकको भी नहीं भूले हैं। अध्याय 1 सूत्र 3 की टीकामे सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख करते हुए वे लिखते है—

'एवं कार्यकारणसबन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेणेति।'

भट्ट अकलक देवके उपलब्ध साहित्यमे सिद्धिविनिश्चय अन्यतम दर्शनप्रभावक ग्रन्थ है और उसमें सृष्टिपरीक्षा प्रकरण भी उपलब्ध होता है। इससे निश्चित होता है कि यह उल्लेख इसी सिद्धिविनिश्चयका है।

हमने तत्त्वार्थवार्तिकके साथ भी सिद्धिसेनगणिकी उक्त टीकाका तुलनात्मक अध्ययन किया है। इससे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे है कि सिद्धिसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी प्रसिद्ध टीका लिखते समय तत्त्वार्थवार्तिक अवश्य था। तुलनाके लिए देखिए—

'अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामो भवति। तद्यथा—उच्चानि देवदत्तस्य गृहाण्यामन्त्रयस्वैनम्। देवदत्तमिति गम्यते।'

—तत्त्वार्थवार्तिक अ० 1 सू० 7।

'अर्थवशाच्च विभक्तिपरिणामः उच्चैर्गृहाणि देवदत्तस्यामन्त्रयस्वैनमिति।'

—सि० टी० उत्थानिका श्लोक 6 की टीका।

इसी प्रकार समानता सूचक और भी वाक्य उपलब्ध होते है—जिनका निर्देश प० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त वर्ष 3 किरण 11 मे 'सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक' लेखमे किया है। इन समानता सूचक वाक्योके अतिरिक्त सिद्धसेनगणिकी टीकामे कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनके आधारसे उसकी स्थिति तत्त्वार्थवार्तिकके बाद स्थिर होनेमे विशेष सहायता मिलती है। यथा—तत्त्वार्थवार्तिकमे नरकायुके कारणोकी व्याख्या करते हुए यह वाक्य आता है—

'बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः'

इसी बातको सिद्धसेनगणि मतभेदके साथ इन शब्दोमे व्यक्त करते हैं—

'अपरे ब्रुवते—बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्यासौ बह्वारम्भपरिग्रहः।

इस पदकी व्याख्या सर्वार्थसिद्धिमे भी उपलब्ध होती है। इसलिए इसपरसे यह कहा जा सकता है कि सिद्धसेनगणिने यह मतभेद सर्वार्थसिद्धिको लक्ष्यमे रखकर व्यक्त किया होगा। किन्तु सर्वार्थसिद्धिमे उक्त पदके किये गये विग्रहमे पूर्वोक्त विग्रहमे मौलिक अन्तर है। सर्वार्थसिद्धिमे यह विग्रह इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः।

किन्तु सिद्धसेनगणिकी टीका इस विषयमे तत्त्वार्थवार्तिकका अनुसरण करती है, सर्वार्थसिद्धिका नहीं। अतएव इसपरसे यह माननेके लिए बाध्य होना पडता है कि सिद्धसेनगणिको यहाँपर 'अपरे' पदसे तत्त्वार्थवार्तिककार अभिप्रेत रहे हैं।

सिद्धसेनगणिकी टीकामे ऐसे और भी पाठ[1] या मतभेदके उल्लेख उपलब्ध होते हैं जो तत्त्वार्थवार्तिकका ही अनुसरण करते हैं।

इससे इस बातके स्पष्ट होते हुए भी कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी टीका लिखते

---

1 इसके लिए प्रथम सूत्रकी उत्थानिका व अध्याय 6 सूत्र 16, 17, 18 आदि देखिए।

समय तत्त्वार्थवार्तिक उपस्थित था, यहाँ तत्त्वार्थभाष्यकी उत्तरावधि निश्चित करनी है और इसके लिए हमें तत्त्वार्थभाष्यके साथ तत्त्वार्थवार्तिकका तुलनात्मक विचार करना है।

प्राय: यह तो सभी मनीषियोंने स्वीकार किया है कि तत्त्वार्थवार्तिक सर्वार्थसिद्धिको पचा कर लिखा गया है और इस बातके भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवार्तिकके पहलेकी रचना होनी चाहिए। इसके लिए हमे अन्यत्र प्रमाण खोजनेकी आवश्यकता नही है, किन्तु स्वय तत्त्वार्थवार्तिक इसका साक्षी है। सर्वप्रथम तत्त्वार्थवार्तिकको उत्थानिकाको ही लीजिए। तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किस निमित्तसे हुई है इस विषयमे सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमे व्याख्याभेद है। सर्वार्थसिद्धिमे स्वीकार किया गया है कि कोई भव्य मुनियोंकी सभामे बैठे हुए आचार्यवर्यसे प्रश्न[1] करता है कि भगवन्! आत्माका हित क्या है? आचार्यवर्य उत्तर देते हैं कि 'मोक्ष'। वह पुन प्रश्न करता है कि इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है और इसीके उत्तर स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमे यह उत्थानिका दूसरे प्रकारसे निर्दिष्ट की गयी है। वहाँ बतलाया है कि इस लोक मे मोक्षमार्गके बिना हितका उपदेश होना दुर्लभ है, इसलिए मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं। अब इन दोनो उत्थानिकाओंके प्रकाशमे तत्त्वार्थवार्तिक की उत्थानिकाको पढिए। देखनेसे विदित होगा कि इसमे क्रमसे सर्वार्थसिद्धि[2] और तत्त्वार्थभाष्य[3] इन दोनोकी उत्थानिकाओंका स्पष्टत. निर्देश किया है। यही नहीं इसमे तत्त्वार्थभाष्यकी उत्थानिकाका निर्देश 'अपरे' पदसे प्रारम्भ किया है। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिककार सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिकाको दिगम्बर परम्परासम्मत मानते रहे और तत्त्वार्थभाष्यकी उत्थानिकाको अन्यकी। यह उत्थानिकाकी बात हुई।

आगे सूत्रपाठको देखिए—तत्त्वार्थभाष्यकारने तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रमे 'पृथुतरा.' पाठ अधिक स्वीकार किया है। श्वेताम्बर आगम साहित्यमे इस अर्थको व्यक्त करनेके लिए 'छत्ताइछत्ता' पाठ उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थभाष्यकारने भी इस पदकी व्याख्या करते हुए 'छत्रातिच्छत्रसंस्थिता.' पद द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया है। यह पाठ सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमे नहीं है। तत्त्वार्थवार्तिककारकी न केवल इसपर दृष्टि पड़ती है अपितु इसे वे आड़े हाथो लेते हैं और यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि सूत्रमे 'पृथुतरा:' पाठ असंगत है।

साधारणत: सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठसे तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमे काफी परिवर्तन हुआ है पर तत्त्वार्थवार्तिककार उन सब सूत्रपाठोकी चर्चा नहीं करते। वे प्राय तत्त्वार्थभाष्यके ऐसे ही सूत्रपाठका विरोध व्यक्त करते हैं जिसे स्वीकार करने पर स्पष्टत. आगम विरोध दिखाई देता है। चौथे अध्यायमे 'शेषा स्पर्श—' इत्यादि सूत्र आता है। तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार इस सूत्रके अन्तमे 'द्वयोर्द्वयोः' इतना पाठ अधिक उपलब्ध होता है। भट्ट अकलंकदेवकी सूक्ष्मदृष्टि इस पाठ पर जाती है और वे आर्षसे विरोध बतला कर इस अधिक पाठको स्वीकार करना मान्य नही करते। इसी प्रकार पाँचवें अध्यायमे 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च' सूत्र आता है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें इसका परिवर्तित रूप इस प्रकार उपलब्ध होता है—'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ।'

यह स्पष्ट है कि आगममे बन्धकी जो व्यवस्था निर्दिष्ट की गयी है उसके साथ इस सूत्रमे आये हुए 'सम' शब्दका मेल नहीं बैठता। तत्त्वार्थवार्तिककारकी दृष्टिसे यह बात भी छिपी नही रहती, इसलिए आगमसे विरोध होनेके कारण वे स्पष्ट शब्दोंमे इसकी अप्रामाणिकता घोषित करते है। यही दशा तत्त्वार्थभाष्यमे आये हुए पाँचवें अध्यायके अन्तिम तीन सूत्रोंकी होती है। वे सूत्र हैं—

'अनादिरादिमांश्च ॥ 42 ॥ रूपिष्वादिमान् ॥ 43 ॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥ 44 ॥'

इन सूत्रोंमें परिणामके अनादि और सादि ये दो भेद करके पुद्गल और जीवके परिणामको सादि कहा

---

1. देखो तत्त्वार्थभाष्य उत्थानिका श्लोक 31। 2 तत्त्वार्थवार्तिक उत्थानिका पृ० 1। 3 तत्त्वार्थवार्तिक उत्थानिका पृ० 3।

है। साथ ही 42 वें सूत्रके भाष्यमे धर्म, अधर्म, आकाश और जीवके परिणामको अनादि कहा है। इस पर तत्त्वार्थवार्तिकमे आपत्ति करते हुए कहा है—'अत्रान्ये धर्माधर्मकालाकाशेषु अनादि: परिणाम: आदिमान् जीवपुद्गलेषु वदन्ति तदयुक्तम्।'

अर्थात् अन्य लोग धर्म, अधर्म, काल और आकाशमे परिणामको अनादि कहते हैं तथा जीव और पुद्गलोमे उसे सादि कहते हैं किन्तु उनका ऐसा कहना अयुक्त है।

इसी प्रकार अध्याय 1 सूत्र 15 व 21; अध्याय 2 सूत्र 7, 20 व 33; अध्याय 4 सूत्र 8; अध्याय 5 सूत्र 2—3, अध्याय 6 सूत्र 18 और अध्याय 8 सू० 6 के तत्त्वार्थवार्तिकके देखनेसे भी विदित होता है कि अकलकदेवके सामने तत्त्वार्थभाष्य अवश्य था।

यद्यपि इस विषयमे कुछ मतभेद है। डॉ० जगदीशचन्द्रजीने अनेकान्त वर्ष 3 किरण 4 में इस आशयका एक लेख लिखा था जिसमे उन्होने बतलाया है कि अकलंकदेवके सामने उमास्वातिका तत्त्वार्थभाष्य उपस्थित था। किन्तु उनके इस मतको पं० जुगुलकिशोरजी मुख्तार स्वीकार नहीं करते।[1] पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका भी यही मत है।[2]

हमारा विचार है कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थभाष्यमे जो सूत्रपाठ स्वीकार किया है वह तत्त्वार्थभाष्य लिखनेके पूर्व अवस्थित था इस विषयका पोषक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। आचार्य पूज्यपादने और सिद्धसेनगणिने अपनी टीकाओंमे जगह-जगह सूत्रपाठ सम्बन्धी जिस मतभेदकी[3] चर्चा की है उसका सम्बन्ध भी तत्त्वार्थभाष्य मान्य सूत्रपाठसे नही है। ऐसी अवस्थामें यह मानना कि भट्ट अकलंकदेवके सामने वाचक उमास्वातिका तत्त्वार्थभाष्य नही था, हमे शिथिल प्रतीत होता है। तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयीं दिगम्बर और श्वेताम्बर समस्त टीकाओंके अवलोकनसे केवल हम इतना निश्चय कर सकते हैं कि जिस महान् आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है उन्होने तत्त्वार्थसूत्र पर कोई भाष्य या वृत्ति ग्रन्थ नहीं लिखा था। तत्त्वार्थसूत्रमें उत्तरकालमे सूत्रविषयक जो विविध मतभेद दिखाई देते हैं वे इसके प्रमाण हैं। यह स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपादके काल तक वे मतभेद बहुत ही स्वल्पमात्रामें रहे हैं। किन्तु मूल सूत्रपाठ सर्वार्थसिद्धि द्वारा दिगम्बर परम्परा मान्य हो जाने से दूसरी ओर इसकी बलवती प्रतिक्रिया हुई और मूल सूत्रपाठको तिलांजलि दे दी गयी। परिणाम स्वरूप सूत्रपाठके स्वरूपके विषयमे न केवल मतभेद बढ़ने लगा अपितु स्वतन्त्र सूत्रपाठके स्थिर करनेका भी भाव जागृत हुआ। इन सारे घटनाक्रम व तथ्योंके आधारसे हमारा तो यही विचार पुष्ट होता है कि स्वय वाचक उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठको अन्तिम रूप दिया होगा और आगे यह पाठभेद सम्बन्धी मतभेद उग्र रूप धारण न करे, इसलिए उन्होंने ही उसपर अपना प्रसिद्ध तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखा होगा। यह ठीक है कि वाचक उमास्वातिके पहले अन्य श्वेताम्बर आचार्योने मूल तत्त्वार्थसूत्रमें काट-छाँट चालू कर दी थी[4] और वाचक उमास्वातिको उसका वारसा मिला है। यदि पं० जुगुलकिशोरजी मुख्तार इसी अभिप्रायको ध्यानमे रखकर इस मतका प्रस्थापन करते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ वाचक उमास्वातिके भी पूर्व उपस्थित था तो यह कथन कुछ अंशमें सम्भव हो सकता है पर इससे तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थभाष्य उपस्थित था इस मतपर रंचमात्र भी आँच नहीं आती, क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिकमें केवल तत्त्वार्थभाष्य मान्य सूत्रविषयक मतभेदोंका ही उल्लेख नहीं है, अपितु कुछ ऐसे मतोंका भी उल्लेख है जिनका सीधा सम्बन्ध तत्त्वार्थभाष्यसे है।

इस प्रकार इन प्रमाणोके प्रकाशमे यह मान लेनेपर भी कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवार्तिकके पहले कभी लिखा गया है, फिर भी वह कब लिखा गया है यह विचारणीय हो जाता है। इसका हमें कई दृष्टियोंसे

---

1 देखो अनेकान्त वर्ष 3 किरण 4, 11 व 12। 2. देखो पं० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० 9 आदि। 3 देखो सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 16 व अ० 2 सू० 53 तथा सिद्धसेनकी टीका अ० 1 सू० व अ० 5 सू० 3 आदि। 4 देखो चालू प्रस्तावनाका 'सूत्रपाठोंमें मतभेद' प्रकरण।

पर्यालोचन करना है। पर्यालोचनके विषय ये हैं—1. अन्य टीकाओंके उल्लेख, 2 सूत्रोल्लेख, और 3 अर्थ विकास।

1. अन्य टीकाओंके उल्लेख—अभी तक प्रचलित परम्पराके अनुसार साधारणत. यह माना जाता है कि दिगम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठकी प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धि है और श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थसूत्रकी प्रथम टीका तत्त्वार्थभाष्य है। तत्त्वार्थभाष्यके विषयमे तो कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि वह तत्त्वार्थसूत्रकारकी ही मूल कृति है[1] और उस आधारसे वे यह निष्कर्ष फलित करते हैं कि आचार्य पूज्यपादने मूल सूत्रपाठमें सुधार करके सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी रचना की है जो आज दिगम्बर परम्परामे प्रचलित है। किन्तु इन टीकाग्रन्थों और अन्य प्रमाणोंसे जो तथ्य सामने आ रहे हैं उनसे यह विषय बहुत कुछ विचारणीय हो जाता है। पहले हम सर्वार्थसिद्धिमे दो पाठभेदोका उल्लेख कर आये हैं। उनमेसे दूसरा पाठभेद यदि सूत्र-पोथीके आधारसे ही मान लिया जाये तो भी प्रथम पाठभेदको देखते हुए यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि सर्वार्थसिद्धिकारके सामने कोई छोटा-मोटा टीका ग्रन्थ अवश्य था। अन्यथा वे पाठविषयक मतभेदको स्पष्ट करते हुए यह न कहते—'त एवं वर्णयन्ति' इत्यादि।

तत्त्वार्थवार्तिकमे अध्याय पाँच सूत्र चारका विवरण लिखते समय यह प्रश्न उठाया गया है कि 'वृत्तिमें पाँच ही द्रव्य कहे हैं इसलिए छह द्रव्योंका उपदेश घटित नहीं होता।'[2] आगे इसका समाधान करते हुए तत्त्वार्थवार्तिककार कहते हैं कि 'वृत्तिकारका आप अभिप्राय नहीं समझे। आगे काल द्रव्यका निर्देश किया जानेवाला है उनकी अपेक्षा न कर यहाँ वृत्तिकारने पाँच द्रव्य कहे हैं।'

इसी प्रकार एक प्रश्न इस अध्यायके 37वें सूत्रका विवरण लिखते समय भी उठाया गया है। वहाँ कहा गया है कि 'गुण यह संज्ञा अन्य सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें उल्लिखित है, आर्हत मतमे तो केवल द्रव्य और पर्यायका ही निर्देश किया है। अतः तत्त्व दो ही सिद्ध होते हैं और इनके आश्रयसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये नय भी दो ही बनते हैं। यदि गुण नामका कोई पदार्थ है तो उसको विषय करनेवाला एक तीसरा नय अवश्य होना चाहिए। यतः तीसरा नय नहीं है, अतः गुण नामका कोई तीसरा पदार्थ सिद्ध नही होता है और इसीलिए 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' यह सूत्र भी घटित नहीं होता।' आगे इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'यह बात नहीं है, क्योंकि अर्हत्प्रवचनहृदय आदि ग्रन्थोंमे गुणका उपदेश दिया गया है। और इसके आगे 'उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह वाक्य आया है।

तत्त्वार्थवार्तिकके ये दो उल्लेख हैं जिनसे अन्य वृत्ति तथा ग्रन्थान्तरकी सूचना मिलती है। प्रथम उल्लेखसे हम जानते हैं कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी कोई एक वृत्ति थी जिसमे 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रका विवरण लिखते समय पाँच द्रव्योंका विधान किया गया था और जिसका सामंजस्य तत्त्वार्थवार्तिककारने यहाँ बिठलाया है। तथा दूसरे उल्लेखसे इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने एक दूसरा अर्हत्प्रवचनहृदय या अर्हत्प्रवचन नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य था जो न केवल सूत्रशैलीमें लिखा गया था अपितु उसमे 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा.' यह सूत्र भी मौजूद था और सम्भवतः उसे तत्त्वार्थवार्तिककार अति प्राचीन भी मानते रहे तभी तो प्रकृतमे गुणके समर्थनमे उन्होने उसका उल्लेख किया है।

यह अर्हत्प्रवचनहृदय या अर्हत्प्रवचन क्या है यह प्रश्न बहुत गम्भीर है। इसका उल्लेख तत्त्वार्थ-भाष्यकार वाचक उमास्वातिने भी किया है। वे लिखते हैं कि मैं [3]अर्हद्वचनके एकदेशके संग्रहरूप और बहुत अर्थवाले तत्त्वार्थाधिगम नामके लघुग्रन्थका शिष्योंको हितबुद्धिसे कथन करता हूँ। इसी प्रकार अमृतचन्द्र

---

1. देखो पं० सुखलालजी की तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना। 2 वृत्तौ पञ्चत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेश-व्याघात इति चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्। 3. 'तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्। वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥22॥'

आचार्यने भी समयप्राभृतकी टीकामे[1] समयप्राभृतको अर्हत्प्रवचनका अवयव कहा है। इन दोनों स्थलों पर साधारणत अर्हद्वचन या अर्हत्प्रवचनसे द्वादशागका बोध होता है। किन्तु जब भट्ट अकलंक देव अर्हत्प्रवचन-हृदय या अर्हत्प्रवचन नामके स्वतन्त्र ग्रन्थका उल्लेख करते हैं, इतना ही नही वे उसके एक वचनको उद्धृत भी करते हैं जो तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रसे बिलकुल मिलता जुलता है तब यह प्रश्न अवश्य होता है कि क्या ऐसा कोई महान् ग्रन्थ रहा है जिसमे समग्र जैनसिद्धान्तका रहस्य अन्तर्निहित था और जिसका उल्लेख करना सबके लिए अनिवार्य था। जो कुछ भी हो एक बात स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थकी उपलब्ध टीकाओके अतिरिक्त कोई अन्य वृत्ति अवश्य रही है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यसे भिन्न थी और बहुत सम्भव है कि उसी वृत्तिका उल्लेख उन्होने तत्त्वार्थवार्तिकमे किया है।

इसी प्रसगसे हमने सिद्धसेनगणिकी टीकाका भी आलोडन किया है। इस सम्बन्धमे हम पहले ही कह आये हैं कि सिद्धसेन गणिकी टीका अनेक सूत्र विषयक मत-मतान्तरो और उल्लेखोंको लिये हुए है। उसका बारीकीसे पर्यालोचन करनेपर यह भी विदित होता है कि उसके सामने न केवल सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थभाष्य और तत्त्वार्थवार्तिक थे, अपितु तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी नयी पुरानी और भी अनेक टीकाएँ उनके सामने रही हैं। यह अनुमान प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीका भी है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और सिद्धसेनगणिकी टीकाके ये वे उल्लेख हैं जिनसे हमे तत्त्वार्थसूत्र विषयक अन्य अनेक छोटी-बडी टीकाओं के अस्तित्वका आभास मिलता है। तत्काल विचारणीय यह है कि ये सब टीका ग्रन्थ किस आधारसे लिखे गये होगे। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें जिनका उल्लेख है वे तो स्वतन्त्र होंगे यह स्पष्ट ही है। मात्र विचार उनका करना है जिनका उल्लेख सिद्धसेनगणिने किया है। यह तो हम स्पष्ट देखते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यके कारण भाष्यानुसारी सूत्रपाठका स्वरूप और अर्थ एक तरहसे सुनिश्चित है। जो लिपिकारोकी असावधानीसे थोडे बहुत दोष उत्पन्न होते हैं वे तत्त्वार्थभाष्यमे भी देखे जाते हैं[2]। किन्तु इन दोषोके कारण तत्त्वार्थभाष्य समस्त सूत्रपाठमे तत्त्वार्थभाष्यकी उपस्थितिमे पाठान्तर या अर्थान्तरकी कल्पना करना सम्भव नही है। ऐसी अवस्थामे इन टीका ग्रन्थोको भी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें उल्लिखित टीका ग्रन्थोके समान स्वतन्त्र ही मानना पड़ता है। सिद्धसेनगणिने मतभेदोंको दरसाते हुए अन्य मतोंका जिस रूपमे उल्लेख किया है उससे भी तथ्यकी पुष्टि होती है। ये सब टीकाग्रन्थ कब और किन आचार्योंकी कृति हैं यह तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं। बहुत सम्भव है कि वे सब या उनमेसे कुछ तत्त्वार्थभाष्यके भी पहले लिखे गये हो और उनके लेखक श्वेताम्बर आचार्य रहे हों। यदि यह अनुमान सही है, जिसके कि सही होनेकी अधिक सम्भावना है, तो यही कहना पडता है कि तत्त्वार्थभाष्य उस कालकी रचना है जबकि मूल तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीका टिप्पणियाँ प्रचलित हो चुकी थीं और जिनमेसे एक सर्वार्थसिद्धि भी है।

2 सूत्रोल्लेख—साधारणत किसी विषयको स्पष्ट करने, उसकी सूचना देने या अगले सूत्रकी उत्थानिका बांधनेके लिए टीकाकार आगेके या पीछेके सूत्रका उल्लेख करते हैं। यह परिपाटी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें भी विस्तारपूर्वक अपनायी गयी है। किन्तु आगेके या पीछेके सूत्र का उल्लेख करते समय इन टीका ग्रन्थोंमे उन्हीं सूत्रपाठोका उल्लेख किया जाता है जो उन्हें सम्मत होते हैं। उदाहरणार्थ—सर्वार्थसिद्धिकारने अध्याय एकके इक्कीस नम्बरका सूत्र 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इस रूपमें स्वीकार किया है, अतएव वे चौथे अध्यायके प्रथम सूत्रकी उत्थानिका लिखते समय इस सूत्र का इसी रूपमे उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्यकारने इस सूत्रको 'भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम्' इस रूप में स्वीकार

---

1 'प्राभृताहृत्प्रवचनावयवस्य' गा. 1. टीका। 2. देखो अध्याय 6 सूत्र 3 व 4 का तत्त्वार्थ-भाष्य।

किया है इसलिए वे चौथे अध्यायके प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामे इसे इसी रूपमे उद्धृत करते हैं। साधारणत ये टीकाकार कही पूरे सूत्रको उद्धृत करते हैं और कही उसके एक अशको। पर जितने अशको उद्धृत करते हैं वह अपनेमे पूरा होता है। ऐसा व्यत्यय कही भी नही दिखाई देता कि किसी एक अशको उद्धृत करते हुए भी वे उसमेंसे समरित प्रारम्भके किसी पदको छोड देते हो।

ऐसी अवस्थामे हम तो यही अनुमान करते थे कि इन दोनो टीका ग्रन्थोंमे ऐसा उद्धरण शायद ही मिलेगा जिससे इनकी स्थितिमे सन्देह उत्पन्न किया जा सके। इस दृष्टिसे हमने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ-भाष्यका बारीकीसे पर्यालोचन किया है। किन्तु हमे यह स्वीकार करना पडता है कि सर्वार्थसिद्धिमे तो नही, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमे एक स्थलपर ऐसा स्खलन अवश्य हुआ है जो इसकी स्थितिमे सन्देह उत्पन्न करता है। यह स्खलन अध्याय 1 सूत्र 20 का भाष्य लिखते समय हुआ है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय का प्रतिपादन करनेवाला सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र इस प्रकार है—

'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।'

यही सूत्र तत्त्वार्थभाष्यमे इस रूपमे उपलब्ध होता है—

'मतिश्रुतयोर्निबन्ध. सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।'

तत्त्वार्थभाष्यमे सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा **'द्रव्य'** पदके विशेषणरूपसे **'सर्व'** पद अधिक स्वीकार किया गया है। किन्तु जब वे ही तत्त्वार्थभाष्यकार इस सूत्रके उत्तरार्धको अध्याय 1 सूत्र 20 के भाष्यमे उद्धृत करते हैं तब उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा—

'अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्व वक्ष्यति—'द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति'

कदाचित् कहा जाय कि इस उल्लेखमेसे लिपिकारकी असावधानीवश **'सर्व'** पद छूट गया होगा, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योकि अपनी टीकामे सिद्धसेनगणि और हरिभद्रने भी तत्त्वार्थभाष्यके इस अंशको इसी रूपमे स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि जब तत्त्वार्थभाष्यकारने उक्त सूत्र का उत्तरार्ध **'सर्व-द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु'** स्वीकार किया तब अन्यत्र उसे उद्धृत करते समय वे उसके 'सर्व' पदको क्यों छोड गये। पदका विस्मरण हो जानेसे ऐसा हुआ होगा यह बात बिना कारणके कुछ नपी-तुली प्रतीत नही होती। यह तो हम मान लेते हैं कि प्रमादवश या जान-बूझकर उन्होने ऐसा नही किया होगा, फिर भी यदि विस्मरण होनेसे ही यह व्यत्यय माना जाये तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हमारा तो खयाल है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उनके सामने सर्वार्थसिद्धि या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है और हमने क्या पाठ स्वीकार किया है इसका विशेष विचार किए बिना उन्होने अनायास उसके सामने होनेसे सर्वार्थ-सिद्धिमान्य सूत्रपाठका अश यहाँ उद्धृत कर दिया है। यह भी हो सकता है कि अध्याय 1 सूत्र 20 का भाष्य लिखते समय तक वे यह निश्चय न कर सके हो कि क्या इसमे 'सर्व' पदको 'द्रव्य' पदका विशेषण बनाना आवश्यक होगा या जो पुराना सूत्रपाठ है उसे अपने मूलरूपमे ही रहने दिया जाय और सम्भव है कि ऐसा कुछ निश्चय न कर सकनेके कारण यहाँ उन्होने पुराने पाठको ही उद्धृत कर दिया हो। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य प्रारम्भ करनेके पहले ही वे तत्त्वार्थसूत्रका स्वरूप निश्चित कर चुके थे, फिर भी किसी खास सूत्रके विषयमे शकास्पद बने रहना और तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उसमे परिवर्तन करना सम्भव है। जो कुछ भी हो इस उल्लेखसे इतना निश्चय करने के लिए तो बल मिलता ही है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वातिके सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है।

3 अर्थ विकास— इसी प्रकार इन दोनोके बिम्बप्रतिबिम्बभाव और कहीं-कही वस्तुके विवेचनमे तत्त्वार्थभाष्यमे अर्थ विकास के स्पष्ट दर्शन होनेसे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ—दसवें अध्यायमे **'धर्मास्तिकायाभावात्'** सूत्र आता है। इसके पहले यह बतला आये हैं कि मुक्त जीव अमुक-अमुक कारणसे ऊपर लोकके अन्त तक जाता है। प्रश्न होता है कि वह इसके आगे क्यो नही जाता है और इसीके उत्तरस्वरूप बाह्य निमित्तकी मुख्यतासे इस सूत्रकी रचना हुई है। किन्तु यदि टीकाको छोड़ कर केवल

सूत्रोंका पाठ किया जाय तो यहाँ जाकर रुकना पड़ता है और मनमें यह शंका बनी ही रहती है कि धर्मास्तिकाय न होनेसे आचार्य क्या बतलाना चाहते हैं। सूत्रपाठकी यह स्थिति वाचक उमास्वातिके ध्यानमें आयी और उन्होंने इस स्थितिको साफ करनेकी दृष्टिसे ही उसे सूत्र न मानकर भाष्यका अंग बनाया है। यह क्रिया स्पष्टत. बादमे की गयी जान पडती है। इसी प्रकार इसी अध्याय के सर्वार्थसिद्धिमान्य दूसरे सूत्रको लीजिए। इसके पहले मोहनीय आदि कर्मोंके अभावसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। किन्तु इनका अभाव क्यों होता है इसका समुचित उत्तर उस सूत्रसे नहीं मिलता और न ही सर्वार्थसिद्धिकार इस प्रश्नको स्पर्श करते हैं। किन्तु वाचक उमास्वातिको यह त्रुटि खटकती है। फलस्वरूप वे सर्वार्थसिद्धिमान्य **'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'** इस सूत्रके पूर्वार्धको स्वतन्त्र और उत्तरार्धको स्वतन्त्र सूत्र मानकर इस कमीकी पूर्ति करते हैं। सर्वार्थसिद्धिमे जबकि इसका सम्बन्ध केवल **'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः'** पदके साथ जोड़ा गया है वहाँ वाचक उमास्वाति इसे पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनोंके लिए बतलाते हैं।

ऐसी ही एक बात, जो विशेष ध्यान देने योग्य है, पाँचवें अध्यायके कालके उपकारके प्रतिपादक सूत्रके प्रसगसे आती है। प्रकरण परत्व और अपरत्वका है। ये दोनों कितने प्रकारके होते हैं इसका निर्देश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य दोनोंमे किया है। सर्वार्थसिद्धिमें इनके प्रकार बतलाते हुए कहा है—**परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः।** किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमे ये दो भेद तो बतलाये ही गये हैं। साथ ही वहाँ प्रशंसाकृत परत्वापरत्वका स्वतन्त्ररूपसे और ग्रहण किया है। वाचक उमास्वाति कहते हैं—**परत्वापरत्वे त्रिविधे—प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।**

इतना ही नहीं। हम देखते हैं कि इस सम्बन्धमे तत्त्वार्थवार्तिककार तत्त्वार्थभाष्यका ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने कालके उपकार के प्रतिपादक सूत्रका व्याख्यान करते हुए परत्व और अपरत्वके इन तीन भेदोंका उल्लेख इन शब्दों मे किया है—

'क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात्परत्वापरत्वानवधारणमिति चेत्। न, कालोपकारप्रकरणात्[1]।'

अतएव क्या इससे यह अनुमान करनेमें सहायता नहीं मिलती कि जिस प्रकार इस उदाहरणसे तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने था इस कथनकी पुष्टि होती है उसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य सर्वार्थसिद्धि के बादकी रचना है इस कथनकी भी पुष्टि होती है।

स्पष्ट है कि पौर्वापर्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर तत्त्वार्थभाष्यका रचनाकाल सर्वार्थसिद्धि के रचे जानेके बाद स्थिर होता है और सब स्थितियोंका विचार करनेपर यह ठीक भी प्रतीत होता है।

सर्वार्थसिद्धिमें अन्य साहित्य के उद्धरण—सर्वार्थसिद्धि लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने जो विपुल साहित्य उपस्थित था उसका अवलम्बन लेकर उन्होंने इस महान् टीका ग्रन्थकी श्रीवृद्धि की है। उसमें प्रमुख स्थान जिसे दिया जा सकता है वह है षट्खण्डागम।

षट्खण्डागम—यह वह महान् निधि है जिसे द्वादशांग वाणीका सीधा वारसा मिला है। आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलीने आचार्य धरसेनके चरणोंमें बैठकर तथा उस कालमें शेष रहे द्वादशांग वाणी के एकदेशका अभ्यास कर इस महान् ग्रन्थ की रचना की थी। इसके जीवस्थान, क्षुल्लकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छह खण्डोंमे द्वादशांग वाणी का संकलन किया गया है, इसलिए इसे षट्खण्डागम कहते हैं। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने यह महान् ग्रन्थ उपस्थित था और उन्होंने इसका भरपूर उपयोग किया है यह बात तत्त्वार्थसूत्र अध्याय एक सूत्र सात और आठकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके देखने से स्पष्ट ज्ञात होती है। इसमें निर्देश, स्वामित्व आदि के द्वारा और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे जीव तत्त्वका जिस

---

1. अ० 5 सू० 22 तत्त्वार्थवार्तिक।

प्रकार विचार किया गया है वह अनायास ही पाठकोंका ध्यान षट्खण्डागमके जीवस्थान खण्डकी ओर आकृष्ट करता है। जीवस्थान खण्डका दूसरा सूत्र है—

'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति।'

इसमें चौदह गुणस्थानोंके लिए 'जीवसमास' शब्दका प्रयोग हुआ है। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने यह सूत्र था। उन्होंने भी गुणस्थान के लिए 'जीवसमास' शब्दका उपयोग किया है। यथा—

'एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि।'

आगे सर्वार्थसिद्धिमें जीवस्थानका किस प्रकार अनुसरण किया गया है इसका आगेकी तालिका द्वारा स्पष्ट ज्ञान कीजिए—

जीवस्थान सत्प्ररूपणा	सर्वार्थसिद्धि सत्प्ररूपणा
संतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो—ओघेण आदेसेण य॥ 8॥	तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा—सामान्येन विशेषेण च।
ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी॥ 9॥ सासणसम्माइट्ठी॥ 10॥......	सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादिः।
आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुसगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥24॥ णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी त्ति ॥ 25॥ तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी ......संजदा-संजदा त्ति॥ 26॥ मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी......अजोगिकेवलि त्ति ॥ 27॥ देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी... असंजदसम्माइट्ठि त्ति॥ 28॥	विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति। तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति। मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति। देवगतौ नारकवत्।
इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चदुरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ 33॥ एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे ॥ 36॥ पंचिंदिया असण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति॥ 37॥	इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति।
कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि॥ 39॥ पुढविकाइया...वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे॥ 43॥ तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ 44॥	कायानुवादेन पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति।

आगम परम्परामें इस विषयमें दो सम्प्रदाय हैं कि सासादनसम्यग्दृष्टि मर कर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं। कषायप्राभृत इसी संप्रदाय का समर्थन करता है। किन्तु षट्खण्डागमके अभिप्रायानुसार जो सासादनसम्यग्दृष्टि मर कर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं उनका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें नियमसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान हो जाता है। यही कारण है कि जीवस्थान सत्प्ररूपणाके सूत्रोंमें एकेन्द्रियोंके एक

मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानका निर्देश किया गया है। उक्त तुलनासे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिकारने भी एकमात्र इसी सम्प्रदायका अनुसरण किया है।

जीवस्थान संख्या-प्ररूपणा

ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया। अणंता॥ 2॥ सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति दव्वपमाणेण केवडिया। पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो। .. ..॥ 6॥ पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया। कोडिपुधत्तं॥ 7॥ अप्पमत्तसंजदा दव्वपमाणेण केवडिया। संखेज्जा॥ 8॥ चदुण्हमुवसामगा दव्वपमाणेण केवडिया। पवेसेण एक्को वा दो तिण्णि वा, उक्कस्सेण चउवण्णं॥ 9॥ अद्धं पडुच्च संखेज्जा॥ 10॥ चउण्हं खवा अजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया। पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कस्सेण अट्ठोत्तरसदं॥ 11॥ अद्धं पडुच्च संखेज्जा॥ 12॥ सजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया। पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कस्सेण अट्ठुत्तरसयं॥ 13॥ अद्धं पडुच्च सदसहस्सपुधत्तं॥ 14॥

सर्वार्थसिद्धि संख्या-प्ररूपणा

सामान्येन तावत् जीवा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ता। सासादनसम्यग्दृष्टय. सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टय संयतासंयताश्च पल्योपमासंख्येयभागप्रमिता। प्रमत्तसंयता. कोटीपृथक्त्वसंख्या:।... अप्रमत्तसंयता. संख्येया.। चत्वार उपशमका: प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेण चतु.पञ्चाशत्। स्वकालेन समुदिता: संख्येया.। चत्वार. क्षपका अयोगिकेवलिनश्च प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्या:। स्वकालेन समुदिता: संख्येया:। सयोगकेवलिन प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्या:। स्वकालेन समुदिता: शतसहस्रपृथक्त्वसंख्या.।

यहाँ हमने जीवस्थानके सत् और संख्या प्ररूपणाके कुछ सूत्रोंकी तुलना दी है। सब प्ररूपणाओंकी यह तुलना बिम्बप्रतिबिम्बभावको लिये हुए है। स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिकारने 'सत्संख्या—' इत्यादि सूत्रकी प्ररूपणा जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंको सामने रख कर की है। सर्वार्थसिद्धि लिखते समय पूज्यपाद स्वामीके सामने केवल जीवस्थान ही उपस्थित नहीं था किन्तु जीवस्थानकी चूलिका व दूसरे खण्ड भी उनके सामने रहे हैं। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके 'निर्देशस्वामित्व—' इत्यादि सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीका देखिए। इसमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारणोंका निर्देश जीवस्थान चूलिका अनुयोगद्वारके आधारसे किया है। तथा उपशम आदि सम्यक्त्वोंके कालका निर्देश क्षुल्लकबन्धके आधारसे किया है।

आ० कुन्दकुन्दका साहित्य—जैनपरम्परामें श्रुतधर आचार्योंमें समयप्रभावक जितने आचार्य हुए हैं उनमें आचार्य कुन्दकुन्दका नाम प्रमुखरूपसे लिया जाता है। कुछ तथ्योंके आधारपर कहा जाता है कि इन्हें विदेह क्षेत्रमें स्थित सीमन्धर तीर्थंकरके साक्षात् दर्शन और उपदेश श्रवणका लाभ मिला था और इन्हें चारण-ऋद्धि प्राप्त थी। इन्होंने परम्परानुसार मोक्षमार्गके अनुरूप जैनतत्त्वज्ञानकी स्पष्ट दिशाका प्रतिपादन कर समग्र जैनपरम्पराको प्रभावित किया है। जैनतत्त्वज्ञान व्यक्तिस्वातन्त्र्यका समर्थक है और उसकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग स्वावलम्बन है। इस तथ्यको संसारके सामने जितने सुन्दर शब्दोंमें इन्होंने रखा है उसकी तुलना अन्य किसीसे नहीं की जा सकती है। वे जैनपरम्परामें ऐसे प्रकाशमान् सूर्य थे जिनसे दसों दिशाएँ आलोकित हुई हैं। बोधप्राभृतमें एक गाथा आयी है[1] जिसमें इन्होंने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका गमक शिष्य घोषित किया है। समयप्राभृतका प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं कि 'मैं श्रुतकेवलीके द्वारा कहे गए समयप्राभृतका कथन करता हूँ।' इनके ये वचन आकस्मिक नहीं हो सकते। बहुत सम्भव है कि उन्हें भद्रबाहु श्रुतकेवलीके तत्त्वज्ञानका सीधा या परम्परा लाभ मिला हो, क्योंकि इनके द्वारा निर्मित साहित्यमें जो विशेषता है वह आकस्मिक नहीं हो सकती। वस्त्र-पात्रके स्वीकारकी चर्चाने जैनपरम्पराके तत्त्वज्ञानको बहुत अधिक धूमिल किया है।

---

1. 'बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं। सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ॥'

एकमात्र इनके द्वारा रचित साहित्यकी पूर्वपरम्परा ही ऐसी प्रकाशकिरण है जो इस अन्धकारका विच्छेद कर सन्मार्गका प्रकाश करती है । **एक ओर आत्मा और परनिरपेक्ष आत्मीय भावोंको छोड़कर अन्य सबको यहाँतक कि आत्मामें जायमान नैमित्तिक भावोंको भी पर कहना और दूसरी ओर वस्त्र-पात्रके स्वीकारको व्यक्तिस्वातन्त्र्य का मार्ग बतलाना इसे तत्त्वज्ञानकी कोरी विडम्बनाके सिवा और क्या कहा जा सकता है।** हमारा तो दृढ विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताकी उद्घोषणा करनेवाला और ईश्वरवादके निषेध द्वारा बाह्य निमित्तकी प्रधानताको अस्वीकार करनेवाला धर्म मोक्षमार्गमे निमित्तरूपसे वस्त्र-पात्रके स्वीकारका कभी भी प्रतिपादन नही कर सकता । आचार्य कुन्दकुन्दने यदि किसी तथ्यको स्पष्ट किया है तो वह एकमात्र यही हो सकता है । कुछ विद्वान् समझते हैं कि उन्हे नाग्न्यका एकान्त आग्रह था और उनके बाद ही जैनपरम्परामे इसपर विशेष जोर दिया जाने लगा था। किन्तु मालूम होता है कि वे इस उपालम्भ द्वारा जैनदर्शनकी दिशा ही बदल देना चाहते हैं । जैनदर्शनमे वस्तुका विचार एकमात्र व्यक्तिस्वातन्त्र्यके आधारपर ही किया गया है, अतएव उसकी प्राप्तिका मार्ग स्वावलम्बनके सिवा और क्या हो सकता है । एक व्यक्ति द्वारा अन्य पदार्थोका स्वीकार उसकी चचलता और कषायके कारण ही होता है । यह नही हो सकता कि कोई व्यक्ति वस्त्र और पात्रको भी स्वीकार करे और वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारसे परिग्रहहीन भी माना जाये । स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्दने नाग्न्यकी घोषणा कर उसी मार्गका प्रतिपादन किया है जिसे अनन्त तीर्थंकर अनादि कालसे दिखलाते आये है । ऐसे महान् आचार्यकी कृतिरूपसे इस समय **समयप्राभृत, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, द्वादश अनुप्रेक्षा और अष्टप्राभृत** आदि उपलब्ध होते हैं । आचार्य पूज्यपादने इस साहित्यका भरपूर उपयोग किया है यह बात सर्वार्थसिद्धिके आलोडनसे भलीभाँति विदित होती है । आचार्य पूज्यपादने ऐसी दस गाथाएँ उद्धृत की हैं जिनमेसे एक गाथा पचास्तिकायमे, एक गाथा नियमसारमे, तीन गाथाएँ प्रवचनसारमे और पाँच गाथाएँ द्वादश अनुप्रेक्षामें उपलब्ध होती हैं । ये गाथाएँ उन ग्रन्थोंके किस प्रकरणकी हैं यह हमने उन-उन स्थलोपर टिप्पणमे दिखलाया ही है ।

मूलाचार—दिगम्बर परम्परामे स्वीकृत मूलाचार मुनि-आचारका प्रतिपादक सर्वप्रथम ग्रन्थ है । इसके कर्ता आचार्य वट्टकेर हैं । हमारे सहाध्यायी प० हीरालालजी शास्त्रीने 'वट्टकेर आचार्य' का अर्थ 'वर्तक एलाचार्य' करके इसके कर्तारूपसे आचार्य कुन्दकुन्दको अनुमानित किया है । उनके इस विषयके 2-3 लेख इसी वर्षके अनेकान्तमे प्रकाशित हुए हैं जो विचारकी नयी दिशा प्रस्तुत करते हैं । किन्तु उन लेखोसे इस निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नही दिखाई देता कि आचार्य कुन्दकुन्दने ही इसे मूर्तरूप दिया है । मूलाचार मे एक प्रकरणका नाम द्वादशानुप्रेक्षा है । आचार्य कुन्दकुन्दने स्वतन्त्र रूपसे 'बारह अणुपेक्खा' ग्रन्थ की रचना की है । कम-से-कम इससे तो यही मानना पडता है कि मूलाचार कृतिके रचयिता आचार्य वट्टकेर ही होने चाहिए, आचार्य कुन्दकुन्द नही । वीरसेन स्वामीने धवला टीका मे इसका 'आचाराग' नामसे उल्लेख कर इसकी एक गाथा उद्धृत की है । यहाँ आचार्य पूज्यपादने भी इसकी दो गाथाएँ सर्वार्थसिद्धिमे दी हैं ।

पचसंग्रह—दिगम्बर परम्परामे पचसग्रहका बहुत बडा स्थान है । इसके सम्बन्धमे हमने श्वेताम्बर ग्रन्थसप्ततिकाकी भूमिकामे प्रकाश डालते हुए यह सम्भावना प्रकट की थी कि इसका सकलन श्वेताम्बर पचसंग्रहके कर्ता चन्द्रर्षिमहत्तरके पहले हो चुका था[1] । इसकी दो गाथाएँ आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमे भी उद्धृत की हैं । इससे विदित होता है कि बहुत सम्भव है कि दिगम्बर परम्परामान्य प्राकृत पचसग्रहका सकलन आचार्य पूज्यपादके पूर्व हुआ हो । अब यह ग्रन्थ उपलब्ध होकर प्रकाशमे आ सका है। आचार्य अमितगतिने इसीके आधारसे सस्कृत पचसंग्रहका सकलन किया है ।

पाणिनीय व्याकरण—आचार्य पूज्यपादने स्वयं 'जैनेन्द्र व्याकरण' लिखा है और उसपर न्यासमे

1. देखो आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे प्रकाशित सप्ततिकाकी भूमिका, पृष्ठ 23 से 26 तक ।

लेखक वे स्वय हैं यह भी प्रसिद्धि है। इसलिए यह शंका होती है कि सर्वार्थसिद्धिमें उन्होंने स्वनिर्मित जैनेन्द्र के सूत्रोंका ही उल्लेख किया होगा। सर्वार्थसिद्धिके सम्पादकके समय यह प्रश्न हमारे सामने था और इस दृष्टिसे हमने सर्वार्थसिद्धिको देखा भी। किन्तु इसमें व्याकरणके जो सूत्रोल्लेख उपलब्ध होते हैं उनको देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस विषय मे उनका ऐसा कोई आग्रह नहीं था कि केवल स्वनिर्मित जैनेन्द्रके ही सूत्र उद्धृत किये जायें। यो तो सर्वार्थसिद्धिमे सूत्रोल्लेखोंका बहुत ही कम प्रसंग आया है, पर दो तीन स्थलोंपर जिस रूपमे वे उल्लिखित किये गये हैं उनके स्वरूपको देखनेसे विदित होता है कि इस काममें पाणिनीय और जैनेन्द्र दोनो व्याकरणोंका उपयोग हुआ है। यथा—

सर्वप्रथम हम अध्याय 4 सूत्र 19 की सर्वार्थसिद्धि टीकामें दो सूत्रोंका उल्लेख देखते हैं। उनमेंसे प्रथम है 'तदस्मिन्नस्तीति।' और दूसरा है 'तस्य निवासः।' इनमेंसे प्रथम सूत्र पाणिनीय व्याकरणमें 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि। 4, 2, 67।' इस रूपमे और जैनेन्द्रव्याकरणमे 'तदस्मिन्नस्तीति देशः नौ। 4, 1, 14।' इस रूपमे उपलब्ध होता है, इसलिए इस परसे यह कहना कठिन है कि यहाँपर आचार्य पूज्यपादने पाणिनीय के सूत्रका आश्रय लिया है या जैनेन्द्रके सूत्रका। दूसरा सूत्र पाणिनीय व्याकरणमें 'तस्य निवासः। 4, 2, 69।' इसी रूपमे और जैनेन्द्रव्याकरण मे 'तस्य निवासादूरभवौ। 3, 2, 19।' इस रूपमें उपलब्ध होता है। स्पष्ट है कि यहाँ आचार्य पूज्यपादने पाणिनीय व्याकरणके सूत्रका उल्लेख किया है।

अध्याय 5 सूत्र 1 की सर्वार्थसिद्धि टीकामें 'विशेषणं विशेष्येणेति' सूत्र उल्लिखित है। जैनेन्द्रव्याकरणमे यह इसी रूपमे क्रमाक 1, 3, 52 पर अकित है और इसके स्थानपर पाणिनीय व्याकरणका सूत्र है 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्।' स्पष्ट है कि यहाँपर आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित व्याकरणके सूत्रका ही उल्लेख किया है।

यह तो सूत्र चर्चा हुई। अब एक अन्य प्रमाणको देखिए—अध्याय 5 सूत्र 4 की टीकामें आचार्य पूज्यपादने 'नेर्ध्रुवे त्यः' यह पद उल्लिखित किया है। किन्तु जैनेन्द्रव्याकरणमे नित्य शब्दको सिद्ध करनेवाला न तो कोई सूत्र है और न ही 'त्य' प्रत्ययका निर्देश है। वहाँ 'त्य' प्रत्ययके स्थानमें 'य' प्रत्यय है। इससे विदित होता है कि यह वाक्य आचार्य पूज्यपादने कात्यायन वार्तिक 'त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्। 4, 2, 104।' को ध्यानमे रखकर लिखा है। आचार्य अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमे अवश्य ही 'नेर्ध्रुवम् इति वक्तव्यम्।' यह वार्तिक बनाया है। किन्तु वह बादकी रचना है। फिरभी उक्त पद विवादास्पद अवश्य है।

इन तथ्योंके प्रकाशमे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकामें जैनेन्द्रव्याकरणके समान पाणिनीय व्याकरणका भी उपयोग किया है और यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रव्याकरणकी रचना होनेके अनन्तर ही उन्होंने सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी थी। अध्याय 10 सूत्र 4 की सर्वार्थसिद्धि टीकामे आचार्य पूज्यपादने पंचमी विभक्ति के लिए 'का' संज्ञाका प्रयोग किया है। आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणमे 'विभक्ति' शब्दके व्यंजन अक्षरोंमे 'आ' और स्वरमें 'प्' जोड़कर क्रमसे विभक्तियोंकी वा, इप्, भा, अप्, का, ता, ईप् ये सात संज्ञाएँ निश्चित की हैं। इस हिसाबसे 'का' यह पंचमी विभक्तिका सकेत है। यह भी एक ऐसा प्रमाण है जो इस बातको सूचित करता है कि सर्वार्थसिद्धि लिखे जानेके पहले जैनेन्द्रव्याकरणकी रचना हो गयी थी।

कात्यायनवार्तिक—पाणिनीयके व्याकरण सूत्रोंपर कात्यायन महर्षिने वार्तिक लिखे हैं। अध्याय 7 सूत्र 16 की सर्वार्थसिद्धि टीकामे आचार्य पूज्यपादने शास्त्र कहकर उनके 'अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम्।' इस वार्तिकको उद्धृत किया किया है। यह पाणिनिके 7, 1, 51 पर कात्यायनका पहला वार्तिक है।

पातंजल महाभाष्य—वैदिक परम्परामें पतंजलि ऋषि एक महान् विद्वान् हो गये हैं। इस समय पाणिनीय व्याकरणपर जो पातजल महाभाष्य उपलब्ध होता है वह इन्हींकी अमर कृति है। योगदर्शनके लेखक भी यही हैं। यह इससे स्पष्ट है—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।'

जिन्होंने योगके द्वारा चित्तके मलको, व्याकरणके द्वारा वचनोंके मलको और वैद्यकद्वारा शरीरके मलको दूर किया है उन मुनियोंमें श्रेष्ठ पतंजलि ऋषिके समक्ष मैं नतमस्तक होता हूँ।

पतंजलि ऋषिके अवस्थितिकालके विषयमें मतभेद है। तथापि ये विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दीसे पहले नहीं हुए हैं इतना निश्चित है। इस समय हमारे सामने पातंजल महाभाष्य और सर्वार्थसिद्धि उपस्थित हैं। इन दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादके साहित्यपर और खासकर सर्वार्थसिद्धिपर पातंजल महाभाष्यकी गहरी छाप पड़ी है। दोनोंका अवलोकन करने से विदित होता है कि सर्वार्थसिद्धिके ऐसे अनेक स्थल हैं जो पातंजल महाभाष्यके आश्रयसे सजाये गये हैं। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए आगे की तुलनापर दृष्टि डालिए—

पातंजल महाभाष्य	सर्वार्थसिद्धि
अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति।	अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा।
बहवो हि शब्दाः एकार्था भवन्ति। तद्यथा इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः।	सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिबललाभात् पर्यायशब्दत्वम्। यथा—इन्द्र, शक्रः, पुरन्दर इति।
अनुदरा कन्येति।	यथा, अनुदरा कन्या इति।
अस्त्येव संख्यावाची। तद्यथा, एको द्वौ बहव इति।	संख्यावाची यथा—एको द्वौ बहव इति।
बहुरोदनो बहुः सूप इति।	बहुरोदनो बहुः सूप इति।
सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति।	सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः।
हि मन्ये रथेन यास्यसीति।	एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यति यातस्ते पितेति।
भाविकृत्यमासीत्। पुत्रो जनिष्यमाण आसीत्।	विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता। भाविकृत्यमासीदिति।
अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते तत्रैकेनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य द्वितीयस्य च तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यं उक्तार्थानामप्रयोगः।	अथवा अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोग तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थक।
एकश्च तन्तुस्त्वक्त्राणेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च कम्बलः समर्थः। एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति।	भवति हि कश्चित्प्रत्येकं तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः।
इमानीन्द्रियाणि कदाचित्स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति। तद्यथा इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति।	स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते। इद मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्ण. सुष्ठु शृणोति।
कदाचित् पारतन्त्र्ये विवक्षितानि भवन्ति—अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि।	लोके इन्द्रियाणा पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते। अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति।
द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्।	द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्।
अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः।	अवयवेन विग्रह समुदाय समासार्थ।

पातंजल महाभाष्य	सर्वार्थसिद्धि
हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे भिक्षादिषु दर्शनात्। हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे द्रष्टव्य.। यावद् ब्रूयान्निमित्त कारणमिति तावद्धेतुरिति। किं प्रयोजनम्। भिक्षादिषु दर्शनात्। भिक्षादिष्वपि णिज् दृश्यते भिक्षा वासयन्ति कारीषोऽग्निरध्यापयति इति।	निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्ट:। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति।
स बुद्ध्या निवर्तते। य एष मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति।	…स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। एवमिहापि य एष मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति।
तद्यथा सगत घृतं सगत तैलमित्युच्यते। एकीभूतमिति गम्यते।	तद्यथा सगत घृत सगत तैलमित्युच्यते। एकीभूतमिति गम्यते।
कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्य च वक्तर्यधीन हि।	कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्य च वक्तर्यधीनम्।

रत्नकरण्डक—यह दिगम्बर परम्पराका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमे धर्मके स्वरूपका व्याख्यान कर व धर्मको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप बतला कर पाँच अध्यायोमे इन तीनों रत्नोका क्रमसे विवेचन किया गया है, इसलिए इसको रत्नकरण्डक कहते हैं। किन्तु सम्यक् चारित्रका प्रतिपादन करते समय सकल चारित्रका उल्लेखमात्र करके इसमे मुख्यतया विकलचारित्र (श्रावकाचार) का ही विस्तारके साथ निरूपण किया गया है, इसलिए इसे रत्नकरण्डकश्रावकाचार भी कहते हैं। साधारणत इसके कर्ताके सम्बन्धमे प्रसिद्धि है कि यह दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र स्वामीकी अमर कृति है। अभी तक जितने प्राचीन उल्लेख मिलते हैं उनसे इसी तथ्यकी पुष्टि होती है[1]। स्वय प्रभाचन्द्र आचार्य जिन्होने कि इस पर विस्तृत सस्कृत टीका लिखी है वे भी इसे स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति मानते है। जैसा कि इसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमे पायी जानेवाली पुष्पिकासे विदित होता है[2]। ऐसी अवस्थामे आचार्य पूज्यपादके सामने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय रत्नकरण्डक अवश्य होना चाहिए। आगे हम इन दोनो ग्रन्थोके कुछ ऐसे उल्लेख उपस्थित करते हैं जिससे इस विषयके अनुमान करनेमे सहायता मिलती है। उल्लेख इस प्रकार हैं—

1. रत्नकरण्डकमे व्रतका स्वरूप इन शब्दोमे व्यक्त किया है—

'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योगाद् व्रत भवति' ॥ 3, 30 ॥

इसी बातको सर्वार्थसिद्धिमे इन शब्दों मे व्यक्त किया है—

व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः। 7—1।

रत्नकरण्डकमे अनर्थदण्डके ये पाँच नाम दिए हैं—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दु श्रुति और प्रमादचर्या। सर्वार्थसिद्धिमे भी ये ही पाँच नाम परिलक्षित होते हैं। इतना ही नही इनके कुछ लक्षणोके विषयमे भी अपूर्व शब्दसाम्य दृष्टिगोचर होता है। यथा —

'तिर्यक्क्लेशवाणिज्यहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥' रत्न० 3॥

'तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भादिषु पापसयुक्तं वचनं पापोपदेशः।' सर्वा० 7, 21।

'क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥' रत्न० 3, 34।

'प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्।' सर्वा० 21।

---

1. देखो पं० जुगलकिशोरजी द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी प्रस्तावना, पृ० 5 से पृ० 15 तक। 2. इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां प्रथम परिच्छेद।

इन दोनों ग्रन्थोमे भोगोपभोगव्रत या उपभोगपरिभोगव्रतके निरूपणमे जो अर्थ और शब्दसाम्य दृष्टिगोचर होता है वह तो और भी विलक्षण है। दोनोमे भोग और उपभोगके प्रकार दिखलाकर त्रसघात, बहुघात और अनिष्टके त्यागका उपदेश दिया गया है। मात्र रत्नकरण्डकमे इनके सिवा अनुपसेव्यके त्यागका निर्देश विशेषरूपसे किया गया है। रत्नकरण्डकके उल्लेख इस प्रकार हैं—

'त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥' 3, 38 ॥
'अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ 3, 39 ॥
यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ॥ 3, 40 ॥'

इसी विषयको सर्वार्थसिद्धिमे देखिए—

'मधु मांसं मद्यं च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा। केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्। यानवाहनाभरणादिष्वे-तावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्.....।' 7, 22।

इतने विलक्षण साम्यके होते हुए भी इन दोनो ग्रन्थोंमे कुछ विशेषता है। प्रथम विशेषता तो यह है कि रत्नकरण्डकमे 'प्रोषध' शब्दका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' किया है और सर्वार्थसिद्धि मे 'पर्व'। तथा दूसरी विशेषता यह है कि रत्नकरण्डकमे आठ मूलगुणोका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख किया है जब कि सर्वार्थसिद्धिमे इनकी यत्किंचित् भी चर्चा नही की है। इसलिए शका होती है कि यदि सर्वार्थसिद्धि रत्नकरण्डकके बादकी रचना मानी जाय तो उसमे यह अन्तर नही दिखाई देना चाहिए। 'प्रोषध' शब्दके अर्थको हम छोड सकते हैं, क्योकि उसे पर्व पर्यायके अर्थमे स्वीकार करनेमें आपत्ति नही है। तब भी आठ मूलगुणोंके निर्देश और अनिर्देशका प्रश्न बहुत ही महत्त्व रखता है। पाठक जितने भी प्राचीनकालकी ओर जाकर देखेंगे कि पूर्वकालमे आठ मूलगुणोका उल्लेख श्रावकके कर्तव्योंमे अलगसे नहीं किया जाता था। किन्तु उनके स्थान पर सामायिक आदि षट्कर्म ही प्रचलित थे। सर्वप्रथम यह उल्लेख रत्नकरण्डकमे ही दिखलाई देता है।

(स्व०) डॉ० हीरालालजी रत्नकरण्डकको श्री स्वामी समन्तभद्रकी कृति माननेमे सन्देह करते हैं। उनका यह विचार बननेका मुख्य कारण यह है कि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमे[1] देवागमके कर्ता स्वामी समन्तभद्रका उल्लेख करनेके बाद पहले 'देव' पद द्वारा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता आचार्य पूज्य-पादका उल्लेख किया है और इसके बाद रत्नकरण्डकके कर्ताका स्मरण करते हुए उन्हें 'योगीन्द्र' नामसे सम्बो-धित किया है। डॉ० साहब का खयाल है कि ये 'योगीन्द्र' स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न होने चाहिए जो कि आचार्य पूज्यपादके बादके प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमे आचार्य पूज्यपादके बाद आचार्य योगीन्द्रका स्मरण किया है और उन्हे रत्नकरण्डकका निर्माता कहा है। इसकी पुष्टिमे उन्होने और भी कई प्रमाण दिये हैं, पर उनमे मुख्य प्रमाण यही है।

स्व० श्री प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले सटीक रत्न-करण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामे रत्नकरण्डककी अन्त परीक्षा करके यह सम्भावना प्रकट की है कि जिस रूपमे इस समय वह उपलब्ध होता है वह उसका मूलरूप नहीं है। लिपिकारो और टिप्पणकारोकी असाव-धानी वश कई प्रक्षिप्त श्लोक मूलके अग बन गये हैं[2]। हमारा अनुमान है कि अष्ट मूलगुणोका प्रतिपादक यह श्लोक भी इसी प्रकार मूलका अग बना है। यद्यपि मुख्तार साहब आठ मूलगुणोंके प्रतिपादक श्लोकको प्रक्षिप्त नहीं मानते। उन्होने इसका कोई खास कारण तो नही दिया। केवल उपसहार करते हुए इतना ही

---

1 देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित पार्श्वनाथचरित, सर्ग 1, श्लोक 17, 18 और 19।

2. देखो, प्रस्तावना पृष्ठ 15 से पृष्ठ 53 तक।

कहा है कि 'इसके न रहनेसे अथवा यों कहिए कि श्रावकाचार विषयक ग्रन्थमें श्रावकोंके मूलगुणोंका उल्लेख न होनेसे, ग्रन्थमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिसकी स्वामी समन्तभद्र जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी[1]।'

हम यह तो मानते हैं कि केवल वादिराजसूरिके उल्लेखके आधारसे यह तो नहीं माना जा सकता कि रत्नकरण्डक स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है, क्योंकि उन्होंने आचार्योंका उल्लेख सर्वथा कालक्रमके आधारसे नहीं किया है। यथा—वे अध्याय 1 श्लोक 20 में अकलंकका उल्लेख करनेके बाद 22वें श्लोकमें सन्मतितर्कके कर्ताका स्मरण करते हैं। यह भी सम्भव है कि किसी लिपिकारकी असावधानीवश रत्नकरण्डक का उल्लेख करनेवाला पार्श्वनाथचरितका 'त्यागी स एव योगीन्द्रः' श्लोक 'अचिन्त्यमहिमा देवः' इस श्लोकके बाद लिपिबद्ध हो गया हो। मुद्रित प्रतिमें ये श्लोक इस रूपमें पाये जाते हैं।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥ 1, 17 ॥
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥ 1, 18 ॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥ 1, 19 ॥

किन्तु इनमेंसे 19 संख्याकवाले श्लोकको 17 संख्याकवाले श्लोकके बाद पढ़ने पर '**त्यागी स एव योगीन्द्रो**' इस पद द्वारा स्वामी समन्तभद्रका ही बोध होता है और सम्भव है कि वादिराजसूरिने रत्नकरण्डक का कर्तृत्व प्रकट करनेके अभिप्रायसे पुनः यह श्लोक कहा हो। किन्तु दूसरे प्रमाणोंके प्रकाशमें इस सम्भावना द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रकर्तृक मान लेनेपर भी उसमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख अवश्य ही विचारणीय हो जाता है। इस विषयमें हमारा तो खयाल है कि जिस कालमें श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किए गये और इस आधारसे श्रावकाचार के प्रतिपादन करनेका प्रारम्भ हुआ उसी कालसे आठ मूलगुणोंका वर्गीकरण हो कर उन्हें श्रावकाचारोंमें स्थान मिला है। रत्नकरण्डकमें कुछ ऐसे बीज हैं जिनसे उसका संकलन दूसरे श्रावकाचारोंमें हुए विकास क्रमके बहुत पहलेका माना जा सकता है। अतएव सम्भव है कि रत्नकरण्डकमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख प्रक्षिप्त हो। रत्नकरण्डकमें जिस स्थानपर यह आठ मूलगुणोंका प्रतिपादक श्लोक संकलित है उसे देखते हुए तो यह सम्भावना और भी अधिक बढ़ जाती है। इसके पहले स्वामी समन्तभद्र अतीचारोंके साथ पाँच अणुव्रतोंका कथन कर आये हैं और आगे वे सात शीलव्रतोंका अतीचारोंके साथ कथन करनेवाले हैं। इनके बीचमें यह श्लोक आया है जो अप्रासंगिक है।

युक्त्यनुशासन—स्वामी समन्तभद्रकी रत्नकरण्डकके समान अन्यतम अमर कृति उनका युक्त्यनुशासन है। इसमें वीर जिनकी स्तुति करते हुए युक्तिपूर्वक उनके शासनकी स्थापना की गयी है। इसके एक स्थलपर वे कहते हैं कि जो शीर्षोपहार आदिके द्वारा देवकी आराधना कर सुख चाहते हैं और सिद्धि मानते हैं उनके आप गुरु नहीं हो। श्लोक इस प्रकार है—

'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।
सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥'

अब इसके प्रकाशमें सर्वार्थसिद्धिके इस स्थलको पढ़िए—

तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोपहारदेवताराधनादयो निवर्तिता भवन्ति। अ० 9, सू० 2 की टीका।

इस तुलनासे विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादके समक्ष युक्त्यनुशासनका उक्त वचन उपस्थित था।

---

1. देखो प्रस्तावना पृ० 32।

द्वात्रिंशतका—आचार्य पूज्यपादके पूर्व और स्वामी समन्तभद्रके बाद विक्रमकी पाँचवी छठवी शताब्दी के मध्यमे[1] सिद्धसेन दिवाकर एक बहुत बड़े आचार्य हो गये हैं जिनका उल्लेख दिगम्बर आचार्योंने बड़े आदरके साथ किया है[2]। इनके द्वारा रचित सन्मतितर्क ग्रन्थ प्रसिद्ध है। अनेक द्वात्रिंशतकाओंके रचयिता भी यही माने जाते हैं[3]। आचार्य पूज्यपादने अध्याय 7 सूत्र 13 की सर्वार्थसिद्धि टीकामे 'वियोजयति चासुभिः' यह पद उद्धृत किया है जो इनकी सिद्धद्वात्रिंशतकासे लिया गया जान पड़ता है।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धिमे कुछ ऐसी गाथाएँ, पद्य और वाक्य उद्धृत हैं जिनमेसे कुछके स्रोतका हम अभी तक ठीक तरहसे निर्णय नही कर सके हैं और कुछ ऐसे हैं जो सर्वार्थसिद्धिके बादमे सकलित हुए या रचे गये ग्रन्थोंमे उपलब्ध होते हैं। यहाँ हमने उन्ही ग्रन्थोका परिचय दिया है जो निश्चयत आचार्य पूज्यपाद के सामने रहे हैं।

मंगलाचरण—सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमे यह मगल श्लोक आता है—

'मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातार विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥'

यहाँ विचार इस बातका करना है कि यह मगल श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका अग है या सर्वार्थसिद्धि का। प्राय सब विद्वानोंका मत इसे तत्त्वार्थसूत्रका अग माननेके पक्षमे है। वे इसके समर्थनमे इन हेतुओंको उपस्थित करते हैं—

एक तो तत्त्वार्थसूत्रकी हस्तलिखित अधिकतर जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती है उनके प्रारम्भमे यह मगल श्लोक उपलब्ध होता है और दूसरे आचार्य विद्यानन्दने अपनी आप्तपरीक्षामे इसे सूत्रकारका कहकर इसका उल्लेख किया है। यथा—

'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते।'

आचार्य विद्यानन्द इतना ही कहकर नही रह गये। वे आप्तपरीक्षा का उपसहार करते हुए पुन कहते है—

'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृत यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमान प्रथितपृथुपथ स्वामिमीमासित तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै' ॥ 123 ॥

प्रकृष्ट रत्नोके उद्भवके स्थानभूत श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रकी रचनाके आरम्भ कालमें महान् मोक्षपथको प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्रको शास्त्रकारोंने समस्त कर्ममलको भेदन करनेके अभिप्रायसे रचा है और जिसकी स्वामीने मीमासा की है उसी स्तोत्रका सत्य वाक्यार्थकी सिद्धिके लिए विद्यानन्दने अपनी शक्तिके अनुसार किसी प्रकार निरूपण किया है।

इसी बातको उन्होने इन शब्दोमे पुन. दुहराया है—

'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेय विवादविनिवृत्तये' ॥ 124 ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रके प्रारम्भमे मुनीन्द्रके स्तोत्रकी विषयभूत यह आप्तपरीक्षा विवादको दूर करने के लिए रची गयी है।

आप्तपरीक्षाके ये उल्लेख असदिग्ध है। इनसे विदित होता है कि आचार्य विद्यानन्द उक्त मंगल श्लोक को तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका मानते हैं।

---

1. देखो भारतीय विद्या भाग 3, पृष्ठ 11। 2 देखो जिनसेनका महापुराण। 3 देखो पुरातन जैन वाक्यसूची, प्रस्तावना पृ० 132।

किन्तु इस मगल श्लोकके रचयिता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ नही हैं इसके समर्थनमे ये युक्तियाँ उपस्थित की जाती है—

1 यदि इस मगल श्लोकके रचयिता तत्त्वार्थसूत्रके निर्माता स्वय गृद्धपृच्छ आचार्य होते और तत्त्वार्थसूत्रके साथ यह मगल श्लोक आचार्य पूज्यपादको उपलब्ध हुआ होता तो वे इसपर अपनी व्याख्या अवश्य लिखते। उसे बिना व्याख्याके वे सर्वार्थसिद्धिका अग न बनाते।

2 आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिकी प्रारम्भिक उत्थानिका द्वारा यह स्पष्टत सूचित करते हैं कि किसी भव्यके अनुरोधपर आचार्य गृद्धपिच्छके मुख से सर्वप्रथम 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.' यह सूत्र प्रकट हुआ। इससे विदित होता है कि उन्हें मगलाचरण करनेका प्रसग ही उपस्थित नही हुआ।

3 तत्त्वार्थवार्तिककार भट्ट अकलकदेव भी इस मगल श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका अग नही मानते। अन्यथा वे इसकी व्याख्या अवश्य करते और उस उत्थानिकाको स्वीकार न करते जिसका निर्देश आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमे किया है। तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकारकी दृष्टिसे आचार्य विद्यानन्दकी स्थिति भट्ट अकलकदेवसे भिन्न नही है। उन्होने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे इस मगल श्लोकको व्याख्या नहीं की है। इतना ही नही इन दोनो आचार्योने अपने भाष्यग्रन्थोके प्रारम्भमे उसका सकलन भी नही किया है।

ये दो मत हैं जो किसी एक निर्णयपर पहुँचनेमे सहायता नही करते। फिर भी हम प्रथम मतके आधारोंको अधिक तथ्यपूर्ण मानते हैं क्योकि आजसे लगभग एक हजार वर्षके पूर्व भी जब मगल-श्लोक तत्त्वार्थसूत्रकारका माना जाता रहा है तो उस पर सन्देह करना अप्रासगिक प्रतीत होता है।

3. तत्त्वार्थसूत्रकार

पुरानी परम्परा—शास्त्रकी प्रमाणता और अप्रमाणताका प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीनकालमे सभी शास्त्रकार शास्त्रके प्रारम्भमे या अन्तमे अपने नाम, कुल, जाति, वास्तव्यस्थान आदिका उल्लेख नही करते थे, क्योकि वे उस शास्त्रका अपनेको प्रणेता नही मानते थे। उनका मुख्य कार्य परम्परासे प्राप्त भगवान्‌की द्वादशाग वाणीको सक्षिप्त, विस्तृत या भाषान्तरित कर संकलित कर देना मात्र होता था। वे यह अच्छी तरहसे जानते थे कि किसी शास्त्रके साथ अपना नाम आदि देनेसे उसकी सर्वग्राह्यता या प्रामाणिकता नहीं बढती। अधिकतर शास्त्रोमे स्थल-स्थलपर जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है[1], यह जिनदेवका उपदेश है[2], सर्वज्ञदेवने जिस प्रकार कहा है उस प्रकार हम कहते है[3], इन वचनोके उल्लेखके साथ उनका प्रतिपाद्य विषय चर्चित होता है। यह क्यो ? इसलिए कि जिससे यह बोध हो कि यह किसी व्यक्ति-विशेषका अभिप्राय न होकर सर्वज्ञदेवकी वाणी या उसका सार है। वस्तुत किसी शास्त्रके अर्थोपदेष्टा छद्मस्थ न होकर वीतराग सर्वज्ञ होते है। छद्मस्थ गणधर तो उनके अर्थोपदेशको सुनकर उनकी वाणीका ग्रन्थरूपमे सकलनमात्र करते हैं[4]। यही सकलन परम्परासे आकर नाना आचार्योके ज्ञानका विषय होकर अनेक प्रकीर्णक शास्त्रोंको जन्म देता है[5]। पूर्वकालीन आचार्य इस तथ्यको उत्तम रीतिसे समझते थे और इसलिए वे नाम रूपके व्यामोहसे मुक्त रहकर द्वादशागवाणीके सकलनमे लगे रहते थे। आचार्य पुष्पदन्त, आचार्य भूतवलि, आचार्य गुणधर, आचार्य यतिवृषभ, आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य पूज्यपाद प्रभृति ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने इस मार्गका अनुसरण किया है और भगवान् तीर्थंकरकी वाणीका सकलन कर उसे लोककल्याणके हेतु अर्पित किया है। इतना ही क्यो, आचार्य गृद्धपृच्छ भी उन्हीमे एक हैं जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र जैसे ग्रन्थरत्नको अवशिष्ट समग्र श्रुतके आधारसे सकलन कर नाम प्रख्यापनके

1 'भणियो खलु सव्वदरसीहिं' समयप्राभृत, गाथा 70। 2 'एसो जिणोवदेसो' समयप्राभृत, गाथा 150। 3 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय। सो तह कहिय णायसीसेण य भद्दबाहुस्स॥' बोधपाहुड, गाथा 61। 4 'तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहि गुथिय सम्म।' भावपाहुड, गाथा 92। 5 देखो सर्वा०, अ० 1, सू० 20।

व्यामोहसे अपनेको मुक्त रखा है। प्राचीन कालमे यह परिपाटी जितनी अधिक व्यापक थी, श्रुतधर आचार्यों-का उसके प्रति उतना ही अधिक आदर था।

आज श्रुतधर आदि अनेक आचार्योंके जीवन परिचय और उनके कार्योंके तथ्यपूर्ण इतिहासको सकलित करनेमे जो कठिनाई आती है उसका कारण यही है। इसे हम कठिनाई शब्दसे इस अर्थमे पुकारते हैं, क्योंकि यह काल ऐतिहासिक तथ्योंके सकलनका होनेसे इस बातपर अधिक बल दिया जाता है कि कौन आचार्य किस कालमे हुए हैं, उनका गार्हस्थिक जीवन क्या था और उनके उल्लेखनीय कार्य कौन-कौनसे हैं आदि।

प्रकृतमे हमे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके सम्बन्धमे विचार करना है। तत्त्वार्थसूत्रका सकलन आगमिक दृष्टिसे जितना अधिक सुन्दर और आकर्षक हुआ है उसके रचयिताके विषयमे उतना ही अधिक विवाद है। जैनसघकी कालान्तरमे हुई दोनो परम्पराओके कारण इस विवादको और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है। पहला विवाद तो रचयिताके नामादिके विषयमे है और दूसरा विवाद उनके अस्तित्व कालके विषयमे है। यहाँ हम सर्वप्रथम उन अभ्रान्त प्रमाणोंको उपस्थित करेंगे जिनसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके निर्णय करनेमे सहायता मिलती है और इसके बाद विवादके कारणभूत तथ्योंपर प्रकाश डालेंगे।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ—यह तो हम आगे चल कर देखेंगे कि आचार्य पूज्यपादने विविध विषयोपर विशाल साहित्य लिखा है। फिर भी उन्होंने कही भी अपने नामका उल्लेख नही किया है। इतना ही नही, वे तत्त्वार्थसूत्रपर अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका लिखते समय भी इसी मार्गका अनुसरण करते हैं। वे इसकी उत्थानिकामे यहाँ तक तो निर्देश करते हैं कि कोई भव्य किसी आश्रममे मुनियोंकी सभामे बैठे हुए आचार्यवर्यके समीप जाकर विनय सहित प्रश्न करता है और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी रचना होती है। फिर भी वे उन आचार्य आदिके नामादिकके विषयमे मौन रहते हैं। क्यो? हमे तो इस उपाख्यानसे यही विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादको परम्परासे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आदिके विषयकी तथ्यभूत जानकारी होते हुए भी स्वकर्तृत्व की भावनाका परिहार करनेके अभिप्रायसे वे नामादिकके उल्लेखके पचडे मे नही पड़े। भट्ट अकलकदेवने भी इसी मार्गका अनुसरण किया है। वे भी तत्त्वार्थवार्तिकके प्रारम्भमे उसी उत्थानिकाको स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमे आचार्य पूज्यपादने किया है। इसलिए इन उल्लेखोंसे इस तथ्यपर पहुँचने पर भी कि इन आचार्योंको तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके नामादिककी कुछ कुछ जानकारी अवश्य रही है, इससे इस बातका पता नही लगता कि आखिर वे आचार्य कौन थे जिन्होंने भव्य जीवोंके [illegible] यह महान् प्रयास किया है।

हम समझते हैं कि भारतीय परम्परामे मुख्यत जैन परम्परामे नामादिके उल्लेख न करनेकी या परिपाटी विक्रम चौथी, पाँचवी शती तक बराबर चलती रही है। और कुछ आचार्योंने इसे उसके बाद भी अपनाया है। इसके बाद कई कारणोसे इस नीतिमे परिवर्तन होने लगता है और [illegible] ग्रन्थके प्रारम्भमे या अन्तमे अपने नामादिका उल्लेख करने लगते हैं। इतना ही नही वे अन्य प्रकरणमे अपने पूर्ववर्ती [illegible]कारोंका भी उल्लेख करने लगते हैं। अतएव हमे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका ठीक तरहसे निर्णय करनेके लिए उत्तरकालवर्ती साहित्यका ही आलोडन करना होगा। अत आइए पहले उत्तरकालवर्ती उन [illegible] प्रमाणों-को देखें जो इस विषयपर प्रकाश डालते हैं—

1. श्रुतधर आचार्योंकी परम्परामे आचार्य वीरसेन महान् टीकाकार हो गये हैं। [illegible] गमपर प्रसिद्ध धवला टीका शक सवत् 738 मे पूरी की थी। उनकी यह टीका अनेक उल्लेखों और [illegible] तथ्योको लिये हुए है। तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रोको उन्होंने इस टीकामे उद्धृत किया है। [illegible] जीवस्थान काल अनुयोगद्वारमे तो तत्त्वार्थसूत्रकारके नामोल्लेखके साथ भी [illegible] करते हैं। वे कहते हैं—

'तह गिद्धपिछाइरियप्पयासिदतच्चत्यसुत्ते वि वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य इदि दव्व-कालो परूविदो।' मुद्रित पृष्ठ 316।

पण्डितजीका तर्क है कि पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगम भाष्य या मोक्षमार्गोपदेशक सूत्र सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत है इस वस्तुको सिद्ध करनेवाली अनुमान चर्चामें आया है। इस अनुमान चर्चामें मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीतत्व यह साध्य है और सूत्रत्व यह हेतु है। इस हेतुमें व्यभिचार दोषका निरसन करते हुए विद्यानन्दने 'एतेन' इत्यादि कथन किया है। व्यभिचार दोष पक्ष से भिन्न स्थलमें सम्भवित होता है। पक्ष तो मोक्षमार्गविषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्र ही है इससे व्यभिचार का विषयभूत माना जानेवाला गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनियोंका सूत्र यह विद्यानन्दकी दृष्टिमें उमास्वातिके पक्षभूत मोक्षमार्गविषयक प्रथम सूत्रसे भिन्न ही होना चाहिए, यह बात न्यायविद्याके अभ्यासीको शायद ही समझानी पड़े ऐसी है।

पण्डितजी के इस तर्काश्रित वक्तव्यका सार इतना ही है कि आचार्य विद्यानन्दने व्यभिचार जिस गृद्ध-पिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रका उल्लेख किया है। वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे भिन्न ही है।

जहाँ तक पण्डितजीका यह वक्तव्य है उसमें हमें अप्रामाणिकताका दोषारोप नहीं करना है, किन्तु पण्डितजी यदि उक्त अनुमान प्रसंगसे आचार्य विद्यानन्दके द्वारा उठाये गये अवान्तर प्रसंग पर दृष्टिपात करते तो हमारा विश्वास है कि वे गृद्धपिच्छ आचार्यके सूत्रसे तथाकथित उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रको भिन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करते।

आचार्य विद्यानन्द द्वारा उठाया गया वह अवान्तर प्रसंग है गणाधिप, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वीके सूत्र वचनको स्वरचित मानकर व्यभिचारदोषका उद्भावन। स्पष्ट है कि इसमें इस अभिप्राय-से गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र भी गर्भित है, क्योंकि यहाँपर वह स्वकर्तृकरूपसे सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत सूत्रसे कथञ्चित् (कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य है इस दृष्टिसे) भिन्न मान लिया गया है। प्रकृतमें इस विषयको इन शब्दों द्वारा स्पष्ट करना विशेष उपयुक्त होगा। प्रस्तुत अनुमानमें प्रकृत सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीतत्व साध्य है, सूत्रत्व हेतु है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत शेष सूत्र सपक्ष है और बृहस्पति आदिका सूत्र विपक्ष है। इस अनुमान द्वारा तत्त्वार्थसूत्रको सूत्रत्व हेतु द्वारा सर्वज्ञ वीतरागकर्तृक सिद्ध किया गया है। इससे सिद्ध है कि यहाँ आचार्य विद्यानन्द तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकर्तृक मानकर सूत्र सिद्ध नहीं कर रहे हैं। सूत्रत्वकी दृष्टिसे, यह गृद्धपिच्छाचार्य रचित है इस बातको, वे भूल जाते हैं। वे कहते हैं कि यह सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत है, इसलिए सूत्र है।

फिर भी यदि कोई यह कहे कि यह तत्त्वार्थसूत्र सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत न होकर गृद्धपिच्छाचार्य रचित

---

1 देखो न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी द्वारा सम्पादित और वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित आप्त-परीक्षाकी प्रस्तावना पृष्ठ 50।

है तो ऐसी अवस्थामे सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत तत्त्वार्थसूत्रसे कथञ्चित् भिन्न गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र पूर्वके अनुमानमे सपक्षभूत गणधरादि रचित सूत्रोके समान विपक्ष कोटि मे चला जायेगा और इसमे सूत्रत्व हेतुके स्वीकार करनेसे हेतु व्यभिचरित हो जायेगा। आचार्य विद्यानन्दने इसी व्यभिचार दोषका उपस्थापन कर उसका वारण करते हुए फलिताशके साथ यह समग्र वचन कहा है—

'गणाधिपप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवल्यभिन्नदशपूर्वधरसूत्रेण स्वयसंमतेन व्यभिचार इति चेत् ? न, तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितमिति वचनात्। एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनि-सूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।'

यहाँ स्वनिर्मित मानकर गणाधिप प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वीके सूत्रके साथ व्यभिचार दिखाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत माननेपर भी यह व्यभिचार दोष आता है, क्योकि पूर्वोक्त अनुमानमे साध्य गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र न होकर सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र साध्य है। इसलिए गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र साध्यविरुद्ध होनेसे विपक्ष ठहरता है। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र एक है, दो नही पर कर्ताके भेदसे वे दो उपचरित कर लिये गये हैं। एक वह जो सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत है और दूसरा वह जो गृद्धपिच्छाचार्यप्रणीत है। इसलिए जिस प्रकार गणाधिप आदिके सूत्रके साथ आनेवाले व्यभिचार दोषका वारण करना इष्ट था उसी प्रकार केवल गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत माननेसे जो व्यभिचार दोष आता था उनका वारण करना भी आवश्यक था और इसीलिए 'एतेन' इत्यादि वाक्य द्वारा उस दोषका वारण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य विद्यानन्द भी वीरसेनस्वामीके समान इसी मतके अनुसर्ता प्रतीत होते है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छाचार्य ही हैं। थोडी देरको यदि इस तर्काश्रित पद्धतिको छोड भी दिया जाये और पण्डितजीके मतको ही मुख्यता दी जाये तब भी आचार्य विद्यानन्द 'एतेन' इत्यादि वाक्य द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छको ही सूचित कर रहे है इस मतके माननेमे कोई बाधा नही आती, क्योकि आचार्य विद्यानन्दने पूर्वोक्त अनुमान द्वारा गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रको तो सूत्र सिद्ध कर ही दिया था, किन्तु इससे पूर्ववर्ती अन्य आचार्योकी रचनाको सूत्र सिद्ध करना फिर भी शेष था जिसे उन्होने गृद्ध-पिच्छाचार्यपर्यन्त अर्थात् गृद्धपिच्छाचार्य हैं अन्तमे जिनके ऐसे अन्य गणाधिप आदि मुनिसूत्रके साथ आनेवाले व्यभिचारका वारण कर सूत्र सिद्ध कर दिया है। यहाँ अतद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि समास है, अत यह अभि-प्राय फलित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि गृद्धपिच्छाचार्यका कोई सूत्रग्रन्थ है इसे तो प० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। उन्हे केवल प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्रको उनका माननेमे विवाद है। किन्तु अन्य ऐतिहासिक तथ्योसे जब वे तत्त्वार्थ-सूत्रके कर्ता सिद्ध होते है ऐसी अवस्थामे आचार्य विद्यानन्दके उक्त वाक्यका वही अर्थ सगत प्रतीत होता है जो हमने किया है।

3 आचार्य गृद्धपिच्छका बहुमानके साथ उल्लेख वादिराजसूरिने भी अपने पार्श्वनाथचरितमे किया है। सम्भवत ये वही वादिराजसूरि हैं जिन्होने पार्श्वनाथचरितके साथ प्रमाणनिर्णय, एकीभावस्तोत्र, यशोधर-चरित, काकुस्थचरित और न्यायविनिश्चयविवरण लिखा है। इनके विषयमे कहा जाता है—

'वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंह'।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः।"

वे पार्श्वनाथचरितमे आचार्य गृद्धपिच्छका इन शब्दो द्वारा उल्लेख करते हैं—

"अतुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः।"

उन महान् गुणोंके आकर गृद्धपिच्छको मैं नमस्कार करता हूँ जो निर्वाणको उड़कर पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले भव्योंके लिए पखोंका काम देते हैं।

यद्यपि वादिराजसूरिने यहाँपर आचार्य गृद्धपिच्छके किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नही किया है तथापि यहाँ वे उन्ही शास्त्रकारोंका स्मरण कर रहे हैं जिन्होने मोक्षमार्गोपयोगी साहित्यकी सृष्टि कर ससारका हित किया है। वादिराजसूरिकी दृष्टिमे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ उनमे सर्वप्रथम हैं।

इनमेंसे प्रथम दो उल्लेख विक्रमकी नौवी शताब्दी के और अन्तिम उल्लेख ग्यारहवी शताब्दीका है। इससे मालूम पडता है कि इस काल तक जैन परम्परामे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं एकमात्र यही मान्यता प्रचलित थी।

अन्य मत—किन्तु इस मतके विरुद्ध तीन चार मत और मिलते हैं जिनकी यहाँ चर्चा कर लेना प्रासंगिक है।

1 श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे एक प्रशस्ति उपलब्ध होती है। उसमे कहा गया है कि 'जिनके दीक्षा गुरु ग्यारह अगके धारक घोषनन्दि क्षमण थे और प्रगुरु वाचकमुख्य शिवश्री थे, वाचनाकी अपेक्षा जिनके गुरु मूल नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक मुण्डपाद थे, जो गोत्रसे कौभीषणि थे और जो स्वाति पिता और वात्सी माताके पुत्र थे, जिनका जन्म न्यग्रोधिकामे हुआ था और जो उच्चानागर शाखाके थे, उन उमास्वाति वाचकने गुरुपरम्परासे प्राप्त हुए श्रेष्ठ अर्हद्वचनको भली प्रकार धारण करके तथा दुरागम द्वारा हतबुद्धि दु खित लोकको देखकर प्राणियोंकी अनुकम्पावश यह तत्त्वार्थाधिगम नामका शास्त्र विहार करते हुए कुसुमपुर नामके महानगरमे रचा है। जो इस तत्त्वार्थाधिगमको जानेगा और उसमे कथित मार्गका अनुसरण करेगा वह अव्याबाध सुख नामके परमार्थको शीघ्र ही प्राप्त करेगा[1]।'

इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्यके प्रारम्भमे जो 31 उत्थानिका कारिकाएँ उपलब्ध होती हैं उनमेसे 22वी कारिकामे कहा गया है कि 'अर्हद्वचनके एकदेशके सग्रहरूप और बहुत अर्थवाले इस तत्त्वार्थाधिगम नामवाले लघु ग्रन्थको मैं शिष्योंके हितार्थ कहता हूँ।'

प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी उत्थानिकाकी इस कारिका और अन्तिम प्रशस्तिको विशेष महत्त्व देते हैं[2]। वे इन्हें मूल सूत्रकारकी मानकर चलते हैं।

इसके सिवा उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार इनको अभिन्न सिद्ध करनेके लिए दो युक्तियाँ और दी हैं—

(क) प्रारम्भिक कारिकाओमे और कुछ स्थानोपर भाष्यमे भी 'वक्ष्यामि', 'वक्ष्याम.' आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है और इस निर्देशमे की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार ही बादमे सूत्रमे कथन किया गया है; इससे सूत्र और भाष्य दोनोंको एककी कृति माननेमे सन्देह नही रहता।

(ख) शुरूसे अन्ततक भाष्यको देख जानेपर एक बात मनमे बैठती है और वह यह है कि किसी भी स्थलपर सूत्रका अर्थ करनेमे शब्दोकी खीचातानी नही हुई, कही भी सूत्रका अर्थ करनेमे सन्देह या विकल्प करनेमें नहीं आया, इसी प्रकार सूत्रकी किसी दूसरी व्याख्याको मनमे रखकर सूत्रका अर्थ नही किया गया और न कहीं सूत्रके पाठभेदका ही अवलम्बन लिया गया है।[3]

2 प० नाथूरामजी प्रेमीका लगभग यही मत है। इस विषयका उनका अन्तिम लेख भारतीय विद्याके तृतीय भागमें प्रकाशित हुआ है। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यको अभिन्नकर्तृक सिद्ध करते समय प० सुखलालजीकी उक्त तीनो युक्तियोको ही कुछ शब्दोके हेरफेरके साथ उपस्थित किया है। मात्र इन दोनो

---

1. देखो तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे पायी जानेवाली प्रशस्ति। 2. देखो उनके द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना। 3 प० सुखलालजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पृष्ठ 21।

विद्वानोंके मतोमे यदि कुछ अन्तर प्रतीत होता है तो इतना ही कि प० सुखलालजी वाचक उमास्वातिको सवस्त्र श्वेताम्बरपरम्पराका और प्रेमीजी यापनीय परम्पराका मानते हैं।

3 श्रवणबेलगोलाके चन्द्रगिरि पर्वतपर कुछ ऐसे शिलालेख पाये जाते हैं जिनमे गृद्धपिच्छ उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है। इन शिलालेखोंमे से 40, 42, 43, 47 और 50वें शिलालेखोंमे गृद्धपिच्छ विशेषणके साथ मात्र उमास्वातिका उल्लेख है और 105 व 108वें शिलालेखोमे उन्हें तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है। ये दोनो शिलालेख डॉ० हीरालालजीके मतानुसार[1] क्रमश शक स० 1320 और शक सं० 1355 के माने जाते हैं। शिलालेख 155 का उद्धरण इस प्रकार है—

'श्रीमानुमास्वातिरय यतीशस्तत्त्वार्थसूत्र प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥15॥
तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छद्वितीयसञ्ज्ञस्य बलाकपिच्छः।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यङ्गनामोहनमण्डनानि ॥16॥'

यतियोके अधिपति श्रीमान् उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रको प्रकट किया जो मोक्षमार्गके आचरणमें उद्यत हुए प्रजा जनो के लिए उत्कृष्ट पाथेयका काम देता है। गृद्धपिच्छ है दूसरा नाम जिनका ऐसे उन्हीं उमास्वातिके एक शिष्य बलाकपिच्छ थे। जिनके सूक्तिरत्न मुक्त्यगनाके मोहन करने के लिए आभूषणोंका काम देते हैं।

शिलालेख 108 मे इसी बातको इस प्रकार लिपिबद्ध किया गया है—

'अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥11॥'
'स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥22॥'

तत्त्वार्थसूत्रपर विभिन्न समयोमे छोटी-बडी टीकाएँ तो अनेक लिखी गयी हैं, पर उनमेसे विक्रमकी 13वी शतीके विद्वान् बालचन्द्र[2] मुनिकी बनायी हुई एक ही कनडी टीका है जिसमे उमास्वाति नामके साथ गृद्धपिच्छाचार्य नाम भी दिया है।

4. प० जुगलकिशोरजी मुख्तार कर्ता विषयक इसी मतको प्रमाण मानकर चलते हैं। उन्होंने गृद्धपिच्छको उमास्वातिका ही नामान्तर कहा है।[3]

5 दिगम्बर परम्परामे मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके अन्तमे एक श्लोक आया है—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥'

इसमे गृद्धपिच्छसे उपलक्षित उमास्वामी मुनीश्वरको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता बतलाकर उन्हें गणीन्द्र कहा गया है।

6 नगर ताल्लुकेके एक शिलालेखमे यह उल्लेख उपलब्ध होता है—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥'

इसमे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम उमास्वाति बतलाया है और उन्हें श्रुतकेवलिदेशीय तथा गुणमन्दिर कहा गया है।

7 आचार्य कुन्दकुन्दने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है ऐसा भी उल्लेख देखनेमे आता है जो तत्त्वार्थ-

---

1 देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित शिला-लेख सग्रह, भाग 1। 2 देखो प० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ० 16। 3. देखो मा० ग्र० से प्रकाशित रत्नकरण्डक की प्रस्तावना, पृष्ठ 145।

सूत्रकी अन्यतम टीका अर्हत्सूत्रवृत्तिका है। तत्त्वार्थसूत्रके एक श्वेताम्बर टिप्पणकार भी इस मतसे परिचित थे, उन्होंने अपने टिप्पणमे इस मतका उल्लेख कर अपने सम्प्रदायको सावधान करनेका प्रयत्न किया है।[1]

समीक्षा—इस प्रकार ये सात अन्य मत हैं जिनमे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता कौन हैं इस बातका विचार किया गया है। इनमेसे प्रारम्भ के श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्यके उल्लेखको छोडकर शेष सब उल्लेख लगभग 13वी शताब्दीसे पूर्वके नही हैं और मुख्यतया वे गृद्धपिच्छ और उमास्वाति इन दो नामोकी ओर ही किसी रूपमे सकेत करते हैं।[2] एक अन्तिम मत कि 'आचार्य कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं' अवश्य ही विलक्षण लगता है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दकी गृद्धपिच्छ इस नामसे ख्याति होनेके कारण ही यह मत प्रसिद्धिमे आया है ऐसा प्रतीत होता है।[3] मुख्य मत दो ही है जो यहाँ विचारणीय हैं। प्रथम यह कि आचार्य गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं और दूसरा यह कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है।

साधारणत हम पहले 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामके विषयमे विचार करते हुए 'सूत्रपाठोमे मतभेद' प्रकरणको लिखते हुए और 'पौर्वापर्यविचार' प्रकरण द्वारा सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थभाष्य की तुलना करते हुए कई महत्त्वपूर्ण बातोपर प्रकाश डाल आये हैं जिनका साराश इस प्रकार है—

1 वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रकी रचना की थी। किन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न हो कर तत्त्वार्थभाष्यका है।

2. सूत्रपाठोमे मतभेदका उल्लेख करते समय यह सिद्ध करके बतलाया गया है कि यदि तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यके कर्ता एक ही व्यक्ति होते और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको समझते होते तो श्वेताम्बर सूत्रपाठमे जितना अधिक मतभेद उपलब्ध होता है वह नही होना चाहिए था।

3 सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यका विचार करते समय हम बतला आये है कि वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्य लिखे जानेके पहले ही तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीका-टिप्पणियाँ प्रचलित हो गयी थीं। वहाँ हमने एक ऐसे सूत्रका भी उल्लेख किया है जो सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठसे सम्बन्ध रखता है और जिसे वाचक उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थभाष्यमे उद्धृत किया है। अर्थविकासकी दृष्टिसे विचार करते हुए इसी प्रकरणमे यह भी बतलाया गया है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यको सामने रख कर विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसे कई प्रसग हैं जो तत्त्वार्थभाष्यको सर्वार्थसिद्धिके बादकी रचना ठहराते हैं। और यह सिद्ध करते समय हमने एक उदाहरण यह भी दिया है कि कालके उपकार प्रकरणमे परत्वापरत्वके सर्वार्थसिद्धिमे केवल दो भेद किये गये हैं जब कि तत्त्वार्थभाष्यमे वे तीन उपलब्ध होते हैं।

इसलिए इन व दूसरे तथ्योसे यह स्पष्ट हो जानेपर भी कि वाचक उमास्वाति आद्य तत्त्वार्थसूत्रकार नही होने चाहिए, इस विषयके अन्तिम निर्णयके लिए कुछ अन्य बातो पर भी दृष्टिपात करना है।

किसी भी रचयिताके सम्प्रदाय आदिका निर्णय करनेके लिए उस द्वारा रचित शास्त्र ही मुख्य प्रमाण होता है। किसी भी शास्त्रमे कुछ ऐसे बीज होते हैं जो उस शास्त्रके रचनाकाल व शास्त्रकारके सम्प्रदाय आदिपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकारके समयादिका विचार करते समय प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीने भी इस सरणिको[4] अपनाया है। किन्तु वहाँ उन्होने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इन दोनोको एककर्तृक मानकर इस बातका विचार करनेका प्रयत्न किया है। इससे बहुत बडा घुटाला हुआ है। वस्तुत इस बातका विचार केवल तत्त्वार्थसूत्रको और उसमे भी तत्त्वार्थसूत्रके उन सूत्रोको सामने रखकर ही होना चाहिए जो तत्त्वार्थसूत्रमे दोनो सम्प्रदायोंको मान्य हों। इससे निष्पक्ष समीक्षा द्वारा किसी एक निर्णयपर पहुँचनेमे बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

---

1 प० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ० 17। 2 इसके लिए देखो हमारे द्वारा लिखे गये तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना। 3 देखो प्रवचनसारकी डॉ० ए० एन० उपाध्येकी भूमिका। 4 देखो प० सुखलालजी द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पृ० 8 आदि।

चार सूत्र— यह तो स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ हो जानेपर भी अधिकतर सूत्र ऐसे हैं जो दोनो सम्प्रदायोंको मान्य है और उनमे भी कुछ ऐसे सूत्र अपने मूलरूपमे रहे आये हैं जिनसे रचयिताकी स्थिति आदिपर प्रकाश पडता है। यहाँ हम इस विचारणामे ऐसे सूत्रोमेसे मुख्य चार सूत्रोको उपस्थित करते हैं— प्रथम तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारणो का प्रतिपादक सूत्र, दूसरा बाईस परीषहोका प्रतिपादक सूत्र, तीसरा केवली जिनके ग्यारह परीषहोके सद्भावका प्रतिपादक सूत्र और चौथा एक जीवके एक साथ कितने परीषह होते हैं इसका प्रतिपादक सूत्र।

1 तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कितने कारण है इसका उल्लेख दोनो परम्पराओके मूल आगम करते हैं। दिगम्बर परम्पराके बंधसामित्तविचयमे वे ही सोलह कारण उल्लिखित है जो लगभग तत्त्वार्थसूत्रमे उसी रूपमे स्वीकार किये गये हैं। तुलनाके लिए देखिए -

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥ —तत्त्वार्थसूत्र 6, 24।

दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खण-लवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधा थामे तधा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहि-संधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधति। —बंधसामित्तविचअ 7 सु० 41।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा 16 के स्थानोंमे 20 कारण स्वीकार करती है। वहाँ ज्ञातृधर्मकथा नामक अंगके आठवें अध्यायमे इन कारणोका निर्देश इन शब्दोमे किया है —

'अरहंत-सिद्ध-पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया य तेसिं अभिक्ख णाणोवओगे य ॥ 1 ॥
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयार।
खणलव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ 2 ॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
ए एहिं कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥ 3 ॥'

यहाँ तत्त्वार्थसूत्रकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम बात तो 16 संख्याका निर्देश और दूसरी बात शब्दसाम्य। इस विषयमे तत्त्वार्थसूत्रका उक्त सूत्र दिगम्बर परम्पराके जितने अधिक नजदीक है उतना श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नही है।

2 दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराएँ 22 परीषहोको स्वीकार करती हैं। तत्त्वार्थसूत्रमे इनका प्रतिपादन करनेवाला जो सूत्र है[1] उसमे एक परीषहका नाम 'नाग्न्य' है। देखना यह है कि यहाँ तत्त्वार्थ-सूत्रकारने नाग्न्य शब्दको ही क्यो स्वीकार किया है। क्या इस शब्दका स्वीकार श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार आगम सम्मत हो सकता है। श्वेताम्बर परम्पराके आगममें 'नाग्न्य' परीषहके स्थानमे सर्वत्र 'अचेल' परी-षहका उल्लेख मिलता है[2] जो उस सम्प्रदायके अनुरूप है, क्योंकि अचेल शब्दमें 'नञ्' समास होनेसे उस सम्प्रदायमे इस शब्दके 'वस्त्रका अभाव और अल्प वस्त्र' ये दोनो ही अर्थ फलित हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार 'नाग्न्य' शब्दसे इन दोनो अर्थोंको फलित नही किया जा सकता है। नग्न यह स्वतन्त्र शब्द है और इस शब्दका 'वस्त्रके आवरणसे रहित' एकमात्र यही अर्थ होता है। स्पष्ट है कि यह 22 परीषहोका प्रति-

---

1. देखो, अ० 9 सू० 9। 2 समवायाग समवाय 22 व भगवती सूत्र 8, 8।

पादन करनेवाला सूत्र भी जितना अधिक दिगम्बर परम्पराके नजदीक है उतना श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं है।

3. बाईस परीषहोंमेसे एक साथ एक जीवके कितने परीषह हो सकते हैं इसका विचार करते हुए श्वेताम्बर आगम साहित्य (व्याख्याप्रज्ञप्ति श० 8) मे बतलाया है कि सात और आठ प्रकारके कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवके 22 परीषह होते हैं। परन्तु ऐसा जीव एक साथ बीस परीषहोंका ही वेदन करता है। दो कौनसे परीषह कम हो जाते हैं इस बातका उल्लेख करते हुए वहाँ बतलाया है कि जिस समय वह जीव शीत परीषहका वेदन करता है उस समय वह उष्ण परीषहका वेदन नहीं करता और जिस समय उष्ण परीषहका वेदन करता है उस समय वह शीत परीषहका वेदन नही करता। इस प्रकार एक परीषह तो यह कम हो जाता है। तथा जिस समय चर्या परीषहका वेदन करता है उस समय निषद्यापरीषहका वेदन नही करता और जिस समय निषद्यापरीषहका वेदन करता है उस समय चर्या परीषहका वेदन नही करता। इस प्रकार एक परीषह यह कम हो जाता है। कुल बीस परीषह रहते हैं जिनका वेदन यह जीव एक साथ करता है।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमे परीषहोके एक साथ वेदन करनेकी अधिक-से-अधिक संख्या 19 निश्चित की गयी है।[1] यहाँ हमे युक्तिसगत क्या है इसका विचार नही करना है। बतलाना केवल इतना ही है कि तत्त्वार्थसूत्रकारका इस प्रकारका निर्देश भी श्वेताम्बर आगम परम्पराका अनुसरण नहीं करता।

4. 'जिन के ग्यारह परीषह होते हैं' इस सूत्रका विस्तारके साथ विचार हम 'पाठभेद और अर्थान्तरन्यास' प्रकरणमे[2] कर आये हैं। वहाँ हमने तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि परीषहो के प्रसंगसे सूत्रकारकी दृष्टि मुख्यतया अन्तरग कारणोके विवेचन करनेकी रही है। वे किस कर्मके उदयमे कितने परीषह होते हैं इतना कहकर अधिकारी भेदसे अलग-अलग परीषहोकी सख्याका निर्देश करते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अन्तरग कारणोंके अनुसार जहाँ जितने परीषहोका उल्लेख उन्होंने किया है वहाँ उतने परीषहोका सद्भाव वे नियमसे मानते ही हैं। उन्होने परीषह प्रकरणके अन्तिम सूत्रमे परीषहोका कार्यके अनुसार भी अलगसे विधान किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि कुल परीषह बाईस हैं तथापि एक जीवके एक साथ एकसे लेकर उन्नीस तक परीषह हो सकते हैं। स्पष्ट है कि इस अन्तिम सूत्रके प्रकाशमे यह अर्थ नही फलित किया जा सकता है कि जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकारने कर्मनिमित्तकी अपेक्षा कहाँ कितने परीषह होते हैं इस बातका विधान किया है उसी प्रकार उन्हे सर्वत्र उनका कार्य भी इष्ट है। इसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि अन्तरग कारणोके अनुसार सर्वत्र परीषहोकी सम्भावना स्वीकार कर लेने पर भी यदि उन परीषहोंके जो अन्य बाह्य निमित्त हैं वे नही मिलते तो एक भी परीषह नही होता। तभी तो सूत्रकार 1 परीषहसे लेकर 19 परीषह तक होने रूप विकल्पका कथन करते हैं। यथा किसी प्रमत्तसंयत साधुके सब कर्मोका उदय होनेसे सब परीषह सम्भव हैं पर उनके परीषहोके बाह्य निमित्त एक भी नही हैं तब उन्हें एक भी परीषहका वेदन न होगा, यदि एक परीषहका बाह्य निमित्त है तो एक परीषहका वेदन होगा और अधिक परीषहोके बाह्य निमित्त उपस्थित हैं तो अधिक परीषहोंका वेदन होगा। तात्पर्य यह है कि केवल अन्तरग कारणोके सद्भावसे परीषहोका वेदन कार्य नही माना जा सकता। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टि केवल अन्तरग कारणोंके सद्भावमे उनके कार्यको स्वीकार करने की नही है। उन्होने तो मात्र अन्तरंग कारणोकी दृष्टिसे जहाँ जिन परीषहोंके कारण मौजूद हैं वहाँ उनका उल्लेखमात्र किया है।

इस दृष्टिसे हमने श्वेताम्बर आगम साहित्यका आलोडन किया है। किन्तु वहाँ तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिसे सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनायी गयी प्रतीत होती है। वहाँ जहाँ जितने परीषह सम्भव हैं उनमेसे विरोधी परीषहोको छोड़कर सबके वेदन की बात स्वीकार की गयी है। वहाँ यह स्वीकार ही नहीं किया गया है कि

---

1. तत्त्वार्थसूत्र अ० 9, सू० 17। 2 देखो, पृ० 25 आदि।

कोई एकका वेदन करता है, कोई दो का और कोई अधिक-से-अधिक इतनेका वेदन करता है। वहाँ तो एक मात्र यही बतलाया गया है कि 'जो सात या आठ कर्मोका बन्ध करते हैं उनके सब परीषह सम्भव हैं, परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बीसका करते हैं। जो छह कर्मका बन्ध करते हैं उनके चौदह परीषह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बारहका करते हैं। जो वीतराग छद्मस्थ एक कर्मका बन्ध करते है उनके भी चौदह परीषह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बारहका ही करते हैं। जो एक कर्मका बन्ध करनेवाले सयोगी जिन हैं उनके परीषह तो ग्यारह सम्भव हैं, परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र नौ का करते हैं। तथा जो अबन्धक अयोगी जिन हैं उनके भी परीषह तो सयोगी जिनके समान ग्यारह ही सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र नौ का करते हैं[1]।

इसलिए यहाँ भी तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगम साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनसे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'एकादश जिने' सूत्रका विधान करते हुए भी तत्त्वार्थसूत्रकार जितने अधिक दिगम्बर परम्पराके नजदीक हैं उतने श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं हैं।

यह है तत्त्वार्थसूत्रके कुछ सूत्रोका परीक्षण जिससे भी हमे इस बातके निर्णय करनेमे सहायता मिलती है कि तत्त्वार्थसूत्रकार वाचक उमास्वातिसे भिन्न होने चाहिए।

किन्तु दिगम्बर परम्परामे उमास्वाति या उमास्वामी नामके कोई आचार्य हुए हैं इस बातका सूचक कोई प्राचीन उल्लेख नही मिलता। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख या दूसरे जितने भी प्रमाण मिलते हैं वे सब उन उल्लेखोसे जो तत्त्वार्थसूत्रको आचार्य गृद्धपिच्छकी कृति प्रकट करते हैं, बादके हैं, अतएव एक तो इस मामलेमे उनका उतना विश्वास नही किया जा सकता। दूसरे उनमे उपपदके रूपमे या नामके रूपमे गृद्धपिच्छ इस नामको भी स्वीकार कर लिया गया है।

सिद्धसेनीय टीका—पं० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामे सिद्धसेन गणि और हरि-भद्रसूरिकी टीकासे एक-दो उल्लेख उपस्थित कर[2] यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं, किन्तु वे उल्लेख सन्देहास्पद हैं। उदाहरणार्थ सिद्धसेन गणिकी टीकामें सातवें अध्यायके अन्तमे जो पुष्पिका उपलब्ध होती है उसमे आये हुए 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदको पण्डितजी भाष्यकार और सूत्रकार एक व्यक्ति हैं इस पक्षमे लगाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु इस पदका सीधा अर्थ है—उमास्वाति वाचक द्वारा बनाया हुआ सूत्रभाष्य। यहाँ उमास्वातिवाचकोपज्ञ पदका सम्बन्ध सूत्रसे न होकर उसके भाष्यसे है। दूसरा प्रमाण पण्डितजीने 9वें अध्यायके 22वें सूत्रकी सिद्धसेनीय टीकाको उपस्थित किया है। किन्तु यह प्रमाण भी सन्देहास्पद है, क्योकि सिद्धसेन गणिकी टीकाकी जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमे 'स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्' पाठके स्थानमे 'कृतस्तत्र सूत्रसन्निवेशमाश्रित्यो-क्तम्' पाठ भी उपलब्ध होता है[3]। बहुत सम्भव है कि किसी लिपिकारने तत्त्वार्थसूत्रका वाचक उमास्वाति कर्तृत्व दिखलानेके अभिप्रायसे 'कृतस्तत्र'का सशोधन कर 'स्वकृत' पाठ बनाया हो और बादमे यह पाठ चल पड़ा हो।

साधारणत हमने स्वतन्त्र भावसे सिद्धसेन गणिकी टीकाका आलोडन किया है, इसलिए इस आधारसे हम यह तो मान लेते हैं कि उसमे कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो सिद्धसेन गणिकी दृष्टिमे तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इनको एककर्तृक सिद्ध करते हैं। उनमेसे प्रथम उल्लेख प्रथम अध्यायके 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रकी सिद्धसेनीय टीका है। यहाँ पर सिद्धसेन गणि तत्त्वार्थभाष्य के 'सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति' अंशकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

---

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति श० 8। 2. देखो उनके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृष्ठ 17 की टिप्पणी 1।

3 देखो सिद्धसेनीय टीका अ० 9, सू० 22, पृ० 253 की टिप्पणी।

'ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मनं विभज्य सूत्रकारभाष्यकारेणैवमाह—शास्तीति सूत्रकार इति शेषः। अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणो भेद इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायोऽन्यश्च भाष्यकारपर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति।'

इसमे बतलाया गया कि 'ग्रन्थकारने अपनेको सूत्रकार और भाष्यकार इस तरह दो भागोमे विभक्त कर 'शास्ति' ऐसा कहा है। इसलिए यहाँपर 'शास्ति' क्रियाके साथ उसके कर्ताका वोध करानेके लिए **'सूत्रकारः'** पद जोड लेना चाहिए। अथवा पर्यायीके भेदसे पर्यायीको भिन्न मान लेना चाहिए। अत एक ही ग्रन्थकारकी सूत्रकार पर्याय भिन्न है और भाष्यकार पर्याय भिन्न है, अत. सूत्रकार पर्यायसे युक्त ग्रन्थकार कहते हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

ऐसा ही एक दूसरा उल्लेख अध्याय दोके **'निरुपभोगमन्त्यम्'** सूत्रकी सिद्धसेनीय टीकामे मिलता है। इसमे सूत्रकारसे भाष्यकारको अभिन्न बतलाया गया है। उल्लेख इस प्रकार है—

'सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारी विभागमादर्शयति व्युच्छित्ति—(पर्याय) नयसमाश्रयणात्।'

इस प्रकार यद्यपि इन उल्लेखोसे यह विदित होता है कि सिद्धसेन गणि तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थ-भाष्यकार इन दोनों व्यक्तियोंको एक मानते रहे हैं, पर इतने मात्रसे यह नही माना जा सकता कि यह उनका निश्चित मत था। उन्होने अपनी टीकामे कुछ ऐसा भी अभिप्राय व्यक्त किया है जिसके आधारसे विचार करने पर सूत्रकारसे भाष्यकार भिन्न सिद्ध होते हैं। इसके लिए अध्याय आठके **'मत्यादीनाम्'** सूत्रकी टीका देखनी चाहिए।

यहाँ पर सिद्धसेन गणिके सामने यह प्रश्न है कि जब अन्य आचार्य **'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्'** सूत्र मानते हैं तब सूत्रका वास्तविक रूप **'मत्यादीनाम्'** माना जाय या अन्य आचार्य जिस प्रकार उसका पाठ पढते हैं वैसा माना जाय। इस शकाका समाधान करते हुए पहले तो उन्होंने हेतुओंका आश्रय लिया है किन्तु इतने मात्रसे स्वय सन्तोष होता न देख वे कहते हैं कि यत. **भाष्यकारने भी इस सूत्रका इसी प्रकार अर्थ किया है** अत **'मत्यादीनाम्'** ही सूत्र होना चाहिए। उनका समस्त प्रसगको व्यक्त करनेवाला टीकावचन इस प्रकार है—

'अपरे तु प्रतिपद पञ्चापि पठन्ति—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानामिति। एवं चापार्थकः पाठो लक्ष्यते। ततोऽनन्तरसूत्रे पञ्चाविभेदा ज्ञानावरणादय इत्यवधृतमेव। निर्ज्ञाताश्च स्वरूपतः प्रथमाध्याये व्याख्यातत्वात्। अतः आदिशब्द एव च युक्तः। भाष्यकारोऽप्येवमेव सूत्रार्थमावेदयते।'

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य 'भाष्यकारो—' इत्यादि वचन है। इस वचनमे भाष्यकारका सम्बन्ध सीधा **'मत्यादीनाम्'** सूत्रकी रचनाके साथ स्थापित न कर उसके अर्थके साथ स्थापित किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँपर सिद्धसेन गणि सूत्रकारको भाष्यकारसे भिन्न मान रहे हैं, अन्यथा वे किसी अपेक्षासे सूत्रकार और भाष्यकार मे अभिन्नता स्थापित कर अपनी भाषाद्वारा इस प्रकार समर्थन करते जिससे भाष्य-कारसे अभिन्न सूत्रकारने ही **'मत्यादीनाम्'** सूत्र रचा है इस बातका दृढताके साथ समर्थन होता।

जहाँ तक हमारा मत है इन पूर्वोक्त उल्लेखोंके आधारसे हम एक मात्र इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार अभिन्न व्यक्ति हैं इस विषयमे सिद्धसेन गणिकी स्थिति संशयापन्न रही है, क्योंकि कही वे तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार इनको एक व्यक्ति मान लेते हैं और कही दो। इस स्थिति को देखते हुए मालूम ऐसा देता है कि सिद्धसेन गणिके काल तक तत्त्वार्थभाष्यकार ही मूल तत्त्वार्थसूत्रकार हैं यह मान्यता दृढमूल नहीं हो पायी थी। यही कारण है कि सिद्धसेन गणि किसी एक मतका निश्चयपूर्वक प्रतिपादन करनेमे असमर्थ रहे।

पण्डितजी—इस प्रकार सिद्धसेन गणिकी टीकाके आधारसे वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं इस बातके अनिर्णीत हो जाने पर भी यहाँ हमे प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीके एतद्विषयक प्रमाणोका अलगसे

परामर्श कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषयमे उन्होने जिन तीन प्रमाणोको उपस्थित किया है उनका हम पहले पृष्ठ 62 में निर्देश कर आये हैं। उनमेसे पहला प्रमाण उत्थानिकाकी 22वी कारिका और तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे पायी जानेवाली प्रशस्ति है। इन दोनों स्थलोंमेसे उत्थानिका कारिकामे तत्त्वार्थाधिगम नामक लघुग्रन्थके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है और अन्तिम प्रशस्तिमे वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र रचा यह कहा गया है। पण्डितजी इस आधारसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता वाचक उमास्वाति ही हैं। किन्तु हम यह पहले (पृष्ठ 17 मे) ही सिद्ध करके वतला आये हैं कि तत्त्वार्थाधिगम यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न होकर तत्त्वार्थभाष्यका है। स्वय वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थाधिगमको सूत्र न कह-कर उसे ग्रन्थ या शास्त्र[1] शब्द द्वारा सम्वोधित करते हैं और आगे तत्त्वार्थाधिगमके रचनेका प्रयोजन वतलाते हुए 22वी उत्थानिका कारिकामे कहते हैं कि जिन वचन महोदधि दुर्गमग्रन्थभाष्यपार[2] होनेसे उसका समझना कठिन है। ऐतिहासिकोसे यह छिपी हुई बात नही है कि यहाँ वाचक उमास्वातिने आगम ग्रन्थोके जिन भाष्योका उल्लेख किया है वे विक्रमकी 7वी शताब्दीकी रचना हैं[3]। जब कि इनके भी पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि प्रभृति अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी थी। ऐसी अवस्थामे 21वी उत्थानिका कारिका और अन्तिम प्रशस्तिके आधारसे वाचक उमास्वातिको मूल तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता सिद्ध करना तो कोई अर्थ नही रखता।

पण्डितजी की दूसरी युक्तिमे कहा गया है कि तत्त्वार्थभाष्यके आलोडनसे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ-भाष्यमे सूत्रका अर्थ करनेमे कही भी खीचातानी नही की गयी है आदि। यहाँ विचार इस वातका करना है कि क्या तत्त्वार्थभाष्यकी वैसी स्थिति है जैसी कि पण्डितजी उसके विषयमे उद्घोषणा करते है या वैसी स्थिति नही है। इस दृष्टिसे हमने भी तत्त्वार्थभाष्यका आलोडन किया है, किन्तु हमे उसमे ऐसे अनेक स्थल दिखाई देते हैं जिनके कारण इस दृष्टिसे तत्त्वार्थभाष्यकी स्थिति सन्देहास्पद प्रतीत होती है। यथा—

1 तत्त्वार्थसूत्रमे सम्यग्दर्शनीसे सम्यग्दृष्टिको भिन्न नही माना गया है। वहाँ अध्याय 7 सूत्र 23 मे ऐसे सम्यग्दर्शनवालेको भी सम्यग्दृष्टि कहा गया है जिसके शका आदि दोष सम्भव होते हैं। किन्तु इसके विपरीत तत्त्वार्थभाष्यमे सम्यग्दर्शनी और सम्यग्दृष्टि इन दोनो पदोंकी स्वतन्त्र व्याख्या करके सम्यग्दर्शनीसे सम्यग्दृष्टिको भिन्न वतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि जिसके आभिनिवोधिक ज्ञान होता है वह सम्य-ग्दर्शनी कहलाता है और जिसके केवलज्ञान होता है वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है।[4] स्पष्ट है कि यहाँ पर तत्त्वार्थभाष्यकार तत्त्वार्थसूत्रका अनुसरण नही करते और सम्यग्दृष्टिपदकी तत्त्वार्थसूत्रके विरुद्ध अपनी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। एक स्थल (अ० 1 सू० 8) मे वे जिस बातको स्वीकार करते है दूसरे (अ० 7 सू० 23) मे वे उसे छोड देते हैं।

2 तत्त्वार्थसूत्रमे मति, स्मृति और सज्ञा आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्य-कार इन्हें पर्यायवाची नाम न मानकर 'मतिः स्मृतिः' इत्यादि सूत्रके आधारसे मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदिको स्वतन्त्र ज्ञान मानते हैं[5]। सिद्धसेन गणिने भी तत्त्वार्थभाष्यके आधारसे इनको स्वतन्त्र ज्ञान मानकर उनकी व्याख्या की है। यह कहना कि सामान्य मतिज्ञान व्यापक है और विशेष मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि उसके व्याप्य हैं कुछ सयुक्तिक नही प्रतीत होता, क्योकि मतिज्ञान वर्तमान अर्थको विषय करता है। इन तथ्योको जब स्वयं तत्त्वार्थभाष्यकार स्वीकार करते हैं ऐसी अवस्थामे मति, स्मृति आदि नाम मतिज्ञानके पर्यायवाची ही हो सकते हैं भिन्न-भिन्न ज्ञान नही। तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके आगमोमे इन्हे मतिज्ञानके

---

1. देखो उत्थानिका कारिका 21 व अन्तिम प्रशस्ति तत्त्वार्थभाष्य। 2 महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य। क शक्तो प्रत्यास जिनवचनमहोदधे कर्तुम्॥ 3 देखो प० कैलाशचन्द्रजीके तत्त्वार्थ-सूत्रकी प्रस्तावना पृ० 12। 4. देखो तत्त्वार्थसूत्र अ० 1 सू० 8 का तत्त्वार्थभाष्य। 5 देखो अध्याय 1 सूत्र 13 का तत्त्वार्थभाष्य।

पर्यायवाची ही कहा है। स्पष्ट है कि यहाँ पर भी तत्त्वार्थभाष्यकारकी व्याख्या मूल सूत्रका अनुसरण नही करती।

3. तत्त्वार्थभाष्यकारने अध्याय 10 सूत्र 'क्षेत्रकालगति' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए[1] शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनको मूल नय मान लिया है जब कि वे ही प्रथम अध्यायमे उस सूत्र पाठको स्वीकार करते हैं जिसमे मूल नयोंमे केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है। स्पष्टत उनका 10वें अध्यायमे शब्दादिक तीन नयोको मूलरूपसे स्वीकार करना और प्रथम अध्यायमे एक शब्दनयको मूल मानना परस्पर विरुद्ध है।

4 श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2 सूत्र 52 मे 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पाठको स्वीकार करता है। तत्त्वार्थभाष्यकार ने प्रारम्भमे इस पदको मानकर ही उसकी व्याख्या की है। किन्तु बादमे वे 'उत्तमपुरुष' पदका त्याग कर देते है और मात्र 'चरमदेह' पदको स्वीकार कर उसका उपसंहार करते हैं। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थभाष्यकारको इस सूत्रके कुछ हेरफेरके साथ दो पाठ मिले होंगे। जिनमेसे एक पाठको उन्होने मुख्य मानकर उसका प्रथम व्याख्यान किया। किन्तु उसको स्वीकार करनेपर जो आपत्ति आती है उसे देखकर उपसहारके समय उन्होने दूसरे पाठको स्वीकार कर लिया। स्पष्ट है कि इससे तत्त्वार्थभाष्यकार ही तत्त्वार्थसूत्रकार हैं इस मान्यताको वडा धक्का लगता है।

5 तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 4 सूत्र 4 मे प्रत्येक देवनिकायके इन्द्रादिक 10 भेद गिनाये हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन दस भेदोके उल्लेखके साथ अनीकाधिपति नामका ग्यारहवाँ भेद और स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार इसी अध्यायके 26वें सूत्रमे लौकान्तिक देवोके सारस्वत आदिक नौ भेद गिनाये हैं, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार अपने भाष्यमे यहाँ नौके स्थानमे आठ भेद ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—'एते सारस्वता-द्योऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिण भवन्ति यथासंख्यम्।'

ये ऐसे प्रमाण हैं जो पण्डितजी की पूर्वोक्त मान्यताके विरुद्ध जाते हैं। स्पष्ट है कि पण्डितजीकी उक्त मान्यताके आधारसे भी तत्त्वार्थभाष्यकारको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता नही माना जा सकता।[2]

प० सुखलालजीकी तीसरी मान्यता है कि प्रारम्भिक कारिकाओमे और कुछ स्थानोपर भाष्यमे 'वक्ष्यामि, वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुषकी क्रियाओका निर्देश है आदि, इसलिए तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु पण्डितजी की यह कोई पुष्ट दलील नही है। अकसर टीकाकार मूलकारसे तादात्म्य स्थापित कर इस प्रकारकी क्रियाओका प्रयोग करते हैं। उदाहरणके लिए देखो अध्याय 1 सूत्र 1 की सर्वार्थसिद्धि टीका[3], अध्याय 8 सूत्र 1 की उत्थानिका तत्त्वार्थवार्तिक[4], अध्याय 8 सूत्र 1 की उत्थानिका हरिभद्रकी टीका[5] व अध्याय 10 सूत्र 1 की उत्थानिका सिद्धसेन गणिकी टीका। यहाँ सिद्धसेन गणि कहते हैं 'सम्प्रति तत्फलं मोक्षः, तं वक्ष्यामः।' स च केवलज्ञानोत्पत्तिमन्तरेण न जातुचिदभूद् भवति भविष्यति अतः केवलोत्पत्तिमेव तावद् वक्ष्यामः। इसलिए इस आधारसे भी तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता नही सिद्ध होते।

श्वेताम्बर पट्टावलियाँ—श्वेताम्बर पट्टावलियोके देखनेसे भी इस स्थितिकी पुष्टि होती है। इनमे सबसे पुरानी कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्रकी पट्टावलि है। किन्तु इनमे समय नही दिया है। समय गणना बहुत पीछेकी पट्टावलियोंमे है। कहा जाता है कि नन्दिसूत्र पट्टावली वि० सं० 510 मे संकलित हुई थी। इनमे उमास्वाति व उनके गुरुओंके नाम नही हैं।

---

1 शब्दादयश्च त्रय। 2. प० लालबहादुरजी शास्त्रीने जैन सिद्धान्तभास्कर भाग 13 किरण 1 मे 'क्या भाष्य स्वोपज्ञ और उसके कर्ता यापनीय हैं' इस शीर्षकसे एक लेख मुद्रित कराया है। उससे भी इस विषयपर सुन्दर प्रकाश पडता है। 3. एतेषा स्वरूप लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः। 4 अवसरप्राप्त बन्ध व्याचक्ष्महे। 5· बन्ध इति वर्तते। एतच्चोपरिष्टाद्दर्शयिष्याम।

पिछले कालकी रची गयी पट्टावलियोमेंसे धर्मघोषसूरिकृत दु षमाकाल श्रमणसघ स्तव एक है। इसकी रचना विक्रमकी तेरहवी सदीमे हुई अनुमानित की जाती है। इसमे उमास्वातिका नाम हरिभद्र और जिनभद्रके वाद आता है पर हरिभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्य पर टीका लिखी है। ये विक्रमकी 8वी-9वी सदीके विद्वान् हैं, अतएव आचार्योंकी क्रम-परम्पराकी दृष्टिसे इस पट्टावलीको विशेष प्रमाण नही माना जा सकता। इसमे वि० स० 720 मे वाचक उमास्वातिकी अवस्थिति स्वीकार की गयी है।

धर्मसागर गणिकृत तपागच्छ पट्टावली वि० स० 1646 मे लिखी गयी थी। इसमे जिनभद्रके वाद विबुधप्रभ, जयानन्द और रविप्रभका उल्लेख करनेके वाद उमास्वातिका नाम निर्देश किया है और इनका समय वि० स 720 वतलाया है। यद्यपि इन्होंने आर्यमहागिरिके वहुल और वलिस्सह नामक दो शिष्योमेंसे वलिस्सहके शिष्य उमास्वातिका उल्लेख कर इन प्रथम उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता होनेकी सम्भावना की है। किन्तु उनकी यह सम्भावना भ्रमजन्य है। कारण कि नन्दिसूत्र पट्टावलीकी 26वी गाथामे 'हारियगुत्त साइं च वदे।' पद आता है। जिसमे हारितगोत्रीय स्वाति का उल्लेख है। मालूम पडता है धर्मसागर गणिने नामकी आशिक समता देखकर द्वितीयके स्थानमें भ्रमसे इन्हें ही तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता होनेकी आशका की है। प० सुखलालजीने भी इस आशकाको भ्रममूलक वतलाया है।[1]

विनयविजय गणिने अपना लोकप्रकाश वि० स० 1708 मे पूरा किया था। वे उमास्वातिको युग-प्रधान आचार्य वतलाते हैं और जिनभद्र तथा पुष्पमित्र के वीच उनकी अवस्थिति स्वीकार करते हैं। इन्होंने अपनी पट्टावलिमें उमास्वातिके समयका निर्देश नही किया है।

रविवर्धन गणि (वि० स० 1739) ने भी पट्टावलीसारोद्धारमे उमास्वातिका उल्लेख किया है। इसमे समयका निर्देश करते हुए वास्तव्यकाल वीर नि० सं० 1190 (वि० स० 720) स्वीकार किया है।[2]

श्वेताम्वर परम्पराकी ये पट्टावलियाँ हैं जिनमे उमास्वातिका निर्देश किया है। यद्यपि ये पट्टावलियाँ अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं और इनमे कुछ मतभेद हैं तथापि इनको सर्वथा निराधार मानना उचित नही है। इनमे निर्दिष्ट वस्तुके आधारसे निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—

1. वाचक उमास्वाति युगप्रधान आचार्य थे। वे वि० स० 720 के आसपास हुए हैं। वहुत सम्भव है कि इसी कारणसे नन्दिसूत्र पट्टावली और कल्पसूत्र स्थविरावलिमे इनकी परम्पराका किसी भी प्रकारका उल्लेख नहीं किया है।

2. यद्यपि रविवर्धन गणिने जिनभद्र गणिके पूर्व वाचक उमास्वातिका उल्लेख किया है परन्तु समयकी दृष्टिसे रविवर्धन गणिने उन्हें जिनभद्रगणिके वादका ही वतलाया है, अत उक्त सब पट्टावलियोंमे एकमत होकर स्वीकार किये गये वास्तव्य कालका विचार करते हुए अन्य प्रमाणोके प्रकाशमे अधिक सम्भव यही दिखाई देता है कि ये जिनभद्र गणिके वाद ही हुए हैं।

3. एक प्रशस्ति तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें भी उपलब्ध होती है जिसमे वाचक उमास्वातिने स्वयको तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रका रचयिता कहा है। किन्तु इसमे समयादिकका कुछ निर्देश न होनेसे यह प्रशस्ति समय सम्वन्धी पूर्वोक्त तथ्यकी पूरक ही प्रतीत होती है।

यह तो हम अनेक प्रमाणोके आधारसे पहले ही स्वीकार कर आये हैं कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थभाष्यकी रचना की और तत्त्वार्थभाष्यमे स्वीकृत तत्त्वार्थसूत्रके पाठको सस्कारित कर अन्तिम रूप दिया, इसलिए इस रूपमें इन तथ्योको स्वीकार कर लेने पर भी वाचक उमास्वाति मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता

1. देखो उनका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृष्ठ 2। 2. ये सारी पट्टावलियाँ मुनिदर्शनविजय द्वारा सम्पादित श्री पट्टावलीसमुच्चय प्रथम भागमे मुद्रित हुई हैं।

नहीं ठहरते, और हमारा ऐसा मानना अनुचित भी नही है, क्योंकि विक्रमकी आठवी शताब्दीके पूर्व 6वीं शताब्दीके प्रारम्भमे या इसके कुछ काल पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी जा चुकी थी तथा अनेक टीका-टिप्पणियाँ प्रचलित हो चुकी थी।

यद्यपि धर्मसागर गणी, बलिस्सहके शिष्य स्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की, ऐसी शका करते हैं, किन्तु यह उनका निश्चित मत नही है। केवल सम्भावना मात्र है। जैसा कि उनके इन शब्दोसे प्रगट है। यथा—'**तस्य बलिसहस्य शिष्यः स्वातिः तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते।**' अतएव इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

यहाँ तक हमने पाँच मतोकी समीक्षा की। मात्र एक प्रमुख मत शेष रहता है जिस पर यहाँ तीन दृष्टियोंसे विचार करना है—**नाम, परम्परा और समय।**

नाम—यह हम प्रारम्भमे ही उद्धरणोंके साथ लिख आये हैं कि आचार्य वीरसेन, आचार्य विद्यानन्द और आचार्य वादिराज तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम आचार्य गृद्धपिच्छ ही घोषित करते हैं और ये उल्लेख अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। किन्तु इन उल्लेखो को छोडकर दिगम्बर परम्परामे अन्य जितने भी उल्लेख मिलते हैं उनमे गृद्धपिच्छको उपपद या दूसरा नाम मान कर नानारूपता दिखाई देती है। इनमेसे कुछ प्रमुख उल्लेखोका निर्देश हम 'अन्य मत' शीर्षकके अन्तर्गत कर आये है। इसी तरहका एक प्रमुख मत नन्दिसघकी पट्टावलीका है। नन्दिसघकी दो पट्टावलियाँ उपलब्ध होती है—एक सस्कृत पट्टावली और दूसरी प्राकृत पट्टावली। इनमेसे संस्कृत पट्टावलिमे आचार्य उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है।

यहाँ देखना यह है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके नामके विषयमे इतना मतभेद होनेका कारण क्या है और उनका ठीक नाम क्या है?

पहले हम श्रवणबेलगोलमे पाये जानेवाले शिलालेख 105 और 108 के उद्धरण उपस्थित कर आये हैं। ये शिलालेख क्रमश शक स० 1320 और 1355 के अनुमानित किये गये है। शक स० 1037 और 1085 के भी दो शिलालेख वहाँ उपलब्ध होते है जो जैन शिलालेख सग्रह भाग 1 मे क्रमश 47 और 40 नम्बर पर दर्ज हैं। 47 न० के शिलालेखमे कहा गया है—

'श्री गौतम गणधरके अन्वयमे नन्दिसघके प्रमुख आचार्य पद्मनन्दी हुए जिनका दूसरा नाम कोण्डकुन्द था। फिर उनके अन्वयमे गृद्धपिच्छ अपर नामवाले उमास्वाति आचार्य हुए। इनके शिष्य बलाकपिच्छ थे और बलाकपिच्छके शिष्य गुणनन्दि थे।'

न० 40 के शिलालेखमे कहा गया है कि 'गौतम गणधरके बाद पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए। इसके बाद उनके अन्वयमे पद्मनन्दी हुए। इनका दूसरा नाम कोण्डकुन्द था। फिर इनके अवन्यमे गृद्धपिच्छ उमास्वाति आचार्य हुए। इनके शिष्य बलाकपिच्छ थे। इस प्रकार महान् आचार्योंकी परम्परामे क्रमश आचार्य समन्तभद्र हुए।'

न० 105 और 108 के शिलालेखोमे, जिनका उल्लेख हम पहले कर आये हैं, लगभग यही बात कही गयी है। अन्तर केवल इतना ही है कि इन दोनो शिलालेखोमे गृद्धपिच्छ उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कहा गया है और शिलालेख न० 47 व 40 मे रचयिता के रूपमे उनका उल्लेख नही किया है।

यहाँ पर हम सर्वप्रथम दिगम्बर परम्पराके उक्त उल्लेखोंके आधारसे, तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे पायी जानेवाली प्रशस्तिके आधारसे और धर्मसागरगणि कृत तपागच्छ पट्टावलीके आधारसे परम्परा दे देना चाहते हैं। यथा—

इस प्रकार ये तीन परम्पराएँ हमारे सामने हैं। इनमेसे तपागच्छ पट्टावलिके विषयमे तो इतना ही कहना है कि धर्मसागर गणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यकी प्रशस्तिके रहते हुए जो उन्होने तपागच्छके आचार्योंकी परम्पराके साथ उमास्वातिका उल्लेख किया है सो इसका कारण केवल युगप्रधान आचार्यके रूपमे उमास्वाति-को उनके वास्तव्य कालके साथ स्वीकार करना मात्र है। जिनभद्र गणिके विषयमे भी यही बात है। ये दोनों तपागच्छ परम्पराके आचार्य नही हैं और न ऐसा धर्मसागर गणि ही मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने तपागच्छ परम्पराका स्वतन्त्र निर्देश करते हुए बीच मे इनका युगप्रधान आचार्यके रूपमे उल्लेखमात्र किया है, इसलिए इसे और इसके साथ पायी जानेवाली थोडेसे मतभेदको लिये हुए अन्य प्रशस्तियो को छोड कर हमारे सामने मुख्य दो परम्पराएँ रहती हैं—एक श्रवणबेल्गोलमें पाये जानेवाले शिलालेखोंकी परम्परा और दूसरी तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे पायी जानेवाली प्रशस्तिकी परम्परा।

देखनेसे विदित होता है कि इन दोनो उल्लेखोंमे दोनोंकी न केवल गुरुपरम्परा भिन्न-भिन्न है अपितु दोनोके उपपद या नामान्तर भी भिन्न-भिन्न हैं। श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंकी परम्परा जब कि तत्त्वार्थसूत्रकारको गृद्धपिच्छ उमास्वाति[1] घोषित करती है ऐसी अवस्थामे तत्त्वार्थभाष्यकी प्रशस्ति उन्हें वाचक उमास्वाति इस नामसे सम्बोधित करती है, इसलिए इन आधारोसे हमारा तो यही विचार दृढ होता है कि गृद्धपिच्छ उमास्वातिसे वाचक उमास्वाति भिन्न आचार्य होने चाहिए।

इस प्रकार इतने विवेचनसे इन दोनों आचार्योंके अलग-अलग सिद्ध हो जानेपर यहाँ यह देखना है कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नाममे कहाँ तक तथ्य है, क्योकि इस नामके विषयमे हमे कई तरहके उल्लेख मिलते हैं। कही इनको केवल गृद्धपिच्छ कहा गया है और कही गृद्धपिच्छ उपपदयुक्त उमास्वामी या उमा-स्वाति कहा गया है। कही गृद्धपिच्छको उमास्वातिका दूसरा नाम बतलाया गया है तो कही केवल उमास्वाति नाम आता है। यद्यपि देखनेमे ये सब नाम अलग-अलग प्रतीत होते हैं। जैसे उमास्वातिसे उमास्वामी नाम भिन्न है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि पहले इनमेसे कोई एक नाम रहा होगा और बादमे 'म' के स्थानमे

---

1. जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदयमे अन्वयावलिके वर्णनके प्रसगसे एक श्लोक आता है जिसमे कुन्दकुन्द आचार्य और उमास्वाति दोनोको वाचक कहा गया है और धवला टीकाके अन्तिम भागके देखनेसे यह भी विदित होता है कि दिगम्बर परम्परामे भी 'वाचक' उपपद व्यवहृत होता था। किन्तु जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय-का प्रमाण अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन है और केवल इस आधारसे तत्त्वार्थभाष्य के वाचक उमास्वातिको और श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंके गृद्धपिच्छ उमास्वातिको एक नही माना जा सकता। देखो प० सुखलालजी कृत तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनाके परिशिष्टमे उद्धृत प० जुगलकिशोरजी मुख्तारका पत्र।

'त' या 'त' के स्थानमे 'म' लिखा जानेसे ये दोनो नाम चल पडे होगे। इसी प्रकार उमास्वाति या उमास्वामी नामका कही गृद्धपिच्छ इस अपर नामके साथ उल्लेख मिलनेसे और कही इनमेसे किसी एकका उल्लेख मिलनेसे इस सम्बन्धमे भी यह कहा जा सकता है कि इस तरह पूरे या अधूरे नामके लिखनेकी भी परम्परा रही है और हो सकता है कि उसी परम्पराके अनुसार विविध प्रकारसे इन नामोंका उल्लेख किया जाने लगा होगा।

यहाँ हम इन तर्कोकी सत्यता स्वीकार करते हैं। फिर भी देखना यह है कि एक आचार्य नन्दिसंघ तथा कुन्दकुन्दकी परम्परामे हुए और दूसरे अन्य परम्परमे हुए और इनके समयमे काफी अन्तर है फिर भी दोनोका एक ही शास्त्रकी रचनासे सम्बन्ध और एक ही नाम यह स्थिति उत्पन्न हुई कैसे ? यह कहना तो बनता नही कि श्वेताम्बर पम्परामे हुए वाचक उमास्वाति इस नामको देखकर गृद्धपिच्छने अपना उमास्वाति यह नाम भी रखा होगा, क्योंकि पट्टावलियो व दूसरे प्रमाणोको देखनेसे विदित होता है कि गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके बाद हुए हैं। जब कि वाचक उमास्वातिका अस्तित्वकाल इसके बहुत बाद आता है। साथ ही यह कहना भी नही बनता है कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नामको देखकर वाचक उमास्वातिने अपना 'उमास्वाति' यह नाम रखा होगा, क्योकि तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमे जो प्रशस्ति उपलब्ध होती है उसमे वाचक उमास्वातिका 'उमास्वाति' नाम क्यो रखा गया इसका कारण दिया है। उसमे बतलाया गया है कि इनके पिताका नाम[1] 'स्वाति' था और सिद्धसेन गणिने इस प्रशस्तिकी व्याख्या करते हुए यह भी लिखा है कि इनकी माताका नाम 'उमा' था[2]। इसलिए इनका उमास्वाति यह नाम पड़ा है। यह भी नही कहा जा सकता कि यह प्रशस्ति बाद मे गढी गयी होगी, क्योकि तत्त्वार्थभाष्यके टीकाकार सिद्धसेन गणिने इसका उल्लेख ही नही किया व्याख्यान भी किया है और ऐसा करके उन्होंने उसे तत्त्वार्थभाष्यका अंग प्रसिद्ध किया है। इस विषयमे हम प० सुखलालजीके इस मतसे सहमत हैं कि यह स्वय तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिकी ही कृति है।[3]

प्रसगसे यहाँ पर हम एक बात यह कह देना चाहते हैं कि अधिकतर विद्वान् जहाँ किसी प्रशस्ति, पट्टावली या शिलालेख आदिसे अपना मत नही मिलता वहाँ उसे सर्वथा अप्रामाणिक या जाली घोषित करते हैं। किन्तु उनकी यह प्रवृत्ति विचारपूर्ण नही कही जा सकती। कारण कि प्राचीन कालमे इतिहासके सकलनके साधन प्राय सीमित थे। अधिकतर इतिहासके संकलन करनेवालोका कथको पर अवलम्बित रहना पडता था और जिसे प्रामाणिक आधारोंसे जो ज्ञात होता था वह उसका अंकन करता था। इसलिए यह तो सम्भव है कि किसी शिलालेख आदिमे कोई नाम, समय या घटना सही रूपमे निवद्ध हो गयी हो और किसी शिलालेख आदिमे वह कुछ भ्रष्टरूपमे निवद्ध हुई हो। पर साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश किये गये उल्लेखोंको छोडकर निवद्ध करनेवालेका उद्देश्य जानबूझकर उसे भ्रष्टरूपसे निवद्ध करनेका नही रहता था इतना सुनिश्चित है। प्रसिद्ध धवला टीकाके रचयिता आचार्य वीरसेनने इस सम्बन्धमें एक बहुत अच्छी विचारसरणि उपस्थित की है। उन्हे भगवान् महावीरकी आयु 72 वर्ष की थी एक यह मत प्राप्त हुआ और भगवान् महावीरकी आयु 71 वर्ष 3 माह 25 दिनकी थी एक यह मत प्राप्त हुआ, इसलिए उनके सामने प्रश्न था कि इनमेसे किसे प्रमाण माना जाय ? इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप वे जो कुछ लिखते हैं वह न केवल हृदयग्राही है अपितु अनुकरणीय भी है। वे कहते हैं कि 'इन दोनोमेसे कौन ठीक है और कौन ठीक नही है इस विषयमे एलाचार्यका शिष्य मैं वीरसेन अपना मुख नही खोलता, क्योंकि इन दोनोंमेसे किसी एकको मानने पर कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती। किन्तु इन दोनोमेसे कोई एक मत ठीक होना चाहिए सो प्राप्त कर उसका कथन करना चाहिए[4]।'

---

1. 'कौभीषणिना स्वातितनयेन—'। 2. वात्सीसुतेनेति गोत्रेण नाम्ना उमेति मातुराख्यानम्। 3 देखो पं० सुखलालजीकी तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० 4। 4 जयधवला पुस्तक 1 पृ० 81।

वे यहाँ यह तो कहते हैं कि उचित आधारोंपर जो ठीक प्रतीत हो उसे प्रमुखता दी जाय पर एकको सर्वथा जाली और दूसरेको सर्वथा सत्य घोषित करनेका प्रयत्न करना ठीक नही है।

इस प्रासंगिक कथनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके विषयमे दिगम्बर परम्परामें जो शिलालेख व उद्धरण आदि मिलते हैं वे भी साधार हैं और श्वेताम्बर परम्परामे जो उल्लेख मिलते हैं वे भी साधार हैं। इसलिए किसी एकको प्रामाणिक और अन्यको अप्रामाणिक घोषित करना हमारा कार्य नहीं है, किन्तु अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमे उनकी स्थिति स्पष्ट करना इतना ही हमारा कार्य है। और इस कार्यका निर्वाह करते हुए प्रस्तावना में विविध स्थलों पर व्यक्त किये गये तथ्योंके आधारसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि श्वेताम्बर परम्परामे तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रके रचयिताका नाम तो वाचक उमास्वाति ही है, किन्तु जिन्होंने प्रारम्भमे तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की और जो आचार्य कुन्दकुन्दकी परम्परामे हुए हैं उनका नाम गृद्धपिच्छ उमास्वाति, गृद्धपिच्छ उमास्वामी, उमास्वाति या उमास्वामी यह कुछ भी न होकर मात्र गृद्धपिच्छाचार्य होना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छ आचार्य हैं इस तथ्यको व्यक्त करनेवाले उल्लेख 9वी शताब्दीके हैं। तथा लगभग इसी कालमे श्वेताम्बर परम्परामे भी यह मान्यता प्रचलित हुई जान पडती है जैसा कि सिद्धसेन गणिके शंकास्पद कुछ उल्लेखोसे प्रतीत होता है, कि तत्त्वार्थभाष्यके रचयिता वाचक उमास्वाति ही तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं। अत. मालूम पडता है कि इन दोनो मान्यताओंने मिलकर एक नयी मान्यताको जन्म दिया और उत्तरकालमे गृद्धपिच्छ और उमास्वाति ये स्वतन्त्र दो आचार्योंके दो नाम मिलकर एक नाम बने और आगे चलकर गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नामसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका उल्लेख किया जाने लगा। हमे श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंमे या अन्यत्र जो एक आचार्यके लिए इन नामोंका या गृद्धपिच्छको उपपद मानकर उमास्वाति नामका व्यवहार होता हुआ दिखाई देता है उसका कारण यही है।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छ आचार्य होना चाहिए और वाचक उमास्वाति इनसे भिन्न हैं इस मतको सक्षेपमे इन तथ्यो द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

1. तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके साथ आचार्य गृद्धपिच्छका नाम जुडना अकारण नही हो सकता।

2. आचार्य वीरसेन, विद्यानन्द और वादिराजने तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छाचार्य ही व्यक्त किया है और ये उल्लेख अन्य प्रमाणोंसे प्राचीन हैं।

3. श्वेताम्बर परम्परामे तत्त्वार्थभाष्यके रचयिता जो आचार्य हुए हैं उनका नाम वाचक उमास्वाति है, गृद्धपिच्छ उमास्वाति नही। अत गृद्धपिच्छ उमास्वाति यह नाम गृद्धपिच्छ और उमास्वाति इन दोनों नामोंके मेलसे बना है ऐसा प्रतीत होता है।

4 गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्द आचार्यके अन्वयमें हुए हैं और वाचक उमास्वातिकी परम्परा दूसरी है, इसलिए ये स्वतन्त्र दो आचार्य होने चाहिए, एक नहीं।

5 गृद्धपिच्छाचार्य और वाचक उमास्वाति इन दोनोके वास्तव्य कालमे भी बडा अन्तर है, इसलिए भी ये एक नहीं हो सकते।

परम्परा—तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता किस परम्पराके थे इस विषयमे नामविषयक उक्त निर्णयके आधारसे ही बहुत कुछ विवाद समाप्त हो जाता है, क्योकि जिन तथ्योंके प्रकाशमे उनका आचार्य गृद्धपिच्छ यह नाम निश्चित होता है उन्हींके आधारसे वे एक मात्र दिगम्बर परम्पराके सिद्ध होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके वे साक्षात् शिष्य हों या न भी हों पर वे हुए हैं उन्हींकी वंशपरम्परामे यह बात पूर्वमें दी गयी वंशपरम्परा और अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायमे यह गाथा आती है—

1. जयधवला पुस्तक 1 पृ० 81।

"दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥"

अब इस गाथा के प्रकाशमे तत्त्वार्थसूत्रके इन सूत्रोंको देखिए—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ 5, 29 ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ 5, 30 ॥ गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥ 5, 30 ॥

इसके सिवाय तत्त्वार्थसूत्रमे और भी बहुतसे ऐसे वचन हैं जिनका आचार्य कुन्दकुन्दके वचनोंके साथ शाब्दिक और वस्तुगत साम्य दिखाई देता है। तथा तत्त्वार्थसूत्रमे 'नाग्न्य'[1] जैसे शब्दोका व्यवहार हुआ है। इससे उसके कर्ता दिगम्बर परम्पराके हैं यही सिद्ध होता है।

समय—नामके समान आचार्य गृद्धपिच्छके समयका प्रश्न भी बहुत अधिक विचारणीय है। साधारणतः जिन उल्लेखोका इनके समयपर सीधा प्रकाश पडता है ऐसे दो उल्लेख हमारे सामने हैं। प्रथम नन्दिसघकी पट्टावलीका उल्लेख और दूसरा विद्वज्जनबोधकमे उद्धृत इनके समयकी सूचना देनेवाला उल्लेख।

1. नन्दिसंघकी पट्टावली विक्रमके राज्याभिषेकसे प्रारम्भ होती है और यह इंडियन एंटीक्वेरीके आधारसे जैनसिद्धान्तभास्कर किरण, 4, पृ० 78 मे जिस रूपमे उद्धृत हुई है उसका प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है—

'1 भद्रबाहु द्वितीय (4) 2 गुप्तिगुप्त (26) 3 माघनन्दि (36) 4 जिनचन्द (40) 5 कुन्दकुन्दाचार्य (49) 6 उमास्वामी (101) 7 लोहाचार्य (142) 8 यशःकीर्ति (153) 9 यशोनन्दी (211) 10 देवनन्दी (258) 11 जयनन्दी (308) 12 गुणनन्दी (358) 13 वज्रनन्दी (364) 14 कुमारनन्दी (386) 15 लोकचन्द (427) 16 प्रभाचन्द्र (453) 17 नेमिचन्द्र (478) 18 भानुनन्दी (487) 19 सिंहनन्दी (508) 20 श्री वसुनन्दी (525) 21 वीरनन्दी (531) 22 रत्ननन्दी (561) 23 माणिक्यनन्दी (585) 24 मेघचन्द्र (601) 25 शान्तिकीर्ति (627) 26 मेरुकीर्ति (642)।'

गुप्तिगुप्त यह अर्हद्बलिका दूसरा नाम है। इन्होंने अन्य सघोके साथ जिस नन्दिसघकी स्थापना की थी उसके पहले पट्टधर आचार्य माघनन्दि थे। इस हिसाबसे उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) नन्दिसघके पट्टपर बैठनेवाले चौथे आचार्य ठहरते हैं। यद्यपि पट्टावलीमे ये क्रमाक 6 पर सूचित किये गये हैं पर भद्रबाहु द्वितीय और अर्हद्बलिको छोड़कर ही नन्दिसघके आचार्योंकी गणना करनी चाहिए। इसलिए यहाँ हमने उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) का क्रमाक 4 सूचित किया है इस पट्टावलिके अनुसार ये वीर नि० स० 571 मे हुए थे।

2. विद्वज्जनबोधकमें यह श्लोक उद्धृत मिलता है—

"वर्षसप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥"

इसका भाव है कि वीर नि० स० 770 मे उमास्वामी मुनि हुए तथा उसी समय कुन्दकुन्द आचार्य हुए।

अब हम अन्य प्रमाणोको देखें—

1. इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमे पहले 683 वर्षकी श्रुतधर आचार्योंकी परम्परा दी है। और इसके बाद अगपूर्वके एकदेशधारी विनयधर, श्रीदत्त और अर्हद्दत्तका नामोल्लेख कर नन्दिसघ आदि सघोकी स्थापना

---

1. देखो तत्त्वार्थसूत्र, अ० 9, सू० 9। 2. पाण्डवपुराणके कर्ता शुभचन्द्रने अपनी परम्परा दी है। उसमें भी 10 आचार्यों तक यही क्रम स्वीकार किया गया है। और आगे भी एकाध नामको छोडकर आचार्योंके नामोंमें समानता देखी जाती है। वे अपनेको नन्दिसघका ही घोषित करते हैं। देखो जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4, पृष्ठ 51।

करनेवाले अर्हद्बलिका नाम आता है। और इसके बाद माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलिका उल्लेख करनेके बाद आचार्य परम्परामे कुन्दकुन्दका नाम आता है। यह तो निश्चित है कि आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके बाद हुए हैं। इसलिए यदि इस हिसाबसे विचार किया जाय और श्रुतधर आचार्योंके 683 वर्षमे आगेके आचार्योंका लगभग 100 वर्ष मानकर जोडा जाय तो वीर नि० सं० से 783 वर्षके आसपास आचार्य गृद्धपिच्छ हुए यह कहा जा सकता है।

2. श्रवणवेल्गोलके शिलालेख न० 105 मे भी[1] श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका निर्देश कर और उसके बाद कुम्भ, विनीत, हलधर वसुदेव, अचल, मेरुधीर, सर्वज्ञ, सर्वगुप्त, महिधर, धनपाल, महावीर और वीर इन नामोका उल्लेख कर कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वातिका नाम आता है। किन्तु इसमे एक तो श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका काल निर्देश नही किया है। दूसरे श्रुतधर व दूसरे आचार्योंके क्रमिक नामनिर्देशका भी ख्याल नही रखा है। अत इस आधारसे आचार्य गृद्धपिच्छके समयके सम्बन्धमे कुछ भी अनुमान नही किया जा सकता।

3 श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका निर्देश धवला,[2] आदिपुराण,[3] नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली[4] और त्रिलोकप्रज्ञप्ति[5] आदिमे भी किया है। किन्तु वे 683 वर्षकी परम्पराका निर्देश करने तक ही सीमित हैं। अत इनके आधारसे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। इन आधारोके बल पर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि आचार्य गृद्धपिच्छके समयके सम्बन्धमे इन आचार्योंका क्या अभिमत है। और हम इस सम्बन्धमे इनके अभिमतको जाने विना केवल इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके आधारसे श्रुतधारियोंकी 683 वर्षकी परम्पराके बाद आचार्य गृद्धपिच्छकी अवस्थितिको इन आचार्योंके मतसे माननेके लिए प्रस्तुत नही हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनसे हमारे सामने मुख्य तीन मत आते हैं जिनसे हमे आचार्य गृद्धपिच्छके समयकी सूचना मिलती है। प्रथम नन्दिसघकी पट्टावलिके अनुसार उनका समय विक्रम (571-470) 101 ठहरता है। दूसरे विद्वज्जनबोधक मे उद्धृत श्लोकके अनुसार वह विक्रम (770-470) 300 ठहरता है और तीसरे इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार वि० स० (783-470) 313 अनुमानित किया जा सकता है।

श्रवणवेल्गोलके शिलालेखोमे आचार्य गृद्धपिच्छके शिष्यका नाम आचार्य बलाकपिच्छ[6] आता है और नन्दिसघकी पट्टावलीमे बलाकपिच्छके स्थानमे लोहाचार्यका नाम आता है। किन्तु इसका तो यह समाधान हो सकता है कि पट्टावलीमें उन आचार्योंके नामोका उल्लेख है जो उनके बाद पट्ट पर आसीन हुए और शिलालेखोमे इसका विचार न कर उनका नामोल्लेख किया है जो उनके प्रमुख शिष्य थे। और इस आधारसे यहाँ तककी पट्टावलीको ठीक भी मान लिया जाय तब भी इनके समयके सम्बन्धमें पट्टावलीके कालका दूसरे उल्लेखोमे निर्दिष्ट कालके साथ जो इतना अन्तर दिखाई देता है उसका हल कैसे किया जाय यह विचारणीय विषय हो जाता है।

यहाँ हम अन्य पौर्वात्य व पाश्चात्य विद्वानोंके मतोका विशेष ऊहापोह नही करेंगे, क्योकि उन विद्वानोने अधिकतर तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इनको एककर्तृक मान कर अपने-अपने मतका निर्देश किया है। किन्तु सुविचारित मतके रूपमे डॉ० ए० एन० उपाध्येके मतको अवश्य ही उपस्थित करना चाहेंगे। यद्यपि ऊहापोहके बाद उन्होने अपना यह मत आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमे निर्दिष्ट किया है किन्तु नन्दिसंघ-पट्टावली व दूसरे प्रमाणोके अनुसार आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके शिष्य होनेके कारण उससे इनके

1. देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित जैन शिलालेखसंग्रह भाग 1, पृ० 195 आदि। 2. देखो धवला पु० 9, पृ० 130। 3. देखो आदिपुराण, पर्व 2, श्लो० 137 से। 4. देखो जैन सिद्धान्तभास्कर किरण 4, पृ० 71। 5 देखो त्रिलोकप्रज्ञप्ति महाधिकार 4 गाथा 1490, 1491। 6. देखो मा० ग्र० मा० से प्रकाशित जैन शिलालेख सग्रह भाग 1, शिलालेख न० 40, 42 और 50 आदि।

समय पर भी सर्वांगीण प्रकाश पड़ता है। वे सब मन्तव्यो और विद्वानोके मतोका ऊहापोह करनेके बाद जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह यह है—

'इतनी लम्बी चर्चा करनेके बाद हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि परम्पराके अनुसार इनका (आचार्य कुन्दकुन्दका) अवस्थिति काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दीके मध्यसे लेकर ईसवी प्रथम शताब्दीके मध्यके भीतर आता है। षट्खण्डागम ईसवी द्वितीय शताब्दी के मध्यकालके पूर्व लिखा जा चुका था, इसलिए इस दृष्टिसे उनका अवस्थिति काल ईसवी द्वितीय शताब्दीके मध्यके आसपास आता है। मर्कराके ताम्रपत्रके अनुसार आचार्य कुन्दकुन्दकी अन्तिम सीमा ईसवी तृतीय शताब्दीके मध्यके पूर्व मानी जा सकती है। इसके साथ ही साथ वे शायद शिवस्कन्द राजाके समकालीन तथा कुरलके लेखक थे। इससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ऊपर बतलायी गयी प्रथम दो शताब्दियोमे थे। मैं इन सबका विचारकर इस तथ्यपर पहुँचा हूँ कि कुन्दकुन्द ईसवी प्रथम शताब्दीमे हुए हैं[1]।'

यह तथ्य है जो आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमे डॉ० ए० एन० उपाध्येने सूचित किया है। नन्दिसघकी पट्टावलीमे उल्लिखित समयकी सीमा लगभग यही है, इसलिए इन सब आधारोंको ध्यानमे रखकर यह कहा जा सकता है कि आचार्य गृद्धपिच्छका समय ईसवी प्रथम शताब्दीमे हुए आचार्य कुन्दकुन्दके बाद होना चाहिए, क्योकि पट्टावलियो व दूसरे शिलालेखोमे आचार्य कुन्दकुन्दके बाद ही इनका नाम आता है और सम्भव है इन दोनोंके मध्य गुरु-शिष्यका सम्बन्ध रहा है। नन्दिसघकी पट्टावलिके अनुसार ये आचार्य कुन्दकुन्दके उत्तराधिकारी हैं यह तो स्पष्ट ही है।

5. **तत्त्वार्थसूत्रके निर्माणका हेतु**—लोकमे यह कथा प्रसिद्ध है कि 'किसी एक भव्यने मोक्षमार्गोपयोगी शास्त्रके निर्माणका विचार कर तदनुसार '**दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.**' सूत्र रचकर दीवाल पर लिख दिया। इसके बाद रोजगार के निमित्त उसके बाहर चले जाने पर चर्याके निमित्त गृद्धपिच्छ आचार्य वहाँ आये और उन्होंने दीवाल पर लिखे हुए सूत्रको अधूरा देखकर उसके प्रारम्भमे '**सम्यक्**' पद जोड़ दिया। जब वह भव्य बाहरसे लौटा और उसने सूत्रके प्रारम्भमे '**सम्यक्**' पद जुडा हुआ देखा तो वह आश्चर्य करने लगा। उसने घरके सदस्योंसे इसका कारण पूछा और ठीक कारण जानकर वह खोजता हुआ गृद्धपिच्छ आचार्यके पास पहुँचा और उन पर अपने अभिप्रायको व्यक्त कर उनसे शास्त्रके रचनेकी प्रार्थना करने लगा। तदनुसार आचार्य महाराजने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की।'[2]

यहाँ देखना यह है कि यह कथा लोकमें प्रचलित कैसे हुई ? क्या इसकी प्रामाणिकताका कोई विश्वस्त आधार है या यह कोरा भावुकतासे प्रेरित श्रद्धालुओंका उच्छ्वासमात्र है ? आगे इसी तथ्यका सागोपाग विचार किया जाता है—

1. श्रुतसागर सूरिने तत्त्वार्थवृत्तिके प्रारम्भमे लिखा है कि किसी समय आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) आश्रममें बैठे हुए थे। उस समय द्वैयाक नामक भव्यने वहाँ आकर उनसे प्रश्न किया—भगवन् ! आत्माके लिए हितकारी क्या है ? भव्यके ऐसा प्रश्न करनेपर आचार्यवर्यने मंगलपूर्वक उत्तर दिया—मोक्ष। यह सुनकर द्वैयाकने पुन: पूछा—उसका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? उत्तरस्वरूप आचार्यवर्यने मोक्षका स्वरूप बतला कर कहा कि यद्यपि मोक्षका स्वरूप इस प्रकार है तथापि प्रवादीजन इसे अन्यथा प्रकारसे मानते हैं। इतना ही नहीं किन्तु इसके मार्गके विषयमे भी वे विवाद करते हैं। कोई चारित्र-शून्य ज्ञानको मोक्षमार्ग मानते हैं, कोई श्रद्धानमात्रको मोक्षमार्ग मानते हैं और कोई ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रको

---

1 प्रवचनसारकी प्रस्तावना पृ० 22 के आधारसे। 2 इस कथाका आधार 13वी शतीमे हुए बालचन्द्र मुनि रचित तत्त्वार्थसूत्रकी कनड़ी टीका ज्ञात होती है। इसमे श्रावकका नाम सिद्धय्य दिया है। देखो प० कैलाशचन्द्रजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० 16।

मोक्षमार्ग मानते हैं। किन्तु जिस प्रकार ओषधिके केवल ज्ञान, दर्शन या प्रयोगसे रोगकी निवृत्ति नही हो सकती उसी प्रकार केवल दर्शन, केवल ज्ञान या केवल चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। भव्यने पूछा तो फिर किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है ? इसीके उत्तरस्वरूप आचार्यवर्य्यने **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग'** यह सूत्र रचा और परिणामस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई है।

2 सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमे भी यही उत्थानिका दी है। श्रुतसागर सूरिने यह उत्थानिका सर्वार्थसिद्धसे ही ली है। अन्तर केवल इतना है कि जिस भव्यने जाकर आचार्य गृद्धपिच्छसे प्रश्न किया है उसे सर्वार्थसिद्धिमे 'कश्चिद् भव्य.' कहा गया है और श्रुतसागर सूरि उसके नामका उल्लेख करते हैं। कह नही सकते उन्होने उस भव्यका यह नाम किन स्रोतोसे प्राप्त किया।

तत्त्वार्थसूत्रकी इन प्रसिद्ध टीकाओके उल्लेखोंसे लोककथाके इस भागका तो समर्थन होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किसी भव्यके निमित्तसे हुई। किन्तु यह ज्ञात नही होता कि पहले उस भव्यने **'दर्शनज्ञानचारित्राणि'** सूत्र रचा और बादमे उसमे सुधारकर भव्यकी प्रार्थना पर सूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। इसलिए इन उल्लेखोसे कथाके सर्वांशका समर्थन न होने पर भी किसी अंशतक वह साधार है यह माननेमे कोई आपत्ति नही दिखाई देती।

4 आचार्य पूज्यपाद

1. महत्ता—भारतीय परम्परामे जो लब्धप्रतिष्ठ तत्त्वद्रष्टा शास्त्रकार हुए हैं उनमे आचार्य पूज्यपाद का नाम प्रमुखरूपसे लिया जाता है। इन्हे प्रतिभा और विद्वत्ता दोनोका समान रूपसे वरदान प्राप्त था। जैन परम्परामे आचार्य समन्तभद्र और सन्मतिके कर्ता आचार्य सिद्धसेनके बाद साहित्यिक जगत्‌मे यदि किसी को उच्चपद पर बिठलाया जा सकता है तो वे आचार्य पूज्यपाद ही हो सकते हैं। इन्होने अपने पीछे जो साहित्य छोडा है उसका प्रभाव दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओमे समानरूपसे दिखाई देता है। यही कारण है कि उत्तरकालवर्ती प्राय अधिकतर साहित्यकारो व इतिहास मर्मज्ञोंने इनकी महत्ता, विद्वत्ता और बहुज्ञता स्वीकार करते हुए इनके चरणोमे श्रद्धाके सुमन अर्पित किये हैं। आदिपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन इन्हें कवियोमे तीर्थंकर मानते हुए इनकी स्तुति मे कहते हैं—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ 1, 52 ॥

जो कवियोमे तीर्थंकरके समान थे और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानोके वचनमलको धोनेवाला है उन देव अर्थात् देवनन्दि आचार्यकी स्तुति करनेमे भला कौन समर्थ है।

यह तो हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं कि जिस प्रकार इन्होने अपनी अनुपम कृतियों द्वारा मोक्षमार्गका प्रकाश किया है उसी प्रकार इन्होने शब्दशास्त्र पर भी विषयको अपनी रचनाएँ भेंट की हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि शरीरशास्त्र जैसे लोकोपयोगी विषयको भी इन्होने अपनी प्रतिभाका विषय बनाया था। तभी तो ज्ञानार्णवके कर्ता आचार्य शुभचन्द्र इनके उक्त गुणोका ख्यापन करते हुए कहते हैं—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥ 1, 15 ॥

जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियोके शरीर, वचन और चित्तके सभी प्रकारके मलको दूर करनेमे समर्थ है उन देवनन्दी आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य गुणनन्दिने इनके व्याकरण सूत्रोंका आश्रय लेकर जैनेन्द्र प्रक्रियाकी रचना की है। वे इसका मंगलाचरण करते हुए कहते हैं—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित् ॥

जिन्होंने लक्षणशास्त्रकी रचना की, मैं उन आचार्य पूज्यपादको प्रणाम करता हूँ। उनके इस लक्षणशास्त्रकी महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि जो इसमे है वही अन्यत्र है और जो इसमे नही है वह अन्यत्र भी नहीं है।

उनकी और उनके साहित्यकी यह स्तुति परम्परा यही समाप्त नही होती। धनंजय, वादिराज, भट्टारक शुभचन्द्र और पद्मप्रभ आदि अनेक ऐसे आचार्य हुए हैं जो इस गुणगाथाकी परम्पराको जीवित रखनेके लिए अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके पदचिह्नों पर चले हैं। अभिप्राय यह है कि आचार्य पूज्यपाद साहित्य-जगत्मे कभी न अस्त होनेवाले वे प्रकाशमान सूर्य थे जिसके आलोकसे दशों दिशाएँ सदा आलोकित होती रहेंगी।

ये हैं वे तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तुत वृत्ति सर्वार्थसिद्धिके रचयिता आचार्य पूज्यपाद जिनका सर्वांग परिचय हमें यहाँ प्राप्त करना है। उसमे भी उनका पूरा नाम क्या है, वे किस संघके अधिपति थे। उनका जीवन परिचय क्या है, उनकी रचनाएँ कौन-कौन हैं और उनका वास्तव्य काल व गुरु-शिष्य परम्परा क्या है आदि विषय विचारणीय हैं जिनका यहाँ हम क्रमश. परिचय प्राप्त करनेका उपक्रम करेंगे। सर्वप्रथम नामको ही लीजिए—

2 नाम—शिलालेखों तथा दूसरे प्रमाणोसे विदित होता है कि इनका गुरुके द्वारा दिया हुआ दीक्षानाम देवनन्दि था, बुद्धिकी प्रखरताके कारण इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि कहते थे और देवोंके द्वारा इनके चरण युगल पूजे गये थे इसलिए वे पूज्यपाद इस नामसे भी लोकमे प्रख्यात थे। इस अर्थको व्यक्त करनेवाले उद्धरण ये हैं—

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः[1] ॥

श्रवणबेलगोला शि० न० 105, वि० स० 1320।

इनके पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि इन नामोंकी सार्थकताको व्यक्त करनेवाले वहींके नं० 108 के एक दूसरे शिलालेखको देखिए—

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥

ये दोनों श्लोक वि० सं० 1355 के शिलालेखके हैं। इनमे कहा गया है कि आचार्य पूज्यपादने धर्म-राज्यका उद्धार किया था, इससे आपके चरण इन्द्रों द्वारा पूजे गये थे। इनके पूज्यपाद इस नामसे सम्बोधित किये जानेका यही कारण है। इनमे वैदुष्य आदि अनेक गुण थे जिनका स्थापन आज भी इनके द्वारा रचे गए शास्त्र कर रहे हैं। ये जिन देवके समान विश्वबुद्धिके धारक थे, कृतकृत्य थे और कामदेवको जीतनेवाले थे, इसलिए योगी जन इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि इस नामसे सम्बोधित करते थे।

इन शिलालेखोंमें व अन्यत्र[2] और भी ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे इनके तीन नामोंकी सार्थकता सिद्ध होती है।

आदिपुराणका एक उद्धरण हम पहले दे आये हैं। उनके तथा वादिराज सूरिके एक उल्लेखसे[3] विदित

---

1. श्रवणबेलगोलके शक सं० 1085 के शिलालेख (जो इससे पूर्ववर्ती है) से भी इस तथ्यका समर्थन होता है। 2 देखो श्रवणबेलगोलका शिलालेख नं० 50 और नन्दिसघ की पट्टावली। 3. पार्श्वनाथचरित सर्ग 1, श्लोक 18।

होता है कि इनका एक नाम 'देव' भी था। मालूम पड़ता है कि इनका दीक्षानाम 'देवनन्दि' होनेसे उसके संक्षिप्त रूप 'देव' इस पद द्वारा उक्त आचार्योंने इनका नामोल्लेख किया है। अतएव यह कोई स्वतन्त्र नाम न होकर 'देवनन्दि' इस नामका ही संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है।

3 संघ—संघोंकी उत्पत्तिका इतिहास इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दिया है। वे लिखते हैं कि जब सौ योजनके मुनि मिलकर अष्टांगनिमित्तज्ञ और धारण-प्रसारण आदि विशुद्ध क्रियाके पालनेवाले आचार्य अर्हद्वलि की देखरेखमें युगप्रतिक्रमण कर रहे थे उस समय युगके अन्तिम दिन युगप्रतिक्रमण करते हुए आचार्य अर्हद्वलिने आये हुए मुनिसमाजसे पूछा कि क्या सभी यतिजन आ गये हैं? इसपर यतिजनोंने उत्तर दिया कि अपने-अपने सकल संघके साथ हम आ गये हैं। तब यतिजनोंके इस उत्तरको सुनकर उन्होंने जान लिया कि यह कलिकाल है। इसमें आगे यतिजन गणपक्षपातके भेदसे रहेंगे, उदास भावसे नहीं रहेंगे और ऐसा विचार कर उन्होंने जो गुफासे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'नन्दि' संज्ञा दी और किन्हीं को 'वीर' संज्ञा दी। जो अशोकवाटिकासे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'अपराजित' संज्ञा दी और किन्हीं को 'देव' संज्ञा दी। जो पंचस्तूपके निवासी वहाँ आये थे उनमेंसे किन्हीं को 'सेन' संज्ञा दी और किन्हीं को 'भद्र' संज्ञा दी। जो शाल्मली महाद्रुमसे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'गणधर' संज्ञा दी और किन्हीं को 'गुप्त' संज्ञा दी और जो खण्डकेसर द्रुमके मूलसे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'सिंह' संज्ञा दी और किन्हींको 'चन्द्र' संज्ञा दी।

इससे विदित होता है कि जो मूलसंघ पहले संघभेद व गण-गच्छके भेदसे रहित होकर एक रूपमें चला आ रहा था वह यहाँ आकर अनेक भागोंमें विभक्त हो गया। यह तो नाना संघोंकी उत्पत्तिकी कथा है। अब जिसे यहाँ पर नन्दिसंघ कहा गया है उसकी परम्पराको देखिए—

शुभचन्द्राचार्य अपने पाण्डवपुराणमें अपनी गुर्वावलीका[1] उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥ 2॥

इसमें कहा गया है कि नन्दिसंघ बलात्कार गण मूलसंघके अन्तर्गत है। उसमें पूर्वोके एकदेश ज्ञाता और मनुष्यों व देवोंसे पूजनीय माघनन्दी आचार्य हुए।

इतना कहनेके बाद इस गुर्वावलीमें माघनन्दीके बाद 4 जिनचन्द्र, 5 पद्मनन्दी (इनके मतसे पद्मनन्दीके चार अन्य नाम थे—कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपृच्छ), 6 तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वाति, 7 लोहाचार्य, 8 यशःकीर्ति, 9 यशोनन्दी और 10 देवनन्दीके नाम दिए हैं। ये सब नाम इसी क्रमसे नन्दिसंघकी पट्टावलीमें भी मिलते हैं। आगे इस गुर्वावलीमें 11 गुणनन्दीके बाद 12 वज्रनन्दीका नाम आता है। जब कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें 11 जयनन्दी और 12 गुणनन्दी इन दो नामोंके बाद 13 वज्रनन्दीका नाम आता है।

यद्यपि इससे आगेकी दोनोंकी आचार्य परम्परा करीब-करीब मिलती हुई हैं। परन्तु विशेष प्रयोजन न होनेसे उसे हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। प्रकृतमें इन आधारोंसे हमें इतना ही सूचित करना है कि आचार्य पूज्यपाद मूलसंघके अन्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कार गणके पट्टाधीश थे। तथा अन्य प्रमाणोंसे[2] यह भी विदित होता है कि इनका गच्छ 'सरस्वती' इस नामसे प्रख्यात था। हमारे प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) इसी परम्पराके पूर्ववर्ती आचार्य थे यह भी इससे विदित होता है।

4 जीवन-परिचय—आचार्य पूज्यपाद कौन थे, उनके माता-पिताका नाम क्या था, वे किस कुलमें

---

1. देखो जैनसिद्धान्तभास्कर भाग 1, किरण 4, पृ० 51। 2. देखो जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग 1, किरण 4, पृ० 43 में उद्धृत शुभचन्द्राचार्यकी पट्टावली।

जन्मे थे इन सब बातोंका परिचय श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण' लेखमें दिया है[1]। उन्होंने यह परिचय कनडी भाषामें लिखे गये 'पूज्यपादचरिते' के आधारसे लिखा है। इसके लेखक 'चन्द्रय्य' कवि थे। श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके लेखसे यह भी[2] विदित होता है कि उनका यह जीवनचरित 'राजावलिकथे' में भी दिया हुआ है। किन्तु इन दोनोंमें कहाँ तक साम्य और वैषम्य है यह इससे विदित नहीं होता। प्रेमीजीके शब्दोंमें कथा संक्षेपमें इस प्रकार है—

'कर्नाटक देशके 'कोले' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया। इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रखा गया। माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टजीके सालेका नाम 'पाणिनि' था। उसे भी उन्होंने जैन बननेको कहा। परन्तु प्रतिष्ठाके ख्यालसे वह जैन न होकर मुडीकुड ग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहन हुई, वह गुणभट्टको ब्याही गयी और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेढकको देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरणकाल निकट आया जानकर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूत्कार किया। इस पर पूज्यपादने कहा—विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक ज्योतिषके कई ग्रन्थ रच चुके थे।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी। उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्धिरसकी वनस्पति बतला दी।

इस सिद्धिरससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े सिद्धरस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा तब धरणेन्द्र पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दीने अपने साथियोंसे झगड़ा करके द्रविड संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र-तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आयीं जो गाने नाचनेमें कुशल थीं। नागार्जुन उन पर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देवविमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गयी थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्योंकी त्यों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।'

श्री मोतीचन्द गौतमचन्द कोठारी फलटनवालोंने सर्वार्थसिद्धिके एक अन्यतम संस्करणका सम्पादन किया है जो सोलापुरसे प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने कुछ युक्तियाँ देकर इस कथाके व्याकरण सम्बन्धी

---

1. देखो जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 123। 2. देखो रत्नकरण्डकी भूमिका।

अंशको यथावत् सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु जैसा कि अन्य तथ्योंसे सिद्ध है कि पाणिनि-व्याकरणके कर्ता पाणिनि ऋषि पूज्यपादसे बहुत पहले हो गये हैं। इतना ही नही पाणिनि व्याकरण पर जो कात्यायनका वार्तिक और पतंजलिका महाभाष्य प्रसिद्ध है वह भी पूज्यपादके कई शताब्दियो पहले लिखा जा चुका था। अतएव केवल इस कथाके आधार पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनिके समयमे हुए हैं और उन्होने उनके अधूरे व्याकरणको पूरा किया था। कथा मे और भी ऐसी अनेक घटनाओ का उल्लेख है जिन्हे अतिशयोक्तिपूर्ण कहा जा सकता है। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनि व्याकरण, उसके वार्तिक और महाभाष्यके मर्मज्ञ थे। इससे ऐसा मालूम पडता है कि ये ब्राह्मण कुलमे उत्पन्न हुए होंगे और अपने जीवनकालके प्रारम्भमे वे अन्य धर्मके माननेवाले रहे होगे। अत इस कथामे जो उनके पिता, माता व कुल आदिका परिचय दिया है वह कदाचित् ठीक भी हो। जो कुछ भी हो, तत्काल इस कथाके आधारसे हम इतना कह सकते हैं कि पूज्यपाद ब्राह्मण कुलमे उत्पन्न हुए थे। उनके पिताका नाम माधवभट्ट और माताका नाम श्रीदेवी था। वे 'कोले' नामक ग्रामके रहनेवाले थे और उनका जन्म नाम पूज्यपाद था। उन्होंने विवाह न कर बचपनमे ही जैनधर्म स्वीकार कर लिया था और आगे चलकर उन्होने साँपके मुँहमे मेढक तड़पता हुआ देख मुनिदीक्षा ले ली थी। उन्होंने अपने जीवन कालमे गगनगामी लेपके प्रभावसे कई बार विदेहक्षेत्रकी यात्रा की थी। श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखके आधारसे यह भी कहा जा सकता है कि जिस जलसे उनके चरण धोये जाते थे उसके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता था[1]। उनके चरणस्पर्शसे पवित्र हुई धूलिमे पत्थरको सोना बनानेकी क्षमता थी इस बातका उल्लेख तो कथा लेखकने भी किया है। एक बार तीर्थयात्रा करते समय उनकी दृष्टि तिमिराच्छन्नहो गयी थी। जिसे उन्होने शान्त्यष्टक-का निर्माण कर दूर किया था। किन्तु इस घटनाका उनके ऊपर ऐसा प्रभाव पडा जिससे उन्होने तीर्थयात्रासे लौटकर समाधि ले ली थी।

स्वरचित साहित्य—आचार्य पूज्यपादने अपने जीवन-कालमे सर्वार्थसिद्धि सहित जिस साहित्यका निर्माण किया था उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **सर्वार्थसिद्धि**—इसका विस्तृत परिचय हम पहले दे आये हैं।[2]

2. **समाधितन्त्र**—इसमे कुल मिलाकर 105 श्लोक हैं। विषय अध्यात्म है। ग्रन्थका नाम समाधितन्त्र है। इसकी सूचना स्वयं आचार्य पूज्यपादने इसके अन्तिम श्लोकमे दी है। एक तो श्रवणबेलगोलके शक स० 1085 के शिलालेख 40 में इसका नाम समाधिशतक दिया है। दूसरे बनारससे मुद्रित होनेवाले प्रथम गुच्छक-मे भी टिप्पण सहित यह छपा है और उसके अन्तमे एक प्रशस्ति श्लोक उद्धृत है जिसमे श्लेष रूपसे इसका नाम समाधिशतक सूचित किया गया है। मालूम पड़ता है कि इन्हीं कारणोंसे इसका दूसरा नाम समाधिशतक प्रसिद्ध हुआ है।

यद्यपि यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपादकी स्वतन्त्र कृति है पर अन्त परीक्षणसे विदित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आगमको आत्मसात् कर उन्होने इसकी रचना की है। उदाहरणस्वरूप नियमसारमे यह गाथा आती है—

णियभावं ण वि मुचइ परभावं णेव गिण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ 97॥

अब इसकी तुलना समाधितन्त्रके इस श्लोकसे कीजिए—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ 30॥

---

1 'श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्र। यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात्कालायस किल तदा कनकीचकार॥' शिलालेख 108 (शक सं० 1355)। 2. देखो प्रस्तावना पृ० 23।

यदि सूक्ष्मतासे अवलोकन कर देखा जाय तो मालूम पड़ता है कि प्रारम्भ ही इसका मोक्षप्राभृतको सामने रख कर हुआ है और लगभग मोक्षप्राभृतके समग्र विषयको स्वीकार कर इसकी रचना की गयी है। मोक्षप्राभृतकी प्रथम गाथा यह है—

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ 1 ॥

अब इसके प्रकाशमे समाधितन्त्रका प्रथम मंगलश्लोक देखिए—

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ 1 ॥

अब मोक्षप्राभृतकी एक दूसरी गाथा लीजिए—

ज मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणदि सव्वहा।
जाणगो दिस्सदे ण तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥

इसी विषयको समाधितन्त्र मे ठीक इन्ही शब्दोंमे व्यक्त किया गया है—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ 18 ॥

इतना ही नही समाधितन्त्र लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने आचार्य कुन्दकुन्दका समयप्राभृत व अन्य श्रुत भी उपस्थित था यह इसके अवलोकनसे स्पष्टत. विदित होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने अभ्यन्तर परिणामोंके विना केवल बाह्यलिंग मोक्षमार्गमे उपयोगी नही है यह बतलाते हुए समयप्राभृतमें कहा है—

पासंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तु वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥ 408 ॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥ 409 ॥

इसी तथ्यको आचार्य पूज्यपादने समाधितन्त्रमे इन शब्दोमे व्यक्त किया है—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एव आत्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥

इसमे जरा भी सन्देह नही है कि जो साधक अपने आत्मकार्यमे उद्यत होना चाहते हैं उनके लिए यह मोक्षमार्गके अनुसन्धानमे प्रदीपस्तम्भके समान है। इसमे आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद करके किस प्रकार यह जीव बहिरात्मपदके त्याग द्वारा अन्तरात्मा बनकर परमात्मपदको प्राप्त करता है इसका सरल और हृदयग्राही कवितामे विवेचन किया गया है।

3 इष्टोपदेश—इसमे कुल मिलाकर 51 श्लोक हैं। विषय स्वरूपसम्बोधन है। ग्रन्थका नाम इष्टोपदेश है यह स्वयं आचार्य पूज्यपादने इसके अन्तिम श्लोकमे व्यक्त किया है।

इसका निर्माण करते हुए आचार्य पूज्यपादके सामने एकमात्र यही दृष्टि रही है कि किसी प्रकार यह संसारी आत्मा अपने स्वरूपको पहचाने और देह, इन्द्रिय तथा उनके कार्योंको अपना कार्य न मानकर आत्मकार्यमे सावधान होनेका प्रयत्न करे। समयप्राभृतका स्वाध्याय करते समय हमे इस भावके पद-पद पर दर्शन होते हैं और इसलिए हम कह सकते हैं कि समयप्राभृत आदिके विषयको आत्मसात् करके ही इसका निर्माण किया गया है। तुलनाके लिए देखिए—

एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ —समयप्राभृत

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजाः भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ 27 ॥ —इष्टोपदेश

रत्तो बंधति कम्मं मुचदि कम्मं विरागसपत्तो ।
एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ —समयप्राभृत

बध्यते मुच्यते जीव. सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ 26 ॥ —इष्टोपदेश

रत्नकरण्डकमे एक श्लोक आता है जिसमे कहा गया है कि धर्मके प्रभावसे कूकर भी देव हो जाता है और अधर्मके प्रभावसे देवको भी कूकर होते देर नही लगती । यथा—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम भवेदन्या संपद् धर्माच्छरीरिणाम् ॥ 1, 29 ॥

इष्टोपदेशमे यही शब्द तो नही हैं पर इनका अनुसरण करते हुए आचार्यवर्य कहते हैं—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ 3 ॥

साधकके लिए आत्मसाधनामे इससे बडी सहायता मिलती है ।

4 दशभक्ति—भक्तियाँ दशसे अधिक हैं । फिर भी वे मुख्यरूपसे दस मानी जाती हैं । श्रीमान् प० पन्नालालजी सोनीने सम्पादित कर **'क्रियाकलाप'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया है । यह सग्रह ग्रन्थ है । इसके प्रथम अध्यायके कुछ प्रकरणोंका सग्रह स्वयं पण्डितजीने किया है ।[1] शेष सग्रह मालूम होता है प्राचीन है । सम्भव है इसके संग्रहकार पण्डित प्रभाचन्द्र हो । इन्होने ही इसके अनेक उपयोगी विषयों पर टीका लिखी है । ये पण्डित थे और इनका नाम प्रभाचन्द्र था—इसकी सूचना नन्दीश्वर-भक्तिके अन्तमे प्रकरण समाप्तिकी पुष्पिका लिखते समय स्वय इन्होंने दी है ।[2] इसमे सब भक्तियो व दूसरे प्रकरणोका सग्रह स्वय इनका किया हुआ है या क्रियाकलापको जो वर्तमान स्वरूप मिला है वह बादका काम है यह हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते,[3] क्योंकि एक तो न स्वय सोनीजीने इसकी व्यवस्थित सूचना दी । सोनीजी यदि इसकी प्रस्तावनामे यह बतलानेकी कृपा करते कि उन्होंने जितनी प्रतियोके आधारसे इसका सम्पादन किया है, वे कहाँकी हैं और उनका लेखन-काल क्या है तो इस बातके निर्णय करनेमे बडी सहायता मिलती कि यह संग्रह कितना पुराना है । दूसरे इसमे ऐसे कई उपयोगी विषयोंका सग्रह है किन्तु उन पर पण्डित प्रभाचन्द्रकी टीका न होनेसे वे उनके सामने थे इस बातको स्वीकार करनेमे सकोच होता है । उदाहरणार्थ प्राकृतनिर्वाणभक्ति जो लोकमे निर्वाणकाण्डके नामसे प्रसिद्ध है, इसमें सगृहीत है पर इस पर उनकी टीका नहीं है । जब कि वह दूसरी भक्तियोंके मध्यमे स्थित है । सोनीजीने मुद्रित क्रियाकलापके सम्बन्धमे अपनी भूमिकामे स्थिति स्पष्ट तो की है पर उससे पूरा प्रकाश नही पड़ता ।

इसमे जितनी भक्तियाँ संगृहीत हैं उनमेसे प्रथम परिच्छेदमे सिद्धिभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति ये सात भक्तियाँ संगृहीत हैं । इनमेसे नन्दीश्वर-

---

1. देखो क्रियाकलाप प्रस्तावना पृ० 2 । 2. 'इति पण्डितप्रभाचन्द्रविरचिताया क्रियाकलापटीकाया भक्तिविवरणः प्रथम. परिच्छेद. समाप्त ।' 3. इतना अवश्य है कि इसके 'दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमण' नामक प्रकरणके अन्तमें एक लेख उपलब्ध होता है जिसमे 1724 स० अंकित है । अतएव इससे पूर्वका यह संग्रह है यह कहा जा सकता है । देखो क्रियाकलाप, प्रस्तावना पृ० 69 ।

भक्ति केवल संस्कृतमें है, शेष सब भक्तियाँ संस्कृत और प्राकृत दोनोंमें हैं। मात्र प्राकृत निर्वाणभक्तिकी संस्कृत टीका नहीं है। इसके आगे दूसरे प्रकरणमें और भी अनेक भक्तियाँ संगृहीत हैं और इन पर भी पण्डित प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका है। इतना अवश्य है कि उनमें जो लघु भक्तियाँ हैं उनपर टीका नहीं है।

इन भक्तियोंके सम्बन्धमें पण्डित प्रभाचन्द्र प्राकृत सिद्धिभक्तिके अन्तमें सूचना करते हैं कि सब संस्कृत भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकी बनायी हुई है और प्राकृत भक्तियाँ आचार्य कुन्दकुन्दकी बनायी हुई है। यथा—

'संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।' क्रियाकलाप पृष्ठ 167।

ये सब भक्तियाँ एक आचार्यकी कृति हैं या अनेककी यह तो निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जिन पण्डित प्रभाचन्द्रने इनकी टीका लिखी है वे सम्भवत पण्डितप्रवर आशाधरके बाद[1] और वि० सं० 1724 के पहले[2] कभी हुए हैं, अतएव इस आधारसे इतना ही कहा जा सकता है कि ये वि० सं० 14वीं शताब्दीके पूर्व कभी लिखी गयी हैं। किन्तु इस कथनसे यह निश्चय नहीं होता कि पण्डित प्रभाचन्द्र इनमेंसे किन संस्कृत और प्राकृत भक्तियोंको क्रमसे पादपूज्य स्वामी और कुन्दकुन्द आचार्यकी मानते रहे। उनके मतसे ये पादपूज्य स्वामी कौन थे यह भी ज्ञात नहीं होता।

पं० पन्नालालजी सोनीने क्रियाकलापकी प्रस्तावनामें लिखा है कि 'सिद्धभक्ति, श्रुतिभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति ये सात संस्कृत भक्तियाँ पादपूज्य स्वामी कृत हैं और प्राकृत सिद्धभक्ति, प्राकृत श्रुतभक्ति, प्राकृत चारित्रभक्ति, प्राकृत योगिभक्ति और प्राकृत आचार्यभक्ति ये पाँच भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत हैं।' किन्तु उन्होंने ऐसा माननेका जो कारण उपस्थित किया है वह समुचित नहीं कहा जा सकता। पण्डित प्रभाचन्द्रने तो केवल इतना ही कहा है कि सब संस्कृत भक्तियाँ पादपूज्य स्वामी कृत हैं और सब प्राकृत भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य कृत हैं और यह भी उन्होंने प्राकृत सिद्धभक्तिकी व्याख्या करते हुए उसके अन्तमें कहा है। परन्तु क्रियाकलापमें जिस क्रमसे इन भक्तियोंका संग्रह है उसे देखते हुए प्राकृत सिद्धभक्तिका क्रमांक दूसरा है। सम्भव है कि सोनीजीने नन्दीश्वरभक्ति पर परिच्छेदकी समाप्ति देखकर यह अनुमान किया हो। जो कुछ भी हो, पण्डित प्रभाचन्द्रके कालमें ये भक्तियाँ पादपूज्य स्वामीकृत और कुन्दकुन्दाचार्यकृत मानी जाती थी इतना स्पष्ट है। विद्वानोंका अनुमान है कि ये पादपूज्य स्वामी आचार्य पूज्यपाद ही होने चाहिए, क्योंकि एक तो इस नामके अन्य कोई आचार्य नहीं हुए हैं। दूसरे इन भक्तियोंका अप्रतिहत प्रवाह और गम्भीर शैली इस बातको सूचित करती है।[3]

इन सब भक्तियोंमें उनके नामानुसार विषयका विवेचन किया गया है। मुनिजन तथा व्रती गृहस्थ दैवसिक आदि प्रतिक्रमणके समय निश्चित क्रमसे इनका प्रयोग करते आ रहे हैं जो आंशिकरूपसे वर्तमान कालमें भी चालू है।

5. जैनेन्द्र व्याकरण—आचार्य पूज्यपादकी अन्यतम मौलिक कृति उनका जैनेन्द्र व्याकरण है। इसका जैनेन्द्र यह नाम क्यों पड़ा? क्या स्वयं आचार्य पूज्यपादको यह नाम इष्ट था इसका निर्णय करना तो कठिन है। परन्तु प्राचीन कालसे यह इसी नामसे सम्बोधित होता आ रहा है यह मुग्धबोधके कर्ता पं० बोपदेवके इस उल्लेखसे स्पष्ट है—

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥' —धातुपाठ

यह पाँच अध्यायोंमें विभक्त है और सूत्र संख्या लगभग 3000 है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता संज्ञा-

---

1. पण्डित प्रभाचन्द्रने अनगारधर्मामृतके दो श्लोक अपनी टीकामें उद्धृत किये हैं। देखो क्रियाकलाप प्रस्तावना पृ० 10। 2 देखो टिप्पणी 3 पृ० 88। 3 देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ० 121।

लाघव है। पाणिनीय व्याकरणमे जिन संज्ञाओंके लिए कई अक्षरोंके संकेत कल्पित किये गये हैं उनके लिए इसमे लाघवसे काम लिया गया है। तुलनाके लिए देखिए—

पाणिनीय व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत	प्र, दी, प
सवर्ण	स्व
अनुनासिक	ङ
गुण	एप्
वृद्धि	ऐप्
निष्ठा	त
प्रातिपदिक	मृत्
लोप	ख

संज्ञालाघव और रचना विशेषके कारण इसमे सूत्रलाघवके भी दर्शन पद-पद पर होते हैं। यथा—

पाणिनीय व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
झरो झरि सवर्णे	झरो झरि स्वे
हलो यमा यमि लोप	हलो यमा यमि खम्
तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्	सस्थानक्रियं स्वम्
ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुत	आकालोऽच् प्रदीप

करके रूपसिद्धि की गयी है वे मत भी कोई नये नही हैं। क्योकि, जैसा कि हम आगे चलकर बतलानेवाले है पाणिनि-व्याकरणमे भी विकल्पसे उनकी सिद्धि दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रश्न होता है कि जब कि आचार्य पूज्यपादके सामने पाणिनि व्याकरण था और उसमे वे प्रयोग उपलब्ध होते थे ऐसी अवस्थामे उन्होने अलगसे इन आचार्योके मतके रूपमे इनका उल्लेख क्यो किया। प्रश्न गम्भीर है और सम्भव है कि कालान्तर में इससे कुछ ऐतिहासिक तथ्यो पर प्रकाश पडे। तत्काल हमारी समझमे इसका यह कारण प्रतीत होता है कि जिस प्रकार पाणिनि ऋषिने अपने व्याकरणमे उनके काल तक रचे गये साहित्यमे उपलब्ध होनेवाले मतो का उनके रचयिताके नामके साथ या 'अन्यतर' आदि पद द्वारा उल्लेख किया है उसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणमे उनके काल तक रचे गये जैन साहित्यमे उपलब्ध होनेवाले मतोंका उनके रचयिताके नामके साथ उल्लेख किया है। मतोका विवरण इस प्रकार है—

भूतवलि—आचार्य भूतवलिके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—**'राद्भूतवलेः'** । 3, 4, 83। भूतवलिके मतानुसार समा शब्दान्त द्विगु समाससे 'ख' प्रत्यय होता है यह इस सूत्रका आशय है। इससे **'द्वैसमिकः'** प्रयोगके स्थानमे **'द्वैसमीनः'** प्रयोग विकल्पसे सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार **'रात्र्यहः संवत्सरात्'** । 3, 4, 84। और **'वर्षाद्रुप च'** । 3, 4, 85। ये दो अन्य सूत्र हैं जो भूतवलि आचार्यके वैकल्पिक मतका प्रतिपादन करते हैं। इनमे से प्रथम सूत्र द्वारा **'द्विरात्रीणः, द्व्यहीनः और द्विसंवत्सरीणः'** आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं तथा दूसरे सूत्र द्वारा **'द्विवर्षः'** आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। जैनेन्द्रव्याकरणमे ये वैकल्पिक कार्य भूतवलि आचार्यके मतसे माने गये हैं।

इन वैकल्पिक कार्योका निर्देश पाणिनिने भी किया है किन्तु वहाँ किस आचार्यके मतसे ये कार्य होते हैं यह नही बतलाया है। इन तीन सूत्रोके स्थानमे क्रमसे पाणिनिके **'द्विगोर्वा 5, 1, 86,' 'रात्र्यहः संवत्सराच्च 5, 1, 87,'** और **'वर्षाल्लुक् च 5, 1, 88।'** ये तीन सूत्र आते हैं।

श्रीदत्त—आचार्य श्रीदत्तके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है **'गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्। 1, 4, 34।'** श्रीदत्त आचार्यके मतसे गुणहेतुक पञ्चमी विभक्ति होती है। परन्तु यह कार्य स्त्रीलिंगमे नही होता। यह इस सूत्रका भाव है। इसके अनुसार **'ज्ञानेन मुक्तः'** के स्थानमे श्रीदत्त आचार्यके मतसे **'ज्ञानान्मुक्तः'** प्रयोग सिद्ध किया गया है। इसके स्थानमे पाणिनि व्याकरणमे **'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्। 2, 3, 25।'** सूत्र उपलब्ध होता है।

यशोभद्र—आचार्य यशोभद्रके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है **'कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य। 2, 1, 99।'** 'कृ, वृष् और मृज्' धातुसे यशोभद्र आचार्यके मतानुसार 'क्यप्' प्रत्यय होता है। तदनुसार **'कृत्यम्, वृष्यम् और मृज्यम्'** ये वैकल्पिक प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसके स्थानमे पाणिनि व्याकरणमे **'मृजेर्विभाषा। 3, 1, 113।'** तथा **'विभाषा कृवृषोः 3, 1, 120।'** ये दो सूत्र उपलब्ध होते हैं।

प्रभाचन्द्र—आचार्य प्रभाचन्द्रके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है **'रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य। 4, 3, 180।'** रात्रि पद उपपद रहते हुए कृदन्त पर रहते प्रभाचन्द्रके मतसे 'मुम्' का आगम होता है। तदनुसार 'रात्रिंचर' वैकल्पिक प्रयोग सिद्ध होता है। इसके स्थानमे पाणिनि व्याकरणका सूत्र है **'रात्रेः कृति विभाषा। 6, 3, 72।'**

समन्तभद्र—आचार्य समन्तभद्रके चार मतोका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य। 5, 4, 140।** पिछले चार सूत्र आचार्य समन्तभद्रके मतसे कहे गये हैं यह इस सूत्रमे बतलाया गया है। वे चार हैं—**'झयो हः। 5, 4, 136। शश्छोऽटि। 5, 4, 137। हलो यमां यमि खम्। 5, 4, 138।** तथा **'झरो झरि स्वे। 5, 4, 139।'** इनके स्थानमे क्रमशः पाणिनिके सूत्र हैं—'झयो होऽन्यतरस्याम्। 8, 4, 62। शश्छोऽटि। 8, 4, 63। हलो यमां यमि लोपः। 8, 4, 64। तथा 'झरो झरि सवर्णे। 8, 4, 65।'

प्रथम सूत्रके अनुसार पदान्त झय् से पर रहते हुए 'ह्' को पूर्वसवर्ण होता है। यथा—'**सुवाग्घसति।**' द्वितीय सूत्रके अनुसार पदान्त झय् से पर रहते हुए 'श' के स्थानमे 'छ' होता है। यथा—'**षट्छ्यामाः।**' तृतीय सूत्रके अनुसार हल् से पर यम्का यम् पर रहते लोप होता है। यथा—'**शय्या**' इस शब्दमे दो यकार हैं और इनके सयोगसे एक तीसरा यकार और प्राप्त हुआ। किन्तु इस सूत्रके नियमानुसार बीचके एक यकारका लोप होकर 'शय्या' यह प्रयोग ही शेष रहता है। चतुर्थ सूत्रके अनुसार हल्से पर झर्का सवर्ण झर् पर रहते हुए लोप होता है। यथा—'**भित्ताम्**' यहाँ एक तीसरे तकारका लोप हो गया है। इस प्रकार ये चार वैकल्पिक कार्य आचार्य समन्तभद्रके मतसे होते हैं। जब कि पाणिनि व्याकरणमे ये कार्य अन्यतरके मतसे माने गये हैं।

सिद्धसेन—आचार्य सिद्धसेनके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—'वेत्ते सिद्धसेनस्य। 5, 1, 7।' विद् धातुसे पर झ् प्रत्ययके स्थानमे आदेशभूत 'अत्' को सिद्धसेनके मतानुसार 'रुट्' का आगम होता है यह इस सूत्रका भाव है। यथा—'सविद्रते।' सविदते प्रयोगमे दकारके बाद और अकारके पूर्व 'रुट्' का आगम होकर यह वैकल्पिक प्रयोग बना है। इस सूत्रके स्थानमे पाणिनि व्याकरणका 'वेत्तेर्विभाषा। 7, 1, 7।' सूत्र उपलब्ध होता है।

इस व्याकरणका सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिकामे एक परिवर्तित रूप उपलब्ध होता है। किन्तु वह उसका बादका परिष्कृत रूप है ऐसा अनेक प्रमाणोके आधारसे प्रेमीजीने सिद्ध किया है। इसका असली पाठ तो वही है जो आचार्य अभयदेव कृत महावृत्तिमे उपलब्ध होता है। इस व्याकरणकी कुछ विशेषताओका हमने उल्लेख किया ही है। और भी कई विशेषताएँ हैं जिनके कारण इसका अपना स्वतन्त्र स्थान है[1]।

उल्लेखोसे ज्ञात होता है कि आचार्य पूज्यपादने उक्त पाँच ग्रन्थोके सिवा कई विषयो पर अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे थे। विवरण इस प्रकार है—

6-7. जैनेन्द्र और शब्दावतार न्यास—शिमोगा जिले के नगर तहसीलके 46वें शिलालेखमे इस बातका उल्लेख है कि आचार्य पूज्यपादने एक तो अपने व्याकरण पर 'जैनेन्द्र' नामक न्यास लिखा था और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक न्यास लिखा था। यथा—

> '**न्यासं जैनेन्द्रसज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो।**
> **न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।**
> **यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद-**
> **स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचःपूर्णदृग्बोधवृत्तः॥**'

ये दोनो अभी तक उपलब्ध नही हुए हैं। इसके लिए प्राचीन शास्त्रभण्डारोमे विशेष अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

8. शान्त्यष्टक—हम पहले आचार्य पूज्यपादकी कथा दे आये हैं। उसके लेखकने इनके बनाये हुए एक '**शान्त्यष्टक**' का उल्लेख किया है। एक शान्त्यष्टक क्रियाकलापमे भी सगृहीत है। इस पर प० प्रभाचन्द्रकी सस्कृत टीका है। शान्त्यष्टकके प्रारम्भमे प० प्रभाचन्द्रजीने जो उत्थानिका दी है उसमे कथालेखक चन्द्रय्य कविके मतका समर्थन करते हुए कहते हैं कि श्री पादपूज्य स्वामीको चक्षुतिमिरव्याधि हो गयी थी जिसे दूर करनेके लिए वे स्तुति करते हुए कहते हैं, '**न स्नेहात्**'। इसके अन्तमे जो श्लोक आता है उसमे '**दृष्टिं प्रसन्नां कुरु**' इत्यादि पदद्वारा भी यही भाव व्यक्त होता है। इससे विदित होता है कि सम्भव है जीवन के अन्तमे पूज्यपाद आचार्यकी दृष्टि तिमिराच्छन्न हो गयी हो और उसे दूर करनेके लिए उन्होने ही शान्त्यष्टक

---

1 इस ग्रन्थकी टीका-टिप्पणी व परिवर्धन आदिका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रेमीजी द्वारा लिखित 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ देखिए।

लिखा हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो शान्त्यष्टक उनकी वह कृति मानी जा सकती है जो सम्भवत सब कृतियोंके अन्तमे लिखी गयी होगी।

9 सारसंग्रह—आचार्य पूज्यपादने एक 'सारसग्रह' नामक ग्रन्थका भी निर्माण किया था ऐसा घवलाके एक उल्लेखसे ज्ञात होता है। यथा—

'सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः-अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।'

सर्वार्थसिद्धिमे आचार्य पूज्यपादने जो नयका लक्षण दिया है इससे इस लक्षणमे बहुत कुछ साम्य है, इसलिए यह माननेका पर्याप्त कारण है कि यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपादकी ही कृति होनी चाहिए।

10. चिकित्साशास्त्र—इस बातको सिद्ध करनेवाले भी कई प्रमाण मिलते हैं कि आचार्य पूज्यपादने वैद्यक विषय पर भी कोई अनुपम ग्रन्थ लिखा था। यथा—

1. आचार्य शुभचन्द्र द्वारा रचित ज्ञानार्णवके एक श्लोकका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। उसमे उनके वचनों को वचनमल और चित्तमलके समान कायमलको दूर करनेवाला कहा गया है।

2. आचार्य उग्रादित्यने अपने कल्याणकारक नामक ग्रन्थमे आचार्य पूज्यपादके वैद्यक विषयक ग्रन्थका उल्लेख **'पूज्यपादेन भाषितः, शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकम्'** इत्यादि शब्दसन्दर्भ द्वारा किया है।

3. हम पहले शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके 46 न० के एक शिलालेखका उल्लेख कर आये हैं उसमे भी उन्हें मनुष्य समाजका हित करनेवाला वैद्यक शास्त्रका रचयिता कहा गया है।

4 विक्रमकी पन्द्रहवी शताब्दीके विद्वान् मगराजने अपने कनडी भाषामे लिखे गये खगेन्द्रमणिदर्पणमे भी आचार्यपूज्यपादके एक चिकित्साग्रन्थका उल्लेख किया है।

इन सब प्रमाणोंसे विदित होता है कि सम्भवतः आचार्यपूज्यपादने चिकित्सा सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा था।

11. जैनाभिषेक—श्रवणवेलगोलके शक सं० 1085 के शिलालेख न० 40 से यह भी विदित होता है कि इन्होंने एक जैन अभिषेक पाठ की भी रचना की थी। उद्धरण इस प्रकार है—

'जैनेन्द्रं निजशब्दभोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्घकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतकस्वास्थ्यं यदीयं विदाम्
आख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः॥'

इसमें कहा गया है कि विद्वानोंके समक्ष जिनका जैनेन्द्र व्याकरण अतुल निज शब्द सम्पत्तिको, सर्वार्थसिद्धि सिद्धान्तमें निपुणताको, जैन अभिषेक कविताकी श्रेष्ठताको और आत्मस्वास्थ्यकर समाधिशतक छन्द.शास्त्रकी सूक्ष्मताको सूचित करता है वे आचार्य पूज्यपाद मुनिगणोंसे सतत पूजनीय है।

पहले हम चन्द्रय्य कविके 'पूज्यपादचरिते' के आधारसे आचार्य पूज्यपादकी सक्षिप्त जीवनी दे आये हैं। उसमें आचार्यपूज्यपादको जैनेन्द्र व्याकरण और वैद्यकके समान अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और ज्योतिषका भी लेखक बतलाया गया है। कह नहीं सकते कि यह उल्लेख कहाँ तक ठीक है। यदि यह साधार हो तो कहना होगा कि आचार्य पूज्यपादने अर्हत्प्रतिष्ठा और ज्योतिष विषय पर भी रचना की थी।

6 समय-विचार—आचार्य पूज्यपाद कब हुए यह प्रश्न विशेष विवादास्पद नही है। पाँचवी शताब्दी के मध्यकाल से लेकर प्राय जितने साहित्यकार हैं उन्होंने किसी न किसी रूपमे या तो उनका या उनके साहित्यका उल्लेख किया है या उनके साहित्यका अनुवर्तन किया है। इस दृष्टिसे हमारे सामने मुख्य रूपसे जिनभद्र गणि क्षमाश्रमणका विशेषावश्यकभाष्य और अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक उपस्थित हैं। भट्ट अकलंकदेवके सामने तत्त्वार्थवार्तिक लिखते समय सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्रव्याकरण उपस्थित था यह उसके

देखनेसे स्पष्टत. परिलक्षित होता है। भट्ट अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिके अधिकतर वाक्योंको वार्तिकोंका रूप देते हुए दिखाई देते हैं[1]। तथा जहाँ उन्हें व्याकरणके नियमोंके उल्लेखकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ वे प्राय: जैनेन्द्रके सूत्रोंका ही उल्लेख करते हैं[2]। इसलिए आचार्य पूज्यपाद भट्ट अकलंकदेवके पहले हुए हैं यह तो सुनिश्चित है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि और विशेषावश्यकभाष्यके तुलनात्मक अध्ययनसे यह भी ज्ञात होता है कि विशेषावश्यकभाष्य लिखते समय जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके सामने सर्वार्थसिद्धि अवश्य ही उपस्थित होनी चाहिए। तुलनाके लिए देखिए—

सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 15 मे धारणा मतिज्ञान का लक्षण इन शब्दोमे दिया है—

'अर्थस्तय कालान्तरेऽविस्मरणकारणम्।'

विशेषावश्यकभाष्यमे इन्हीं शब्दोंको दुहराते हुए कहा गया है—

'कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ ॥ गा० 291 ॥

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 19 में कहा गया है—

'मनोवदप्राप्यकारीति।'

यही बात विशेषावश्यकभाष्यमें इन शब्दो मे व्यक्त की गयी है—

'लोयणमपत्तविसयं मणोव्व ॥ गा० 209 ॥'

सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 20 में यह शङ्का की गयी है कि प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय दोनो ज्ञानोंकी उत्पत्ति एक साथ होती है, इसलिए श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है यह नही कहा जा सकता। यथा—

'आह, प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामान्मतिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोपपद्यत इति।'

अब इसके प्रकाशमें विशेषावश्यकभाष्यकी इस गाथाको देखिए—

'णाणाण्णाणाणि य समकालाइं जओ मइसुयाइं।
तो न सुयं मइपुव्वं मइणाणे वा सुयन्नाणं ॥ गा० 107 ॥'

इस प्रकार यद्यपि इस तुलनासे यह तो ज्ञात होता है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० स० 666) के सामने आचार्य पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि उपस्थित रही होगी पर इससे इनके वास्तव्य काल पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसके लिए आगेके प्रमाण देखिए—

1. शक संवत् 388 (वि० सं० 523) मे लिखे गये मर्करा (कुर्ग) के ताम्रपत्र मे गंगवंशीय राजा अविनीतके उल्लेखके साथ कुन्दकुन्दान्वय और देशीय गणके मुनियोंकी परम्परा दी गयी है। दूसरे प्रमाणोंसे यह भी विदित होता है कि राजा अविनीतके पुत्रका नाम दुर्विनीत था और ये आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे।[3] राजा दुर्विनीतका राज्यकाल वि० स० 538 के लगभग माना जाता है, अत इस आधारसे यह कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद 5वी शताब्दीके उत्तरार्ध और विक्रमकी 6वीं शताब्दीके पूर्वार्धके मध्य कालवर्ती होने चाहिए।

2 वि० स० 990 मे बने देवसेनके दर्शनसारके एक उल्लेखसे भी इस तथ्यकी पुष्टि होती है। देवसेनने यह कहा है कि श्री पूज्यपादके एक शिष्य वज्रनन्दी थे, जिन्होने विक्रम स० 526 मे द्रविड संघकी स्थापना की थी। दर्शनसारका उल्लेख इस प्रकार है—

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥

---

1. देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० 1, सू० 1, वा० 3 आदि। 2. देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० 4, सू० 21।
3. रत्नकरण्डकी प्रस्तावना पृ० 142।

पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
दक्खिणमहुरा जादो दाविडसंघो महामोहो ।।

हम पहले नन्दिसघकी पट्टावलीका उल्लेख कर आये हैं। उसमे देवनन्दी (पूज्यपाद) का समय विक्रम स० 258 से 308 तक दिया है और इनके बाद जयनन्दी तथा गुणनन्दीका नामनिर्देश करनेके बाद वज्रनन्दीका नामोल्लेख किया है। साथ ही हम पहले पाण्डवपुराणके रचयिता शुभचन्द्राचार्यकी गुर्वावलीका भी उल्लेख कर आये है। इसमे भी नन्दिसघके सब आचार्योका नन्दिसघकी पट्टावलीके अनुसार नाम निर्देश किया है। किन्तु इसमे देवनन्दीके बाद गुणनन्दीके नामका उल्लेख करके वज्रनन्दीका नाम दिया है। यहाँ यद्यपि हम यह मान लें कि इन दोनोमे यह मतभेद बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। क्योकि पूर्व परम्पराके अनुसार जिन्हे जिस क्रमसे आचार्योकी परम्परा मिली उन्होने उस क्रमसे उनका नाम निर्देश किया है और ऐसी दशामे एकादि नाम छूट जाना या हेरफेर हो जाना स्वाभाविक है। पर सबसे बडा प्रश्न आचार्य पूज्यपादके समयका है। मर्कराके ताम्रपत्रमे जिन आचार्योका नाम निर्देश है उनमे पूज्यपादका नाम नही आता तथा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतके ये विद्यागुरु थे, इसलिए ऐसा मालूम देता है कि नन्दिसघकी पट्टावलिमे आचार्य पूज्यपादसे पूर्ववर्ती आचार्योंके नाम छूट गये हैं। मर्कराके ताम्रपत्रमे जिन मुनियोंका नामोल्लेख है वे ये हैं—गुणचन्द्र, अभयनन्दि, शीलभद्र, जनानन्दि, गुणनन्दि और चन्द्रनन्दि। तथा नन्दिसघकी पट्टावलिमे आचार्य देवनन्दि और वज्रनन्दिके मध्यमे जयनन्दि और गुणनन्दि ये दो नाम आते हैं। गुणनन्दि यह नाम तो मर्कराके ताम्रपत्रमे भी है और सम्भव है कि मर्कराके ताम्रपत्रमे जिनका नाम जनानन्दि दिया है वे नन्दिसघकी पट्टावलिमे जयनन्दि इस नामसे उल्लिखित किये गये हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो इससे दो समस्याएँ सुलझ जाती हैं। एक तो इससे इस अनुमानकी पुष्टि हो जाती है कि नन्दिसघकी पट्टावलिमे आचार्य पूज्यपादके पूर्ववर्ती कुछ आचार्योके नाम छूट गये हैं। दूसरे नन्दिसघकी पट्टावलिमे आचार्य पूज्यपादके बाद जिन दो आचार्योका नामोल्लेख किया है उन्हे मर्कराके ताम्रपत्रमे उल्लिखित नामोके अनुसार आचार्य पूज्यपादके पूर्ववर्ती मान लेनेसे दर्शनसारके उल्लेखानुसार वज्रनन्दि आचार्य पूज्यपादके अनन्तर उत्तरकालवर्ती ठहर जाते हैं। और इस तरह उनके समयके निर्णय करनेमे जो कठिनाई प्रतीत होती है वह हल हो जाती है। इस प्रकार इन सब तथ्योको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद विक्रम 5वी शताब्दीके उत्तरार्धसे लेकर 6वी शताब्दीके पूर्वार्धके मध्यकालवर्ती होने चाहिए। श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमी प्रभृति दूसरे विद्वानोका भी लगभग यही मत है।[1]

—o—

1. देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ० 115 आदि। प्रेमीजीने आचार्य पूज्यपादके समयका विचार करते समय स्व० डॉ० काशीनाथ बापूजी पाठकके मतका विचारकर जो निष्कर्ष निकाला है उससे हम सहमत हैं।

विषयानुक्रमणिका

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नौवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

टिप्पणियोमे उल्लिखित ग्रन्थोके संकेत-सूची

संकेत	ग्रन्थनाम
अने० ना०	अनेकान्त नाममाला
अ०	अन्य प्रति
आ० नि०	आचाराग निर्युक्ति
आ०	आरा प्रति
गो० क०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड
जी० चू०	जीवट्ठाण चूलिका
जैनेन्द्र०	जैनेन्द्र व्याकरण
ता०	ताडपत्रीय प्रति १
तत्त्वा०	तत्त्वार्थवार्तिक
दि० १	दिल्ली प्रति १
दि० २	दिल्ली प्रति २
धव० प्र० अ०	धवला प्रति अमरावती
ता०	ताडपत्रीय प्रति २
न्या० भा०	न्यायभाष्य
न्यायबिन्दुटी०	न्यायबिन्दु टीका
न्या०सू०	न्यायसूत्र
परि०शे०	परिभाषेन्दुशेखर
प० मु०	परीक्षामुख
पा०, पा०म०भा०	पातञ्जल महाभाष्य
पा० यो०सू०	पातञ्जल योगसूत्र
पञ्च०	पञ्चसग्रह (श्वे)
प्र०वार्तिकाल०	प्रमाणवार्तिकालकार
प्रवचन० क्षे०	प्रवचनसार क्षेत्र
प्रश० व्यो०	प्रशस्तपादभाष्य व्योमवती टीका
बा० अणु	बारह अणुपेक्खा
बा० भा०	बार्हस्पत्य भाष्य
मु०	मुद्रित प्रति (सर्वार्थसिद्धि)
मूला०, मूलाचा०	मूलाचार
युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासन
यो०भा०	योगभाष्य
योगसू०	योगसूत्र
रत्न०	रत्नकरण्डक
वि० भा०	विशेषावश्यक भाष्य
वि० म०	विशुद्धिमग्ग
सन्मति०	सन्मतितर्क
स०प्रा०	समयप्राभृत
स०, सर्वा०	सर्वार्थसिद्धि
सिद्धद्वा०	सिद्धद्वात्रिंशत्का
सौन्दर०	सौन्दरानन्द
सां०कौ०	सांख्यकौमुदी

अ०	अध्याय
प०	पत्र
पृ०	पृष्ठ
श्लो०	श्लोक
सू०	सूत्र

श्रीपूज्यपादाचार्यविरचिता

सर्वार्थसिद्धिः

प्रथमोऽध्यायः

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥1॥

§ 1. कश्चिद् भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म । भगवन्, किं[1] नु खलु आत्मने हितं स्यादिति ? स आह मोक्ष इति । स एव पुनः प्रत्याह—किंस्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति ? आचार्य आह—निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष[2] इति ।

§ 2. तस्यात्यन्तपरोक्षत्वाच्छद्मस्थाः प्रवादिनस्तीर्थंकरमन्यास्तस्य स्वरूपमस्पृशन्तीभिर्वाग्भिर्युक्त्याभासनिबन्धनाभिरन्यथैव परिकल्पयन्ति "चैतन्य[3] पुरुषस्य स्वरूपम्,[4] तच्च ज्ञेया-

---

जो मोक्षमार्गके नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतोके भेदनेवाले हैं और विश्वतत्त्वोके ज्ञाता हैं, उनकी मैं उन समान गुणोकी प्राप्तिके लिए द्रव्य और भाव उभयरूपसे वन्दना करता हूँ ॥1॥

§ 1 अपने हितको चाहनेवाला कोई एक बुद्धिमान् निकट भव्य था । वह अत्यन्त रमणीय भव्य जीवोके विश्रामके योग्य किसी एकान्त आश्रममे गया । वहाँ उसने मुनियोकी सभामे वैठे हुए वचन बोले विना ही, मात्र अपने शरीरकी आकृतिसे मानो मूर्तिमान् मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाले, युक्ति तथा आगममे कुशल, दूसरे जीवोके हितका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करनेवाले और आर्य पुरुषोके द्वारा सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर विनयके साथ पूछा—'भगवन् ! आत्माका हित क्या है ?' आचार्यने उत्तर दिया—'आत्माका हित मोक्ष है ।' भव्यने फिर पूछा—'मोक्षका क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ?' आचार्यने कहा कि—'जब आत्मा भावकर्म द्रव्यकर्ममल कलक और शरीरको अपनेसे सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं ।'

§ 2 वह (मोक्ष) अत्यन्त परोक्ष है, अत अपनेको तीर्थंकर माननेवाले अल्पज्ञानी प्रवादी लोग मोक्षके स्वरूपको स्पर्श नही करनेवाले और असत्य युक्तिरूप वचनोके द्वारा उसका स्वरूप सर्वथा अन्य प्रकारसे बतलाते हैं । यथा—(1. साख्य) पुरुषका स्वरूप चैतन्य है जो ज्ञेयके

---

1 किं खलु आत्मने- आ , अ. । चिं खलु आत्मनो- दि. 1, दि. 2 । 2. मोक्ष त- आ , अ , दि 1 दि. 2 । 3. 'चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति'—योगभा. 1।9। 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्'—योगसू 1।3। 4 स्वरूपमिति त- आ , त ।

कारपरिच्छेदपराङ्मुखम्[1]" इति । तत्सदप्यसदेव [2]निराकारत्वादिति । "[3]बुद्ध्यादिवैशेषिकगुणोच्छेद पुरुषस्य मोक्ष" इति[4] । तदपि परिकल्पनमसदेव, विशेषलक्षणशून्यस्यावस्तुत्वात् । "प्रदीपनिर्वाण[5]कल्पमात्मनिर्वाणम्" इति च । तस्य [6]खरविषाणकल्पना तैरेवाहृत्य निरूपिता । इत्येवमादि । तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः ।

§ 3. तत्प्राप्त्युपायं प्रत्यपि ते विसंवदन्ते—"ज्ञानादेव चारित्रनिरपेक्षात्तत्प्राप्ति, श्रद्धानमात्रादेव वा, ज्ञाननिरपेक्षाच्चारित्रमात्रादेव" इति च । व्याध्यभिभूतस्य तद्विनिवृत्त्युपायभूतभेषजविषयव्यस्तज्ञानादिसाधनत्वाभाववद्[7]व्यस्तं ज्ञानादिर्मोक्षप्राप्त्युपायो न भवति ।

ज्ञानसे रहित है । किन्तु ऐसा चैतन्य सत्स्वरूप होकर भी असत् ही है, क्योकि ऐसा मानने पर उसका स्वपरव्यवसायलक्षण कोई आकार अर्थात् स्वरूप नही प्राप्त होता । (2 वैशेषिक) बुद्धि आदि विशेष गुणोका नाश हो जाना ही आत्माका मोक्ष है । किन्तु यह कल्पना भी असमीचीन है, क्योंकि विशेष लक्षणसे रहित वस्तु नही होती । (3 बौद्ध) जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्माकी सन्तानका विच्छेद होना ही मोक्ष है । किन्तु जैसे गदहेके सीग केवल कल्पनाके विषय होते हैं स्वरूपसत् नही होते वैसे ही इस प्रकारका मोक्ष भी केवल कल्पनाका विषय है स्वरूपसत् नही । यह वात स्वय उन्हीके कथनसे सिद्ध हो जाती है । इत्यादि । इस मोक्षका निर्दोष स्वरूप आगे (दसवे अध्याय के सूत्र 2में) कहेगे ।

§ 3 इसी प्रकार वे प्रवादी लोग उसकी प्राप्तिके विषयमे भी विवाद करते है । कोई मानते हैं कि (1) चारित्रनिरपेक्ष ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । दूसरे मानते है कि (2) केवल श्रद्धानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । तथा अन्य मानते है कि (3) ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । परन्तु जिस प्रकार रोगके दूर करनेकी उपायभूत दवाईका मात्र ज्ञान, श्रद्धान या आचरण रोगीके रोगके दूर करनेका उपाय नही है उसी प्रकार अलग-अलग ज्ञान आदि मोक्षकी प्राप्तिके उपाय नही हैं ।

विशेषार्थ—अव तक जो कुछ वतलाया है यह तत्त्वार्थसूत्र और उसके प्रथम सूत्रकी उत्थानिका है । इसमे सर्व प्रथम जिस भव्यके निमित्तसे इसकी रचना हुई उसका निर्देश किया है । आशय यह है कि कोई एक भव्य आत्माके हितकी खोजमे किसी एकान्त रम्य आश्रममे गया और वहाँ मुनियोकी सभामे वैठे हुए निर्ग्रन्थाचार्यसे प्रश्न किया । इसपरसे इस तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई है । तत्त्वार्थवार्तिकके प्रारम्भमे जो उत्थानिका दी है उससे भी इस वातकी पुष्टि होती है । किन्तु वहाँ प्रथम सूत्रका निर्देश करनेके वाद एक दूसरे अभिप्रायका भी उल्लेख किया है । वहाँ वतलाया है कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके सम्वन्धमे अन्य लोग इस प्रकारसे व्याख्यान करते हैं कि 'इधर पुरुषोकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है, अतः सिद्धान्तकी प्रक्रियाको प्रकट करनेके लिए मोक्षमार्गके निर्देशके सम्वन्धसे आनुपूर्वी क्रमसे शास्त्रकी रचनाका प्रारम्भ करते हुए "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग." यह सूत्र कहा है । यहाँ शिष्य और आचार्य-

---

1. छलम् । तत्– आ. । 2 —त्वात् खरविषाणवत् । वुद्धया– मु. । 3 'नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्ष '– प्रश व्यो. पृ 638 । 4. इति च । तदपि दि 1, अ । 5 'यस्मिन् न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोग । नेच्छाविपन्नप्रियविप्रयोग क्षेम पद नैष्ठिकमच्युत तत् ॥ दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न कांचिद्विदिश न काचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।'—सौन्दर. 16।27-29 । 'प्रदीपस्येव निर्वाण विमोक्षस्तस्य चेतस ।' —प्र. वार्तिकाल. 1।45। 6. -शशविषाणकल्पना– आ, दि 1 अ मु । 7. —वत् । एव व्यस्तज्ञानादि- दि 1, दि 2 मु ।

का सम्बन्ध विवक्षित नही है। किन्तु आचार्यकी इच्छा ससारसागरमे निमग्न प्राणियोंके उद्धार करनेकी हुई। परन्तु मोक्षमार्गके उपदेशके बिना उनके हितका उपदेश नहीं दिया जा सकता; अत. मोक्षमार्गके व्याख्यानकी इच्छासे यह शास्त्र रचा गया। मालूम होता है कि इस उल्लेख-द्वारा तत्त्वार्थवार्तिककारने तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी उत्थानिकाका निर्देश किया है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमे इसी आशयकी उत्थानिका पायी जाती है। श्रुतसागरसूरिने भी अपनी श्रुतसागरीमें यही बतलाया है कि किसी शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे आचार्यवर्यने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। उसमे शिष्यका नाम द्वयाक दिया है। इससे मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धिका यह अभिप्राय मुख्य है कि शिष्यके प्रश्नके निमित्तसे तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है। आगे उत्थानिकामें मोक्षकी चर्चा आ जाने से थोडेमे मोक्षतत्त्वकी मीमासा की गयी है। नियम यह है कि कर्म के निमित्तसे होनेवाले कार्यो मे आत्माकी एकत्व तथा इष्टानिष्ट बुद्धि होनेसे ससार होता है। अतः कर्म, भावकर्म और नोकर्मके आत्मासे अलग हो जाने पर जो आत्माकी अपने ज्ञानादि गुण और आत्मोत्थ अव्याबाध सुखरूप स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते हैं यह सिद्ध होता है। किन्तु अन्य प्रवादी लोग इस प्रकारसे मोक्षतत्त्वका विश्लेषण करनेमे असमर्थ हैं। पूज्यपाद स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ आचार्यके मुखसे ऐसे तीन उदाहरण उपस्थित कराये है जिनके द्वारा मोक्षतत्त्वका गलत तरीकेसे स्वरूप उपस्थित किया गया है। इस प्रसग से सर्व प्रथम साख्यमतकी मीमासा की गयी है। यद्यपि साख्योने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकारके दु.खोका सदाके लिए दूर हो जाना मोक्ष माना है, तथापि वे आत्माको चैतन्य स्वरूप मानते हुए भी उसे ज्ञानरहित मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञान-धर्म प्रकृतिका है तो भी ससर्गसे पुरुष अपनेको ज्ञानवान् अनुभव करता है और प्रकृति अपनेको चेतन अनुभव करती है। इसीसे यहाँ साख्योके मोक्ष तत्त्वकी आलोचना न करके पुरुष तत्त्वकी आलोचना की गयी है और उसे असत् बतलाया गया है। दूसरा मत वैशेषिकों का है। वैशेषिकोने ज्ञानादि विशेष गुणोको समवायसम्बन्ध से यद्यपि आत्मामे स्वीकार किया है तथापि वे आत्मासे उनके उच्छेद हो जानेको उसकी मुक्ति मानते हैं। उनके यहाँ बतलाया है कि बुद्धि आदि विशेष गुणोकी उत्पत्ति आत्मा और मनके सयोगरूप असमवायी कारणसे होती है। मोक्ष अवस्थामे चूकि आत्मा और मनका सयोग नही रहता अत वहाँ विशेष गुणोका सर्वथा अभाव हो जाता है। उनके यहाँ सभी व्यापक द्रव्योके विशेष गुण क्षणिक माने गये हैं, इसलिए वे मोक्षमे ज्ञानादि विशेष गुणोका अभाव होनेमे आपत्ति नही समझते। अब यदि राग-द्वेष आदिकी तरह मुक्तावस्थामे आत्माको ज्ञानादि गुणोसे भी रहित मान लिया जाय तो आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ नही ठहरता, क्योकि जिसका किसी भी प्रकारका विशेष लक्षण नही पाया जाता वह वस्तु ही नही हो सकती। यही कारण है कि इनकी मान्यताको भी असत् बतलाया गया है। तीसरा मत बौद्धोका है। बौद्धोके यहाँ सोपधिशेष और निरुपधिशेष ये दो प्रकारके निर्वाण माने गये हैं। सोपधिशेष निर्वाणमे केवल अविद्या, तृष्णा आदिरूप आस्रवोंका ही नाश होता है, शुद्ध चित्सन्तति शेष रह जाती है। किन्तु निरुपधिशेष निर्वाणमे चित्सन्तति भी नष्ट हो जाती है। यहाँ मोक्षके इस दूसरे भेदको ध्यानमे रखकर उसकी मीमासा की गयी है। इस सम्बन्धमे बौद्धों-का कहना है कि दीपक के बुझा देनेपर जिस प्रकार वह ऊपर-नीचे दायें-बायें आगे-पीछे कहीं नही जाता किन्तु वही शान्त हो जाता है उसी प्रकार आत्माकी सन्तानका अन्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। इसके बाद आत्माकी सन्तान नही चलती, वह वही शान्त हो जाती है। बौद्धों-के इस तत्त्वकी मीमासा करते हुए आचार्य ने बतलाया है कि उनकी यह कल्पना असत् ही है।

§ 4. किं तर्हि ? तत् त्रितयं समुदितमित्याह—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।।1।।

§ 5. सम्यगित्यव्युत्पन्नः शब्दो व्युत्पन्नो वा । अञ्चते. क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति[1]। अस्यार्थः प्रशंसा । स प्रत्येकं परिसमाप्यते । सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति । एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्तम्द्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः । उद्देशमात्रं त्विदमुच्यते[2]—पदार्थानां याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यग्विशेषणम् । येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् । [3]विमोहसंशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् । संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः [4]कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । अज्ञानपूर्वकाचरणनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् ।

§ 6 [5]पश्यति [6]दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम् । जानाति [7]ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा

इस प्रकार थोड़ेमे मोक्ष तत्त्वकी मीमासा करके आचार्यने अन्तमें उसके कारण तत्त्वकी मीमांसा की है। इस सिलसिलेमे केवल इतना ही लिखना है कि अधिकतर विविध मत वाले लोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र इनमे से एक-एकके द्वारा ही मोक्षकी सिद्धि मानते हैं। क्या साख्य, क्या बौद्ध और क्या वैशेषिक इन सबने तत्त्वज्ञान या विद्याको ही मुक्तिका मुख्य साधन माना है। भक्ति-मार्ग या नामस्मरण यह श्रद्धाका प्रकारान्तर है। एक ऐसा भी प्रबल दल है जो केवल नाम-स्मरणको ही ससारसे तरनेका प्रधान साधन मानता है। यह दल इधर बहुत अधिक जोर पकड़ता जा रहा है। अपने इष्ट का कीर्तन करना इसका प्रकारान्तर है। किन्तु जिस प्रकार रोगका निवारण केवल दवाईके दर्शन आदि एक-एक कारणसे नही हो सकता, उसी प्रकार मोक्षकी प्राप्ति भी एक-एकके द्वारा नही हो सकती। तो फिर मोक्षकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? यह प्रश्न शेष रहता है। इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आचार्यने प्रथम सूत्र रचा है। वे कहते हैं—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग है ।।1।।

§ 5. 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणसिद्ध है। जब यह व्याकरणसे सिद्ध किया जाता है तब सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्च् धातुसे क्विप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृतमे इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है। प्रकृत मे इसका अर्थ प्रशसा है। इसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमे-से प्रत्येक शब्दके साथ जोड लेना चाहिए। यथा—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। लक्षण और भेदके साथ इनका स्वरूप विस्तारसे आगे कहेंगे। नाममात्र यहाँ कहते हैं—पदार्थोके यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धानका संग्रह करनेके लिए दर्शनके पहले सम्यक् विशेषण दिया है। जिस जिस प्रकारसे जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं उस उस प्रकारसे उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञानके पहले सम्यक् विशेषण विमोह (अनध्यवसाय), संशय और विपर्यय ज्ञानोंका निराकरण करनेके लिए दिया है। जो ज्ञानी पुरुष संसारके कारणोको दूर करनेके लिए उद्यत है उसके कर्मोंके ग्रहण करनेमे निमित्तभूत क्रियाके उपरम होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। चारित्रके पहले 'सम्यक्' विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरणके निराकरण करने के लिए दिया है।

---

1 -गिति। भोऽम्या- दि 1। 2. -च्यते। पदार्थानां याथा- मु 3. ज्ञानम्। अनध्यवसाय स- मु। 4. -दानमिति तत्क्रियो- दि, 2। 5 -षणम्। स्वयं पश्य- मु.। -षणम्। यस्मादिति पश्य- दि. 1. दि 2। 6 -श्यतेऽनेनेति दृष्टि- मु.। 7. ज्ञप्तिमात्रं मु.। ज्ञानमात्रं दि. 2।

ज्ञानम् । चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्[1] । नन्वेवं स एव कर्त्ता स एव करणमित्यायातम् । तच्च विरुद्धम् । सत्यं, स्वपरिणामपरिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात् । यथाग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेन । उक्त. कर्त्रादिसाधनभावः[2] पर्यायपर्यायिणोरेकत्वानेकत्व प्रत्यनेकान्तोपपत्तौ स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविवक्षोपपत्तेरेकस्मिन्नप्यर्थे न विरुध्यते । अग्नौ दहनादिक्रियायाः कर्त्रादिसाधनभाववत् ।

§ 7. ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात् [3]अल्पाच्तरत्व.च्च । नैतद्युक्तं, युगपदुत्पत्तेः । यदास्य दर्शनमोहस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञान श्रुतज्ञान चाविर्भवति घनपटलविगमे[4] सवितु प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् । [5]अल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति । कथमभ्यर्हितत्वम् ? ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात् । चारित्रात्पूर्वं ज्ञान प्रयुक्तं, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।

---

§ 6. दर्शन, ज्ञान और चारित्रका व्युत्पत्त्यर्थ— दर्शन शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— 'पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्र वा दर्शनम्'—जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाना है या देखनामात्र । ज्ञान शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जानाति ज्ञायते अनेन ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञानम्—जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है या जानना मात्र । चारित्र शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्र वा चारित्रम्—जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है या आचरण करना मात्र । शंका —दर्शन आदि शब्दोंकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर कर्त्ता और करण एक हो जाता है किन्तु यह बात विरुद्ध है ? समाधान—यद्यपि यह कहना सही है तथापि स्वपरिणाम और परिणामीमे भेदकी विवक्षा होनेपर उक्त प्रकारसे कथन किया गया है । जैसे 'अग्नि दाह परिणामके द्वारा ईंधनको जलाती है' यह कथन भेदविवक्षाके होनेपर ही बनता है । यहाँ चूँकि पर्याय और पर्यायीमे एकत्व और अनेकत्वके प्रति अनेकान्त है, अत स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य विवक्षाके होनेसे एक ही पदार्थमे पूर्वोक्त कर्त्ता आदि साधनभाव विरोधको प्राप्त नही होता । जैसे कि अग्निसे दहन आदि क्रियाकी अपेक्षा कर्त्ता आदि साधनभाव बन जाता है, वैसे ही प्रकृतमे जानना चाहिए ।

§ 7. शंका—सूत्रमें पहले ज्ञानका ग्रहण करना उचित है, क्योकि एक तो दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है और दूसरे ज्ञानमे दर्शन शब्दकी अपेक्षा कम अक्षर हैं ? समाधान—यह कहना युक्त नही कि दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है इसलिए सूत्रमे ज्ञानको पहले ग्रहण करना चाहिए, क्योकि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते है । जैसे मेघ-पटलके दूर हो जाने पर सूर्यके प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं, उसी प्रकार जिस समय दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेसे आत्मा सम्यग्दर्शन पर्यायसे आविर्भूत होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं । दूसरे, ऐसा नियम है कि सूत्रमें अल्प अक्षरवाले शब्दसे पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, अत पहले ज्ञान शब्दको न रखकर दर्शन शब्दको रखा है । शंका—सम्यग्दर्शन पूज्य क्यो है ? समाधान—क्योकि सम्यग्दर्शन ज्ञानके सम्यक् व्यपदेशका हेतु है । चारित्र के पहले ज्ञान का प्रयोग किया है, क्योकि चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है ।

---

1. -रित्रम् । उक्त कर्त्रा- आ., ता. न । 2. कर्त्रादिभि सा- मु । 3 'अल्पाच्तरम् ।'—पा. 2।2।34 । 4. -टलविरामे स- आ , अ., दि. 1, दि. 2 । 5 'अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति ।' —पा. म. भा 2।2।2।34 ।

§ 8 सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। तत्प्राप्त्युपायो मार्गः। मार्ग इति चैकवचननिर्देशः समस्तस्य[1] मार्गभावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुदित मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्य.।

§ 9. तत्रादावुद्दिष्टस्य सम्यग्दर्शनस्य लक्षणनिर्देशार्थमिदमुच्यते—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥2॥

§ 10. तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। कथम्? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्,[2]। तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। अर्यंत[3]

§ 8 सब कर्मोका जुदा होना मोक्ष है और उसकी प्राप्तिका उपाय मार्ग है। सूत्रमे 'मार्गः' इस प्रकार जो एकवचन रूपसे निर्देश किया है वह, सब मिलकर मोक्षमार्ग है, इस बात-के जतानेके लिए किया है। इससे प्रत्येकमे मार्गपन है इस बातका निराकरण हो जाता है। अत. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तोनो मिलकर मोक्षका साक्षात् मार्ग है ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—पूर्व प्रतिज्ञानुसार इस सूत्रमे मोक्षमार्गका निर्देश किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका साक्षात् मार्ग हैं यह इस सूत्र का तात्पर्य है। सूत्रकी व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिमें मुख्यतया पाँच विशेषताओ पर प्रकाश डाला गया है जो इस प्रकार हैं—1 दर्शन आदिके पहले 'सम्यक्' विशेषण देनेका कारण। 2 दर्शन आदि शब्दो का व्युत्पत्त्यर्थ। 3. एक ही पदार्थ अपेक्षाभेदसे कर्ता और करण कैसे होता है इसका निर्देश। 4 सूत्रमे सर्व प्रथम दर्शन, तदनन्तर ज्ञान और अन्तमे चारित्र शब्द क्यो रखा है इसका कारण। 5 सूत्रमे 'मोक्षमार्ग' यह एकवचन रखने का कारण। तीसरी विशेषताको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि जैन शासनमे पर्याय-पर्यायीमे सर्वथा भेद न मानकर कथचित् भेद और कथचित् अभेद माना गया है इसलिए अभेद विवक्षाके होनेपर कर्ता साधन बन जाता है और भेद विवक्षाके होनेपर करण साधन बन जाता है। आशय यह है कि जब अभेद विवक्षित होता है तब आत्मा स्वय ज्ञानादि रूप प्राप्त होता है और जब भेद विवक्षित होता है तब आत्मासे ज्ञान आदि भिन्न प्राप्त होते हैं। चौथी विशेषताको स्पष्ट करते हुए जो यह लिखा है कि जिस समय दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम होकर आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय व्यक्त होती है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानका निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं। सो यह आपेक्षिक वचन है। वैसे तो दर्शनमोहनीयका क्षय सम्यग्दृष्टि ही करता है मिथ्यादृष्टि नही, अतः दर्शनमोहनीयके क्षपणाके समय मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानके सद्भाव का प्रश्न ही उपस्थित नही होता, क्योकि दर्शनमोहनीयकी क्षपणाके समय इस जीवके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ही पाये जाते हैं। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव वेदक-सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है उसके भी यही क्रम जान लेना चाहिए। शेष व्याख्यान सुगम है।

§ 9. अब आदिमे कहे गये सम्यग्दर्शनके लक्षणका कथन करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अपने अपने स्वरूपके अनुसार पदार्थोंका जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है ॥2॥

§ 10 तत्त्व शब्द भाव सामान्यका वाचक है, क्योकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमे रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। यहाँ 'तत्' पदसे कोई भी

1. समस्तमार्ग- आ., दि 1, दि. 2। 2. किं पुनस्तत्त्वम्। तद्भावस्तत्त्वम्। पा म. भा पृ 59।
3. अर्य्यंते—आ दि. 2।

इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत् । तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः । अथवा भावेन भाववतोऽभिधानम्, तदव्यतिरेकात् । तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः । तत्त्वार्थस्य श्रद्धान तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन प्रत्येतव्यम् । तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादि ।

§ 11 दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते ? धातूनामनेकार्थत्वाददोषः । प्रसिद्धार्थस्याग कुत इति चेत् ? मोक्षमार्गप्रकरणात् । तत्त्वार्थश्रद्धान ह्यात्मपरिणामो मोक्षसाधनं युज्यते, भव्यजीवविषयत्वात् । आलोकस्तु चक्षुरादिनिमित्तः सर्वससारिजीवसाधारणत्वान्न मोक्षमार्गो युक्त ।

§ 12. अर्थश्रद्धानमिति चेत् ? सर्वार्थप्रसंग । तत्त्वश्रद्धानमिति चेत् ? भावमात्रप्रसग. । 'सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि तत्त्वम्' इति कैश्चित्कल्प्यत इति । तत्त्वमेकत्वमिति वा सर्वैक्यग्रहणप्रसंगः । 'पुरुष एवेद सर्वम्' इत्यादि कैश्चित्कल्प्यत इति । एवं सति दृष्टेष्टविरोध । तस्मादव्यभिचारार्थमुभयोरुपादानम् । तद् द्विविधं, सरागवीतरागविषयभेदात् प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् । आत्मविशुद्धिमात्रमितरत् ।

पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है उसका उस रूप होना यही तत्त्व शब्दका अर्थ है। अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है . अर्यते निश्चीयते इत्यर्थ —जो निश्चय किया जाता है। यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनो शब्दोके सयोगसे तत्त्वार्थ शब्द बना है जो 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थ ' ऐसा समास करने पर प्राप्त होता हैं। अथवा भाव-द्वारा भाववाने पदार्थ का कथन किया जाता है, क्योकि भाव भाववाले से अलग नही पाया जाता। ऐसी हालतमे इसका समास होगा 'तत्त्वमेव अर्थ तत्त्वार्थ '। तत्त्वार्थका श्रद्धान तत्त्वार्थश्रद्धान कहलाता है। उसे ही सम्यग्दर्शन जानना चाहिए।

§ 11. शंका—दर्शन शब्द 'दृशि' धातुसे बना है जिसका अर्थ आलोक है, अत. इससे श्रद्धानरूप अर्थका ज्ञान नही हो सकता है ? समाधान—धातुओके अनेक अर्थ होते हैं, अत 'दृशि' धातुका श्रद्धानरूप अर्थ करने ने कोई दोष नही है। शंका—यहाँ 'दृशि' धातुका प्रसिद्ध अर्थ क्यो छोड़ दिया है ? समाधान—मोक्षमार्गका प्रकरण होने से। तत्त्वार्थोका श्रद्धान आत्माका परिणाम है वह मोक्षका साधन बन जाता है, क्योकि वह भव्योके ही पाया जाता है, किन्तु आलोक चक्षु आदिके निमित्तसे होता है जो साधारण रूपसे सब ससारी जीवोके पाया जाता है, अत उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नही है।

§ 12 शंका—सूत्रमे 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' के स्थानमे 'अर्थश्रद्धानम्' इतना कहना पर्याप्त है ? समाधान—इससे अर्थ शब्दके धन, प्रयोजन और अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं उन सबके ग्रहणका प्रसंग आता है जो युक्त नही है, अत 'अर्थश्रद्धानम्' केवल इतना नही कहा है। शंका—तब 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही ग्रहण करना चाहिए ? समाधान—इससे केवल भाव मात्र के ग्रहणका प्रसंग प्राप्त होता है। कितने ही लोग (वैशेषिक) तत्त्व पदसे सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इत्यादि का ग्रहण करते हैं। अब यदि सूत्रमे 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही रहने दिया जाता है तो इससे इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो युक्त नही है। अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची है, इसलिए सूत्रमे केवल तत्त्व पदके रखने से 'सब सर्वथा एक हैं' इस प्रकार स्वीकार करनेका प्रसग प्राप्त होता है। 'यह सब दृश्य व अदृश्य जग पुरुषस्वरूप ही है' ऐसा किन्हींने माना भी है। किन्तु ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरोध आता है, अत. इन सब दोषोके दूर करने के लिए सूत्रमे 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दोनो पदोका ग्रहण किया है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, सवेग,

अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धिमात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे सम्यग्दर्शनके लक्षणका निर्देश करते हुए बतलाया है कि जीवादि पदार्थोके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए टीकामे मुख्यतया चार बातोको स्पष्ट किया गया है। वे चार बातें ये है—(1) तत्त्व और अर्थ शब्दके निरुक्त्यर्थका निर्देश करके तत्त्वार्थ शब्द कैसे निष्पन्न हुआ है ? (2) 'दृशि' धातुका अर्थ श्रद्धान करना क्यों लिया गया है ? (3) तत्त्व और अर्थ इन दोनो पदोको स्वीकार करनेसे क्या लाभ है ? (4) सम्यग्दर्शनके कितने भेद हैं और उनका क्या स्वरूप है ? प्रकृतमे यद्यपि 'तत्' सर्वनाम पद है और 'त्व' प्रत्यय भाव अर्थमे आया है, अत 'तत्त्व' शब्द भाव सामान्यका वाचक है और अर्थ-पद द्रव्यवाची है। तथापि अर्थ शब्दके धन, प्रयोजन, अभिधेय, निवृत्ति, विषय, प्रकार और वस्तु आदि अनेक अर्थ पाये जाते है, अत इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन न कहलावे, इसलिए तो सूत्रकारने सूत्रमे केवल अर्थपद नही रखा है। इसी प्रकार विभिन्न मतोमें तत्त्व शब्दके भी अनेक अर्थ प्रसिद्ध है। वैशेषिक लोग 'तत्त्व' पदसे सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्वका ग्रहण करते है। उनके यहाँ सामान्य और विशेष ये दोनो स्वतन्त्र पदार्थ माने गये हैं। अब यदि सूत्रमे केवल 'तत्त्व' पद रखा जाता है तो सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इनका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन समझा जा सकता है जो युक्त नही है, इसलिए सूत्रकारने सूत्रमें केवल तत्त्वपद नही रखा है। इसी प्रकार परमब्रह्मवादियोने नाना तत्त्वोको न मानकर ब्रह्मनामका एक ही तत्त्व माना है। उनके मतसे यह जग एक पुरुषरूप ही हैं, इसलिए इस हिसाबसे विचार करनेपर 'तत्त्व' पद एक ब्रह्मका वाची प्राप्त होता है जो युक्त नही है, इसलिए भी सूत्रकारने सूत्रमे केवल तत्त्वपद नही रखा है। यहाँ तत्त्वार्थसे जीवादिक वे सब पदार्थ लिये गये हैं जिनका आगे चौथे सूत्रमे वर्णन किया है। परमार्थरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है यह इस सूत्रका तात्पर्य है। सम्यग्दर्शनमे दर्शन शब्द आया है। उसका एक अर्थ आलोक होता है तथापि यहाँ इसका श्रद्धान अर्थ लिया गया है, क्योकि दर्शनका आलोक अर्थ लेनेपर चक्षु आदिके निमित्तसे होनेके कारण वह चक्षुरिन्द्रिय आदि सब ससारी जीवोके प्राप्त होता है, अतः प्रकृतमें वह उपयोगी नही ठहरता। किन्तु तत्त्वार्थ विषयक श्रद्धान भव्योमे भी किसी-किसी आसन्नभव्यके ही पाया जाता है जो प्रकृतमे उपयोगी है, अत यहाँ दर्शनका अर्थ आलोक न करके श्रद्धान किया है। आशय यह है कि जीवादि नौ पदार्थोमे भूतार्थरूपसे एक त्रिकालीअखण्डआत्मा ही प्रद्योतित हो रहा है, अत ऐसे निजात्माकी अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है। प्रत्येक आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, अतः ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है और वही सम्यग्दर्शन है यह इसका भाव है। प्रकृतमें सम्यग्दर्शनके जो दो भेद किये गये हैं—एक सराग सम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन सो प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार ऐसे चिह्न हैं जो आत्मविशुद्धिरूप परमार्थ सम्यग्दर्शन के ज्ञापक है। इसलिए इस अपेक्षा व्यवहार से इन्हे भी सम्यग्दर्शन कहा गया है। किन्तु इसे जो परमार्थस्वरूप जानते है यह उनकी भूल है। नियम यह है कि जितनी सम्यग्दर्शनादि स्वभावपर्याय होती हैं, वे मात्र स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त, कर्म से अनाकृत होने के कारण नित्य उद्योतस्वरूप और विशद ज्योतिज्ञापक आत्माका अपने उपयोगके अवलम्बन लेनेसे ही उत्पन्न होती हैं। इसीलिए मूलमे सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्यायको आत्मविशुद्धिमात्र कहा है, क्योकि यह मिथ्यात्व आदि कर्मोके उदयमें न होकर उनके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होने पर ही होता है। इतना अवश्य है कि यह सम्यग्दर्शन चौथे आदि गुणस्थानों मे भी पाया जाता है, अतः इसके सद्भावमे जो पराश्रित प्रशमादि भाव होते हैं

§ 13 अथैतत्सम्यग्दर्शनं जीवादिपदार्थविषयं[1] कथमुत्पद्यत इत्यत आह—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥3॥

§ 14 निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः । अधिगमोऽर्थावबोधः । तयोर्हेतुत्वेन निर्देशः । कस्याः ? क्रियायाः । का च क्रिया ? उत्पद्यत इत्यध्याह्रियते, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम् । [2]तदेतत्सम्यग्दर्शनं निसर्गादधिगमाद्वोत्पद्यत इति ।

§ 15. अत्राह—निसर्गजे सम्यग्दर्शनेऽर्थाधिगमः स्याद्वा न वा । यद्यस्ति, तदपि अधिगमजमेव नार्थान्तरम् । अथ नास्ति, कथमनवबुद्धतत्त्वस्यार्थश्रद्धानमिति ? नैष दोषः, उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा । तस्मिन्सति यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम् । यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं[3] तदुत्तरम् । इत्यनयोरयं भेदः ।

§ 16. तद्ग्रहणं किमर्थम् ? अनन्तरनिर्देशार्थम् । अनन्तरं सम्यग्दर्शनं तदित्यनेन

वे इसके ज्ञापक या सूचक होने से निमित्तपनेकी अपेक्षा कारणमें कार्य का उपचार करके इन्हे व्यवहारसे सराग सम्यग्दर्शन कहा गया है। रागादिकी तीव्रताका न होना प्रशमभाव है। ससारसे भीतरूप परिणाम का होना सवेगभाव है। सब जीवो मे दयाभाव रख कर प्रवृत्ति करना अनुकम्पा है और जीवादिपदार्थ सत्स्वरूप है, लोक अनादि अनिधन है, इसका कर्ता कोई नही है तथा निमित्त-नैमित्तिक भावके रहते हुए भी अपने परिणामस्वभाव के कारण सबका परिणमन स्वय होता है, आगम और सद्गुरुके उपदेशानुसार ऐसी प्राजल वुद्धिका होना आस्तिक्यभाव है।

§ 13 अव जीवादि पदार्थोंको विषय करनेवाला यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्गसे और अधिगमसे उत्पन्न होता है ॥3॥

§ 14. निसर्गका अर्थ स्वभाव है और अधिगमका अर्थ पदार्थका ज्ञान है। सूत्रमे इन दोनोका हेतुरूपसे निर्देश किया है। **शंका**—इन दोनोका किसके हेतुरूपसे निर्देश किया है ? **समाधान**—क्रियाके। **शंका**—वह कौन-सी क्रिया है ? **समाधान**—'उत्पन्न होता है' यह क्रिया है। यद्यपि इसका उल्लेख सूत्रमे नही किया है तथापि इसका *अध्याहार* कर लेना चाहिए, क्योकि सूत्र उपस्कार सहित होते है। यह सम्यग्दर्शन निसर्गसे और अधिगमसे उत्पन्न होता है यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ 15. **शंका**—निसर्गज सम्यग्दर्शनमे पदार्थोंका ज्ञान होता है या नही। यदि होता है तो वह भी अधिगमज ही हुआ, उससे भिन्न नही। यदि नही होता है तो जिसने पदार्थोको नही जाना है उसे उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नही, क्योकि दोनो सम्यग्दर्शनोमे दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप *अन्तरग कारण समान* है। इसके रहते हुए जो बाह्य उपदेशके विना होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है और जो वाह्य उपदेशपूर्वक जीवादि पदार्थोके ज्ञानके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। यही इन दोनो मे भेद है।

§ 16. **शंका**—सूत्रमे 'तत्' पदका ग्रहण किसलिए किया है ? **समाधान**—इस सूत्रसे पूर्वके सूत्रमे सम्यग्दर्शन का ग्रहण किया है उसीका निर्देश करनेके लिए यहाँ 'तत्' पदका ग्रहण

---

1 —षय तत् कथ—आ, दि 1, दि 2। 2 तदेव सम्य—आ, दि 1, दि 2, अ.। 3 —मित्त स्यात् तदु- मु.।

निर्दिश्यते। इतरथा मोक्षमार्गोऽपि प्रकृतस्तस्याभिसंबन्धः स्यात्। ननु च 'अनन्तरस्य[1] विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इत्यनन्तरस्य सम्यग्दर्शनस्य ग्रहणं सिद्धमिति[2] चेत्? न, 'प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः' इति मोक्षमार्ग एव संबध्येत। तस्मात्तद्वचनं क्रियते।

§ 17. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। अथ किं तत्त्वमित्यत इदमाह—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥4॥

किया है। अनन्तरवर्ती सूत्रमे सम्यग्दर्शनका ही उल्लेख किया है उसे ही यहाँ 'तत्' इस पद-द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यदि 'तत्' पद न देते तो मोक्षमार्गका प्रकरण होनेसे उसका यहाँ ग्रहण हो जाता। **शंका** 'अगले सूत्रमे जो विधि-निषेध किया जाता है वह अव्यवहित पूर्वका ही समझा जाता है' इस नियम के अनुसार अनन्तरवर्ती सूत्रमे कहे गये सम्यग्दर्शनका ग्रहण स्वतःसिद्ध है, अतः सूत्रमे 'तत्' पद देनेकी आवश्यकता नही है? **समाधान**—नही, क्योकि 'समीपवर्तीसे प्रधान वलवान् होता है' इस नियमके अनुसार यहाँ मोक्षमार्गका ही ग्रहण होता। किन्तु यह बात इष्ट नही है अत सूत्रमे 'तत्' पद दिया है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके निमित्तोपर विचार किया गया है। आगममे पाँच लब्धियोमे एक देशना लब्धि वतलायी है। जिस जीवने वर्तमान पर्यायमे या पूर्व पर्यायमे कभी भी जीवादि पदार्थविषयक उपदेश बुद्धिपूर्वक नही स्वीकार किया है उसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही हो सकती। किन्तु जिस जीवको इस प्रकारके उपदेशका योग बन गया है उसे तत्काल या कालान्तरमें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। यहाँ इसी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद किये गये है। जो सम्यग्दर्शन वर्तमान मे उपदेशके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है और जो वर्तमान मे विना उपदेशके होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है यह इस सूत्रका भाव है। यद्यपि अधिगम शब्दका अर्थ ज्ञान है तथापि प्रकृतमे इसका अर्थ परोपदेशपूर्वक होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए। इसीसे निसर्ग शब्दका अर्थ 'परोपदेश के विना' फलित हो जाता है। यद्यपि इन दोनो सम्यग्दर्शनोमे दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षमोपशमरूप अन्तरग कारण समान है, तथापि वाह्य उपदेश और अनुपदेशकी अपेक्षा इन दोनोमे भेद है। यहाँ यह शका उत्पन्न होती है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन जव कि केवली और श्रुतकेवलीके पादमूलमे ही होता है तव उसमे सम्यग्दर्शनका निसर्गज भेद न घटकर केवल अधिगमज यही भेद घट सकता है, फिर क्या कारण है कि टीकामे अन्तरग कारणोका निर्देश करते समय उपशम और क्षयोपशमके साथ क्षयका भी निर्देश किया है। सो इस शकाका समाधान यह है कि दूसरे और तीसरे नरकसे आकर जो जीव तीर्थंकर होते है उनके लिए क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमे परोपदेशकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु परोपदेशके विना ही उनके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हुई देखी जाती है, अत क्षायिक सम्यग्दर्शनमे भी निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद घट जाते हैं। यही कारण है कि प्रकृतमे तीनो प्रकारके सम्यग्दर्शनोको निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो-दो प्रकारका वतलाया है।

§ 17 जीवादि पदार्थोका श्रद्धान करना सम्यग्दशन है यह पहले कह आये हैं। अब तत्त्व कौन-कौन है इस बातके बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते है—

जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं ॥4॥

---

1. 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति।' —पा म भा पृ. 335। परि शे. पृ 380। 2. सिद्धं प्रत्या— दि 1, दि. 2, आ., क।

§ 18. तत्र चेतनालक्षणो जीवः । सा[1] च ज्ञानादिभेदादनेकधा भिद्यते । तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः । शुभाशुभकर्मागमद्वाररूपं आस्रवः । आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः । आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः । एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा । कृत्स्नकर्म[2]वियोगलक्षणो मोक्षः । एषां प्रपञ्च उत्तरत्र वक्ष्यते । सर्वस्य फलस्यात्माधीनत्वादादौ जीवग्रहणम् । तदुपकारार्थत्वात्तदनन्तरमजीवाभिधानम् । तदुभयविषयत्वात्तदनन्तरमास्रवग्रहणम् । तत्पूर्वकत्वात्तदनन्तरं बन्धाभिधानम् । संवृतस्य बन्धाभावात्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं[3] तदनन्तरं संवरवचनम् । संवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके निर्जरावचनम् । अन्ते प्राप्यत्वान्मोक्षस्यान्ते वचनम् ।

§ 19. इह पुण्यपापग्रहणं[4] कर्त्तव्यम् । 'नव पदार्थाः' [5]इत्यन्यैरप्युक्तत्वात् । न [6]कर्त्तव्यम्, आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात् । यद्येवमास्रवादिग्रहणमनर्थकं, जीवाजीवयोरन्तर्भावात् । नानर्थकम् । इह मोक्षः प्रकृतः । सोऽवश्यं निर्देष्टव्यः । स च संसारपूर्वकः । संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च । मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च । अतः प्रधानहेतुहेतुमत्फलनिदर्शनार्थत्वात्पृथगुपदेशः कृतः । दृश्यते हि सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य[7] पृथगुपादानं प्रयोजनार्थम् । 'क्षत्रिया आयाताः सूरवर्माऽपि' इति ।

---

§ 18 इनमें-से जीवका लक्षण चेतना है जो ज्ञानादिकके भेदसे अनेक प्रकारकी है। जीवसे विपरीत लक्षणवाला अजीव है। शुभ और अशुभ कर्मोंके आनेके द्वार रूप आस्रव है। आत्मा और कर्मके प्रदेशोंका परस्पर मिल जाना बन्ध है। आस्रवका रोकना सवर है। कर्मोंका एकदेश अलग होना निर्जरा है और सब कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है। इनका विस्तारसे वर्णन आगे करेंगे। सब फल जीवको मिलता है, अतः सूत्रके प्रारम्भमे जीवका ग्रहण किया है। अजीव जीवका उपकारी है यह दिखलाने के लिए जीवके बाद अजीवका कथन किया है। आस्रव जीव और अजीव दोनोको विषय करता है अतः इन दोनोके बाद आस्रवका ग्रहण किया है। बन्ध आस्रव पूर्वक होता है, इसलिए आस्रवके बाद बन्धका कथन किया है। संवृत जीवके बन्ध नही होता, अत सवर बन्धका उलटा हुआ इस बातका ज्ञान करानेके लिए बन्धके बाद संवरका कथन किया है। सवरके होनेपर निर्जरा होती है, इसलिए सवरके पास निर्जरा कही है। मोक्ष अन्तमें प्राप्त होता है, इसलिए उसका अन्तमें कथन किया है।

§ 19. **शंका**—सूत्रमे पुण्य और पापका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पदार्थ नौ है ऐसा दूसरे आचार्योंने भी कथन किया है। **समाधान**—पुण्य और पापका ग्रहण नही करना चाहिए, क्योंकि उनका आस्रव और बन्धमें अन्तर्भाव हो जाता है। **शंका**—यदि ऐसा है तो सूत्रमे अलगसे आस्रव आदिका ग्रहण करना निरर्थक है, क्योंकि उनका जीव और अजीवमे अन्तर्भाव हो जाता है। **समाधान**—आस्रव आदिका ग्रहण करना निरर्थक नही है, क्योंकि यहाँ मोक्षका प्रकरण है इसलिए उसका कथन करना आवश्यक है। वह ससारपूर्वक होता है और ससारके प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्षके प्रधान कारण सवर और निर्जरा हैं, अत प्रधान हेतु, हेतुवाले और उनके फलके दिखलानेके लिए अलग-अलग उपदेश किया है। देखा भी जाता है कि किसी विशेषका सामान्यमे अन्तर्भाव हो जाता है तो भी प्रयोजनके अनुसार उसका अलगसे ग्रहण किया जाता है। जैसे क्षत्रिय आये हैं और सूरवर्मा भी। यहाँ यद्यपि सूरवर्माका क्षत्रियोमे अन्तर्भाव हो जाता है तो भी प्रयोजनके अनुसार उसका अलगसे ग्रहण किया है। इसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए।

---

1. जीवः । स च —आ, दि. 2 । 2 विप्रयोग— मु । 3 —त्यर्थं सवर— आ, दि 1, दि 2 ब । 4. —हणं च कर्त— मु. । 5. कुन्दकुन्दाद्यैः । 6 —व्यं तयोरास— मु. । 7. —षस्य यथोपयोग पृथ— मु ।

§ 20. तत्त्वशब्दो भाववाचीत्युक्त.। स कथं जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः सामानाधिकरण्यं प्रतिपद्यते ? अव्यतिरेकात्तद्भावाध्यारोपाच्च सामानाधिकरण्यं भवति। यथा 'उपयोग एवात्मा' इति। यद्येव तत्तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तिः प्राप्नोति ? [1]'विशेषणविशेष्यसबन्धे सत्यपि शब्दशक्ति-व्यपेक्षया उपात्तलिङ्गसंख्याव्यतिक्रमो न भवति।' अय क्रम आदिसूत्रेऽपि योज्यः।

§ 21. एवमेषामुद्दिष्टानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां च सव्यवहारविशेषव्यभिचार-निवृत्त्यर्थमाह—

---

§ 20 शंका—तत्त्व शब्द भाववाची है यह पहले कह आये हैं, इसलिए उसका द्रव्यवाची जीवादि शब्दोके साथ समानाधिकरण कैसे हो सकता है ? समाधान—एक तो भाव द्रव्यसे अलग नही पाया जाता, दूसरे भावमे द्रव्यका अध्यारोप कर लिया जाता है, इसलिए समानाधिकरण वन जाता है। जैसे, 'उपयोग ही आत्मा है' इस वचनमे गुणवाची उपयोग शब्दके साथ द्रव्यवाची आत्मा शब्दका समानाधिकरण है उसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। शंका—यदि ऐसा है तो विशेष्यका जो लिंग और सख्या है वही विशेषणको भी प्राप्त होते हैं ? समाधान—व्याकरणका ऐसा नियम है कि 'विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिंग और सख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लघन नही होता।' अत. यहाँ विशेष्य और विशेषण-से लिंग और सख्याके अलग-अलग रहने पर भी कोई दोष नही है। यह क्रम प्रथम सूत्रमे भी लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे सात तत्त्वोका निर्देश किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए मुख्यतया पाँच वातोपर प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार हैं—(1) जीवादि सात तत्त्वोका स्वरूप-निर्देश। (2) सूत्रमे जीव अजीव इस क्रमसे सात तत्त्वो के निर्देश करनेकी सार्थकता। (3) पुण्य और पापको पृथक् तत्त्व नही सूचित करनेका कारण। (4) भाववाची शब्दोका द्रव्यवाची शब्दोके साथ कैसे समानाधिकरण बनता है इसकी सिद्धि। (5) विशेषण और विशेष्यमे समान लिंग और समान सख्या क्यो आवश्यक नही इसका निर्देश। तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए जो लिखा है उसका आशय यह है कि जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिके आधारसे वँधनेवाले कर्मोमे अनुभागके अनुसार पुण्य-पापका विभाग होता है, इसलिए आस्रव और बन्धमे इनका अन्तर्भाव किया गया है। पाँचवी वातको स्पष्ट करते हुए जो यह लिखा है कि विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिंग और सख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लघन नही होता, सो इसका यह आशय है कि एक तो जिस शब्दका जो लिंग है वह नही वदलता। उदाहरणार्थ 'ज्ञानं आत्मा' इस प्रयोगसे ज्ञान शब्द नपुंसक लिंग और आत्मा शब्द पुंलिंग रहते हुए भी इनमे वदल नही होता। इन दोनो शब्दोका विशेषण-विशेष्य रूपसे जव भी प्रयोग किया जायेगा तव वह इसी प्रकार ही किया जायेगा। दूसरे, प्रयोगके समय जिस शब्द ने जो सख्या प्राप्त कर ली है उसमे भी वदल नही होता। जैसे 'साधोः कार्यं तपःश्रुते' इस पयोगमे विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी 'कार्यम्' एकवचन है और 'तपः-श्रुते' द्विवचन है। इसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। शेष कथन सुगम है।

§ 21 इस प्रकार पहले जो सम्यग्दर्शन आदि और जीवादि पदार्थ कहे हैं उनका शब्द प्रयोग करते समय विवक्षाभेदसे जो गडवडी होना सम्भव है उसको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

---

1. 'आविष्टलिंगा जातिर्यल्लिंगमुपादाय प्रवर्त्तते उत्पत्तिप्रभृत्या विनाशान्न तल्लिंगं जहाति।' पा. 1।2।253। अन्येऽपि वै गुणवचना नावश्य द्रव्यस्य लिंगसख्ये अनुवर्तन्ते।—पा म. भा. 5।1।1।59।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।।5।।

§ 22. अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं [1]पुरुषकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम। काष्ठ-पुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना। गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्द्रोष्यते गुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्। वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। तद्यथा, नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो न्यस्यते। जीवनगुणमनपेक्ष्य यस्य कस्यचिन्नाम क्रियमाणं नाम जीवः। अक्षनिक्षेपादिषु जीव इति वा मनुष्यजीव इति वा व्यवस्थाप्यमानः स्थापनाजीवः। द्रव्यजीवो द्विविधः आगमद्रव्यजीवो नोआगमद्रव्यजीवश्चेति। तत्र जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीवः। नोआगमद्रव्यजीवस्त्रेधा व्यवतिष्ठते ज्ञायकशरीरभावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तज् ज्ञायकशरीरम्। सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति, जीवनसामान्यस्य सदापि विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया त्वस्ति। गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभव[2]प्राप्तिं प्रत्यभिमुखो मनुष्यभाविजीव। तद्व्यतिरिक्तः कर्मनोकर्मविकल्पः। भावजीवो द्विविधः आगमभावजीवो नोआगमभावजीवश्चेति। तत्र जीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा आगमभावजीवः। जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवत्वपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः। एवमितरेषामपि पदार्थानां[3] नामादिनिक्षेपविधिर्नियोज्यः। स किमर्थं? अप्रकृतनिराकरणाय

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूपसे उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदिका न्यास अर्थात् निक्षेप होता है ।।5।।

§ 22 संज्ञाके अनुसार गुणरहित वस्तुमे व्यवहारके लिए अपनी इच्छासे की गयी संज्ञाको नाम कहते हैं। काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदिमे 'वह यह है' इस प्रकार स्थापित करनेको स्थापना कहते है। जो गुणोके द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणोको प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणोके द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणोको प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं। वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते है। विशेष इस प्रकार है—नामजीव, स्थापना-जीव, द्रव्यजीव और भावजीव, इस प्रकार जीव पदार्थका न्यास चार प्रकारसे किया जाता है। जीवन गुणकी अपेक्षा न करके जिस किसीका 'जीव' ऐसा नाम रखना नामजीव है। अक्षनिक्षेप आदिमे यह 'जीव है' या 'मनुष्य जीव है' ऐसा स्थापित करना स्थापना-जीव है। द्रव्यजीवके दो भेद हैं—आगम द्रव्यजीव और नोआगम द्रव्यजीव। इनमे-से जो जीवविषयक या मनुष्य जीवविषयक शास्त्रको जानता है किन्तु वर्तमानमे उसके उपयोगसे रहित है वह आगम द्रव्यजीव है। नोआगम द्रव्यजीवके तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। ज्ञाताके शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं। जीवन सामान्यकी अपेक्षा 'नोआगम भाविजीव' यह भेद नही बनता, क्योकि जीवनसामान्यकी अपेक्षा जीव सदा विद्यमान है। हाँ, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा 'नोआगम भाविजीव' यह भेद बन जाता है, क्योकि जो जीव दूसरी गतिमे विद्यमान है वह जब मनुष्य भवको प्राप्त करनेके लिए सम्मुख होता है तब वह मनुष्य भाविजीव कहलाता है। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कर्म और नोकर्म। भावजीवके दो भेद हैं—आगम भावजीव और नोआगम भावजीव। इनमे-से जो आत्मा जीवविषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है अथवा मनुष्य जीवविषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है वह आगम भाव जीव है। तथा जीवन पर्याय या मनुष्य जीवन पर्यायसे युक्त आत्मा नोआगम भाव

---

1. पुरुषाका— मु.। 2. —प्यभाव— आ., दि. 2। 3 —र्थनामजीवाना नामा— मु।

प्रकृतनिरूपणाय च। निक्षेपविधिना[1] शब्दार्थः प्रस्तीर्यते। तच्छब्दग्रहणं किमर्थम्? सर्वसंग्रहार्थम्। असति हि तच्छब्दे सम्यग्दर्शनादीनां प्रधानानामेव न्यासेनाभिसंबन्धः स्यात्, तद्विषयभावेनोपगृहीतानां जीवादीनां अप्रधानानां न स्यात्। तच्छब्दग्रहणे पुनः क्रियमाणे सति सामर्थ्यात्प्रधानानामप्रधानानां च ग्रहणं सिद्धं भवति।

§ 23. एवं नामादिभिः प्रस्तीर्णानामधिकृतानां तत्त्वाधिगमः कुतः इत्यत इदमुच्यते—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥6॥

§ 24. नामादिनिक्षेपविधिनोपक्षिप्तानां जीवादीनां [2]तत्त्वं प्रमाणाभ्यां नयैश्चाधि[5]गम्यते।

जीव कहलाता है। इसी प्रकार अजीवादि अन्य पदार्थोंकी भी नामादि निक्षेप विधि लगा लेना चाहिए। शंका—निक्षेप विधिका कथन किस लिए किया जाता है? समाधान—अप्रकृतका निराकरण करने के लिए और प्रकृतका निरूपण करनेके लिए इसका कथन किया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतमे किस शब्दका क्या अर्थ है यह निक्षेप विधिके द्वारा विस्तारसे बतलाया जाता है। शंका—सूत्रमे 'तत्' शब्दका ग्रहण किस लिए किया है? समाधान—सबका सग्रह करनेके लिए सूत्रमे 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है। यदि सूत्रमे 'तत्' शब्द न रखा जाय तो प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादिका ही न्यासके साथ सम्बन्ध होता। सम्यग्दर्शनादिकके विषयरूपसे ग्रहण किये गये अप्रधानभूत जीवादिकका न्यासके साथ सम्बन्ध न होता। परन्तु सूत्रमे 'तत्' शब्दके ग्रहण कर लेनेपर सामर्थ्यसे प्रधान और अप्रधान सबका ग्रहण बन जाता है।

विशेषार्थ—नि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातुसे निक्षेप शब्द बना है। निक्षेपका अर्थ रखना' है। न्यास शब्दका भी यही अर्थ है। आशय यह है कि एक-एक शब्दका लोकमे और शास्त्रमें प्रयोजन के अनुसार अनेक अर्थोमे प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग कहाँ किस अर्थमें किया गया है इस बातको बतलाना ही निक्षेप विधिका काम है। यो तो आवश्यकतानुसार निक्षेपके अनेक भेद किये जा सकते है। शास्त्रोमे भी ऐसे विविध भेदोंका उल्लेख देखनेमे आता है। किन्तु मुख्यतया यहाँ इसके चार भेद किये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनका लक्षण और दृष्टान्त द्वारा कथन टीकामे किया ही है। आशय यह है कि जैसे टीकामे एक जीव शब्दका नाम निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, स्थापना निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, द्रव्य निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है और भाव निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्दका नामादि निक्षेप विधिके अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थ होता है। इससे अप्रकृत अर्थका निराकरण होकर प्रकृत अर्थका ग्रहण हो जाता है, जिससे व्यवहार करनेमे किसी प्रकारकी गडबडी नही होती। इससे वक्ता और श्रोता दोनो ही एक दूसरेके आशयको भली प्रकार समझ जाते हैं। ग्रन्थका हार्द समझनेके लिए भी इस विधिका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। जैन परम्परामे इसका बडा भारी महत्त्व माना गया है। इसी बातको ध्यानमें रखकर यहाँ भेदोसहित निक्षेपके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है।

§ 23. इस प्रकार नामादिकके द्वारा विस्तारको प्राप्त हुए और अधिकृत जीवादिक व सम्यग्दर्शनादिकके स्वरूपका ज्ञान किसके द्वारा होता है इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रमाण और नयोंसे पदार्थोंका ज्ञान होता है ॥6॥

§ 24. जिन जीवादि पदार्थोंका नाम आदि निक्षेप विधिके द्वारा विस्तारसे कथन किया

---

1. —धिना नामशब्दा —मु अ.। 2 तत्त्व प्रमाणेभ्यां नयै— मु। 5. —श्चाधिग— आ, दि. 1, दि. 2।

प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणविकल्पाः । तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्जम्[1] । श्रुत पुन स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् । तद्विकल्पा नयाः[2] । अत्राह—नयशब्दस्य अल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः प्राप्नोति । नैष दोषः । अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य[3] पूर्वनिपातः । अभ्यर्हितत्वं च सर्वतो बलीय । कुतोऽभ्यर्हितत्वम् ? नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात् । एवं ह्युक्तं "प्रगृह्य प्रमाणत परिणतिविशेषादर्थावधारण नय" इति । सकलविषयत्वाच्च प्रमाणस्य । तथा चोक्तं "सकलादेश प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन" इति । नयो द्विविध द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । पर्यायार्थिकनयेन[4]भावतत्त्वमधिगन्तव्यम् । इतरेषां त्रयाणां[5] द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात् । द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः । पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः । तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम् ।

हैं उनका स्वरूप दोनो प्रमाणो और विविध नयोके द्वारा जाना जाता है । प्रमाण और नयोके लक्षण और भेद आगे कहेगे । प्रमाणके दो भेद है—स्वार्थ और परार्थ । श्रुतज्ञानको छोडकर शेष सब ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं । परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनो प्रकार का है । ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण परार्थ प्रमाण कहलाता है । इनके भेद नय हैं । शंका—नय शब्दमे थोड़े अक्षर है, इसलिए सूत्रमे उसे पहले रखना चाहिए ? समाधान—यह कोई दोष नही, क्योकि प्रमाण श्रेष्ठ है, अत उसे पहले रखा है । 'श्रेष्ठता सबसे बलवती होती है' ऐसा नियम है । शंका—प्रमाण श्रेष्ठ क्यो है ? समाधान—क्योंकि प्रमाण से ही नयप्ररूपणा की उत्पत्ति हुई है, अत प्रमाण श्रेष्ठ है । आगममे ऐसा कहा है कि वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय है । दूसरे, प्रमाण समग्रको विषय करता है । आगममे कहा है कि 'सकलादेश प्रमाणका विषय है और विकलादेश नयका विषय है ।' इसलिए भी प्रमाण श्रेष्ठ हैं ।

नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । पर्यायार्थिक नयका विषय भावनिक्षेप है और शेष तीनको द्रव्यार्थिक नय ग्रहण करता है, क्योकि नय द्रव्यार्थिक सामान्यरूप है । द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है । तथा द्रव्य और पर्याय ये सब मिल कर प्रमाणके विषय हैं ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे ज्ञानके प्रमाण और नय ऐसे भेद करके उनके द्वारा जीवादि पदार्थोका ज्ञान होता है यह बतलाया गया है । इसकी व्याख्या करते हुए टीकामे मुख्यतया चार बातो पर प्रकाश डाला गया है—(1) ज्ञानके पाँच भेदोमे-से किस ज्ञानका प्रमाण और नय इनमे-से किसमे अन्तर्भाव होता है । (2) नय शब्दमे अल्प अक्षर होनेपर भी सूत्रमे प्रमाण शब्द पहले रखने का कारण । (3) नयके भेद करके चार निक्षेपोमे-से कौन निक्षेप किस नयका विषय है इसका विचार । (4) प्रमाणके विषयकी चर्चा । प्रथम बातको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है कि ज्ञानके पाँच भेदोमे-से श्रुतज्ञानके सिवा चार ज्ञान मात्र ज्ञानरूप माने गये है । साथ ही वे वितर्क रहित है, इसलिए उनका अन्तर्भाव प्रमाण ज्ञानमे ही होता है । किन्तु श्रुतज्ञान ज्ञान और वचन उभय रूप माना गया है । साथ ही वह सवितर्क है, इसलिए इनके प्रमाणज्ञान और नयज्ञान ऐसे दो भेद हो जाते हैं । यहाँ यह शका की जा सकती है कि श्रुतज्ञान जबकि शेष ज्ञानोके समान ज्ञानका ही एक भेद है तो फिर इसे ज्ञान और वचन उभयरूप क्यों बतलाया है ? समाधान है कि आगमरूप द्रव्य श्रुतका अन्तर्भाव श्रुतमे किया जाता है, इसलिए

---

1. वर्ज्यम् । श्रु– मु । 2. 'जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।' –सन्मति 3।47 ।
3. –णस्य तत्पूर्वं– मु । 4. –येन पर्यायत– मु । 5 –रेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्या– मु ।

§ 25. एवं प्रमाणनयैरधिगतानां जीवादीनां पुनरप्यधिगमोपायान्तरप्रदर्शनार्थमाह—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।।7।।

§ 26. निर्देशः स्वरूपाभिधानम् । स्वामित्वमाधिपत्यम् । साधनमुत्पत्तिनिमित्तम् । अधिकरणमधिष्ठानम् । स्थितिः कालपरिच्छेदः । विधानं प्रकारः । तत्र सम्यग्दर्शनं किमिति प्रश्ने तत्त्वार्थश्रद्धानमिति निर्देशो नामादिर्वा[1] । कस्येत्युक्ते सामान्येन जीवस्य । विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । प्रथमायां पृथिव्यां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । तिर्यग्गतौ तिरश्चां पर्याप्तकाना-

---

द्रव्य श्रुतको भी उपचारसे श्रुतज्ञान कहा गया है। दूसरी बातको स्पष्ट करते हुए प्रमाणकी श्रेष्ठतामें दो हेतु दिये हैं। प्रथम हेतु तो यह दिया है कि नय प्ररूपणाकी उत्पत्ति प्रमाणज्ञानसे होती है, अत प्रमाण श्रेष्ठ है। इसका आशय यह है कि जो पदार्थ प्रमाणके विषय हैं उन्हींमें विवक्षाभेदसे नयकी प्रवृत्ति होती है अन्यमे नही, अत प्रमाण श्रेष्ठ है। दूसरा हेतु यह दिया है कि सकलादेश प्रमाणके अधीन है और विकलादेश नयके अधीन है, अत प्रमाण श्रेष्ठ है। आशय यह है कि प्रमाण समग्रको विषय करता है और नय एकदेश को विषय करता है, अत. प्रमाण श्रेष्ठ है। जो वचन कालादिककी अपेक्षा अभेदवृत्तिकी प्रधानतासे या अभेदोपचारसे प्रमाणके द्वारा स्वीकृत अनन्त धर्मात्मक वस्तुका एक साथ कथन करता है उसे सकलादेश कहते हैं। और जो वचन कालादिककी अपेक्षा भेदवृत्तिकी प्रधानतासे या भेदोपचारसे नयके द्वारा स्वीकृत वस्तु धर्मका क्रमसे कथन करता है उसे विकलादेश कहते हैं। इनमे-से प्रमाण सकलादेशी होता है और नय विकलादेशी, अत प्रमाण श्रेष्ठ माना गया है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए नयके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद करके जो नामादि तीन निक्षेपो को द्रव्यार्थिक नयका और भाव निक्षेप को पर्यायार्थिक नयका विषय बतलाया है सो इसका यह अभिप्राय है कि नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनो निक्षेप सामान्यरूप हैं, अत इन्हे द्रव्यार्थिक नयका विषय बतलाया है और भावनिक्षेप पर्यायरूप है, अत इसे पर्यायार्थिक नयका विषय बतलाया है। यहाँ इतना विशेष जानना कि नामको सादृश्य सामान्यात्मक माने विना शब्द-व्यवहारकी प्रवृत्ति नही हो सकती है, इसलिए नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नयका विषय है और जिसकी जिसमे स्थापना की जाती है उनमे एकत्वका अध्यवसाय किये विना स्थापना नही बन सकती है, इसलिए स्थापना द्रव्यार्थिक नयका विषय है। शेष कथन सुगम है।

§ 25. इस प्रकार प्रमाण और नयके द्वारा जाने गये जीवादि पदार्थोंके जाननेके दूसरे उपाय बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानसे सम्यग्दर्शन आदि विषयोंका ज्ञान होता है ।।7।।

§ 26 किसी वस्तुके स्वरूपका कथन करना निर्देश है। स्वामित्वका अर्थ आधिपत्य है। जिस निमित्तसे वस्तु उत्पन्न होती है वह साधन है। अधिष्ठान या आधार अधिकरण है। जितने काल तक वस्तु रहती है वह स्थिति है और विधानका अर्थ प्रकार या भेद है। 'सम्यग्दर्शन क्या है' यह प्रश्न हुआ, इस पर 'जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' ऐसा कथन करना निर्देश है या नामादिकके द्वारा सम्यग्दर्शनका कथन करना निर्देश है। सम्यग्दर्शन किसके होता है? सामान्यसे जीवके होता है और विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमे सब

---

1. —दिर्वा । सम्यग्दर्शनं. क— मु. ।

मौपशमिकमस्ति । क्षायिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तापर्याप्तकानामस्ति। तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति[1] । औपशमिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम् । मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्ता-पर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । औपशमिकं पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम् । मानु-षीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्[2] । देवगतौ[3] देवाना पर्याप्तापर्याप्तिकानां त्रितय-मप्यस्ति । औपशमिकमपर्याप्तकानां कथमिति चेच्चारित्रमोहोपशमेन सह मृतान्प्रति[4] । भवनवासि-व्यन्तरज्योतिष्काणां देवानां देवीनां च सौधर्मैशानकल्पवासिनीनां च क्षायिकं नास्ति । तेषां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति ।

§ 27. इन्द्रियानुवादेन पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञिनां त्रितयमप्यस्ति नेतरेषाम् । कायानुवादेन त्रसकायिकानां त्रितयमप्यस्ति नेतरेषाम् । योगानुवादेन त्रयाणां योगाना त्रितयमप्यस्ति । अयोगिनां क्षायिकमेव । वेदानुवादेन त्रिवेदानां त्रितयमप्यस्ति । अपगतवेदानामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति । कषायानुवादेन चतुष्कषायाणा त्रितयमप्यस्ति । अकषायाणामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति । ज्ञाना-

पृथिवियोमे पर्याप्तक नारकियोके औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। पहली पृथिवीमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियोके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । तिर्यंचगतिमे पर्याप्तक तिर्यंचोके औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनो प्रकारके तिर्यंचोके होता है । तिर्यंचनीके क्षायिक सम्यग्दर्शन नही होता । औपशमिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक तिर्यंचनीके ही होता है, अप-र्याप्तक तिर्यंचनीके नही । मनुष्य गतिमे क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनो प्रकारके मनुष्योके होता है । औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्य के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्यके नही । मनुष्यनियोके तीनो ही सम्यग्दर्शन होते है किन्तु ये पर्याप्तक मनुष्यनीके ही होते है, अपर्याप्तक मनुष्यनीके नहीं । देवगतिमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनो प्रकारके देवोके तीनो ही सम्यग्दर्शन होते है । शंका—अपर्याप्तक देवोके औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?समाधान—जो मनुष्य चारित्रमोहनीयका उपशम करके या करते हुए उपशमश्रेणी मे मरकर देव होते है उन देवोके अपर्याप्तक अवस्थामे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । भवन-वासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोके, इन तीनोकी देवागनाओके, तथा सौधर्म और ऐशान कल्पमे उत्पन्न हुई देवागनाओके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है सो वे भी पर्याप्तक अवस्थामे ही होते है ।

§ 27 इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे सज्ञी पचेन्द्रिय जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, अन्य जीवोके कोई भी सम्यग्दर्शन नही होता । कायमार्गणाके अनुवादसे त्रसकायिक जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, अन्य कायवाले जीवोके कोई भी सम्यग्दर्शन नही होता । योगमार्गणाके अनुवादसे तीनो योगवाले जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, किन्तु अयोगी जीवोके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । वेदमार्गणाके अनुवादसे तीनो वेदवाले जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, किन्तु अपगतवेदी जीवोके औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है । कपायमार्गणाके अनुवादसे चारो कषायवाले जीवोके तीनो ही सम्यग्दर्शन होते है, किन्तु कपायरहित जीवोके

1. नास्ति । कुत इत्युक्ते मनुष्य: कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति । क्षपणाप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्कृष्टभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु द्रव्यदेवस्त्रीणा तासा क्षायिका-सभवात् । एव तिरश्चामप्यपर्याप्तकाना क्षायोपशमिक ज्ञेय न पर्याप्तकानाम् । औप—मु. । 2. —कानाम् । क्षायिक पुनर्भाववेदेनैव । देव—मु । 3. —गतौ सामान्येन देवा—मु. । 4 प्रति । विशेषेण भवन—मु. ।

नुवादेन आभिनिबोधिकश्रुतावधिकमनःपर्ययज्ञानिनां त्रितयमप्यस्ति । केवलज्ञानिनां क्षायिकमेव । संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनासंयतानां त्रितयमप्यस्ति । परिहारविशुद्धिसंयतानामौपशमिकं नास्ति, इतरद् द्वितयमप्यस्ति, सूक्ष्मसांपराययथाख्यातसंयतानामौपशमिक क्षायिकं चास्ति, संयतासंयतानां असंयतानां[1] च त्रितयमप्यस्ति । दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनिनां त्रितयमप्यस्ति, केवलदर्शनिनां क्षायिकमेव । लेश्यानुवादेन षड्लेश्यानां त्रितयमप्यस्ति, अलेश्यानां क्षायिकमेव । भव्यानुवादेन भव्यानां [2]त्रितयमप्यस्ति, नाभव्यानाम् । सम्यक्त्वानुवादेन यत्र यत्सम्यग्दर्शनं तत्र तदेव ज्ञेयम् । संज्ञानुवादेन संज्ञिनां त्रितयमप्यस्ति, नासंज्ञिनाम्, तदुभयव्यपदेशरहितानां क्षायिकमेव । आहारानुवादेन आहारकाणां त्रितयमप्यस्ति, अनाहारकाणां छद्मस्थानां त्रितयमप्यस्ति, केवलिनां समुद्घातगतानां क्षायिकमेव ।

औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है । ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोके तीनो ही सम्यग्दर्शन होते है, किन्तु केवलज्ञानी जीवोके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । सयममार्गणाके अनुवादसे सामायिक और छेदोपस्थापना सयत जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, परिहारविशुद्धिसयतोके औपशमिक सम्यग्दर्शन नही होता, शेष दो होते हैं । सूक्ष्मसाम्परायिकसयत और यथाख्यातसयत जीवोके औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन होते है, सयतासयत और असयत जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है । दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवाले, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शनवाले जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, किन्तु केवलदर्शनवाले जीवोके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । लेश्यामार्गणाके अनुवादसे छहो लेश्यावाले जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, किन्तु लेश्यारहित जीवोके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्य जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, अभव्योके कोई भी सम्यग्दर्शन नही होता । सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे जहाँ जो सम्यग्दर्शन है वहाँ वही जानना । सज्ञामार्गणाके अनुवादसे सज्ञी जीवोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, असज्ञियोके कोई भी सम्यग्दर्शन नही होता तथा सज्ञी और असज्ञी इस सज्ञासे रहित जीवोके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । आहारमार्गणाके अनुवादसे आहारकोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है, अनाहारक छद्मस्थोके भी तीनो सम्यग्दर्शन होते है, किन्तु समुद्घातगत केवली अनाहारकोके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है ।

विशेषार्थ—पदार्थोके विवेचन करनेकी प्राचीन दो परम्पराएँ रही है—निर्देश आदि छह अधिकारो द्वारा विवेचन करनेकी एक परम्परा और सदादि आठ अधिकारो द्वारा विवेचन करनेकी दूसरी परम्परा । यहाँ तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ आचार्यने 7वे और 8वे सूत्रो द्वारा इन्ही दो परम्पराओका निर्देश किया है । यहाँ टीकामे निर्देश आदिके स्वरूपका कथन करके उन द्वारा सम्यग्दर्शनका विचार किया गया है । उसमे भी स्वामित्वकी अपेक्षा जो कथन किया है उसका भाव समझनेके लिए यहाँ मुख्य बातोका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है । इन बातोको ध्यानमे रखनेसे चारो गतियोमें किस अवस्थामे कहाँ कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका निर्णय करनेमें सहायता मिलती है । वे बाते ये है—1 क्षायिक सम्यग्दर्शनका प्रस्थापक कर्मभूमिका मनुष्य ही होता है । किन्तु ऐसा जीव कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जानेके बाद मरकर चारो गतियोमे जन्म ले सकता है । 2 नरकमे उक्त जीव प्रथम नरकमे ही जाता है । दूसरे आदि नरकोमे कोई भी सम्यग्दृष्टि मरकर नही उत्पन्न होता । 3 तिर्यचोमे व मनुष्योमे उक्त जीव उत्तम भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यचोमे व मनुष्योमे ही उत्पन्न

---

1. सयतानामसयताना च मु । 2 —तयमस्ति ता ।

§ 28. साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च। अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिद्वेदनाभिभवः। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्या नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च। तिरश्चां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनबिम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव। देवानां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनमहिमदर्शनं केषांचिद्देवर्द्धिदर्शनम्। एवं प्रागानतात्। आनतप्राणतारणाच्युतदेवानां देवर्द्धिदर्शनं मुक्त्वान्यत्त्रितयमप्यस्ति। नवग्रैवेयकवासिनां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणम्। अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामियं कल्पना

हो सकता है। 4 तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके स्त्रीवेदियोमे कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नही उत्पन्न होता। 5 भवनत्रिकमे भी कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नही उत्पन्न होता। 6 उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोमे ही उत्पन्न होता है। उसमे भी उपशमश्रेणिमे स्थित उपशम सम्यग्दृष्टिका ही मरण सम्भव है, अन्यका नही। 7 कृत्यकृत्यवेदक सम्यग्दर्शन क्षयोपशम सम्यग्दर्शनका एक भेद है। इसके सिवा दूसरे प्रकारके क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देव और मनुष्यगतिमे ही जन्म लेते है, नरक और तिर्यंचगतिमे नही। ऐसे जीव यदि तिर्यंचगति और मनुष्यगतिके होते है तो देवोमे उत्पन्न होते हैं। यदि नरकगति और देवगतिके होते हैं तो वे मनुष्योमे उत्पन्न होते हैं। 8 क्षायिकसम्यग्दृष्टि और कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर नपुंसकवेदियोमे उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम नरकके नपुंसकवेदियोमे ही उत्पन्न होता है। मनुष्यगति और तिर्यंचगतिके नपुंसकवेदियोमे नही उत्पन्न होता[1]। ये ऐसी बाते है जिनको ध्यानमे रखनेसे किस गति के जीवके किस अवस्थामे कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका पता लग जाता है। उसका स्पष्ट उल्लेख मूल टीकामे किया ही है। एक बातका उल्लेख कर देना और आवश्यक प्रतीत होता है वह यह कि गति मार्गणाके अवान्तर भेद करणानुयोगमे यद्यपि भाववेदकी प्रधानतासे किये गये हैं, द्रव्य वेदकी प्रधानतासे नही, इसलिए यहाँ सर्वत्र भाववेदी स्त्रियोका ही ग्रहण किया गया है। तथापि द्रव्यस्त्रियोमे सम्यग्दृष्टि मरकर नही उत्पन्न होता यह बात अन्य प्रमाणोसे जानी जाती हैं। इस प्रकार किस गतिकी किस अवस्था मे कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका विचार किया। शेष मार्गणाओमे कहाँ कितने सम्यग्दर्शन है और कहाँ नही इसका विचार सुगम है, इसलिए यहाँ हमने स्पष्ट नही किया। मात्र मन पर्ययज्ञानमे उपशम सम्यग्दर्शनका अस्तित्व द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा जानना चाहिए।

§ 28 साधन दो प्रकारका है—अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन इस प्रकार है—नारकियोके चौथे नरकसे पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्हीके जातिस्मरण, किन्हीके धर्मश्रवण और किन्हीके वेदनाभिभवसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथेसे लेकर सातवें नरक तक किन्हीके जातिस्मरण और किन्हीके वेदनाभिभवसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। तिर्यंचोमे किन्हीके जातिस्मरण, किन्हीके धर्मश्रवण और किन्हीके जिनबिम्बदर्शनसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मनुष्योके भी इसी प्रकार जानना चाहिए। देवोमे किन्हीके जातिस्मरण, किन्हीके धर्मश्रवण, किन्हीके जिनमहिमादर्शन और किन्हीके देवऋद्धिदर्शनसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनत कल्पसे पूर्वतक जानना चाहिए। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पके देवोके देवऋद्धिदर्शनको छोड़कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं। नौग्रैवेयकके निवासी देवोके सम्यग्दर्शनका

1. इस नियम के अनुसार जीवकाण्डकी 'हेट्ठिमछप्पुढवीण' इत्यादि गाथामे 'सव्वइत्थीण' पाठ के साथ 'संढइत्थीण' पाठ भी समझ लेना चाहिए।

न संभवति; प्रागेव गृहीतसम्यक्त्वानां तत्रोत्पत्तेः।

§ 29. अधिकरणं द्विविधम्—अभ्यन्तरं बाह्यं च। अभ्यन्तरं स्वस्वामिसम्बन्धार्ह एव आत्मा, विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः। बाह्यं लोकनाडी। सा कियती? एकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्ज्वायामा।

§ 30. स्थितिरौपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चान्तर्मौहूर्तिकी। क्षायिकस्य संसारिणो जघन्यान्तर्मौहूर्तिकी। उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि। मुक्तस्य सादिरपर्यवसाना। क्षायोपशमिकस्य जघन्यान्तर्मौहूर्तिकी उत्कृष्टा षट्षष्टिसागरोपमाणि।

साधन किन्हीके जातिस्मरण और किन्हीके धर्मश्रवण है। अनुदिश और अनुत्तरविमानोमे रहनेवाले देवोके यह कल्पना नही है, क्योंकि वहां सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते है।

§ 29 अधिकरण दो प्रकारका है—अभ्यन्तर और बाह्य। अभ्यन्तर अधिकरण—जिस सम्यग्दर्शनका जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है। यद्यपि सम्बन्धमे षष्ठी और अधिकरणमे सप्तमी विभक्ति होती है, फिर भी विवक्षाके अनुसार कारककी प्रवृत्ति होती है, अत षष्ठी विभक्ति द्वारा पहले जो स्वामित्वका कथन किया है उसके स्थानमे सप्तमी विभक्ति करनेसे अधिकरणका कथन हो जाता है। बाह्य अधिकरण लोकनाडी है। शका—वह कितनी बडी है? समाधान—एक राजु चौडी और चौदह राजु लम्बी है।

§ 30 औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दर्शनकी ससारी जीवके जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस [1]सागरोपम है। मुक्त जीवके सादि-अनन्त है। क्षायोपशमिक [2]सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागरोपम है।

1. क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी भवमे, तीसरे भवमे या चौथे भवमे मोक्ष जाता है। जो चौथे भवमे मोक्ष जाता है वह पहले भोगभूमिमे उसके बाद देव पर्यायमे जन्म लेकर और अन्तमे मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। जो तीसरे भवमे मोक्ष जाता है वह पहले नरकमे या देवपर्यायमे जन्म लेकर और अन्तमे मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। यहाँ तीन और चार भवो मे क्षायिक सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके भवका भी ग्रहण कर लिया है। ससारी जीवके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी यह उत्कृष्ट स्थिति तीन भवकी अपेक्षा बतलायी है। प्रथम और अन्तके दो भव मनुष्य पर्यायके लिये गये हैं और दूसरा भव देव पर्यायका लिया गया है। इन तीनो भवोकी उत्कृष्ट स्थिति दो पूर्व कोटि अधिक तेतीस सागरोपम होती है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके पहले नही हो सकती, इसलिए उक्त कालमे से इतना काल कम करके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटि वर्ष अधिक तेतीस सागरोपण बतलायी है। 2 खुद्दाबन्धमे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल छ्यासठ सागरोपम इस प्रकार घटित करके बतलाया है—एक जीव उपशम सम्यक्त्वसे वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त होकर शेष भुज्यमान आयुमे कम बीस सागरोपमकी आयुवाले देवोमे उत्पन्न हुआ। फिर मनुष्योमे उत्पन्न होकर पुन मनुष्यायुसे कम बाईस सागरोपमकी आयुवाले देवोमे उत्पन्न हुआ। फिर मनुष्यगतिमे जाकर भुज्यमान मनुष्यायुसे तथा दर्शनमोहकी क्षपणा पर्यन्त आगे भोगी जानेवाली मनुष्यायुसे कम चौबीस सागरोपमकी आयुवाले देवोमे उत्पन्न हुआ। वहाँसे फिर मनुष्य गतिमे आकर वहाँ वेदक सम्यक्त्वके कालमे अन्तर्मुहूर्त रह जाने पर दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ करके कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो गया। यह जीव जब कृतकृत्यवेदकके अन्तिम समयमे स्थित होता है तब क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल छ्यासठ सागरोपम प्राप्त होता है।

§ 31. विधानं सामान्यादेकं सम्यग्दर्शनम् । द्वितयं निसर्गजाधिगमजभेदात्[1] । त्रितयं औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदात् । एवं संख्येया विकल्पाः शब्दतः । असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात् । एवमयं निर्देशादिविधिर्ज्ञानचारित्रयोर्जीवाजीवादिषु चागमानुसारेण योजयितव्यः ।

§ 32. किमेतैरेव जीवादीनामधिगमो भवति उत अन्योऽप्यधिगमोपायोऽस्तीति परिदृष्टोऽस्तीत्याह—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥8॥

§ 33. सदित्यस्तित्वनिर्देशः[2] । स प्रशंसादिषु वर्तमानो नेह गृह्यते । संख्या भेदगणना । क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः । तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम् । कालो द्विविधः—मुख्यो व्यावहारिकश्च । तयोरुत्तरत्र निर्णयो वक्ष्यते । अन्तरं विरहकालः । भावः औपशमिकादिलक्षणः । अल्पबहुत्वमन्योऽन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः । एतैश्च सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां चाधिगमो वेदितव्यः । ननु च निर्देशादेव सद्ग्रहणं सिद्धम् । विधानग्रहणात्संख्यागतिः । अधिकरणग्रहणात्क्षेत्रस्पर्शनावबोधः । स्थितिग्रहणात्कालसंग्रहः । भावो नामादिषु सगृहीत एव । पुनरेषां किमर्थं ग्रहणमिति। सत्यं[3] सिद्धम् । विनेयाशयवशात्तत्त्वदेशनाविकल्पः । केचित्संक्षेपरुचयः[4] केचित् विस्तररुचयः । अपरे

§ 31 भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन सामान्यसे एक है। निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका है । औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है । शब्दोंकी अपेक्षा सख्यात प्रकारका है तथा श्रद्धान करनेवालोंकी अपेक्षा असख्यात प्रकारका और श्रद्धान करने योग्य पदार्थोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका है । इसी प्रकार यह निर्देश आदि विधि ज्ञान और चारित्रमे तथा जीव और अजीव आदि पदार्थोंमें आगमके अनुसार लगा लेना चाहिए ।

§ 32 क्या इन उपर्युक्त कारणोसे ही जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है या और दूसरे भी ज्ञानके उपाय है इस प्रकार ऐसा प्रश्न करनेपर दूसरे उपाय है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वसे भी सम्यग्दर्शन आदि विषयोंका ज्ञान होता है ॥8॥

§ 33 'सत्' अस्तित्वका सूचक निर्देश हे । वह प्रशसा आदि अनेक अर्थोमे रहता है, पर उनका यहाँ ग्रहण नही किया है । सख्यासे भेदोकी गणना ली है । वर्तमानकालविषयक निवासको क्षेत्र कहते है । त्रिकालविषयक उसी निवासको स्पर्शन कहते है । काल दो प्रकारका है—मुख्य और व्यावहारिक । इनका निर्णय आगे करेंगे । विरहकालको अन्तर कहते है । भावसे औपशमिक आदि भावोंका ग्रहण किया गया है और एक दूसरेकी अपेक्षा न्यूनाधिकका ज्ञान करनेको अल्पबहुत्व कहते हैं । इन सत् आदिकेद्वारा सम्यग्दर्शनादिक और जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिए । शंका—निर्देशसे ही 'सत्' का ग्रहण हो जाता है । विधानके ग्रहणसे सख्याका ज्ञान हो जाता है । अधिकरणके ग्रहण करनेसे क्षेत्र और स्पर्शनका ज्ञान हो जाता है । स्थितिके ग्रहण करनेसे कालका सग्रह हो जाता है । भावका नामादिकमे सग्रह हो ही गया है फिर इनका अलगसे किसलिए ग्रहण किया है ? समाधान—यह बात सही हे कि निर्देश आदिके द्वारा 'सत्' आदिको सिद्धि हो जाती है तो भी शिष्योंके अभिप्रायानुसार तत्त्व-देशनामे भेद पाया जाता है । कितने ही शिष्य सक्षेपरुचिवाले होते है। कितने ही शिष्य

1. —गमजभेदात् । एव मु. । 2 —देशः । प्रशसा—मु. ता. न. । 3 ग्रहणमुच्यते ? सत्य ता न ।
4. सक्षेपरुचय, अपरे नाति— मु. ।

नातिसंक्षेपेण नातिविस्तरेण प्रतिपाद्या । सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयास इति अधिगमाभ्युपाय-भेदोद्देश कृत । इतरथा हि "प्रमाणनयैरधिगम" इत्यनेनैव सिद्धत्वादितरेषां ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

§ 34. तत्र जीवद्रव्यमधिकृत्य सदाद्यनुयोगद्वारनिरूपणं क्रियते । जीवाश्चतुर्दशसु गुण-स्थानेषु व्यवस्थिता । मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यङ्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरणस्थाने उपशमक क्षपक अनिवृत्तिबादरसांपराय-स्थाने उपशमक क्षपक सूक्ष्मसांपरायस्थाने उपशमक क्षपकः उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ सयोगकेवली अयोगकेवली चेति । एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि । गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्या-भव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारका इति ।

§ 35. तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादि । विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति । तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति । मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति । देवगतौ नारकवत् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । पञ्चेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति । कायानुवादेन पृथिवीकायादि[1]वनस्पतिकाया-न्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति । योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति । तत परं अयोगकेवली । वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्ति-

---

विस्ताररुचिवाले होते है और दूसरे शिष्य न तो अतिसक्षेप कथन करनेसे समझते है और न अति विस्तृत कथन करनेसे समझते है । किन्तु सज्जनोका प्रयास सब जीवो का उपकार करना है, इसलिए यहाँ अलगसे ज्ञानके उपायके भेदोका निर्देश किया है । अन्यथा 'प्रमाणनयैरधिगम' इतनेसे ही काम चल जाता, अन्य उपायोका ग्रहण करना निष्फल होता ।

§ 34 अब जीव द्रव्यकी अपेक्षा 'सत्' आदि अनुयोगद्वारोका कथन करते है *यथा*— जीव चौदह गुणस्थानोमे स्थित है । मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयत-सम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान-वर्ती उपशमक और क्षपक, उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली और अयोगकेवली । इन चौदह जीवसमासोके निरूपण करनेके लिए चौदह मार्गणा-स्थान जानने चाहिए । *यथा—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञा और आहारक ।*

§ 35 इनमे-से सामान्य और विशेषकी अपेक्षा सत्प्ररूपणा दो प्रकारकी है । मिथ्यादृष्टि है, सासादन सम्यग्दृष्टि है इत्यादिरूपसे कथन करना सामान्यकी अपेक्षा सत्प्ररूपणा है । विशेष-की अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमे सब पृथिवियोमे प्रारम्भके चार गुणस्थान है । तिर्यंचगतिमे वे ही चार गुणस्थान है किन्तु सयतासयत एक गुणस्थान और है । मनुष्यगतिमे चौदह ही गुणस्थान है और देवगतिमे नारकियोके समान चार गुणस्थान है । इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोसे लेकर चौइन्द्रिय तकके जीवोमे एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है । पचेन्द्रियोमे चौदह ही गुणस्थान हैं । कायमार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायसे लेकर वनस्पति तकके जीवोमे एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है । त्रसकायिकोमे चौदह ही गुणस्थान हैं । योग मार्गणाके अनुवादसे तीनो योगोमे तेरह गुणस्थान है और इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थान है ।

---

1. कायादिषु वनस्प—मु न. ।

वादरान्तानि सन्ति। अपगतवेदेषु अनिवृत्तिवादराद्ययोगकेवल्यन्तानि।

§ 36. कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिवादरस्थानान्तानि सन्ति। लोभकषाये तान्येव सूक्ष्मसांपरायस्थानाधिकानि। अकषाय उपशान्तकषाय क्षीणकषायः सयोगकेवली अयोगकेवली[1] चेति।

§ 37. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति[2]। आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति। मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः सन्ति। केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च।

§ 38. संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽयोगकेवल्यन्ताः। सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः। परिहारविशुद्धिसंयताः प्रमत्ताश्चप्रमत्ताश्च। सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयता एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसांपरायस्थाने। यथाख्यातविहारशुद्धिसंयता उपशान्तकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः। संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने। असंयता आद्येषु चतुर्षुगुणस्थानेषु।

§ 39. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति। अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति। केवलदर्शने सयोगकेवली अयोगकेवली च।

§ 40. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानि

वेदमार्गणाके अनुवादसे तीनो वेदोमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिवादर तक नौ गुणस्थान हैं। अपगतवेदियो मे अनिवृत्तिवादरसे लेकर अयोगकेवली तक छह गुणस्थान हैं।

§ 36 कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान और माया कषायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिवादर तक नौ गुणस्थान हैं, लोभकषायमे वे ही नौ गुणस्थान हैं किन्तु सूक्ष्मसाम्पराय एक गुणस्थान और है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगी और अयोगी ये चार गुणस्थान कषायरहित हैं।

§ 37. ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभगज्ञानमे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि ये दो गुणस्थान हैं। आभिनिवोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानमे असयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक नौ गुणस्थान हैं। मनःपर्ययज्ञानमें प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक सात गुणस्थान हैं। केवलज्ञानमे सयोग और अयोग ये दो गुणस्थान हैं।

§ 38. संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक सयत जीव होते हैं। सामायिक संयत और छेदोपस्थापनशुद्धिसंयत जीव प्रमत्तसयतसे लेकर अनिवृत्ति गुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धिसंयत जीव प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत होते हैं। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसयत जीव एक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे होते हैं। यथाख्यात विहार शुद्धिसयत जीव उपशान्तकषाय गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं। संयतासयत जीव एक सयतासयत गुणस्थानमें होते हैं। असंयत जीव प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें होते हैं।

§ 39. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शनमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक वारह गुणस्थान हैं। अवधिदर्शनमे असयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक नौ गुणस्थान हैं। केवलदर्शनमें सयोगकेवली और अयोगकेवली ये दो गुणस्थान हैं।

§ 40 लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कपोत लेश्यामे मिथ्यादृष्टिसे

1.—वली च। ज्ञाना—ता. न.। 2. दृष्टिश्चास्ति। सम्यग्मिथ्यादृष्टे टिप्पणकारकाभिप्रायेण ज्ञातव्यम्। आभिनि—न.।

सन्ति। तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्तस्थानान्तानि। शुक्ललेश्यायां मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि। अलेश्या अयोगकेवलिनः।

§ 41. भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति। अभव्या आद्य एव स्थाने।

§ 42. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि सन्ति। क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि। औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि उपशान्तकषायान्तानि। सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने।

§ 43. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु द्वादश गुणस्थानानि क्षीणकषायान्तानि। असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्। तदुभयव्यपदेशरहितः सयोगकेवली अयोगकेवली च।

§ 44. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि केवल्यन्तानि। अनाहारकेषु विग्रहगत्यापन्नेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरसंयतसम्यग्दृष्टिश्च। समुद्घातगतः सयोगकेवली अयोगकेवली च। सिद्धाः परमेष्ठिनः अतीतगुणस्थानाः। उक्ता सत्प्ररूपणा।

§ 45. संख्याप्ररूपणोच्यते। सा द्विविधा[1] सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावद् जीवा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताश्च पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्तसंयताः कोटीपृथक्त्वसंख्याः। पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा

लेकर असयत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हैं। पीत और पद्मलेश्यामे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक सात गुणस्थान है। शुक्ललेश्यामे मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक तेरह गुणस्थान हैं। किन्तु अयोगकेवली जीव लेश्या रहित है।

§ 41 भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योमे चौदह ही गुणस्थान हैं। किन्तु अभव्य पहले ही गुणस्थान मे पाये जाते है।

§ 42 सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यक्त्वमे असयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक ग्यारह गुणस्थान है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमे असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक चार गुणस्थान है। औपशमिक सम्यक्त्वमे असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर उपशान्तकषाय तक आठ गुणस्थान है। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि अपने-अपने गुणस्थान मे होते हैं।

§ 43. सज्ञामार्गणाके अनुवादसे सज्ञियोमे क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान हैं। असज्ञियोमे एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। सज्ञी और असज्ञी इस सज्ञासे रहित जीव सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दो गुणस्थानवाले होते हैं।

§ 44 आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगकेवली तक तेरह गुणस्थान होते है। विग्रहगतिको प्राप्त अनाहारकोमे मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते है। तथा समुद्घातगत सयोगकेवली और अयोगकेवली जीव भी अनाहारक होते हैं। सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत हैं। इस प्रकार सत्प्ररूपणाका कथन समाप्त हुआ।

§ 45. अब सख्या प्ररूपणाका कथन करते है। सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकारकी है। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त है। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इनमें-से प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। प्रमत्त सयतोंकी संख्या कोटिपृथक्त्व है। पृथक्त्व आगमिक सज्ञा

1. द्विविधा। सामान्येन तावत्—मु।

तिसृणां कोटीनामुपरि नवानामधः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। चत्वार उपशमकाः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशत्। स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः। चत्वारः क्षपका अयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः। स्वकालेन समुदिताः सख्येयाः। सयोगकेवलिनः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशत-सख्याः। स्वकालेन समुदिताः शतसहस्रपृथक्त्वसख्याः।

§ 46 विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारका मिथ्यादृष्टयोऽसख्येयाः श्रेणयः प्रतरासख्येयभागप्रमिताः। द्वितीयादिष्वा सप्तम्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसख्येयभागप्रमिताः। स चासंख्येयभागः असख्येया योजनकोटीकोट्यः। सर्वासु पृथिवीषु सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयोऽसयतसम्यग्दृष्टयश्च पल्योपमासख्येयभागप्रमिताः। तिर्यग्गतौ तिरश्चां[1] मध्ये मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः संयतासयतान्ताः पल्योपमासख्येयभागप्रमिताः। मनुष्यगतौ मनुष्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः। स चासंख्येयभागः असख्येया योजन-

---

है। इससे तीन से ऊपर और नौके नीचे मध्यकी किसी संख्याका बोध होता है। अप्रमत्तसयत जीव सख्यात है। चारो उपशमक गुणस्थानवाले जीव प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो या तीन है, उत्कृष्टरूपसे चौवन है और अपने कालके द्वारा सचित हुए उक्त जीव सख्यात है। चारो क्षपक और अयोगकेवली प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो या तीन है, उत्कृष्टरूपसे एकसौ आठ हैं और अपने कालके द्वारा सचित हुए उक्त जीव सख्यात हैं। सयोगकेवली जीव प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्टरूपसे एकसौ आठ हैं और अपने कालके द्वारा सचित हुए उक्त जीव लाख-पृथक्त्व है।

§ 46 विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमे पहली पृथिवीमे मिथ्यादृष्टि नारकी असख्यात जगश्रेणीप्रमाण[2] हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके[3] असख्यातवें भागप्रमाण है। दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवी पृथिवी तक प्रत्येक पृथिवीमे मिथ्यादृष्टि नारकी जगश्रेणीके असख्यातवे[4] भागप्रमाण हैं, जो जगश्रेणीका असख्यातवाँ भाग असख्यात कोड़ाकोडी योजन-प्रमाण है। सब पृथिवियोमे सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि नारकी पल्योपमके असख्यातवे भागप्रमाण है। तिर्यंचगतिमे मिथ्यादृष्टि तिर्यंच अनन्तानन्त हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर सयतासयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले तिर्यच पल्योपमके असख्यातवे भागप्रमाण है। मनुष्यगतिमे मिथ्यादृष्टि मनुष्यजग[5]श्रेणीके असख्यातवें भागप्रमाण हैं, जो जगश्रेणीका असख्यातवाँ भाग असख्यातकोडाकोडी योजन प्रमाण है। [6]सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर सयतासयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनुष्य सख्यात हैं। प्रमत्तसयत आदि मनुष्योकी वही सख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं। देवगतिमे मिथ्यादृष्टि देव असख्यात जगश्रेणीप्रमाण[7]

---

1. तिरश्चा मिथ्या—गु। 2 सात राजु लम्बी और एक प्रदेशप्रमाण चौडी आकाश प्रदेश-पक्तिको जगश्रेणि कहते है। ऐसी जगप्रतरके असख्यातवें भागप्रमाण जगश्रेणियोमे जितने प्रदेश होते हैं उतने प्रथम नरकके मिथ्यादृष्टि नारकी हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। 3. जगश्रेणिके वर्गको जगप्रतर कहते हैं। 4. जगश्रेणिमे ऐसे असख्यातका भाग दो जिससे असख्यात योजन कोटाकोटि प्रमाण आकाश प्रदेश प्राप्त हो, इतनी दूसरे आदि प्रत्येक नरकके नारकियोंकी सख्या है। यह सख्या उत्तरोत्तर हीन है। 5. इसमे सम्मूर्च्छिम मनुष्योकी सख्या सम्मिलित है। 6 सासादनसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवाले मनुष्यों-की सख्या जीवस्थान द्रव्यप्रमाणानुगमकी धवला टीकामे विस्तारसे बतायी है। 7 मिथ्यादृष्टि देवोंकी सख्याका खुलासा प्रथम नरकके मिथ्यादृष्टि नारकियोंके खुलासाके समान जानना चाहिए। आगे भी इसी प्रकार यथायोग सुस्पष्ट कर लेना चाहिए।

कोटीकोट्यः । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः संख्येयाः । प्रमत्तादीनां सामान्योक्ता संख्या । देवगतौ देवा मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः ।

§ 47. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रिया असंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागमिताः । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 48. कायानुवादेन पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजःकायिका वायुकायिका असंख्येया लोकाः । वनस्पतिकायिकाः अनन्तानन्ताः । त्रसकायिकसंख्या पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ 49. योगानुवादेन मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । काययोगिनो[1] मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः[2] । त्रयाणामपि योगिनां सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः । प्रमत्तसंयतादयः सयोगकेवल्यन्ताः संख्येयाः । अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 50. वेदानुवादेन स्त्रीवेदाः पुंवेदाश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । नपुंसकवेदा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । स्त्रीवेदा नपुंसकवेदाश्च सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः सामान्योक्तसंख्याः । प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः संख्येयाः ।

हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इनमें-से प्रत्येक गुणस्थानवाले देव पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।

§ 47. इन्द्रियमार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। पंचेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियां जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले पंचेन्द्रियोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं।

§ 48. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंकी संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है। वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त हैं और त्रसकायिक जीवोंकी संख्या पंचेन्द्रियोंके[3] समान है।

§ 49. योग मार्गणाके अनुवादसे मनोयोगी और वचनयोगी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। काययोगियोमे मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। तीनो योगवालोंमें सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। प्रमत्तसंयत से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तकके तीनों योगवाले जीव प्रत्येक गुणस्थानमे संख्यात हैं। अयोगकेवलियोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं।

§ 50. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदवाले और पुरुषवेदवाले मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। नपुंसकवेदवाले मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयत तक स्त्रीवेदवाले

---

1 योगिषु मिथ्या—मु । —योगेषु मिथ्या—दि. 2 । 2. —नन्ता. । त्रियोगिना सासा—मु. ।
3. वैसे तो त्रसकायिकोंकी संख्या पचेन्द्रियोंकी संख्यासे अधिक है। पर असंख्यात सामान्य की अपेक्षा यहाँ त्रसकायिकों की संख्याको पंचेन्द्रियोकी संख्याके समान बतलाया है।

पुंवेदाः सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयो[1]निवृत्तिबादरान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अपगतवेदा अनिवृत्तिबादरादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः।

§ 51 कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः संख्येयाः। लोभकषायाणामुक्त एव क्रमः। अयं तु विशेषः सूक्ष्मसांपरायसंयताः सामान्योक्तसंख्याः। अकषाया उपशान्तकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः।

§ 52. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनश्च मिथ्यादृष्टि[2]सासादनसम्यग्दृष्टयः सामान्योक्तसंख्याः। विभङ्गज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणय प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। सासादनसम्यग्दृष्टयः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। मतिश्रुतज्ञानिनोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अवधिज्ञानिनोऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयता[3] सामान्योक्तसंख्याः। प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः संख्येयाः। मनःपर्ययज्ञानिनः प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः संख्येयाः। केवलज्ञानिनः सयोगा अयोगाश्च सामान्योक्तसंख्याः।

और नपुंसकवेदवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है। प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक स्त्रीवेदवाले और नपुंसक वेदवाले जीव संख्यात हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक पुरुषवेदवालोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है। अनिवृत्तिबादरसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक अपगतवेदवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है।

§ 51. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान और माया कषायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंकी वही संख्या है जो [4]सामान्यसे कही है। प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक उक्त कषायवाले जीव संख्यात हैं। यही क्रम लोभकषायवाले जीवोंका जानना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि इनमें सूक्ष्मसाम्परायिक संयत जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही गयी है। उपशान्त कषायसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक कषाय रहित जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[5] है।

§ 52. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[6] है। विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानी जीव पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[7] है। असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत अवधिज्ञानी जीवोंकी संख्या सामान्यवत्[8] है। प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानमें अवधिज्ञानी जीव संख्यात हैं। प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक

§ 53. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। परिहारविशुद्धिसंयताः प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्च संख्येयाः। सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयता यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः संयतासंयता असंयताश्च सामान्योक्तसंख्याः।

§ 54 दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येया श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः। अचक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ता। उभये च सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अवधिदर्शनिनोऽवधिज्ञानिवत्। केवलदर्शनिन केवलज्ञानिवत्।

§ 55 लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः सामान्योक्तसंख्या। तेजःपद्मलेश्या मिथ्यादृष्ट्यादय संयतासंयतान्ता स्त्रीवेदवत्। प्रमत्ताप्रमत्तसंयता संख्येया। शुक्ललेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः। प्रमत्ताप्रमत्तसंयता संख्येयाः। अपूर्वकरणादय. सयोगकेवल्यन्ता अलेश्याश्च सामान्योक्तसंख्या।

§ 56. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्ट्यादयोऽयोगकेवल्यन्ता सामान्योक्तसंख्याः। अभव्या अनन्ताः।

गुणस्थानमे मन पर्ययज्ञानी जीव संख्यात है। सयोगी और अयोगी केवलज्ञानियोकी संख्या सामान्यवत्[1] है।

§ 53 संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक सामायिकसंयत और छेदोपस्थापनासंयत जीवोकी संख्या सामान्यवत् है।[2] प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमे परिहार-विशुद्धिसंयत जीव संख्यात है। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत और असंयत जीवोकी संख्या सामान्यवत्[3] है।

§ 54. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवाले मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणी प्रमाण हैं जो श्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवे भागप्रमाण है। अचक्षुदर्शनवाले मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त है। सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके उक्त दोनो दर्शनवाले जीवोकी संख्या सामान्यवत्[4] हैं। अवधिदर्शनवाले जीवोकी संख्या अवधिज्ञानियो के समान है। केवलदर्शवाले जीवोकी संख्या केवलज्ञानियो के समान है।

§ 55. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले जीवोकी संख्या[5] सामान्यवत् है। मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक पीत और पद्मलेश्यावाले जीवो की संख्या [6]स्त्रीवेदके समान है। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले पीत और पद्मलेश्यावाले जीव संख्यात है। मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक शुक्ल लेश्यावाले जीव पल्योपमके असंख्यातवे भागप्रमाण है। प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं। अपूर्वकरणसे लेकर सयोगकेवली तक जीव सामान्यवत्[7] है। लेश्यारहित जीव सामान्यवत् हैं।

§ 56 भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्योमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक जीव सामान्यवत्[8] है। अभव्य अनन्त है।

---

1. संख्यात। 2. संख्यात। 3 सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत और यथाख्यात विहारशुद्धिसंयत जीव संख्यात है। तथा संयतासंयत जीव पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और असंयत जीव अनन्तानन्त हैं। 4. जिस गुणस्थानवालोकी जितनी संख्या है सामान्यसे उतनी संख्या उस गुणस्थानमे चक्षु और अचक्षु दर्शनवालोकी है। 5. मिथ्यात्वमें अनन्तानन्त और शेष गुणस्थानोमे पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण। 6. असंख्यात जगश्रेणिप्रमाण। 7. जिस गुणस्थानवालो की जितनी संख्या है उतनी है। 8. जिस गुणस्थानवालोकी जितनी संख्या है उतनी है। केवल मिथ्यात्वमे अभव्योकी संख्या कम हो जाती है।

§ 57. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टयः पल्योपमासंख्येयभाग-प्रमिताः। संयतासंयतादय उपशान्तकषायान्ताः संख्येयाः। चत्वारः क्षपकाः सयोगकेवलिनोऽयोग-केवलिनश्च सामान्योक्तसंख्याः। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽप्रमत्तान्ताः सामान्योक्तसंख्याः। औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयताः पल्योपमासंख्येयभाग-प्रमिताः। प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। चत्वार औपशमिका सामान्योक्तसंख्याः। सासादन-सम्यग्दृष्टयः सम्यङ्मिथ्यादृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च सामान्योक्तसंख्याः।

§ 58 संज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्यादयः क्षीणकषायान्ताश्चक्षुर्दर्शनिवत्। असंज्ञिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। तदुभयव्यपदेशरहिताः सामान्योक्तसंख्याः।

§ 59. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादयः सयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः। अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः सामान्योक्तसंख्याः। सयोगकेवलिनः संख्येयाः। अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः। संख्या निर्णीता।

§ 60. क्षेत्रमुच्यते। तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावद्—मिथ्यादृष्टीनां सर्वलोकः। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागो[1]ऽसंख्येया भागाः सर्वलोको वा।

---

§ 57 सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियोमे असंयतसम्यग्दृष्टि जीव पल्योपमके असंख्यातवे भाग हैं। संयतासंयतसे लेकर उपशान्तकषाय तक जीव संख्यात हैं। चारो क्षपक, सयोगकेवली और अयोगकेवली सामान्यवत् है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियो मे असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक सामान्यवत् है। औपशमिक सम्यग्दृष्टियोमे असंयतसम्यग्-दृष्टि और संयतासंयत जीव पल्योपमके असंख्यातवे भाग है। प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं। चारो उपशमक सामान्यवत् हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत् है।

§ 58 संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक जीवोकी संख्या चक्षुदर्शनवाले जीवोके समान[2] है। असंज्ञी मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त है। संज्ञी और असंज्ञी संज्ञासे रहित जीवोकी संख्या सामान्यवत्[3] है।

§ 59. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक जीवोकी संख्या सामान्यवत्[4] है। अनाहारकोमें मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि जीवोकी संख्या सामान्यवत्[5] है। सयोगकेवली संख्यात है और अयोगकेवली जीवोकी संख्या सामान्यवत्[6] है। इस प्रकार संख्याका निर्णय किया।

§ 60. अब क्षेत्रका कथन करते हैं। सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकार का है। सामान्यसे मिथ्यादृष्टियोका सब लोक क्षेत्र है। सासादनसम्यग्दृष्टियोंसे लेकर अयोगकेवली तक जीवोका लोकके असंख्यातवे भागप्रमाण क्षेत्र है। सयोगकेवलियोका लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण लोकके असंख्यात बहुभागप्रमाण और सब लोक क्षेत्र है।

§ 61 विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां चतुर्षु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभागः। तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां सामान्योक्तं क्षेत्रम् देवगतौ देवानां सर्वेषां चतुर्षु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभागः।

§ 62. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां क्षेत्रं सर्वलोक.। विकलेन्द्रियाणां लोकस्यासंख्येयभागः। पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्यवत्।

§ 63. कायानुवादेन पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तानां सर्वलोकः। त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवत्।

§ 64. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभाग। काययोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानामयोगकेवलिनां च सामान्योक्त क्षेत्रम्।

§ 65. वेदानुवादेन [1]स्त्रीपुवेदानां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः। नपुंसकवेदानां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानामपगतवेदानां च सामान्योक्त क्षेत्रम्।

§ 66. कषायानुवादेन क्रोधमानमायाकषायाणां [2]लोभकषायाणां च मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सूक्ष्मसांपरायाणामकषायाणां च सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

---

§ 61. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमे सब पृथिवियों मे नारकियोंका चार गुणस्थानोमें लोकका असख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। तिर्यचगतिमे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयतासयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले तिर्यंचोंका क्षेत्र सामान्यवत् है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंका सब लोक क्षेत्र है और शेष तिर्यचोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। मनुष्यगतिमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनुष्योका क्षेत्र लोकका असख्यातवाँ भाग है। सयोगकेवलियोका सामान्यवत् क्षेत्र है। देवगतिमे सब देवोका चार गुणस्थानोंमे लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है।

§ 62. इन्द्रियमार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोका सब लोक क्षेत्र है। विकलेन्द्रियोका लोकका असख्यातवाँ भाग क्षेत्र है और पचेन्द्रियोंका मनुष्योके समान क्षेत्र है।

§ 63. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायसे लेकर वनस्पतिकाय तकके जीवोका सब लोक क्षेत्र है। त्रसकायिकोंका पंचेन्द्रियोके समान क्षेत्र है।

§ 64. योग मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले वचन योगी और मनोयोगी जीवोका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले काययोगी जीवोका और अयोगकेवली जीवोका सामान्यवत् क्षेत्र है।

§ 65 वेदमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति वादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोका लोकका असख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। तथा मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिवादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले नपुसकवेदी जीवो का और अपगतवेदियो का सामान्यवत् क्षेत्र है।

§ 66 कषायमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्रोध, मान, माया व लोभ कषायवाले, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे लोभ कषायवाले और कषाय रहित जीवोंका सामान्यवत् क्षेत्र है।

---

1. स्त्रीपुंसवेदा—ता.। 2.—मायालोभ—आ., दि. 2। मायाना लोभ—दि. 1।

§ 67. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । विभङ्गज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिनामसंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनां क्षीणकषायान्तानां मनःपर्ययज्ञानिनां च प्रमत्तादीनां क्षीणकषायान्तानां केवलज्ञानिनां सयोगानामयोगानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 68 संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतानां चतुर्णां परिहारविशुद्धिसंयतानां प्रमत्ताप्रमत्तानां सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतानां यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतानां चतुर्णां संयतासंयतानामसंयतानां च चतुर्णां सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 69. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । अचक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । अवधिदर्शनिनामवधिज्ञानिवत् । केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत् ।

§ 70. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । तेजःपद्मलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । शुक्ललेश्यानां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । सयोगकेवलिनामलेश्यानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 71. भव्यानुवादेन भव्यानां चतुर्दशानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । अभव्यानां सर्वलोकः ।

---

§ 67 ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानियोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोंका, प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनःपर्ययज्ञानी जीवोंका तथा सयोग और अयोग गुणस्थानवाले केवलज्ञानी जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 68 संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तादि चार गुणस्थानवाले सामायिक और छेदोपस्थापनासंयत जीवोंका, प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानवाले परिहारविशुद्धिसंयत जीवोंका, सूक्ष्मसाम्परायिक संयत जीवोंका, उपशान्त मोह आदि चार गुणस्थानवाले यथाख्यात विहारविशुद्धिसंयत जीवोंका और संयतासंयत तथा चार गुणस्थानवाले असंयत जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 69 दर्शन मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानमें चक्षुदर्शनवाले जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले अचक्षुदर्शनवाले जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । तथा अवधिदर्शनवालोंका अवधिज्ञानियोंके समान और केवलदर्शनवालोंका केवलज्ञानियोंके समान क्षेत्र है ।

§ 70 लेश्या मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक प्रत्येक गुणस्थानवाले कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले पीत और पद्मलेश्यावाले जीवोंके लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले शुक्ललेश्यावाले जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है तथा शुक्ललेश्यावाले सयोगकेवलियोंका और लेश्या रहित जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 71 भव्य मार्गणाके अनुवादसे चौदह गुणस्थानवाले भव्य जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । अभव्योंका सब लोक क्षेत्र है ।

§ 72. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्युपशान्तकषायान्तानां सासादनसम्यग्दृष्टीनां सम्यङ्मिथ्यादृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 73. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत् । असंज्ञिनां सर्वलोकः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 74. आहारानुवादेन आहारकाणां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः । अनाहारकाणां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्ययोगकेवलिनां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येया[1] भागाः सर्वलोको वा । क्षेत्रनिर्णयः कृतः ।

---

§ 72. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्षायिकसम्यग्दृष्टियोका, असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोका, असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर उपशान्तकषाय गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले औपशमिक सम्यग्दृष्टियोका तथा सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टियो का सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 73. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोका चक्षुदर्शनवाले जीवोके समान, असंज्ञियोका सब लोक और संज्ञी-असंज्ञी इस संज्ञासे रहित जीवोका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 74. आहार मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले आहारकोका सामान्योक्त क्षेत्र है । सयोगकेवलियो का लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और अयोगकेवली अनाहारक जीवोका सामान्योक्त क्षेत्र है । तथा सयोगकेवली अनाहारकोका लोकका असंख्यात बहुभाग और सब लोक क्षेत्र है ।

विशेषार्थ—क्षेत्रप्ररूपणामे केवल वर्तमान कालीन आवासका विचार किया जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव सब लोकमे पाये जाते है इसलिए उनका सब लोक क्षेत्र बतलाया है । अन्य गुणस्थानवाले जीव केवल लोकके असंख्यातवे भागप्रमाण क्षेत्र मे ही पाये जाते है इसलिए इनका लोकके असंख्यातवे भागप्रमाण क्षेत्र बतलाया है । केवल सयोगिकेवली इसके अपवाद हैं । यो तो स्वस्थानगत सयोगिकेवलियोका क्षेत्र भी लोकके असंख्यातवे भाग प्रमाण ही है फिर भी जो सयोगिकेवली समुद्घात करते हैं उनका क्षेत्र तीन प्रकारका प्राप्त होता है । दण्ड और कपाटरूप समुद्घातके समय लोकके असंख्यातवे भागप्रमाण, प्रतररूप समुद्घातके समय लोकका असंख्यात बहुभाग और लोकपूरक समुद्घातके समय सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है इसलिए इनके क्षेत्रका निर्देश तीन प्रकारसे किया गया है । गति आदि मार्गणाओके क्षेत्रका विचार करते समय इसी दृष्टिको सामने रखकर विचार करना चाहिए । साधारणतया कहाँ कितना क्षेत्र है इसका विवेक इन बातोसे किया जा सकता है—1 मिथ्यादृष्टियोमे एकेन्द्रियोका ही सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है । शेषका नही । इनके कुछ ऐसे अवान्तर भेद है जिनका सब लोक क्षेत्र नही प्राप्त होता पर वे यहाँ विवक्षित नही । इस हिसाबसे जो-जो मार्गणा एकेन्द्रियोके सम्भव हो उन सबके सब लोक क्षेत्र जानना चाहिए । उदाहरणार्थ—गति मार्गणामे तिर्यंचगति मार्गणा, इन्द्रिय मार्गणा मे एकेन्द्रिय मार्गणा, काय-मार्गणामें पृथिवी आदि पाँच स्थावर काय मार्गणा, योग

---

1. —स्यासंख्येयभाग. मु., दि. 1, दि. 2 ।

§ 75. स्पर्शनमुच्यते। तद् द्विविध सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावन्मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासख्येयभागः अष्टौ द्वादश चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभाग. अष्टौ चतुर्दशभागा वा

मार्गणामे काययोग मार्गणा, वेदमार्गणामे नपुसक वेदमार्गणा, कषाय मार्गणामे क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय मार्गणा, ज्ञान मार्गणामे मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान मार्गणा, सयम मार्गणामे असयत सयम मार्गणा, दर्शनमार्गणा मे अचक्षुदर्शन मार्गणा, लेश्या मार्गणामे कृष्ण, नील और कापोत लेश्या मार्गणा, भव्य मार्गणामे भव्य और अभव्य मार्गणा, सम्यक्त्व मार्गणामे मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व मार्गणा, सज्ञा मार्गणामे सज्ञी असज्ञी मार्गणा तथा आहार मार्गणामे आहार और अनाहार मार्गणा इनका सब लोक क्षेत्र बन जाता है। 2 सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके जीवोका और अयोगकेवलियोका क्षेत्र लोकके असख्यातवें भाग प्रमाण ही है। 3 दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पचेन्द्रियोमे असज्ञियो का क्षेत्र भी लोकके असख्यातवे भाग प्रमाण है। 4 सज्ञियोमे समुद्घातगत सयोगिकेवलियोके सिवा शेष सबका क्षेत्र लोकके असख्यातवे भागप्रमाण है। इन नियमोके अनुसार जो मार्गणाएँ सयोगिकेवलीके समुद्घातके समय सम्भव है उनमे भी सब लोक क्षेत्र बन जाता है। शेषके लोकका असख्यातवाँ भाग प्रमाण ही क्षेत्र जानना चाहिए। सयोगिकेवलीके लोकपूरण समुद्घातके समय मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, काययोग, अपगतवेद, अकषाय, केवलज्ञान, यथाख्यात सयम, केवल दर्शन, शुक्ल लेश्या, भव्यत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, न सज्ञी न असज्ञी और अनाहार ये मार्गणाएँ पायी जाती हैं इसलिए लोकपूरण समुद्घातके समय इन मार्गणाओका क्षेत्र भी सब लोक जानना चाहिए। केवलीके प्रतर समुद्घातके समय लोकका असख्यात बहुभाग प्रमाण क्षेत्र पाया जाता है। इसलिए इस समय जो मार्गणाएँ सम्भव हो उनका क्षेत्र भी लोकका असख्यात बहुभाग प्रमाण बन जाता है। उदाहरण के लिए लोक पूरण समुद्घातके समय जो मार्गणाएँ गिनायी हैं वे सब यहाँ भी जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त शेष सब मार्गणाएँ ऐसी है जिनका क्षेत्र लोकके असख्यातवे भाग प्रमाण ही प्राप्त होता है। लोक पूरण और प्रतर समुद्घातके समय प्राप्त होनेवाली जो मार्गणाएँ गिनायी है उनमे-से काययोग, भव्यत्व और अनाहार इन तीनको छोडकर शेष सब मार्गणाएँ भी ऐसी है जिनका भी क्षेत्र उक्त अवस्थाके सिवा अन्यत्र लोकके असख्यातवे भाग प्रमाण प्राप्त होता है। इस प्रकार क्षेत्रका निर्णय किया।

§ 75 अब स्पर्शनका कथन करते है—यह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टियोने सब लोकका स्पर्श किया है। सासादन सम्यग्दृष्टियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और त्रसनालीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [1]आठ भाग और कुछ कम [2]बारह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टियो व असयतसम्यग्दृष्टियोने लोकके असख्यातवे भागका और त्रसनालीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [3]आठ भागका स्पर्श किया है। सयतासयतोने लोकके असख्यातवे भागका और त्रसनालीके चौदह भागोमे-से कुछ कम छह

1 मेरुपर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 2 मेरु पर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर सात राजु। यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 3 मेरु पर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। असयत सम्यग्दृष्टियोके मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा भी यह स्पर्शन बन जाता है।

देशोनाः। संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्तसंयतादीनामयोगकेवल्यन्तानां क्षेत्रवत्स्पर्शनम्।

§ 76. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारकैश्चतुर्गुणस्थानैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। द्वितीयादिषु प्राक्सप्तम्या मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः एको द्वौ त्रयः चत्वारः पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। सप्तम्यां पृथिव्यां मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः। शेषैस्त्रिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। असंयतसम्यदृष्टि[1]संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः। मनुष्यगतौ मनुष्यैर्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः। सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यादीनामयोगकेवल्यन्तानां क्षेत्रवत्स्पर्शनम्। देवगतौ देवैर्मिथ्यादृष्टि[2]सासादनसम्यग्दृष्टिभि-

---

[3]भागका स्पर्श किया है। तथा प्रमत्तसयतोसे लेकर अयोग केवली गुणस्थान तकके जीवोका स्पर्श क्षेत्रके समान है।

§ 76. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमे पहली पृथिवीमे मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानवाले नारकियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। दूसरीसे लेकर छठी पृथिवी तकके मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि नारकियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और क्रमसे लोक नाड़ीके चौदह भागोमे-से कुछ कम एक राजु, कुछ कम दो राजु, कुछ कम तीन राजु, कुछ कम चार राजु और कुछ कम पाँच राजु क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि नारकियोने लोक के असख्यातवे भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है। सातवी पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकियोने लोकके असयातवे भाग क्षेत्रका और त्रसनालीके चौदह भागोमे-से कुछ कम छह राजु क्षेत्रका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि आदि शेष तीन गुणस्थानवाले उक्त नारकियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। तिर्यँचगतिमे मिथ्यादृष्टि तिर्यचोने सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यँचोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [4]सात भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यचोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। असयतसम्यग्दृष्टि और सयतासयत तिर्यचोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोक नाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम छह [5]भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। मनुष्यगतिमे

1—दृष्टिभि सयता—मु ता, न। 2. दृष्टिभि सासा—ता। 3 ऊपर अच्युत कल्पतक छह राजु। इसमे-से चित्रा पृथिवीका एक हजार योजन व आरण अच्युत कल्पके उपरिम विमानोंके ऊपरका भाग छोड देना चाहिए। यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 4. मेरुपर्वतके मूलसे ऊपर सात राजु। यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। यद्यपि तिर्यँच सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरुपर्वतके मूलसे नीचे भवनवासियोमे मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते है तथापि इतने मात्रसे स्पर्शन क्षेत्र सात राजुसे अधिक न होकर कम ही रहता है। ऐसे जीव मेरुपर्वतके मूलसे नीचे एकेन्द्रियोंमे व नारकियोमे मारणान्तिक समुद्घात नही करते यह उक्त कथनका तात्पर्य है। 5 ऊपर अच्युत कल्प तक छह राजु। इसमे-से चित्रा पृथिवीका एक हजार योजन व आरण अच्युत कल्पके उपरिम विमानोके ऊपरका भाग छोड़ देना चाहिए। यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है।

र्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यङ्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टिभि-र्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः ।

§ 77. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियैः सर्वलोकः स्पृष्टः । विकलेन्द्रियैर्लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा । शेषाणां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 78. कायानुवादेन स्थावरकायिकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । त्रसकायिनां पञ्चेन्द्रियवत् स्पर्शनम्।

§ 79. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोना. सर्वलोको वा । सासादनसम्यग्दृष्टयादीनां क्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः । काययोगिनां मिथ्यादृष्टयादीना सयोगकेवल्य-

---

मिथ्यादृष्टि मनुष्योने लोकके असख्यातवें भाग क्षेत्रका और सब लोकका[1] स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि मनुष्योने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोक नाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [2]सात भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुण-स्थान तकके मनुष्योका स्पर्श क्षेत्रके समान है। देवगतिमे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि देवोने लोकके असख्यावे भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [3]आठ भाग और कुछ कम नौ [4]भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि देवोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [5]आठ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है।

§ 77 इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोने सब लोकका स्पर्श किया है। विकले-न्द्रियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और [6]सब लोकका स्पर्श किया है। पचेन्द्रियोमे मिथ्या-दृष्टियोने लोकके असख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [7]आठ भाग क्षेत्रका और [8]सब लोकका स्पर्श किया है। शेष गुणस्थानवाले पञ्चेन्द्रियोंका स्पर्श ओघके समान है।

§ 78 काय मार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिक जीवोने सब लोकका स्पर्श किया है। त्रसकायिकोका स्पर्श पञ्चेन्द्रियोके समान है।

§ 79 योग मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि वचनयोगी और मनोयोगी जीवोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [9]आठ भाग क्षेत्रका और सब लोकका स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टियोसे लेकर क्षीणकपाय तकके गुणस्थानवालो-

---

1 मरणान्तिक समुद्घात और उपपादपदकी अपेक्षा यह स्पर्शन सर्वलोकप्रमाण कहा है। 2 भवनवासी लोकसे लेकर ऊपर लोकाग्र तक। इसमे-से अगम्यप्रदेश छूट जानेसे कुछ कम सात राजु स्पर्श रह जाता है। यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 3 मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कपाय और वैक्रियिकपदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 4 मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर सात राजु। यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 5 मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 6 विकलेन्द्रियोका सब लोक स्पर्श मारणान्तिक और उपपाद पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 7 मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कपाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 8. सब लोक स्पर्श मारणान्तिक और उपपादकी अपेक्षा प्राप्त होता है। 9 मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु। यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कपाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है।

न्तानामयोगकेवलिनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 80. वेदानुवादेन [1]स्त्रीपुंवेदैर्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः [2]अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको[3] वा । सासादनसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टीनां सासादनसम्यग्दृष्टीनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् । [4]सम्यङ्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः । असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः । प्रमत्ताद्यनिवृत्तिबादरान्तानामपगतवेदानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

का स्पर्श ओघके समान है । सयोगकेवली जीवोका स्पर्श लोकका[5] असख्यातवाँ भाग है । तथा मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तकके काययोगवालोंका और अयोगकेवली जीवोका स्पर्श ओघके समान है ।

§ 80. वेद मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका तथा लोक नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम [6]आठ भाग और सब लोक क्षेत्रका स्पर्श किया है । सासादन सम्यग्दृष्टियोने लोकके असंख्यातवे भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम [7]आठ भाग और कुछ कम नौ [8]भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टियोसे लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तकके जीवोका स्पर्श ओघके समान है । नपु सकवेदियोमे मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टियोका स्पर्श [9]ओघके समान है । सम्यग्मिथ्यादृष्टियोने लोकके असंख्यातवें भागका स्पर्श किया है । असंयतसम्यग्दृष्टि और सयतासयतोने लोकके असंख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमें-से कुछ कम [10]छह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । तथा प्रमत्तसंयतोसे लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तकके जीवोका स्पर्श ओघके समान है ।

---

1. स्त्रीपुसवे—ता । 2 अष्टौ नव चतु—मु । 3. लोको वा । नपुंसकवेदेषु मु । 4 सम्यङ्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासख्येभाग स्पृष्ट । सासादनसम्यग्दृष्टिभि. लोकस्यासख्येयभाग. अष्टौ नव चतुर्दश भागा वा देशोना । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । असंयतसम्य—मु । 5 समुद्घातके कालमे मनोयोग और वचनयोग नही होता, इससे वचनयोगी और मनोयोगी सयोगी केवलियो का स्पर्शन लोकके असख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है । 6. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । सब लोक स्पर्श मारणान्तिक और उपपादकी पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 7. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 8 मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर सात राजु । यह स्पर्शन मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । यहाँ उपपाद पदकी अपेक्षा ग्यारह घनराजु स्पर्शन प्राप्त होता है । किन्तु उपपादपदकी विवक्षा नही होनेसे उसका उल्लेख नही किया है । यह स्पर्शन मेरुतलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर छह राजु इस प्रकार प्राप्त होता है । 9. यहाँ नपुसकवेदी मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोका स्पर्शन ओघके समान बतलाया है । सो यह सामान्य निर्देश है । विशेषकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि नपुसकवेदियोंने वैक्रियिक पदकी अपेक्षा पाँच घनराजु क्षेत्रका स्पर्श किया है, क्योकि वायुकायिक जीव इतने क्षेत्रमें विक्रिया करते हुए पाये जाते हैं । नपुसकवेदी सासादन सम्यग्दृष्टियोने स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिकपदकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्शनकिया है । उपपादपदकी अपेक्षा कुछ कम ग्यारह बटे चौदह भाग त्रसनालीका स्पर्श किया है । मारणान्तिक पदकी अपेक्षा कुछ कम बारह बटे चौदह भाग त्रसनालीका स्पर्श किया है । शेष कथन ओघके समान है । 10. यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है ।

§ 81. कषायानुवादेन चतुष्कषायाणामकषायाणां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 82. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । विभङ्गज्ञानिनां मिथ्यादृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा । सासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 83. संयमानुवादेन संयतानां सर्वेषां संयतासंयतानामसंयतानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 84. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां पञ्चेन्द्रियवत् । अचक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानामवधिकेवलदर्शनिनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 85. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यैर्मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः पञ्च चत्वारो द्वौ चतुर्दशभागा वा[1] देशोनाः । सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः । तेजोलेश्यैर्मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोक-

---

§ 81 कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधादि चारो कषायवाले और कषायरहित जीवोंका स्पर्श ओघके समान है ।

§ 82 ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोका स्पर्श ओघके समान है। विभगज्ञानियोमें मिथ्यादृष्टियोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग, लोकनाडीके समान चौदह भागोमे-से कुछ कम आठ[2] भाग और सर्व लोक[3] है । सासादनसम्यदृष्टियोका स्पर्श ओघके समान है । आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवोका स्पर्श ओघके समान है ।

§ 83. संयम मार्गणाके अनुवादसे सब सयतोका, सयतासयतोंका और असयतोंका स्पर्श ओघके समान है ।

§ 84. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोसे लेकर क्षीणकषाय तकके चक्षुदर्शनवाले जीवोका स्पर्श पचेन्द्रियोके समान है। मिथ्यादृष्टियोसे लेकर क्षीणकषाय तकके अचक्षुदर्शनवाले जीवोंका तथा अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोंका स्पर्श ओघके समान है ।

§ 85. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले मिथ्यादृष्टियोंने सब लोकका स्पर्श किया है । सासादनसम्यग्दृष्टियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से क्रमश. कुछ कम पाँच[4] भाग, कुछ कम चार भाग और कुछ कम दो भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोने लोकके असख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। पीतलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोने

---

1 वा देशोना । द्वादशभागा कुतो न लभ्यन्ते इति चेत् तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव । अथवा येषा मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ता । सम्यङ्मिथ्या—मु, आ, दि 1 । 2. यह स्पर्श विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योकि नीचे दो राजु और ऊपर छह राजु क्षेत्रमे गमनागमन देखा जाता है । 3 यह स्पर्शन मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । क्योकि ये जीव सब लोकमे मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं । 4 यह स्पर्श मारणान्तिक और उपपाद पदकी अपेक्षा बतलाया है । कृष्ण लेश्यावालेके कुछ कम पाँच राजु,नील लेश्यावालेके कुछ कम चार राजु और कापोत लेश्यावालेके कुछ कम दो राजु यह स्पर्श होता है। जो नारकी तिर्यंच सासादन सम्यग्दृष्टियोमे उत्पन्न होते हैं उन्हींके यह स्पर्श सम्भव है ।

स्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः। संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः अध्यर्धचतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः। पद्मलेश्यैर्मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः। संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः। शुक्ललेश्यैर्मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः। प्रमत्तादिसयोगकेवल्यन्तानां अलेश्यानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम्।

लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ[1] भाग और कुछ कम नौ भाग[2] क्षेत्रका स्पर्श किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम आठ[3] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सयतासयतोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमें-से कुछ कम डेढ[4] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत जीवोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। मिथ्यादृष्टियोसे लेकर असंयतसम्यग्दृटियो तकके पद्मलेश्यावाले जीवोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम आठ[5] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। सयतासयतोने लोकके असंख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम[6] पाँच भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। तथा प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। मिथ्यादृष्टियोसे लेकर संयतासयतो तकके शुक्ललेश्यावाले जीवोने लोकके असख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम छह[7] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है। प्रमत्तसयत आदि सयोगकेवली तकके शुक्ललेश्यावालोका और लेश्यारहित जीवोका स्पर्श ओघके समान है।

---

1 यह स्पर्शन विहार, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योकि पीतलेश्यावाले सासादनोका नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु क्षेत्रमे गमनागमन देखा जाता है। 2 यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है क्योकि ऐसे जीव तीसरी पृथिवीसे ऊपर कुछ कम नौ राजु क्षेत्र मे मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं। उपपाद पदकी अपेक्षा इनका स्पर्श कुछ कम डेढ राजु होता है इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए। 3 यह स्पर्श विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। युक्तिका निर्देश पहले किया ही है। इतनी विशेषता है कि मिश्र गुणस्थानमे मारणान्तिक सदमुघात नही होता। 4. यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। इनके उपपाद पद नही होता। 5 यह स्पर्श विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है। इनके उपपाद पदकी अपेक्षा स्पर्श कुछ कम पाँच राजु होता है। इतनी विशेषता है कि मिश्र गुणस्थानमे मारणान्तिक और उपपाद पद नही होता। 6 यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योकि पद्म लेश्यावाले सयतासयत ऊपर कुछ कम पाँच राजु क्षेत्रमे मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं। 7. विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदोकी अपेक्षा यह स्पर्शन प्राप्त होता है। सो भी मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानोकी अपेक्षा यह कथन किया है। सयतासयत शुक्ल लेश्यावालोके तो विहार, वेदना, कषाय और वक्रियिक पदोकी अपेक्षा लोकके असख्यातवें भाग प्रमाण ही स्पर्शन प्राप्त होता है। उपपादकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि शुक्ल लेश्यावालोका स्पर्शन लोकके असख्यातवें भाग प्रमाण है। अविरतसम्यग्दृष्टि शुक्ल लेश्यावालोका स्पर्श कुछ कम छह राजु है। संयतासयतोंके उपपादपद नही होता। फिर भी इनके मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा कुछ कम छह राजु स्पर्श बन जाता है।

§ 86. भव्यानुवादेन भव्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । अभव्यैः सर्वलोकः स्पृष्टः ।

§ 87 सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तम् । किंतु संयतासंयतानां लोकस्यासंख्येयभागः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तम् । औपशमिकसम्यक्त्वानामसंयतसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तम् । शेषाणां लोकस्यासंख्येयभागः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनां सामान्योक्तम् ।

§ 88. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुदर्शनिवत् । असंज्ञिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तम् ।

§ 89 आहारानुवादेन आहारकाणां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तम् । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः । अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः एकादश चतुर्दशभागा वा देशोनाः । असंयतसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दश भागा वा देशोनाः । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागाः सर्वलोको वा । अयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः । स्पर्शनं व्याख्यातम् ।

§ 90. कालः प्रस्तूयते । स द्विविधः—सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावद् मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवापेक्षया त्रयो भङ्गाः । अनादिरपर्यवसानः अनादिः सपर्यव-

---

§ 86 भव्य मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोसे लेकर अयोगकेवली तकके भव्योका स्पर्श ओघके समान है । अभव्योने सव लोकका स्पर्श किया है ।

§ 87 सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे असयतसम्यग्दृष्टियोसे लेकर अयोगकेवली तकके क्षायिकसम्यग्दृष्टियोका स्पर्श ओघके समान है । किन्तु सयतासयतोका स्पर्श लोकका असख्यातवाँ भाग है । क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोका स्पर्श ओघके समान है । असयतसम्यग्दृष्टि औपशमिक सम्यग्दृष्टियो का स्पर्श ओघके समान है । तथा शेष औपशमिक सम्यग्दृष्टियोका स्पर्श लोकका असख्यातवाँ भाग है । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टियोका सामान्योक्त स्पर्श है ।

§ 88. सज्ञा मार्गणाके अनुवादसे सज्ञियोका स्पर्श चक्षुदर्शनवाले जीवोके समान है । असज्ञियोने सव लोगका स्पर्श किया है । इन दोनो व्यवहारोसे रहित जीवोका स्पर्श ओघके सामन है ।

§ 89. आहार मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोसे लेकर क्षीणकषाय तकके आहारकोका स्पर्श ओघके सामान है । तथा सयोगकेवलियोका स्पर्श लोकका असख्यातवाँ भाग है । अनाहारकोमे मिथ्यादृष्टियोने सव लोकका स्पर्श किया है । सासादनसम्यग्दृष्टियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम ग्यारह[1] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । असंयतसम्यग्दृष्टियोने लोकके असख्यातवे भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोमे-से कुछ कम छह[2] भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सयोगकेवलियोने लोकके असख्यात वहुभाग क्षेत्रका और सव लोकका स्पर्श किया है । तथा अयोगकेवलियोने लोकके असख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । इस प्रकार स्पर्शनका व्याख्यान किया ।

§ 90. अव कालका कथन करते है । सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकारका है । सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सव काल है अर्थात् मिथ्यादृष्टि

---

1 मेरु तलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर छह राजु । यह स्पर्श उपपाद पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 2 अच्युत कल्प तक ऊपर कुछ कम राजु । तिर्यंच असयत सम्यग्दृष्टि जीव मर कर अच्युत कल्प तक उत्पन्न होते हैं इसलिए उपपाद पदकी अपेक्षा यह स्पर्श वन जाता है ।

सानः सादिः सपर्यवसानश्चेति । तत्र सादिः सपर्यवसानो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्त्तो देशोनः । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षडावलिकाः । सम्यङ्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्यः उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः[1] । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः । चतुर्णां क्षपकाणमयोगकेवलिनां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । सयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना ।

§ 91. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ नारकेषु सप्तसु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवा-

---

जीव सदा पाये जाते है । एक जीवकी अपेक्षा तीन भग है—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त । इनमे-से सादि-सान्त मिथ्यादृष्टिका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल पल्योपमके असख्यातवे भागप्रमाण है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवलि है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पल्योपमका असख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । असयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस[2] सागरोपम है । सयतासयतका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक [3]पूर्वकोटि है । प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय[4] और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । चारो उपशमोका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय[5] है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । चारो क्षपक और अयोगकेवलियोका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । सयोगकेवलियो का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि है ।

§ 91 विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमें नारकियोमे सातो पृथि-

---

1 –हूर्त । तिण्णि सहसा सत्त य सदाणि तेहत्तरिं च उस्सासा । एसो हवइ मुहुत्तो सव्वेसिं चेव मणुयाण ॥' उत्क–मु । 2 जो उपशम श्रेणिवाला जीव मर कर एक समय कम तेतीस सागरकी आयु लेकर अनुत्तर विमानमे पैदा होता है । फिर पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्योमे पैदा होकर जीवनभर असयमके साथ रहा है । केवल जीवनमे अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहनेपर सयमको प्राप्त होकर सिद्ध होता है । उसके असयत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है । यह काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक एक समय कम तेतीस सागर है । 3 पूर्वकोटिकी आयु वाला जो सम्मूर्छिम तिर्यंच उत्पन्न होनेके अन्तर्मुहूर्त बाद वेदक सम्यक्त्वके साथ संयमासयमको प्राप्त करता है सयमासयमका उत्कृष्ट काल होता है । यह काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि है । 4 जघन्य काल एक समय मरणकी अपेक्षा बतलाया है । 5. जघन्य काल एकसमय मरणकी अपेक्षा बतलाया है ।

पेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण यथासंख्यं एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण उक्त एवोत्कृष्टो देशोनः।

§ 92. तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टीनां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि।

§ ९३. मनुष्यगतौ मनुष्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकानि। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण षडावलिकाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्चोत्कृष्ट-

वियो मे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमश एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका काल ओघके समान है। असयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ[1] कम अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण है।

§ 92 तिर्यचगतिमे मिथ्यादृष्टि तिर्यचोका नानाजीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जो असख्यात[2] पुद्गल परिवर्तनप्रमाण है। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सयतासयत तिर्यचोका सामान्योक्ति काल है। असयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तीन पल्योपम है।

§ 93 मनुष्यगतिमे मनुष्योमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवको अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटि [3]पृथक्त्वसे अधिक तीन पल्योपम हे। सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवली है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। असयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और[4] उत्कृष्ट काल साधिक तीन पल्योपम है। तथा सयता

1 अन्तर्मुहूर्त कम। इतनी विशेपता है कि प्रारम्भके छह नरकोमे मिथ्यात्वके साथ उत्पन्न करावे फिर अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्वको उत्पन्न कराकर जीवन-भर सम्यक्त्वके साथ रखकर उत्कृष्ट काल प्राप्त करे। परन्तु सातवें नरकमे प्रवेश और निर्गम दोनो ही मिथ्यात्वके साथ करावे। 2 यहाँ असख्यातसे आवलिका असख्यातवाँ भाग लिया गया है। 3 यहाँ पूर्वकोटि पृथक्त्वसे सैंतालीस पूर्वकोटियोका ग्रहण किया है। यद्यपि पृथक्त्व यह तीनसे ऊपर और नौसे नीचेकी सख्याका द्योतक है तथापि यहाँ बाहुल्यकी अपेक्षा पृथक्त्व पदसे सैंतालीसका ग्रहण किया है। 4 यहाँ साधिक पदसे कुछ कम पूर्वकोटिका त्रिभाग लिया गया है। उदाहरणार्थ—एक पूर्वकोटिके आयुवाले जिम मनुष्यने त्रिभागमे मनुष्यायुका बन्ध किया। फिर अन्तर्मुहूर्तमे सम्यक्त्वपूर्वक क्षायिकसम्यग्दर्शनको प्राप्त किया और आयुके अन्तमे मरकर तीन पल्यकी आयुके साथ उत्तम भोगभूमिमे पैदा हुआ उसके अविरत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है।

श्चान्तर्मुहूर्तः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तं। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि सातिरेकाणि। शेषाणां सामान्योक्तः कालः।

§ 94. देवगतौ देवेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि। सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि।

§ 95. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेण संख्येयानि वर्षसहस्राणि। पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। शेषाणां सामान्योक्तः कालः।

§ 96. कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेणासंख्येया[1] लोकाः। वनस्पतिकायिकानामेकेन्द्रियवत्। त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके। शेषाणां पञ्चेन्द्रियवत्।

§ 97. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ता-

---

सयत आदि शेषका काल ओघके समान है।

§ 94 देवगतिमे देवोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल इकतीस सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका काल ओघके समान है। असयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तेतीस सागरोपम है।

§ 95 इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असख्यात पुद्गल परिवर्तन है। विकलेन्द्रियोंका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट काल सख्यात[2] हजार वर्ष है। पचेन्द्रियोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटि पृथक्त्वसे अधिक हजार सागरोपम है। तथा शेष गुणस्थानोका काल ओघके समान है।

§ 96 काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिकोका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण और उत्कृष्ट काल असख्यात लोकप्रमाण है। वनस्पतिकायिकोका एकेन्द्रियोके समान काल है। त्रसकायिकोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है। इनके शेष गुणस्थानोका काल पचेन्द्रियोके समान है।

§ 97 योग मार्गणाके अनुवादसे वचनयोगी और मनोयोगियोमे मिथ्यादृष्टि, असयत-

---

1 —स्येय काल। वन-मु। 2 लगातार दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय या चौइन्द्रिय होनेका उत्कृष्ट काल सख्यात हजार वर्ष है। इसलिए इनका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण कहा है।

प्रमत्तसयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया सर्वकाल । एकजीवापेक्षया जघन्येनैक समय । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त । सासादनसम्यग्दृष्टे सामान्योक्त काल सम्यङ्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमय । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभाग । एकजीवं प्रति जघन्येनैक समय । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त. । चतुर्णामुपशमकानां क्षपकाणां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकसमय. । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त । काययोगिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकाल । एकजीव प्रति जघन्येनैकसमय । उत्कर्षेणानन्त कालोऽसंख्येया पुद्गलपरिवर्ता । शेषाणां मनोयोगिवत् । अयोगानां सामान्यवत् ।

§ 98. वेदानुवादेन स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीव प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्त. काल. । किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकाल. । एकजीव प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि देशोनानि । पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्त. काल । नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवा-

---

सम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत और सयोगकेवलियोका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक [1]समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सासादनसम्यग्दृष्टिका सामान्योक्त काल है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य काल एक [2]समय है और उत्कृष्ट काल पल्योपमका असख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। चारो उपशमक और चारो क्षपकोका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक [3]समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। काययोगियोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असख्यात पुद्गल परिवर्तन है। शेषका काल मनोयोगियोके समान है। तथा अयोगियोका काल ओघके समान है।

§ 98. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदवालोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ पल्योपम पृथक्त्व है। सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। किन्तु असयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम [4]पचपन पल्योपम है। पुरुषवेदवालोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ [5]सागरोपम पृथक्त्व है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येक-

---

1 मनोयोग, वचनयोग और काययोगका जघन्य काल एक समय योगपरावृत्ति, गुणपरावृत्ति, मरण और व्याघात इस तरह चार प्रकारसे बन जाता है। इनमे-से मिथ्यादृष्टि, असयत सम्यग्दृष्टि, सयतासयत और प्रमत्तसयत यहाँ पर चारो प्रकार सम्भव हैं। अप्रमत्तसयतके व्याघातके बिना तीन प्रकार सम्भव है, क्योकि व्याघात और अप्रमत्तभावका परस्परमे विरोध है और सयोगिकेवलीके एक योगपरावृत्तिसे ही जघन्य काल एक समय प्राप्त होना सम्भव है। 2 मरणके बिना शेष तीन प्रकारसे यहाँ जघन्य काल एक समय घटित कर लेना चाहिए। 3. उपशमकोके व्याघातके बिना तीन प्रकारसे और क्षपकोके मरण और व्याघातके बिना दो प्रकारसे जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है। 4 देवीकी उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य है। इसमे-से प्रारम्भका अन्तर्मुहूर्त काल कम कर देनेपर स्त्रीवेदमे असयतसम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल कुछ कम पचपन पल्य प्राप्त हो जाता है। 5. तीन सौ सागरसे ऊपर और नौ सौ सागरके नीचे।

पेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टयाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्यवत्। किंत्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। अपगतवेदानां सामान्यवत्।

§ **99.** कषायानुवादेन चतुष्कषायाणां मिथ्यादृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां मनोयोगिवत्। द्वयोरुपशमकयोर्द्वयोः क्षपकयोः केवललोभस्य च अकषायाणां च सामान्योक्तः कालः।

§ **100.** ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टयोः सामान्यवत्। विभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टेः सामान्योक्तः कालः। आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां च सामान्योक्तः।

§ **101.** संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातशुद्धिसंयतानां संयतासंयतानामसंयतानां च चतुर्णां सामान्योक्तः कालः।

§ **102.** दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे। सासादनसम्यग्दृष्टयादीनां क्षीणकषाया-

---

का सामान्योक्त काल है। नपु सकवेदवालोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट [1]अनन्त काल है जिसका प्रमाण असख्यात पुद्गल परिवर्तन है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। किन्तु असयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस [2]सागरोपम है। तथा वेदरहित जीवोका काल ओघके समान है।

§ 99 कषाय मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक चारो कषायो का काल मनोयोगियोके समान है। तथा दोनो उपशमक, दोनो क्षपक, केवल लोभवाले और कषायरहित जीवोका सामान्योक्त काल है।

§ 100 ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानियोमे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टिका काल ओघके समान है। विभगज्ञानियोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस [3]सागरोपम है। तथा सासादनसम्यग्दृष्टिका सामान्योक्त काल है। आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोका सामान्योक्त काल है।

§ 101 सयम मार्गणाके अनुवादसे सामायिकसयत, छेदोपस्थापनासयत, परिहारविशुद्धिसयत, सूक्ष्मसाम्परायसयत, यथाख्यातशुद्धिसयत, सयतासयत और चारो असयतोका सामान्योक्त काल है।

§ 102. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवालोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल दो

---

1 यह सादि सान्त कालका निर्देश है। 2 सातवें नरकमे असयत सम्यग्दृष्टिका जो उत्कृष्ट काल है वही यहाँ नपुसकवेदमे असयत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल कहा है। 3 मिथ्यादृष्टि नारकी या देवके उत्पन्न होनेके बाद पर्याप्त होने पर ही विभगज्ञान प्राप्त होता है। इसीसे यहाँ एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिके विभगज्ञानका उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागर कहा है।

न्तानां सामान्योक्तः कालः। अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तः कालः। अवधिकेवलदर्शनिनोरवधिकेवलज्ञानिवत्।

§ 103 लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि सातिरेकाणि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योः सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि देशोनानि। तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योः सामान्योक्तः कालः। संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तानां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। शुक्ललेश्यानां मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानामलेश्यानां च सामान्योक्तः

हजार सागरोपम है। तथा सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। अचक्षुदर्शनवालोमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है। अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोका काल अवधिज्ञानी और केवलज्ञानियोके समान है।

§ 103 लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोमे मिथ्यादृष्टि-का नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमश. [1]साधिक तेतीस सागरोपम, साधिक सत्रह सागरोपम और साधिक सात सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है। असयत-सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्त-र्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल क्रमश. कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम और कुछ कम सात सागरोपम है। पीत और पद्मलेश्यावालो मे मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि का नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः साधिक[2] दो सागरोपम और साधिक[3] अठारह सागरोपम है। सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है। सयतासयत, प्रमत्तसंयत और अप्र-मत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल[4] एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। शुक्ल लेश्यावालोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक इकतीस सागरोपम है। सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येकका और लेश्यारहित जीवो-

---

1. जो जिस लेश्यासे नरकमे उत्पन्न होता है उसके मरते समय अन्तर्मुहूर्त पहले वही लेश्या आ जाती है। इसी प्रकार नरकसे निकलनेपर भी अन्तर्मुहूर्त तक वही लेश्या रहती है। इसीसे यहाँ मिथ्यादृष्टिके कृष्ण, नील और कापोत लेश्याका उत्कृष्ट काल क्रमसे साधिक तेतीस सागरोपम, साधिक सत्रह सागरोपम और साधिक सात सागरोपम बतलाया है। 2 मिथ्यादृष्टिके पल्योपमका असख्यातवाँ भाग अधिक दो सागरोपम या अन्त-र्मुहूर्त कम ढाई सागरोपम और सम्यग्दृष्टिके अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरोपम। 3 मिथ्यादृष्टिके पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग अधिक अठारह सागरोपम और सम्यग्दृष्टिके अन्तर्मुहूर्त कम साढे अठारह सागरोपम। 4. लेश्यापरावृत्ति और गुणपरावृत्तिसे जघन्य काल एक समय प्राप्त हो जाता है।

कालः । किं तु संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः ।

§ 104. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवापेक्षया द्वौ भङ्गौ अनादिः सपर्यवसानः सादिः सपर्यवसानश्च । तत्र सादिः सपर्यवसानो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः कालः । अभव्यानामनादिरपर्यवसानः ।

§ 105 सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः कालः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां चतुर्णां सामान्योक्तः कालः । औपशमिकसम्यक्त्वेषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः । प्रमत्ताप्रमत्तयोश्चतुर्णामुपशमकानां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनां सामान्योक्तः कालः ।

§ 106. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां पुंवेदवत् । शेषाणां सामान्योक्तः । [1]असंज्ञिनां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । [2]उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तः ।

का सामान्योक्त काल है । किन्तु संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।

§ 104 भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा दो भंग हैं अनादि-सान्त और सादि-सान्त । इनमेंसे सादि-सान्त भंगकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । अभव्योंका अनादि-अनन्त काल है ।

§ 105 सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । चारों क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टियोंका सामान्योक्त काल है । औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और चारों उपशमकोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । तथा सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है ।

§ 106. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका काल पुरुषवेदियोंके समान है । तथा शेष गुणस्थानोंका सामान्योक्त काल है । असंज्ञियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका सामान्योक्त काल है ।

---

1 —ज्ञिना मिथ्यादृष्टेर्नाना मु. । 2. ग्रहणम् । तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठी सहस्साणि मरणाणि । अन्तोमुहुत्तमेत्ते तावदिया चेव होंति खुद्दभवा । 66336 । उत्क—मु. ।

§ 107. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागः असंख्येयासंख्येया[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। शेषाणां सामान्योक्तः कालः। अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः. उत्कर्षेण त्रयः समयाः। सासादनसम्यग्दृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणावलिकाया असंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण द्वौ समयौ। सयोगकेवलिनो नानाजीवापेक्षया जघन्येन त्रयः समयाः। उत्कर्षेण संख्येयाः समयाः। एकजीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्च त्रयः समयाः। अयोगकेवलिनां सामान्योक्तः कालः। कालो वर्णितः।

§ 108. अन्तरं निरूप्यते। विवक्षितस्य गुणस्य गुणान्तरसंक्रमे सति पुनस्तत्प्राप्तेः प्राङ्मध्यमन्तरम्। तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावद् मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे षट्षष्टी देशोने सागरोपमाणाम्। सासादनसम्यग्दृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागः। उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः।

---

§ 107 आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है। शेष गुणस्थानोका सामान्योक्त काल है। अनाहारकोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा सब काल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल तीन समय है। सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल दो समय है। सयोगकेवलीका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल संख्यात समय है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल तीन समय है। अयोगकेवलियोका सामान्योक्त काल है। इस प्रकार कालका वर्णन किया।

§ 108 अब अन्तरका निरूपण करते है। जब विवक्षित गुण गुणान्तररूपमे संक्रमित हो जाता है और पुन उसकी प्राप्ति होती है तो मध्यके कालको अन्तर कहते हैं। वह सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारका है। सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम [2]दो छयासठ सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक[3] समय

---

1 —ख्येया सरय—मु। 2 यदि दर्शन मोहनीयका क्षपणा काल सम्मिलित न किया जाय तो वेदक सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागर प्राप्त होता है। साथ ही यह भी नियम है कि ऐसा जीव मध्यमे अन्तर्मुहूर्तके लिए मिश्र गुणस्थानमे जाकर पुन अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रह सकता है। इसके बाद वह या तो मिथ्यात्वमे चला जाता है या दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करने लगता है। यहां मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर लाना है इसलिए मिथ्यात्वमे लाकर अन्तमे पुन मिथ्यात्वमे ही ले जाना चाहिए। इससे मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक सौ बत्तीस सागर प्राप्त हो जाता है। 3 यदि सासादन सम्यग्दृष्टि न हो तो वे कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक पल्यके असंख्यातवें भाग काल तक नही होते इसीसे इनका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया सासादनवत्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः। असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणार्द्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनाः। चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनां च नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण षण्मासाः। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। सयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्।

§ **109.** विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ नारकाणां सप्तसु पृथिवीषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एक-

---

और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपमका असख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्योपमका असख्यातवाँ[1] भाग और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तन है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर सासादनसम्यग्दृष्टियोके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है। असयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक प्रत्येकका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है। चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर [2]अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है। चारो क्षपक और अयोगकेवलियोका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है। सयोगकेवलियोका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है।

§ 109 विशेषकी अपेक्षा गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमे नारकियोमे सातो पृथिवियोमे मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यदृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमश कुछ कम एक सागरोपम, कुछ कम तीन सागरोपम, कुछ कम सात सागरोपम, कुछ कम दस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम, कुछ कम वाईस सागरोपम और कुछ कम तेतीस[3] सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपमका असख्यातवाँ भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमश पल्योपमका असख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर सातो नरकोमे क्रमश कुछ कम एक साग-

---

1 सासादन गुणस्थान उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होने पर ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु एक जीव कमसे कम पल्यके असख्यातवें भाग प्रमाण कालके जाने पर ही दूसरी वार उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हो सकता है। इसीमे यहाँ सासादन सम्यग्दृष्टिका जघन्यकाल अन्तरकाल पल्यके असख्यातवें भाग प्रमाण कहा है। 2 एक जीव उपशम श्रेणिसे च्युत होकर पुन अन्तर्मुहूर्तसे वाद उपशम श्रेणिपर चढ सकता है इसलिए चारो उपशमकोका एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त वतलाया है। 3 जिस नरकको जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उसके प्रारम्भ और अन्त मे अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्वके साथ रखकर मध्यमे सम्यक्त्वके साथ रखनेसे उस नरकमे मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है जिसका निर्देश मूलमे किया ही है।

पृथक्त्वैरभ्यधिकानि। संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटीपृथक्त्वानि। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटीपृथक्त्वानि। शेषाणा सामान्यवत्।

§ **112.** देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि।

§ **113.** इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके। विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। एवमिन्द्रियं प्रत्यन्तरमुक्तम्। गुणं प्रत्युभयतोऽपि नास्त्यन्तरम्। पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं

अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व[1] है। चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व है। शेष गुणस्थानो का अन्तर ओघके समान है।

§ 112 देवगतिमे देवोमे मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस [2]सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमश पल्योपमका असख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है। तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है।

§ 113. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोमे नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक दो हजार [3]सागरोपम है। विकलेन्द्रियोमे नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असख्यात पुद्गल परिवर्तन है। इस प्रकार इन्द्रियकी अपेक्षा अन्तर कहा। गुणस्थानकी अपेक्षा विचार करने पर तो इनके नाना जीवोकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा दोनो अपेक्षाओसे भी अन्तर नही है या उत्कृष्ट और जघन्य दोनो प्रकारसे अन्तर नही है। पचेन्द्रियोमे मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमश पल्योपमका असख्यातवाँ

---

1 भोगभूमिमे सयमासयम या सयमकी प्राप्ति सम्भव नही, इसलिए सैंतालीस पूर्वकोटिके भीतर ही यह अन्तर वतलाया है। 2 देवोमे नौवें ग्रैवेयक तक ही गुणस्थान परिवर्तन सम्भव है। इसीसे यहाँ मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागर वतलाया है। 3 त्रस पर्यायमे रहनेका उत्कृष्ट काल पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है। इसीसे एकेन्द्रियोका उक्त प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर वतलाया है।

पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । असंयतसम्यग्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । चतुर्णामुपशमकाना नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमसहस्र पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । शेषाणां सामान्योक्तम् ।

§ 114. कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । वनस्पतिकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणासंख्येया लोका. । एवं कायं प्रत्यन्तरमुक्तम् । गुणं प्रत्युभयतोऽपि नास्त्यन्तरम् । त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके[1] । असयतसम्यग्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके । चतुर्णामुपशमकानां

भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम[2] है। असयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम है। चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम है। शेष गुणस्थानोका अन्तर ओघके समान है।

§ 114 काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असख्यात पुद्गल परिवर्तन है। वनस्पतिकायिकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर असख्यात लोकप्रमाण है। इस प्रकार कायकी अपेक्षा अन्तर कहा। गुणस्थानकी अपेक्षा विचार करने पर तो नाना जीवोकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा इन दोनो अपेक्षाओसे भी अन्तर नही है। या उत्कृष्ट और जघन्य इन दोनो अपेक्षाओसे अन्तर नही है। त्रसकायिकोमे मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमश. पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है। असयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त

---

1 —भ्यधिके । चतुर्णा—मु । 2 सासादनोका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपममे-से आवलिका असख्यातवाँ भाग और नौ अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। मिश्र गुणस्थानवालोका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय बारह अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। असयत सम्यग्दृष्टियोका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय दस अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। सयतासयतोका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय तीन पक्ष, तीन दिन और बारह अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। प्रमत्तसयतो और अप्रमत्तसयतोका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय आठ वर्ष और दस अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए। अपूर्वकरण आदि चार उपशमको का उत्कृष्ट अन्तर लाते समय क्रमसे 30,28,26 और 24 अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम कर देना चाहिए।

नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके । शेषाणां पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ 115. योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनां च सामान्यवत् ।

§ 116 वेदानुवादेन स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं

और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । तथा शेष गुणस्थानोका अन्तर पचेन्द्रियोके समान है ।

§ 115 योग मार्गणाके अनुवादसे काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगियोमे मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत और सयोगकेवलीका नाना जीवो और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । सासादनसम्यग्दृष्टि ओर सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । चारो क्षपक और अयोगकेवलियोका अन्तर ओघके समान है ।

§ 116 वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदियोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम पचपन[1] पल्योपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमश. पल्योपमका असख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम [2]पृथक्त्व है । असयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है । दोनो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है । दोनो क्षपकोका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और

---

1. पांच अन्तर्मुहूर्त कम पचपन पल्य । 2. स्त्रीवेदका उत्कृष्ट काल भी पल्योपम पृथक्त्व है उसमे से दो समय कम कर देनेपर स्त्रीवेदियोंमें सासादन सम्यग्दृष्टिका अन्तर आ जाता है और छह अन्तर्मुहूर्त कम कर देनेपर सम्यग्मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है । आगे भी इसी प्रकार आगमानुसार घटित कर लेना चाहिए ।

प्रति नास्त्यन्तरम् ।

§ 117. पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् ।

§ 118. नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्त्युपशमकान्तानां सामान्योक्तम् । द्वयोः क्षपकयोः स्त्रीवेदवत् । अपगतवेदेषु अनिवृत्तिबादरोपशमकसूक्ष्मसांपरायोपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ 119. कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्त्युपशमका-

---

उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व[1] है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 117 पुरुषवेदियोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपमका असंख्यतवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर सौ [2]सागरोपम पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । दोनों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । दोनों क्षपकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर [3]साधिक एक वर्ष है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 118 नपुंसक वेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थानका सामान्योक्त अन्तर है । तथा दोनों क्षपकोंका अन्तर स्त्रीवेदियोंके समान है । अपगतवेदवालोंमें अनिवृत्तिबादर उपशमक और सूक्ष्मसाम्पराय उपशमकका नाना जीवोंकी अपेक्षा सामान्योक्त अन्तर है । एकजीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । उपशान्तकषायका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ 119 कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान, माया और लोभ में मिथ्यादृष्टिसे लेकर

---

1 साधारणतः क्षपकश्रेणिका उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । पर स्त्रीवेदकी अपेक्षा उसका उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व बतलाया है । 2 सासादनके दो समय कम और सम्यग्मिथ्यादृष्टिके छह अन्तर्मुहूर्त कम सौ सागरोपम पृथक्त्व यह अन्तर जानना चाहिए । आगे भी इस प्रकार यथा योग्य अन्तर घटित कर लेना चाहिए । 3. पुरुषवेदी अधिकसे अधिक साधिक एक वर्ष तक क्षपक श्रेणिपर नहीं चढ़ता यह इसका भाव है ।

न्तानां मनोयोगिवत् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः । केवललोभस्य सूक्ष्मसांपरायोपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । क्षपकस्य तस्य सामान्यवत् । अकषायेषु उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । शेषाणां त्रयाणां सामान्यवत् ।

§ 120. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिषु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । चतुर्णां क्षपकाणां सामान्यवत् । किं तु अवधिज्ञानिषु नानाजीवापेक्षया जघन्येनैक समय । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् ।

अनिवृत्तिबादर उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थानका अन्तर मनोयोगियोके समान है । दोनो क्षपकोका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर साधिक एक वर्ष है। लोभ कषायमे सूक्ष्मसाम्परायिक उपशमकका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान हैं। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही हैं । सूक्ष्मलोभवाले क्षपकका अन्तर ओघके समान हैं । कषायरहित जीवोमे उपशान्तकषायका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । शेष तीन गुणस्थानोका अन्तर ओघके समान है ।

§ 120. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी और विभगज्ञानियोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवों और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है। सासादन सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है। आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोमे असयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक [1]पूर्वकोटी है । सयतासयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छयासठ [2]सागरोपम हैं । प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक तेतीस[3] सागरोपम है । चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छयासठ[4] सागरोपम है । चारो क्षपकोका अन्तर ओघके समान है। किन्तु अवधिज्ञानियोमें नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व[5] है।

---

1. चार अंतर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि । 2 आठ वर्ष और ग्यारह अतर्मुहूर्त कम तीन पूर्वकोटि अधिक छयासठ सागरोपम । किन्तु अवधिज्ञानीके ग्यारह अतर्मुहूर्तके स्थानमे 12 अंतर्मुहूर्त कम करना चाहिए । 3 प्रमत्तके साढे तीन अतर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट अन्तर है । और अप्रमत्तके दो अतर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट अन्तर है । 4 तीन या चार पूर्व कोटि अधिक छयासठ सागरोपम । किंतु इसमे-से चारो उपशमकोंके क्रमसे 26, 24, 22 और 20 अतर्मुहूर्त तथा आठ वर्ष कम कर देना चाहिए । 5. अवधिज्ञानी प्राय: बहुत ही कम होते हैं, इसलिए इतना अतर बन जाता है ।

एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । मन.पर्ययज्ञानिषु प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीव प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्त. । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तं । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । चतुर्णां क्षपकाणामवधिज्ञानिवत् । द्वयो. केवलज्ञानिनोः सामान्यवत् ।

§ 121. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतेषु प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्त. । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त । उत्कर्षेण पूवकोटी देशोना । द्वयोः क्षपकयो. सामान्यवत् । परिहारशुद्धिसयतेषु प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । सूक्ष्मसांपरायशुद्धि[1]सयतेषूपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । तस्यैव क्षपकस्य सामान्यवत् । यथाख्याते अकषायवत् । संयतासयतस्य नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । असयतेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । शेषाणां त्रयाणां सामान्यवत् ।

एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । मन.पर्यज्ञानियोमे प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त[2] है । चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक[3] पूर्वकोटी है । चारो क्षपकोंका अन्तर अवधिज्ञानियोके समान है । दोनो केवलज्ञानियोका अन्तर ओघके समान है ।

§ 121 सयम मार्गणाके अनुवादसे सामायिक शुद्धिसयत और छेदोपस्थापनशुद्धिसयतोमे प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसयतका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही हैं । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त[4] है । दोनो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक[5] पूर्वकोटी है । दोनो क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है । परिहारशुद्धि सयतोमे प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसयतका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट [6]अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतोमे उपशमकका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । तथा उसी सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकका अन्तर ओघके समान है । यथाख्यातमे अन्तर कषायरहित जीवोके समान है । संयतासयतका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । असंयतोमे मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही हैं । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागरोपम[7] है । शेष तीन गुणस्थानोका अन्तर ओघके समान है ।

---

1 —यमे उप-आ, दि 1, दि 2, ता. । 2 उपशमश्रेणि और प्रमत्त-अप्रमत्तका काल अन्तर्मुहूर्त होनेसे मन पर्ययज्ञानी प्रमत्त और अप्रमत्तका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अतर्मुहूर्त बन जाता है । 3 आठ वर्ष और 12 अतर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि । 4 प्रमत्तको अप्रमत्तसे और अप्रमत्तको प्रमत्तसे अतरित कराके यह अतर ले आना चाहिए । 5 आठ वर्ष और ग्यारह अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अपूर्वकरणका उत्कृष्ट अतर है । अनिवृत्तिकरणका समयाधिक नौ अंतर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम एक पूर्वकोटि उत्कृष्ट अतर है । 6 प्रमत्त और अप्रमत्तको परस्पर अतरित करानेसे यह अतर आ जाता है । 7. यह अंतर सातवें नरकमें प्राप्त होता है ।

§ 122. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येय-भागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम्[1] । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने । चतुर्णां क्षपकाणां सामान्योक्तम् । अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्या-दृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तमन्तरम् । अवधिदर्शनिनोऽवधिज्ञानिवत् । केवल-दर्शनिनः केवलज्ञानिवत् ।

§ 123. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवा-पेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसाग-रोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एक-जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोप-माणि देशोनानि ।

---

§ 122. दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमश. पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ[2] कम दो हजार सागरोपम है। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार सागरोपम[3] है। चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार [4]सागरोपम है। चारों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है। अचक्षुदर्शनवालोंमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानका सामान्योक्त अन्तर है। अवधिदर्शनवालोंका अवधिज्ञानियोंके समान अन्तर है। तथा केवलदर्शनवालोंके केवल-ज्ञानियोंके समान अन्तर है।

§ 123. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोंमे मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह साग-रोपम और कुछ कम सात सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर दोनों गुणस्थानोंमे क्रमश. पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर तीनों लेश्याओंमे क्रमश. कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम और कुछ कम सात सागरोपम है।

---

1 सामान्यवत् । एव-मु. । 2 चक्षुदर्शनवालोंमें सासादनके नौ अन्तर्मुहूर्त और आवलिका असख्यातवाँ भाग कम सम्यग्मिथ्यादृष्टिके बारह अंतर्मुहूर्त कम दो हजार सागरोपम उत्कृष्ट अतर है। 3 चक्षुदर्शन-वालोंमें अविरतसम्यग्दृष्टिके 10 अंतर्मुहूर्त कम संयतासंयतके 48 दिन और 12 अतर्मुहूर्त कम, प्रमत्तसयत के 8 वर्ष 10 अन्तर्मुहूर्त कम और अप्रमत्त संयतके भी 8 वर्ष और 10 अन्तर्मुहूर्त कम दो हजार साग-रोपम उत्कृष्ट अंतर है। 4. चक्षुदर्शनवालोंमें चारों उपशमकोंका क्रमसे 29, 27, 25 और 23 अतर्मुहूर्त तथा आठ वर्ष कम दो हजार सागरोपम उत्कृष्ट अंतर है।

§ 124. तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि। संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्।

§ 125. शुक्ललेश्येषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च। उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि। संयतासंयतप्रमत्तसंयतयोस्तेजोलेश्यावत्। अप्रमत्तसंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः[1]। त्रयाणामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः। उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलिनामलेश्यानां च सामान्यवत्।

§ 126. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत्। अभव्याना

---

§ 124. पीत और पद्म लेश्यावालोमे मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर दोनो लेश्याओमे क्रमश. साधिक दो सागरोपम और साधिक अठारह सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर दोनो गुणस्थानोंमें क्रमशः पल्योपमका असख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर दोनो लेश्याओमे क्रमशः साधिक दो सागरोपम और साधिक अठारह सागरोपम है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जोव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है।

§ 125. शुक्ल लेश्यावालोमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है। सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है। संयतासंयत और प्रमत्तसंयतका अन्तरकथन पीतलेश्याके समान है। तथा अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर [2]अन्तर्मुहूर्त हैं। तीन उपशमकोका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान हैं। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर [3]अन्तर्मुहूर्त हैं। उपशान्तकषायका नाना जीवकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है तथा एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है। चारो क्षपक, सयोगकेवली और लेश्यारहित जीवोंका अन्तर ओघके समान है।

§ 126 भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्योंमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक

1.—हूर्तः। अयदो त्ति छ लेस्साओ सुहतिय लेस्सा हु देसविरदतिये। तत्तो दु सुक्कलेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु॥ त्रयाणा—मु। 2. उपशमश्रेणिसे अन्तरित कराके जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त प्राप्त करना चाहिए। 3. अप्रमत्तसंयतसे अन्तरित कराके यह अन्तर प्राप्त करना चाहिए।

नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ 127. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ 128. क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि देशोनानि । प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि ।

§ 129. औपशमिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण सप्त रात्रि[1]दिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । संयतासंयतस्य नाना-

---

गुणस्थानका अन्तर ओघके समान है । अभव्योंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 127. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ[2] कम एक पूर्वकोटी है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर [3]साधिक तेंतीस सागरोपम है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर [4]साधिक तेंतीस सागरोपम है । तथा शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ 128. क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ[5] कम एक पूर्वकोटी है । संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम छयासठ[6] सागरोपम है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर साधिक[7] तेंतीस सागरोपम है ।

§ 129. औपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर सात दिन रात है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट

1.—दिनानि । एक—मु. 2. आठ वर्ष और दो अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि । 3. संयतासंयतके आठ वर्ष और चौदह अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तेंतीस सागरोपम । प्रमत्तसंयत के एक अन्तर्मुहूर्त और एक पूर्वकोटि अधिक तेंतीस सागरोपम । अथवा साढ़े तीन अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तेंतीस सागरोपम । अप्रमत्त संयतके साढ़े पाँच अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटी अधिक तेंतीस सागरोपम । 4. चारों उपशमकोंके आठ वर्ष और क्रमसे 27, 25, 23 और 21 अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटी अधिक तेंतीस सागरोपम । 5. चार अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि । 6 तीन अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागरोपम । 7. प्रमत्तके सात अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तेंतीस सागरोपम और अप्रमत्तके आठ अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तेंतीस सागरोपम ।

जीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण चतुर्दश रात्रिदिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पंचदश रात्रिदिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । त्रयाणामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ 130. सञ्ज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । चतुर्णां क्षपकाणां सामान्यवत् । असंज्ञिनां नानाजीवापेक्षयैकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्यवत् ।

अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । संयतासंयतका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर चौदह दिन रात्रि है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह दिन रात है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । तीन उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । उपशान्तकषायका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर[1] नही है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है ।

§ 130 संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोमे मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एकजीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । चारो उपशमकोका नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । चारो क्षपकोका अन्तर ओघके समान है । असंज्ञियोका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नही है । संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोका अन्तर ओघके समान है ।

---

1 क्योकि उपशमश्रेणिसे उतर कर उपशम सम्यक्त्व छूट जाता है । यदि अन्तर्मुहूर्त बाद पुन उपशमश्रेणिपर चढता है तो वेदकसम्यक्त्व पूर्वक दूसरी बार उपशम करना पडता है । यही कारण है कि उपशम सम्यक्त्वमे एक जीवकी अपेक्षा उपशान्तकषायका अन्तर नही प्राप्त होता ।

§ 131. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयासंख्येया[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । असंयतसम्यग्दृष्ट्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येया[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तं । उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयासंख्येया[2] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलिनां च सामान्यवत् ।

§ 132. अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण मासपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सयोगकेवलिनः नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । अयोगकेवलिनः नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षण्मासाः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । अन्तरमवगतम् ।

§ 133. भावो विभाव्यते । स द्विविधः सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावत् मिथ्या-

---

§ 131. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है । चारों क्षपक और सयोगकेवलियोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ 132. अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर मासपृथक्त्व है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । अयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । इस प्रकार अन्तरका विचार किया ।

§ 133. अब भावका विचार करते हैं । वह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष ।

1.—भागा असंख्येया उत्स—मु. । 2. भाव. उक्तं च—मिच्छे खलु ओदइओ विदिए पुण पारिणामिओ भावो । मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मम्मि तिण्णेव ॥1॥ असं—मु. ।

दृष्टिरित्यौदयिको भाव । सासादनसम्यग्दृष्टिरिति पारिणामिको भाव । सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरिति क्षायोपशमिको भाव । असंयतसम्यग्दृष्टिरिति औपशमिको वा क्षायिको वा क्षायोपशमिको वा भाव । असंयत पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयत प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयत इति क्षायोपशमिको भाव. । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भाव । चतुर्षु क्षपकेषु सयोगायोगकेवलिनोश्च क्षायिको भाव ।

§ 134. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारकाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताना सामान्यवत् । द्वितीयादिष्वा सप्तम्या मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टीनां सामान्यवत् । असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको वा क्षायोपशमिको वा भाव. । असयत पुनरौदयिकेन भावेन । तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासयतान्तानां सामान्यवत् । मनुष्यगतौ मनुष्याणा मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताना सामान्यवत् ।

§ 135. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामौदयिको भाव. । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् ।

§ 136. कायानुवादेन स्थावरकायिकानामौदयिको भावः । त्रसकायिकानां सामान्यमेव ।

§ 137. योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानां च

सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि यह औदयिकभाव है। सासादनसम्यग्दृष्टि यह पारिणामिक[1] भाव है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक[2] भाव है। असयतसम्यग्दृष्टि यह औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव है। किन्तु इसमे असयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है। सयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत यह क्षायोपशमिक भाव है। चारो उपशमकोके औपशमिक भाव है। चारो क्षपक, सयोगकेवली और अयोगकेवलीके क्षायिक भाव है।

§ 134 विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमे पहली पृथिवी मे नारकियोके मिथ्यादृष्टिसे लेकर असयतसम्यग्दृष्टि तक ओघके समान भाव है। दूसरी से लेकर सातवी पृथिवी तक मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नारकियोके ओघके समान भाव है। असयतसम्यग्दृष्टिके औपशमिक या क्षायोपशमिक भाव है। किन्तु इसमे असयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है। तिर्यंचगतिमे तिर्यंचोके मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयतासयत तक ओघके समान भाव है। मनुष्यगतिमे मनुष्योके मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक ओघके समान भाव है। देवगतिमे देवोके मिथ्यादृष्टिसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि तक ओघके समान भाव है।

§ 135 इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोके औदयिक भाव है। पचेन्द्रियोमे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानका ओघके समान भाव है।

§ 136 कायमार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिकोके औदयिक भाव है। त्रसकायिकोके ओघके समान भाव है।

§ 137 योगमार्गणाके अनुवादसे काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगी जीवोके मिथ्या-

---

1 सासादनसम्यक्त्व यह दर्शनमोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे नही होता इस लिए निष्कारण होनेसे पारिणामिक भाव है। 2. सम्यग्मिथ्यात्वकर्मका उदय होने पर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक मिला हुआ जीव परिणाम होता है। उसमे श्रद्धानाश सम्यक्त्व अश है। सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका उदय उसका अभाव करनेमे असमर्थ है इस लिए सम्यग्मिथ्यात्व यह क्षायोपशमिक भाव है।

सामान्यमेव ।

§ **138.** वेदानुवादेन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानामवेदानां च सामान्यवत् ।

§ **139.** कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणामकषायाणां च सामान्यवत् ।

§ **140.** ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिविभङ्गज्ञानिनां मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां च सामान्यवत् ।

§ **141.** संयमानुवादेन सर्वेषां संयतानां संयतासंयतानां च सामान्यवत् ।

§ **142.** दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनिनां सामान्यवत् ।

§ **143.** लेश्यानुवादेन षड्लेश्यालेश्यानां च सामान्यवत् ।

§ **144.** भव्यानुवादेन भव्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । अभव्यानां पारिणामिको भाव. ।

§ **145.** सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टे क्षायिको भावः । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । असंयतत्वमौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भाव. । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भाव । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । शेषाणां सामान्यवत् । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेः क्षायोपशमिको भाव. । क्षायोपशमिकं

दृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक और अयोगकेवलीके ओघके समान भाव है।

§ 138. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुसकवेदी और वेदरहित जीवोके ओघके समान भाव है।

§ 139 कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध कषायवाले, मान कषायवाले, माया कषायवाले, लोभ कषायवाले और कषाय रहित जीवोके समान भाव है।

§ 140 ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभगज्ञानी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवोके ओघके समान भाव है।

§ 141 सयम मार्गणाके अनुवादसे सब सयतोके, संयतासयतोंके और असयतोके ओघके समान भाव है।

§ 142 दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवाले, अचक्षुदर्शनवाले, अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोके ओघके समान भाव हैं।

§ 143 लेश्यामार्गणाके अनुवादसे छहो लेश्यावाले और लेश्या रहित जीवोके ओघके समान भाव है।

§ 144. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योके मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक ओघके समान भाव हैं। अभव्योके पारिणामिक[1] भाव है।

§ 145 सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोमे असंयतसम्यग्दृष्टिके क्षायिक भाव है। क्षायिक सम्यक्त्व है। किन्तु असयतपना औदयिक भाव है। सयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतके क्षायोपशमिक भाव है। क्षायिक सम्यक्त्व है। चारो उपशमकोंके औपशमिक भाव है। क्षायिक सम्यक्त्व है। शेष गुणस्थानोंका ओघके समान भाव है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोमे असयतसम्यग्दृष्टिके क्षायोपशमिक भाव है। क्षायोपशमिक

---

1 यो तो ये भाव दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयके उदयादिकी अपेक्षा बतलाये गये हैं। किन्तु अभव्योंके 'अभव्यत्व भाव क्या है' इसकी अपेक्षा भावका निर्देश किया है। यद्यपि इससे क्रम भग हो जाता है तथापि विशेष जानकारीके लिए ऐसा किया है। उनका बन्धन सहज ही अनुटयत्, सन्तानवाला होनेसे उसे पारिणामिक भाव कहा है यह इसका तात्पर्य है।

सम्यक्त्वम् । असंयत: पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भाव: । क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम् । औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको भाव: । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । असंयत: पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भाव: । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भाव: । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । सासादनसम्यग्दृष्टे: पारिणामिको भाव: । सम्यङ्मिथ्यादृष्टे: क्षायोपशमिको भाव: । मिथ्यादृष्टेरौदयिको भाव: ।

§ 146. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां सामान्यवत् । असंज्ञिनामौदयिको भाव: । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्यवत् ।

§ 147. आहारानुवादेन आहारकाणामनाहारकाणां च सामान्यवत् । भाव: परिसमाप्त: ।

§ 148. अल्पबहुत्वमुपवर्ण्यते । तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावत् सर्वत: स्तोका: त्रय उपशमका: स्वगुणस्थानकालेषु प्रवेशेन तुल्यसंख्या: । उपशान्तकषायास्तावन्त एव । त्रय: क्षपका: संख्येयगुणा: । क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थास्तावन्त एव । सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन तुल्यसंख्या: । सयोगकेवलिन: स्वकालेन समुदिता: संख्येयगुणा: । अप्रमत्तसंयता: संख्येयगुणा: । प्रमत्तसंयता: संख्येयगुणा: । संयतासंयता[1] असंख्येयगुणा: । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणा: । सम्यग्मिथ्यादृष्टय:[2] संख्येयगुणा: । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणा: । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणा: ।

सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है । औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिके औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । सासादनसम्यग्दृष्टिके पारिणामिक भाव है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिके क्षायोपशमिक भाव है । मिथ्यादृष्टिके औदयिक भाव है ।

§ 146. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंके ओघके समान भाव हैं । असंज्ञियोंके औदयिक भाव हैं । तथा संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंके ओघके समान भाव हैं ।

§ 147. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीवोंके ओघके समान भाव हैं । इस प्रकार भाव समाप्त हुआ ।

§ 148. अब अल्पबहुत्वका कथन करते हैं । वह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष । सामान्यकी अपेक्षा तीनों उपशमक सबसे थोड़े हैं जो अपने-अपने गुणस्थानके कालोंमें प्रवेशकी अपेक्षा समान[3] संख्यावाले हैं । उपशान्तकषाय जीव उतने ही हैं । इनसे अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानके क्षपक संख्यात[4] गुणे हैं । क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ उतने ही हैं । सयोगकेवली और अयोगकेवली प्रवेशकी अपेक्षा समान संख्यावाले हैं । इनसे अपने कालमें समुदित हुए सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं ।

---

1. —संयता संख्ये—मु. । 2. —दृष्टय: असंख्ये—मु. । 3. कमसे कम एक और अधिकसे अधिक चौवन ।
4. कमसे कम एक और अधिकसे अधिक एक सौ आठ ।

§ 149. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकेषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः। सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। तिर्यग्गतौ तिरश्चां सर्वतः स्तोकाः संयतासंयताः। इतरेषां सामान्यवत्। मनुष्यगतौ मनुष्याणामुपशमकादिप्रमत्तसंयतान्तानां सामान्यवत्। ततः संख्येयगुणाः संयतासंयताः। सासादनसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः। मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। देवगतौ देवानां नारकवत्।

§ 150. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियेषु गुणस्थानभेदो नास्तीत्यल्पबहुत्वाभाव[1]। पञ्चेन्द्रियाणां सामान्यवत्। अयं तु विशेषः मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः।

§ 151. कायानुवादेन स्थावरकायेषु गुणस्थानभेदाभावादल्पबहुत्वाभावः[2]। त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवत्।

§ 152 योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां पञ्चेन्द्रियवत्। काययोगिनां सामान्यवत्। वेदानुवादेन स्त्रीपुंवेदानां पञ्चेन्द्रियवत्। नपुंसकवेदानामवेदानां च सामान्यवत्।

§ 153. कषायानुवादेन क्रोधमानमायाकषायाणां पुंवेदवत्। अयं तु विशेषः मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः। लोभकषायाणां द्वयोरुपशमकयोस्तुल्या संख्या। क्षपकाः संख्येयगुणाः। सूक्ष्मसांप-

---

§ 149 विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमे सब पृथिवियोमे नारकियोमे सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोडे है। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि सख्यातगुणे है। इनसे असयतसम्यग्दृष्टि असख्यातगुणे है। इनसे मिथ्यादृष्टि असख्यातगुणे है। तिर्यंचगतिमे तिर्यंचोमे सयतासयत सबसे थोडे है। शेष गुणस्थानवाले तिर्यचोका अल्पबहुत्व ओघके समान है। मनुष्यगतिमे मनुष्योके उपशमकोसे लेकर प्रमत्तसयत तकका अल्पबहुत्व ओघके समान है। प्रमत्तसयतोसे सयतासयत सख्यातगुणे है। इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि सख्यातगुणे है। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि सख्यातगुणे है। इनसे असयतसम्यग्दृष्टि सख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि असख्यातगुणे है। देवगतिमे देवोका अल्पवहुत्व नारकियोके समान है।

§ 150 इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोमे गुणस्थान भेद न होनेसे अल्पवहुत्व नही है। पचेन्द्रियोका अल्पबहुत्व ओघके समान है। किन्तु इतनी विशेषता है कि असयत सम्यग्दृष्टि पचेन्द्रियोसे मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय असख्यातगुणे हैं।

§ 151 काय मार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिकोमे गुणस्थान भेद न होनेसे अल्पवहुत्व नही है। त्रसकायिकोका अल्पवहुत्व पचेन्द्रियोके समान है।

§ 152 योग मार्गणाके अनुवादसे वचनयोगी और मनोयोगी जीवोका अल्पबहुत्व पचेन्द्रियोके समान है। काययोगियोका अल्पवहुत्व ओघके समान है। वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोका अल्पवहुत्व पचेन्द्रियोके समान है। नपुसकवेदी और वेदरहित जीवोका अल्पवहुत्व ओघके समान है।

§ 153 कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायवाले, मानकषायवाले और मायाकषायवाले जीवोका अल्पवहुत्व पुरुषवेदियोके समान है। किन्तु इतनी विशेषता है कि इनमे असयत सम्यग्दृष्टियोसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं। लोभ कषायवालोमे दोनो उपशमकोकी सख्या समान है। इनसे क्षपक सख्यातगुणे हैं। इनसे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धि उपशमकसयत विशेष अधिक है। इनसे

---

1. भाव । इन्द्रिय प्रत्युच्यते। पचेन्द्रियाद्येकेन्द्रियान्ता उत्तरोत्तर बहव। पचे—मु। 2. भाव कायं प्रत्युच्यते। सर्वतस्तेजःकायिका अल्पा। ततो बहवः पृथिवीकायिकाः। ततोऽप्यप्कायिकाः। ततो वातकायिकाः। सर्वतोऽनन्तगुणा वनस्पतयः। त्रस—मु।

रामशुद्धय० पशमकसंयता विशेषाधिकाः। सूक्ष्मसांपरायक्षपकाः सख्येयगुणाः। शेषाणां सामान्यवत्।

§ 154. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः। मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः[1]। विभङ्गज्ञानिषु सर्वतः स्तोका सासादनसम्यग्दृष्टयः। मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। मतिश्रुतावधिज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाश्चत्वार क्षपकाः संख्येयगुणाः। अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। सयतासंयताः [2]असंख्येयगुणा। असंयतसम्यग्दृष्टयः[3] असंख्येयगुणा। मन पर्ययज्ञानिषु सर्वत स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः। चत्वारः क्षपका. संख्येयगुणा। अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। केवलज्ञानिषु अयोगकेवलिभ्यः सयोगकेवलिनः संख्येयगुणा।

§ 155. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतेषु द्वयोरुपशमकयोस्तुल्या संख्या। ततः संख्येयगुणौ क्षपकौ। अप्रमत्ताः संख्येयगुणाः। प्रमत्ता संख्येयगुणाः। परिहारशुद्धिसंयतेषु अप्रमत्तेभ्यः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः। सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतेषु उपशमकेभ्य क्षपका संख्येयगुणा.। यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतेषु उपशान्तकषायेभ्यः क्षीणकषायाः संख्येयगुणाः। अयोगकेवलिनस्तावन्त एव। सयोगकेवलिन संख्येयगुणाः। संयतासंयतानां नास्त्यल्पबहुत्वम्। असंयतेषु सर्वत स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः। सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः[4] संख्येयगुणा। असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणा। मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणा।

§ 156. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मनोयोगिवत्। अचक्षुर्दर्शनिनां काययोगिवत्। अवधिदर्शनिनामवधिज्ञानिवत्। केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत्।

सूक्ष्मसाम्यपराय क्षपक सख्यातगुणे हैं। शेष गुणस्थानवालोका अल्पबहुत्व ओघके समान है।

§ 154 ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानियोमे सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोडे है। मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे है। विभगज्ञानियो मे सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोडे हैं। मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे है। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानियोमे चारो उपशमक सबसे थोडे हैं। इनसे चारो क्षपक सख्यातगुणे है। इनसे अप्रमत्तसयत सख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसयत सख्यातगुणे है। इनसे सयतासयत असख्यातगुणे हैं। इनसे असयतसम्यग्दृष्टि असख्यातगुणे है। मन पर्ययज्ञानियोमे चारो उपशमक सबसे थोडे है। इनसे चारो क्षपक सख्यातगुणे हैं। इनसे अप्रमत्तसयत सख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसयत सख्यातगुणे हैं। केवलज्ञानियोमे अयोगकेवलियोसे सयोगकेवली सख्यातगुणे हैं।

§ 155 सयम मार्गणा के अनुवादसे सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धिसयतोमे दोनो उपशमक समान सख्यावाले है। इनसे दोनो क्षपक सख्यातगुणे है। इनसे अप्रमत्तसयत सख्यातगुणे हैं। इनसे प्रमत्तसयत सख्यातगुणे है। परिहारविशुद्धि सयतोमे अप्रमत्तसयतोसे प्रमत्तसयत सख्यातगुणे है। सूक्ष्मसाम्परायिक शुद्धिसयतोमे उपशमकोसे क्षपक सख्यातगुणे है। यथाख्यात विहार शुद्धिसयतोंमे उपशान्त कषायवालोसे क्षीणकषाय जीव सख्यातगुणे हैं। अयोगकेवली उतने ही हैं। सयोगकेवली सख्यातगुणे है। सयतासयतोका अल्पबहुत्व नही है। असयतोमे सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोडे हैं। इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि सख्यातगुणे हैं। इनसे असयतसम्यग्दृष्टि असख्यातगुणे है। इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे है।

§ 156 दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शनवालोका अल्पबहुत्व मनोयोगियोके समान है। अचक्षुदर्शनवालोका अल्पबहुत्व काययोगियोके समान है। अवधिदर्शनवालोका अल्पबहुत्व अवधिज्ञानियोके समान है और केवलदर्शनवालोका अल्पबहुत्व केवलज्ञानियोके समान है।

---

1 दृष्टयोऽसख्येयगुणा। मति—मु। 2.—यता सख्ये—मु.। 3 —ष्टय सख्ये—मु। 4 —दृष्टयोऽसख्ये—मु।

§ 157. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानां असंयतवत् । तेज.पद्मलेश्यानां सर्वतः स्तोका अप्रमत्ताः । प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । एवमितरेषां पंचेन्द्रियवत् । शुक्ललेश्यानां सर्वत स्तोका उपशमकाः । क्षपकाः संख्येयगुणाः । सयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । संयतासंयता[2] असंख्येयगुणाः । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽ[2]संख्येयगुणाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयः [3]संख्येयगुणाः ।

§ 158. भव्यानुवादेन भव्यानां सामान्यवत् । अभव्यानां नास्त्यल्पबहुत्वम् ।

§ 159. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः । इतरेषां प्रमत्तान्तानां सामान्यवत् । ततः संयतासंयताः संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोका अप्रमत्ता । प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । संयतासंयता.[4] असंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । औपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः । अप्रमत्ताः संख्येयगुणाः । प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । संयतासंयताः[5] असंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । शेषाणां नास्त्यल्पबहुत्वम्[6] ।

§ 160. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत् । असंज्ञिनां नास्त्यल्पबहुत्वम् । तदुभयव्यपदेशरहितानां केवलज्ञानिवत् ।

---

§ 157. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोका अल्पबहुत्व असंयतोके समान है । पीत और पद्म लेश्यावालोमे अप्रमत्तसंयत सबसे थोडे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे है । इस प्रकार शेष गुणस्थानवालोंका अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियोके समान है । शुक्ल लेश्यावालोंमें उपशमक सबसे थोड़े हैं । इनसे क्षपक संख्यातगुणे है । इनसे सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे है । इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असख्यातगुणे है । इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि संख्यातगुणे हैं ।

§ 158. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंका अल्पबहुत्व ओघके समान है । अभव्योंका अल्पबहुत्व नहीं है ।

§ 159. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं । प्रमत्तसंयतों तक शेषका अल्पबहुत्व ओघके समान है । प्रमत्तसंयतोसे संयतासंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें अप्रमत्तसयत सबसे थोड़े हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । औपशमिकसम्यग्दृष्टियोमें चारो उपशमक सबसे थोड़े हैं । इनसे अप्रमतसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे सयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयत सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । शेष सासादन सम्यग्दृष्टि आदिका अल्पबहुत्व नहीं है ।

§ 160. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंका अल्पबहुत्व चक्षुदर्शनवालोके समान हैं । असंज्ञियोंका अल्पबहुत्व नहीं है । संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका अल्पबहुत्व केवलज्ञानियोंके समान है ।

---

1. संयताः संख्ये—मु. । 2. दृष्टयः संख्ये—मु. । 3. —दृष्टयोऽसंख्ये—मु । 4. —यताःसंख्येय—मु. । 5. यताः संख्ये—मु. । 6. बहुत्वम् । विपक्षे एकैकगुणस्थानग्रहणात् । सज्ञा—मु. ।

§ 161 आहारानुवादेन आहारकाणां काययोगिवत्। अनाहारकाणां सर्वतः स्तोकाः सयोगकेवलिनः। अयोगकेवलिनः संख्येयगुणा। सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणा। असंयत-सम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणा। मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणा।

§ 162 एवं मिथ्यादृष्ट्यादीनां गत्यादिषु मार्गणा कृता सामान्येन। तत्र सूक्ष्मभेद आगमाविरोधेनानुसर्तव्य।

§ 163. एवं सम्यग्दर्शनस्यादावुद्दिष्टस्य लक्षणोत्पत्तिस्वामिविषयन्यासाधिगमोपाया निर्दिष्टाः। तत्संबन्धेन च जीवादीनां संज्ञापरिमाणादि निर्दिष्टम्। तदनन्तरं सम्यग्ज्ञानं विचारार्हमित्याह—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥9॥

§ 164. ज्ञानशब्द प्रत्येकं परिसमाप्यते। मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं अवधिज्ञानं मन.पर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति। इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थो[1]मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मति। तदा-वरण[2]कर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन[3] तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। अनयोः प्रत्यासन्ननिर्देश. कृत. कार्यकारणभावात्। तथा च वक्ष्यते "श्रुतं मतिपूर्वम्" इति। [4]अवाग्धा-नादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधि। परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं

---

§ 161 आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंका अल्पबहुत्व काययोगियोके समान है। अनाहारकोमे सयोगकेवली सबसे थोड़े हैं। इनसे अयोगकेवली सख्यातगुणे हैं। इनसे सासादन-सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। इनसे असयतसम्यग्दृष्टि असख्यातगुणे हैं। इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं। अल्पबहुत्वका कथन समाप्त हुआ।

§ 162 इस प्रकार गत्यादि मार्गणाओमे मिथ्यादृष्टि आदिका सामान्यसे विचार किया। इसमे उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद आगमानुसार जान लेना चाहिए।

§ 163 इस प्रकार सर्व प्रथम कहे गये सम्यग्दर्शनके लक्षण, उत्पत्ति, स्वामी, विषय न्यास और अधिगमका उपाय कहा। और उसके सम्बन्धसे जीवादिकोकी सज्ञा और परिमाण आदि भी कहा। अब इसके बाद सम्यग्ज्ञान विचार योग्य है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं ॥9॥

§ 164 सूत्रमे ज्ञान शब्द मति आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'इन्द्रियैर्मनसा च यथा स्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्र वा मति'=इन्द्रिय और मनके द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मननमात्र मति कह-लाता है। श्रुतका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्र वा श्रुतम्'=श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाताहै, जो सुनता है या सुननामात्र श्रुत कहलाता है। मति और श्रुत इन दोनो ज्ञानोका समीपमे निर्देश किया है क्योकि इनमें कार्य-कारणभाव पाया जाता है। जैसा कि आगे कहेंगे 'श्रुत मतिपूर्वम्।' अवधिका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ=अधिकतर नीचेके विषयको जानने

---

1. स्वमर्थान्मन्यते मु.। 2. —वरणक्षयो—मु। 3. अनेनेति तत्—मु.। 4 'अवाग्धानादवधिः अथवा अधोगौरवधर्मत्वात्पुद्गल. अवाङ् नाम त दधाति परिच्छिनत्तीति अवधि. अवधिरेव ज्ञान अवधि-ज्ञानम्। अथवा अवधिर्मर्यादा अवधिना सह वर्तमानज्ञानमवधिज्ञानम्।'—धव. प्र. न. प. 865 आरा।

परिगमनं मनःपर्ययः। मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत्; न; अपेक्षामात्रत्वात्। क्षयोपशमशक्तिमात्र-विजृम्भितं हि तत्केवलं स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते। यथा अभ्रे चन्द्रमसं पश्येति। बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्। असहायमिति वा। तदन्ते प्राप्यते इति अन्ते क्रियते। तस्य प्रत्यासन्नत्वात्तत्समीपे मनःपर्ययग्रहणम्। कुतः प्रत्यासत्तिः। संयमैकाधिकरणत्वात्। तस्य अवधिर्विप्रकृष्टः। कुतः विप्रकृष्टान्त[1]रत्वात्। प्रत्यक्षात्परोक्षं पूर्वमुक्तं सुगमत्वात्। श्रुतपरिचितानुभूता[2] हि मतिश्रुतपद्धतिः सर्वेण प्राणिगणेन प्रायः प्राप्यते यतः। एवमेतत्पञ्चविधं ज्ञानम्। तद्भेदादयश्च पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते।

§ 165. "प्रमाणनयैरधिगमः" इत्युक्तम्। प्रमाणं च केषांचित् ज्ञानमभिमतम्। केषांचित्

वाला होनेसे या परिमित विषयवाला होनेसे अवधि कहलाता है। मनःपर्ययका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—दूसरेके मनोगत अर्थको मन कहते हैं। सम्बन्धसे उसका पर्ययण अर्थात् परिगमन करनेवाला ज्ञान मन.पर्यय कहलाता है। शंका—मन पर्यय ज्ञानका इस प्रकार लक्षण करने पर उसे मतिज्ञानका प्रसंग प्राप्त होता है? समाधान—नही, क्योंकि मन.पर्ययज्ञानमें मनकी अपेक्षामात्र है। यद्यपि वह केवल बढी हुई क्षयोपशम शक्तिसे अपना काम करता है तो भी केवल स्व और परके मनकी अपेक्षा उसका व्यवहार किया जाता है। यथा, 'आकाशमें चन्द्रमा देखो' यहाँ आकाशकी अपेक्षामात्र होनेसे ऐसा व्यवहार किया गया है। केवलका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर तपके द्वारा मार्गका केवन अर्थात् सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है। अथवा केवल शब्द असहायवाची है, इसलिए असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञानकी प्राप्ति अन्तमे होती है इसलिए सूत्रमे उसका पाठ सबके अन्त मे रखा है। उसके समीपका होनेसे उसके समीपमे मनःपर्ययका ग्रहण किया है। शंका—मन पर्यय केवलज्ञानके समीपका क्यो है? समाधान—क्योंकि इन दोनोका संयम ही एक आधार है, अतएव मन पर्यय केवलज्ञानके समीपका है। अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञानसे दूर है, इसलिए उसका मनःपर्ययज्ञानके पहले पाठ रखा है। शका—मन पर्ययज्ञानसे अवधिज्ञानको दूरका क्यो कहा? समाधान—क्योंकि अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानसे अत्यन्त दूर है। प्रत्यक्षसे परोक्षका पहले कथन किया, क्योंकि वह सुगम है। चूँकि मति-श्रुतपद्धति श्रुत, परिचित और अनुभूत होनेसे प्रायः सब प्राणियोके द्वारा प्राप्त करने योग्य है अत. वह सुगम है। इस प्रकार यह पाँच प्रकारका ज्ञान है। इसके भेद आदि आगे कहेगे।

विशेषार्थ—क्रमानुसार इस सूत्रमें सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद बतलाये गये हैं। यद्यपि सूत्रमें 'ज्ञानम्' ऐसा निर्देश किया है पर सम्यक्त्वका प्रकरण होने से ये पाँचो सम्यग्ज्ञानके भेद हैं, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। यद्यपि आत्मा केवलज्ञान स्वभाव है। मूल ज्ञानमें कोई भेद नही है पर आवरणके भेदसे वह पाँच भागोमें विभक्त हो जाता है। इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिमें मुख्यतया तीन विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है—1 मति आदि शब्दोंका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। 2. मति और श्रुतको समीपमें रखनेके कारणका निर्देश 3. मतिके बाद श्रुत इत्यादि रूपसे पाँच ज्ञानोके निर्देश करनेका कारण।

§ 165. प्रमाण और नयसे ज्ञान होता है यह पहले कह आये हैं। किन्हीने ज्ञानको प्रमाण

---

1. विप्रकृष्टतर—मु.। 2. 'सुदपरिचिदाणुभूदा—।'—स. प्रा. मा. 4।

संनिकर्षं केषांचिदिन्द्रियमिति। अतोऽधिकृतानामेव मत्यादीनां प्रमाणत्वख्यापनार्थमाह—

तत्प्रमाणे ॥10॥

§ 166. तद्वचनं किमर्थम्। प्रमाणान्तरपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थम्। संनि[1]कर्षं प्रमाणमिन्द्रियं[2] प्रमाणमिति केचित्कल्पयन्ति तन्निवृत्त्यर्थं तदित्युच्यते। तदेव मत्यादि प्रमाणं[3]नान्यदिति।

§ 167 अथ संनिकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः? यदि संनिकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसङ्गः। न हि ते इन्द्रियैः संनिकृष्यन्ते। अतः सर्वज्ञत्वाभावः स्यात्। इन्द्रियमपि यदि प्रमाणं स एव दोषः; अल्पविषयत्वात् चक्षुरादीनां ज्ञेयस्य चापरिमाणत्वात्।

§ 168 सर्वेन्द्रियसंनिकर्षाभावश्च; चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाभावात्। अप्राप्यकारित्वं च उत्तरत्र वक्ष्यते।

§ 169 यदि ज्ञानं प्रमाणं फलाभावः। अधिगमो हि फलमिष्टं न भावान्तरम्। स चेत्प्रमाणं, न तस्यान्यत्फलं भवितुमर्हति। फलवता च प्रमाणेन भवितव्यम्। संनिकर्षे इन्द्रिये वा प्रमाणे सति अधिगमः फलमर्थान्तरभूतं युज्यते इति। तदयुक्तम्। यदि संनिकर्षः प्रमाणं अर्था-

---

माना है, किन्हींने सन्निकर्षको और किन्हींने इन्द्रियको। अतः अधिकार प्राप्त मत्यादिक ही प्रमाण हैं इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है ॥10॥

§ 166. शंका—सूत्रमे 'तत्' पद किसलिए दिया है? समाधान—जो दूसरे लोग सन्निकर्ष आदिको प्रमाण मानते हैं उनकी इस कल्पनाके निराकरण करनेके लिए सूत्रमे 'तत्' पद दिया है। सन्निकर्ष प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है ऐसा कितने ही लोग मानते हैं इसलिए इनका निराकरण करनेके लिए सूत्रमे 'तत्' पद दिया है जिससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि वे मत्यादि ही प्रमाण हैं, अन्य नही।

§ 167. शंका—सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेमे क्या दोष है? समाधान—यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों के अग्रहणका प्रसग प्राप्त होता है, क्योकि इनका इन्द्रियोसे सम्बन्ध नही होता। इसलिए सर्वज्ञताका अभाव हो जाता है। यदि इन्द्रियको प्रमाण माना जाता है तो वही दोष आता है, क्योकि चक्षु आदिका विषय अल्प है और ज्ञेय अपरिमित हैं।

§ 168. दूसरे सब इन्द्रियोका सन्निकर्ष भी नही बनता, क्योकि चक्षु और मन प्राप्यकारी नही हैं, इसलिए भी सन्निकर्षको प्रमाण नही मान सकते। चक्षु और मनके अप्राप्यकारित्वका कथन आगे कहेगे।

§ 169 शंका—यदि ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो फलका अभाव होता है। प्रकृतमे ज्ञानको ही फल मानना इष्ट है अन्य पदार्थ को फल मानना इष्ट नही। पर यदि उसे प्रमाण मान लिया जाता है तो उसका कोई दूसरा फल नही प्राप्त हो सकता। किन्तु प्रमाणको फलवाला होना चाहिए। पर सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण मानने पर उससे भिन्न ज्ञानरूप फल बन जाता है?

---

1. 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि।'—1।1।3 न्या. भा। 2 'यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणं।' न्या. वा. पृ. 5। 3. नातो-ऽन्यदिति—आ., दि. 1।

धिगमः फलं, तस्य द्विष्ठत्वात्तत्फलेनाधिगमेनापि द्विष्ठेन भवितव्यमिति अर्थादीनामप्यधिगमः प्राप्नोति। आत्मनश्चेतनत्वात्तत्रैव समवाय इति चेत्। न; ज्ञस्वभावाभावे सर्वेषामचेतनत्वात्। ज्ञस्वभावाभ्युपगमे वा आत्मनः स्वमतविरोधः स्यात्।

§ 170. ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति। नैष दोषः; अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा[1] अज्ञाननाशो वा फलम्। रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा। अन्धकारकल्पा[2]ज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते।

§ 171. प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्। किमनेन प्रमीयते। जीवादिरर्थः। यदि जीवादेरधिगमे प्रमाणं प्रमाणाधि[3]गमे च अन्यत्प्रमाणं परिकल्पयितव्यम्। तथा सत्यनवस्था। नानवस्था प्रदीपवत्। यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः[4] स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं[5] मृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्। प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणान्तरपरिकल्पनायां स्वाधिगमाभावात् स्मृत्यभावः। तदभावाद् व्यवहारलोपः स्यात्।

समाधान—यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थके ज्ञानको फल मानते हैं तो सन्निकर्ष दो में रहनेवाला होनेसे उसके फलस्वरूप ज्ञानको भी दोमें रहनेवाला होना चाहिए इसलिए घट-पटादि पदार्थोंके भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है। शंका—आत्मा चेतन है, अतः उसीमें ज्ञानका समवाय है? समाधान—नहीं, क्योंकि आत्माको ज्ञस्वभाव नहीं मानने पर सभी पदार्थ अचेतन प्राप्त होते हैं। यदि आत्माको ज्ञस्वभाव माना जाता है, तो स्वमतका विरोध होता है।

§ 170. पहले पूर्वपक्षीने जो यह कहा है कि ज्ञानको प्रमाण मानने पर फलका अभाव होता है सो यह कोई दोष नहीं, क्योंकि पदार्थके ज्ञान होने पर प्रीति देखी जाती है। यद्यपि आत्मा ज्ञस्वभाव है तो भी वह कर्मोंसे मलीन है अत. इन्द्रियों के आलम्बनसे पदार्थका निश्चय होने पर उसके जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रमाणका फल कहा जाता है। अथवा उपेक्षा या अज्ञानका नाश प्रमाणका फल है। राग-द्वेषरूप परिणामोंका नहीं होना उपेक्षा है और अन्धकारके समान अज्ञानका दूर हो जाना अज्ञाननाश है। सो ये भी प्रमाण के फल हैं।

§ 171. प्रमाण शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्र वा प्रमाणम्—जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है। शंका—प्रमाणके द्वारा क्या जाना जाता है? समाधान—जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं। शंका—यदि जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाण कारण है तो प्रमाणके ज्ञानके अन्य प्रमाणको कारण मानना चाहिए। और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है? समाधान—जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाणको कारण मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक। जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है और अपने स्वरूपके प्रकाश करने में भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूंढना पड़ता। उसी प्रकार प्रमाण भी है यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। अब यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृति का अभाव हो जाता है और स्मृति का अभाव हो जानेसे व्यवहार का लोप हो जाता है।

---

1. 'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।—प. मु. 5।9। 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः। यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।'—1।1।3 न्या. भा.। 2. —ल्पाज्ञानाभाव. अज्ञाननाशो मु.। 3. —धिगमे मन्य—मु.। 4. हेतु: तत्स्व—मु.। 5. न्तरमस्य मृग्यम्—मु.।

§ 172 वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्विवचननिर्देशः । वक्ष्यते हि "आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यद्" इति स च द्विवचननिर्देश प्रमाणान्तरसंख्यानिवृत्त्यर्थं. ।

---

§ 72 सूत्र मे आगे कहे जानेवाले भेदोकी अपेक्षा द्विवचनका निर्देश किया है। आगे कहेगे 'आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत् ।' यह द्विवचनका निर्देश प्रमाणकी अन्य सख्या के निराकरण करनेके लिए किया है ।

विशेषार्थ—पिछले सूत्रमे पाँच सम्यग्ज्ञानोकी चर्चा करके इस सूत्रमे उनकी प्रमाणता वतलायी गयी है। यो तो सम्यग्ज्ञान कहनेसे उनकी प्रमाणता सुतरा सिद्ध है, किन्तु दर्शनान्तरोमे ज्ञानको मुख्यतया प्रमाण न मान कर सन्निकर्ष या इन्द्रिय आदिको प्रमाण माना गया है, इसलिए यहाँपर सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहो है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है यह बतलाया गया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामे मुख्यतया दो मतोका उल्लेख करके उनकी आलोचना की गयी है। ये दोनो मत नैयायिक सम्मत हैं। नैयायिकोने प्रत्यक्ष ज्ञानकी उत्पत्तिमे सन्निकर्ष और इन्द्रिय दोनोको प्रमाण माना है। सन्निकर्ष प्रमाण है इस मत का उल्लेख न्यायभाष्यमे और इन्द्रिय प्रमाण है इस मतका उल्लेख उद्योतकरके न्यायवार्तिकमे पाया जाता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धिकारने जब इस दूसरे मतका उल्लेख किया है, तो यह भी प्रथम मतके समान प्राचीन प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि इस द्वारा सर्वार्थसिद्धिकारने साख्यके 'इन्द्रियवृत्ति प्रमाण है' इस मतका उल्लेख किया हो तो कोई आश्चर्य नही। नैयायिक लोग प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्तिमे सन्निकर्षको असाधारण कारण मानकर उसे प्रमाण मानते हैं। किन्तु आगे चलकर करणके 'असाधारण कारणको करण कहते हैं' इस लक्षणके स्थानमे 'व्यापारवाले कारणको करण कहते है' यह लक्षण भी प्रचलित हो गया जिससे सन्निकर्षके साथ उनके यहाँ इन्द्रियाँ भी प्रमाण मानी जाने लगी। वे जब सन्निकर्षको प्रमाण मानते है तब ज्ञान उसका फल मान लिया जाता है और जब इन्द्रियो को प्रमाण मानते है तब भी सन्निकर्षको इन्द्रियोका व्यापार मानकर ज्ञान उनका फल मान लिया जाता है। इसका यह अर्थ नही कि वे ज्ञानको प्रमाण ही नही मानते। उनके यहाँ ज्ञानको भी प्रमाण माना गया है। जब वे ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तब हानबुद्धि और उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि उसका फल माना जाता है किन्तु नैयायिकोकी सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण माननेकी बात समीचीन नही है यही निर्णय इस सूत्रकी टीकामे किया गया है। सन्निकर्षको प्रमाण माननेमे जो दोष प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं—1 सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोका ज्ञान नही हो सकता, इसलिए सर्वज्ञताका अभाव होता है 2. चक्षु और मनसे ज्ञानकी उत्पत्ति नही हो सकती, क्योकि ये अप्राप्यकारी है। 3. प्रत्येक इन्द्रियका अलग-अलग विषय मानना उचित नही, क्योकि चक्षुका रूपके साथ सन्निकर्ष पाया जानेसे जैसे वह रूपज्ञानका जनक है उसी प्रकार उसका रसके साथ भी सन्निकर्ष पाया जाता है अत उससे रसका भी ज्ञान होना चाहिए। 4 सन्निकर्ष एकका न होकर इन्द्रिय और अर्थ इन दो या दोसे अधिकका होता है अत-सन्निकर्षका फल जो ज्ञान है वह भी दोनोमे होना चाहिए। इन्द्रियको प्रमाण माननेमे ये दोष आते हैं—1 सर्वज्ञताका अभाव होता है, क्योकि इन्द्रियाँ सब पदार्थोको एक साथ जाननेमे असमर्थ हैं। 2 इन्द्रियोसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोका ज्ञान सम्भव न होनेसे भी सर्वज्ञताका अभाव होता है। 3 अनुमान आदि ज्ञानोकी उत्पत्ति नही हो सकेगी, क्योकि इन ज्ञानोकी उत्पत्ति इन्द्रियोसे नही होती। सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण मानने पर इसी प्रकार और भी दोष आते हैं। सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण माननेवाले लोग ज्ञानको प्रमाण माननेपर एक बडी भारी आपत्ति यह देते हैं कि यदि ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो प्रमाण निष्फल हो जाता है। किन्तु उनकी यह आपत्ति भी समीचीन नही है, क्योकि

§ 173. [1]उक्तस्य पञ्चविधस्य ज्ञानस्य प्रमाणद्वयान्तःपातित्वे प्रतिपादिते प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणद्वयकल्पनानिवृत्त्यर्थमाह—

आद्ये परोक्षम् ॥11॥

§ 174 आदिशब्दः प्राथम्यवचनः। आदौ भवमाद्यम्। कथं द्वयो. प्रथमत्वम्? मुख्योपचारकल्पनया। मतिज्ञानं तावन्मुख्यकल्पनया प्रथमम्। श्रुतमपि तस्य प्रत्यासत्त्या प्रथममित्युपचर्यते। द्विवचननिर्देशसामर्थ्याद् गौणस्यापि ग्रहणम्। आद्यं च आद्यं च आद्ये मतिश्रुते इत्यर्थः। तदुभयमपि परोक्षं प्रमाणमित्यभिसंबध्यते। कुतोऽस्य परोक्षत्वम्[2]। परायत्तत्वात् "मतिज्ञानं इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" इति वक्ष्यते "श्रुतमनिन्द्रियस्य" इति च। अतः पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्या-

---

ज्ञानको प्रमाण माननेपर प्रीति, अज्ञाननाश, त्यागबुद्धि, ग्रहणबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि आदि अनेक फल बन जाते है। उन्होने भी जब ज्ञानको प्रमाण माना है तब ये ही फल माने हैं। न्यायभाष्यमे लिखा है कि 'जब ज्ञान प्रमाण होता है तब हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि उसके फल प्राप्त होते है। इसलिए ज्ञानको ही सर्वत्र प्रमाण मानना चाहिए यही निष्कर्ष निकलता है। इससे पूर्वोक्त सभी दोषोका निराकरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस सूत्रकी टीकामें इन बातोपर और प्रकाश डाला गया है —1. प्रमाणकी निरुक्ति। 2. जीवादि पदार्थोंके जाननेके लिए जैसे प्रमाण माना गया है वैसे प्रमाणके जानने के लिए अन्य प्रमाण अपेक्षित नहीं, इसका खुलासा। 3. सूत्रमे 'प्रमाणे' इस प्रकार द्विवचन रखनेका कारण। ये विषय सुगम हैं।

§ 173 पहले कहे गये पाँच कारकके ज्ञान दो प्रमाणोमें आ जाते हैं इस प्रकार सुनिश्चित हो जाने पर भी वे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक भी हो सकते है अतः इस कल्पनाको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ॥11॥

§ 174. आदि शब्द प्राथम्यवाची है। जो आदिमे हो वह आद्य कहालता है। शंका—दो प्रथम कैसे हो सकते है? समाधान—पहला मुख्यकल्पनासे प्रथम है और दूसरा उपचार कल्पनासे प्रथम है। मतिज्ञान तो मुख्यकल्पनासे प्रथम है और श्रुतज्ञान भी उसके समीपका होनेसे प्रथम है ऐसा उपचार किया जाता है। सूत्रमे 'आद्ये' इस प्रकार द्विवचनका निर्देश किया है अतः उसकी सामर्थ्यसे गौणका भी ग्रहण हो जाता है। 'आद्ये' पदका समास 'आद्यं च आद्यं च आद्ये' है। इससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो लिये गये है। ये दोनो ज्ञान मिलकर परोक्ष प्रमाण है ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए। शंका—ये दोनो ज्ञान परोक्ष क्यों हैं? समाधान—क्योकि ये दोनों ज्ञान पराधीन हैं। 'मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है, यह आगे कहेगे और 'अनिन्द्रियका विषय श्रुत है' यह भी आगे कहेगे। अतः 'पर' से यहाँ इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्त लेने चाहिए। तात्पर्य यह है कि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान

---

1. त्यर्थ। —उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावादुक्त—मु.। 2. —क्षत्वम्? परोपेक्षत्वात्। मति —आ, दि. 1, दि. 2।

ख्यायते । अत उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भावः ।

§ 175 अभिहितलक्षणात्परोक्षादितरस्य सर्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनार्थमाह—

प्रत्यक्षमन्यत् ॥12॥

§ 176 अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्राप्तक्षयोपशम प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम् । अवधिदर्शनं केवलदर्शनमपि अक्षमेव प्रतिनियतमतस्तस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति । नैष दोष ; ज्ञानमित्यनुवर्तते, तेन दर्शनस्य व्युदास । एवमपि विभङ्गज्ञानमक्षमेव[1]

उत्पन्न होते है अत ये परोक्ष कहलाते है । उपमान और आगमादिक भी ऐसे ही है अत. इनका भी इन्हीमे अन्तर्भाव हो जाता है ।

विशेषार्थ—पिछले सूत्रमे दो प्रकारके प्रमाणोका उल्लेख कर आये हैं। वे दो प्रमाण कौन हैं और उनमे पाँच ज्ञानोका कैसे विभाग होता है यह बतलाना शेष है, अत ग्यारहवे और बारहवे सूत्रो द्वारा यही बतलाया गया है । उसमे भी ग्यारहवे सूत्र द्वारा प्रमाणके पहले भेदकी परोक्ष सज्ञा बतलाकर उसमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका अन्तर्भाव किया गया है । दूसरे लोग जो इन्द्रियोका अविषय है उसे परोक्ष कहते हैं। किन्तु जैन परम्परामे परोक्षता और प्रत्यक्षता यह ज्ञानका धर्म मानकर उस प्रकारसे उनकी व्याख्या की गयी है । जैन परम्पराकेअनुसार, परकी सहायतासे जो अक्ष अर्थात् आत्माके ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान कहलेता है परोक्ष शब्दका यह अर्थ लिया गया है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो ज्ञान ऐसे हैं जो यथासम्भव इन्द्रिय, मन तथा प्रकाश और उपदेश आदिके विना नही हो सकते, अत ये दोनो परोक्ष माने गये हैं। दार्शनिक ग्रन्थोमें इन्द्रिय ज्ञानका साव्यवहारिक प्रत्यक्षरूपसे उल्लेख देखनेको मिलता है। सो यह कथन औपचारिक जानना चाहिए। दूसरे लोगोने अक्षका अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है । वहाँ इसी अपेक्षासे इन्द्रिय ज्ञानको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष लिखा गया है ऐसा यहाँ जानना चाहिए। वस्तुत आत्माके सिवा अन्य निमित्तसे जितना भी ज्ञान होता है वह सब परोक्ष ही है । उपमान, आगम आदि और जितने ज्ञान है वे भी अन्यकी अपेक्षाके विना नही होते अत उनका इन्ही ज्ञानोमे अन्तर्भाव हो जानेसे मुख्यत परोक्ष ज्ञान दो ही ठहरते हैं एक मतिज्ञान और दूसरा श्रुतज्ञान । यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि ये ज्ञान केवल बाह्य निमित्तसे नही होते हैं। मुख्यतया इनकी उत्पत्तिमे मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम आवश्यक है । आत्माकी ऐसी योग्यता हुए- बिना ये ज्ञान नही होते । ऐसी योग्यताके होने पर बाह्यनिमित्त सापेक्ष इनकी प्रवृत्ति होती है यह उक्त कथनाका सार है ।

§ 175 परोक्षका लक्षण कहा । इससे बाकीके सब ज्ञान प्रत्यक्ष हैं इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ॥12॥

§ 176 अक्ष शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । अक्ष, व्याप और ज्ञा ये धातुएँ एकार्थक हैं, इसलिए अक्षका अर्थ आत्मा होता है । इस प्रकार क्षयोपशमवाले या आवरणरहित केवल आत्माके प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिककी अपेक्षासे न होकर केवल क्षयोपशमवाले या आवरणरहित आत्मासे होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । शंका—अवधिदर्शन और केवलदर्शन भी अक्ष अर्थात् आत्माके प्रति नियत हैं अत· प्रत्यक्ष शब्दके द्वारा उनका भी ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नही, क्योंकि प्रकृतमे ज्ञान शब्दकी अनुवृत्ति है, जिससे दर्शनका निराकरण हो जाता है ।

1. —ज्ञानमपि प्रति—मु ।

प्रतिनियतमतोऽस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति। सम्यगित्यधिकारात् तन्निवृत्तिः।[1] सम्यगित्यनुवर्तते तेन ज्ञानं विशिष्यते ततो विभङ्गज्ञानस्य निवृत्तिः कृता। तद्धि मिथ्यादर्शनोदयाद्विपरीतार्थविषयमिति न सम्यक्।

§ 177. स्यान्मतमिन्द्रियव्यापार[2]जनितं ज्ञानं प्रत्यक्षं व्यतीतेन्द्रिय[3]विषयव्यापारं परोक्षमित्येतदविसंवादि लक्षणमभ्युपगन्तव्यमिति। तदयुक्तम्, आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावप्रसङ्गात्[4] यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते [5]एवं सति आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः। अथ तस्यापि करणपूर्वकमेव ज्ञानं कल्प्यते, तस्यासर्वज्ञत्वं स्यात्। तस्य मानसं प्रत्यक्षमिति चेत्; मनः[6]प्रणिधानपूर्वकत्वात् ज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाभाव एव। आगमतस्तत्सिद्धिरिति चेत्। न; तस्य[7] प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्।

§ 178. योगिप्रत्यक्षमन्यज्ज्ञानं दिव्यमप्यस्तीति चेत्। न तस्य प्रत्यक्षत्वं; इन्द्रियनिमि[8]त्तत्वाभावात्; अक्ष[9]मक्षं प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्।

§ 179. किंच सर्वज्ञत्वाभावः प्रतिज्ञाहानिर्वा। अस्य योगिनो यज्ज्ञानं तत्प्रत्यर्थवशर्वात

शंका—यद्यपि इससे दर्शनका निराकरण हो जाता है तो भी विभंगज्ञान केवल आत्माके प्रति नियत है अतः उसका ग्रहण प्राप्त होता है? **समाधान**—यहाँ 'सम्यक्' पदका अधिकार है, अतः उसका निराकरण हो जाता है। तात्पर्य यह है की इस सूत्रमें 'सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति होती है, जिससे ज्ञान विशेष्य हो जाता है इसलिए विभंगज्ञानका निराकरण हो जाता है। क्योंकि विभंगज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयसे विपरीत पदार्थको विषय करता है, इसलिए वह समीचीन नहीं है।

§ 177. **शंका**—जो ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित होकर विषयको ग्रहण करता है वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्षका यह अविसंवादी लक्षण मानना चाहिए? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उक्त लक्षणके मानने पर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञानका अभाव प्राप्त होता है। यदि इन्द्रियोंके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको ही प्रत्यक्ष कहा जाता है तो ऐसा मानने पर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि आप्तके इन्द्रियपूर्वक पदार्थका ज्ञान नहीं होता। कदाचित् उसके भी इन्द्रियपूर्वक ही ज्ञान माना जाता है तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहती। **शंका**—उसके मानस प्रत्यक्ष होता है? **समाधान**—मनके प्रयत्नसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानने पर सर्वज्ञत्वका अभाव ही होता है। **शंका**—आगमसे सब पदार्थोंका ज्ञान हो जायगा। **समाधान**—नहीं, क्योंकि आगम प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक प्राप्त होता है।

§ 178. **शंका**—योगी प्रत्यक्ष नामका एक अन्य दिव्य ज्ञान है। **समाधान**—तो भी उसमे प्रत्यक्षता नहीं बनती, क्योंकि वह इन्द्रियोंके निमित्तसे नहीं होता हैं। जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रियसे होती है वह प्रत्यक्ष है ऐसा आपके मतमें स्वीकार किया गया है।

§ 179. दूसरे प्रत्यक्षका पूर्वोक्त लक्षण माननेपर सर्वज्ञत्वका अभाव और प्रतिज्ञाहानि ये दो दोष आते हैं। विशेष इस पकार है—इस योगीके जो ज्ञान होता है वह प्रत्येक पदार्थको क्रमसे जानता है या अनेक अर्थोंको युगपत् जानता है। यदि प्रत्येक पदार्थको क्रमसे जानता है तो

---

1 रात् तस्तन्नि—मु.। 2. 'अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषय वृत्तिः प्रत्यक्षम्।' — 1,1,3 न्याय. भा.। 3. परोक्ष इत्युच्यते किं परोक्ष नाम। परमक्षणः परोक्षम्।'—पा. म. भा. 3।2।2।115। 4. —प्रसंगता। यदि आ, दि. 1, दि. 2। 5. एवं प्रसक्त्या आप्त—मु.। 6. 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिङ्गम्।' —न्या. सू. 1।1।16। 7. तस्य आगमस्य प्रत्य—मु.। 8. निमित्ताभा—मु.। 9. 'अक्षमक्षं प्रति वर्तते तत्प्रत्यक्षम्।'—न्याय बिन्दु. टी. पृ. 11।

वा स्याद् अनेकार्थग्राहि वा । यदि प्रत्ययवशवर्ति, सर्वज्ञत्वमस्य नास्ति योगिनः, ज्ञेयस्यानन्त्यात् । अथानेकार्थग्राहि, या प्रतिज्ञा—

"विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा । एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा ।"

सा हीयते ।

§ 180. अथवा "क्षणिकाः[1] सर्वसंस्काराः" इति प्रतिज्ञा हीयते; अनेकक्षण[2] वृत्त्येकविज्ञानाभ्युपगमात् । अनेकार्थग्रहणं हि क्रमेणेति । युगपदेवेति चेत् । योऽस्य जन्मक्षणः स आत्मलाभार्थ एव। लब्धात्मलाभं हि किंचित्स्वकार्यं प्रति व्याप्रियते। प्रदीपवदिति चेत् । तस्याप्यनेकक्षणविषयतायां सत्यामेव प्रकाश्यप्रकाशनाभ्युपगमात् । विकल्पातीतत्वात्तस्य शून्यताप्रसंगश्च ।

इस योगीके सर्वज्ञताका अभाव होता है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त है । और यदि अनेक अर्थोको युगपत् जानता है तो जो यह प्रतिज्ञा है कि 'जिस प्रकार एक विज्ञान दो अर्थोको नही जानता है उसी प्रकार दो विज्ञान एक अर्थ को नही जानते हैं ।' वह नही रहती ।

§ 180 अथवा 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' यह प्रतिज्ञा नही रहती, क्योकि आपके मतमें अनेक क्षणतक रहनेवाला एक विज्ञान स्वीकार किया गया है । अतः अनेक पदार्थोका ग्रहण क्रमसे ही होता है । शंका—अनेक पदार्थोका ग्रहण एक साथ हो जायगा । समाधान—जो ज्ञानकी उत्पत्तिका समय है उस समय तो वह स्वरूप लाभ ही करता है, क्योकि कोई भी पदार्थ स्वरूप-लाभ करनेके पश्चात् ही अपने कार्यके प्रति व्यापार करता है । शंका—विज्ञान दीपके समान है, अतः उसमे दोनो बातें एक साथ बन जायेंगी । समाधान—नही, क्योकि उसके अनेक क्षण तक रहनेपर ही प्रकाश्यभूत पदार्थोका प्रकाशन करना स्वीकार किया गया है । यदि ज्ञानको विकल्पातीत माना जाता है तो शून्यताकी प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे कौन-कौन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं यह बतलाया गया है । प्रसगसे इसकी टीकामे इन विशेषताओपर प्रकाश डाला गया है—

1. अक्ष शब्दका अर्थ । 2 प्रत्यक्ष शब्दकी व्युत्पत्ति । 3 अक्ष शब्दका अर्थ इन्द्रिय या मनको निमित्त कर प्रत्यक्ष शब्दका लक्षण करनेपर क्या दोष आते हैं इनका निर्देश । 4. आगमसे सर्वज्ञता नही बनती, किन्तु आगम प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक ही प्राप्त होता है इसका निर्देश । 5. बौद्धोके द्वारा माने गये प्रत्यक्षके लक्षणको स्वीकार करनेपर क्या दोष प्राप्त होते है इसकी चर्चा । 6. प्रसगसे बौद्धोके यहाँ सर्वज्ञता कैसे नही बनती और प्रतिज्ञाहानि दोष कैसे आता है इसका निर्देश । तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि प्रत्यक्षज्ञानको इन्द्रियनिमित्तक या मननिमित्तक मानने पर सर्वज्ञता नही बनती । वेद ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान, दूरवर्ती, सूक्ष्म इत्यादि अर्थोका ज्ञान करानेमे समर्थ है। इसीसे सकल पदार्थोका ज्ञान हो जाता है । इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान और मनोजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेमे कोई आपत्ति नही है ऐसा मीमासक मानते है । परन्तु उनका ऐसा मानना समीचीन नही है, क्योकि आगम प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना नही बन सकता है । यह बात चौथी विशेषता द्वारा बतलायी गयी है । बौद्ध भी अक्षका अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु उनका ऐसा मानना क्यो समीचीन नही है यह पाँचवी विशेषता द्वारा बतलाया गया है । शेष कथन सुगम है ।

---

1. 'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ।'...
2. क्षणवर्त्येक—मु. ।

§ 181. अभिहितोभयप्रकारस्य प्रमाणस्य आदिप्रकारविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥13॥

§ 182 [1]आदौ उद्दिष्टं यज्ज्ञानं तस्य पर्यायशब्दा एते वेदितव्याः; मतिज्ञानावरणक्षयोपशमान्तरंगनिमित्तजनितोपयोगविषयत्वादेतेषां श्रुतादिष्वप्रवृत्तेश्च। मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता, अभिनिबोधनमभिनिबोध इति। यथासंभवं विग्रहान्तरं विज्ञेयम्।

§ 183. सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिबललाभात् पर्यायशब्दत्वम्। यथा इन्द्र[2] शक्रः पुरन्दर इति इन्दनादिक्रियाभेदेऽपि शचीपतेरेकस्यैव संज्ञा[3]। समभिरूढनयापेक्षया तेषामर्थान्तरकल्पनायां मत्यादिष्वपि स क्रमो विद्यत एव। किं तु मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तोपयोगं [4]नातिवर्तन्त इति अयमत्रार्थो विवक्षितः। 'इति' शब्दः [5]प्रकारार्थः: एवंप्रकारा अस्य पर्यायशब्दा इति। अभिधेयार्थो वा। मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्येतैर्योऽर्थोऽभिधीयते स एक एव इति।

---

§ 181. प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद कहे। अब हम प्रथम प्रकारके प्रमाणके विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम हैं ॥13॥

§ 182. आदिमे जो ज्ञान कहा है उसके ये पर्यायवाची शब्द जानने चाहिए, क्योकि ये मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप अन्तरग निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको विषय करते है और इनकी श्रुतादिकमे प्रवृत्ति नही होती। 'मनन मतिः, स्मरण स्मृतिः, सज्ञान सज्ञा, चिन्तन चिन्ता और अभिनिबोधनमभिनिबोधः' यह इनकी व्युत्पत्ति है। यथा सम्भव इनका दूसरा विग्रह जानना चाहिए।

§ 183. यद्यपि इन शब्दोकी प्रकृति अलग-अलग है अर्थात् यद्यपि ये शब्द अलग-अलग धातुसे बने है तो भी रूढ़िसे पर्यायवाची है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर। इनमे यद्यपि इन्दन आदि क्रियाकी अपेक्षा भेद है तो भी ये सब एक शचीपतिकी वाचक सज्ञाएँ हैं। अब यदि समभिरूढ नयकी अपेक्षा इन शब्दोंका अलग-अलग अर्थ लिया जाता है तो वह क्रम मति आदि शब्दोमे भी पाया जाता है। किन्तु ये मति आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको उल्लघन नही करते है यह अर्थ यहाँपर विवक्षित है। प्रकृतमे 'इति' शब्द प्रकारवाची है जिससे यह अर्थ होता है कि इस प्रकार ये मति आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची शब्द है। अथवा प्रकृतमे मति शब्द अभिधेयवाची है जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इनके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह एक ही है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम दिये गये हैं। षट्खण्डागमके प्रकृति अनुयोगद्वारमे भी मतिज्ञानके ये ही पर्यायवाची नाम आये है। अन्तर केवल यह है कि वहाँ मतिज्ञान नाम न देकर आभिनिबोधिकज्ञान नाम दिया है और फिर इसके संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये चार पर्यायवाची नाम दिये है। इससे जो लोग प्रकृतमे मतिका अर्थ वर्तमान ज्ञान, स्मृतिका अर्थ स्मरणज्ञान, सज्ञाका अर्थ प्रत्यभिज्ञान, चिन्ताका अर्थ तर्क और अभिनिबोधका अर्थ अनुमान करते हैं वह विचारणीय हो जाता है। वास्तव में यहाँ इन नामोंका विविध ज्ञानो

---

1. आदौ यदुद्दिष्टं ज्ञान मु.। 2. 'बहवो हि शब्दाः एकार्था भवन्ति। तद्यथा—'इन्द्रः शक्र पुरुहूतः पुरन्दरः।'—पा. म. भा. 1।2।2।45। 3 संज्ञाः। सम—मु.। 4. नातिवर्तत इति—मु.। 5 —कारार्थे। एव—आ., दि. 1, दि 2। 'हेतावेव प्रकारे च व्यवच्छेदे विपर्यये। प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दः प्रकीर्तितः।'—अने. ना. श्लो.।

§ 184. अथास्यात्मलाभे किं निमित्तमित्यत आह—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥14॥

§ 185. इन्दतीति इन्द्र आत्मा। तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धि[1]लिङ्गं तदिन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रि[2]यमित्युच्यते। अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्। आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्गमिन्द्रियम्। यथा इह धूमोऽग्नेः। एवमिदं स्पर्शनादि करणं नासति कर्तर्यात्मनि भवितुमर्हतीति ज्ञातुरस्तित्वं गम्यते। अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते। तेन सृष्टमिन्द्रियमिति[3]। तत्स्पर्शनादि उत्तरत्र वक्ष्यते।

§ 186 अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्। कथं पुनरिन्द्रियप्रतिषेधेन इन्द्रलिङ्गे एव मनसि अनिन्द्रियशब्दस्य वृत्तिः। ईषदर्थस्य नञः प्रयोगात्। ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियमिति।

की अपेक्षासे संग्रह नही किया गया है, किन्तु मतिज्ञानके पर्यायवाची नामोकी अपेक्षासे ही संग्रह किया गया है। सूत्रकारने इसी अर्थमें इनका अनर्थान्तररूपसे निर्देश किया है। इस सूत्रकी टीकामे इन विशेषताओपर प्रकाश डाला गया है। 1 मति आदि शब्दोके पर्यायवाची होनेमे हेतु। 2 मति आदि शब्दोकी व्युत्पत्ति। 3 मति आदि शब्दोमे प्रकृति भेद होनेपर भी उनके पर्याय-वाचित्वका दृष्टान्त-द्वारा समर्थन। 4. समभिरूढनयकी अपेक्षा इनमे अर्थ भेद होने पर भी प्रकृत मे ये पर्यायवाची क्यो है इनमे पुनः युक्ति। 5 सूत्रमे आये हुए 'इति' शब्दकी सार्थकता।

§ 184. मतिज्ञानके स्वरूप लाभमे क्या निमित्त है अब यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह (मतिज्ञान) इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है ॥14॥

§ 185. इन्द्र शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'इन्दतीति इन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्यवाला है वह इन्द्र। इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है। वह यद्यपि ज्ञस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके रहते हुए स्वय पदार्थोको जानने मे असमर्थ है, अतः उसको पदार्थके जानने मे जो लिंग (निमित्त) होता है वह इन्द्रका लिंग इन्द्रिय कही जाती है। अथवा जो लीन अर्थात् गूढ़ पदार्थ-का ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार इन्द्रिय शब्दका यह अर्थ हुआ कि जो सूक्ष्म आत्माके अस्तित्वका ज्ञान करानेमे लिंग अर्थात् कारण है उसे इन्द्रिय कहते है। जैसे लोकमे धूम अग्निका ज्ञान करानेमे कारण होता है। इसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण कर्त्ता आत्माके अभावमे नहीं हो सकते है, अतः उनसे ज्ञाताका अस्तित्व जाना जाता है। अथवा इन्द्र शब्द नामकर्मका वाची है। अतः यह अर्थ हुआ कि उससे रची गयी इन्द्रिय है। वे इन्द्रियाँ स्पर्शनादिक हैं जिनका कथन आगे करेगे। अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची नाम हैं।

§ 186 **शका**—अनिन्द्रिय शब्द इन्द्रियका निषेधपरक है अतः इन्द्रके लिंग मनमे अनिन्द्रिय शब्दका व्यापार कैसे हो सकता है? **समाधान**—यहाँ नञ्का प्रयोग 'ईषद्' अर्थ मे किया है ईषत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय। यथा अनुदरा कन्या। इस प्रयोगमे जो अनुदरा शब्द है उससे उदरका अभाव रूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है उसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। **शका**—अनिन्द्रिय

1.—लब्धिनिमित्तं लिङ्ग —मु। 2 'भोगसाधनानीन्द्रियाणि।'—न्या भा. 1।1।9। 3. 'मनसा हि धम्मासबुद्धो परमिस्सरियभावतो इन्दो, कुसलाकुसल च कम्म, कम्मेसु कस्सचि इस्सरियाभावतो। तेनेत्थ कम्मसज्जनितानि ताव इद्रियानि कुसलाकुसल कम्म उल्लिगेन्ति, तेन च सिट्ठानीति इन्दलिङ्गट्ठेन इन्द-सिट्ठट्ठेन च इदियानि।'·· वि. म. पृ. 343।

यथा अनु[1]दरा कन्या इति । कथमीषदर्थः । इमानीन्द्रियाणि[2] प्रतिनियतदेशविषयाणि कालान्तरावस्थायीनि च । न तथा मन इन्द्रस्य लिंगमपि सत्प्रतिनियतदेशविषयं कालान्तरावस्थायि च ।

§ 187. तदन्तःकरणमिति चोच्यते । गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवद् बहिरनुपलब्धेश्च अन्तर्गतं[3] करणमन्तःकरणमित्युच्यते ।

§ 188 तदिति किमर्थम् । मतिज्ञाननिर्देशार्थम् । ननु च तदनन्तरं 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति तस्यैव ग्रहणं भवति । इहार्थमुत्तरार्थं च तदित्युच्यते । यन्मत्यादिपर्यायशब्दवाच्यं ज्ञानं तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तदेवावग्रहेहावायधारणा इति । इतरथा हि प्रथमं मत्यादिशब्दवाच्यं ज्ञानमित्युक्त्वा इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं श्रुतम् । तदेवावग्रहेहावायधारणा इत्यनिष्टमभिसंबध्येत ।

में नञ् का निषेधरूप अर्थ न लेकर 'ईषद्' अर्थ कैसे लिया गया है ? समाधान—ये इन्द्रियाँ नियत देशमे स्थित पदार्थोको विषय करती है और कालान्तरमें अवस्थित रहती है। किन्तु मन इन्द्रका लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देशमें स्थित पदार्थको विषय नही करता और कालान्तरमें अवस्थित नही रहता ।

§ 187. यह अन्त.करण कहा जाता है । इसे गुण और दोषोके विचार और स्मरण करने आदि कार्योमे इन्द्रियोकी अपेक्षा नही लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियोके समान इसकी बाहर उपलब्धि भी नही होती इसलिए यह अन्तर्गत करण होनेसे अन्त.करण कहलाता है। इसलिए अनिन्द्रिय मे नञ् का निषेधरूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है ।

§ 188 शका—सूत्रमे 'तत्' पद किसलिए दिया है ? समाधान—सूत्रमे 'तत्' पद मतिज्ञानका निर्देश करनेके लिए दिया है । शका—मतिज्ञान निर्देश का अनन्तर किया ही है और ऐसा नियम है कि 'विधान या निषेध अनन्तरवर्ती पदार्थका ही होता है' अतः यदि सूत्रमे 'तत्' पद न दिया जाय तो भी मतिज्ञानका ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान—इस सूत्रके लिए और अगले सूत्रके लिए 'तत्' पदका निर्देश किया है । मति आदि पर्यायवाची शब्दोके द्वारा जो ज्ञान कहा गया है वह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है और उसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद है, इसलिए पूर्वोक्त दोष नही प्राप्त होता । यदि 'तत्' पद न दिया जाये तो मति आदि पर्यायवाची नाम प्रथम ज्ञानके हो जायेगे और इन्द्रिय-अनिन्द्रियके निमित्त होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलायेगा और इसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद प्राप्त होगे इस प्रकार अनिष्ट अर्थके सम्बन्धकी प्राप्ति होगी । अत इस अनिष्ट अर्थके सम्बन्धके निराकरण करनेके लिए सूत्रमे 'तत् पद का निर्देश करना आवश्यक है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे मतिज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तोकी चर्चा करते हुए वे इन्द्रिय और मनके भेदसे दो प्रकारके बतलाये है । यद्यपि इस ज्ञानकी उत्पत्तिमे अर्थ और आलोक आदि भी निमित्त होते हैं पर वे अव्यभिचारी कारण न होने से उनका यहाँ निर्देश नही किया है । इसकी टीकामें इन्द्रिय-अनिन्द्रिय शब्दका अर्थ क्या है इस पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रियोको जो प्रतिनियत देशको विषय करनेवाला और कालान्तरमे अवस्थित रहनेवाला तथा मनको अनियत देशमे स्थित

---

1. 'अनुदरा कन्येति ।' पा. म. भा. 6।3।2।42 । 2. 'इन्द्रस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात् । भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति । मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च···।' न्या. भा. 1।1।4 । 'सर्वविषयमन्तःकरणं मनः ।'—न्या भा. 1।1।9 । 3.—र्गतं करणमित्यु—मु. ।

§ 189. एवं निर्ज्ञातोत्पत्तिनिमित्तमनिर्णीतभेदमिति तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥15॥

§ 190. विषयविषयिसंनिपातसमनन्तरमाद्य[1] ग्रहणमवग्रह । विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति । तदनन्तरम[2]र्थग्रहणमवग्रह । यथा—चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रह. । अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा । यथा शुक्लं रूपं किं बलाका [3]पताका वेति । विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवाय. । उत्पतननिप[4]तनपक्षविक्षेपादिभिर्बलाकैवेयं न पताकेति । अवेतस्य[5] कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा[6] । यथा सैवेयं बलाका पूर्वाह्णे यामहमद्राक्षमिति । [7]एषामवग्रहादीनामुपन्यासक्रम उत्पत्तिक्रमकृत. ।

पदार्थको विषय करनेवाला और कालान्तर में अवस्थित नही रहनेवाला बतलाया है सो इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ देश और काल दोनोंकी अपेक्षा नियत विषयको ग्रहण करती हैं वैसा मन नही है । इस प्रकार मनका विषय नियत नही है । उसकी इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रिय सब विषयोमे प्रवृत्ति होती है । इसका दूसरा नाम अन्त.करण क्यों है इसका स्पष्टार्थ टीकामे किया ही है । शेष कथन सुगम है ।

§ 189 इस प्रकार मतिज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्त जान लिये, किन्तु अभी उसके भेदोका निणय नही किया अत. उसके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए अगला सूत्र कहते हैं—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञानके चार भेद हैं ॥15॥

§ 190 विषय और विषयीके सम्बन्धके बाद होनेवाले प्रथम ग्रहणको अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयीका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है उसके पश्चात् जो पदार्थका ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है । अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोमे उसके विशेषके जानने की इच्छा ईहा कहलाती है । जैसे, जो शुक्ल रूप देखा है 'वह क्या बकपक्ति है' इस प्रकार विशेष जाननेकी इच्छा या 'वह क्या पताका है' इस प्रकार विशेष जाननेकी इच्छा ईहा है। विशेषके निर्णय-द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं । जैसे उत्पतन, निपतन और पक्षविक्षेप आदि के द्वारा 'यह बकपक्ति ही है ध्वजा नही है' ऐसा निश्चय होना अवाय है । जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तरमे विस्मरण नही होता उसे धारणा कहते हैं । जैसे यह वही बकपंक्ति है जिसे प्रात काल मैंने देखा था ऐसा जानना धारणा है । सूत्रमें इन अवग्रहादिकका उपन्यासक्रम इनके उत्पत्तिक्रमकी अपेक्षा किया है । तात्पर्य यह है कि जिस क्रमसे ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रमसे इनका सूत्रमें निर्देश किया है ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञान के चार भेद किये हैं सो ये भेद मतिज्ञानकी उपयोगरूप अवस्थाकी प्रधानतासे किये गये हैं । इससे इसका क्षयोपशम भी इतने प्रकारका मान लिया गया है । पदार्थको जानते समय किस क्रमसे वह उसे जानता है यह इन भेदों-द्वारा बतलाया गया है यह इस कथनका तात्पर्य है । भेदके स्वरूपका निर्देश टीकामें किया ही है। विशेष वक्तव्य इतना

1.—माद्य ग्रह—मु । 2.—मर्थस्य ग्रह—मु. । 3. पताकेति—मु. । 4. उत्पतनपक्ष—आ , दि. 1, दि. 2 । 5. अर्थतस्य—मु. । 6. 'तयणंतरं तयत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोगो । कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ ।'—वि. भा. गा. 291 । 7. ईहिज्जइ नागहियं नज्जइ नाणीहियं न यावायं । धारिज्जइ जं वत्थुं तेण कमोऽवग्गहाईओ ॥'—वि. भा. गा. 296 ।

§ 191. उक्तानामवग्रहादीनां प्रभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥16॥

§ 192. अवग्रहादयः क्रियाविशेषाः प्रकृताः । तदपेक्षोऽयं कर्मनिर्देशः, बह्वादीनां सेतराणामिति । बहुशब्दस्य संख्यावैपुल्यवाचिनो ग्रहणमविशेषात् । संख्यावाची[1] यथा, एको द्वौ बहव इति । वैपुल्यवाची यथा, [2]बहुरोदनो बहुः सूप इति । विधशब्दः प्रकारवाची । क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थम् । अनिःसृतग्रहणं असकलपुद्गलोद्गमार्थम् । अनुक्तमभिप्रायेण ग्रहणम् । ध्रुवं [3]निरन्तरं यथार्थग्रहणम् । सेतरग्रहणं प्रतिपक्षसंग्रहार्थम् ।

§ 193 बहूनामवग्रहः अल्पस्यावग्रहः बहुविधस्यावग्रहः एकविधस्यावग्रहः क्षिप्रमवग्रहः चिरेणावग्रहः अनिःसृतस्यावग्रहः निःसृतस्यावग्रहः अनुक्तस्यावग्रहः उक्तस्यावग्रहः ध्रुवस्यावग्रहः अध्रुवस्यावग्रहश्चेति अवग्रहो द्वादशविकल्पः । एवमीहादयोऽपि । त एते पञ्चभिरिन्द्रियद्वारैर्मनसा च प्रत्येकं प्रादुर्भाव्यन्ते । तत्र बह्ववग्रहादयः मतिज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् प्रभवन्ति नेतरे इति । तेषामभ्यर्हितत्वादादौ ग्रहणं क्रियते ।

है कि यह ज्ञान किसी विषयको जानते समय उसीको जानता है । एक विषयके निमित्तसे इसका दूसरे विषय मे प्रवेश नही होने पाता । टीकामे अवग्रह आदिके जो दृष्टान्त दिये हैं सो उनका वर्गीकरण इसी दृष्टिसे किया गया है ।

§ 191. इस प्रकार अवग्रह आदिका कथन किया । अब इनके भेदोके दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सेतर (प्रतिपक्षसहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुवके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान होते हैं ॥16॥

§ 192. अवग्रह आदि क्रियाविशेषोंका प्रकरण है उनकी अपेक्षा 'बह्वादीनां सेतराणां' इस प्रकार कर्मकारकका निर्देश किया है । 'बहु' शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनो प्रकारका है । इन दोनोका यहाँ ग्रहण किया है, क्योकि उनमे कोई विशेषता नही है । सख्यावाची बहु शब्द यथा—एक, दो, बहुत । वैपुल्यवाची बहु शब्द यथा— बहुत भात, बहुत दाल । 'विध' शब्द प्रकारवाची है । सूत्रमे 'क्षिप्र' शब्दका ग्रहण, जल्दी होनेवाले ज्ञानके जतानेके लिए किया है । जब पूरी वस्तु प्रकट न होकर कुछ प्रकट रहती है और कुछ अप्रकट तब वह अनि.सृत कही जाती है । यहाँ अनि सृत अर्थ ईषद्नि.सृत है, अत. इसका ग्रहण करनेके लिए सूत्रमे 'अनि सृत' पद दिया है । जो कही या विना कही वस्तु अभिप्राय से जानी जाती है उसके ग्रहण करनेके लिए 'अनुक्त' पद दिया है । जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर होता है उसके जतानेके लिए 'ध्रुव' पद दिया है । इनसे प्रतिपक्षभूत पदार्थोका सग्रह करनेके लिए 'सेतर' पद दिया है ।

§ 193. वहुतका अवग्रह, अल्पका अवग्रह, वहुविधका अवग्रह, एकविधका अवग्रह, क्षिप्रावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, अनि सृतका अवग्रह, नि सृतका अवग्रह, अनुक्तका अवग्रह, उक्तका अवग्रह, ध्रुवका अवग्रह और अध्रुवका अवग्रह ये अवग्रहके वारह भेद है । इसी प्रकार ईहादिकमेंसे प्रत्येकके वारह-वारह भेद है । ये सव अलग-अलग पाँच इन्द्रिय और मनके द्वारा उत्पन्न कराते चाहिए । इनमें-से वहु अवग्रह आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके प्रकर्षसे होते है, इतर नही । वहु आदि श्रेष्ठ है, अत' उनका प्रथम ग्रहण किया है ।

---

1. 'अस्त्येव संख्यावाची । तद्यथा एको द्वौ वहव इति ।'—पा. म भा. 1।4।2।21 । 2. 'वहुरोदनो वहुः सूप इति ।'—पा. म. भा 1।4।2।21 । 3 ध्रुवं यथा—ता , न ।

§ 194 बहुबहुविधयो क. प्रतिविशेष ; यावता [1]बहुष्वपि बहुत्वमस्ति बहुविधेष्वपि बहुत्वमस्ति ? एकप्रकारनानाप्रकारकृतो विशेषः। उक्तनि सृतयोः क प्रतिविशेष ; यावता सकलनिःसरणान्नि सृतम् । उक्तमप्येवविधमेव ? अयमस्ति विशेषः, अन्योपदेशपूर्वकं ग्रहणमुक्तम् । स्वत एव ग्रहणं नि सृतम् ।

§ 195 अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठ. । त एवं वर्णयन्ति श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते । अपरः स्वरूपमेवाश्रित्य[2] इति ।

§ 196 ध्रुवावग्रहस्य धारणायाश्च क प्रतिविशेषः ? उच्यते, क्षयोपशमप्राप्तिकाले विशुद्धपरिणामसतत्या प्राप्तात्क्षयोपशमात्प्रथमसमये यथावग्रहस्तथैव द्वितीयादिष्वपि समयेषु नोनो[3] नाभ्यधिक इति ध्रुवावग्रह इत्युच्यते । यदा पुनर्विशुद्धपरिणामस्य संक्लेशपरिणामस्य च मिश्रणात्क्षयोपशमो भवति तत उत्पद्यमानोऽवग्रह कदाचित् बहूनां कदाचिदल्पस्य कदाचिद् बहुविधस्य कदाचिदेकविधस्य वेति न्यूनाधिकभावादध्रुवावग्रह इत्युच्यते । धारणा पुनर्गृहीतार्था-विस्मरणकारणमिति महदनयोरन्तरम् ।

---

§ 194 शका—बहु और बहुविधमे क्या अन्तर है, क्योकि बहु और बहुविध इन दोनोमे बहुतपना पाया जाता है ? समाधान—इनमे एक प्रकार और नाना प्रकारकी अपेक्षा अन्तर है। अर्थात् बहुमे प्रकारभेद इष्ट नही और बहुविधमे प्रकारभेद इष्ट है। शका—उक्त और नि सृतमे क्या अन्तर है—क्योकि वस्तुका पूरा प्रकट होना नि सृत है और उक्त भी इसी प्रकार है ? समाधान—इन दोनोमे अन्तर यह है—अन्यके उपदेशपूर्वक वस्तुका ग्रहण करना उक्त है और स्वत ग्रहण करना नि सृत है ।

§ 195 कुछ आचार्योके मतसे क्षिप्रानि सृतके स्थानमे 'क्षिप्रनि सृत' ऐसा पाठ है। वे ऐसा व्याख्यान करते हैं कि श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा शब्दको ग्रहण करते समय वह मयूरका है अथवा कुररका है ऐसा कोई जानता है । दूसरा स्वरूपके आश्रयसे ही जानता है ।

§ 196 शंका—ध्रुवावग्रह और धारणामे क्या अन्तर है ? समाधान—क्षयोपशमकी प्राप्तिके समय विशुद्ध परिणामोंकी परम्पराके कारण प्राप्त हुए क्षयोपशमसे प्रथम समयमे जैसा अवग्रह होता है वैसा ही द्वितीयादिक समयोमे भी होता है, न न्यून होता है और न अधिक। यह ध्रुवावग्रह है । किन्तु जब विशुद्ध परिणाम और सक्लेश परिणामोके मिश्रणसे क्षयोपशम होकर उसमे अवग्रह होता है तब वह कदाचित् बहुतका होता है, कदाचित् अल्पका होता है, कदाचित् बहुविधका होता है और कदाचित् एकविधका होता है। तात्पर्य यह कि उनमे न्यूनाधिक भाव होता रहता है, इसलिए वह अध्रुवावग्रह कहलाता है किन्तु धारणा तो गृहीत अर्थके नही भूलनेके कारणभूत ज्ञानको कहते है, अत. ध्रुवावग्रह और धारणामे बडा अन्तर है।

विशेषार्थ—ये अवग्रह आदि मतिज्ञान-द्वारा जाननेरूप क्रियाके भेद है और बहु आदि उनके कर्म है इसलिए इस सूत्रमे इनका इसीरूपसे निर्देश किया गया है। मतिज्ञान-द्वारा पदार्थोंका बहु आदिरूप इतने प्रकारसे अवग्रहण, ईहन, अवाय और धारण होता है यह इसका तात्पर्य है। इन बहु आदिके स्वरूपका तथा उनके अन्तरका व्याख्यान टीकामे किया ही है। मालूम होता है कि पूज्यपाद स्वामीके समय इस सूत्रके दो पाठ प्रचलित थे और उनका दो प्रकार से व्याख्यान भी किया जाता था जिनका उल्लेख पूज्यपाद स्वामीने स्वय किया है। एक पाठ जो उस समय अधिक मान्य था या पूज्यपाद स्वामी जिसे मूल पाठ मानते रहे उसका उल्लेख तो उन्होने व्याख्यानरूपसे किया

---

1. बहुषु बहुविधे।'—मु । 2 —मेवानि सृत—आ, दि 1, दि 2, मु । 3. नोनाभ्य—ता, न, मु ।

§ 197. यद्यवग्रहादयो बह्वादीनां कर्मणामाक्षेप्तारः, बह्वादीनि पुनर्विशेषणानि कस्येत्यत आह—

अर्थस्य ॥17॥

§ 198 चक्षुरादिविषयोऽर्थः । तस्य बह्वादिविशेषणविशिष्टस्य अवग्रहादयो भवन्तीत्यभिसंबन्धः क्रियते । किमर्थमिदमुच्यते यावता बह्वादिरर्थ एव? सत्यमेव, किन्तु प्रवादिपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थं 'अर्थस्य' इत्युच्यते । केचित्प्रवादिनो मन्यन्ते रूपादयो गुणा एव इन्द्रियैः संनिकृष्यन्ते तेनैतेषामेव ग्रहणमिति । तदयुक्तम्; न हि ते रूपादयो गुणा अमूर्ता इन्द्रियसंनिकर्षमापद्यन्ते । न[1] तर्हि इदानीमिदं भवति 'रूपं मया दृष्टं, गन्धो वा घ्रात' इति । भवति च । कथम्? इयर्ति पर्यायांस्तैर्वाऽर्यत इत्यर्थो द्रव्यं, तस्मिन्निन्द्रियैः संनिकृष्यमाणे तदव्यतिरेकाद्रूपादिष्वपि संव्यवहारो युज्यते ।

§ 199. किमिमे अवग्रहादयः सर्वस्येन्द्रियानिन्द्रियस्य भवन्ति उत कश्चिद्विषयविशेषोऽस्तीत्यत आह—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥18॥

है और दूसरे पाठका उल्लेख अन्य कुछ आचार्योंके अभिप्रायके रूपमे किया है । इन दोनो व्याख्यानो में जो अन्तर है वह इस प्रकार है—मूल पाठके अनुसार—अनि.सृतज्ञान— अवयवके ग्रहणके समय ही पूरे अवयवीका ज्ञान होना । निःसृत ज्ञान—इससे उलटा । पाठान्तरके अनुसार—नि.सृतज्ञान—विशेषताको लिये हुए ज्ञान होना । अनि.सृत ज्ञान—विशेषताके बिना साधारण ज्ञान होना । शेष कथन सुगम है ।

§ 197. यदि अवग्रह आदि बहु आदिकको जानते हैं तो बहु आदिक किसके विशेषण हैं अब इसी वातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अर्थके (वस्तुके) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान होते हैं ॥17॥

§ 198. चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय अर्थ कहलाता है । बहु आदि विशेषणोंसे युक्त उस (अर्थ) के अवग्रह आदि होते हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए । शंका—यत. बहु आदिक अर्थ ही हैं, अतः यह सूत्र किसलिए कहा ? समाधान—यह सत्य है कि बहु आदिक अर्थ ही हैं तो भी अन्य वादियोंकी कल्पनाका निराकरण करनेके लिए 'अर्थस्य' सूत्र कहा है । कितने ही प्रवादी मानते हैं कि रूपादिक गुण ही इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, अत. उन्हीका ग्रहण होता है, किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नही है, क्योंकि वे रूपादिक गुण अमूर्त है, अत. उनका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता । शंका—यदि ऐसा है तो 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूँघा' यह व्यवहार नही हो सकता, किन्तु होता अवश्य है सो इसका क्या कारण है ? समाधान—जो पर्यायोंको प्राप्त होता है या पर्यायोंके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, यह 'अर्थ' है । इसके अनुसार अर्थ द्रव्य ठहरता है । उसके इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध को प्राप्त होने पर चूंकि रूपादिक उससे अभिन्न है, अतः रूपादिकमे भी ऐसा व्यवहार वन जाता है कि 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूँघा ।'

विशेषार्थ—ज्ञानका विषय न केवल सामान्य है और न विशेष, किन्तु उभयात्मक पदार्थ है । प्रकृतमे इसी वातका ज्ञान करानेके लिए 'अर्थस्य' सूत्रकी रचना हुई है । इससे नैयायिक वैशेपिकोंके इस मतका खण्डन हो जाता है कि रूपादि गुण इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं ।

§ 199. क्या ये अवग्रह आदि सब इन्द्रिय और मन के होते हैं या इनमें विषयकी अपेक्षा कुछ भेद हैं ? अब इसी वातको वतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्यंजनका अवग्रह ही होता है ॥18॥

---

1. 'न तर्हि इदानीमिदं भवति ।' वा. भा. 1, 1, 4 ।

§ 200. व्यञ्जनमव्यक्तं[1] शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति[2] नेहादयः। किमर्थमिदम्? नियमार्थम्, अवग्रह एव नेहादय इति। स तर्हि एवकारः कर्तव्यः? न कर्तव्यः, 'सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः'[3] इति अन्तरेणैवकारं नियमार्थो भविष्यति। ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किं कृतोऽयं विशेषः? अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः। कथम्? अभिनवशरावार्द्रीकरणवत्। यथा जलकणद्वित्रा[4]सिक्तः सरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनःपुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला [5]द्वित्रादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनःपुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति। अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। ततोऽव्यक्तावग्रहणादीहादयो न भवन्ति।

§ 201 सर्वेन्द्रियाणामविशेषेण व्यञ्जनावग्रहप्रसङ्गे यत्रासंभवस्तदर्थप्रतिषेधमाह—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥19॥

---

§ 200 अव्यक्त शब्दादिके स मूहको व्यजन कहते है। उसका अवग्रह ही होता है, ईहादिक नही होते। शका—यह सूत्र किसलिए आया है? समाधान—अवग्रह ही होता है, ईहादिक नही होते इस प्रकारका नियम करनेके लिए यह सूत्र आया है। शका—तो फिर इस सूत्रमे एवकारका निर्देश करना चाहिए। समाधान—नही करना चाहिए, क्योकि 'किसी कार्यके सिद्ध रहते हुए यदि उसका पुन विधान किया जाता है तो वह नियमके लिए होता है' इस नियमके अनुसार सूत्रमे एवकारके न करने पर भी वह नियमका प्रयोजक हो जाता है। शका—जब कि अवग्रहका ग्रहण दोनो जगह समान हे तव फिर इनमे अन्तर किनिमित्तक है? समाधान—अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह मे व्यक्त ग्रहण और अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अन्तर है। शका—कैसे? समाधान—जैसे माटीका नया सकोरा जलके दो तीन कणोसे सीचने पर गीला नही होता और पुन.-पुन सीचने पर वह धीरे-धीरे गीला हो जाता है इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियोके द्वारा किये गये शब्दादिरूप पुद्गल स्कन्ध दो तीन समयोमे व्यक्त नही होते है, किन्तु पुन-पुन. ग्रहण होनेपर वे व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहणसे पहले-पहले व्यजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहणका नाम अर्थावग्रह है। यही कारण है कि अव्यक्त ग्रहणपूर्वक ईहादिक नही होते।

विशेषार्थ—यहाँ अव्यक्त शब्दादिकको व्यंजन कहा है। किन्तु वीरसेन स्वामी इस लक्षणसे सहमत नही है, उनके मतानुसार प्राप्त अर्थका प्रथम ग्रहण व्यजन कहलाता है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि दृष्टिभेदसे ही ये दो लक्षण कहे गये है। तत्त्वत इनमे कोई भेद नही। प्राप्त अर्थका प्रथम ग्रहण व्यजन है यह तो पूज्यपाद स्वामी और वीरसेन स्वामी दोनोको इष्ट है। केवल पूज्यपाद स्वामीने स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियोके द्वारा विषयके प्राप्त होनेपर प्रथम ग्रहणके समय उसकी क्या स्थिति रहती है इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए शब्दजातके पहले अव्यक्त विशेषण दिया है। लेकिन वीरसेन स्वामीने ऐसा विशेषण नही दिया है। शेष कथन सुगम है।

§ 201 सब इन्द्रियोके समानरूपसे व्यजनावग्रहके प्राप्त होनेपर जिन इन्द्रियोके द्वारा यह सम्भव नही है उसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता ॥19॥

---

1. 'तक्कालम्मि वि णाण तत्थत्थि तणु ति तो तमव्वत्त।' वि. भा. गा. 196। 2—ग्रहो भवति। किम—दि 1, दि 2, आ, मु। 3 'सिद्धे विधिरारम्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति'—पा म. भा 1, 1, 3। 4. द्वित्रिसि—मु। 5 द्वित्र्यादि—मु.।

§ 202. चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति। कुतः ? [1]अप्राप्यकारित्वात्। यतोऽप्राप्तमर्थमविदिक[2]युक्तं संनिकर्षविषये[3]ऽवस्थितं बाह्यप्रकाशाभिव्यक्तमुपलभते चक्षुः मनश्चाप्राप्तमित्यनयोर्व्य[4]ञ्जनावग्रहो[5] नास्ति।

§ 203. चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं [6]कथमध्यवसीयते ? आगमतो युक्तितश्च। आगमतस्तावत्[7]

> "पुट्ठ सुणेदि सद्द अपुट्ठ चेव पस्सदे रूअ।
> गध रस च फास बद्ध पुट्ठ वियाणादि ॥"

§ 204. युक्तितश्च—अप्राप्यकारि चक्षुः, स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् [8]स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात्, न तु गृह्णात्यतो [9]मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम्। ततश्चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहः। सर्वेषामिन्द्रियानिन्द्रियाणामर्थावग्रह इति सिद्धम्।

---

§ 202 चक्षु और मनसे व्यजनावग्रह नही होता है। **शंका**—क्यो ? **समाधान**—क्योकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी है। चूँकि नेत्र अप्राप्त, योग्य दिशामे अवस्थित, युक्त, सन्निकर्षके योग्य देशमे अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदिसे व्यक्त हुए पदार्थको ग्रहण करता है और मन भी अप्राप्त अर्थको ग्रहण करता है अत. इन दोनोके द्वारा व्यजनावग्रह नही होता।

§ 203 **शंका**—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह कैसे जाना जाता है ? **समाधान**—आगम और युक्तिसे जाना जाता है। आगमसे यथा—"श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूपको ही देखता है। तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमसे स्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको ही जानती है।"

§ 204 युक्तिसे यथा—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योकि वह स्पृष्ट पदार्थको नही ग्रहण करती। यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो वह त्वचा इन्द्रियके समान स्पृष्ट हुए अजनको ग्रहण करती। किन्तु वह स्पृष्ट अजनको नही ग्रहण करती है इससे मालूम होता है कि मनके समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। अत. सिद्ध हुआ कि चक्षु और मनको छोड़कर शेष इन्द्रियोंके व्यजनावग्रह होता है। तथा सब इन्द्रिय और मनके अर्थावग्रह होता है।

विशेषार्थ—पहले अवग्रहके दो भेद बतला आये है—अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह। इनमे से अर्थावग्रह तो पाँचो इन्द्रियो और मन इन छहोसे होता है, किन्तु व्यजनावग्रह चक्षु और मन इन दोसे नही होता यह इस सूत्रका भाव हे। चक्षु और मनसे व्यजनावग्रह क्यो नही होता, इसका निर्देश करते हुए जो टीकामे लिखा है उसका भाव यह है कि ये दोनो अप्राप्यकारी हैं अर्थात् ये दोनो विषयको स्पृष्ट करके नही जानते है, इसलिए इन द्वारा व्यजनावग्रह नही होता। इससे यह अपने आप फलित हो जाता हे कि व्यजनावग्रह प्राप्त अर्थका ही होता है और अर्थावग्रह प्राप्त तथा अप्राप्त दोनो प्रकारके पदार्थोका होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि अप्राप्त अर्थका अर्थावग्रह होता हे तो होवे इसमे बाधा नही, पर प्राप्त अर्थका अर्थावग्रह कैसे हो सकता हे ? सो इस शकाका यह समाधान है कि प्राप्त अर्थका सर्व प्रथम ग्रहणके समय तो व्यजनावग्रह ही होता है, किन्तु बादमे उसका भी अर्थावग्रह हो जाता है। नेत्र प्राप्त अर्थको

---

1. अप्राप्तिका—आ, दि 1, दि 2। 2 युक्तम—मु, ता, ना.। 3 दिशेपेऽव—मु ता, ना.। 4. प्राप्तमतो नानयोर्व्य—मु, ता, ना,। 5. ग्रहोऽस्ति—मु। 6 कथमध्यवसी—मु.। 7. तावत्—पुट्ठं सुणेदि सद्द अपुट्ठं पुण पस्सदे रूव। फास रस च गध बद्ध पुट्ठ वियाणादि ॥ युक्ति—मु। आ नि गा 5। 8 "जह पत्त गेन्हेज्ज च तग्गयमंजण—।" वि भा. गा 212। 9 'लोयणमपत्तविसयं मणोव्व।'—वि भा गा. 209।

§ 205. आह निर्दिष्टं मतिज्ञानं लक्षणतो विकल्पतश्च; तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् श्रुतं तस्येदानीं लक्षणं विकल्पश्च वक्तव्य इत्यत आह—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥20॥

§ 206 श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे वर्तते। यथा कुशलवनकर्म प्रतीत्य [1]व्युत्पादितोऽपि कुशलशब्दो रूढिवशात्पर्यवदाते[2] वर्तते। क पुनरसौ ज्ञानविशेष इति? अत आह 'श्रुतं मतिपूर्वम्' इति। श्रुतस्य प्रमाणत्वं पूरयतीति[3] पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्। मतिर्निर्दिष्टा। मतिः पूर्वमस्य मतिपूर्वं मतिकारणमित्यर्थः। यदि मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति 'कारणसदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम्' इति। नैतदैकान्तिकम्। दण्डादिकारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मकः। अपि च सति तस्मिंस्तदभावात्। सत्यपि मतिज्ञाने बाह्यश्रुतज्ञाननिमित्तसंनिधानेऽपि प्रबलश्रुतावरणोदयस्य श्रुताभावः। श्रुतावरणक्षयोपशमप्रकर्षे तु सति श्रुतज्ञानमुत्पद्यत इति मतिज्ञानं निमित्तमात्रं ज्ञेयम्।

क्यों नहीं जानता इसका निर्देश टीकामे किया ही है। किन्तु धवलाके अभिप्रायानुसार शेष इन्द्रियाँ भी कदाचित् अप्राप्यकारी है यह भी सिद्ध होता है। प्राय पृथिवीमे जिस ओर निधि रखी रहती है उस ओर वनस्पतिके मूलका विकास देखा जाता है। यह तभी बन सकता है जब स्पर्शन इन्द्रिय-द्वारा अप्राप्त अर्थका ग्रहण बन जाता है। इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय-द्वारा भी उसकी सिद्धि हो जाती है। शेष कथन सुगम है।

§ 205 लक्षण और भेदोकी अपेक्षा मतिज्ञानका कथन किया। अब उसके बाद क्रमप्राप्त श्रुतज्ञानके लक्षण और भेद कहने चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते है—

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। वह दो प्रकारका, अनेक प्रकारका और बारह प्रकारका है ॥20॥

§ 206 यह 'श्रुत' शब्द सुननेरूप अर्थकी मुख्यतासे निष्पादित है तो भी रूढिसे भी उसका वाच्य कोई ज्ञानविशेष है। जैसे 'कुशल' शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ कुशाका छेदना है तो भी रूढिसे उसका अर्थ पर्यवदात अर्थात् विमल या मनोज्ञ लिया जाता है। वह ज्ञानविशेष क्या है इस बात को ध्यानमे रखकर 'श्रुत मतिपूर्वम्' यह कहा है। जो श्रुतकी प्रमाणताको पूरता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्व, निमित्त और कारण ये एकार्थवाची है। मतिका व्याख्यान पहले कर आये है। वह मति जिसका पूर्व अर्थात् निमित्त है वह मतिपूर्व कहलाता है जिसका अर्थ मतिकारणक होता है। तात्पर्य यह है कि जो मतिज्ञानके निमित्तसे होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। शका-यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है, क्योकि लोक मे कारणके समान ही कार्य देखा जाता है? समाधान—यह कोई एकान्त नियम नही है कि कारणके समान कार्य होता है। यद्यपि घटकी उत्पत्ति दण्डादिकसे होती है तो भी वह दण्डाद्यात्मक नही होता। दूसरे, मतिज्ञानके रहते हुए भी श्रुतज्ञान नही होता। यद्यपि मतिज्ञान रहा आता है और श्रुतज्ञानके बाह्य निमित्त भी रहे आते है तो भी जिसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल उदय पाया जाता है उसके श्रुतज्ञान नही होता। किन्तु श्रुतज्ञानावरण कर्मका प्रकर्ष क्षयोपशम होनेपर ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे निमित्तमात्र जानना चाहिए।

---

1 प्रतीत्या व्यु—मु। 2 'अवदात तु विमले मनोज्ञे'—अ ना. 4, 96। 3 'पुव्व पूरणपालणभावओ ज मई।' वि. भा गा. 105।

§ 207. आह, श्रुतमनादिनिधनमिष्यते । तस्य मतिपूर्वकत्वे तदभावः; आदिमतोऽन्तवत्त्वात् । ततश्च [1]पुरुषकृतित्वादप्रामाण्यमिति ? नैष दोषः; द्रव्यादिसामान्यार्पणात् श्रुतमनादिनिधनमिष्यते । न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित्कदाचित्कथंचिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च संभवतीति 'मतिपूर्वम्' इत्युच्यते । यथाङ्कुरो बीजपूर्वकः स च संतानापेक्षया अनादिनिधन इति । न चापौरुषेयत्वं प्रामाण्यकारणम्; चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः ।

§ 208. आह, [2]प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामान्मतिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोपपद्यत इति ? तदयुक्तम्; सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् । [3]आत्मलाभस्तु क्रमवानिति मतिपूर्वकत्वव्याघाताभावः ।

§ 209. आह, मतिपूर्वं श्रुतमित्येतल्लक्षणमव्यापि श्रुतपूर्वमपि श्रुतमिष्यते । तद्यथा— शब्दपरिणतपुद्गलस्कन्धादाहितवर्णपदवा[4]क्यादिभावाच्चक्षुरादिविषयाच्च आद्यश्रुतविषयभावमापन्नादव्यभिचारिणः [5]कृतसंगीतिर्जनो घटाज्जलधारणादि कार्यं संबन्ध्यन्तर[6] प्रतिपद्यते, धूमादेर्वाग्न्यादिद्रव्यं, तदा श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति ? नैष दोषः; तस्यापि मतिपूर्वकत्वमुपचारतः ।

§ 207 **शंका**—श्रुतज्ञानको अनादिनिधन कहा है। ऐसी अवस्थामे उसे मतिज्ञानपूर्वक मान लेने पर उसकी अनादिनिधनता नही बनती, क्योंकि जिसका आदि होता है उसका अन्त अवश्य होता है। और इसलिए वह पुरुषका कार्य होनेसे उसे प्रमाण नही माना जा सकता। **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योंकि द्रव्य आदि सामान्य नयकी मुख्यतासे श्रुतको अनादिनिधन कहा है। किसी पुरुषने कही और कभी किसी भी प्रकारसे उसे किया नही है। हाँ उन्ही द्रव्य आदि विशेष नयकी अपेक्षा उसका आदि और अन्त सम्भव है इसलिए 'वह मतिपूर्वक होता है' ऐसा कहा जाता है। जैसे कि अकुर बीजपूर्वक होता है, फिर भी वह सन्तानकी अपेक्षा अनादि निधन है। दूसरे, जो यह कहा है कि पुरुषका कार्य होनेसे वह अप्रमाण है सो अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नही है। यदि अपौरुषेयताको प्रमाणताका कारण माना जाय तो जिसके कर्ताका स्मरण नही होता ऐसे चोरी आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जाएँगे। तीसरे, प्रत्यक्ष आदि ज्ञान अनित्य होकर भी यदि प्रमाण माने जाते है तो इसमे क्या विरोध है, अर्थात् कुछ भी नही।

§ 208 **शंका**—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अत श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है यह कथन नही बनता ? **समाधान**—यह कहना ठीक नही है, क्योंकि ज्ञानमे समीचीनता सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होती है। इन दोनोका आत्मलाभ तो क्रमसे ही होता है, इसलिए 'श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है' इस कथनका व्याघात नही होता।

§ 209 **शंका**—'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' इस लक्षणमे अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि श्रुतज्ञानपूर्वक भी श्रुतज्ञान होता है ऐसा कहा जाता है। यथा—किसी एक जीवने वर्ण, पद और वाक्य आदिरूपसे शब्द परिणत पुद्गल स्कन्धोको कर्ण इन्द्रिय-द्वारा ग्रहण किया। अनन्तर उससे घटपदार्थविषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ। यदि उसने घटके कार्योका सकेत कर रखा है तो उसे उस घटज्ञानके बाद जलधारणादि दूसरे कार्योका ज्ञान होता है और तब श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। या किसी एक जीवने चक्षु आदि इन्द्रियोके विषयका ग्रहण किया।

1. -पकृतत्वा—मु । 2 'णाणाण्णाणाणि य समकालाइ जओ मइसुयाइ । तो न सुय मइपुव्व मइणाणे वा सुयन्नाण'—वि- भा गा 107 । 3 'इहलद्धिमइसुयाइ समकालाइ न तूवओगो सिं । मइपुव्व सुयमिह पुण सुओवओगो मइप्पभवो । —वि भा गा. 108 । 4 पदवाक्यादि—आ, दि. 1 । 5. मगति—मु । 6 सम्बन्धान्तर—ता., ना. ।

श्रुतमपि क्वचिन्मतिरित्युपचर्यते, मतिपूर्वकत्वादिति ।

§ 210 भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते—द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति । द्वि भेदं तावत्—अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टमिति । अङ्गबाह्यमनेकविध दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि । अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम् । तद्यथा, आचार सूत्रकृतं स्थान समवायः व्याख्याप्रज्ञप्ति ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनं अन्तकृद्दश अनुत्तरौपपादिकदशं प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्र दृष्टिवाद इति । दृष्टिवादः पञ्चविधः—परिकर्म सूत्रं प्रथमानुयोगः पूर्वगतं चूलिका चेति । तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविधम्—उत्पादपूर्व अग्रायणीयं वीर्यानुप्रवाद अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेय विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशाल लोकबिन्दुसारमिति । तदेतत् श्रुतं द्विभेदमनेकभेद द्वादशभेदमिति ।

§ 211. किंकृतोऽयं विशेष ? [1]वक्तृविशेषकृत. । त्रयो वक्तारः—सर्वज्ञस्तीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्ट. । तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम् । तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम् । तत्प्रमाणम्; तत्प्रामाण्यात् । आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव ।

अनन्तर उसे उससे धूमादि पदार्थविषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ । यदि उसे धूमादि और अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धका ज्ञान है तो वह धूमादिके निमित्तसे अग्नि आदि द्रव्यको जानता है और तब भी श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है । इसलिए मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात नही बनती ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि जहाँपर श्रुतज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है वहाँपर प्रथम श्रुतज्ञान उपचारसे मतिज्ञान माना गया है । श्रुतज्ञान भी कहीपर मतिज्ञानरूपसे उपचरित किया जाता है क्योकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है ऐसा नियम है ।

§ 210 सूत्रमे आये हुए 'भेद' शब्दको दो आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड लेना चाहिए । यथा—दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद । श्रुतज्ञानके दो भेद अगबाह्य और अगप्रविष्ट है । अगबाह्यके दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद है । अगप्रविष्टके बारह भेद है । यथा—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद । दृष्टिवादके पाँच भेद है—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । इनमे-से पूर्वगतके चौदह भेद है—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार । इस प्रकार यह श्रुत दो प्रकारका, अनेक प्रकारका और बारह प्रकारका है ।

§ 211 शंका—यह भेद किंकृत है ? समाधान—यह भेद वक्ताविशेषकृत है । वक्ता तीन प्रकारके है—सर्वज्ञ (तीर्थकर या सामान्य केवली) तथा श्रुतकेवली और आरातीय । इनमे-से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञानरूपी विभूतिविशेषसे युक्त है । इस कारण उन्होने अर्थरूपसे आगमका उपदेश दिया । ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त है, इसलिए प्रमाण है । इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धिके अतिशयरूप ऋद्धिसे युक्त गणधर श्रुतकेवलियोने अर्थरूप आगमका स्मरण कर अग और पूर्वग्रन्थोकी रचना की । सर्वज्ञदेवकी प्रमाणताके कारण ये भी प्रमाण हैं; तथा आरातीय आचार्योने कालदोषसे जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे

---

1. —शेष. । विशेषवक्तृतो विशेष कृत । आ, दि 1, दि 2 ।

§ 212. व्याख्यातं परोक्षम्। प्रत्यक्षमिदानीं वक्तव्यम्। तद् द्वेधा—देशप्रत्यक्षं [1]सर्वप्रत्यक्षं च। देशप्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययज्ञाने। सर्वप्रत्यक्षं केवलम्। यद्येवमिदमेव तावदवधिज्ञानं त्रिःप्रकारस्य प्रत्यक्षस्याद्यं व्याक्रियतामित्यत्रोच्यते—द्विविधोऽवधिर्भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्चेति। तत्र भवप्रत्यय उच्यते—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥21॥

शिष्योका उपकार करनेके लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे। जिस प्रकार क्षीरसागरका जल घटमे भर लिया जाता है उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिए प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण किस रूपमे है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें अन्तर क्या है, श्रुत अनादिनिधन और सादि कैसे है, श्रुतके भेद कितने और कौन-कौन हैं, श्रुतने प्रमाणता कैसे आती है इत्यादि बातोका विशेष विचार तो मूलमे किया ही है। यहाँ केवल विचारणीय विषय यह है कि श्रुतज्ञानका निरूपण करते समय सूत्रकारने केवल द्रव्य आगम श्रुतका ही निरूपण क्यो किया ? अनुमान आदि ऐसे बहुत-से ज्ञान हैं जिनका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमे किया जाता है फिर उनका निर्देश यहाँ क्यो नही किया ? क्या श्रुतज्ञान द्रव्य आगम श्रुतके ज्ञान तक ही सीमित है और अनुमान आदिका अन्तर्भाव सूत्रकारके मतानुसार मतिज्ञानमे होता है ? ये ऐसे विचारणीय प्रश्न हैं जिनका प्रकृतमे समाधान करना आवश्यक है। बात यह है कि जैन परम्परामे द्रव्य आगम श्रुतकी प्रधानता सदासे चली आ रही है, इसलिए सूत्रकारने श्रुतज्ञानके निरूपणके समय उसका प्रमुखतासे निर्देश किया है। पर इसका यह तात्पर्य नही कि श्रुतज्ञान द्रव्य आगम श्रुतके ज्ञान तक ही सीमित है। मतिके सिवा मतिपूर्वक होनेवाले अन्य अनुमान आदि सब परोक्ष ज्ञानोका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमे ही होता है, क्योकि इन ज्ञानोमे हेतु आदिका प्रत्यक्ष ज्ञान आदि होने पर ही इन ज्ञानोकी प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ, नेत्र इन्द्रियसे धूमका ज्ञान होता हैं। अनन्तर व्याप्तिका स्मरण होता है तब जाकर 'यहाँ अग्नि होनी चाहिए' यह अनुमान होता है। कही-कही मतिज्ञानमे भी इनके अन्तर्भावका निर्देश मिलता है पर वह कारणरूपसे ही जानना चाहिए। मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमे निमित्त है, इसलिए कारणमे कार्यका उपचार करके कही-कही अनुमान आदिका भी मतिज्ञानरूपसे निर्देश किया जाता है। एक बात और विचारणीय है, वह यह कि यह श्रुतज्ञानका प्रकरण है द्रव्यश्रुतका नही, इसलिए यहाँ सूत्रकारने श्रुतज्ञानके भेद न दिखलाकर द्रव्यश्रुतके भेद क्यो दिखलाये ? उत्तर यह है कि श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका और द्रव्यश्रुतका अन्योन्य सम्बन्ध है। क्षयोपशमके अनुसार होनेवाले श्रुतज्ञानको ध्यानमे रखकर ही द्रव्यश्रुतका विभाग किया गया है। यही कारण है कि यहाँ श्रुतज्ञानका प्रकरण होते हुए भी द्रव्यश्रुतके भेद गिनाये गये है। इस बातकी विशेष जानकारीके लिए गोम्मटसार जीवकाण्डमे निर्दिष्ट ज्ञानमार्गणा द्रष्टव्य है।

§ 212 परोक्ष प्रमाणका व्याख्यान किया। अब प्रत्यक्ष प्रमाणका व्याख्यान करना है। वह दो प्रकारका है—देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष। देशप्रत्यक्ष अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है। सर्वप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। यदि ऐसा है तो तीन प्रकारके प्रत्यक्षके आदिमे कहे गये अवधिज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए, इसलिए कहते है—अवधिज्ञान दो प्रकारका है—भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक। उनमे-से सर्वप्रथम भवप्रत्यय अवधिज्ञानका अगले सूत्र द्वारा कथन करते है—

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है ॥21॥

---

1. —त्यक्ष सकलप्र—मु।

§ 213. भव इत्युच्यते। को भवः? आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः। प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। भवः प्रत्ययोऽस्य भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां वेदितव्यः। यद्येवं तत्र क्षयोपशमनिमित्तत्वं न प्राप्नोति? नैष दोषः; तदाश्रयात्तत्सिद्धेः। भवं प्रतीत्य क्षयोपशमः संजायत[1] इति कृत्वा भवः प्रधानकारणमित्युपदिश्यते। यथा पतत्रिणो गमनमाकाशे भवनिमित्तम्, न शिक्षागुणविशेषः तथा देवनारकाणां व्रतनियमाद्यभावेऽपि जायत 'इति भवप्रत्ययः' [2]इत्युच्यते। इतरथा हि भवः साधारण इति कृत्वा सर्वेषामविशेषः स्यात्। इष्यते च तत्रावधेः प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिः। 'देवनारकाणाम्' इत्यविशेषाभिधानेऽपि सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम्। कुतः? अवधिग्रहणात्। मिथ्यादृष्टीनां च विभङ्ग इत्युच्यते। प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिश्च आगमतो विज्ञेया।

§ 214. यदि भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्, अथ क्षयोपशमहेतुकः केषामित्य आह—

---

§ 213 भवका स्वरूप कहते है। शङ्का—भव किसे कहते हे ? समाधान—आयु नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो जीवकी पर्याय होती है उसे भव कहते हैं। प्रत्यय, कारण और निमित्त ये एकार्थवाची नाम है। जिस अवधिज्ञानके होनेमे भव निमित्त है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। वह देव और नारकियोके जानना चाहिए। शका—यदि ऐसा हैं तो इनके अवधिज्ञानके होनेमे क्षयोपशमकी निमित्तता नही वनती ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि भवके आश्रयसे क्षयोपशमकी सिद्धि हो जाती है ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है ऐसा उपदेश दिया जाता है। जैसे पक्षियोका आकाशमे गमन करना भवनिमित्तक होता है, शिक्षा गुणकी अपेक्षासे नही होता वैसे ही देव और नारकियोके व्रत नियमादिकके अभावमे भी अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भवनिमित्तक कहते है। यदि ऐसा न माना जाय तो भव तो सवके साधारणरूपसे पाया जाता है, अत सबके अवधिज्ञान के होनेमे विशेषता नही रहेगी। परन्तु वहाँपर अवधिज्ञान न्यूनाधिक कहा ही जाता है, इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि वहाँपर अवधिज्ञान होता तो क्षयोपशमसे ही है पर वह क्षयोपशम भवके निमित्तसे प्राप्त होता है अत उसे 'भवप्रत्यय' कहते हैं। सूत्रमे 'देवनारकाणाम्' ऐसा सामान्य वचन होने पर भी इससे सम्यग्दृष्टियोका ही ग्रहण होता है, क्योकि सूत्रमे 'अवधि' पदका ग्रहण किया है। मिथ्यादृष्टियोका वह विभगज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान देव और नारकियोमे न्यूनाधिक किसके कितना पाया जाता है यह आगमसे जान लेना चाहिए।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान वह मर्यादित ज्ञान है जो इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना मूर्तिक पदार्थोको स्पष्ट जानता है। मन पर्ययज्ञानका भी यही स्वरुप कहा जाता है पर इससे मन - पर्ययज्ञानमे मौलिक भेद है। वह मनकी पर्यायो-द्वारा ही मूर्तिक पदार्थोको जानता है, सीधे तौरसे मूर्तिक पदार्थोको नही जानता। यह अवधिज्ञान देव और नारकियोके उस पर्यायके प्राप्त होने पर अनायास होता है। इसके लिए उन्हे प्रयत्न विशेप नही करना पडता। तथा तिर्यचो और मनुष्योके सम्यग्दर्शन आदि गुणोके निमित्तसे होता है। इससे इसके भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक ये दो भेद किये गये है। यहाँ भवप्रत्यय अवधिज्ञान मुख्यत देव और नारकियोके वतलाया है, पर तीर्थंकर आदिके भी इस अवधिज्ञानकी प्राप्ति देखी जाती है इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए। देव और नारकियोमे भी उन्हीके भवके प्रथम समयसे अवधिज्ञान होता है जो सम्यग्दृष्टि होते है। मिथ्यादृष्टियोके इसकी उत्पत्ति पर्याप्त होनेपर ही होती है और उसका नाम विभग ज्ञान है। इस ज्ञानकी विशेष जानकारी जीवकाण्ड, धवला वेदनाखण्ड आदिसे करनी चाहिए।

§ 214 यदि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोके होता है तो क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान किसके होता है, आगे इसी वातको वतलाते हैं—

---

1 —शम सजात इति। आ दि 1, दि. 2। 2 —त्यय इष्यते। त—आ, दि 1, दि 2।

[1]क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥22॥

§ 215. अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्द्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षयः तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशम । तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः । स शेषाणां वेदितव्यः । के पुनः शेषाः ? मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च । तेष्वपि यत्र सामर्थ्यमस्ति तत्रैव वेदितव्यः । न ह्यसंज्ञिनामपर्याप्तकानां च तत्सामर्थ्यमस्ति । संज्ञिनां पर्याप्तकानां च न सर्वेषाम् । केषां तर्हि ? यथोक्तसम्यग्दर्शनादिनिमित्तसंनिधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति । सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे क्षयोपशमग्रहणं नियमार्थं क्षयोपशम एव निमित्तं न भव इति । स एषोऽवधिः षड्विकल्पः । कुतः ? अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् । कश्चिदवधिर्भास्करप्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति । कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति [2]उन्मुखप्रश्नादेशिपुरुषवचनवत् । अपरोऽवधिः अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपर्णोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपावकवत्सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसंनिधानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्द्धते आ असंख्येयलोकेभ्यः । अपरोऽवधि [3]परिच्छिन्नोपादानसंतत्यग्निशिखावत्सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंक्लेशपरिणामवृद्धियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्यासंख्येयभागात् । इतरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवावतिष्ठते; न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत्

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकारका है, जो शेष अर्थात् तिर्यंचो और मनुष्योके होता है ॥22॥

§ 215 अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोका उदय रहते हुए सर्वघाति स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय और अनुदय प्राप्त इन्हीका सदवस्थारूप उपशम इन दोनोके निमित्तसे जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है । यह शेष जीवोके जानना चाहिए । **शंका**—शेष कौन है ? **समाधान**—मनुष्य और तिर्यंच । उनमे भी जिनके सामर्थ्य है उन्हीके जानना चाहिए । असंज्ञी और अपर्याप्तकोके यह सामर्थ्य नही है । सज्ञी और पर्याप्तकोमे भी सबके यह सामर्थ्य नही होती । **शंका**—तो फिर किनके होती है ? **समाधान**—यथोक्त सम्यग्दर्शन आदि निमित्तोके मिलने पर जिनके अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त और क्षीण हो गया है उनके यह सामर्थ्य होती है । अवधिज्ञान मात्र क्षयोपशमके निमित्तसे होता है तो भी सूत्रमे क्षयोपशम पदका ग्रहण यह नियम करनेके लिए किया है कि उक्त जीवोके मात्र क्षयोपशम निमित्त है भव नही । यह अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थितके भेदसे छह प्रकारका है । कोई अवधिज्ञान जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ जाता है वैसे अपने स्वामी का अनुसरण करता है । कोई अवधिज्ञान अनुसरण नही करता, किंतु जैसे विमुख हुए पुरुषके प्रश्नके उत्तरस्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वही छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नही करता है वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहीपर छूट जाता है । कोई अवधिज्ञान जगलके निर्मन्थनसे उत्पन्न हुई और सूखे पत्तोसे उपचीयमान ईंधनके समुदायसे वृद्धिको प्राप्त हुई अग्निके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोकी विशुद्धिरूप परिणामोके सन्निधानवश जितने परिमाणमे उत्पन्न होता है उससे असंख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक बढता जाता है । कोई अवधिज्ञान परिमित उपादानसन्ततिवाली अग्निशिखाके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोकी हानिसे हुए सक्लेश परिणामोके बढनेसे जितने परिमाणमे उत्पन्न होता है उससे मात्र अगुलके असख्यातवे भागप्रमाण जाननेकी योग्यता होने तक घटता चला जाता है । कोई अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणोके समानरूपसे

1. 'सेसाण खओवसमियाओ ।'—वि. भा गा 575 । 2 —तति । उन्मुखप्र—ता., ना, मु । 3 -वधि. परिमितपरि—मु. ।

आ भवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा। अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत्। एवं षड्विकल्पोऽवधिर्भवति।

§ 216. एवं व्याख्यातमवधिज्ञानं, तदनन्तरमिदानीं मनःपर्ययज्ञानं वक्तव्यम्। तस्य भेद-पुरःसरं लक्षणं व्याचिख्यासुरिदमाह—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥23॥

§ 217. ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च। कस्मान्निर्वर्तिता? वाक्कायमनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात्। ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजुमतिः। अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला। कस्मादनिर्वर्तिता? वाक्कायमनःकृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात्। विपुला मतिर्यस्य सोऽयं विपुलमतिः। ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती। एकस्य मतिशब्दस्य गतार्थत्वादप्रयोगः। अथवा ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले। ऋजुविपुले मती ययोस्तौ ऋजुविपुलमती इति। स एष मनःपर्ययो द्विविधः ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति।

§ 218. आह, उक्तो भेदः, लक्षणमिदानीं वक्तव्यमित्यत्रोच्यते—वीर्यान्तरायमनःपर्यय-

---

स्थिर रहनेके कारण जितने परिमाणमे उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है। पर्यायके नाश होने तक या केवलज्ञानके उत्पन्न होने तक शरीरमे स्थित मसा आदि चिह्नके समान न घटता है और न बढ़ता है। कोई अवधिज्ञान वायुके वेगसे प्रेरित जलकी तरगोके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोकी कभी वृद्धि और कभी हानि होनेसे जितने परिमाणमे उत्पन्न होता है उससे बढता है जहाँतक उसे बढना चाहिए और घटता है जहाँतक उसे घटना चाहिए। इस प्रकार अवधिज्ञान छह प्रकारका है।

विशेषार्थ—क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देशावधि तिर्यचो और मनुष्योके होता हैं पर मनुष्योके सयत अवस्थामे परमावधि और सर्वावधिका प्राप्त होना भी सम्भव है। मनुष्योके चौथे और पाँचवें गुणस्थानमे देशावधि और आगे के गुणस्थानोमे यथासम्भव तीनो होते है। भवप्रत्यय अवधिज्ञानका अन्तर्भाव देशावधिमें होता हैं।

§ 216. इस प्रकार अवधिज्ञानका व्याख्यान किया। अब आगे मन पर्ययज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए, अतः उसके भेदोके साथ लक्षणका कथन करनेकी इच्छासे आगेका सूत्र कहते हैं—

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है ॥23॥

§ 217. ऋजुका अर्थ निर्वर्तित और प्रगुण है। शंका—किससे निर्वर्तित? समाधान—दूसरेके मनको प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे निर्वर्तित। जिसकी मति ऋजु है वह ऋजुमति कहलाता है। विपुलका अर्थ अनिर्वर्तित और कुटिल है। शका—किससे अनिर्वर्तित? समाधान—दूसरेके मनको प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे अनिर्वर्तित। जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है। सूत्रमे जो 'ऋजुविपुलमती' पद आया है वह ऋजुमति और विपुलमति इन पदोसे समसित होकर बना है। यहाँ एक ही मति शब्द पर्याप्त होनेसे दूसरे मति शब्दका प्रयोग नही किया। अथवा ऋजु और विपुल शब्दका कर्मधारय समास करनेके बाद इनका मति शब्दके साथ बहुव्रीहि समास कर लेना चाहिए। तब भी दूसरे मति शब्दकी आवश्यकता नही रहती। यह मन पर्ययज्ञान दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति।

§ 218. शंका—मन.पर्ययज्ञानके भेद तो कह दिये। अब उसका लक्षण कहना चाहिए।

ज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मनः परकीयमनःसंबन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मन पर्ययः। मतिज्ञानप्रसंग इति चेत् ? उक्तोत्तरं पुरस्तात्। अपेक्षाकारणं मन इति। परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्ष्यते[1]। तत्र ऋजुमतिर्मनःपर्ययः कालतो जघन्येन जीवानामात्मनश्च [2]द्वित्राणि भवग्रहणानि, उत्कर्षेण सप्ताष्टौ गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूतिपृथक्त्वं, उत्कर्षेण योजनपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं, न बहिः। द्वितीयः कालतो जघन्येन सप्ताष्टौ भवग्रहणानि, उत्कर्षेणासंख्येयानि गत्यागत्यादिभि. प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वं, उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलस्याभ्यन्तरं, न बहिः।

§ 219. उक्तयोरनयोः पुनरपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥24॥

§ 220. तदावरणक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः। प्रतिपतनं प्रतिपातः।

समाधान—वीर्यान्तराय और मन:पर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे आत्मामें जो दूसरेके मनके सम्बन्धसे उपयोग जन्म लेता है उसे मन.पर्ययज्ञान कहते हैं। शंका—यह ज्ञान मनके सम्बन्धसे होता है, अतः इसे मतिज्ञान होनेका प्रसंग आता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि इस शंकाका उत्तर पहले दे आये हैं। अर्थात् यहाँ मनकी अपेक्षामात्र है। दूसरेके मनमें अवस्थित अर्थको यह जानता है इतनी मात्र यहाँ मनकी अपेक्षा है। इनमेसे ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे जीवोंके और दो तीन भावोंको ग्रहण करता है, उत्कृष्टसे गति और आगतिकी अपेक्षा सात-आठ भवोंका कथन करता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे गव्यूतिपृथक्त्व और उत्कृष्टसे योजनपृथक्त्वके भीतरकी बात जानता है, इससे बाहरकी नही। विपुलमति कालकी अपेक्षा जघन्यसे सात-आठ भवोंको ग्रहण करता है, उत्कृष्टसे गति और आगतिकी अपेक्षा असंख्यात भवोंका कथन करता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे योजनापृथक्त्व और उत्कृष्टसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतरकी बात जानता है, इससे बाहरकी बात नही जानता।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रके छठवें अध्यायके दसवें सूत्रके राजवार्तिकमें शंका-समाधानके प्रसंगसे मन:पर्ययज्ञानकी चर्चा की है। वहाँ बतलाया है कि मन:पर्ययज्ञान अपने विषयमें अवधिज्ञानके समान स्वमुखसे प्रवृत्त नहीं होता है। किन्तु दूसरेके मनके सम्बन्धसे ही प्रवृत्त होता है, इसलिए जैसे मन अतीत और अनागत विषयोंका विचार तो करता है, पर साक्षात्कार नही करता उसी प्रकार मन:पर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यत् विषयोंको जानता तो है पर सीधे तौरसे साक्षात्कार नहीं करता। इसी प्रकार यह वर्तमान विषयको भी मनोगत होते पर विशेषरूपसे जानता है। राजवार्तिकका यह कथन इतना स्पष्ट है जिससे मन.पर्ययज्ञानकी उपयोगात्मक दशाका स्पष्ट आभास मिल जाता है। इसका आशय यह है कि करता तो है यह मन की पर्यायोंको ही विषय किन्तु तद्द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।

§ 219. पहले मन:पर्ययज्ञानके दो भेद कहे हैं उनका और विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा इन दोनोंमें अन्तर है ॥24॥

§ 220. मन:पर्ययज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मामें निर्मलता आती है

---

1. –पेक्षते आ. दि. 1, दि. 2। 2. –द्वित्रीणि मु.।

न प्रतिपातः अप्रतिपातः। उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात्प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति। क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावादप्रतिपातः। विशुद्धिश्च अप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ। ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम्। तयोर्विशेषस्तद्विशेषः। तत्र विशुद्ध्या तावत्—ऋजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरः। कथम्? इह यः कार्मणद्रव्यानन्तभागोऽन्त्यः सर्वावधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्यान्त्यो भाग ऋजुमतेर्विषयः। तस्य ऋजुमतिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागो विपुलमतेर्विषयः। अनन्तस्यानन्तभेदत्वात्। द्रव्यक्षेत्रकालतो विशुद्धिरुक्ता। भावतो विशुद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या, प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धियोगात्। अप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टः; स्वामिनां प्रवर्द्धमानचारित्रोदयत्वात्। ऋजुमतिः पुनः प्रतिपाती; स्वामिनां कषायोद्रेकाद्धीयमानचारित्रोदयत्वात्।

§ 221. यद्यस्य मनःपर्ययस्य प्रत्यात्ममयं विशेषः, अथानयोरवधिमनःपर्ययोः कुतो विशेष इत्यत आह—

उसे विशुद्धि कहते हैं। गिरनेका नाम प्रतिपात है और नहीं गिरना अप्रतिपात कहलाता है। उपशान्तकषाय जीवका चारित्र मोहनीयके उदयसे संयम शिखर छूट जाता है, जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीवका पतनका कारण न होनेसे प्रतिपात नहीं होता। इन दोनोंकी अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमतिमें भेद है। विशुद्धि यथा—ऋजुमतिसे विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विशुद्धतर है। शंका—कैसे? समाधान—यहाँ जो कार्मण द्रव्यका अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वावधिज्ञानका विषय है उसके भी अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमतिका विषय है। और इस ऋजुमतिके विषयके अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमतिका विषय है। अनन्तके अनन्त भेद हैं अत ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विशुद्धि कही। भावकी अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्यको विषय करनेवाला होनेसे ही जान लेनी चाहिए, क्योंकि इनके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम रूप विशुद्धि पायी जाती है, इसलिए ऋजुमतिसे विपुलमतिमें विशुद्धि अधिक होती है। अप्रतिपातकी अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है; क्योंकि इसके स्वामियोंके प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि इसके स्वामियोंके कषायके उदयसे घटता हुआ चारित्र पाया जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ मनःपर्यय ज्ञानके दोनों भेदोंमें अन्तर दिखलाया गया है। ऋजुमति स्थूल ज्ञान है और विपुलमति सूक्ष्मज्ञान। इसीसे इसका भेद स्पष्ट हो जाता है। यह विशुद्धिकृत भेद है। इससे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा पदार्थका ज्ञान करनेमें अन्तर पड़ जाता है। किन्तु इन दोनों ज्ञानोंके अन्तरका एक कारण और है जो कि प्रतिपात और अप्रतिपात शब्दसे पुकारा जाता है। प्रतिपातका अर्थ है गिरना और अप्रतिपातका अर्थ है नहीं गिरना। ऐसा नियम है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान उसीके होता है जो तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी क्षपक श्रेणी-पर चढ़ता है, किन्तु ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानके लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। वह तद्भव मोक्ष-गामीके भी हो सकता है और अन्यके भी हो सकता है। इसी प्रकार जो क्षपक श्रेणीपर चढता है उसके भी हो सकता है और जो उस पर नहीं चढ़कर उपशमश्रेणी पर चढ़ता है या नही भी चढ़ता है उसके भी हो सकता है। इसीसे ऋजुमति प्रतिपाती और विपुलमति अप्रतिपाती माना गया है। यह विशेषता योग्यताजन्य है, इसलिए इसका निर्देश अलगसे किया है।

§ 221. यदि इस मनःपर्ययज्ञानका अलग-अलग यह भेद है तो अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञानमें किस कारणसे भेद है? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥25॥

§ 222. विशुद्धि प्रसादः । क्षेत्रं यत्रस्थान्भावान्प्रतिपद्यते । स्वामी प्रयोक्ता । विषयो ज्ञेयः । तत्रावधेर्मनःपर्ययो विशुद्धतरः । कुतः ? सूक्ष्मविषयत्वात् । क्षेत्रमुक्तम्[1] । विषयो वक्ष्यते । स्वामित्वं प्रत्युच्यते । प्रकृष्टचारित्रगुणोपेतेषु वर्तते[2] प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु । तत्र चोत्पद्यमानः प्रवर्द्धमानचारित्रेषु न हीयमानचारित्रेषु । प्रवर्द्धमानचारित्रेषु चोत्पद्यमानः सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते नेतरेषु । ऋद्धिप्राप्तेषु केषुचिन्न सर्वेषु । [3]इत्यस्यायं स्वामिविशेषो । विशिष्टसंयमग्रहणं वा वाक्ये प्रकृतम् । अवधिः पुनश्चातुर्गतिकेष्विति स्वामिभेदादप्यनयोर्विशेषः ।

§ 223. इदानीं केवलज्ञानलक्षणाभिधानं प्राप्तकालम् । तदुल्लङ्घ्य ज्ञानानां विषयनिबन्धः परीक्ष्यते । कुतः ? तस्य 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । यद्येवमाद्ययोरेव तावन्मतिश्रुतयोर्विषयनिबन्ध उच्यतामित्यत आह—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥26॥

§ 224. निबन्धनं निबन्धः । कस्य ? विषयस्य । तद्विषयग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् । प्रकृतं विषयग्रहणम् । क्व प्रकृतम् ? 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' [4]इत्यत्र । अतस्तस्यार्थवशाद्वि-

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें भेद है ॥25॥

§ 222 विशुद्धिका अर्थ निर्मलता है । जिस स्थानमे स्थित भावोंको जानता है वह क्षेत्र है । स्वामीका अर्थ प्रयोक्ता है । विषय ज्ञेयको कहते हैं । सो इन दोनों ज्ञानोमे अवधिज्ञानसे मन पर्ययज्ञान विशुद्धतर है, क्योकि मन.पर्ययज्ञानका विषय सूक्ष्म है । क्षेत्रका कथन पहले कर आये है। विषयका कथन आगे करेंगे । यहाँ स्वामीका विचार करते हैं—मन.पर्ययज्ञान प्रमत्तसयतसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके उत्कृष्ट चारित्रगुणसे युक्त जीवोंके ही पाया जाता है । वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह वर्द्धमान चारित्रवाले जीवोके ही उत्पन्न होता है, घटते हुए चारित्रवाले जीवोके नही । वर्धमान चारित्रवाले जीवोमे उत्पन्न होता हुआ भी सात प्रकारकी ऋद्धियोमे-से किसी एक ऋद्धिको प्राप्त हुए जीवोके ही उत्पन्न होता है, अन्यके नही । ऋद्धिप्राप्त जीवोमे भी किन्हीके ही उत्पन्न होता है, सबके नही, इस प्रकार सूत्रमें इसका स्वामीविशेष या विशिष्ट सयमका ग्रहण प्रकृत है । परन्तु अवधिज्ञान चारों गतिके जीवोंके होता है, इसलिए स्वामियोके भेदसे भी इनमें अन्तर है ।

विशेषार्थ—यो तो अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञानमे मौलिक अन्तर है । अवधिज्ञान सीधे तौरसे पदार्थोको जानता है और मन.पर्ययज्ञान मनकी पर्यायरूपसे । फिर भी यहाँ अन्य आधारोंसे इन दोनो ज्ञानोमे अन्तर दिखलाया गया है । वे आधार चार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, स्वामी और विषय ।

§ 223. अब केवलज्ञानका लक्षण कहनेका अवसर है । किन्तु उसका कथन न कर पहले ज्ञानोके विषयका विचार करते है, क्योकि केवलज्ञानका लक्षण 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' यहाँ कहेगे । यदि ऐसा है तो सर्वप्रथम आदिमे आये हुए मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका कथन करना चाहिए । इसी बातको ध्यान मे रखकर आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति कुछ पर्यायोसे युक्त सब द्रव्योंमें होती है ॥26॥

§ 224. निबन्ध शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—निबन्धनं निबन्धः—जोड़ना, सम्बन्ध करना । शंका—किसका सम्बन्ध ? समाधान—विषयका । शंका—तो सूत्रमें विषय पदका ग्रहण

1 मुक्त विशेषो व–मु । 2 –तेऽप्रम–मु., दि, 1, 2 । 3. इत्यस्य स्वामिविशेषविशिष्टसंयमग्रहण वाक्ये कृतम् । अव–मु. ता, ना । 4 –येभ्य इत्यतस्त—दि. 1, दि. 2, आ, मु. ।

भपितपरिणामो भवतीति विषयस्य' इत्यभिसंबध्यते। 'द्रव्येषु' इति बहुवचननिर्देश सर्वेषां जीवधर्माधर्म [1]कालाकाशपुद्गलाना सग्रहार्थ.। तद्विशेषणार्थं 'असर्वपर्याय' ग्रहणम्। तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोविषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायैरनन्तैर-पीति। अत्राह– धर्मास्तिकायादीन्यतीन्द्रियाणि तेषु मतिज्ञानं न प्रवर्तते। अतः सर्वद्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तत इत्ययुक्तम्? नैष दोष., अनिन्द्रियाख्य करणमस्ति तदालम्बनो नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्धि-पूर्वक उपयोगोऽवग्रहादिरूप प्रागेवोपजायते। ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते।

§ 225. अथ मतिश्रुतयोरनन्तरनिर्देशार्हस्यावधे को विषयनिबन्ध इत्यत आह–

रूपिष्ववधेः ॥27॥

§ 226 'विषयनिबन्ध.' इत्यनुवर्तते। 'रूपिषु' इत्यनेन पुद्गलाः पुद्गलद्रव्यसंबन्धाश्च जीवा. परिगृह्यन्ते। रूपिष्वेवावधेर्विषयनिबन्धो [2]नारूपिष्विति नियमः क्रियते। रूपिष्वपि भवन्न सर्वपर्यायेषु, स्वयोग्येष्वेवेत्यवधारणार्थमसर्वपर्यायेष्वित्यभिसंबध्यते।

§ 227. अथ तदनन्तरनिर्देशभाजो मन.पर्ययस्य को विषयनिबन्ध इत्यत आह–

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥28॥

करना चाहिए? समाधान—नही करना चाहिए, क्योकि विषय पदका ग्रहण प्रकरण प्राप्त है। शंका—कहाँ प्रकरणमे आया है? समाधान—'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्य' इस सूत्रमे आया है। वहाँसे 'विषय' पदको ग्रहण कर अर्थके अनुसार उसकी विभक्ति बदल ली है, इसलिए यहाँ षष्ठी विभक्तिके अर्थमे उसका ग्रहण हो जाता है। सूत्रमे 'द्रव्येषु' बहुवचनान्त पदका निर्देश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सब द्रव्योका सग्रह करनेके लिए किया है। और इन सब द्रव्योंके विशेषणरूपसे 'असर्वपर्यायेषु' पदका ग्रहण किया है। वे सब द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयभावको प्राप्त होते हुए कुछ पर्यायोके द्वारा ही विषयभावको प्राप्त होते है, सब पर्यायोके द्वारा नही और अनन्त पर्यायोके द्वारा भी नही। शंका—धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय हैं। उनमे मतिज्ञानकी प्रवृत्ति नही हो सकती, अत 'सब द्रव्योमे मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती हैं' यह कहना अयुक्त है? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि अनिन्द्रिय नामका एक करण है। उसके आलम्बनसे नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप लब्धिपूर्वक अवग्रह आदिरूप उपयोग पहले ही उत्पन्न हो जाता है, अत तत्पूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान अपने योग्य इन विषयोमे व्यापार करता है।

§ 225 मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके अनन्तर निर्देशके योग्य अवधिज्ञानका विषय क्या है आगे सूत्र द्वारा इसी बातको बतलाते हैं—

अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति रूपी पदार्थोंमें होती है ॥27॥

§ 226 पिछले सूत्रसे 'विषयनिबन्ध' पदकी अनुवृत्ति होती है। 'रूपिषु' पद-द्वारा पुद्गलो और पुद्गलोमे बद्ध जीवोका ग्रहण होता है। इस सूत्र-द्वारा 'रूपी पदार्थोंमे ही अवधि-ज्ञानका विषय सम्बन्ध है, अरूपी पदार्थोंमे नहीं' यह नियम किया गया है। रूपी पदार्थोंमे होता हुआ भी उनकी सब पर्यायोमे नही होता, किन्तु स्वयोग्य पर्यायोमे ही होता है इस प्रकारका निश्चय करनेके लिए 'असर्वपर्यायेषु' पदका सम्बन्ध होता है।

§ 227 अब इसके अनन्तर निर्देशके योग्य मन पर्ययज्ञानका विषयसम्बन्ध क्या है इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनःपर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवें भागमें होती है ॥28॥

---

1 धर्माकाश—मु। 2 नारूपेष्विति—मु।

§ 228. यदेतद्रूपि[1] द्रव्यं सर्वावधिज्ञानविषयत्वेन समर्थितं तस्यानन्तभागीकृतस्यैकस्मिन्भागे मनःपर्ययः प्रवर्तते ।

§ 229. अथान्ते यन्निर्दिष्टं केवलज्ञानं तस्य को विषयनिबन्ध इत्यत आह—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥29॥

§ 230. द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्याया इति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । तद्विशेषणं 'सर्व' ग्रहणं प्रत्येकमभिसंबध्यते, सर्वेषु द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेष्विति । जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि ततोऽप्यनन्तानन्तानि पुद्गलद्रव्याणि च अणुस्कन्धभेदभिन्नानि[2], धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयस्तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु । द्रव्यं पर्यायजातं वा न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति । अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' इत्युच्यते ।

§ 231. आह विषयनिबन्धोऽवधृतो मत्यादीनाम् । इदं तु न निर्ज्ञातमेकस्मिन्नात्मनि स्वनिमित्तसंनिधानोपजनितवृत्तीनि ज्ञानानि यौगपद्येन कति भवन्तीत्युच्यते—

---

§ 228. जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञानका विषय है उसके अनन्त भाग करनेपर उसके एक भागमे मन पर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है ।

§ 229. अब अन्तमे जो केवलज्ञान कहा है उसका विषय क्या है यह बतलानेके लिए आगे का सूत्र कहते है—

केवलज्ञानकी प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंमें होती है ॥29॥

§ 230 सूत्रमे आये हुए द्रव्य और पर्याय इन दोनो पदोका इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है । तथा इन दोनोके विशेषरूपसे आये हुए 'सर्व' पदको द्रव्य और पर्याय इन दोनोके साथ जोड लेना चाहिए । यथा—सब द्रव्योमे और सब पर्यायोमे । जीव द्रव्य अनन्तानन्त है । पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तानन्तगुणे है । जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद है । धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन हैं और काल असख्यात हैं । इन सब द्रव्योकी पृथक्-पृथक् तीनो कालोमे होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं । इन सबमे केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है । ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्यायसमूह है जो केवलज्ञानके विषयके परे हो । केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है इसी बातका ज्ञान कराने के लिए सूत्रमे 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' पद कहा है ।

विशेषार्थ—यहाँ चार सूत्रोमे पाँचो ज्ञानोके विषयका निर्देश किया गया है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाँचो इन्द्रियो और मनकी सहायतासे प्रवृत्त होते है यह तो स्पष्ट ही है, इसलिए इनका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है । पर मन विकल्प-द्वारा रूपी और अरूपी सभी पदार्थोको जानता है, इसीसे इन दोनो ज्ञानोका विषय छहो द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोको बतलाया है । अवधिज्ञान यद्यपि बाह्य सहायताके विना प्रवृत्त होता है, पर वह क्षायोपशमिक होनेसे उसका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है । इसी कारणसे अवधिज्ञानका विषय रूपी पदार्थ कहा है । मन पर्ययज्ञान भी क्षायोपशमिक होता है, इसलिए उसका विषय यद्यपि रूपी पदार्थ ही है, पर यह रूपी पदार्थको मनकी पर्यायो-द्वारा ही ग्रहण करता है, इससे इसका विषय अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवें भागप्रमाण कहा है तथा केवलज्ञान निरावरण होता है, इसलिए उसका विषय सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें है ऐसा कहा है ।

§ 231 मत्यादिकके विषयसम्बन्धका निश्चय किया, किन्तु यह न जान सके कि एक

---

1. यद्रूपि—दि. 1, दि 2 । 2 भेदेन भि —मु ।

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥30॥

§ 232. एकशब्दः संख्यावाची, आदिशब्दोऽवयववचनः। एक आदिर्येषां तानि इमान्येकादीनि। भाज्यानि विभक्तव्यानि। यौगपद्येनैकस्मिन्नात्मनि। आ कुतः? आ चतुर्भ्यः। तद्यथा एकं तावत्केवलज्ञानं, न तेन सहान्यानि क्षायोपशमिकानि युगपदवतिष्ठन्ते। द्वे मतिश्रुते। त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा। चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि। न पञ्च सन्ति, केवलस्यासहायत्वात्।

आत्मामे एक साथ अपने-अपने निमित्तोके मिलनेपर कितने ज्ञान उत्पन्न हो सकते है, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

एक आत्मामें एक साथ एकसे लेकर चार ज्ञान तक भजनासे होते हैं ॥30॥

§ 232 'एक' शब्द सख्यावाची है और 'आदि' शब्द अवयववाची है। जिनका आदि एक है वे एकादि कहलाते हे। 'भाज्यानि' का अर्थ 'विभाग करना चाहिए' होता है। तात्पर्य यह है कि एक आत्मामे एक साथ एक ज्ञानसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते है। यथा—यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान होता है। उसके साथ दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ नही रह सकते। दो होते हैं तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते है। तीन होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मन पर्ययज्ञान होते है। तथा चार होते है तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान होते हैं। एक साथ पाँच ज्ञान नही होते, क्योकि केवलज्ञान असहाय है।

विशेषार्थ—यहाँ एक साथ एक आत्मामे कमसे कम कितने और अधिकसे अधिक कितने ज्ञान हो सकते है इस बातका निर्देश किया है। यह तो स्पष्ट है कि ज्ञान एक है, अत उसकी पर्याय भी एक कालमें एक ही हो सकती है। फिर भी यहाँ एक आत्मामे एक साथ कई ज्ञान होनेका निर्देश किया है सो उसका कारण अन्य है। बात यह है कि जब ज्ञान निवारण होता है तब तो उसमे किसी प्रकारका भेद नही किया जा सकता है, अतएव ऐसी अवस्थामे एक केवलज्ञान पर्यायका ही प्रकाश माना गया है। किन्तु ससार अवस्थामे जब ज्ञान सावरण होता है तब निमित्त भेदसे उसी ज्ञानको कई भागोमे विभक्त कर दिया जाता है। सावरण अवस्थामे जितने भी ज्ञान प्रकट होते है वे सब क्षायोपशमिक ही होते है और क्षयोपशम एक साथ कई प्रकारका हो सकता है, इसलिए सावरण अवस्थामे दो, तीन या चार ज्ञानकी सत्ता युगपत् मानी गयी है। पर इसका यह अर्थ नही कि जब दो, तीन या चार ज्ञानकी सत्ता रहती है तब वे सब ज्ञान उपयोगरूप हो सकते है। उपयोग तो एक कालमे एक ही ज्ञानका होता है, अन्य ज्ञान उस समय लब्धिरूपसे रहते हैं। आशय यह है कि ऐसा कोई क्षण नही जब ज्ञानकी कोई उपयोगात्मक पर्याय प्रकट न हो। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब ज्ञानकी पर्यायें हैं, इसलिए इनमेसे एक कालमे उपयोगात्मक एक ही पर्यायका उदय रहता है। निरावरण अवस्थामे मात्र केवलज्ञान पर्यायका उदय रहता है और सावरण अवस्थामे प्रारम्भकी चार पर्यायोमेसे एक कालमें किसी एक पर्यायका उदय रहता है। फिर भी तब युगपत् दो, तीन और चार ज्ञानोकी सत्ताके माननेका कारण एकमात्र निमित्तभेद है। जब मति और श्रुत इन दो पर्यायोके प्रकट होनेका क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब युगपत् दो ज्ञानोका सद्भाव कहा जाता है। जब मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मन पर्यय इन तीन पर्यायोके प्रकट होनेका क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब युगपत् तीन ज्ञानोका सद्भाव कहा जाता है और जब मति आदि चार पर्यायोके प्रकट होनेका क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब युगपत् चार ज्ञानोका सद्-

§ 233 अथ यथोक्तानि मत्यादीनि ज्ञानव्यपदेशमेव लभन्ते उतान्यथापीत्यत आह—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च[1] ॥31॥

§ 234. विपर्ययो मिथ्येत्यर्थ । कुत ? सम्यगधिकारात् । 'च'शब्दः समुच्चयार्थ । विपर्ययश्च सम्यक्चेति । कुतः पुनरेषां विपर्ययः ? मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् सरजस्क-कटुकालाबुगतदुग्धवत् । ननु च तत्राधारदोषाद् दुग्धस्य रसविपर्ययो भवति । न च तथा मत्यज्ञानादीनां विषयग्रहणे विपर्ययः । तथा हि, सम्यग्दृष्टिर्यथा चक्षुरादिभी रूपादीनुपलभते तथा मिथ्यादृष्टिरपि[2] मत्यज्ञानेन । यथा च सम्यग्दृष्टि श्रुतेन रूपादीन् जानाति निरूपयति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि श्रुताज्ञानेन । यथा चावधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टिः रूपिणोऽर्थानवगच्छति तथा मिथ्यादृष्टिर्विभङ्गज्ञानेनेति ।

§ 235. अत्रोच्यते—

[3]सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥32॥

§ 236. सद्विद्यमानमसदविद्यमानमित्यर्थः । तयोरविशेषेण यदृच्छया उपलब्धेर्विपर्ययो

भाव माना जाता है । यही कारण है कि प्रकृत सूत्रमे एक साथ एक आत्माके एक, दो, तीन या चार ज्ञान हो सकते है यह कहा है ।

§ 233 अब यथोक्त मत्यादिक ज्ञान व्यपदेशको ही प्राप्त होते है या अन्यथा भी होते हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र है—

मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय भी है ॥31॥

§ 234 विपर्ययका अर्थ मिथ्या है, क्योकि सम्यग्दर्शनका अधिकार है । 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थमे आया है । इससे यह अर्थ होता है कि मति, श्रुत, और अवधि विपर्यय भी है और समीचीन भी । **शंका**—ये विपर्यय किस कारणसे होते है ? **समाधान**—क्योकि मिथ्यादर्शनके साथ एक आत्मामे इनका समवाय पाया जाता है । जिस प्रकार रज सहित कडवी तूंबडीमे रखा हुआ दूध कडवा हो जाता है उसी सकार मिथ्यादर्शनके निमित्तसे ये विपर्यय होते है । कडवी तूंबडीमे आधारके दोषसे दूधका रस मीठेसे कडवा हो जाता है—यह स्पष्ट है, किन्तु उस प्रकार मत्यादि ज्ञानोकी विपयके ग्रहण करनेमे विपरीतता नही मालूम होती । खुलासा इस प्रकार है—जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि चक्षु आदिके द्वारा रूपादिक पदार्थोको ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी मत्यज्ञानके द्वारा रूपादिक पदार्थोको ग्रहण करता है । जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रुतके द्वारा रूपादिक पदार्थोको जानता है और उनका निरूपण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी श्रुतज्ञानके द्वारा रूपादिक पदार्थोको जानता है और उनका निरूपण करता है । जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थो को जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विभग ज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोको जानता है ।

§ 235 यह एक प्रश्न है जिसका समाधान करनेके लिए अगला सूत्र कहते हैं ।

वास्तविक और अवास्तविकके अन्तरके बिना यदृच्छोपलब्धि (जब जैसा जी मे आया उस रूप ग्रहण होने) के कारण उन्मत्तकी तरह ज्ञान भी अज्ञान हो जाता है ॥32॥

§ 236. प्रकृतमे 'सत्' का अर्थ विद्यमान और 'असत्' का अर्थ अविद्यमान है । इनकी

---

1. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । —पा यो. सू 1, 8 । 2 —रपि । यथा—दि 1, दि 2, आ । 3 'सदसदविसेसणाओ भवहेउजदिच्छिओवलम्भाओ । नाणफलाभावाओ मिच्छद्दिट्ठस्स अण्णाण ।'—वि भा. गा 115 ।

भवति। कदाचिद्रूपादि सदप्यसदिति प्रतिपद्यते, असदपि सदिति, कदाचित्सत्सदेव, असदप्यसदेवेति मिथ्यादर्शनोदयादध्यवस्यति। यथा पित्तोदयाकुलितबुद्धिर्मातरं भार्येति, भार्यामपि मातेति मन्यते। यदृच्छया[1] यदापि मातरं मातैवेति भार्यामपि भार्यैवेति च तदापि न तत्सम्यग्ज्ञानम्। एवं मत्यादीनामपि रूपादिषु विपर्ययो वेदितव्यः। तथा हि, कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्मन्यवस्थितो रूपाद्युपलब्धौ सत्यामपि कारणविपर्यासं भेदाभेदविपर्यासं स्वरूपविपर्यासं च जनयति।

§ 237. कारणविपर्यासस्तावद्—रूपादीनामेकं कारणममूर्तं नित्यमिति [2]केचित्कल्पयन्ति। [3]अपरे पृथिव्यादिजातिभिन्नाः परमाणवश्चतुस्त्रिद्व्येकगुणास्तुल्यजातीयानां कार्याणामारम्भका इति। [4]अन्ये वर्णयन्ति—पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकधर्मा वर्णगन्धरसस्पर्शाः, एतेषां समुदायो रूपपरमाणुरष्टक इत्यादि। [5]इतरे [6]वर्णयन्ति—पृथिव्यप्तेजोवायवः काठिन्यादिद्रवत्वाद्युष्णत्वादीरणत्वादिगुणा[7] जातिभिन्नाः परमाणवः कार्यस्यारम्भकाः।

§ 238. भेदाभेदविपर्यासः [8]कारणात्कार्यमर्थान्तरभूतमेवेति [9]अनर्थान्तरभूतमेवेति च परिकल्पना।

§ 239. स्वरूपविपर्यासो रूपादयो निर्विकल्पाः[10] सन्ति न सन्त्येव[11] वा। तदाकारपरिणतं विज्ञानमेव[12]। न च तदालम्बनं वस्तु बाह्यमिति। एवमन्यानपि परिकल्पनाभेदान् दृष्टेष्टविरुद्धा-

---

विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करनेसे विपर्यय होता है। कदाचित् रूपादिक विद्यमान हैं तो भी उन्हे अविद्यमान कहता है। और कदाचित् अविद्यमान वस्तुको भी विद्यमान कहता है। कदाचित् सत्को सत् और असत्को असत् ही मानता है। यह सब निश्चय मिथ्यादर्शनके उदयसे होता है। जैसे पित्तके उदयसे आकुलित बुद्धिवाला मनुष्य माताको भार्या और भार्याको माता मानता है। जब अपनी इच्छाकी लहरके अनुसार माताको माता और भार्याको भार्या ही मानता है तब भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। इसी प्रकार मत्यादिकका भी रूपादिकमे विपर्यय जानना चाहिए। खुलासा इस प्रकार है—आत्मामें स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिककी उपलब्धि होनेपर भी कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यासको उत्पन्न करता रहता है।

237. कारणविपर्यास यथा—कोई मानते हैं कि रूपादिकका एक कारण है जो अमूर्त और नित्य है। कोई मानते है कि पृथिवी जातिके परमाणु अलग हैं जो चार गुणवाले है। जल जातिके परमाणु अलग हैं जो तीन गुणवाले हैं। अग्नि जातिके परमाणु अलग हैं जो दो गुणवाले हैं और वायु जातिके परमाणु अलग हैं जो एक गुणवाले हैं। तथा ये परमाणु अपने समान जातीय कार्यको ही उत्पन्न करते हैं। कोई कहते हैं कि पृथिवी आदि चार भूत हैं और इन भूतोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं। इन सबके समुदायको एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं। कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये क्रमसे काठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और ईरणत्वादि गुणवाले अलग-अलग जातिके परमाणु होकर कार्यको उत्पन्न करते हैं।

238 भेदाभेदविपर्यास यथा—कारणसे कार्यको सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना।

§ 239 स्वरूपविपर्यास यथा—रूपादिक निर्विकल्प हैं, या रूपादिक हैं ही नही, या रूपादिकके आकाररूपसे परिणत हुआ विज्ञान ही है उसका आलम्बनभूत और कोई बाह्य पदार्थ

---

1. —च्छया मातर—मु, ता, ना। 2 सांख्या। 3 नैयायिका। 4 बौद्धा। 5. लौकायतिका। 6 —तरे कल्पयन्ति पृथि—आ, दि, 1। 7. —णत्वादिगमनादिगुणा —आ, दि 1, दि. 2। 8 नैयायिका। 9. सांख्या.। 10. बौद्धा। 11. नैयायिकाः। 12 योगाचारा.।

न्मिथ्यादर्शनोदयात्कल्पयन्ति तत्र च श्रद्धानमुत्पादयन्ति । ततस्तन्मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं [1]विभङ्गज्ञानं च भवति । सम्यग्दर्शनं पुनस्तत्त्वार्थाधिगमे श्रद्धानमुत्पादयति । ततस्तन्मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं च भवति ।

§ 240. आह प्रमाणं द्विप्रकारं वर्णितम् । प्रमाणैकदेशाश्च नयास्तदनन्तरोद्देशभाजो निर्देष्टव्या इत्यत आह—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥33॥

§ 241. एतेषां सामान्यविशेषलक्षणं वक्तव्यम् । सामान्यलक्षणं तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः[2] प्रयोगो नयः । स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयो द्रव्यार्थिकः । पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयः पर्यायार्थिकः । तयोर्भेदा नैगमादयः ।

§ 242. तेषां विशेषलक्षणमुच्यते—अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः । कश्चित्पुरुषं

नहीं हैं। इसी प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे ये जीव प्रत्यक्ष और अनुमानके विरुद्ध नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं और उनमे श्रद्धान उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका यह ज्ञान मत्यज्ञान,श्रुताज्ञान या विभंगज्ञान होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ के ज्ञानमे श्रद्धान उत्पन्न करता है अत. इस प्रकारका ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है।

विशेषार्थ—यहाँपर प्रारम्भके तीन ज्ञान विपर्यय होते है यह बतलाकर वे विपर्यय क्यो होते है यह बतलाया गया है। ससारी जीवकी श्रद्धा विपरीत और समीचीनके भेदसे दो प्रकारकी होती है। विपरीत श्रद्धावाले जीवको विश्वका यथार्थ ज्ञान नही होता। वह जगत्मे कितने पदार्थ हैं उनका स्वरूप क्या है यह नही जानता। आत्मा और परमात्माके स्वरूप बोधसे तो वह सर्वथा वचित ही रहता है। वह घटको घट और पटको पट ही कहता है, पर जिन तत्त्वोसे इनका निर्माण होता है उनका इसे यथार्थ बोध नही होने पाता। यही कारण है कि जीवकी श्रद्धाके अनुसार ज्ञान भी समीचीन ज्ञान और मिथ्या ज्ञान इन दो भागोमे विभक्त हो जाता है। यथार्थ श्रद्धाके होनेपर जो ज्ञान होते हैं उन्हे समीचीन ज्ञान कहते हैं और यथार्थ श्रद्धाके अभावमे होनेवाले ज्ञानोका नाम ही मिथ्याज्ञान है। ऐसे मिथ्याज्ञान तीन माने गये हैं—कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और विभंग ज्ञान। ये ही तीन ज्ञान मिथ्या होते है, अन्य नही, क्योकि ये ज्ञान विपरीत श्रद्धावालेके भी पाये जाते हैं। विपरीत श्रद्धा होती है इसका निर्देश मूल टीकामे किया ही है।

§ 240. दो प्रकारके प्रमाणका वर्णन किया। प्रमाणके एकदेशको नय कहते हैं। इनका कथन प्रमाणके अनन्तर करना चाहिए, अत· आगेका सूत्र कहते हैं—

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं ॥33॥

§ 241 इनका सामान्य और विशेष लक्षण कहना चाहिए। सामान्य लक्षण—अनेकान्तात्मक वस्तुमे विरोधके बिना हेतुकी मुख्यतासे साध्यविशेषकी यथार्थताके प्राप्त करानेमे समर्थ प्रयोगको नय कहते हैं। इसके दो भेद है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यका अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है और इसको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है। तथा पर्यायका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है और इसको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इन दोनो नयोके उत्तर भेद नैगमादिक हैं।

§ 242. अब इनका विशेष लक्षण कहते हैं—अनिष्पन्न अर्थमे संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नय नैगम है। यथा—हाथमें फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुषको देखकर कोई अन्य पुरुष

---

1. —ज्ञानमवध्यज्ञा—मु. । 2. —वणप्रयो—मु. ।

परिगृहीतपरशुं गच्छन्तमवलोक्य कश्चित्पृच्छति किमर्थं भवान्गच्छतीति। स आह प्रस्थमानेतुमिति। नासौ तदा प्रस्थपर्यायः सन्निहितः। तदभिनिर्वृत्तये सकल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारः। तथा एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कश्चित्पृच्छति किं करोति भवानिति। स आह ओदनं पचामीति। न तदौदनपर्यायः सन्निहितः, तदर्थे व्यापारे स प्रयुज्यते। एवंप्रकारो लोकसंव्यवहारः अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रविषयो नैगमस्य गोचरः।

§ 243. स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। सत्, द्रव्यं, घट इत्यादि। सदित्युक्ते सदिति वाग्विज्ञानानुप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानामविशेषेण सर्वेषां संग्रहः। द्रव्यमित्युक्तेऽपि द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्युपलक्षितानां जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां संग्रहः। तथा घट इत्युक्तेऽपि घटबुद्ध्यभिधानानुगमलिङ्गानुमितसकलार्थसंग्रहः। एवंप्रकारोऽन्योऽपि संग्रहनयस्य[1] विषयः।

§ 244. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। को विधिः? यः संग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः प्रवर्तत इत्ययं विधिः। तद्यथा—सर्वसंग्रहेण यत्सत्त्वं गृहीतं तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते। यत्सत्तद् द्रव्यं गुणो वेति। द्रव्येणापि संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवविशेषानपेक्षेण न शक्यः संव्यवहार इति जीवद्रव्यमजीवद्रव्य-

---

पूछता है आप किस कामके लिए जा रहे हैं। वह कहता है प्रस्थ लानेके लिए जा रहा हूँ। उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नही है, केवल उसके बनानेका सकल्प होनेसे उसमे प्रस्थ व्यवहार किया गया है। तथा ईंधन और जल आदिके लानेमे लगे हुए किसी पुरुषसे कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं। उसने कहा भात पका रहा हूँ। उस समय भात पर्याय सन्निहित नही है, केवल भातके लिए किये गये व्यापारमे भातका प्रयोग किया गया है। इस प्रकारका जितना लोकव्यवहार अनिष्पन्न अर्थके आलम्बनसे सकल्पमात्रको विषय करता है वह सब नैगम नयका विषय है।

§ 243. भेदसहित सब पर्यायोको अपनी जातिके अविरोध-द्वारा एक मानकर सामान्यसे सबको ग्रहण करनेवाला नय सग्रहनय है। यथा—सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' ऐसा कहनेपर सत् इस प्रकारके वचन और विज्ञानकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सत्ताके आधारभूत सब पदार्थों का सामान्यरूपसे सग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहनेपर भी 'उन-उन पर्यायोंको द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्तिसे युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद-प्रभेदोका सग्रह हो जाता है। तथा 'घट' ऐसा कहनेपर भी घट इस प्रकारकी बुद्धि और घट इस प्रकारके शब्दकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सब घट पदार्थोंका सग्रह हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी सग्रह नयका विषय है।

§ 244 सग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंका
करना व्यवहार नय है। शका—विधि क्या है ? समाधान—ज
उसीके आनुपूर्वी क्रमसे व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है।
वस्तु ग्रहण की गयी है वह अपने उत्तर भेदोंके विना व्यवहा
व्यवहार नयका आश्रय लिया जाता है। यथा—जो सत् है व
प्रकार सग्रह नयका विषय जो द्रव्य है वह जीव अजीव विशे
करानेमें असमर्थ है, इसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है
लिया जाता है। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जब तक न

---

1. सग्रहनय. ।।2।। सग्र—मु.। 2 यत्सत्प्र—मु., दि 1, दि 2, आ.।

मिति वा व्यवहार आश्रीयते। जीवाजीवावपि च संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति प्रत्येकं देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते। एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः।

§ 245. ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति[1] तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः। [2]पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते[3] अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। तच्च वर्तमानं समयमात्रम्। तद्विषयपर्यायमात्रग्राह्ययमृजुसूत्रः। ननु संव्यहारलोपप्रसङ्ग इति चेद्[4]? न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसव्यवहारः।

§ 246. लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः। तत्र लिङ्गव्यभिचारः—पुष्यस्तारका नक्षत्रमिति। संख्याव्यभिचारः—जलमापः, वर्षा ऋतुः, आम्रा वनम्[5], वरणा नगरमिति। साधनव्यभिचारः[6]—सेना[7] पर्वतमधिवसति। पुरुषव्यभिचारः—एहि[8] मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्ते पितेति। कालव्यभिचारः—विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता। [9]भावि कृत्यमासीदिति। उपग्रहव्यभिचारः—संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति। एवंप्रकारं व्यवहारमन्याय्य[10]

वे व्यवहार करानेमें असमर्थ है, इसलिए व्यवहारसे जीव द्रव्यके देव, नारकी आदिरूप और अजीव द्रव्यके घटादिरूप भेदोका आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार इस नयकी प्रवृत्ति वही तक होती है जहाँ तक वस्तुमे फिर कोई विभाग करना सम्भव नही रहता।

§ 245. ऋजु का अर्थ प्रगुण है। जो ऋजु अर्थात् सरलको सूत्रित करता है अर्थात् स्वीकार करता है वह ऋजुसूत्र नय है। यह नय पहले हुए और पश्चात् होनेवाले तीनो कालोके विषयोंको ग्रहण न करके वर्तमान कालके विषयभूत पदार्थोको ग्रहण करता है, क्योकि अतीतके विनष्ट और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे उनमे व्यवहार नही हो सकता। वह वर्तमान काल समयमात्र है और उसके विषयभूत पर्यायमात्रको विषय करनेवाला यह ऋजुसूत्र नय है। शंका—इस तरह सव्यवहारके लोपका प्रसग आता है? समाधान—नही, क्योकि यहाँ इस नयका विषयमात्र दिखलाया है, लोक सव्यवहार तो सब नयोके समूहका कार्य है।

§ 246. लिंग, सख्या और साधन आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला शब्दनय है। लिंगव्यभिचार यथा—पुष्य, तारका और नक्षत्र। ये भिन्न-भिन्न लिंगके शब्द है। इनका मिलाकर प्रयोग करना लिंगव्यभिचार है। सख्याव्यभिचार यथा—'जलं आप., वर्षा. ऋतु., आम्रा वनम्, वरणा. नगरम्' ये एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्द है। इनका विशेषणविशेष्यरूपसे प्रयोग करना सख्याव्यभिचार है। साधनव्यभिचार यथा—'सेना पर्वतमधिवसति' सेना पर्वतपर है। यहाँ अधिकरण कारकके अर्थमे सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है, इसलिए यह साधनव्यभिचार है। पुरुषव्यभिचार यथा—'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता'=आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊँगा, नही जाओगे। तुम्हारे पिता गये। यहाँ 'मन्यसे' के स्थानमे 'मन्ये' और 'यास्यामि'के स्थानमें 'यास्यसि' क्रियाका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह पुरुषव्यभिचार है। कालव्यभिचार यथा—'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता'=इसका विश्वदृश्वा पुत्र होगा। यहाँ 'विश्वदृश्वा' कर्ता रखकर 'जनिता' क्रियाका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह कालव्यभिचार है। अथवा, 'भाविकृत्यमासीत्'=होनेवाला कार्य हो गया। यहाँ होनेवाले कार्यको हो गया बतलाया गया है, इसलिए यह कालव्यभिचार है। उपग्रहव्यभिचार

---

1 यत इति ऋजु—मु, ता ना,। 2 पूर्वान्परा—मु। 3. —पयमाद—आ। 4 चेदस्य—दि. 1, दि. 2। 5 वनमिति। साध—आ, दि 1, दि 2, ता, ना। 6 —चार (कारकव्यभिचार) सेना—मु। 7. सेना वनमध्यास्ते। पुरु—ता। 8 'एहि मन्ये रथेन यास्यसीति।'—पा म भा 8।1।1।6। 9. 'भाविकृत्यमासीत्। पुत्रो जनिष्यमाण आसीत्। पा. म भा. 3।4।1।2। 10 -हारनय न्याय्य—मु दि. 1, दि. 2, आ.।

मन्यते; अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। लोकसमयविरोध इति चेत्? विरुध्यताम्। [1]तत्त्वमिह मीमांस्यते, न[2] भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ति।

§ 247. नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। यतो नानार्थान्समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढ समभिरूढः। गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु[3] वर्तमान पशावभिरूढ. । अथवा [4]अर्थगत्यर्थ. शब्दप्रयोगः। तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति। नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। इन्दनादिन्द्र. शकनाच्छक्र. पूर्दारणात् पुरदर इत्येवं सर्वत्र। अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्समभिरूढः। यथा क्व भवानास्ते? आत्मनीति। कुतः? वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात्। [5]यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्ति स्यात्, ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात्।

§ 248. येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवंभूत । स्वाभिप्रेतक्रियापरिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यदेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदैव गच्छति तदैव

यथा—'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति।' यहाँ 'सम्' और 'प्र' उपसर्गके कारण 'स्था' धातुका आत्मनेपद प्रयोग तथा 'वि' और 'उप' उपसर्गके कारण 'रम्' धातुका परस्मैपदमे प्रयोग किया गया है, इसलिए यह उपग्रहव्यभिचार है। यद्यपि व्यवहारमे ऐसे प्रयोग होते है तथापि इस प्रकारके व्यवहारको शब्दनय अनुचित मानता है, क्योकि पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नही बन सकता। शंका—इससे लोकसमयका (व्याकरण शास्त्रका) विरोध होता है। समाधान—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नही, क्योकि यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ पीड़ित पुरुषकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती।

§ 247. नाना अर्थोका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ़ नय कहलाता है। चूंकि जो नाना अर्थोको 'सम्' अर्थात् छोड़कर प्रधानतासे एक अर्थमे रूढ़ होता है वह समभिरूढ नय है। उदाहरणार्थ—'गो' इस शब्दके वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह 'पशु' इस अर्थमें रूढ़ है। अथवा अर्थका ज्ञान करानेके लिए शब्दोका प्रयोग किया जाता है। ऐसी हालतमे एक अर्थका एक शब्दसे ज्ञान हो जाता है, इसलिए पर्यायवाची शब्दोका प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दोमें भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार नाना अर्थोका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ़ नय कहलाता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होनेसे इनके अर्थ भी तीन हैं। इन्द्रका अर्थ आज्ञा ऐश्वर्यवान् है, शक्रका अर्थ समर्थ है और पुरन्दरका अर्थ नगरका दारण करनेवाला है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। अथवा जो जहाँ अभिरूढ है वह वहाँ 'सम्' अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ़ होनेके कारण समभिरूढ नय कहलाता है। यथा—आप कहाँ रहते हैं? अपनेमे, क्योकि अन्य वस्तुकी अन्य वस्तुमे वृत्ति नही हो सकती। यदि अन्यकी अन्यमें वृत्ति होती है ऐसा माना जाय तो ज्ञानादिककी और रूपादिककी आकाशमे वृत्ति होने लगे।

§ 248 जो वस्तु जिस पर्यायको प्राप्त हुई है उसीरूप निश्चय करानेवाले नयको एवभूत नय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्दका जो वाच्य है उसरूप क्रियाके परिणमनके समय ही

1. तत्त्वं मीमां—आ., दि 1, दि. 2। 2 न तु भैष—आ, दि 1। 3 —गादिषु वर्त—ता, ना।
4. 'अर्थगत्यर्थ. शब्दप्रयोगः। अर्थं सम्प्रत्याययिष्यामीति शब्द प्रयुज्यते। तत्रैकेनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य द्वितीयस्य च तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यम् 'उक्तार्थानामप्रयोग.' इति'—पा म भा 2।1।1।1।
5. यद्यस्यान्यत्र ना.।

गौर्न स्थितो न शयित इति। अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूत परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति। यथेन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्चेति।

§ 249. उक्ता नैगमादयो नयाः। उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च। एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्ति विभिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते। त एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थ-क्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः।

§ 250: [1]तन्त्वादय इवेति विषम उपन्यासः। तन्त्वादयो निरपेक्षा अपि कांचिदर्थमात्रां जनयन्ति। भवति हि कश्चित्प्रत्येकं [2]तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः। एकश्च बल्वजो बन्धने समर्थः। इमे पुनर्नया निरपेक्षा सन्तो न कांचिदपि सम्यग्दर्शनमात्रां प्रादुर्भावयन्तीति? नैष दोषः; अभिहितानवबोधात्। अभिहितमर्थमनवबुध्य परेणेदमुपालभ्यते। एतदुक्तं, निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति। यत्तु तेनोपदर्शितं न तत्पटादिकार्यम्। किं तर्हि? केवलं तन्त्वादिकार्यम्[3]। तन्त्वादि-कार्यमपि तन्त्वाद्यवयवेषु निरपेक्षेषु नास्त्येव इत्यस्मत्पक्षसिद्धिरेव। अथ तन्त्वादिषु पटादिकार्य

उस शब्दका प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयमे नही। जभी आज्ञा ऐश्वर्यवाला हो तभी इन्द्र है, अभिषेक करनेवाला नही और न पूजा करनेवाला ही। जब गमन करती हो तभी गाय है, बैठी हुई नही और न सोती हुई ही। अथवा जिसरूपसे अर्थात् जिस ज्ञानसे आत्मा परिणत हो उसी-रूपसे उसका निश्चय करनेवाला नय एवभूत नय है। यथा— इन्द्ररूप ज्ञानसे परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञानसे परिणत आत्मा अग्नि है।

§ 249. ये नैगमादिक नय कहे। उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले होनेके कारण इनका यह क्रम कहा है। पूर्व-पूर्व नय आगे-आगेके नयका हेतु है, इसलिए भी यह क्रम कहा है। इस प्रकार ये नय पूर्व-पूर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषयवाले हैं। द्रव्यकी अनन्त शक्ति है, इसलिए प्रत्येक शक्तिकी अपेक्षा भेदको प्राप्त होकर ये अनेक विकल्पवाले हो जाते है। ये सब नय गौण मुख्यरूपसे एक दूसरेकी अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शनके हेतु है। जिस प्रकार पुरुषकी अर्थक्रिया और साधनोकी सामर्थ्यवश यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदिक पट आदिक संज्ञाको प्राप्त होते है और स्वतन्त्र रहनेपर कार्यकारी नही होते उसी प्रकार ये नय समझने चाहिए।

§ 250. **शका**—प्रकृतमे 'तन्त्वादय इव' विषम दृष्टान्त है; क्योकि तन्तु आदिक निर-पेक्ष रहकर भी किसी न-किसी कार्यको जन्म देते ही है। देखते है कि कोई एक तन्तु त्वचाकी रक्षा करनेमे समर्थ है और एक वल्कल किसी वस्तुको बाँधनेमे समर्थ है। किन्तु ये नय निरपेक्ष रहते हुए थोडा भी सम्यग्दर्शनरूप कार्यको नही पैदा कर सकते है? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि जो कुछ कहा गया है उसे समझे नही। कहे गये अर्थको समझे बिना दूसरेने यह उपालम्भ दिया है। हमने यह कहा है कि निरपेक्ष तन्तु आदिमे पटादि कार्य नही पाया जाता। किन्तु शकाकारने जिसका निर्देश किया है वह पटादिका कार्य नही है। **शका**— तो वह क्या है? **समाधान**—केवल तन्तु आदिका कार्य है। तन्तु आदिका कार्य भी सर्वथा निरपेक्ष तन्तु आदिके

1. तन्त्वादिवदेप विष—आ, दि 1, दि 2, ता ना। 2 'एकस्तन्तुस्त्वक्त्राणेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च कम्बल समर्थ × × एकश्श वल्वजो बन्धनेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च रज्जु समर्था भवति। विषम उपन्यास। भवति हि तत्र या च यावती चार्थमात्रा। भवति हि कश्चित्प्रत्येकस्तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः। × × एकश्च वल्वजो वन्धने समर्थः।' पा म भा 1।2।2।45। 3 कार्यम्। तर्हि तन्त्वा—ता, ना। 4. न्यायस्य। ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्व नयाना चैव लक्षणम्। ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम् ॥ इति' प्रतिष्वेव पाठ.।

शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते। नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात्सम्यग्दर्शनहेतुत्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य[1]।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसञ्ज्ञायां प्रथमोऽध्यायः।

अवयवोमे नही पाया जाता, इसलिए इससे हमारे पक्षका ही समर्थन होता है। यदि यह कहा जाय कि तन्तु आदिमे पटादि कार्य शक्तिकी अपेक्षा है ही तो यह बात बुद्धि और अभिधान—शब्दरूप निरपेक्ष नयोके विषयमे भी जानना चाहिए। उनमे भी ऐसी शक्ति पायी जाती है जिससे वे कारणवश सम्यग्दर्शनके हेतुरूपसे परिणमन करने मे समर्थ हैं, इसलिए दृष्टान्त का दार्ष्टान्तसे साम्य ही है।

विशेषार्थ—प्रमाणके भेद-प्रभेदोका कथन करनेके बाद यहाँ नयोका निर्देश किया गया है। नय श्रुतज्ञानका एक भेद है यह पहले ही बतला आये हैं। यहाँ आलम्बनकी प्रधानतासे उसके सात भेद किये गये है। मुख्यतः आलम्बनको तीन भागोमे विभक्त किया जा सकता है, उपचार, अर्थ और शब्द। पहला नैगमनय उपचारनय होकर भी अर्थनय है। सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय है और शेष तीन शब्दनय हैं। आशय यह है कि नैगम नयकी प्रवृत्ति उपचारकी प्रधानतासे होती है, इसलिए इसे मुख्यता से उपचार नय कहा है। वैसे तो इसकी परिगणना अर्थनयमे ही की गयी है। सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रकी प्रवृत्ति अर्थकी प्रधानतासे होती है, इसलिए इन्हे अर्थनय कहा है और शब्द, समभिरूढ तथा एवभूत नयकी प्रवृत्ति शब्दकी प्रधानतासे होती है, इसलिए इन्हे शब्द नय कहा है। जैसा कि हमने सकेत किया है कि नैगमनयका समावेश अर्थनयोमे किया जाता है, किन्तु शेष अर्थनयोंसे नैगमनयको अर्थनय माननेमे मौलिक भेद है। बात यह है कि उपचारकी प्रधानता से वस्तुको स्वीकार करना यह नैगमनयका काम है, शेष अर्थनयोका नही, इसलिए इसे उपचार नय कहा है। शेष अर्थनय तो भेदाभेद या सामान्य विशेषकी प्रधानतासे सीधा ही वस्तुको विषय करते है वहाँ उपचारको विशेष स्थान नही, इसलिए हमने अर्थनयोसे नैगमनयको पृथक् बतलाया है। माना कि नैगमनय भी गौण मुख्यभावसे भेदाभेद या सामान्यविशेषको विषय करता है पर इन सबकी जडमे उपचार काम करता है इसलिए नैगमनय मुख्यत उपचारनय ही है। सिद्धसेन दिवाकरने नैगमनयको नय ही नही माना है इसका कारण यह उपचार ही है। उनके मतसे सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमे उपचारको कहाँ तक स्थान दिया जाय यह एक प्रश्न तो है ही। वस्तुस्पर्शी विकल्प और वस्तुमे आरोपित विकल्प इनमे बड़ा अन्तर है। वस्तुस्पर्शी विकल्पोको सम्यग्ज्ञानकी कोटिमे स्थान देना तो अनिवार्य है, किन्तु यदि वस्तुमे आरोपित विकल्पोको सम्यग्ज्ञानकी कोटिमे स्थान दिया जाय तो अनवस्थाकी सीमा ही न रहे यह एक भय था, सम्भवतः इसी कारण आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने नय प्रकरणमे नैगमका नामोल्लेख नही किया है। किन्तु ऐसा उपचार, जो परम्परासे ही सही मूल कार्यका ज्ञान करानेमे सहायक हो और जिससे अवास्तविक भ्रम फैलनेका भय न हो या जो वस्तुका विपरीतरूपसे बोध न कराकर वस्तुके गूढतम तत्त्वकी ओर इशारा करता हो, ग्राह्य है ऐसा मानकर उपचार प्रधान नैगमनयको नयप्रकरणमे स्थान दिया गया है। इससे विचार करने की परिधि बढ जाती है और सम्यग्ज्ञानके जनक समग्र विचारोका वर्गीकरण करनेमे सहायता मिलती है। यदि नैगमनयकी श्रेणीमे जो विचार आते है उन्हे मिथ्या मानकर सर्वथा छोड दिया जाता है—सम्यग्ज्ञानकी श्रेणीमे स्थान नही दिया जाता है तो अभेदकी ओर ले जानेवाले जितने विचार है उनकी भी यही गति होनी चाहिए। यदि उनसे वस्तुके स्वरूपका विश्लेषण करनेमे सहायता मिलती है, इसलिए उनकी नयकी श्रेणीमे परिगणना की जाती है तो यही बात नैगमनयके ऊपर भी लागू करनी चाहिए। इन नयोका सामान्य और विशेष स्वरूप टीकामे दिया ही

है, इसलिए यहाँ इस विषयमे विशेष नहीं लिखा गया है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्याय-द्वारा वस्तुको ग्रहण करता है और शब्दादिक नय शब्दों-द्वारा वर्तमान पर्यायमुखेन वस्तुको ग्रहण करते हैं, इसलिए इन नयोंका विषय द्वित्व नही हो सकता। यही कारण है कि शब्दनयके विषयका निरूपण करते समय विशेषण-विशेषभाव आदिसे एक साथ प्रयुक्त किये गये एकवचनान्त और द्विवचनान्त आदि शब्दके वाच्य आदि इसके अविषय बतलाये हैं और समभि ढ़के विषय-का निरूपण करते समय एक शब्दके अनेक अर्थ या एक अर्थमें अनेक शब्दोंका प्रयोग करना इसका अविषय बतलाया है, क्योंकि एकवचनान्त शब्दका वाच्य अन्यार्थ है और द्विवचनान्त शब्दका वाच्य अन्यार्थ है, इसलिए शब्द नय इनको एक वाच्य रूपसे ग्रहण नही कर सकता। इसी प्रकार गो शब्दका गाय अर्थ अन्यार्थ है और वाणीरूप अर्थ अन्यार्थ है, इसलिए समभिरूढ़ नय एक शब्दद्वारा इन अर्थोको ग्रंहण नही कर सकता। इसी प्रकार सभी नयोंके विषयको समझना चाहिए। नय अंश-द्वारा वस्तुको स्पर्श करनेवाला एक विकल्प है। प्रमाण ज्ञानके समान यह समग्र वस्तुको स्पर्श नही करता, इसलिए ही निरपेक्ष नयको मिथ्या और सापेक्ष नयको सम्यक् कहा गया है। इस विषयका विशेष खुलासा और सब नयोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता का विचार मूलमें किया ही है। इस प्रकार नय सात हैं और वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भागोंमें बटे हुए हैं यह निश्चित होता है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामावली तत्त्वार्थवृत्तिमें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

§ 251. आह, सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपदिष्टेषु जीवादिष्वादावुपन्यस्तस्य जीवस्य किं स्वतत्त्वमित्युच्यते—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥1॥

§ 252. आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। यथा कतकादिद्रव्यसंबन्धादम्भसि पंकस्य उपशमः। क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पंकस्यात्यन्ताभावः। उभयात्मको मिश्रः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्यसंबन्धात्पंकस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिः। द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः। द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः। एवं क्षायिकः क्षायोपशमिकः औदयिकः पारिणामिकश्च। त एते पञ्च भावा असाधारणा जीवस्य स्वतत्त्वमित्युच्यन्ते।

§ 253. सम्यग्दर्शनस्य प्रकृतत्वात्तस्य त्रिषु विकल्पेषु औपशमिकमादौ लभ्यत इति तस्यादौ ग्रहणं क्रियते। तदनन्तरं क्षायिकग्रहणम्; तस्य प्रतियोगित्वात् संसार्यपेक्षया द्रव्यतस्ततोऽसंख्येयगुणत्वाच्च। तत उत्तरं मिश्रग्रहणम्; तदुभयात्मकत्वात्ततोऽसंख्येयगुणत्वाच्च। तेषां सर्वेषामनन्तगुणत्वाद् औदयिकपारिणामिकग्रहणमन्ते क्रियते। अत्र द्वन्द्वनिर्देशः कर्तव्यः—औपशमिकक्षायिक-

---

§ 251 सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे जीवादि पदार्थोका कथन किया। उनके आदिमे जो जीव पदार्थ आया है उसका स्वतत्त्व क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व है ॥1॥

§ 252 जैसे कतक आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलमे कीचडका उपशम हो जाता है उसी प्रकार आत्मामे कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे प्रकट न होना उपशम है। जैसे उसी जलको दूसरे साफ बर्तनमें बदल देनेपर कीचडका अत्यन्त अभाव हो जाता है वैसे ही कर्मोका आत्मासे सर्वथा दूर हो जाना क्षय है। जिस प्रकार उसी जलमे कतकादि द्रव्यके सम्बन्धसे कुछ कीचडका अभाव हो जाता है और कुछ बना रहता है उसी प्रकार उभयरूप भाव मिश्र है। द्रव्यादि निमित्तके वशसे कर्मोके फलका प्राप्त होना उदय है। और जिनके होनेमे द्रव्यका स्वरूपलाभमात्र कारण है वह परिणाम है। जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है वह औपशमिक भाव है। इसी प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावोकी व्युत्पत्ति कहनी चाहिए। ये पाँच भाव असाधारण हैं, इसलिए जीवके स्वतत्त्व कहलाते है।

§ 253 सम्यग्दर्शनका प्रकरण होनेसे उसके तीन भेदोमेसे सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है अतएव औपशमिक भावको आदिमे ग्रहण किया है। क्षायिक भाव औपशमिक भावका प्रतियोगी है और ससारी जीवोकी अपेक्षा औपशमिक सम्यग्दृष्टियोसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि असख्यातगुणे है अत औपशमिक भावके पश्चात् क्षायिक भावको ग्रहण किया है। मिश्रभाव इन दोनोरूप होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियोसे असख्यातगुणे होते है, अत तत्पश्चात् मिश्रभावको ग्रहण किया है। इन सबसे अनन्तगुणे होनेके कारण इन सबके अन्तमे औदयिक और पारिणामिक भावोको रखा है। शंका—

मिश्रौदयिकपारिणामिका इति। तथा सति हि 'च'शब्दो न कर्तव्यो भवति। नैवं शङ्क्यम्; अन्यगुणापेक्षया इति प्रतीयेत। वाक्ये पुन सति 'च'शब्देन प्रकृतोभयानुकर्षः कृतो भवति। तर्हि क्षायोपशमिकग्रहणमेव कर्तव्यमिति चेत्। न; गौरवात्। मिश्रग्रहणं मध्ये क्रियते उभयापेक्षार्थम्। भव्यस्य औपशमिकक्षायिकौ भावौ। मिश्रः पुनरभव्यस्यापि भवति, औदयिकपारिणामिकाभ्यां सह भव्यस्यापीति। भावापेक्षया तल्लिङ्गसंख्याप्रसङ्गः स्वतत्त्वस्येति चेत्? न; उपात्तलिंगसंख्यत्वात्[1]। तद्भावस्तत्त्वम्। स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वमिति।

§ 254. अत्राह तस्यैकस्यात्मनो ये भावा औपशमिकादयस्ते किं भेदवन्त उताभेदा इति। अत्रोच्यते, भेदवन्तः। यद्येवं, भेदा उच्यन्तामित्यत आह—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥2॥

§ 255. द्व्यादीनां संख्याशब्दानां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन सह स्वपदार्थेऽन्यपदार्थे वा वृत्ति-

---

यहाँ 'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' इस प्रकार द्वन्द्व समास करना चाहिए। ऐसा करनेसे सूत्रमें दो 'च' शब्द नही रखने पड़ते है। **समाधान**—ऐसी शका नही करनी चाहिए, क्योंकि सूत्रमें यदि 'च' शब्द न रखकर द्वन्द्व समास करते तो मिश्रकी प्रतीति अन्य गुणकी अपेक्षा होती। किन्तु वाक्यमे 'च' शब्दके रहनेपर उससे प्रकरणमे आये हुए औपशमिक और क्षायिक भावका अनुकर्षण हो जाता है। **शंका**—तो फिर सूत्रमे 'क्षायोपमिक' पदका ही ग्रहण करना चाहिए? **समाधान**—नही, क्योकि क्षायोपशमिक पदके ग्रहण करनेमे गौरव है, अत इस दोषको दूर करनेके लिए क्षायोपशमिक पदका ग्रहण न करके मिश्र पद रखा है। दोनोकी अपेक्षासे मिश्र पद मध्यमे रखा है। औपशमिक और क्षायिकभाव भव्यके ही होते है। किन्तु मिश्रभाव अभव्यके भी होता है। तथा औदयिक और पारिणामिक भावोके साथ भव्यके भी होता है। **शंका**—भावोके लिंग और सख्या के समान स्वतत्त्वपदका वही लिग और सख्या प्राप्त होती है। **समाधान**—नही, क्योकि जिस पदको जो लिग और सख्या प्राप्त हो गयी है उसका वही लिंग और सख्या बनी रहती है। स्वतत्त्वका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—स्व तत्त्व स्वतत्त्वम्—जिस वस्तुका जो भाव है वह तत्त्व है और स्व तत्त्व स्वतत्त्व है।

विशेषार्थ—पाँच भावोमे प्रारम्भके चार भाव निमित्तकी प्रधानतासे कहे गये है और अन्तिम भाव योग्यताकी प्रधानतासे। जगमे जितने कार्य होते है उनका विभागीकरण इसी हिसाबसे किया जाता है। कही निमित्तको प्रमुखता दी जाती है और कही योग्यताको। पर इससे अन्य वस्तुका कर्तृत्व अन्यमे मानना उचित नही। ऐसे विभागीकरणके दिखलानेका इतना ही प्रयोजन है कि जहाँ जिस कार्यका जो सुनिश्चित निमित्त हो उसका परिज्ञान हो जावे। यो तो कार्य अपनी योग्यतासे होता है, किन्तु जिसका जिसके होने के साथ सुनिश्चित अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह उसका सुनिश्चित निमित्त कहा जाता है। इस हिसावसे विचार करनेपर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार नैमित्तिक भाव कहलाते है।

§ 254. उस एक आत्माके जो औपशमिक आदि भाव है, उनके कोई भेद हैं या नही? भेद हैं। यदि ऐसा है तो इनके भेदोका कथन करना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त पाँच भावोके क्रमसे दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ॥2॥

§ 255. सख्यावाची दो आदि शब्दोका द्वन्द्व समास करके पश्चात् उनका भेद शब्दके

---

1. सख्यात्वात्—मु.। 2. त्रयः। त एक भेदा—मु.।

येदितव्या। द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय[2]। ते च ते भेदाश्च, त एव भेदा येषामिति वा वृत्तिर्द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति। यदा स्वपदार्थे वृत्तिस्तदा औपशमिकादीनां[1] भावानां द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा इत्यभिसंबन्धः क्रियते; अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति। यदान्यपदार्थे वृत्तिस्तदा निर्दिष्टविभक्त्यन्ता एवाभिसंबध्यन्ते, औपशमिकादयो भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति। 'यथाक्रम'वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम्। औपशमिको द्विभेद.। क्षायिको नवभेदः। मिश्रोऽष्टादशभेदः। औदयिक एकविंशतिभेदः। पारिणामिकस्त्रिभेद इति।

§ 256. यद्येवमौपशमिकस्य कौ द्वौ भेदावित्यत आह—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥3॥

§ 257. व्याख्यातलक्षणे सम्यक्त्वचारित्रे। औपशमिकत्वं कथमिति चेत्? उच्यते—चारित्रमोहो द्विविध. कषायवेदनीयो नोकषायवेदनीयश्चेति। तत्र कषायवेदनीयस्य भेदा अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः। दर्शनमोहस्य त्रयो भेदाः सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वमिति। आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्।

§ 258. अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशम? काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्–कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः। अपरा

साथ स्वपदार्थमे या अन्यपदार्थमे समास जानना चाहिए। स्वपदार्थ प्रधान समास यथा—द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च इति द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय, ते एव भेदा. इति द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा। अन्यपदार्थप्रधान समास यथा—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा येषा ते द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा। जब स्वपदार्थमे समास करते हैं तब औपशमिक आदि भावोके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेते हैं। यद्यपि पूर्व सूत्रमे औपशमिक आदि पदको षष्ठी विभक्ति नही है तो भी अर्थवश विभक्ति बदल जाती है। और जब अन्य पदार्थोमे समास करते है तब विभक्ति बदलनेका कोई कारण नही रहता। सूत्रमे इनकी विभक्तिका जिस प्रकार निर्देश किया है तदनुसार सम्बन्ध हो जाता है। सूत्रमे 'यथाक्रम' वचन यथासख्याके ज्ञान करानेके लिए दिया है। यथा—औपशमिक भावके दो भेद हैं, क्षायिकके नौ भेद है. मिश्रके अठारह भेद है, औदयिकके इक्कीस भेद है और पारिणामिकके तीन भेद हैं।

§ 256 यदि ऐसा है तो औपशमिकके दो भेद कौन-से हैं? इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

औपशमिक भावके दो भेद है—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ॥3॥

§ 257 सम्यक्त्व और चारित्रके लक्षणका व्याख्यान पहले कर आये हैं। **शंका**—इनके औपशमिकपना किस कारणसे है? **समाधान**—चारित्रमोहनीयके दो भेद है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। इनमे-से कषायवेदनीयके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद और दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद—इन सातके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

§ 258 **शंका**—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोंके उदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए इनका उपशम कैसे होता है? **समाधान**—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अब यहाँ काललब्धिको बतलाते है—कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन नाम-

---

1. –दीना द्वि—मु.

कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति ? अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। 'आदि'शब्देन जातिस्मरणादि परिगृह्यते।

§ 259. कृत्स्नस्य मोहनीयस्योपशमादौपशमिकं चारित्रम्। तत्र सम्यक्त्वस्यादौ वचनं; तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य।

§ 260. यः क्षायिको भावो नवविध उद्दिष्टस्तस्य भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥4॥

§ 261. 'च'शब्दः सम्यक्त्वचारित्रानुकर्षणार्थः। ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षयात्केवलज्ञानं

के कालके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके योग्य होता है, इससे अधिक कालके शेष रहनेपर नही होता यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धिका सम्बन्ध कर्म स्थितिसे है। उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मोके शेष रहनेपर या जघन्य स्थितिवाले कर्मोके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वका लाभ नही होता। **शंका**—तो फिर किस अवस्थामे होता है ? **समाधान**—जब बँधनेवाले कर्मोकी स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम पडती है और विशुद्ध परिणामोके वशसे सत्तामे स्थित कर्मोकी स्थिति सख्यात हजार सागरोपम कम अन्त.कोडाकोडी सागरोपम प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके योग्य होता है। एक काललब्धि भवकी अपेक्षा होती है—जो भव्य है, सज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। 'आदि' शब्दसे जातिस्मरण आदिका ग्रहण करना चाहिए।

§ 259 समस्त मोहनीय कर्मके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है। इनमेसे 'सम्यक्त्व' पदको आदिमे रखा है, क्योकि चारित्र सम्यक्त्व पूर्वक होता है।

विशेषार्थ—उपशम दो प्रकारका है—करणोपशम और अकरणोपशम। कर्मोका अन्तरकरण होकर जो उपशम होता है वह करणोपशम कहलाता है। ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो का ही होता है, इसलिए उपशम भावके दो ही भेद बतलाये है। किन्तु इतनी विशेषता है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अन्तरकरण उपशम नही होता, इसलिए जहाँ भी इसके उपशमका विधान किया गया है वहाँ इसका विशुद्धि विशेषसे पाया गया अनुदयोपशम ही लेना चाहिए। औपशमिक सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहनीयका तो अन्तरकरण उपशम होता है व अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अनुदयरूप उपशम—यह उक्त कथनका भाव है। प्रकृतमे जिस जीवके औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उसकी योग्यताका निर्देश करते हुए ऐसी चार योग्यताएँ वतलायी है। विशेष इस प्रकार है—पहली योग्यता अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण कालकी है। जिस जीवके ससारमे रहनेका इतना काल शेष रहा है उसे ही सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है। पर इतने कालके शेष रहनेपर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनी ही चाहिए ऐसा कोई नियम नही है। इसके पहले सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होती इतना सुनिश्चित है।

§ 260. जो क्षायिकभाव नौ प्रकारका कहा है उसके भेदोके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्षायिक भावके नौ भेद हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ॥4॥

§ 261. सूत्रमे 'च' शब्द सम्यक्त्व और चारित्रके ग्रहण करनेके लिए आया है। ज्ञाना-

क्षायिक तथा केवलदर्शनम् । दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम् । लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्‌गलाः संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य[1] तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिकः । यतः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषा प्रादुर्भवन्ति । निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोग क्षायिकः । यतः सिंहासनचामरच्छत्रत्रयादयो विभूतयः । वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तक्षयादाविर्भूतमनन्तवीर्यं क्षायिकम् । पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनामत्यन्तक्षयात्क्षायिक सम्यक्त्वम् । चारित्रमपि तथा । यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः ? नैष दोषः; शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् । तेषां तदभावे तदप्रसंग. । कथं तर्हि तेषा सिद्धेषु वृत्तिः ? [2]परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः । केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत् ।

वरण कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक केवलज्ञान होता है । इसी प्रकार केवलदर्शन भी होता है । दानान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोके समुदायका उपकार करनेवाला क्षायिक अभयदान होता है । समस्त लाभान्तराय कर्मके क्षयके कवलाहार क्रियासे रहित केवलियोके क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीरको बल प्रदान करनेमे कारणभूत, दूसरे मनुष्योको असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होनेवाले, परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय सम्बन्धको प्राप्त होते हैं । समस्त भोगान्तराय कर्मके क्षयसे अतिशयवाले क्षायिक अनन्त भोगका प्रादुर्भाव होता है । जिससे कुसुमवृष्टि आदि अतिशय विशेष होते है । समस्त उपभोगान्तरायके नष्ट हो जानेसे अनन्त क्षायिक उपभोग होता है । जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं । वीर्यान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक अनन्तवीर्य प्रकट होता है । पूर्वोक्त सात प्रकृतियोके अत्यन्त विनाशसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है । इसी प्रकार क्षायिक चारित्रका स्वरूप समझना चाहिए । **शंका**—यदि क्षायिक दान आदि भावोके निमित्तसे अभयदान आदि कार्य होते हैं तो सिद्धोमे भी उनका प्रसग प्राप्त होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नही हैं, क्योकि इन अभयदान आदिके होनेमे शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रहती है । परन्तु सिद्धोके शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्म नही होते, अत उनके अभयदान आदि प्राप्त नही होते । **शंका**—तो सिद्धोके क्षायिक दान आदि भावोका सद्‌भाव कैसे माना जाय ? **समाधान**—जिस प्रकार सिद्धोके केवलज्ञान रूपसे अनन्तवीर्यका सद्‌भाव माना गया है उसी प्रकार परमानन्द और अव्याबाध रूपसे ही उनका सिद्धोके सद्‌भाव है ।

विशेषार्थ—घातिकर्मोके चार भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय । इनमे-से ज्ञानावरणके अभावसे क्षायिक ज्ञान, दर्शनावरणके अभावसे क्षायिक दर्शन, मोहनीयके अभावसे क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र तथा अन्तरायके अभावसे क्षायिक दानादि पाँच लब्धियाँ होती हैं । इसीसे क्षायिक भावके नौ भेद किये हैं । यद्यपि अघाति कर्मोके अभावसे जीवके क्षायिक अगुरुलघु आदि गुण प्रकट होते है पर वे अनुजीवी न होनेमे उनका यहाँ ग्रहण नही किया है । प्रश्न यह है कि टीकामे जो अभयदान आदिको शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्मकी अपेक्षा रखनेवाले क्षायिक दान आदिके कार्य बतलाये हैं सो ऐसा बतलाना कहाँ तक उचित है ? बात यह है कि ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि तीर्थंकरके गर्भमे आनेपर छह महीना पहलेसे भक्तिवश देव आकर, जिस नगरीमे तीर्थंकर जन्म लेते हैं वहाँ रत्न

1. —यस्यात्यन्ताभा—मु । 2. —मानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपे—मु । —मानन्दाव्याबाधसुखरूप—आ, दि 1, दि. 2 ।

§ 262. य उक्तः क्षायोपशमिको भावोऽष्टादशविकल्पस्तद्भेदनिरूपणार्थमाह—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥5॥

§ 263. चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रित्रिपञ्च[1]। ते भेदाः यासां ताश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः। यथाक्रममित्यनुवर्तते। तेनाभिसंबन्धाच्चतुरादिभिर्ज्ञानादीन्यभिसंबध्यन्ते। चत्वारि ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि, त्रीणि दर्शनानि, पञ्च लब्धय इति। सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदय-

---

वर्षा करते है। छप्पन कुमारिकाएँ आकर माताकी सेवा करती है, गर्भशोधन करती है, रक्षा करती है। तीर्थंकरके गर्भमे आनेपर देव-देवियाँ उत्सव मनाते हैं। जन्म, तप, केवल और निर्वाणके समय भी ऐसा ही करते है। केवलज्ञान होनेके वाद समवसरणकी रचना करते है, कुसुमवृष्टि करते है आदि। इसलिए मुख्यत ये अभयदानादि देवादिकोकी भक्ति और धर्मानुरागके कार्य है, शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्मकी अपेक्षा रखनेवाले क्षायिक दान आदिके नही। फिर भी इन अभयदानादिको उपचारसे इनका कार्य कहा है। ऐसा नही माननेपर ये तीन दोष आते है—1 निर्वाण कल्याणकके समय शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म नही रहता, इसलिए वह नही बन सकेगा। 2 गर्भमे आनेके पहले जो रत्नवर्षा आदि कार्य होते हैं उन्हे अकारण मानना पड़ेगा। 3 गर्भ, जन्म और तप कल्याणकके समय न तो क्षायिक दान आदि ही पाये जाते है और न तीर्थंकर प्रकृतिका उदय ही रहता है, इसलिए इन कारणोके अभावसे इन्हे भी अकारण मानना पडेगा। इन सब दोषोसे वचनेका एक ही उपाय है कि पाँच कल्याणकोको और समवसरण आदि बाह्य विभूतिको देवादिककी भक्ति और धर्मानुरागका कार्य मान लिया जाय। जिस प्रकार जिन-प्रतिमाका अभिषेक आदि महोत्सव भी इसीके कार्य हैं इसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। इसपर यह प्रश्न होता है कि उक्त कार्य भले ही देवादिककी भक्ति और धर्मानुराग वश होते हो पर जन्मकल्याणकके समय जो घण्टानाद आदि कार्य विशेष होते है उनका कारण तो धर्मानुराग और भक्ति नही है। यदि उनका कारण पुण्यातिशय माना जाता है तो शेष कार्योंका कारण पुण्यातिशय माननेमे क्या आपत्ति है? समाधान यह है कि जिस प्रकार एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र आदिके होनेका नियम है—यह कर्म विशेषका कार्य नही। उस-उस कालके साथ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस कालमे इतने तीर्थंकर, इतने चक्रवर्ती आदि ही होगे न्यूनाधिक नही, इसी प्रकार तीर्थंकरके जन्मकालके साथ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस समय अमुक स्थानके अमुक प्रकारके बाजे बजेंगे, इसलिए इसे कर्म विशेषका कार्य मानना उचित नही। कर्मकी अपनी मर्यादाएँ हैं। उन तक ही वह सीमित है। फिर भी मूलमे जिस स्थितिके रहते हुए ये कार्य होते हैं उस स्थितिको ध्यानमे रखकर उपचारसे उस स्थितिको इनका कारण कहा है। शेष कथन सुगम है।

§ 262 जो अठारह प्रकारका क्षायोपशमिक भाव कहा है उसके भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद है—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ॥5॥

§ 263. जिनके चार, तीन, तीन और पाँच भेद है वे चार, तीन, तीन और पाँच भेदवाले कहलाते हैं। इस सूत्रमे 'यथाक्रमम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, जिससे चार आदि पदोके साथ ज्ञान आदि पदोका क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन और पाँच

1, पञ्च भेदा यासा—मु।

क्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति। तत्र ज्ञानादीनां वृत्तिः स्वावरणान्तरायक्षयोपशमाद् व्याख्यातव्या। 'सम्यक्त्व'ग्रहणेन वेदकसम्यक्त्वं गृह्यते। अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदक्षयात्सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये सज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासभवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिकः सयमासयम इत्याख्यायते।

लब्धियाँ। वर्तमान कालमे सर्वघाती स्पर्द्धकोका उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी कालकी अपेक्षा उन्हीका सदवस्था रूप उपशम होनेसे देशघाती स्पर्द्धकोका उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। इन पूर्वोक्त भावोमे-से ज्ञान आदि भाव अपने-अपने आवरण और अन्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होते है ऐसा व्याख्यान यहाँ कर लेना चाहिए। सूत्रमे आये हुए सम्यक्त्वपदसे वेदक सम्यक्त्व लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चार अनन्तानुवन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमे जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन वारह कषायोके उदयाभावी क्षय होनेसे और इन्हीके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा चार सज्वलनोमे-से किसी एक देशघाती प्रकृतिके उदय होनेपर और नौ नोकषायोका यथासम्भव उदय होनेपर जो ससारसे पूरी निवृत्तिरूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। अनन्तानुवन्धी और अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायोके उदयाभावी क्षय होनेसे और सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरण कषायके और सज्वलन कषायके देशघाती स्पर्द्धकोके उदय होनेपर तथा नौ नोकषायोके यथासम्भव उदय होनेपर जो विरताविरतरूप परिणाम होता है वह सयमासयम कहलाता है।

विशेषार्थ—वर्तमान समयमे सर्वघाति स्पर्धकोका उदयाभावी क्षय, आगामी कालकी अपेक्षा उन्हीका सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्धकोका उदय यह क्षयोपशमका लक्षण है। यह तो सुनिश्चित है कि अधिकतर देशघाति कर्म ऐसे होते हैं जिनमे देशघाति और सर्वघाति दोनो प्रकारके स्पर्धक पाये जाते है। केवल नौ नोकषाय और सम्यक् प्रकृति ये दस प्रकृतियाँ इसकी अपवाद है। इनमे मात्र देशघाति स्पर्धक ही पाये जाते हैं, अत नौ नोकषायोके सिवा शेष सव देशघाति कर्मोका क्षयोपशम सम्भव है, क्योकि पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार क्षयोपशममे दोनो प्रकारकी शक्तिवाले कर्म लगते है। सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वसे मिलकर क्षायोपशमिक भावको जन्म देनेमे निमित्त होती है, इसलिए क्षायोपशमिक भावके कुल अठारह भेद ही घटित होते है। उदाहरणार्थ—ज्ञानावरणकी देशघाति प्रकृतियाँ चार हैं, अत इनके क्षयोपशमसे चार ज्ञान प्रकट होते है, पर मिथ्यादृष्टिके तीन अज्ञान और सम्यग्दृष्टिके चार ज्ञान इस प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञानके कुल भेद सात होते है। इसीसे अठारह क्षायोपशमिक भावोमे इन सात ज्ञानोकी परिगणना की जाती है। प्रकृतमे दर्शन तीन और लब्धि पाँच क्षायोपशमिक भाव हैं यह स्पष्ट ही है। शेष रहे तीन भाव सो ये वेदक सम्यक्त्व, सयमासयम और सयम लिये गये हैं। इन सव भावोमे देशघाति स्पर्धकोका उदय होता है, इसलिए इन्हे वेदक भाव भी कहते है। जितने भी क्षायोपशमिक भाव होते हैं वे देशघाति स्पर्धकोके उदयसे वेदक भी कहलाते है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इसमे सर्वघाति स्पर्धको या सर्वघाति प्रकृतियोका

§ 264. य एकविंशतिविकल्प औदयिको भावउद्दिष्टस्तस्य [1]भेदसंज्ञासंकीर्तनार्थमिदमुच्यते—

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥6॥

§ २६५. **यथाक्रममित्यनुवर्तते, तेनाभिसंबन्धाद् गतिश्चतुर्भेदा, नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति। तत्र नरकगतिनामकर्मोदयान्नारको भावो भवतीति नरकगतिरौदयिकी। एवमितरत्रापि। कषायश्चतुर्भेदः, क्रोधो मानो माया लोभ इति। तत्र क्रोधनिर्वर्तनस्य कर्मण उदयात्क्रोधः औदयिकः। एवमितरत्रापि। लिङ्गं त्रिभेदं, स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेद इति। स्त्रीवेदकर्मण उदयात्स्त्रीवेद औदयिकः। एवमितरत्रापि। मिथ्यादर्शनमेकभेदम्। मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। ज्ञानावरणकर्मण उदयात्पदार्थानवबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्। चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्द्धकस्योदयादसंयत औदयिकः। कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्ध औदयिकः। लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति। जीवभावाधिकाराद् द्रव्यलेश्या नाधिकृता। भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।**

वर्तमान समयमे अनुदय रहता है, इसलिए इनका उदय कालके एक समय पहले उदयरूप स्पर्धको या प्रकृतिमे स्तिवुक सक्रमण हो जाता है। प्रकृतमे इसे ही उदयाभावी क्षय कहते है। यहाँ स्वरूपसे उदय न होना ही क्षय रूपसे विवक्षित है। और आगामी कालमे उदयमे आने योग्य इन्ही सर्वघाति स्पर्धको व प्रकृतियोका सदवस्थारूप उपशम रहता है। इसका आशय यह है कि वे सत्तामे रहते है। उदयवलिसे ऊपरके उन निषेकोकी उदीरणा नही होती। मात्र उदयावलिमे स्तिवुक सक्रमणके द्वारा इनका उदय कालसे एक समय पहले सजातीय देशघाति प्रकृति या स्पर्धकरूपसे सक्रमण होता रहता है। सर्वघाति अशका उदय और उदीरणा न होनेसे जीवका निजभाव प्रकाशमें आता है और देशघाति अशका उदय रहनेसे उसमे सदोषता आती है यह इस भावका तात्पर्य है।

§ 264. अब जो इक्कीस प्रकारका औदयिक भाव कहा है उसके भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं—चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्याएँ ॥6॥

§ 265 इस सूत्रमे 'यथाक्रमम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, क्योकि यहाँ उसका सम्बन्ध है। गति चार प्रकारकी है—नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति। इनमे-से नरकगति नामकर्मके उदयसे नारकभाव होता है, इसलिए नरकगति औदयिक है। इसी प्रकार शेष तीन गतियोका भी अर्थ करना चाहिए। कषाय चार प्रकारका है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमे-से क्रोधको पैदा करनेवाले कर्मके उदयसे क्रोध औदयिक होता है। इसी प्रकार शेष तीन कषायोको औदयिक जानना चाहिए। लिंग तीन प्रकारका है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुकवेद। स्त्रीवेद कर्मके उदयसे स्त्रीवेद औदयिक होता है। इसी प्रकार शेष दो वेद औदयिक है। मिथ्यादर्शन एक प्रकारका है। मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जो तत्त्वोका अश्रद्धानरूप परिणाम होता है वह मिथ्यादर्शन है, इसलिए वह औदयिक है। पदार्थोके नही जाननेको अज्ञान कहते है। चू कि वह ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है, इसलिए औदयिक है। असयतभाव चारित्रमोहनीय कर्मके सर्वघातीस्पर्द्धकोके उदयसे होता है, इसलिए औदयिक है। असिद्धभाव कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा होता है, इसलिए औदयिक है। लेश्या दो प्रकारकी है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। यहाँ जीवके भावोका अधिकार होनेसे द्रव्यलेश्या नही ली गयी है। चू कि भावलेश्या कषायके

---

1. संज्ञाकीर्त—आ, दि 1, दि 2।

सा षड्विधा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति ।

§ 266. ननु च उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ललेश्याऽस्तीत्यागमः। तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकत्वं नोपपद्यते। नैष दोषः; पूर्वभावप्रज्ञापननया[1]पेक्षया यासौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते । तदभावादयोगकेवल्यलेश्य इति निश्चीयते ।

§ 267. यः पारिणामिको भावस्त्रिभेद उक्तस्तद्भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥7॥

§ 268. जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयो भावाः पारिणामिका अन्यद्रव्यासाधारणा आत्मनो वेदितव्याः । कुतः पुनरेषां पारिणामिकत्वम् । कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमानपेक्षित्वात् । जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः । सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः । तद्विपरीतोऽभव्यः । त एते

उदयसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्तिरूप है, इसलिए वह औदयिक है ऐसा कहा जाता है। वह छह प्रकारकी है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

§ 266. **शंका**—उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानमे शुक्ललेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु वहाँपर कषायका उदय नही है इसलिए औदयिकपना नही बन सकता। **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि जो योगप्रवृत्ति कषायोके उदयसे अनुरंजित होती रही वही यह है इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोमे भी लेश्याको औदयिक कहा गया है। किन्तु अयोगकेवलीके योगप्रवृत्ति नही होती, इसलिए वे लेश्या-रहित हैं ऐसा निश्चय होता है।

विशेषार्थ—कर्मोकी जातियाँ और उनके अवान्तर भेद अनेक हैं, इसलिए उनके उदयसे होनेवाले भाव भी अनेक हैं, पर यहाँ मुख्य-मुख्य औदयिक भाव ही गिनाये गये हैं। ऐसे भाव इक्कीस होते हैं। प्रथम चार भेद चार गति हैं। ये गति-नामकर्मके उदयसे होते हैं। नामकर्म अघातिकर्म है। गति-नामकर्म उसीका एक भेद है। जो प्रकृतमे अन्य जीवविपाकी अघाति कर्मो-का उपलक्षण है। पुद्गलविपाकी कर्मोके उदयसे जीवभाव नही होते, अतः उनकी यहाँ परिगणना नही की गयी है। घाति कर्मोमे क्रोधादि चारो कषायोके उदयसे क्रोधादि चार भाव होते हैं। तीन वेदोंके उदयसे तीन लिंग होते हैं। तीन वेद उपलक्षण हैं। इनसे हास्य आदि छह भावोंका भी ग्रहण होता है। दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्यादर्शन होता है। दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शनभावोंका इसीमे ग्रहण होता है। ज्ञानावरणके उदयसे अज्ञानभाव होता है, असयत भाव चारित्रमोहनीयके उदयका कार्य है और असिद्ध भाव सब कर्मोके उदयका कार्य है। रही लेश्याएँ सो ये कषाय और योग इनके मिलनेसे उत्पन्न हुई परिणति विशेष हैं। फिर भी इनमें कर्मोदय-की मुख्यता होनेसे इनकी औदयिक भावोमे परिगणना की गयी है। इन भावोंमे कर्मोका उदय निमित्त है, इसलिए इन्हें औदयिक कहते हैं।

§ 267. अब जो तीन प्रकारका पारिणामिक भाव कहा है उसके भेदोंके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पारिणामिक भावके तीन भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ॥7॥

§ 268 जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव अन्य द्रव्योंमे नहीं होने इसलिए ये आत्माके जानने चाहिए। **शंका**—ये पारिणामिक क्यो हैं ? **समाधान**—ये तीनो भाव कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना होते हैं, इसलिए पारिणामिक हैं। जीवत्वका

---

1. —पनापेक्ष—आ, दि. 1, दि. 2 ।

त्रयो भावा जीवस्य पारिणामिकाः ।

§ 269. ननु चास्तित्वनित्यत्वप्र[1]देशवत्त्वादयोऽपि भावा. पारिणामिकाः सन्ति, तेषामिह ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम्; कृतमेव । कथम् ? 'च'[2]शब्देन समुच्चितत्वात् । यद्येवं त्रय इति संख्या विरुध्यते । न विरुध्यते, असाधारणा जीवस्य भावाः पारिणामिकास्त्रय एव । अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति 'च'शब्देन पृथग्गृह्यन्ते । आह, औपशमिकादिभावानुपपत्तिरमूर्तत्वादात्मनः । कर्मबन्धापेक्षा हि [3]ते भावा. । न चामूर्तेः कर्मणां बन्धो युज्यत इति । तन्न; अनेकान्तात् । नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति । कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः । शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः । यद्येवं कर्मबन्धावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेकः प्राप्नोति । नैष दोष; बन्धं [4]प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते । उक्तं च—

"बध पडि एयत्त लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होइ जीवस्स ॥" इति ।

अर्थ चैतन्य है । जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होनेकी योग्यता है । वह भव्य कहलाता है । अभव्य इसका उलटा है । ये तीनो जीवके पारिणामिक भाव हैं ।

§ 269 **शंका**—अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्त्व आदिक भी भाव हैं उनका इस सूत्रमे ग्रहण करना चाहिए ? **समाधान**—अलगसे उनके ग्रहण करनेका कोई काम नही; क्योकि उनका ग्रहण किया ही है । **शका**—कैसे ? **समाधान**—क्योकि सूत्रमे आये हुए 'च'शब्दसे उनका समुच्चय हो जाता है । **शका**—यदि ऐसा है तो 'तीन' सख्या विरोधको प्राप्त होती है, क्योकि इस प्रकार तीनसे अधिक पारिणामिक भाव हो जाते है ? **समाधान**—तब भी 'तीन' यह संख्या विरोधको नही प्राप्त होती, क्योकि जीवके असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं । अस्तित्वादिक तो जीव और अजीव दोनोके साधारण है इसलिए उनका 'च'शब्दके द्वारा अलगसे ग्रहण किया है । **शका**—औपशमिक आदि भाव नही बन सकते, क्योकि आत्मा अमूर्त है । ये औपशमिक आदि भाव कर्मबन्धकी अपेक्षा होते है परन्तु अमूर्त आत्माके कर्मोका बन्ध नही बनता है ? **समाधान**—यह कहना ठीक नही है, क्योकि आत्माके अमूर्तत्वके विषयमें अनेकान्त है । यह कोई एकान्त नही कि आत्मा अमूर्त ही है । कर्मबन्धरूप पर्यायकी अपेक्षा उसका आवेश होनेके कारण कथचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा कथचित् अमूर्त है । **शंका**—यदि ऐसा है तो कर्मबन्धके आवेशसे आत्माका ऐक्य हो जानेपर आत्माका उससे भेद नही रहता ? **समाधान**—यह कोई दोष नही, क्योकि यद्यपि बन्धकी अपेक्षा अभेद है तो भी लक्षणके भेदसे कर्मसे आत्माका भेद जाना जाता है । कहा भी है—

'आत्मा बन्धकी अपेक्षा एक है तो भी लक्षणकी अपेक्षा वह भिन्न है । इसलिए जीवका अमूर्तिकभाव अनेकान्तरूप है । वह एक अपेक्षासे है और एक अपेक्षासे नही है ।

विशेषार्थ—पारिणामिक भाव तीन है—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । जीवत्वके दो भेद हैं—एक जीवन-क्रियासापेक्ष और दूसरा चैतन्यगुणसापेक्ष । जीवनक्रिया प्राणसापेक्ष होती है, इसलिए ऐसे जीवत्वकी मुख्यता नही है, यहाँ तो चैतन्यगुणसापेक्ष जीवत्वकी ही मुख्यता है । यह सब जीवोमे समानरूपसे पाया जाता है और कारणनिरपेक्ष होता है, इसलिए इसे पारिणामिक कहा है । यही बात भव्यत्व और अभव्यत्वके सम्बन्धमे भी जाननी चाहिए, क्योकि ये दोनों भाव भी कारणनिरपेक्ष होते हैं । साधारणत. जिनमे रत्नत्रय गुण प्रकट होनेकी योग्यता होती है वे

---

1. प्रदेशत्वा—आ , दि. 1 दि. 2, मु. । 2 कथ चेच्चशब्देन मु । कथ चेतनशब्देन आ. । 3. ते । न चामूर्ते. कर्मणा आ. दि 1, दि. 2, ता , ना. । 4. प्रत्येकत्वे (ऽविवेके) सत्य—मु. ।

§ 270. यद्येवं तदेव लक्षणमुच्यतां येन नानात्वमवसीयते इत्यत आह—

उपयोगो लक्षणम् ॥8॥

§ 271. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। तेन बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यप्यात्मा लक्ष्यते सुवर्णरजतयोर्बन्ध प्रत्येकत्वे सत्यपि वर्णादिभेदवत्।

§ 272 तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥9॥

§ 273. स उपयोगो द्विविधः—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानं मत्यज्ञान श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञान चेति। दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः—चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति। तयोः कथं भेदः ?

भव्य कहलाते हैं और जिनमे ऐसी योग्यता नही होती उन्हे अभव्य कहते हैं। जीवमे ये दोनो प्रकारकी योग्यताएँ स्वभावसे होती है। इसीसे भव्यत्व और अभव्यत्व ये दोनो भाव भी पारिणामिक माने गये हैं। अभिप्राय यह है कि किन्ही जीवोका स्वभावसे अनादि-अनन्त बन्ध होता है और किन्हीका अनादिसान्त। जीवोका इस तरहका बन्ध कारणनिरपेक्ष होता है। यह किसी कर्मविशेषका कार्य नही है, किन्तु ऐसी योग्यता पारिणामिक मानी गयी है। इसीसे जीवत्वके साथ भव्यत्व और अभव्यत्व ये दोनो भाव भी कहे गये हैं। यद्यपि जीवमे अस्तित्व आदि और बहुत-से पारिणामिक भाव पाये जाते है पर वे जीवके असाधारण धर्म न होनेसे उनकी यहाँ परिगणना नही की गयी है।

इन भावोके सम्बन्धमे मुख्य प्रश्न यह है कि जब कि जीव अमूर्त है ऐसी दशामे उसका कर्मके साथ बन्ध नही हो सकता और कर्मबन्धके अभावमे औपशमिक आदि भावोकी उत्पत्ति नही बन सकती, क्योकि पारिणामिक भावोके सिवा शेष भाव कर्मनिमित्तक माने गये है? उत्तर यह है कि कर्मका आत्मासे अनादि सम्बन्ध है, इसलिए कोई दोष नही आता। आशय यह है कि संसार अवस्थामे जीवका कर्मके साथ अनादिकालीन बन्ध होनेके कारण वह व्यवहारसे मूर्त हो रहा है। और यह बात असिद्ध भी नही है, क्योकि मदिरा आदिका सेवन करनेपर ज्ञानमे मूर्च्छा देखी जाती है। पर इतने मात्रसे आत्माको मूर्तस्वभाव नही माना जा सकता, क्योकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गलके धर्म है। आत्मा मूर्तरूप इन धर्मोसे भिन्न उपयोगस्वभाववाला है।

§ 270. यदि ऐसा है तो वही लक्षण कहिए जिससे कर्मसे आत्माका भेद जाना जाता है, इसी बातको ध्यानमे रखकर आगेका सूत्र कहते है—

उपयोग जीवका लक्षण है ॥8॥

§ 271. जो अन्तरग और बहिरंग दोनो प्रकारके निमित्तोसे होता है और चैतन्यका अन्वयी है अर्थात् चैतन्यको छोडकर अन्यत्र नही रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है। यद्यपि आत्मा बन्धकी अपेक्षा एक है तो भी इससे वह स्वतन्त्र जाना जाता है। जिस प्रकार स्वर्ण और चाँदी बन्धकी अपेक्षा एक हैं तो भी वर्णादिके भेदसे उनमे पार्थक्य रहता है उसीप्रकार प्रकृतमे समझना चाहिए।

§ 272 अब उपयोगके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है ॥9॥

§ 273. वह उपयोग दो प्रकारका है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान,

साकारानाकारभेदात् । साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति । तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते । निरावरणेषु युगपत् पूर्वकालभाविनोऽपि दर्शनाज्ज्ञानस्य प्रागुपन्यासः; अभ्यर्हितत्वात् । सम्यग्ज्ञानप्रकरणात्पूर्वं पञ्चविधो ज्ञानोपयोगो व्याख्यातः । इह पुनरुपयोगग्रहणाद्विपर्ययोऽपि गृह्यते इत्यष्टविध[1] इति उच्यते ।

§ 274. यथोक्तेनानेनाभिहितपरिणामेन सर्वात्मसाधारणेनोपयोगेन ये उपलक्षिता उपयोगिनस्ते द्विविधाः—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ 10॥

और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।

शंका—इन दोनों उपयोगोमे किस कारणसे भेद है ? **समाधान**—साकार और अनाकारके भेदसे इन दोनों उपयोगोंमें भेद है। साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग है। ये दोनों छद्मस्थोंमें क्रमसे होते हैं और आवरणरहित जीवोंमें युगपत् होते हैं । यद्यपि दर्शन पहले होता है तो भी श्रेष्ठ होनेके कारण सूत्रमे ज्ञानको दर्शनसे पहले रखा है । सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेके कारण पहले पाँच प्रकारके ज्ञानोपयोगका व्याख्यान कर आये हैं । परन्तु यहाँ उपयोगका ग्रहण करनेसे विपर्ययका भी ग्रहण होता है, इसलिए वह आठ प्रकारका कहा है ।

विशेषार्थ—यहाँ जीवका लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेदोंकी परिगणना की गयी है। उपयोगके मुख्य भेद दो हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये दोनो प्रकारके उपयोग सब जीवोंके पाये जाते हैं । इनके अवान्तर भेद कई हैं जो निमित्तविशेषसे होते हैं । ज्ञानावरण और दर्शनावरणके अवान्तर भेदोका यथायोग्य क्षयोपशम और क्षय तथा दर्शनमोहनीयका उदयादि ये प्रधान निमित्त हैं। इनके कारण दोनों प्रकारके उपयोग बारह भेदोमे विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार भेद प्राप्त होते हैं। मुख्यतया ससारी जीवके एक कालमें एक उपयोग और केवलीके दो उपयोग होते हैं। पर नाना जीवोकी अपेक्षा परिगणना करनेपर वे बारह होते हैं । यद्यपि प्रथम अध्यायमें एक जीवके एक साथ चार ज्ञान बतला आये हैं और जिसके एक साथ चार ज्ञान होगे उसके उसी समय तीन दर्शन भी पाये जायेंगे, पर यह कथन क्षयोपशमकी प्रधानतासे किया गया जानना चाहिए। एक जीवके एक कालमें मतिज्ञानावरण आदि चार ज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण आदि तीन दर्शनावरण इन सात कर्मोंका क्षयोपशम हो सकता है पर तत्त्वतः उनके उस समय उपयोग एक ही होगा। क्षयोपशम ज्ञानोत्पत्ति और दर्शनोत्पत्तिमे निमित्त है और उपयोग ज्ञान दर्शनकी प्रवृत्ति है। जीवमे ज्ञान और दर्शन गुणकी धारा निरन्तर प्रवर्तित होती रहती है। वह जिस समय बाह्य और अन्तरंग जैसा निमित्त मिलता है उसके अनुसार काम करने लगती है। इतना अवश्य है कि संसार अवस्थामें वह मलिन, मलिनतर और मलिनतम रहती है और कैवल्य लाभ होनेपर वह विशुद्ध हो जाती है फिर उसकी प्रवृत्तिके लिए अन्तरंग व बाह्य कारण अपेक्षित नही रहते। यही कारण है कि यहाँ जीवका लक्षण उपयोग कहा है ।

§ 274. सब आत्माओमें साधारण उपयोगरूप जिस आत्मपरिणामका पहले व्याख्यान किया है उससे उपलक्षित सब उपयोगवाले जीव दो प्रकारके है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त ॥10॥

---

1. —विध उच्यते दि. 2, मु. ।

§ 275. संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः। स एषामस्ति ते संसारिणः। तत्परिवर्तनं पञ्चविधम्—द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्तनं कालपरिवर्तनं भवपरिवर्तनं भावपरिवर्तनं चेति। तत्र द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधम्—नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति। तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य मिश्रकांश्चानन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतांश्चानन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविधकर्मभावेन ये गृहीताः पुद्गलाः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। उक्तं च—

"सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
[1]असइ अणतखुत्तो पुग्गलपरियट्टससारे[2]॥"

§ 276. क्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान्स्वशरीरमध्ये[3] कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः। स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरित्येवं यावद् [4]घनांगुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्व-

---

§ 275. ससरण करनेको ससार कहते है, जिसका अर्थ परिवर्तन है। यह जिन जीवोके पाया जाता है वे संसारी है। परिवर्तनके पाँच भेद है—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद है—नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्म द्रव्यपरिवर्तन। अव नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप कहते है—किसी एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोके योग्य पुद्गलोको एक समयमे ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदिके द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भावरूप से ग्रहण किये थे उस रूपसे अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयोमे निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओको अनन्त बार ग्रहण करके छोडा, मिश्र परमाणुओ को अनन्त बार ग्रहण करके छोडा और बीचमे गृहीत परमाणुओको अनन्त बार ग्रहण करके छोडा। तत्पश्चात् जब उसी जीवके सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही नोकर्म परमाणु उसी प्रकारसे नोकर्म भावको प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। अब कर्मद्रव्यपरिवर्तनका कथन करते है—एक जीवने आठ प्रकारके कर्मरूपसे जिन पुद्गलोको ग्रहण किया, वे समयाधिक एक आवलीकालके वाद द्वितीयादिक समयोमे झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनमे बतलाया है उसी क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे उस जीवके जब कर्मभावको प्राप्त होते है तब यह सब एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन कहलाता है। कहा भी है—

'इस जीवने सभी पुद्गलोको क्रमसे भोगकर छोड दिया। और इस प्रकार यह जीव असकृत अनन्तबार पुद्गल परिवर्तनरूप ससारमे घूमता है।'

§ 276 अब क्षेत्रपरिवर्तनका कथन करते है—जिसका शरीर आकाशके सबसे कम प्रदेशोपर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोकके आठ मध्य प्रदेशोको अपने शरीरके मध्यमे करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभवग्रहण काल तक जीकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुन उसी अवगाहनासे वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार

---

1 अच्छइ अण— दि 1, दि 2, आ, मु। 2 वा अणु, गा 25। 3 शरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वा मु। 4, यावदङ्गुलस्या— दि 1, दि. 2, आ.।

स्तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति याव-त्तावत्क्षेत्रपरिवर्तनम् । उक्तं च—

[1]"सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो त णत्थि ज ण उप्पण्ण ।
ओगाहणाए[2] बहुसो परिभमिदो खेत्तससारे ॥"

§ 277. कालपरिवर्तनमुच्यते—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जात. कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः । स एव [3]पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः । एवमनेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता । तथा-वसर्पिणी च । एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तम् । [4]मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यम् । एतावत्कालपरि-वर्तनम् । उक्तं च—

"[5]उस्सप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥"

§ 278. भवपरिवर्तनमुच्यते—नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रो-त्पन्न पुन परिभ्रम्य तेनैवायुषा जातः । एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव जातो मृत । पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्न । पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमापितानि ।

उत्पन्न हुआ । इस प्रकार घनागुलके असख्यातवे भागमे आकाशके जितने प्रदेश प्राप्त हो उतनी बार वही उत्पन्न हुआ । पुन. उसने आकाशका एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोकको अपना जन्म-क्षेत्र बनाया । इस प्रकार यह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है । कहा भी है—

'सब लोक क्षेत्रमे ऐसा एक प्रदेश नही है जहाँ यह अवगाहनाके साथ क्रमसे नही उत्पन्न हुआ । इस प्रकार इस जीवने क्षेत्र ससारमें अनेक बार परिभ्रमण किया ।'

§ 277. अब कालपरिवर्तनका कथन करते हैं—कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमे उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त हो जानेपर मर गया । पुन. वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमे उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होनेपर मर गया । पुन वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमे उत्पन्न हुआ । इस प्रकार इसने क्रमसे उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी । यह जन्मका नैरन्तर्य कहा । तथा इसी प्रकार मरण का भी नैरन्तर्य लेना चाहिए । इस प्रकार यह सब मिलकर एक कालपरिवर्तन है । कहा भी है—

'कालससारमे परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोमे अनेक बार जन्मा और मरा ।'

§ 278. अब भवपरिवर्तनका कथन करते है—नरकगतिमे सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । एक जीव उस आयुसे वहाँ उत्पन्न हुआ, पुन. घूम-फिरकर उसी आयुसे वही उत्पन्न हुआ । इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय है उतनी बार वही उत्पन्न हुआ और मरा । पुन आयुके एक-एक समय बढाकर नरककी तेंतीस सागर आयु समाप्त की । तदनन्तर नरकसे निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयुके साथ तिर्यंचगतिमे उत्पन्न हुआ । और पूर्वोक्त क्रमसे उसने तिर्यंच-गतिकी तीन पल्योपम आयु समाप्त की । इसी प्रकार मनुष्यगतिमे अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्योपम आयु समाप्त की । तथा देवगतिमे नरकगतिके समान आयु समाप्त की । किन्तु देव-

---

1. वा आ, आयु, गा. 26 । 2 –हणेण बहुसो मु, ना । 3 एव तृती–आ, दि 1, दि 2 । 4. मरण-मपि तथैव ग्रा—ता. । मरणस्यापि तथैव ग्रा —ना । 5 वा अणु गा 27 ।

एवं मनुष्यगतौ च[1]। देवगतौ च नारकवत्। अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद् भवपरिवर्तनम्। उक्तं च—

"[2]णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदा।"

§ 279. भावपरिवर्तनमुच्यते—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः स सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञिकामापद्यते। तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनु[3]भागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति। एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागबन्धस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थितिकषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति। एवं च तृतीयादिषु[4] चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति। तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि

गतिमे इतनी विशेषता है कि यहाँ इकतीस सागरोपम आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए। इस प्रकार यह सब मिलकर एक भवपरिवर्तन है। कहा भी है—

'इस जीवने मिथ्यात्वके संसर्गसे उपरिम ग्रैवेयक तक नरक आदि गतियोकी जघन्य आदि स्थितियोमे उत्पन्न हो-होकर अनेक बार परिभ्रमण किया।'

§ 279 अब भावपरिवर्तनका कथन करते हैं—पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृतिकी सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोडाकोड़ीप्रमाण स्थितिको प्राप्त होता है। उसके उस स्थितिके योग्य षट्स्थानपतित असंख्यात लोकप्रमाण कषायअध्यवसाय स्थान होते हैं। और सबसे जघन्य इन कषायअध्यवसायस्थानोके निमित्तसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागअध्यवसायस्थान होते है। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायअध्यवसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागअध्यवसायस्थानको धारण करनेवाले इस जीवके तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति, कषायअध्यवसायस्थान और अनुभागअध्यवसायस्थान वही रहते हैं, किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यात भागवृद्धिसंयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानोमे समझना चाहिए। ये सब योगस्थान चार स्थान पतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणीके असंख्यातवे भागप्रमाण है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषायअध्यवसायस्थानको धारण करनेवाले जीवके दूसरा अनुभागअध्यवसायस्थान होता है। इसके योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ भी पूर्वोक्त तीनो बातें ध्रुव रहती हैं किन्तु योगस्थान जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागअध्यवसायस्थानोके होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसायस्थानोमे जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसायस्थान तो जघन्य ही रहते हैं किन्तु अनुभागअध्यवसायस्थान क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभागअध्यवसायस्थानके प्रति जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान होते हैं। तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीवके दूसरा कषायअध्यवसायस्थान होता है। इसके भी अनुभागअध्यवसायस्थान और योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए। अर्थात्

1 च तिर्यंचवत्। मू., ता। 2 बा अ गा 28। 3 —नुभवाध्य— दि। 4. —दिषु योगस्थानेषु चतु —मु ता।

अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेः। एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति। तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः। उक्ताया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकाया कषायादिस्थानानि पूर्ववत्[1]। एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिमितायाः कषायादिस्थानानि[2] वेदितव्यानि। अनन्तभागवृद्धिः असंख्येयभागवृद्धिः संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिः असंख्येयगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः इमानि षट् वृद्धिस्थानानि। हानिरपि तथैव। अनन्तभागवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरहितानि चत्वारि स्थानानि। एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः। तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनम्। उक्तं च—

[3]"सव्वा पयडिट्ठिदीओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
मिच्छत्तससिदेण य भमिदा पुण भावससारे॥"

§ 280. उक्तात्पञ्चविधात्संसारान्निवृत्ता ये ते मुक्ताः। संसारिणां प्रागुपादानं तत्पूर्वकत्वान्मुक्तव्यपदेशस्य।

एक-एक कषायअध्यवसायस्थानके प्रति असख्यात लोकप्रमाण अनुभागअध्यवसायस्थान होते हैं और एक-एक अनुभागअध्यवसायस्थानके प्रति जगश्रेणीके असख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान होते है। इस प्रकार असख्यात लोकप्रमाण कषायअध्यवसायस्थानोके होने तक तीसरे आदि कषायअध्यवसायस्थानोमे वृद्धिका क्रम जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थितिके कषायादि स्थान कहे है उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थितिके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए और इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितितक प्रत्येक स्थितिविकल्पके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए। अनन्त भागवृद्धि, असख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इस प्रकार ये वृद्धिके छह स्थान है तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकारकी है। इनमेसे अनन्त भागवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इन दो स्थानोके कम कर देनेपर चार स्थान होते हैं। इसी प्रकार सब मूल प्रकृतियोका और उनकी उत्तर प्रकृतियोके परिवर्तनका क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर एक भावपरिवर्तन होता है। कहा भी है—

'इस जीवने मिथ्यात्वके ससर्गसे सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धके स्थानो को प्राप्त कर भावससारमे परिभ्रमण किया।'

§ 280 जो उक्त पाँच प्रकारके संसारसे निवृत्त हैं वे मुक्त हैं। सूत्रमे 'संसारि' पदका पहले ग्रहण किया, क्योकि 'मुक्त' यह संज्ञा संसारपूर्वक प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—जीवके मुख्य भेद दो हैं—ससारी और मुक्त। ये भेद जीवकी बद्ध और अबद्ध अवस्थाको ध्यानमे रखकर किये गये हैं। वस्तुतः ये जीवकी दो अवस्थाएँ हैं। पहले जीव बद्ध अवस्थामे रहता है, इसलिए उसे ससारी कहते हैं और बादमे उसके मुक्त होनेपर वही मुक्त कहलाता है। जीवका ससार निमित्त-सापेक्ष होता है, इसलिए इस अपेक्षासे ससारके पाँच भेद किये गये हैं—द्रव्यससार, क्षेत्रससार, कालससार, भवसंसार और भावससार। इनका दूसरा नाम परिवर्तन भी है। द्रव्य पदसे कर्म और नोकर्म लिये गये हैं, क्षेत्र पद से लोकाकाशके प्रदेशोका ग्रहण किया है, काल पदसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी सम्बन्धी समयका ग्रहण किया है, भव पदसे जीवकी नर नारक आदि अवस्थाओका ग्रहण किया है और भाव पदसे जीवके योग

---

1. पूर्ववदेकसम—मु.। 2. —स्थानानि (पूर्ववत्) वेदि—मु.। 3. बा. अणु. गा. 29।

§ 281. य एते ससारिणस्ते द्विविधाः—

समनस्कामनस्काः ॥11॥

§ 282. मनो द्विविधम्—द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः। वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा[1] आत्मनो विशुद्धिर्भावमन.। तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्का.। न विद्यते मनो येषां त इमे अमनस्काः। एव मनसो भावाभावाभ्यां ससारिणो द्विविधा विभज्यन्ते। समनस्काश्चामनस्काश्च समनस्कामनस्का इति। अभ्यर्हितत्वात्स-मनस्कशब्दस्य पूर्वनिपातः। कथमभ्यर्हितत्वम्? गुणदोषविचारकत्वात्।

§ 283. पुनरपि संसारिणां भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥12॥

§ 284 'ससारि' ग्रहणमनर्थकम्; प्रकृतत्वात्। क्व प्रकृतम्? 'ससारिणो मुक्ताश्च' इति। नानर्थकम्, पूर्वापेक्षार्थम्। ये उक्ताः समनस्का अमनस्कास्ते ससारिण इति। यदि हि पूर्वस्य विशेषण न स्यात्, समनस्कामनस्कग्रहण संसारिणो मुक्ताश्चेत्यनेन यथासख्यमभिसंबध्येत।

और कषायस्थान विवक्षित है। इन द्रव्यादिके निमित्तसे ससारमे जीवका परिभ्रमण किस प्रकार होता रहता है यही यहाँ वतलाया गया है। इन परिवर्तनोके होनेमे उत्तरोत्तर अधिक-अधिक काल लगता है। मुख्यरूपसे जीवका ससार सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेके पूर्वतक माना गया है, इससे ये परिवर्तन जीवकी मिथ्यात्व अवस्थामे होते है यह सिद्ध होता है। सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवका ईषत् ससार शेष रहनेपर भी वह इन परिवर्तनोसे मुक्त हो जाता है। पूर्ण मोक्ष मुक्त अवस्थामे होता है। इसीसे जीवके ससारी और मुक्त ये दो भेद किये गये हैं।

§ 281 पहले जो ससारी जीव कह आये है वे दो प्रकारके है। आगेके सूत्र-द्वारा इसी वातको वतलाते है—

मनवाले और मनरहित ऐसे संसारी जीव है ॥11॥

§ 282 मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन। उनमे-से द्रव्यमन पुद्गलविपाकी अगोपाग नामकर्मके उदयसे होता है तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माकी विशुद्धिको भावमन कहते हैं। यह मन जिन जीवोके पाया जाता है वे समनस्क है। और जिनके मन नही पाया जाता है वे अमनस्क है। इस प्रकार मनके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा ससारी जीव दो भागोमे वँट जाते है। 'समनस्कामनस्का' इसमे समनस्क और अमनस्क इस प्रकार द्वन्द्व समास है। समनस्क शब्द श्रेष्ठ है अत उसे सूत्रमे पहले रखा। **शका**—श्रेष्ठता किस कारणसे है? **समाधान**—क्योकि समनस्क जीव गुण और दोषोके विचारक होते है, इसलिए समनस्क पद श्रेष्ठ है।

§ 283 अव फिरसे भी ससारी जीवोके भेदोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकार है ॥12॥

§ 284 **शंका**—सूत्रमे 'ससारी' पदका ग्रहण करना निरर्थक है, क्योकि वह प्रकरण प्राप्त है? **प्रतिशका**—इसका प्रकरण कहाँ है? **शंकाकार**—'ससारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रमें उसका प्रकरण है। **समाधान**—सूत्रमे 'ससारी' पदका ग्रहण करना अनर्थक नही है, क्योकि पूर्व सूत्रकी अपेक्षा इस सूत्रमे 'ससारी' पदका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्रमे जो समनस्क और अमनस्क जीव वतलाये है वे ससारी हैं इस वातका ज्ञान करानेके लिए इस सूत्रमे 'ससारी' पद दिया है। यदि 'ससारी' पदको पूर्वका विशेषण न माना जाय तो समनस्क और अमनस्क

---

1. –पेक्षया आत्मनो मु, ता.।

एवं च कृत्वा 'संसारि'ग्रहणमादौ क्रियमाणमुपपन्नं भवति। तत्पूर्वापेक्षं सदुत्तरार्थमपि भवति[1]। ते संसारिणो द्विविधाः—त्रसाः स्थावरा इति। त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसा[2]। स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिनः स्थावराः। त्रस्यन्तीति त्रसाः, स्थानशीलाः स्थावरा इति चेत्? न; आगमविरोधात्। आगमे हि कायानुवादेन त्रसा द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति। तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वम्। कर्मोदयापेक्षमेव। त्रसग्रहणमादौ क्रियते; अल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च। सर्वोपयोगसंभवादभ्यर्हितत्वम्।

§ 285. एकेन्द्रियाणामतिबहुवक्तव्याभावादुल्लङ्घ्यानुपूर्वीं स्थावरभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥13॥

§ 286. स्थावरनामकर्मभेदाः पृथिवीकायादयः सन्ति। तदुदयनिमित्ता[3] जीवेषु पृथिव्यादयः संज्ञा वेदितव्याः। प्रथनादिप्रकृतिनिष्पन्ना अपि रूढिवशात्प्रथनाद्यनपेक्षा वर्तन्ते। एषां पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तं प्रत्येकम्। तत्कथमिति चेत्? उच्यते—पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः पृथिवीजीव इत्यादि। तत्र अचेतना वैश्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्यगुणात्मिका पृथिवी। अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीकायनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितैवेयम्। अथवा पृथिवीति सामान्यम्;

इनका संसारी और मुक्त इनके साथ क्रमसे सम्बन्ध हो जायेगा। और इस अभिप्रायसे 'संसारिणो' पदका इस सूत्रके आदिमें ग्रहण करना बन जाता है। इस प्रकार 'संसारिणो' पदका ग्रहण पूर्व सूत्र की अपेक्षासे होकर अगले सूत्रके लिए भी हो जाता है। यथा—वे संसारी जीव दो प्रकारके हैं त्रस और स्थावर। जिनके त्रस नामकर्मका उदय है वे त्रस कहलाते हैं और जिनके स्थावर नाम कर्मका उदय है उन्हें स्थावर कहते हैं। शंका—'त्रस्यन्ति' अर्थात् जो चलते-फिरते हैं वे त्रस हैं और जो स्थिति स्वभाववाले हैं वे स्थावर हैं, क्या त्रस और स्थावरका यह लक्षण ठीक है? समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें आगमसे विरोध आता है, क्योंकि कायानुवादकी अपेक्षा कथन करते हुए आगम में बतलाया है कि द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोगकेवली तकके सब जीव त्रस हैं, इसलिए गमन करने और न करनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावर यह भेद नहीं है, किन्तु त्रस और स्थावर कर्मोंके उदयकी अपेक्षासे ही है। सूत्रमें त्रसपदका प्रारम्भमें ग्रहण किया है, क्योंकि स्थावर पदसे इसमें कम अक्षर हैं और यह श्रेष्ठ है। त्रस श्रेष्ठ इसलिए हैं कि इनके सब उपयोगोंका पाया जाना सम्भव है।

§ 285 एकेन्द्रियोंके विषयमें अधिक वक्तव्य नहीं है, इसलिए आनुपूर्वी को छोड़कर पहले स्थावरके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर हैं ॥13॥

§ 286. पृथिवीकाय आदि स्थावर नामकर्मके भेद हैं। उनके उदयके निमित्तसे जीवोंके पृथिवी आदिक नाम जानने चाहिए। यद्यपि ये नाम प्रथन आदि धातुओंसे बने हैं तो भी ये रौढिक हैं, इसलिए इनमें प्रथन आदि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं है। शंका—आर्षमें ये पृथिवी आदिक अलग-अलग चार प्रकारके कहे हैं सो ये चार-चार भेद किस प्रकार प्राप्त होते हैं? समाधान—इनमें-से जो पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव ये पृथिवीके चार भेद हैं। अचेतन होनेसे अचेतन है, प्राकृतिक परिणमनोंसे बनी है और कठिन गुणवाली है वह पृथिवी है। अचेतन होनेके कारण यद्यपि इसमें पृथिवी नामकर्मका उदय नहीं है तो भी प्रथनक्रियासे उपलक्षित होनेके कारण

---

1. भवति। सता—मु.। 2. त्रसनाम आ, दि. 1, दि. 2, ता.। 3. —रिमित्ता अमी इति जीवेपु मु. ना.।

उत्तरत्रयेऽपि सद्भावात् । काय. शरीरम् । पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्त. पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत् । पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः । तत्कायसंबन्धवशीकृत आत्मा । समवाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः[1] । एवमबादिष्वपि योज्यम् । एते मञ्चविधा. प्राणिन स्थावरा. । कति पुनरेषां प्राणा. ? चत्वारः—स्पर्शनेन्द्रियप्राण कायबलप्राणः उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयु प्राणश्चेति ।

§ 287. अथ त्रसा के ते, इत्यत्रोच्यते—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥14॥

§ 288. द्वे इन्द्रिये यस्य सोऽय द्वीन्द्रिय । द्वीन्द्रिय आदिर्येषां ते द्वीन्द्रियादय.[2] । 'आदि'-शब्दो व्यवस्थावाची । क्व व्यवस्थिताः ? आगमे । कथम् ? द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियश्चेति । 'तद्गुणसविज्ञानवृत्तिग्रहणाद् द्वीन्द्रियस्याप्यन्तर्भाव. । कति पुनरेषां प्राणाः ? द्वीन्द्रियस्य तावत् षट् प्राणा , पूर्वोक्ता एव रसनवाक्प्राणाधिकाः । त्रीन्द्रियस्य सप्त त एव घ्राणप्राणाधिका· । चतुरिन्द्रियस्याष्टौ त एव चक्षु.प्राणाधिकाः । पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसज्ञिनो नव त एव श्रोत्रप्राणाधिकाः । सज्ञिनो दश त एव मनोबलप्राणाधिकाः[3] ।

अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होनेके कारण यह पृथिवी कहलाती है। अथवा पृथिवी यह सामान्य वाची सज्ञा है, क्योकि आगेके तीन भेदोमे भी यह पायी जाती है। कायका अर्थ शरीर है, अत पृथिवीकायिक जीव द्वारा जो शरीर छोड दिया जाता है वह पृथिवीकाय कहलाता है। यथा मरे हुए मनुष्य आदिकका शरीर। जिस जीवके पृथिवीरूप काय विद्यमान है उसे पृथिवीकायिक कहते है। तात्पर्य यह है कि जीव पृथिवीरूप शरीरके सम्बन्धसे युक्त है। कार्मणकाययोगमे स्थित जिस जीवने जबतक पृथिवीको कायरूपसे ग्रहण नही किया है तबतक वह पृथिवीजीव कहलाता है। इसी प्रकार जलादिकमे भी चार-चार भेद कर लेने चाहिए। ये पाँचो प्रकारके प्राणी स्थावर हैं। **शंका**—इनके कितने प्राण होते हैं ? **समाधान**—इनके चार प्राण होते है—स्पर्शन इन्द्रियप्राण, कायबलप्राण, उच्छ्वास-नि श्वासप्राण और आयु प्राण।

§ 287 अब त्रस कौन है इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

दो इन्द्रिय आदि त्रस है ॥14॥

§ 288 जिन जीवोके दो इन्द्रियाँ होती है उन्हे दो-इन्द्रिय कहते है। तथा जिनके प्रारम्भमे दो इन्द्रिय जीव है वे दो-इन्द्रियादिक कहलाते है। यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है। **शंका**—ये कहाँ व्यवस्थित होकर बतलाये गये है ? **समाधान**—आगम मे। **शका**—किस क्रमसे ? **समाधान**—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पचेन्द्रिय इस क्रमसे व्यवस्थित है। यहाँ तद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि समासका ग्रहण किया है, अत द्वीन्द्रियका भी अन्तर्भाव हो जाता है। **शंका**—इन द्वीन्द्रिय आदि जीवोके कितने प्राण होते हैं ? **समाधान**—पूर्वोक्त चार प्राणोंमे रसनाप्राण और वचनप्राण इन दो प्राणोके मिला देनेपर दो इन्द्रिय जीवोके छह प्राण होते है। इनमे घ्राणप्राणके मिला देनेपर तीनइन्द्रिय जीवके सात प्राण होते है। इनमे चक्षुप्राणके मिला देनेपर चौइन्द्रिय जीवके आठ प्राण होते है। इनमे श्रोत्रप्राणके मिला देनेपर तिर्यंच असज्ञीके नौ प्राण होते है। इनमे मनोबलके मिला देनेपर सज्ञी जीवोके दस प्राण होते हैं।

---

1 जीव । उक्त च -पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढविजीवो य । साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवतरिदो । एव—मु । 2 'बहुव्रीहौ तद्गुणसविज्ञानमपि—परि-शे प 4, 4 । 3 बलाधिका , आ, दि. 1, दि 2 ।

§ 289. 'आदि'शब्देन निर्दिष्टानामनिर्ज्ञातसंख्यानामियत्तावधारणं कर्त्तव्यमित्यत आह—

पंचेन्द्रियाणि ॥15॥

§ 290: 'इन्द्रिय'शब्दो व्याख्यातार्थः । 'पञ्च'ग्रहणमवधारणार्थम्, पंचैव नाधिकसंख्यानीति । कर्मेन्द्रियाणां [1]वागादीनामिह ग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम्; उपयोगप्रकरणात् । उपयोगसाधनानामिह ग्रहणं[2], न क्रियासाधनानाम्; अनवस्थानाच्च । क्रियासाधनानामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिर्वर्तितानां सर्वेषामपि क्रियासाधनत्वमस्तीति न पंचैव कर्मेन्द्रियाणि ।

§ 291. तेषामन्तर्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

द्विविधानि[3] ॥16॥

§ 292. 'विध'शब्दः प्रकारवाची । द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि, द्विप्रकाराणीत्यर्थः ।

विशेषार्थ—यहाँ द्वीन्द्रियके छह, त्रीन्द्रियके सात, चतुरिन्द्रियके आठ, असज्ञी पचेन्द्रियके नौ और सज्ञीके दस प्राण पर्याप्त अवस्थाकी अपेक्षा वतलाये है। अपर्याप्त अवस्थामे इनके क्रमसे चार, पाँच, छह और सात प्राण होते है। खुलासा इस प्रकार है—कुल प्राण दस है—पाँच इन्द्रियप्राण, तीन बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमे-से सज्ञी और असज्ञीके अपर्याप्त अवस्थामे श्वासोच्छ्वास, मनोबल और वचनबल ये तीन प्राण नही होते, शेष सात प्राण होते है। चतुरिन्द्रियके अर्पाप्त अवस्थामे तीन ये और श्रोत्रेन्द्रिय ये चार प्राण नही होते, शेष छह प्राण होते है। त्रीन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामे चार ये और चक्षुरिन्द्रिय ये पाँच प्राण नही होते, शेष पाँच प्राण होते हैं और द्वीन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामे पाँच ये और घ्राणेन्द्रिय ये छह प्राण नही होते, शेष चार प्राण होते है तथा एकेन्द्रियके छह ये तथा श्वासोच्छ्वास ये सात प्राण नही होते, शेष तीन प्राण होते है।

§ 289 पूर्व सूत्रमे जो आदि शब्द दिया है उससे इन्द्रियोकी सख्या नही ज्ञात होती, अत उनके परिमाणका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

इन्द्रियाँ पाँच है ॥15॥

§ 290 इन्द्रिय शब्दका व्याख्यान कर आये। सूत्रमे जो 'पच' पदका ग्रहण किया है वह मर्यादाके निश्चित करनेके लिए किया है कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती है। इससे इन्द्रियोकी और अधिक सख्या नही पायी जाती। **शका**—इस सूत्रमे वचनादिक कर्मेन्द्रियोका ग्रहण करना चाहिए ? **समाधान**—नही करना चाहिए, क्योकि उपयोगका प्रकरण है। इस सूत्रमे उपयोगकी साधनभूत इन्द्रियोका ग्रहण किया है, क्रियाकी साधनभूत इन्द्रियोका नही। दूसरे, क्रिया की साधनभूत इन्द्रियोकी मर्यादा नही है। अगोपाग नामकर्मके उदयसे जितने भी अगोपागोकी रचना होती है वे सव क्रियाके साधन है, इसलिए कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही है ऐसा कोई नियम नही किया जा सकता।

§ 291 अव उन पाँचो इन्द्रियोके अन्तर्भेदोको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

वे प्रत्येक दो-दो प्रकार की है ॥16॥

§ 292. विध शब्द प्रकारवाची है। 'द्विविधानि' पदमे 'द्वौ विधौ येषा तानि द्विविधानि' इस प्रकार वहुव्रीहि समास है। आशय यह है कि ये पाँचो इन्द्रियाँ प्रत्येक दो-दो प्रकारकी हैं।

---

1 'वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहु ।—सा कौ. श्लो 26 । 2 ग्रहण कृत न क्रिया—मु, ता, ना । 3. 'कतिविहाण भते इदिया पण्णत्ता । गोयमा, दुविहा पण्णत्ता । त जहा—दव्विदिया य भाविदिया य —पण्णवणा पद 15 ।

कौ पुनस्तौ द्वौ प्रकारौ ? द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति ।

§ 293. तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।।17।।

§ 294. निर्वर्त्यते [1]इति निर्वृत्तिः । केन निर्वर्त्यते ? कर्मणा । सा द्विविधा; बाह्याभ्यन्तरभेदात् । उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यान्तरा निर्वृत्तिः । तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः । येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् । पूर्ववत्तदपि द्विविधम् । तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलं, बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि । एवं [2]शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम् ।

§ 295. भावेन्द्रियमुच्यते—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।।18।।

§ 296. लम्भनं लब्धिः । का पुनरसौ ? ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः । तदुभयं भावे-

शंका—वे दो प्रकार कौन है ? समाधान—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ।

§ 293 अब द्रव्येन्द्रियके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है ।।17।।

§ 294 रचनाका नाम निर्वृत्ति है । शंका—किसके द्वारा यह रचना की जाती है ? समाधान—कर्म के द्वारा । निर्वृत्ति दो प्रकार की है—बाह्यनिर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति । उत्सेधागुलके असख्यातवे भागप्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियोके आकाररूपसे अवस्थित शुद्ध आत्मप्रदेशोकी रचनाको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते है । तथा इन्द्रिय नामवाले उन्ही आत्मप्रदेशोमे प्रतिनियत आकाररूप और नामकर्मके उदयसे विशेष अवस्थाको प्राप्त जो पुद्गलप्रचय होता है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते है । जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते है । निर्वृत्तिके समान यह भी दो प्रकारका है—आभ्यन्तर और बाह्य । नेत्र इन्द्रियमे कृष्ण शुक्लमण्डल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक और दोनो बरोनी आदि बाह्य उपकरण हैं । इसी प्रकार शेष इन्द्रियोमे भी जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—आगममे ससारी जीवके प्रदेश चलाचल बतलाये हैं । मध्यके आठ प्रदेश अचल होते है और प्रदेश चल । ऐसी अवस्थामे नियत आत्मप्रदेश ही सदा विवक्षित इन्द्रियरूप बने रहते है यह नही कहा जा सकता, किन्तु प्रदेश परिस्पन्दके अनुसार प्रति समय अन्य-अन्य प्रदेश आभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप होते रहते है ऐसा यहाँ समझना चाहिए । जिसके जितनी इन्द्रियाँ होती हैं उसके उतने इन्द्रियावरण कर्मोका क्षयोपशम सर्वांग होता है, इसलिए आभ्यन्तर निवृत्तिकी उक्त प्रकारसे व्यवस्था होनेमे कोई बाधा नही आती । यह उक्त कथनका तात्पर्य है । शेष कथन सुगम है ।

§ 295 अब भावेन्द्रियका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रिय है ।।18।।

§ 296. लब्धि शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—लम्भन लब्धिः—प्राप्त होना । शंका—लब्धि किसे कहते हैं ? समाधान—ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषको लब्धि कहते है । जिसके

1. निर्वर्त्यते इति मु । 2 शेषेष्विन्द्रि—मु ।

न्द्रियम् । इन्द्रियफलमुपयोगः, तस्य कथमिन्द्रियत्वम् ? कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात् । यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति । स्वार्थस्य तत्र मुख्यत्वाच्च । इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमिति य स्वार्थः स उपयोगे[1] मुख्यः, 'उपयोगलक्षणो जीव' इति वचनात् । अत उपयोगस्येन्द्रियत्वं न्याय्यम् ।

संसर्गसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचना करनेके लिए उद्यत होता है, तन्निमित्तक आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं । लब्धि और उपयोग ये दोनो भावेन्द्रियाँ है । **शंका**—उपयोग इन्द्रियका फल है, वह इन्द्रिय कैसे हो सकता है ? **समाधान**—कारणका धर्म कार्यमे देखा जाता है । जैसे घटाकार परिणत हुआ ज्ञान भी घट कहलाता है, अत इन्द्रियके फलको इन्द्रिय माननेमें कोई आपत्ति नही है । दूसरे इन्द्रियका जो अर्थ है वह मुख्यतासे उपयोगमे पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रके लिंगको इन्द्रिय कहते है' यह जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ है वह उपयोगमे मुख्य है, क्योकि जीवका लक्षण उपयोग है' ऐसा वचन है, अत उपयोगको इन्द्रिय मानना उचित है ।

विशेषार्थ—ज्ञानकी अमुक पर्यायको प्रकट न होने देना विवक्षित ज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोके उदयका काम है । किन्तु जिस जीवके विवक्षित ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उसके उस ज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोका उदय न होनेसे विवक्षित ज्ञानके प्रकाशमे आनेकी योग्यता होती है और इसी योग्यताका नाम लब्धि है । ऐसी योग्यता एक साथ सभी क्षायोपशमिक ज्ञानोकी हो सकती है, किन्तु उपयोगमे एक कालमे एक ही ज्ञान आता है । इसका अभिप्राय यह है कि क्षायोपशमिक ज्ञानकी जाननेके सन्मुख हुई पर्यायका नाम लब्धि न होकर क्षयोपशमविशेषका नाम लब्धि है और उपयोग ज्ञानकी उपयुक्त पर्यायका नाम है । यही कारण है कि लब्धि एक साथ अनेक ज्ञानोकी हो सकती है पर उपयोग एक कालमे एक ही ज्ञानका होता है । पहले प्रथम अध्याय सूत्र 14 मे यह कह आये है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है । इससे ज्ञात होता है कि उपयोग स्वरूप ज्ञानकी इन्द्रिय सज्ञा न होकर जो उपयोगरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके होनेमे साधकतम करण है उसीकी इन्द्रिय सज्ञा है, इसलिए वहाँ निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धिको इन्द्रिय कहना तो ठीक है, क्योकि ये उपयोगरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके होनेमे साधकतम करण है पर स्वय उपयोगको इन्द्रिय कहना ठीक नही है, क्योकि वह इन्द्रिय व्यापारका फल है । यह एक शका है जिसका समाधान पूज्यपाद स्वामीने दो प्रकारसे किया है । प्रथम तो यह बतलाया है कि कारणके धर्म इन्द्रियत्वका कार्यमे उपचार करके उपयोगको भी इन्द्रिय कहा है । अर्थात् उपयोग स्वय इन्द्रिय नही है, किन्तु इन्द्रियके निमित्तसे वह होता है, इसलिए यहाँ उपचारसे उसे इन्द्रिय कहा है । यह प्रथम समाधान है । दूसरा समाधान करते हुए उन्होने जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि जिससे इन्द्र अर्थात् आत्माकी पहचान हो वह इन्द्रिय कहलाती है और ऐसी पहचान करानेवाली वस्तु निज अर्थ होनी चाहिए । यदि इस दृष्टिसे देखा जाता है तो इन्द्रिय शब्दका मुख्य वाच्य उपयोग ही ठहरता है, क्योकि वह आत्माका निज अर्थ है । यही कारण है कि यहाँ उपयोगको भी इन्द्रिय कहा है । तात्पर्य यह है कि निमित्तकी अपेक्षा विचार करनेपर निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धिको इन्द्रिय सज्ञा प्राप्त होती है और स्वार्थकी अपेक्षा विचार करनेपर उपयोगको इन्द्रिय सज्ञा प्राप्त होती है । पहले प्रथम अध्यायमें केवल निमित्तकी अपेक्षा इन्द्रिय शब्दका व्यवहार किया गया था और यहाँ निमित्त और मुख्यार्थ दोनोको ध्यानमे रखकर इन्द्रियके भेद दिखलाये गये हैं इसलिए कोई विरोध नही है ।

---

1. —योगो मुख्य दि 1, दि. 2, मु । 2 'बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।' सा-कौ, श्लो. 6 । घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्य. ।'—न्या. सू 1, 1, 12 ।

§ 297. उक्तानामिन्द्रियाणां संज्ञानुपूर्वीप्रतिपादनार्थमाह—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥19॥

§ 298. लोके इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते। अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। ततः पारतन्त्र्यात्स्पर्शनादीनां करणत्वम्। वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मना [1]स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्। रस्यतेऽनेनेति रसनम्। घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम्। चक्षेरनेकार्थत्वाद्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टे अर्थान्पश्यत्यनेनेति चक्षुः। श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते। इदं[2] मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति। ततः स्पर्शनादीनां कर्तरि निष्पत्तिः। स्पृशतीति स्पर्शनम्। रसतीति रसनम्। जिघ्रतीति घ्राणम्। चष्टे इति चक्षुः। शृणोतीति श्रोत्रम्। एषां निर्देशक्रमः एकैकवृद्धिक्रमप्रज्ञापनार्थः।

§ 299. तेषामिन्द्रियाणां विषयप्रदर्शनार्थमाह—

[3]स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥20॥

§ 300. द्रव्यपर्याययोः प्राधान्यविवक्षायां कर्मभावसाधनत्वं स्पर्शादिशब्दानां वेदितव्यम्। द्रव्यप्राधान्यविवक्षायां कर्मनिर्देशः। स्पृश्यत इति स्पर्शः। रस्यत इति रसः। गन्ध्यत इति गन्धः।

---

§ 297. अब उक्त इन्द्रियोंके क्रमसे संज्ञा दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ॥ 19 ॥

§ २९८. लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्य विवक्षा देखी जाती है। जैसे इस आँखसे मैं अच्छा देखता हूँ, इस कानसे मैं अच्छा सुनता हूँ। अतः पारतन्त्र्य विवक्षामें स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका करणपना बन जाता है। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा स्वाद लेता है वह रसन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूँघता है वह घ्राण इन्द्रिय है। चक्षि धातुके अनेक अर्थ हैं। उनमें-से यहाँ दर्शनरूप अर्थ लिया गया है इसलिए जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है। इसीप्रकार इन इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है। जैसे यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। और इसलिए इन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी कर्ताकारकमें सिद्धि होती है। यथा—जो स्पर्श करती है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो स्वाद लेती है वह रसन इन्द्रिय है, जो सूँघती है वह घ्राण इन्द्रिय है, जो देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है और जो सुनती है वह कर्ण इन्द्रिय है। सूत्रमें इन इन्द्रियोंका जो स्पर्शनके बाद रसना और उसके बाद घ्राण इत्यादि क्रमसे निर्देश किया है वह एक-एक इन्द्रियकी इस क्रमसे वृद्धि होती है यह दिखलानेके लिए किया है।

§ २९९. अब उन इन्द्रियोंका विषय दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्शन, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रमसे उन इन्द्रियोंके विषय हैं ॥२०॥

§ ३००. द्रव्य और पर्यायकी प्राधान्य विवक्षामें स्पर्शादि शब्दोंकी क्रमसे कर्मसाधन और भावसाधनमें सिद्धि जानना चाहिए। जब द्रव्यकी अपेक्षा प्रधान रहती है तब कर्मनिर्देश होता है। जैसे—जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है, जो स्वादको प्राप्त होता है वह रस है, जो सूँघा जाता है वह गन्ध है जो देखा जाता है वह वर्ण है और जो शब्दरूप होता है वह शब्द है। इस

---

१ जिघ्रत्यनेन घ्राणं गन्धं गृह्णातीति। रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णातीति। चष्टेऽनेनेति चक्षुः रूपं पश्यतीति × × शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति। —वा० भा० १, १, १२। २ इमानीन्द्रियाणि कदाचित्स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति। तद्यथा—इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। कदाचित्पारतन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति—अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि इति। —पा० म० भा० ११२१२१५१। ३ गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। —न्या० सू० १।१

वर्ण्यत इति वर्णः। शब्द्यत इति शब्द। पर्यायप्राधान्यविवक्षायां भावनिर्देशः। स्पर्शनं स्पर्शः। रसन रसः। गन्धनं गन्धः। वर्णनं वर्णः। शब्दनं शब्द[1] इति। एषां क्रम इन्द्रियक्रमेणैव व्याख्यात।

§ 301. अत्राह, यत्तावन्मनोऽनवस्थानादिन्द्रिय न भवतीति प्रत्याख्यातं तत्किमुपयोगस्योपकारि उत नेति। तदप्युपकार्येव। तेन विनेन्द्रियाणां विषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात्। किञ्चास्यैषां सहकारित्वमात्रमेव प्रयोजनमुतान्यदपीत्यत आह—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥21॥

§ 302. श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतम्। स विषयोऽनिन्द्रियस्य; परिप्राप्तश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मनः [2]श्रुतार्थेऽनिन्द्रियालम्बनज्ञानप्रवृत्ते। अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतम्, तदनिन्द्रियस्यार्थः प्रयोजनमिति यावत्। स्वातन्त्र्यसाध्यमिदं प्रयोजनमनिन्द्रियस्य।

§ 303. उक्तानामिन्द्रियाणां प्रतिनियतविषयाणां स्वामित्वनिर्देशे कर्तव्ये यत्प्रथमं गृहीतं स्पर्शनं तस्य तावत्स्वामित्वावधारणार्थमाह—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥22॥

व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक द्रव्य ठहरते हैं। तथा जब पर्यायकी विवक्षा प्रधान रहती है तब भावनिर्देश होता है। जैसे—स्पर्शन स्पर्श है, रसन रस है, गन्धन गन्ध है, वर्णन वर्ण है और शब्दन शब्द है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक धर्म निश्चित होते हैं। इन स्पर्शादिकका क्रम इन्द्रियोके क्रमसे ही व्याख्यात है। अर्थात् इन्द्रियोके क्रमको ध्यानमे रखकर इनका क्रमसे कथन किया है।

§ 301 आगे कहते हैं कि मन अनवस्थित है, इसलिए वह इन्द्रिय नही। इस प्रकार जो मनके इन्द्रियपनेका निषेध किया है, सो यह मन उपयोगका उपकारी है या नही ? मन भी उपकारी है, क्योकि मनके बिना स्पर्शादि विषयोमे इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धि करनेमे समर्थ नही होती। तो क्या इन्द्रियोकी सहायता करना ही मनका प्रयोजन है या और भी इसका प्रयोजन है ? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

श्रुत मनका विषय है ॥21॥

§ 302 श्रुतज्ञानका विषयभूत अर्थ श्रुत है वह अनिन्द्रिय अर्थात् मनका विषय है, क्योकि श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवके श्रुतज्ञानके विषयमे मनके आलम्बनसे ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। अथवा श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है। और वह मनका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है। यह प्रयोजन मनके स्वत आधीन है, इसमे उसे दूसरेके साहाय्यकी आवश्यकता नही लेनी पडती।

विशेषार्थ—यहाँ श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञानका विषय या श्रुतज्ञान किया है और उसे अनिन्द्रियका विषय बतलाया है। आशय यह है कि श्रुतज्ञानकी उपयोग दशा पाँच इन्द्रियोके निमित्तसे न होकर केवल अनिन्द्रियके निमित्तसे होती है। इसका यह अभिप्राय नही कि अनिन्द्रियके निमित्तमे केवल श्रुतज्ञान ही होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनोके निमित्तसे होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान इन दोनोके निमित्तसे न होकर केवल अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है। इन्द्रियाँ परम्परा निमित्त हैं।

§ 303. किस इन्द्रियका क्या विषय है यह बतला आये। अब उनके स्वामीका कथन करना है, अत सर्व प्रथम जो स्पर्शन इन्द्रिय कही है उसके स्वामीका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकायिक तकके जीवोंके एक अर्थात् प्रथम इन्द्रिय होती है ॥22॥

---

1 – शब्द.। एषा —मु ता। – शब्द·। तेषा —मु.। 2. श्रुतस्यार्थे —मु, ता, ना.।

§ 304. एकं प्रथममित्यर्थः। किं तत् ? स्पर्शनम्। तत्केषाम् ? पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां वेदितव्यम्। तस्योत्पत्तिकारणमुच्यते— वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये च शरीरनामलाभावष्टम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति।

§ 305. इतरेषामिन्द्रियाणां स्वामित्वप्रदर्शनार्थमाह—

कृमिपिपीलकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥23॥

§ 306. 'एकैकम्' इति वीप्सायां द्वित्वम्। एकैकेन वृद्धानि एकैकवृद्धानि। कृमिमादिं[1] कृत्वा, स्पर्शनाधिकारात् स्पर्शनमादिं कृत्वा एकैकवृद्धानीत्यभिसम्बन्धः क्रियते। 'आदि'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। कृम्यादीनां स्पर्शनं रसनाधिकम्, पिपीलिकादीनां स्पर्शनरसने घ्राणाधिके, भ्रमरादीनां स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुरधिकानि, मनुष्यादीनां तान्येव श्रोत्राधिकानीति यथासंख्येनाभिसंबन्धो व्याख्यातः। तेषां निष्पत्तिः स्पर्शनोत्पत्त्या व्याख्याता उत्तरोत्तरसर्वघातिस्पर्धकोदयेन।

§ 307. एवमेतेषु संसारिषु द्विभेदेषु इन्द्रियभेदात्पञ्चविधेषु ये पञ्चेन्द्रियास्तद्भेदस्यानुक्तस्य प्रतिपादनार्थमाह—

---

§ 304. सूत्रमे आयें हुए 'एक' शब्दका अर्थ प्रथम है। शंका—यह कौन है ? समाधान—स्पर्शन। शंका—वह किन जीवोके होती है ? समाधान—पृथिवीकायिक जीवोसे लेकर वनस्पतिकायिक तकके जीवोके जानना चाहिए। अब उसकी उत्पत्तिके कारणका कथन करते हैं—वीर्यान्तराय तथा स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर और शेष इन्द्रियोके सर्वघाती स्पर्धकोके उदयके होनेपर तथा शरीर नामकर्मके आलम्बनके होनेपर और एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी आधीनताके रहते हुए एक स्पर्शन इन्द्रिय प्रकट होती है।

§ 305. अब इतर इन्द्रियोके स्वामित्वका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य आदिके क्रमसे एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है ॥23॥

§ 306 'एकैकम्' यह वीप्सामे द्वित्व है। इन्द्रियाँ एक-एकके क्रमसे बढी हैं इसलिए वे 'एकैकवृद्ध' कही गयी हैं। ये इन्द्रियाँ कृमिसे लेकर बढी हैं। स्पर्शन इन्द्रिय का अधिकार है, अतः स्पर्शन इन्द्रियसे लेकर एक-एकके क्रमसे बढी हैं इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। आदि शब्दका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होता है। जिससे यह अर्थ हुआ कि कृमि आदि जीवोके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। पिपीलिका आदि जीवोके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर आदि जीवोके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। मनुष्यादिकके श्रोत्र इन्द्रियके और मिला देनेपर पाँच इन्द्रियाँ होती है। इस प्रकार उक्त जीव और इन्द्रिय इनका यथाक्रमसे सम्बन्धका व्याख्यान किया। पहले स्पर्शन इन्द्रियकी उत्पत्तिका व्याख्यान कर आये हैं उसी प्रकार शेष इन्द्रियोकी उत्पत्तिका व्याख्यान करना चाहिए। किन्तु उत्पत्तिके कारणका व्याख्यान करते समय जिस इन्द्रियकी उत्पत्तिके कारणका व्याख्यान किया जाय, वहाँ उससे अगली इन्द्रिय सम्बन्धी सर्वघाती स्पर्धकोके उदयके साथ वह व्याख्यान करना चाहिए।

§ 307 इस प्रकार इन दो प्रकारके और इन्द्रिय-भेदोकी अपेक्षा पाँच प्रकारके संसारी जीवोंमे जो पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके भेद नही कहे, अत उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1. —किम्यादिं आ। —कृम्यादिं दि. 1, दि. 2।

संज्ञिनः समनस्काः ॥24॥

§ 308. मनो व्याख्यातम् । सह तेन ये वर्तन्ते ते समनस्काः । संज्ञिन[1] इत्युच्यन्ते । पारिशेष्यादितरे संसारिणः प्राणिनोऽसंज्ञिन इति सिद्धम् । ननु च संज्ञिन इत्यनेनैव गतार्थत्वात् समनस्का इति विशेषणमनर्थकम्[2] । यतो मनोव्यापारो हिताहितप्राप्तिपरिहारपरीक्षा । संज्ञापि सैवेति । नैतद्युक्तम्, संज्ञाशब्दार्थव्यभिचारात् । संज्ञा नामेत्युच्यते । तद्वन्तः संज्ञिन इति सर्वेषामतिप्रसङ्गः । संज्ञा ज्ञानमिति चेत्; सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानात्मकत्वादतिप्रसङ्गः । आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति चेत् । तुल्यम् । तस्मात्समनस्का इत्युच्यते । एवं च कृत्वा गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्त्याद्यवस्थासु हिताहितपरीक्षाभावेऽपि मनःसंनिधानात्संज्ञित्वमुपपन्नं भवति ।

§ 309. यदि हिताहितादिविषयपरिस्पन्दः प्राणिनां मनःप्रणिधानपूर्वकः । अथाभिनवशरीरग्रहणं प्रत्यागूर्णस्य विशीर्णपूर्वमूर्तेर्निर्मनस्कस्य यत्कर्म तत्कृत इत्युच्यते—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥25॥

मनवाले जीव संज्ञी होते हैं ॥24॥

§ 308. मनका व्याख्यान कर आये हैं। उसके साथ जो रहते है वे समनस्क कहलाते हैं। और उन्हे ही संज्ञी कहते हैं। परिशेष न्यायसे यह सिद्ध हुआ कि इनसे अतिरिक्त जितने ससारी जीव होते हैं वे सब असज्ञी होते हैं। शंका—सूत्रमे 'सज्ञिन.' इतना पद देनेसे ही काम चल जाता है, अत. 'समनस्का.' यह विशेषण देना निष्फल है, क्योंकि हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागकी परीक्षा करनेमे मनका व्यापार होता है और यही सज्ञा है? समाधान—यह कहना उचित नही, क्योकि सज्ञा शब्दके अर्थमे व्यभिचार पाया जाता है। अर्थात् सज्ञा शब्दके अनेक अर्थ हैं। सज्ञाका अर्थ नाम है। यदि नामवाले जीव सज्ञी माने जायँ तो सब जीवोको संज्ञीपनेका प्रसग प्राप्त होता है। सज्ञाका अर्थ यदि ज्ञान लिया जाता है तो भी सभी प्राणी ज्ञानस्वभाव होनेसे सबको संज्ञीपनेका प्रसग प्राप्त होता है। यदि आहारादि विषयोकी अभिलाषाको सज्ञा कहा जाता है तो भी पहलेके समान दोष प्राप्त होता है। अर्थात् आहारादि विषयक अभिलाषा सबके पायी जाती है, इसलिए भी सबको सज्ञीपनेका प्रसग प्राप्त होता है। चूँकि ये दोष न प्राप्त हो अत सूत्रमें 'समनस्का.' यह पद रखा है। इससे यह लाभ है कि गर्भज, अण्डज, मूर्च्छित और सुषुप्ति आदि अवस्थाओमे हिताहितकी परीक्षाके न होनेपर भी मनके सम्बन्धसे सज्ञीपना बन जाता है।

विशेषार्थ—प्राय. एकेन्द्रिय आदि प्रत्येक जीव अपने इष्ट विषयमें प्रवृत्ति करता है और अनिष्ट विषयसे निवृत्त होता है, फिर भी मनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है सो इसका कारण यह है कि तुलनात्मक अध्ययन, लोक-परलोकका विचार, हिताहितका विवेक आदि कार्य ऐसे हैं जो मनके विना नही हो सकते। इसीसे मनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है। यह मन जिनके होता है वे सज्ञी होते है अन्य नही। जीवोका सज्ञी और असज्ञी यह भेद पचेन्द्रिय जीवोमे ही पाया जाता है। अन्य एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके जीव तो असंज्ञी ही होते हैं। अर्थात् उनके मन न होनेसे वे उक्त प्रकारके ज्ञानसे वचित रहते हैं।

§ 309. यदि जीवोके हित और अहित आदि विषयके लिए क्रिया मनके निमित्तसे होती है तो जिसने पूर्व शरीरको छोड़ दिया है और जो मनरहित है ऐसा जीव जब नूतन शरीरको ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता है तब उसके जो क्रिया होती है वह किस निमित्तसे होती है यही बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

विग्रहगतिमें कार्मणकाय योग होता है ॥ 25 ॥

---

1. —ज्ञिन. उच्य—दि. 1, दि 2, आ. । 2. —नर्थकम् । मनो—ता. ना. ।

§ 310. विग्रहो देहः। विग्रहार्था गतिर्विग्रहगतिः। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः[1]। कर्मादानेऽपि नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः। विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिः। सर्वशरीर-प्ररोहणबीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते। योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरि-स्पन्दः। कर्मणा कृतो योगः कर्मयोगो विग्रहगतौ भवतीत्यर्थः। तेन कर्मादानं देशान्तरसंक्रमश्च भवति।

§ 311. आह जीवपुद्गलानां गतिमास्कन्दतां देशान्तरसंक्रम किमाकाशप्रदेशक्रमवृत्त्या भवति, उताविशेषेणेत्यत आह—

अनुश्रेणि गतिः ॥26॥

§ 312. लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसंनिविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिः इत्युच्यते। 'अनु'शब्दस्यानुपूर्व्येण वृत्तिः। [2]श्रेणेरानुपूर्व्येणानुश्रेणीति जीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवतीत्यर्थः। अनधिकृतानां पुद्गलानां कथं ग्रहणमिति चेत्। गतिग्रहणात्। यदि जीवाना-मेव गतिरिष्टा स्याद् गतिग्रहणमनर्थकम्; अधिकारात्तत्सिद्धेः। उत्तरत्र जीवग्रहणाच्च पुद्गल-संप्रत्ययः। ननु चन्द्रादीनां ज्योतिष्काणां[3] मेरुप्रदक्षिणाकाले विद्याधरादीनां च विश्रेणिगतिरपि दृश्यते, तत्र किमुच्यते, 'अनुश्रेणि गति' इति। कालदेशनियमोऽत्र वेदितव्यः। तत्र कालनियम-

§ 310. विग्रहका अर्थ देह है। विग्रह अर्थात् शरीरके लिए जो गति होती है वह विग्रह गति है। अथवा विरुद्ध ग्रहको विग्रह कहते है जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्थामे कर्मके ग्रहण होनेपर भी नोकर्मरूप पुद्गलोका ग्रहण नही होता वह विग्रह है और इस विग्रहके साथ होनेवाली गतिका नाम विग्रहगति है। सब शरीरोकी उत्पत्तिके मूलकारण कार्मण शरीरको कर्म कहते हैं। तथा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोके हलनचलनको योग कहते हैं। कर्मके निमित्तसे जो योग होता है वह कर्मयोग है। वह विग्रहगतिमे होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इससे नूतन कर्मका ग्रहण और एक देशसे दूसरे देशमे गमन होता है।

§ 311. गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोका एक देशसे दूसरे देशमे गमन क्या आकाशप्रदेशोकी पक्तिक्रमसे होता है या इसके बिना होता है, अब इसका खुलासा करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गति श्रेणीके अनुसार होती है ॥26॥

§ 312. लोकके मध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाशप्रदेशोकी पक्तिको श्रेणी कहते हैं। अनु शब्द 'आनुपूर्वी' अर्थमे समसित है। इसलिए 'अनुश्रेणि' का अर्थ 'श्रेणीकी आनुपूर्वीसे' होता है। इस प्रकारकी गति जीव और पुद्गलोकी होती है यह इसका भाव है। **शंका**—पुद्गलोका अधिकार न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण कैसे हो सकता है? **समाधान**—सूत्रमे गतिपदका ग्रहण किया है इससे सिद्ध हुआ कि अनधिकृत पुद्गल भी यहाँ विवक्षित हैं। यदि जीवोंकी गति ही इष्ट होती तो सूत्रमे गति पदके ग्रहण करनेकी आवश्यकता न थी, क्योकि गति पदका ग्रहण अधिकारसे सिद्ध है। दूसरे अगले सूत्रमे जीव पदका ग्रहण किया है, इसलिए इस सूत्रमे पुद्गलोका भी ग्रहण इष्ट है यह ज्ञान होता है। **शंका**—चन्द्रमा आदि ज्योतिषियोकी और मेरुकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोकी विश्रेणी गति देखी जाती है, इसलिए जीव और पुद्गलोको अनुश्रेणी गति होती है यह किसलिए कहा? **समाधान**—यहाँ कालनियम और देशनियम जानना चाहिए। कालनियम यथा—मरणके समय जब जीव एक भवको छोडकर

1. -व्याघात.। नोकर्म—ता, ना.। 2 -रानुपूर्वेणा- आ। 3. ज्योतिषा आ, दि. 1, दि 2।

स्तावज्जीवानां मरणकाले भवान्तरसंक्रमे मुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गतिः। देशनियमोऽपि ऊर्ध्वलोकादधोगतिः, अधोलोकादूर्ध्वगति, तिर्यग्लोकादधोगतिरूर्ध्वा वा तत्रानुश्रेण्येव। पुद्गलानां च या लोकान्तप्रापिणी सा नियमादनुश्रेण्येव। इतरा गतिर्भजनीया।

§ 313. पुनरपि गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अविग्रहा जीवस्य ॥27॥

§ 314 विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः। स यस्यां न विद्यतेऽसावविग्रहा गतिः। कस्य ? जीवस्य। कीदृशस्य ? मुक्तस्य। कथं गम्यते मुक्तस्येति ? उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह मुक्तस्येति विज्ञायते। ननु च 'अनुश्रेणि गतिः' इत्यनेनैव श्रेण्यन्तरसंक्रमाभावो व्याख्यातः। नार्थोऽनेन। पूर्वसूत्रे विश्रेणिगतिरपि क्वचिदस्तीति ज्ञापनार्थमिदं वचनम्। ननु तत्रैव देशकालनियम उक्तः। न; अतस्तत्सिद्धेः।

§ 315. यद्यसङ्गस्यात्मनोऽप्रतिबन्धेन गतिरालोकान्तादवधृतकाला[1] प्रतिज्ञायते, सदेहस्य पुनर्गतिः किं प्रतिबन्धिनी उत मुक्तात्मवदित्यत आह—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥28॥

दूसरे भवके लिए गमन करते है और मुक्त जीव जब ऊर्ध्व गमन करते है तब उनकी गति अनुश्रेणि ही होती है। देशनियम यथा—जब कोई ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोकसे ऊर्ध्वलोकके प्रति आता जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोक से ऊर्ध्वलोकके प्रति आता जाता है तब उस अवस्थामे गति अनुश्रेणि ही होती है। इसी प्रकार पुद्गलोकी जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणि भी होती है और विश्रेणि भी। किसी एक प्रकारकी गति होनेका कोई नियम नही है।

§ 313 अब फिर भी गति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मुक्त जीवकी गति विग्रहरहित होती है ॥27॥

§ 314 विग्रहका अर्थ व्याघात या कुटिलता है। जिस गतिमे विग्रह अर्थात् कुटिलता नही होती वह विग्रहरहित गति है। **शंका**—यह किसके होती है ? **समाधान**—जीवके। **शंका**—किस प्रकारके जीवके ? **समाधान**—मुक्त जीवके। **शंका**—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है कि मुक्त जीवके विग्रहरहित गति होती है ? **समाधान**—अगले सूत्रमें 'संसारी' पदका ग्रहण किया है इससे ज्ञात होता है कि इस सूत्रमे मुक्त जीवके विग्रहरहित गति ली गयी है। **शंका**—'अनुश्रेणि गति' इस सूत्रसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि एक श्रेणिसे दूसरी श्रेणिमें संक्रमण नही होता फिर इस सूत्रके लिखनेसे क्या प्रयोजन है ? **समाधान**—पूर्व सूत्रमे कहीपर विश्रेणिगति भी होती है इस बातका ज्ञान करानेके लिए यह सूत्र रचा है। **शंका**—पूर्वसूत्रकी टीकामे ही देशनियम और कालनियम कहा है ? **समाधान**—नही, क्योकि उसकी सिद्धि इस सूत्रसे होती है।

§ 315 मुक्तात्माकी लोकपर्यन्त गति विना प्रतिबन्धके नियत समयके भीतर होती है यदि ऐसा आपका निश्चय है तो अब यह बतलाइए कि सदेह आत्माकी गति क्या प्रतिबन्धके साथ होती है या मुक्तात्माके समान विना प्रतिबन्धके होती है, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

संसारी जीवकी गति विग्रहरहित और विग्रहवाली होती है। उसमें विग्रहवाली गति चार समयसे पहले अर्थात् तीन समय तक होती है।

---

1. —न्तादवगतकाला मु.।

§ 316 कालावधारणार्थं 'प्राक्चतुर्भ्यः' इत्युच्यते। 'प्राग्' इति वचनं मर्यादार्थम्, चतुर्थात्समयात्प्राग्विग्रहवती गतिर्भवति न चतुर्थे इति। कुत इति चेत् ? सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे उत्पित्सुः प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावादिषु गत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणनिमित्तां त्रिविग्रहां गतिमारभते नोर्ध्वाम्; तथाविधोपपादक्षेत्राभावात्। 'च'शब्दः समुच्चयार्थः। विग्रहवती चाविग्रहा[1] चेति।

§ 317. विग्रहवत्या गतेः कालोऽवधृतः। अविग्रहायाः कियान् काल इत्युच्यते—

एकसमयाऽविग्रहा ॥29॥

§ 318 एकः समयो [2]यस्या सा एकसमया। न विद्यते विग्रहो[3] यस्याः सा अविग्रहा। गतिमतां हि जीवपुद्गलानामव्याघातेनैकसमयिकी गतिरालोकान्तादपीति।

§ 319. अनादिकर्मबन्धसंततौ मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययवशात्कर्माण्याददानो विग्रहगतावप्याहारकः प्रसक्तस्ततो नियमार्थमिदमुच्यते—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥30॥

§ 320. अधिकारात्समयाभिसंबन्धः। 'वा'शब्दो विकल्पार्थः। विकल्पश्च यथेच्छातिसर्गः। एकं वा द्वौ वा त्रीन्वा [4]समयाननाहारको भवतीत्यर्थः। त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां

---

§ 316 कालका अवधारण करनेके लिए 'प्राक्चतुर्भ्य' पद दिया है। 'प्राक्' पद मर्यादा निश्चित करनेके लिए दिया है। चार समयसे पहले मोड़ेवाली गति होती है, चौथे समयमे नही यह उसका तात्पर्य है। शंका—मोडेवाली गति चार समयसे पूर्व अर्थात् तीन समय तक ही क्यो होती है चौथे समय समयमें क्यों नही होती ? समाधान—निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले दूसरे निष्कुट क्षेत्र वाले जीवको सबसे अधिक मोडे लेने पडते हैं, क्योकि वहाँ आनुपूर्वीसे अनुश्रेणिका अभाव होने से इषुगति नही हो पाती। अत यह जीव निष्कुट क्षेत्रको प्राप्त करनेके लिए तीन मोडेवाली गतिका आरम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़ोकी आवश्यकता नही पड़ती, क्योकि इस प्रकारका कोई उपपादक्षेत्र नही पाया जाता, अत मोड़ेवाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समयमें नही होती। 'च' शब्द समुच्चयके लिए दिया है। जिससे विग्रहवाली और विग्रहरहित दोनों गतियों का समुच्चय होता है।

§ 317 विग्रहवाली गतिका काल मालूम पडा। अब विग्रहरहित गतिका कितना काल है इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक समयवाली गति विग्रहरहित होती है ॥29॥

§ 318. जिस गतिमे एक समय लगता है वह एक समयवाली गति है। जिस गतिमे विग्रह अर्थात् मोडा नही लेना पडता वह मोडारहित गति है। गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंके व्याघातके अभावमे एक समयवाली गति लोकपर्यन्त भी होती है यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ 319. कर्मबन्धकी परम्परा अनादिकालीन है, अत मिथ्यादर्शन आदि बन्ध कारणोके वशसे कर्मोको ग्रहण करनेवाला जीव विग्रहगतिमें भी आहारक प्राप्त होता है, अत. नियम करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक, दो या तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है ॥30॥

§ 320 समयका अधिकार होनेसे यहाँ उसका सम्बन्ध होता है। 'वा' पदका अर्थ विकल्प है और विकल्प जहाँ तक अभिप्रेत है वहाँ तक लिया जाता है। जीव एक समय तक, दो समय

---

1 चाविग्रहवती चेति मु.। 2 समयोऽस्या., एक- आ, दि 1। समयोऽस्या सा एक- दि, 2, ता., ना.। 3 –ग्रहोऽस्या. अवि– आ, दि 1, ता, ना। 4 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे।'—पा. 2, 3, 5।

-योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः। तदभावादनाहारकः। कर्मादानं हि निरन्तरं कार्मणशरीरसद्भावे। उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्व्यां गतौ आहारकः। इतरेषु त्रिषु समयेषु अनाहारकः।

§ 321. एवं गच्छतोऽभिनवमूर्त्यन्तरनिर्वृत्तिप्रकारप्रतिपादनार्थमाह—

संमूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥31॥

§ 322. त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं संमूर्च्छनमवयवप्रकल्पनम्। स्त्रिया उदरे [2]शुक्रशोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भः। [3]मात्रुपभुक्ताहारगरणाद्वा गर्भः। उपेत्य[4] पद्यतेऽस्मिन्निति उपपादः। देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषसंज्ञा। एते त्रयः संसारिणां जीवानां जन्मप्रकाराः शुभाशुभपरिणामनिमित्तकर्मभेदविपाककृताः।

§ 323. अथाधिकृतस्य संसारविषयोपभोगोपलब्ध्य[5]धिष्ठानप्रवणस्य जन्मनो योगिविकल्पा[6] वक्तव्या इत्यत आह—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥32॥

§ 324. आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः। शीत इति स्पर्शविशेषः; शुक्लादिवदुभयवचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमप्याह[7]। सम्यग्वृतः संवृतः। संवृत इति

तक या तीन समय तक अनाहारक होता है यह इस सूत्रका अभिप्राय है। तीन शरीर और छह पर्याप्तियोके योग्य पुद्गलोके ग्रहण करनेको आहार कहते है। जिन जीवोके इस प्रकारका आहार नही होता वे अनाहारक कहलाते हैं। किन्तु कार्मण शरीरके सद्भावमें कर्मके ग्रहण करनेमें अन्तर नही पडता। जब यह जीव उपपादक्षेत्रके प्रति ऋजुगतिमे रहता है तब आहारक होता है। बाकीके तीन समयोमे अनाहारक होता है।

§ 321. इस प्रकार अन्य गतिको गमन करनेवाले जीवके नूतन दूसरे पर्यायकी उत्पत्तिके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद ये (तीन) जन्म हैं ॥31॥

§ 322. तीनो लोकोमे ऊपर, नीचे और तिरछे देहका चारो ओरसे मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना संमूर्च्छन है। इसका अभिप्राय है चारों ओरसे पुद्गलोका ग्रहण कर अवयवोकी रचना होना। स्त्रीके उदरमे शुक्र और शोणितके परस्पर गरण अर्थात् मिश्रणको गर्भ कहते हैं। अथवा माताके द्वारा उपभुक्त आहारके गरण होनेको गर्भ कहते हैं। प्राप्त होकर जिसमे जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते है। उपपाद यह देव और नारकियोके उत्पत्तिस्थान विशेषकी सज्ञा है। संसारी जीवोके ये तीनो जन्मके भेद हैं, जो शुभ और अशुभ परिणामोके निमित्तसे अनेक प्रकारके कर्म बँधते है, उनके फल है।

§ 323. यहाँ तक ससारी विषयोके उपभोगकी प्राप्तिमें आधारभूत जन्मोंका अधिकार था। अब इनकी योनियोके भेद कहने चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये उसकी अर्थात् जन्मकी योनियाँ हैं ॥32॥

§ 324 आत्माके चैतन्यविशेषरूप परिणामको चित्त कहते हैं। जो चित्तके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है। शीत यह स्पर्शका एक भेद है। शुक्ल आदिके समान यह द्रव्य और

---

1 -निर्वृत्तिजन्मप्रका- मु। 2 शुक्लशोणित- ता, ना, दि. 1, मु। 3. मात्रोपभुक्त- मु। मात्रोपयुक्त—दि. 1, दि 2। 4 उपेत्योत्पद्य- मु। 5. -लब्ध्याधिष्ठा- आ., दि 1, दि 2। 6. -कल्पो वक्तव्य. आ. ता., ना.। 7. सम्यग्वृतः संवृत इति आ, दि 1, दि. 2।

दुरुपलक्ष्यप्रदेश उच्यते । सह इतरैर्वर्तन्त इति सेतरा । सप्रतिपक्षा इत्यर्थः । के पुनरितरे ? अचित्तोष्णविवृताः । उभयात्मको मिश्रः । सचित्ताचित्तः शीतोष्णः संवृतविवृत इति । 'च'शब्दः समुच्चयार्थः मिश्राश्च योनयो भवन्तीति । इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषणं स्यात् । 'एकशः' इति वीप्सार्थः । तस्य ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम् । यथैव विज्ञायेत—सचित्तश्च अचित्तश्च, शीतश्च उष्णश्च, संवृतश्च विवृतश्चेति । मैवं विज्ञायि—सचित्तश्च शीतश्चेत्यादि । 'तद्'ग्रहणं जन्मप्रकारप्रतिनिर्देशार्थम् । तेषां संमूर्च्छनादीनां जन्मनां योनय इति । त एते नव योनयो वेदितव्याः । योनिजन्मनोरविशेष इति चेत् ? न; आधाराधेयभेदात्तद्भेदः । त एते सचित्तादयो योनय आधाराः । आधेया जन्मप्रकाराः । यत सचित्तादियोन्यधिष्ठाने आत्मा संमूर्च्छनादिना जन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान्पुद्गलानुपादत्ते । देवनारका अचित्तयोनय । तेषां हि योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः । गर्भजा मिश्रयोनय । तेषां हि मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तम्, तदात्मना चित्तवता मिश्रणान्मिश्रयोनि[1] । संमूर्च्छनजास्त्रिविकल्पयोनय । केचित्सचित्तयोनय. । अन्ये अचित्तयोनयः । अपरे मिश्रयोनयः । सचित्तयोनय. साधारणशरीरा । कुत. ? परस्पराश्रयत्वात् । इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च । शीतोष्णयोनयो देवनारका । तेषां हि उपपादस्थानानि

गुण दोनोका वाची है, अत शीतगुणवाला द्रव्य भी शीत कहलाता है । जो भले प्रकार ढका हो वह संवृत कहलाता है । यहाँ सवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमे न आवे । इतर का अर्थ अन्य है और इनके साथ रहनेवाले सेतर कहे जाते है । शंका—वे इतर कौन है ? **समाधान**—अचित्त, उष्ण और विवृत । जो उभयरूप होते है वे मिश्र कहलाते है । यथा—सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और सवृतविवृत । सूत्रमे 'च' शब्द समुच्चयवाची है । जिससे योनियाँ मिश्र भी होती हैं इसका समुच्चय हो जाता है । यदि 'च' पदका यह अर्थ न लिया जाय तो मिश्रपद पूर्वोक्त पदोंका ही विशेषण हो जाता । 'एकश.' यह पद वीप्सावाची है । सूत्रमे इस पदका ग्रहण क्रम और मिश्रका ज्ञान करानेके लिए किया है । जिससे यह ज्ञान हो कि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत, विवृत इस क्रमसे योनियाँ ली है । यह ज्ञान न हो कि सचित्त, शीत इत्यादि क्रमसे योनियाँ ली है । जन्मके भेदोके दिखलानेके लिए सूत्रमे 'तत्' पदका ग्रहण किया है । उन समूर्च्छन आदि जन्मोकी ये योनियाँ हैं यह इसका भाव है । ये सब मिलाकर नौ योनियाँ जानना चाहिए । **शंका**—योनि और जन्ममे कोई भेद नही ? **समाधान**—नही, क्योकि आधार और आधेयके भेदसे उनमे भेद हैं । ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं और जन्मके भेद आधेय है, क्योकि सचित्त आदि योनिरूप आधारमे समूर्च्छन आदि जन्मके द्वारा आत्मा शरीर, आहार और इन्द्रियोके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है । देव और नारकियोकी अचित्त योनि होती है, क्योकि उनके उपपाददेशके पुद्गलप्रचयरूप योनि अचित्त है । गर्भजोकी मिश्र योनि होती है, क्योंकि उनकी माताके उदरमे शुक्र और शोणित अचित्त होते है जिनका सचित्त माताकी आत्मासे मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है । समूर्च्छनोकी तीन प्रकारकी योनियाँ होती है । किन्हीकी सचित्त योनि होती है, अन्यकी अचित्तयोनि होती है और दूसरोकी मिश्रयोनि होती है । साधारण शरीरवाले जीवोकी सचित्त योनि होती है, क्योकि ये एक-दूसरेके आश्रयसे रहते हैं । इनसे अतिरिक्त शेष संमूर्च्छन जीवोके अचित्त और मिश्र दोनो प्रकारकी योनियाँ होती हैं । देव और नारकियोंकी शीत और उष्ण दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं, क्योकि उनके कुछ उपपादस्थान शीत हैं और कुछ उष्ण । तेजस्कायिक जीवोकी उष्णयोनि होती है । इनसे अतिरिक्त जीवोकी योनियाँ तीन प्रकारकी होती हैं । किन्हीकी शीत योनियाँ होती है, किन्हीकी उष्णयोनियाँ होती हैं और

1. —मिश्र मिश्रयोनि आ., दि 1, दि 2 ।

कानिचिच्छीतानि कानिचिदुष्णानीति। उष्णयोनयस्तैजस्कायिकाः। इतरे त्रिविकल्पयोनयः। केचिच्छीतयोनयः। केचिदुष्णयोनयः। अपरे मिश्रयोनय इति। देवनारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनय। विकलेन्द्रिया विवृतयोनयः। गर्भजाः मिश्रयोनयः। तद्भेदाश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्या आगमतो वेदितव्याः। उक्तं च—

"णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरिय चउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा[1] ॥"

§ 325. एवमेतस्मिन्नवयोनिभेदसंकटे त्रिविधजन्मनि सर्वप्राणभृतामनियमेन प्रसक्ते तदवधारणार्थमाह—

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥33॥

§ 326. यज्जालवत्प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुः। यन्नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्यं शुक्रशोणितपरिवरणं परिमण्डलं तदण्डम्। किंचित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोतः। जरायौ जाता जरायुजाः। अण्डे जाता अण्डजाः। जरायुजाश्च अण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोता गर्भयोनयः।

§ 327. यद्यमीषां जरायुजाण्डजपोतानां गर्भोऽवध्रियते,अथोपपादः केषां भवतीत्यत आह—

देवनारकाणामुपपादः ॥34॥

देवानां नारकाणां चोपपादो जन्म वेदितव्यम्।

किन्हीकी मिश्रयोनियाँ होती हैं। देव, नारकी और एकेन्द्रियोकी सवृत योनियाँ होती हैं। विकलेन्द्रियों की निवृत योनियाँ होती है। तथा गर्भजोकी मिश्र योनियाँ होती हैं। इन सब योनियोके चौरासी लाख भेद हैं यह बात आगमसे जाननी चाहिए। कहा भी है—

'नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोकी सात-सात लाख योनियाँ है। वृक्षोंकी दस लाख योनियाँ हैं। विकलेन्द्रियोकी मिलाकर छह लाख योनियाँ है। देव, नारकी और तिर्यचोकी चार-चार लाख योनियाँ हैं तथा मनुष्योकी चौदह लाख योनियाँ हैं।'

§ 325 इस प्रकार नौ योनियोसे युक्त तीन जन्म सब जीवोके अनियमसे प्राप्त हुए, अत निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका गर्भजन्म होता है ॥33॥

§ 326 जो जालके समान प्राणियोंका आवरण है और जो मांस और शोणितसे वना है उसे जरायु कहते हैं। जो नखकी त्वचाके समान कठिन है, गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणितसे वना है उसे अण्ड कहते है। जिसके सब अवयव बिना आवरणके पूरे हुए हैं और जो योनिसे निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्यसे युक्त है उसे पोत कहते हैं। इनमे जो जरसे पैदा होते है वे जरायुज कहलाते हैं। जो अण्डोसे पैदा होते हैं वे अण्डज कहलाते हैं। सूत्रमे जरायुज, अण्डज और पोत इनका द्वन्द्व समास है। ये सब गर्भकी योनियाँ हैं।

§ 327. यदि इन जरायुज, अण्डज और पोत जीवोका गर्भ जन्म निर्णीत होता है तो अव यह वतलाइए कि उपपाद जन्म किन जीवोके होता है, अत. इस वातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है ॥34॥

---

1. मूलाचार गा. 5.29 एवं 12 63। गो जी. गा.।

§ 328. अथान्येषां किं जन्मेत्यत आह—

शेषाणां संमूर्च्छनम् ॥35॥

§ 329. गर्भजेभ्य औपपादिकेभ्यश्चान्ये शेषा.। संमूर्च्छनं जन्मेति। एते त्रयोऽपि योगा नियमार्थाः। उभयतो नियमश्च द्रष्टव्य। जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भ.। गर्भ एव च जरायुजाण्डजपोतानाम्। देवनारकाणामेवोपपाद। उपपाद एव च देवनारकाणाम्। शेषाणामेव संमूर्च्छनम्। संमूर्च्छनमेव शेषाणामिति।

§ 330. तेषां पुनः ससारिणा त्रिविधजन्मनामाहितबहुविकल्पनवयोनिभेदानां शुभाशुभनामकर्मविपाकनिर्वर्तितानि बन्धफलानुभवनाधिष्ठानानि शरीराणि कानीत्यत आह—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥36॥

§ 331. विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि[1]। औदारिकादिप्रकृतिविशेषोदयप्राप्तवृत्तीनि औदारिकादीनि। उदार स्थूलम्। उदारे[2] भव उदार प्रयोजनमस्येति वा, औदारिकम्। अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविधिकरण विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम्। सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसयमपरिजिहीर्षया वा प्रमत्तसयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम्। यत्तेजोनिमित्तं तेजसि वा भव तत्तैजसम्। कर्मणां कार्यं कार्मणम्। सर्वेषां कर्मनिमित्तत्वेऽपि रूढिवशाद्विशिष्टविषये वृत्तिरवसेया।

---

§ 328 इनसे अतिरिक्त अन्य जीवोके कौन-सा जन्म होता है। अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

शेष सब जीवोंका सम्मूर्च्छन जन्म होता है ॥35॥

§ 329 इस सूत्रमें 'शेष' पदसे वे जीव लिये गये है जो गर्भ और उपपाद जन्मसे नही पैदा होते। इनके समूर्च्छन जन्म होता है। ये तीनो ही सूत्र नियम करते हैं। और यह नियम दोनो ओरसे जानना चाहिए। यथा—गर्भ जन्म जरायुज, अण्डज और पोत जीवोका ही होता है। या जरायुज, अण्डज और पोत जीवो के गर्भजन्म ही होता है। उपपाद जन्म देव और नारकियो के ही होता है या देव और नारकियोके उपपाद जन्म ही होता है। समूर्च्छन जन्म शेष जीवोके ही होता है या शेष जीवोके समूर्च्छन जन्म ही होता है।

§ 330 जो तीन जन्मोसे पैदा होते है और जिनके अपने अवान्तर भेदोसे युक्त नौ योनियाँ हैं उन ससारी जीवोके शुभ और अशुभ नामकर्मके उदयसे निष्पन्न हुए और बन्धफलके अनुभव करनेमे आधारभूत शरीर कितने है। अब इसी बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर है ॥36॥

§ 331 जो विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते है वे शरीर है। इसके औदारिक आदि पाँच भेद हैं। ये औदारिक आदि प्रकृति विशेषके उदयसे होते है। उदार और स्थूल ये एकार्थवाची शब्द है। उदार शब्दसे होनेरूप अर्थमे या प्रयोजनरूप अर्थमे ठक् प्रत्यय होकर औदारिक शब्द बनता है। अणिमा आदि आठ गुणोके ऐश्वर्यके सम्बन्धसे एक, अनेक, छोटा, बडा आदि नाना प्रकारका शरीर करना विक्रिया है। यह विक्रिया जिस शरीरका प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है। सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान करनेके लिए या असयमको दूर करनेकी इच्छासे प्रमत्तसयत जिस शरीरकी रचना करता है वह आहारक शरीर है। जो दीप्तिका कारण है या तेजमे उत्पन्न होता है उसे तैजस शरीर कहते है। कर्मोका कार्य कार्मण शरीर है। यद्यपि सब शरीर कर्मके निमित्तसे होते है तो भी रूढिसे विशिष्ट शरीरको कार्मण शरीर कहा है।

---

1. 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय शरीरम्।' न्या मू 1, 1 11। 2 उदारे भवमौदारिकम्। उदार मु।

§ 332. यथौदारिकस्येन्द्रियैरुपलब्धिस्तथेतरेषां कस्मान्न भवतीत्यत आह—

परं परं सूक्ष्मम् ॥37॥

§ 333. 'पर'शब्दस्यानेकार्थवृत्तित्वेऽपि विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः। पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देश क्रियते परम्परमिति। औदारिकं स्थूलम्, ततः सूक्ष्मं वैक्रियिकम्, ततः सूक्ष्मं आहारकम् ततः सूक्ष्मं तैजसम्, तैजसात्कार्मणं सूक्ष्ममिति।

§ 334. यदि परंम्पर सूक्ष्मम्, प्रदेशतोऽपि[1] न्यूनं परम्परं हीनमिति विपरीतप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाह—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥38॥

§ 335. प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः परमाणवः। संख्यामतीतोऽसंख्येय। असंख्येयो गुणोऽस्य तदिदमसख्येयगुणम्। कुतः? प्रदेशत। नावगाहतः। परम्परमित्यनुवृत्तेरा कार्मणात्प्रसङ्ग तन्निवृत्त्यर्थमाह प्राक्तैजसादिति। औदारिकादसंख्येयगुणप्रदेश वैक्रियिकम्। वैक्रियिकादसंख्येयगुणप्रदेशमाहारकमिति। को गुणकारः। पल्योपमासंख्येयभागः। यद्येवम्, परम्परं महापरिमाणं प्राप्नोति[2]? नैवम्; बन्धविशेषात्परिमाणभेदाभावस्तूलनिचयायःपिण्डवत्।

§ 336. अथोत्तरयोः किं समप्रदेशत्वमुतास्ति कश्चिद्विशेष इत्यत आह—

---

§ 332 जिस प्रकार इन्द्रियाँ औदारिक शरीरको जानती है उस प्रकार इतर शरीरोको क्यो नही जानती? अब इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

आगे-आगेका शरीर सूक्ष्म है ॥37॥

§ 333 पर शब्दके अनेक अर्थ है तो भी यहाँ विवक्षासे व्यवस्थारूप अर्थका ज्ञान होता है। यद्यपि शरीर अलग-अलग है तो भी उनमे सूक्ष्म गुणका अन्वय है यह दिखलानेके लिए 'परम्परम्' इस प्रकार वीप्सा निर्देश किया है। औदारिक शरीर स्थूल है। इससे वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है। इससे आहारक शरीर सूक्ष्म है। इससे तैजस शरीर सूक्ष्म है और इससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

§ 334 यदि ये उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म है तो प्रदेशोकी अपेक्षा भी उत्तरोत्तर हीन होगे। इस प्रकार विपरीत ज्ञानका निराकरण करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तैजससे पूर्व तीन शरीरोमें आगे-आगेका शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणा है ॥38॥

§ 335 प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है। इसका अर्थ परमाणु है। सख्यातीतको असख्येय कहते है। जिसका गुणकार असख्यात है वह असख्येयगुणा कहलाता है। शका—किसकी अपेक्षा? समाधान—प्रदेशोकी अपेक्षा, अवगाहनकी अपेक्षा नही। पूर्व सूत्रमे 'परम्परम्' इस पदकी अनुवृत्ति होकर असंख्येयगुणत्वका प्रसग कार्मण शरीर तक प्राप्त होता है अत उसकी निवृत्तिके लिए सूत्रमे 'प्राक् तैजसात्' पद रखा है। अर्थात् तैजस शरीरसे पूर्ववर्ती शरीर तक ये शरीर उत्तरोत्तर असख्यातगुणे है। औदारिक शरीरसे वैक्रियिक शरीर असख्यातगुणे प्रदेशवाला है। शका—गुणकारका प्रमाण क्या है? समाधान—पल्यका असख्यातवाँ भाग। शंका—यदि ऐसा है तो उत्तरोत्तर एक शरीरसे दूसरा शरीर महापरिमाणवाला प्राप्त होता है? समाधान—यह कोई दोप नही है, क्योकि बन्धविशेपके कारण परिमाणमे भेद नही होता। जैसे रूईका ढेर और लोहेका गोला।

§ 336. आगेके दो शरीरोके प्रदेश क्या समान है या उनमे भी कुछ भेद है। इस बात-

---

1. —प्रदेशत.। परस्पर-ता, ना.। 2 प्राप्नोति। बन्ध—ता.।

अनन्तगुणे परे ।।39।।

§ 337. प्रदेशत इत्यनुवर्तते, तेनैवमभिसंबन्धः क्रियते—आहारकात्तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, तैजसात्कार्मणं प्रदेशतोऽनन्तगुणमिति । को गुणकारः ? अभव्यानामनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागः[1] ।

§ 338. तत्रैतत्स्याच्छल्यकवन्मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात्संसारिणो जीवस्याभिप्रेतगतिनिरोधप्रसङ्ग इति ? तन्न; किं कारणम् । यस्मादुभे अप्येते—

अप्रतीघाते ।।40।।

§ 339. मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतीघातः । स नास्त्यनयोरित्यप्रतीघाते; सूक्ष्म[2]परिणामात् अयःपिण्डे तेजोऽनुप्रवेशवत्तैजसकार्मणयोर्नास्ति वज्रपटलादिषु व्याघातः । ननु च वैक्रियिकाहारकयोरपि नास्ति प्रतीघातः ? सर्वत्राप्रतीघातोऽत्र विवक्षितः । यथा तैजसकार्मणयोरालोकान्तात् सर्वत्र नास्ति प्रतीघातः, न तथा वैक्रियिकाहारकयोः ।

§ 340. आह किमेतावानेव विशेष उत कश्चिदन्योऽप्यस्तीत्याह—

अनादिसंबन्धे च ।।41।।

§ 341. 'च' शब्दो विकल्पार्थः । अनादिसबन्धे सादिसबन्धे चेति । कार्यकारणभावसतत्या

को बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

परवर्ती दो शरीर प्रदेशोकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं ।।39।।

§ 337. पूर्व सूत्रसे 'प्रदेशत' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। जिससे इसकार सम्बन्ध करना चाहिए कि आहारक शरीरसे तैजस शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे है और तैजस शरीरसे कार्मण शरीरके प्रदेश अनन्तगुणे है । शका—गुणकार क्या है ? समाधान—अभव्योसे अनन्तगुणा और सिद्धोका अनन्तवाँ भाग गुणकार है ।

§ 338 शंका—जिस प्रकार कील आदिके लग जानेसे कोई भी प्राणी इच्छित स्थानको नही जा सकता उसी प्रकार मूर्तिक द्रव्यसे उपचित होनेके कारण ससारी जीवको इच्छित गति-के निरोधका प्रसग प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि ये दोनो शरीर—

प्रतीघातरहित है ।।40।।

§ 339 एक मूर्तिक पदार्थका दूसरे मूर्तिक पदार्थके द्वारा जो व्याघात होता है उसे प्रतीघात कहते है । इन दोनो शरीरोका इस प्रकारका प्रतीघात नही होता, इसलिए ये प्रतीघात रहित है । जिस प्रकार सूक्ष्म होनेसे अग्नि लोहेके गोलेमे प्रवेश कर जाती है । उसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीरका वज्रपटलादिकमे भी व्याघात नही होता । शका—वैक्रियिक और आहारक शरीरका भी प्रतीघात नही होता फिर यहाँ तैजस और कार्मण शरीरको ही अप्रतीघात क्यो कहा ? समाधान—इस सूत्रमे सर्वत्र प्रतीघातका अभाव विवक्षित है । जिस प्रकार तैजस और कार्मण शरीरका लोक पर्यन्त सर्वत्र प्रतीघात नही होता वह बात वैक्रियिक और आहारक शरीरकी नही है ।

§ 340 इन दोनो शरीरोमे क्या इतनी ही विशेषता है या और भी कोई विशेषता है। इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते है—

आत्माके साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं ।।41।।

§ 341 सूत्रमे 'च'शब्द विकल्पको सूचित करनेके लिए दिया है । जिससे यह अर्थ हुआ

---

1 —मनन्तो भागः ता, ना । 2 —परिमाणात् मु ।

अनादिसंबन्धे, विशेषापेक्षया सादिसंबन्धे[1] च बीजवृक्षवत्। यथौदारिकवैक्रियिकाहारकाणि जीवस्य कदाचित्कानि, न तथा तैजसकार्मणे। नित्यसंबन्धिनी हि ते आ संसारक्षयात्।

§ 342. त एते तैजसकार्मणे किं कस्यचिदेव भवत उताविशेषेणेत्यत आह—

सर्वस्य ॥42॥

§ 343. 'सर्व' शब्दो निरवशेषवाची। निरवशेषस्य संसारिणो जीवस्य ते द्वे अपि शरीरे भवत इत्यर्थः।

§ 344. अविशेषाभिधानात्तैरौदारिकादिभिः सर्वस्य संसारिणो यौगपद्येन संबन्धप्रसंगे संभविशरीरप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

तदादीनि भाज्यानि युगपदे[2]कस्या चतुर्भ्यः ॥43॥

§ 345. 'तत्' शब्दः प्रकृततैजसकार्मणप्रतिनिर्देशार्थः। ते तैजसकार्मणे आदिर्येषां तानि तदादीनि। भाज्यानि विकल्प्यानि। आ कुतः? आ चतुर्भ्यः। युगपदेकस्यात्मनः। कस्यचिद् द्वे तैजसकार्मणे। अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियिकतैजसकार्मणानि वा। अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारकतैजसकार्मणानीति विभागः क्रियते।

कि तैजस और कार्मण शरीरका अनादि सम्बन्ध है और सादि सम्बन्ध भी है। कार्यकारणभावकी परम्पराकी अपेक्षा अनादि सम्बन्धवाले हैं और विशेषकी अपेक्षा सादि सम्बन्धवाले हैं। यथा बीज और वृक्ष। जिस प्रकार औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर जीवके कदाचित् होते हैं उस प्रकार तैजस और कार्मण शरीर नहीं हैं। संसारका क्षय होने तक उनका जीवके साथ सदा सम्बन्ध है।

§ 342 ये तैजस और कार्मण शरीर क्या किसी जीवके ही होते हैं ? सामान्यरूपसे सबके होते हैं। इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा सब संसारी जीवोंके होते हैं ॥42॥

§ 343 यहाँ 'सर्व' शब्द निरवशेषवाची है। वे दोनों ही शरीर सब संसारी जीवोंके होते हैं यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ 344 सामान्य कथन करनेसे उन औदारिकादि शरीरोंके साथ सब संसारी जीवोंका एक साथ सम्बन्ध प्राप्त होता है, अतः एक साथ कितने शरीर सम्भव हैं इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक साथ एक जीवके तैजस और कार्मणसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते हैं ॥43॥

§ 345 सूत्रमे प्रकरणप्राप्त तैजस और कार्मण शरीरका निर्देश करनेके लिए 'तत्' शब्द दिया है। तदादि शब्दका समासलभ्य अर्थ है—तैजस और कार्मण शरीर जिनके आदि है वे। भाज्य और विकल्प्य ये पर्यायवाची नाम हैं। तात्पर्य यह है कि एक साथ एक आत्माके पूर्वोक्त दो शरीरसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते है। किसीके तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं। अन्यके औदारिक, तैजस और कार्मण या वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते है। किसी दूसरेके औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये चार शरीर होते हैं। इस प्रकार यह विभाग यहाँ किया गया है।

विशेषार्थ—आगे 47वे सूत्रमे तपोविशेषके बलसे वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिका निर्देश किया है, इसलिए प्रश्न होता है कि किसी ऋद्धिधारी साधुके एक साथ पाँच शरीरका सद्भाव

---

1. –सम्बन्धेऽपि च मु.। 2. –देकस्मिन्ना च- मु.।

§ 346. पुनरपि तेषां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निरुपभोगमन्त्यम् ।44।।

§ 347. अन्ते भवमन्त्यम् । किं तत् ? कार्मणम् । इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग. । तदभावान्निरुपभोगम् । विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियलब्धौ द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्त्यभावाच्छब्दाद्युपभोगाभाव इति । ननु तैजसमपि निरुपभोगम् तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्यमिति ? तैजस शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति, ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकार: ।[1]

माननेमे क्या हानि है ? समाधान यह है कि एक साथ वैक्रियिक और आहारक ऋद्धिकी प्रवृत्ति नही होती, इसलिए एक तो एक साथ आहारक शरीरके साथ वैक्रियिक शरीरका अवस्थान नही वन सकता । दूसरे तपोविशेषसे जो विक्रिया प्राप्त होती है वह औदारिक शरीरसम्वन्धी ही विक्रिया है । उसे स्वतन्त्र वैक्रियिक शरोर मानना उचित नही है । कर्मसाहित्यमे वैक्रियिक शरीर नामकर्मके उदयसे जो शरीर प्राप्त होता है उसकी परिगणना ही वैक्रियिक शरीरमे की गयी है । इसलिए अधिकारी भेद होनेसे औदारिक और आहारक शरीरके साथ वैक्रियिक शरीर नही वन सकता । यही कारण है कि एक साथ अधिकसे अधिक चार शरीर वतलाये हैं ।

§ 346 फिर भी उन शरीरोका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अन्तिम शरीर उपभोगरहित है ।।44।।

§ 347 जो अन्तमे होता है वह अन्त्य कहलाता है । **शंका**—वह अन्तका शरीर कौन है ? **समाधान**—कार्मण । इन्द्रियरूपी नालियोके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं । यह वात अन्तके शरीरमे नही पायी जाती, अत वह निरुपभोग है । विग्रहगतिमे लब्धिरूप भावेन्द्रियके रहते हुए भी वहाँ द्रव्येन्द्रियकी रचना न होनेसे शब्दादिकका उपभोग नही होता । **शंका**—तैजस शरीर भी निरुपभोग है, इसलिए वहाँ यह क्यो कहते हो कि अन्तका शरीर निरुपभोग है ? **समाधान**—तैजस शरीर योगमे निमित्त भी नही होता, इसलिए इसका उपभोगके विचारमे अधिकार नही है।

विशेषार्थ—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीनो शरीरोमे इन्द्रियोकी रचना होकर उन द्वारा अपने-अपने विषयोका ग्रहण होता है, इसलिए ये तीनो शरीर सोपभोग माने गये हैं । यद्यपि कार्मण काययोग केवली जिनके प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के समय तथा विग्रहगतिमे होता है । पर इनमे-से प्रतर और लोकपूरण समुद्घातके समय केवलज्ञान होनेसे वहाँ उपभोगका प्रश्न ही नही उठता । मात्र विग्रहगतिमे कार्मण काययोगके रहते हुए उपभोग होता है या नही यह प्रश्न होता है और इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए 'निरुपभोगमन्त्यम्' यह सूत्र रचा गया है । अन्तका शरीर उपभोगरहित क्यो है इस वातका खुलासा करते हुए वतलाया है कि विग्रहगतिमे भावेन्द्रियाँ तो होती हैं पर द्रव्येन्द्रियाँ नही होती, इसलिए यहाँ शब्दादि विषयोका ग्रहण नही होता । यही कारण है कि अन्तके शरीरको निरुपभोग कहा है । रहा तैजस शरीर सो अन्य चार शरोरोके समान इसका स्वतन्त्र अधिकार नही है । अनि सृत तैजस शरीर सव ससारी जीवोके सदा होता है और नि सृत तैजस शरीर कादाचित्क होता है । इस प्रकार तैजस शरीर पाया तो जाता है सब ससारी जीवोके, पर आत्मप्रदेश परिस्पन्दमे यह शरीर कारण नही है, इसलिए इन्द्रियो-द्वारा विषयोके ग्रहण करनेमे इस शरीरको उपयोगी नही माना गया है । यही कारण है कि तैजस शरीर निरुपभोग है कि सोपभोग यह प्रश्न ही नही उठता ।

---

1. -नधिकार । तत्रोक्त- ता , ना ।

§ 348: एवं तत्रोक्तलक्षणेषु जन्मसु अमूनि शरीराणि प्रादुर्भावमापद्यमानानि किम-विशेषेण भवन्ति, उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत आह—

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम् ।45।।

§ 349: सूत्रक्रमापेक्षया आदौ भवमाद्यम् । औदारिकमित्यर्थः । यद् गर्भजं यच्च संमूर्च्छ-नजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यम् ।

§ 350. तदनन्तरं यन्निर्दिष्टं तत्कस्मिन जन्मनीत्यत आह—

औपपादिकं वैक्रियिकम् 46।।

§ 351. उपपादे भवमौपपादिकम् । तत्सर्वं वैक्रियिक वेदितव्यम् ।

§ 352. यद्यौपपादिकं वैक्रियिकम्, अनौपपादिकस्य वैक्रियिकत्वाभाव इत्यत आह—

लब्धिप्रत्ययं च ।।47।।

§ 353. 'च' शब्देन वैक्रियिकमभिसंबध्यते । तपोविशेषादृद्धिप्राप्तिर्लब्धिः । लब्धिः प्रत्ययः कारणमस्य लब्धिप्रत्ययम् । वैक्रियिकं लब्धिप्रत्ययं च भवतीत्यभिसंबध्यते ।

§ 354. किमेतदेव लब्ध्यपेक्षमुतान्यदप्यस्तीत्यत आह—

तैजसमपि ।।48।।

---

§ 348 इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाले इन जन्मोमे क्या सामान्यसे सब शरीर उत्पन्न होते है या इसमे कुछ विशेषता है । इस वातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते है—

पहला शरीर गर्भ और संमूर्च्छन जन्मसे पैदा होता है ।।45।।

§ 349 सूत्रमे जिस क्रमसे निर्देश किया है तदनुसार यहाँ आद्यपदसे औदारिक शरीरका ग्रहण करना चाहिए । जो शरीर गर्भजन्मसे और समूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है वह सव औदारिक शरीर है यह इस सूत्रका तात्पर्य है ।

§ 350 इसके अनन्तर जिस शरीरका निर्देश किया है उसकी उत्पत्ति किस जन्मसे होती है अब इस वातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है ।।46।।

§ 351. जो उपपादमे होता है उसे औपपादिक कहते है । इस प्रकार उपपाद जन्मसे पैदा होनेवाले शरीरको वैक्रियिक जानना चाहिए ।

§ 352 यदि जो शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है वह वैक्रियिक है तो जो शरीर उपपाद जन्मसे नही पैदा होता उसमे वैक्रियिकपन नही बन सकता । अब इसी वातका स्पष्टी-करण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

तथा लब्धिसे भी पैदा होता है ।।47।।

§ 353 सूत्रमे 'च' शव्द आया है । उससे वैक्रियिक शरीरका सम्वन्ध करना चाहिए । तपविशेषसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको लब्धि कहते है । इस प्रकारकी लब्धिसे जो शरीर उत्पन्न होता है वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है । वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी होता है ऐसा यहाँ सम्वन्ध करना चाहिए ।

§ 354 क्या यही शरीर लब्धिकी अपेक्षासे होता है या दूसरा शरीर भी होता है । अब इसी वातका ज्ञान करानेके लिए आगे का सूत्र कहते है—

तैजस शरीर भी लब्धिसे पैदा होता है ।।48।।

§ 355. 'अपि'शब्देन लब्धिप्रत्ययमभिसंबध्यते । तैजसमपि लब्धिप्रत्ययं भवतीति ।

§ 356 वैक्रियिकानन्तरं यदुपदिष्टं तस्य स्वरूपनिर्धारणार्थं स्वामिनिर्देशार्थं चाह—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥49॥

§ 357. शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशः । शुभकर्मण आहारककाययोगस्य कारणत्वाच्छुभमित्युच्यते अन्नस्य प्राणव्यपदेशवत् । विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धव्यपदेशः । विशुद्धस्य [1]पुण्यकर्मणः अशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्युच्यते तन्तूनां कार्पासव्यपदेशवत् । उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति । न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याघातः । नाप्यन्येनाहारकस्येति । तस्य प्रयोजनसमुच्चयार्थः 'च'शब्दः क्रियते । तद्यथा—कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञापनार्थं कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च । आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः । यदाहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति 'प्रमत्तसंयतस्य' इत्युच्यते । इष्टतोऽवधारणार्थं 'एव'-कारोपादानम् । यथैवं विज्ञायेत प्रमत्तसंयतस्यैवाहारकं नान्यस्येति । मैवं विज्ञायि प्रमत्तसंयतस्याहारकमेवेति । मा भूदौदारिकादिनिवृत्तिरिति ।

§ 358. एवं विभक्तानि शरीराणि बिभ्रतां संसारिणां प्रतिगति किं त्रिलिङ्गसंनिधानं

---

§ 355 सूत्रमे 'अपि' शब्द आया है । उससे 'लब्धिप्रत्ययम्' पदका ग्रहण होता है । तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है यह इस सूत्रका भाव है ।

§ 356 वैक्रियिक शरीरके पश्चात् जिस शरीरका उपदेश दिया है उसके स्वरूपका निश्चय करनेके लिए और उसके स्वामीका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसंयतके ही होता है ॥४९॥

§ 357 शुभकर्मका कारण होनेसे इसे शुभ कहा है । यह शरीर आहारक काययोगरूप शुभकर्मका कारण है, इसलिए आहारक शरीर शुभ कहलाता है । यहाँ कारणमे कार्यका उपचार है । जैसे अन्नमे प्राणका उपचार करके अन्नको प्राण कहते हैं । विशुद्ध कर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको विशुद्ध कहा है । तात्पर्य यह है कि जो चित्र-विचित्र न होकर निर्दोष है ऐसे विशुद्ध अर्थात् पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको विशुद्ध कहते हैं । यहाँ कार्यमे कारणका उपचार है । जैसे तन्तुओमे कपासका उपचार करके तन्तुओ को कपास कहते हैं । दोनो ओरसे व्याघात नही होता, इसलिए यह अव्याघाती है । तात्पर्य यह है कि आहारक शरीरसे अन्य पदार्थका व्याघात नही होता और अन्य पदार्थसे आहारक शरीरका व्याघात नही होता । आहारक शरीरके प्रयोजनका समुच्चय करनेके लिए सूत्रमे 'च' शब्द दिया है । यथा—आहारक शरीर कदाचित् लब्धि-विशेषके सद्भावको जतानेके लिए, कदाचित् सूक्ष्म पदार्थका निश्चय करनेके लिए और सयमकी रक्षा करनेके लिए उत्पन्न होता है । सूत्रमे 'आहारक' पद आया है उससे पूर्वमे कहे गये आहारक शरीरको दुहराया है । जिस समय जीव आहारक शरीरकी रचनाका आरम्भ करता है उस समय वह प्रमत्त हो जाता है, इसलिए सूत्रमे प्रमत्तसयतके ही आहारक शरीर होता है यह कहा है । इष्ट अर्थके निश्चय करनेके लिए सूत्रमे 'एवकार' पदको ग्रहण किया है । जिससे यह जाना जाय कि आहारक शरीर प्रमत्तसयतके ही होता है अन्यके नही । किन्तु यह न जाना जाय कि प्रमत्तसयतके आहारक ही होता है । तात्पर्य यह है कि प्रमत्तसयतके औदारिक आदि शरीरोका निराकरण न हो, इसलिए प्रमत्तसयत पदके साथ ही एवकार पद लगाया है ।

§ 358 इस प्रकार इन शरीरोको धारण करनेवाले ससारी जीवोके प्रत्येक गतिमे क्या

---

1. पुण्यस्य कर्मणः मु ।

उत लिङ्गनियमः कश्चिदस्तीत्यत आह—

नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥50॥

§ 359. नरकाणि वक्ष्यन्ते। नरकेषु भवा नारका। संमूर्च्छनं संमूर्च्छः स येषामस्ति[1] ते संमूर्च्छिनः। नारकाश्च संमूर्च्छिनश्च नारकसमूर्च्छिनः। चारित्रमोहविकल्पनोकषायभेदस्य नपुंसकवेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति। नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकान्येवेति नियमः। तत्र हि स्त्रीपुंसविषयमनोज्ञशब्दगन्धरूपरसस्पर्शसंबन्धनिमित्ता स्वल्पापि सुखमात्रा नास्ति।

§ 360. यद्येवमवध्रियते, अर्थादापन्नमेतदुक्तेभ्योऽन्ये संसारिणस्त्रिलिङ्गा इति यत्रात्यन्तं[2] नपुंसकलिङ्गस्याभावस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

न देवाः ॥51॥

§ 361. स्त्रैणं पौंस्नं च यन्निरतिशयसुखं[3] शुभगतिनामोदयापेक्षं तद्देवा अनुभवन्तीति न तेषु नपुंसकानि[4] सन्ति।

§ 362. अथेतरे कियल्लिङ्गा इत्यत आह—

शेषास्त्रिवेदाः ॥52॥

§ 363. त्रयो वेदा येषां ते त्रिवेदाः। के पुनस्ते वेदाः? स्त्रीत्वं पुंस्त्वं नपुंसकत्वमिति।

तीनो लिंग होते है या लिगका कोई स्वतन्त्र नियम है ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

नारक और संमूर्च्छिन नपुंसक होते है ॥50॥

§ 359. नरकोका कथन आगे करेगे। जो नरकोमे उत्पन्न होते है वे नारकी कहलाते हैं। जो समूर्च्छन जन्मसे पैदा होते है वे समूर्च्छिन कहलाते है। सूत्रमे नारक और समूर्च्छिन इन दोनो पदोका द्वन्द्वसमास है। चारित्रमोहके दो भेद है—कषाय और नोकषाय। इनमें-से नोकषायके भेद नपु सकवेदके उदयसे और अशुभ नामकर्मके उदयसे उक्त जीव स्त्री और पुरुष न होकर नपु सक होते हैं। यहाँ ऐसा नियम जानना कि नारक और समूर्च्छिन नपु सक ही होते हैं। इन जीवोके मनोज्ञ शब्द, गन्ध, रूप, रस और स्पर्शके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुष विषयक थोडा भी सुख नही पाया जाता है।

§ 360 यदि उक्त जीवोके नपु सकवेद निश्चित होता है तो यह अर्थात् सिद्ध है कि इनसे अतिरिक्त अन्य ससारी जीव तीन वेदवाले होते है। इसमे भी जिनके नपु सकवेदका अत्यन्त अभाव है उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

देव नपुंसक नहीं होते ॥51॥

§ 361 शुभगति नामकर्मके उदयसे स्त्री और पुरुषसम्बन्धी जो निरतिशय सुख है उसका देव अनुभव करते हैं इसलिए उनमे नपु सक नही होते।

§ 362 इनसे अतिरिक्त शेष जीव कितने लिंगवाले होते है, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

शेषके सब जीव तीन वेदवाले होते हैं ॥52॥

§ 363 जिनके तीन वेद होते हैं वे तीन वेदवाले कहलाते हैं। **शंका**—वे तीन वेद कौन

---

1. —मस्तीति सम्मू- मु। 2 —त्यन्तनपु-आ., दि 1। -त्यन्तिकनपुं-दि. 2। 3. शय सुख गति- मु। 4. नपु सकलिंगानि सन्ति मु।

कथं तेषां सिद्धिः ? वेद्यत इति वेदः । लिंगमित्यर्थः । तद् द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति । द्रव्यलिंगं योनिमेहनादि नामकर्मोदयनिर्वर्तितम् । नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिंगम् । स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री । पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्[1] । नपुंसकवेदोदयात्तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम् । रूढिशब्दाश्चैते । रूढिषु च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थं च । यथा गच्छतीति गौरिति । इतरथा हि गर्भधारणादिक्रियाप्राधान्ये बालवृद्धानां तिर्यङ्मनुष्याणां देवानां कार्मणकाययोगस्थानां च तदभावात्स्त्रीत्वादिव्यपदेशो न स्यात् । त एते त्रयो वेदाः शेषाणां गर्भजानां भवन्ति ।

§ 364. य इमे जन्मयोनिशरीरलिंगसंबन्धाहितविशेषाः प्राणिनो निर्दिश्यन्ते देवादयो विचित्रधर्माधर्मवशीकृताश्चतसृषु गतिषु शरीराणि धारयन्तस्ते किं यथाकालमुपभुक्तायुषो मूर्त्यन्तराण्यास्कन्दन्ति उतायथाकालमपीत्यत आह—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥53॥

हैं ? समाधान—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद । शंका—इनकी सिद्धि कैसे होती है ? समाधान—जो वेदा जाता है उसे वेद कहते है । इसीका दूसरा नाम लिंग है । इसके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग । जो योनि मेहन आदि नामकर्मके उदयसे रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी स्थिति नोकषायके उदयसे प्राप्त होती है वह भावलिंग है । स्त्रीवेदके उदयसे जिसमे गर्भ रहता है वह स्त्री है । पुंवेदके उदयसे जो अपत्यको जनता है वह पुरुष है और नपुंसकवेदके उदयसे जो उक्त दोनो प्रकारकी शक्तिसे रहित है वह नपुंसक है । वास्तवमे ये तीनो रौढिक शब्द है और रूढिमे क्रिया व्युत्पत्तिके लिए ही होती है । यथा जो गमन करती है वह गाय है । यदि ऐसा न माना जाय और इसका अर्थ गर्भधारण आदि क्रियाप्रधान लिया जाय तो बालक और वृद्धोके, तिर्यंच और मनुष्योके, देवोके तथा कार्मणकाययोगमे स्थित जीवोके गर्भधारण आदि क्रियाका अभाव होनेसे स्त्री आदि संज्ञा नही बन सकती है । ये तीनो वेद शेष जीवोके अर्थात् गर्भजोके होते हैं ।

विशेषार्थ—इसी अध्यायमें औदयिक भावोका निर्देश करते समय उनमें तीन लिंग भी गिनाये हैं । ये तीनो लिंग वेदके पर्यायवाची है जो वेद-नोकषायके उदयसे होते है । यहाँ किन जीवोके कौन लिंग होता है इसका विचार हो रहा है । इसी प्रसगसे आचार्य पूज्यपादने लिंगके दो भेद बतलाये हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग । प्रश्न यह है कि लिंगके ये दो भेद सूत्रोसे फलित होते हैं या विशेष जानकारीके लिए मात्र टीकाकारने इनका निर्देश किया है । उत्तर स्पष्ट है कि मूल सूत्रोमे मात्र वेद नोकषायके उदयसे होनेवाले वेदोका ही निर्देश किया है जैसा कि इसी अध्यायके 6वें सूत्रसे ज्ञात होता है ।

§ 364 जो ये देवादिक प्राणी जन्म, योनि, शरीर और लिंगके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके बतलाये हैं वे विचित्र पुण्य और पापके वशीभूत होकर चारो गतियोमे शरीरको धारण करते हुए यथाकाल आयुको भोगकर अन्य शरीरको धारण करते है या आयुको पूरा न करके भी शरीरको धारण करते हैं ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उपपादजन्मवाले, चरमोत्तमदेहवाले और असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीव अनपवर्त्यअन्य आयुवाले होते हैं ॥53॥

---

1 पुमान् । तदुभय- आ, दि 1- दि 2 ।

§ 365. औपपादिका व्याख्याता देवनारका इति। चरमशब्दोऽन्त्यवाची। उत्तम उत्कृष्ट। चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः। [1]परीतसंसारास्तज्जन्मनिर्वाणार्हा [2]इत्यर्थः। असंख्येयमतीतसंख्यानमुपमाप्रमाणेन पल्यादिना गम्यमायुर्येषां त इमे असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्या उत्तरकुर्वादिषु प्रसूता। औपपादिकाश्च चरमोत्तमदेहाश्च असंख्येयवर्षायुषश्च औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषः। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विषशस्त्रादेः सति संनिधाने ह्रस्वं भवतीत्यपवर्त्यम्। अपवर्त्यमायुर्येषां त इमे अपवर्त्यायुषः। न अपवर्त्यायुषः अनपवर्त्यायुषः। न ह्येषामौप-

---

§ 365 उपपादजन्मवाले देव और नारकी है यह व्याख्यान कर आये। चरम शब्द अन्त्यवाची है। उत्तम शब्द का अर्थ उत्कृष्ट है। जिनका शरीर चरम होकर उत्तम है वे चरमोत्तम देहवाले कहे जाते है। जिनका ससार निकट है अर्थात् उसी भवसे मोक्षको प्राप्त होनेवाले जीव चरमोत्तम देहवाले कहलाते है। असख्येय परिमाण विशेष है जो सख्यातसे परे है। तात्पर्य यह है कि पल्य आदि उपमा प्रमाणके द्वारा जिनकी आयु जानी जाती है वे उत्तरकुरु आदिमे उत्पन्न हुए तिर्यँच और मनुष्य असख्यात वर्षकी आयुवाले कहलाते हैं। उपघातके निमित्त विष शस्त्रादिक बाह्य निमित्तोके मिलनेपर जो आयु घट जाती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है। इस प्रकार जिनकी आयु घट जाती है वे अपवर्त्य आयुवाले कहलाते है और जिनकी आयु नही घटती वे अनपवर्त्य आयुवाले कहलाते है। इन औपपादिक आदि जीवोकी आयु बाह्य निमित्तसे नही घटती यह नियम है तथा इनसे अतिरिक्त शेष जीवोका ऐसा कोई नियम नही है। सूत्रमे जो उत्तम विशेषण दिया है वह चरम शरीरके उत्कृष्टपनको दिखलानेके लिए दिया है। यहाँ इसका और कोई विशेष अर्थ नही है। अथवा 'चरमोत्तमदेहा' पाठके स्थानमे 'चरमदेहा' यह पाठ भी मिलता है।

विशेषार्थ—भुज्यमान आयुका उत्कर्षण नही होता, केवल उदीरणा होकर आयु घट सकती है, इसलिए प्रश्न होता है कि क्या सब ससारी जीवोकी आयुका ह्रास होता है या इसका भी कोई अपवाद है। इसी प्रश्नके उत्तर स्वरूप प्रकृत सूत्रकी रचना हुई है। इसमे बतलाया है कि उपपादजन्मवाले देव और नारकी, तद्भवमोक्षगामी मनुष्य और असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंच और मनुष्य इनकी भुज्यमान आयुका ह्रास नही होता। इन्हें जो आयु प्राप्त होती है उसका पूरा भोग होकर ही उस पर्यायका अन्त होता है। यह विशेष नियम करनेका कारण यह है कि कर्मशास्त्रके अनुसार निकाचना, निधत्ति और उपशमकरण का प्राप्त कर्मको छोड़कर अन्य कोई भी अधिक स्थितिवाला कर्म उभयरूप कारणविशेषके मिलनेपर अल्पकालमे भोगा जा सकता है। भुज्यमान आयुपर भी यह नियम लागू होता है, इसलिए इस सूत्र-द्वारा यह व्यवस्था दी गयी है कि उक्त जीवोकी भुज्यमान आयुपर यह नियम लागू नही होता। आशय यह है कि इन जीवोके भुज्यमान आयुके प्रारम्भ होनेके प्रथम समयमे आयुके जितने निषेक होते हैं वे क्रम-से एक-एक निषेक उदयमे आकर ही निर्जराको प्राप्त होते है। विष शस्त्रादिक बाह्य निमित्तके बलसे उनका घात नही होता। पर इसका अर्थ यह नही कि इन जीवोके आयुकर्मकी उदीरणा ही न होती होगी। इनके उदीरणाका होना तो सम्भव है पर निषेक स्थितिघात न होकर ही यह उदीरणा होती है। स्थितिघात न होनेसे हमारा अभिप्राय है कि इनके पूरे निषेकोंका उदीरणा-द्वारा क्षय नही होता। सूत्रमे तद्भव मोक्षगामीके लिए 'चरमोत्तमदेह' पाठ आया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामे इसकी व्याख्या करते हुए चरम शरीरको ही उत्तम बतलाया गया है, किन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिकमे पहले तो चरमदेह और उत्तमदेह ऐसा अलग-अलग अर्थ किया गया है किन्तु बादमे उत्तम देहवाले चक्रधर आदिके शरीरको अपवर्त्य आयुवाला बतलाकर उत्तम शब्दको

---

1 —देहा। विपरीत- मु। 2 इत्यर्थ। अतीतसख्यान- ता. ना.।

पादिकादीनां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्यते, इत्ययं नियमः। इतरेषामनियमः। चरमस्य देहस्योत्कृष्टत्वप्रदर्शनार्थमुत्तमग्रहणं नार्थान्तरविशेषोऽस्ति। 'चरमदेहा' इति वा पाठः[1]।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां द्वितीयोऽध्याय ॥2॥

चरमदेहका ही विशेषण मान लिया है। एक बात स्पष्ट है कि प्रारम्भसे ही उत्तम पदपर विवाद रहा है। तभी तो सर्वार्थसिद्धिमे 'चरमदेह' इस प्रकार पाठान्तरकी सूचना की गयी है और यह पाठान्तर उन्हे पूर्व परम्परासे प्राप्त था।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिनामक तत्त्वार्थवृत्तिमे दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥2॥

---

1 पाठ ॥2॥ जीवस्वभावलक्षणसाधनविषयस्वरूपभेदाश्च। गतिजन्मयोनिदेहलिंगानपवर्तितायुष्कभेदाश्चाध्यायेऽस्मिन्निरूपिता भवन्तीति सम्बन्धः॥ इति तत्त्वा- मु। पाठ ॥2॥ जीवस्वभावलक्षणसाधनविषयस्वरूपभेदाश्च। गतिजन्मयोनिदेहलिंगानपवर्त्यायुर्भिदास्तत्र॥ इति तत्त्वा- ना.।

अथ तृतीयोऽध्यायः

§ 366. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्येवमादिषु नारकाः श्रुतास्ततः पृच्छति के ते नारका इति। तत्प्रतिपादनार्थं तदधिकरणनिर्देशः क्रियते—

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

§ 367. रत्नं च शर्करा च वालुका च पङ्कश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमांसि। 'प्रभा' शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। साहचर्यात्ताच्छब्द्यम्। चित्रादिरत्नप्रभासहचरिता भूमिः रत्नप्रभा, शर्कराप्रभासहचरिता भूमिः शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभासहचरिता भूमिर्वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभासहचरिता भूमिः पङ्कप्रभा, धूमप्रभासहचरिता भूमिर्धूमप्रभा, तमःप्रभासहचरिता भूमिस्तमःप्रभा, महातमःप्रभासहचरिता भूमिर्महातमःप्रभा इति। एताः संज्ञा अनेनोपायेन व्युत्पाद्यन्ते। 'भूमि'ग्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। यथा स्वर्गपटलानि भूमिमनाश्रित्य व्यवस्थितानि न तथा नारकावासाः। किं तर्हि। भूमिमाश्रिता इति[1]। आसां भूमीनामालम्बननिर्ज्ञानार्थं घनाम्बुवातादिग्रहणं क्रियते। घनाम्बु च वातश्च आकाशं च घनाम्बुवाताकाशानि। तानि प्रतिष्ठा आश्रया यासां ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः[2]। सर्वा एता भूमयो घनोदधिवलयप्रतिष्ठाः। घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठम्। घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम्।

§ 366. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्यादिक सूत्रोमे नारक शब्द सुना है इसलिए पूछते है कि वे नारकी कौन हैं? अत नारकियोका कथन करनेके लिए उनकी आधारभूत पृथिवियोका निर्देश करते हैं—

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाशके सहारे स्थित हैं तथा क्रमसे नीचे-नीचे हैं ॥1॥

§ 367 'रत्नशर्करावालुकापकधूमतमोमहातमा.' इसमे सव पदोका परस्पर द्वन्द्व समास है। प्रभा शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड लेना चाहिए। पृथिवियोकी प्रभा क्रमसे रत्न आदिके समान होनेसे इनके रत्नप्रभा आदि नाम पड़े है। यथा—जिसकी प्रभा चित्र आदि रत्नोकी प्रभाके समान है वह रत्नप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा शर्कराके समान है वह शर्कराप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा बालुकाकी प्रभाके समान है वह वालुका प्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा कीचडके समान है वह पकप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा धुँवाके समान है वह धूमप्रभा भूमि है। जिसकी प्रभा अन्धकारके समान है वह तम प्रभा भूमि है और जिसकी प्रभा गाढ अन्धकारके समान है वह महातम प्रभा भूमि है। इस प्रकार इन नामोकी व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिए। सूत्रमे भूमि पदका ग्रहण अधिकरण विशेषका ज्ञान करानेके लिए किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वर्गपटल भूमिके विना स्थित है उस प्रकार नारकियोके निवासस्थान नही हैं। किन्तु वे भूमिके आश्रयसे अवस्थित हैं। इन भूमियोके आलम्बनका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमे 'घनाम्बुवात' आदि पदका ग्रहण किया है। अभिप्राय यह है कि ये भूमियाँ क्रमसे घनोदधिवातवलय, घनवातलय,

---

1. —इति। तासां भूमी- मु, ता, ना.। 2 प्रतिष्ठा। घन च घनो मन्दो महान् आयत, इत्यर्थ.। अम्बु च जलमु उदकमित्यर्थ.। वात-शब्दोऽन्त्यदीपक। तत एव सवन्धनीय। घनो घनवात.। अम्बु अम्बुवात। वातस्तनुवात.-। इति महदपेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्य.। अन्य. पाठ.। सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वातश्चेति। वातशब्दः सोपस्क्रियते। वातस्तनुवात इति वा। सर्वा एता मु, ता, ना।

तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठम् । आकाशमात्मप्रतिष्ठं, तस्यैवाधाराधेयत्वात् । त्रीण्यप्येतानि वलयानि प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्रबाहुल्यानि । 'सप्त'ग्रहणं सख्यान्तरनिवृत्त्यर्थम् । सप्त भूमयो नाष्टौ न नव चेति 'अधोऽधः'वचनं तिर्यक्प्रचयनिवृत्त्यर्थम् ।

§ 368. किं ता भूमयो नारकाणां सर्वत्रावासा आहोस्वित्क्वचित्क्वचिदिति प्रश्ननिर्धारणार्थमाह—

तनुवातवलय और आकाशके आश्रयसे स्थित हैइस बातके दिखलानेके लिए सूत्रमे 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः' पद दिया है । ये सब भूमियाँ घनोदधिवातवलयके आश्रयसे स्थित है । घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधारसे स्थित है । घनवातवलय तनुवातवलयके आश्रयसे स्थित है । तनुवातवलय आकाशके आश्रयसे स्थित हैं और आकाश स्वय अपने आधारसे स्थित है, क्योकि वह आधार और आधेय दोनो है । ये तीनो वातवलय प्रत्येक बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं । सूत्रमे 'सप्त' पदका ग्रहण दूसरी सख्याके निराकरण करनेके लिए किया है । भूमियाँ सात ही हैं, न आठ हे और न नौ है । ये भूमियाँ तिर्यक् रूपसे अवस्थित नही है । इस बातको दिखानेके लिए सूत्रमे 'अधोऽध ' यह वचन दिया है ।

विशेषार्थ—आकाशके दो भेद हैं—अलोकाकाश और लोकाकाश । लोकाकाश अलोकाकाशके बीचोबीच अवस्थित है । यह अकृत्रिम, अनादिनिधन स्वभावसे निर्मित और छह द्रव्योसे व्याप्त है । यह उत्तर-दक्षिण अधोभागसे लेकर ऊर्ध्वभाग तक विस्तारकी अपेक्षा सर्वत्र सात राजु है । पूर्व-पश्चिम नीचे सात राजु चौडा है । फिर दोनो ओरसे घटते-घटते सात राजुकी ऊँचाईपर एक राजु चौडा है । फिर दोनो ओर बढते-बढते साढ़े दस राजुकी ऊँचाईपर पाँच राजु चौडा है । फिर दोनो ओर घटते-घटते चौदह राजुकी ऊँचाईपर एक राजु चौडा है । पूर्व पश्चिमकी ओरसे लोकका आकार कटिपर दोनो हाथ रखकर और पैरोको फैलाकर खडे मनुष्यके आकारसा प्रतीत होता है । इससे अधोभाग वेतके आसनके समान, मध्यभाग झालरके समान और ऊर्ध्वभाग मृदगके समान दिखाई देता है । इसके तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक । मध्यलोकके बीचोबीच मेरु पर्वत है जो एक लाख चालीस योजन ऊँचा है । उसके नीचेका भाग अधोलोक, ऊपरका भाग ऊर्ध्वलोक और बराबर रेखामे तिरछा फैला हुआ मध्यलोक है । मध्यलोकका तिरछा विस्तार अधिक होनेसे इसे तिर्यग्लोक भी कहते हैं । प्रकृत सूत्रमें अधोलोकका विचार किया गया है । इसमे सात भूमियाँ है जो उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं पर आपसमे भिडकर नही हैं । किन्तु एक दूसरी भूमिके बीचमे असख्य योजनोका अन्तर है । इन भूमियोके नाम सूत्रमे क्रमसे दिये ही हैं । ये इनके गुणनाम हैं । घम्मा, वशा, मेघा, अजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये इनके रौढिक नाम हैं । पहली पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है । दूसरी बत्तीस हजार योजन मोटी है, तीसरी अट्ठाईस हजार योजन मोटी है, चौथी चौबीस हजार योजन मोटी है, पाँचवी बीस हजार योजन मोटी है, छठी सोलह हजार योजन मोटी है, और सातवी आठ हजार योजन मोटी है । ये सातो भूमियाँ घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाशके आधारसे स्थित हैं । अर्थात् प्रत्येक पृथिवी घनोदधिके आधारसे स्थित है, घनोदधि घनवातके आधारसे स्थित है, घनवात तनुवातके आधारसे स्थित है, तनुवात आकाशके आधारसे स्थित है और आकाश अपने आधारसे स्थित है ।

§ 368 क्या इन भूमियोमे सर्वत्र नारकियोके निवास-स्थान है या कही-कही, इस बातका निश्चय करनेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥2॥

§ 369 तासु रत्नप्रभादिषु भूमिषु नरकाण्यनेन संख्यायन्ते यथाक्रमम्। रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि, शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिर्नरकशतसहस्राणि, वालुकाप्रभायां पञ्चदश नरकशतसहस्राणि, पंकप्रभायां दश नरकशतसहस्राणि, धूमप्रभायां त्रीणि नरकशतसहस्राणि, तमःप्रभायां पञ्चोनमेकं नरकशतसहस्रं, महातमःप्रभायां पञ्च नरकाणि। रत्नप्रभायां नरकप्रस्तारास्त्रयोदश। ततोऽध आ सप्तम्या द्वौ[1] द्वौ नरकप्रस्तारौ[2] हीनौ। इतरो विशेषो लोकानुयोगतो वेदितव्यः।

§ 370. अथ तासु भूमिषु नारकाणां कः प्रतिविशेष इत्यत आह—

उन भूमियोंमें क्रमसे तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक हैं ॥2॥

§ 369. उन रत्नप्रभा आदि भूमियोमे, इस सूत्र-द्वारा क्रमसे नरकोकी सख्या बतलायी गयी है। रत्नप्रभामे तीस लाख नरक है। शर्कराप्रभामे पचीस लाख नरक हैं। वालुकाप्रभामे पन्द्रह लाख नरक है। पकप्रभामे दश लाख नरक है। धूमप्रभामे तीन लाख नरक है। तम प्रभामे पाँच कम एक लाख नरक है और महातम प्रभामे पाँच नरक है। रत्नप्रभामें तेरह नरक पटल हैं। इससे आगे सातवी भूमि तक दो-दो नरक पटल कम है। इसके अतिरिक्त और विशेषता लोकानुयोगसे जान लेनी चाहिए।

विशेषार्थ—पहले सात पृथिवियोका निर्देश किया ही है। उनमे-से पहली पृथिवीके तीन भाग है—खरभाग, पकभाग और अब्बहुल भाग। खर भाग सबसे ऊपर है। इसमे रत्नोकी वहुतायत है और यह सोलह हजार योजन मोटा है। दूसरा पकभाग है, इसकी मोटाई चौरासी हजार योजन है। तथा तीसरा अब्बहुल भाग है। इसकी मोटाई अस्सी हजार योजन है। नारकियोके रहनेके आवासको नरक कहते है। रत्नप्रभा भूमिके प्रथम भाग और दूसरे भाग में नरक नही है। तीसरे भागमे हैं। इस प्रकार प्रथम भूमिके तीसरे भागकी और शेष छह भूमियो की जितनी-जितनी मोटाई वतलायी है उसमे-से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन भूमिको छोडकर सातो भूमियोके वाकीके मध्य भागमे नरक है। इनका आकार विविध प्रकारका है। कोई गोल है, कोई त्रिकोण है, कोई चौकोण है और कोई अनिश्चित आकारवाले है। ये सब नरकपटल क्रमसे अवस्थित है। जिस प्रकार पत्थर या मिट्टीके एक थरपर दूसरा थर अवस्थित होता है उसी प्रकार ये पटल है। पहली भूमिमे ये पटल तेरह है और आगेकी भूमियोमें क्रमसे दो-दो पटल कम होते गये है। एक पटल दूसरे पटलसे सटा हुआ है। इनमें नरक है। नरक जमीनके भीतर कुएके समान पोलका नाम है। यह ऊपर, नीचे चारो ओर जमीनसे घिरी रहती है। इन्ही नरकोमें नारकी जीव अपनी आयुके अन्तिम समय तक रहते है और वहाँ नाना प्रकारके दुःख भोगते है।

§ 370 उन भूमियोमें रहनेवाले नारकियोंमे क्या विशेषता है इस बातको बतलानेके लिए अब आगे सूत्र को कहते है—

---

1. —सप्तम्या द्वं द्व नरक— आ दि. 1, दि. 2। 2. —प्रस्तारा हीना.। इतरो आ. दि. 1. दि. 2।
2. लोकनियोगतो दि. 1, दि. 2।

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥3॥

§ 371. लेश्यादयो व्याख्यातार्थाः। अशुभतरा इति प्रकर्षनिर्देशः तिर्यग्गतिविषयाशुभलेश्याद्यपेक्षया अधोऽधः स्वगत्यपेक्षया च वेदितव्यः। 'नित्य'शब्द[1] आभीक्ष्ण्यवचनः। नित्यमशुभतरा लेश्यादयो येषां ते नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया नारकाः। प्रथमाद्वितीययोः कापोती लेश्या, तृतीयायामुपरिष्टात्कापोती अधो नीला, चतुर्थ्यां नीला, पञ्चम्यामुपरि नीला अधः कृष्णा, षष्ठ्यां कृष्णा, सप्तम्यां परमकृष्णा। स्वायुः[2]प्रमाणावधृता[3] द्रव्यलेश्या उक्ताः। भावलेश्यास्तु अन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः। परिणामाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवोऽशुभतराः। देहाश्च तेषामशुभनाम[4]कर्मोदयादत्यन्ताशुभतरा विकृताकृतयो हुण्डसंस्थाना[5] दुर्दर्शनाः। तेषामुत्सेधः प्रथमायां सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलयः। अधोऽधो— द्विगुणद्विगुण[6] उत्सेधः। अभ्यन्तरासद्वेद्योदये सति अनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्यनिमित्तजनिता[7] अतितीव्रा वेदना भवन्ति नारकाणाम्। प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीषु उष्णवेदनान्येव नरकाणि। पञ्चम्यामुपरि उष्णवेदने द्वे नरकशतसहस्रे। अधः शीतवेदन[8]मेकं शतसहस्रम्। षष्ठीसप्तम्योः शीतवेदनान्येव। शुभं[9] विकरिष्याम इति अशुभतरमेव विकुर्वन्ति, सुख-

---

नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रियावाले हैं ॥3॥

§ 371. लेश्यादिकका पहले व्याख्यान कर आये हैं। 'अशुभतर' इस पद के द्वारा तिर्यंचगतिमें प्राप्त होनेवाली अशुभ लेश्या आदिककी अपेक्षा और नीचे-नीचे अपनी गतिकी अपेक्षा लेश्यादिककी प्रकर्षता बतलायी है। अर्थात् तिर्यंचोमें जो लेश्यादिक हैं उनसे प्रथम नरकके नारकियोके अधिक अशुभ हैं आदि। नित्य शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थात् निरन्तरवाची है। तात्पर्य यह है कि नारकियोकी लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया निरन्तर अशुभ होते हैं। यथा, प्रथम और दूसरी पृथिवीमे कापोत लेश्या है। तीसरी पृथिवीमे ऊपरके भागमे कापोत लेश्या है और नीचेके भागमे नील लेश्या है। चौथी पृथिवीमे नील लेश्या है। पाँचवी पृथिवीमे ऊपरके भागमे नील लेश्या है और नीचेके भागमे कृष्ण लेश्या है। छठी पृथिवीमे कृष्ण लेश्या हैं। और सातवी पृथिवी मे परम कृष्ण लेश्या है। द्रव्य लेश्याएँ अपनी आयु तक एक सी कही गयी हैं। किन्तु भावलेश्याएँ अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती है। परिणामसे यहाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द लिये गये हैं। ये क्षेत्र विशेषके निमित्तसे अत्यन्त दुखके कारण अशुभतर हैं। नारकियोंके शरीर अशुभ नामकर्मके उदयसे होनेके कारण उत्तरोत्तर अशुभ हैं। उनकी विकृत आकृति है, हुंड सस्थान है और देखनेमे बुरे लगते हैं। उनकी ऊँचाई प्रथम पृथिवीमे सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल है। तथा नीचे-नीचे प्रत्येक पृथिवीमे वह दूनी-दूनी है। नारकियोके अभ्यन्तर कारण असाता वेदनीयका उदय रहते हुए अनादिकालीन शीत और उष्णरूप बाह्य निमित्तसे उत्पन्न हुई अति तीव्र वेदना होती है। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथिवीमे मात्र उष्ण वेदनावाले नरक हैं। पाँचवी पृथिवीमे ऊपरके दो लाख नरक ऊष्ण वेदनावाले हैं। और नीचेके एक लाख नरक शीत वेदनावाले हैं। तथा छठी और सातवी पृथिवीके नरक शीत वेदनावाले ही हैं। नारकी 'शुभ विक्रिया करेंगे' ऐसा विचार करते है पर उत्तरोत्तर अशुभ विक्रियाको ही करते हैं। 'सुखकर हेतुओको उत्पन्न करेंगे' ऐसा विचार करते है, परन्तु वे दुःख-

---

1. 'अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। किं तर्हि? आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते। तद्यथा- नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति।' पा म. भा पृ 57। 2 स्वायुष प्रमा-मु, ता, ना,। 3 -माणेऽव-वृता आ, दि 1, दि 2। 4 नामोदया-आ, दि 1, दि 2। 5 संस्थापना। तेषां. आ, दि 1, दि 1, दि 2। 6- द्विगुणो द्विगुण आ, दि 1, दि 2। 7 जनिता सुतीव्रा मु, दि 1, दि 2, का, ता। 8. -वेदनानामेक आ; दि 1, दि 2। 9 शुभ करि- मु, आ, दि. 1, दि 2।

हेतूनुत्पादयन्ति इति दुःखहेतूनेवोत्पादयन्ति । त एते भावा अधोऽधोऽशुभतरा वेदितव्याः ।

§ 372. किमेतेषां नारकाणां शीतोष्णजनितमेव दुःखमुतान्यथापि भवतीत्यत आह—

परस्परोदीरितदुःखाः ॥4॥

§ 373. कथं परस्परोदीरितदुःखत्वम् ? नारकाः[1] भवप्रत्ययेनावधिना मिथ्यादर्शनोदयाद्विभङ्गव्यपदेशभाजा च दूरादेव दुःखहेतूनवगम्योत्पन्नदुःखाः प्रत्यासत्तौ परस्परालोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नयः पूर्वभवानुस्मरणाच्चातितीव्रानुबद्धवैराश्च श्वशृगालादिवत्स्वाभिघाते प्रवर्तमानाः स्वविक्रियाकृतासिवासीपरशुभिण्डिमालशक्तितोमरकुन्तायोघनादिभिरायुधैः स्वकरचरणदशनैश्च छेदनभेदनतक्षणदंशनादिभिः परस्परस्यातितीव्रं दुःखमुत्पादयन्ति ।

§ 374. किमेतावानेव दुःखोत्पत्तिकारणप्रकार उतान्योऽपि कश्चिदस्तीत्यत आह—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥5॥

कर हेतुओंको ही उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार ये भाव नीचे-नीचे अशुभतर जानने चाहिए ।

विशेषार्थ—यहाँ टीकामें लेश्याके दो भेद करके भावलेश्या अन्तर्मुहूर्तमे बदलती रहती है यह कहा है । सो इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ जो भावलेश्या कही है उसमे परिवर्तन नही होता । मात्र उसमे योग और कषायके अनुसार तरतमभाव होता रहता है, क्योकि प्रत्येक नारकीके वही योग और वही कषाय रहनी चाहिए ऐसा नियम नही है । किन्तु अपने-अपने जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट कालके अनुसार या द्रव्य, क्षेत्र और भावके अनुसार योग और कषायका परिवर्तन नियमसे होता है । यत कषायानुरंजित योगप्रवृत्तिका नाम लेश्या है अत योग और कषायके बदलनेसे अपनी मर्यादा के भीतर वह भी बदल जाती है । मात्र जहाँ कापोत लेश्याका जघन्य अंश कहा है वहाँ वही रहता है वह बदलकर कापोत लेश्याका मध्यम और उत्कृष्ट अंश नही होता या जहाँ परम कृष्ण लेश्या कही है वहाँ वही रहती है वह बदल कर अन्य लेश्या नही होती । शेष कथन सुगम है ।

§ 372 क्या इन नारकियोके शीतोष्णजनित ही दु ख है या दूसरे प्रकारका भी दु ख है, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा वे परस्पर उत्पन्न किये गये दुःखवाले होते हैं ॥4॥

§ 373. शंका—नारकी परस्पर एक-दूसरेको कैसे दु ख उत्पन्न करते हैं ? समाधान—नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान है जिसे मिथ्यादर्शनके उदयसे विभगज्ञान कहते है । इस ज्ञानके कारण दूरसे ही दु.खके कारणोको जानकर उनको दुःख उत्पन्न हो जाता है और समीपमें आनेपर एक-दूसरेको देखनेसे उनकी क्रोधाग्नि भभक उठती है । तथा पूर्वभवका स्मरण होनेसे उनकी वैरकी गाँठ और दृढतर हो जाती है । जिससे वे कुत्ता और गीदडके समान एक-दूसरे का घात करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं । वे अपनी विक्रियासे तलवार, बसूला, फरसा, हाथसे चलानेका तीर, बर्छी, तोमर नामका अस्त्र विशेष, बरछा और हथौड़ा आदि अस्त्र-शस्त्र बनाकर उनसे तथा अपने हाथ, पाँव और दाँतोसे छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदिके द्वारा परस्पर अतितीव्र दु.खको उत्पन्न करते हैं ।

§ 374. जिन कारणोंसे दु.ख उत्पन्न होता है वे क्या इतने ही हैं या और भी हैं ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

और चौथी भूमिसे पहले तक वे संक्लिष्ट असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये गये दुःखवाले भी होते हैं ॥5॥

---

1. नारकाणम् ? भव- मु.; ता.; ना. ।

§ 375. देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरत्वसंवर्तनस्य कर्मण उदयादस्यन्ति परानित्यसुराः। पूर्वजन्मनि[1] भावितेनातितीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात्सततं क्लिष्टाः[2] संक्लिष्टाः, संक्लिष्टा असुराः संक्लिष्टासुराः। संक्लिष्टा इति विशेषणान्न सर्वे असुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। किं तर्हि? अम्बावरीषादय एव केचनेति। अवधिप्रदर्शनार्थं 'प्राक्चतुर्थ्याः' इति विशेषणम्। उपरि तिसृषु पृथ्वीषु संक्लिष्टासुरा बाधाहेतवो नातः परमिति प्रदर्शनार्थम्। 'च' शब्दः पूर्वोक्तदुःखहेतुसमुच्चयार्थः। सुतप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघनाभिघातवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनायःकुम्भीपाकाम्बरीषभर्जनवैतरणीमज्जनयन्त्रनिष्पीडनादिभिर्नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। एवं छेदनभेदनादिभिः शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषां न मरणमकाले भवति। कुतः? अनपवर्त्यायुष्कत्वात्[3]।

§ 376. यद्येवं, तदेव तावदुच्यतां नारकाणामायुःपरिमाणमित्यत आह—

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥6॥

§ 377. यथाक्रममित्यनुवर्तते । तेषु नरकेषु भूमिक्रमेण यथासंख्यमेकादयः स्थितयोऽभिसंबध्यन्ते । रत्नप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिरेकसागरोपमा । शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा । वालुकाप्रभायां सप्तसागरोपमा । पंकप्रभायां दशसागरोपमा । धूमप्रभायां सप्तदशसागरोपमा । तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमा । महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा इति । परा उत्कृष्टेत्यर्थः । 'सत्त्वानाम्' इति वचनं भूमिनिवृत्त्यर्थम् । भूमिषु सत्त्वानामियं स्थितिः, न भूमीनामिति ।

§ 378. उक्तः सप्तभूमिविस्तीर्णोऽधोलोकः । इदानीं तिर्यग्लोको वक्तव्यः । कथं पुनस्तिर्यग्लोकः । यतोऽसंख्येयाः स्वयंभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणावस्थिता द्वीपसमुद्रास्ततस्तिर्यग्लोक इति । के[1] पुनस्तिर्यग्व्यवस्थिता इत्यत आह—

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥7॥

§ 379. जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः । लवणोदादयः समुद्राः । यानि लोके शुभानि नामानि तन्नामानस्ते । तद्यथा— जम्बूद्वीपो द्वीप । लवणोदः समुद्रः । धातकीखण्डो द्वीपः । कालोदः समुद्रः । पुष्करवरो द्वीपः । पुष्करवरः समुद्रः । वारुणीवरो द्वीप । वारुणीवरः समुद्रः । क्षीरवरो द्वीपः । क्षीरवरः समुद्र । घृतवरो द्वीप । घृतवरः समुद्र । इक्षुवरो द्वीप । इक्षुवर समुद्रः । नन्दीश्वरवरो द्वीप । नन्दीश्वरवर समुद्रः । अरुणवरो द्वीपः । अरुणवरः समुद्रः । इत्येवमसंख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयंभूरमणपर्यन्ता वेदितव्याः ।

§ 380. अमीषां विष्कम्भसंनिवेशसंस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

---

§ 377 इस सूत्रमे 'यथाक्रमम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । जिससे उन नरकोमें भूमिके क्रमसे एक सागरोपम आदि स्थितियोका क्रमसे सम्बन्ध हो जाता है । रत्नप्रभामे एक सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । शर्कराप्रभामे तीन सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । वालुकाप्रभामे सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । पकप्रभामे दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । धूमप्रभामे सत्रह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । तम प्रभामे बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और महातमःप्रभामे तैतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । 'परा' शब्दका अर्थ 'उत्कृष्ट' है । और 'सत्त्वानाम्' पद भूमियोके निराकरण करनेके लिए दिया है । अभिप्राय यह है कि भूमियोमे जीवोकी यह स्थिति है, भूमियोकी नही ।

§ 378 सात भूमियोमे फैले हुए अधोलोकका वर्णन किया । अब तिर्यग्लोकका कथन करना चाहिए । शंका—तिर्यग्लोक यह संज्ञा क्यो है ? समाधान—चूँकि स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र तिर्यक् प्रचयविशेषरूपसे अवस्थित है, इसलिए तिर्यग्लोक सज्ञा है। वे तिर्यक् रूपसे अवस्थित क्या है इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणोद आदि शुभ नामवाले समुद्र हैं ॥7॥

§ 379. जम्बूद्वीप आदिक द्वीप है और लवणोद आदिक समुद्र है । तात्पर्य यह है कि लोकमे जितने शुभ नाम है उन नामवाले वे द्वीप-समुद्र है । यथा—जम्बूद्वीप नामक द्वीप, लवणोद समुद्र, धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र, नन्दीश्वरवर द्वीप, नन्दीश्वरवर समुद्र, अरुणवर द्वीप और अरुणवर समुद्र, इस प्रकार स्वयभूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र जानने चाहिए ।

§ 380. अब इन द्वीप-समुद्रोके विस्तार, रचना और आकारविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

---

1. के पुनस्ते तिर्य- आ, दि. 1 ।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥8॥

§ 381 द्विर्द्विरिति [1]वीप्साभ्यावृत्तिवचनं विष्कम्भद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थम्। आद्यस्य द्वीपस्य यो विष्कम्भः तद्द्विगुणविष्कम्भो लवणजलधि। तद्द्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो द्वीपः। तद्द्विगुण-विष्कम्भो द्वितीयो जलधिरिति। द्विर्द्विर्विष्कम्भो येषां ते द्विर्द्विर्विष्कम्भा.। पूर्वपूर्वपरिक्षेपिवचनं ग्रामनगरादिवद्विनिवेशो मा विज्ञायीति। वलयाकृतिवचन चतुरस्रादिसंस्थानान्तरनिवृत्त्यर्थम्।

§ 382. अत्राह, जम्बूद्वीपस्य प्रदेशसंस्थानविष्कम्भा वक्तव्यास्तन्मूलत्वावितरविष्कम्भा-दिविज्ञानस्येत्युच्यते—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥9॥

§ 383. तेषां मध्ये तन्मध्ये। केषाम्? पूर्वोक्तानां[2] द्वीपसमुद्राणाम्। नाभिरिव नाभिः[3]। मेरुर्नाभिर्यस्य स मेरुनाभि। वृत्त आदित्यमण्डलोपमानः। शतानां सहस्रं शतसहस्रम्। योजनानां शतसहस्रं योजनशतसहस्रम्। योजनशतसहस्रं विष्कम्भो यस्य सोऽयं योजनशतसहस्रविष्कम्भ। कोऽसौ? जम्बूद्वीप। कथं जम्बूद्वीपः? जम्बूवृक्षोपलक्षितत्वात्। उत्तरकुरूणां मध्ये जम्बूवृक्षो-ऽनादिनिधनः पृथिवीपरिणामो[4]ऽकृत्रिमः सपरिवारस्तदुपलक्षितोऽय द्वीपः।

वे सभी द्वीप और समुद्र दूने-दूने व्यासवाले, पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्रको वेष्टित करने-वाले और चूड़ीके आकारवाले हैं ॥8॥

§ 381 द्वीप-समुद्रोका विस्तार दूना-दूना है इस बातको दिखलानेके लिए सूत्रमे 'द्विर्द्वि' इस प्रकार वीप्सा अर्थमें अभ्यावृत्ति वचन है। प्रथम द्वीपका जो विस्तार है लवणसमुद्रका विस्तार उससे दूना है तथा दूसरे द्वीपका विस्तार इससे दूना है और समुद्रका इससे दूना है। इस प्रकार उत्तरोत्तर दूना-दूना विस्तार है। तात्पर्य यह है कि इन द्वीप-समुद्रोका विस्तार दूना-दूना है, इसलिए सूत्रमे उन्हे दूने-दूने विस्तारवाला कहा है। ग्राम और नगरादिकके समान इन द्वीप-समुद्रोकी रचना न समझी जाये इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमे 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण' यह वचन दिया है। अर्थात् वे द्वीप और समुद्र उत्तरोत्तर एक दूसरेको घेरे हुए है। सूत्रमे जो 'वल-याकृतय' वचन दिया है वह चौकोर आदि आकारोके निराकरण करनेके लिए दिया है।

§ 382 अब पहले जम्बूद्वीपका आकार और विस्तार कहना चाहिए, क्योकि दूसरे द्वीप समुद्रोका विस्तार आदि तन्मूलक है, इसलिए आगेका सूत्र कहते है—

उन सबके बीचमें गोल और एक लाख योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप हैं। जिसके मध्य-मे नाभिके समान मेरु पर्वत है ॥9॥

§ 383. 'तन्मध्ये' पदका अर्थ है 'उनके बीचमे'। **शका**—किनके बीचमे? **समाधान**—पूर्वोक्त द्वीप और समुद्रोके बीचमे। नाभिस्थानीय होनेसे नाभि कहा है। जिसका अर्थ मध्य है। अभिप्राय यह है कि जिसके मध्यमे मेरु पर्वत है, जो सूर्यके मण्डलके समान गोल है और जिसका एक लाख योजन विस्तार है ऐसा यह जम्बूद्वीप है। **शका**—इसे जम्बूद्वीप क्यो कहते हैं? **समा-धान**—जम्बूवृक्षसे उपलक्षित होनेके कारण इसे जम्बूद्वीप कहते हैं। उत्तरकुरुमे अनादिनिधन, पृथिवी से बना हुआ, अकृत्रिम और परिवार वृक्षोसे युक्त जम्बूवृक्ष है, उसके कारण यह जम्बू-द्वीप कहलाता हैं।

विशेषार्थ—अधोलोकका विवेचन कर आये है। इसके बाद मध्यलोक है। यह रत्नप्रभा

---

1. वीप्साया वृत्तिवचन आ, दि 1, दि. 2, मु। 2 पूर्वोक्तद्वीप— आ, दि 1, दि 2, मु। 3. नाभिर्मध्यम। मेरु- आ., दि. 1, दि. 2, मु.। 4. परिमाणोऽकृ- मु।

§ 384. तत्र जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि कानि तानीत्यत आह—

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि [1] ॥10॥

§ 385. भरतादयः संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्ताः। तत्र भरतवर्षः क्व संनिविष्टः ? दक्षिणदिग्भागे हिमवतोऽद्रेस्त्रयाणां[2] समुद्राणां मध्ये आरोपितचापाकारो भरतवर्षः। विजयार्द्धेन गङ्गासिन्धुभ्यां च विभक्तः[3] स षट्खण्ड। क्षुद्रहिमवन्तमुत्तरेण दक्षिणेन महाहिमवन्तं पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवतवर्षः। निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले हरिवर्षः। निषधस्योत्तरान्नीलतो दक्षिणत. पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे विदेहस्य संनिवेशो द्रष्टव्यः। नीलत[4] उत्तरात्[5] (द्) रुक्मिणो दक्षिणात् पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये रम्यकवर्षः। रुक्मिण उत्तराच्छिख-

---

पृथिवीके ऊपरी भागपर अवस्थित है। इसमे गोल आकारको लिये हुए और एकके बाद एकको घेरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र है। इन सबके बीचमे जम्बूद्वीप है। इसके बीचमे और दूसरा द्वीप समुद्र नही है। यद्यपि गोल तो सब द्वीप और समुद्र है पर वे सब चूड़ीके समान गोल है और यह थालीके समान गोल है। इसका व्यास एक लाख योजन है। इसके ठीक बीचमे मेरु पर्वत है। यह एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। इसमे-से एक हजार योजन जमीन मे है। चालीस योजनकी आखीरमे चोटी है और शेष निन्यानवे हजार योजनका समतलसे चूलिका तक है। प्रारम्भमे जमीनपर मेरु पर्वतका व्यास दस हजार योजन है। ऊपर क्रमसे घटता गया है। जिस हिसाबसे ऊपर घटा है उसी हिसाबसे जमीनमे उसका व्यास बढ़ा है। मेरु पर्वतके तीन काण्ड है। पहला काण्ड जमीनसे पाँच सौ योजनका, दूसरा साढ़े बासठ हजार योजनका और तीसरा छत्तीस हजार योजनका है। प्रत्येक काण्डके अन्तमे एक-एक कटनी है। जिसका एक ओरका व्यास पाँचसौ योजन है। अन्तिम कटनीका व्यास मात्र छह योजन कम है। एक जमीनपर और तीन इन तीन कटनियोपर इस प्रकार यह चार वनोसे सुशोभित है। इनके क्रमसे भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये नाम है। पहली और दूसरी कटनीके बाद मेरु पर्वत सीधा गया है फिर क्रमसे घटने लगता है। इसके चारो वनोमे चारों दिशाओमे एक-एक वनमे चार-चार इस हिसाबसे सोलह चैत्यालय है। पाण्डुक वनमे चारो दिशाओमे चार पाण्डुक शिलाएँ है जिनपर उस-उस दिशाके क्षेत्रोमे उत्पन्न हुए तीर्थंकरोका अभिषेक होता है। इसका रग पीला है।

§ 384 इस जम्बूद्वीपमें छह कुलपर्वतोसे विभाजित होकर जो सात क्षेत्र है वे कौन-से है ? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं ॥10॥

§ 385. क्षेत्रोकी भरत आदि सज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही हैं और अनिमित्तक हैं। इनमे-से भरत क्षेत्र कहाँ स्थित है ? हिमवान् पर्वतके दक्षिणमे और तीन समुद्रोके बीचमे चढे हुए धनुषके आकारवाला भरत क्षेत्र है जो विजयार्ध और गगा-सिन्धुसे विभाजित होकर छह खण्डोमे बँटा हुआ है। क्षुद्र हिमवान्के उत्तरमे और महाहिमवान्के दक्षिणमे तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रके बीचमे हैमवत क्षेत्र है। निषधके दक्षिणमे और महाहिमवान्के उत्तरमे तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमे हरिक्षेत्र है। निषधके उत्तरमे और नीलके दक्षिणमे तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमे विदेह क्षेत्रकी रचना है। नीलके उत्तरमे और रुक्मीके दक्षिणमे तथा पूर्व

---

1 क्षेत्राणि ॥10॥ भिन्न-भिन्नानि भरता- आ । 2 -याणा च समु- मु । 3. विभक्त षट्- मु, । 4. नीलवत उत्त- आ., दि 1, दि 2 । 5 उत्तर रुक्मिणो दक्षिण. मु. ।

रिणो दक्षिणात्पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये संनिवेशी[1] हैरण्यवतवर्ष.। शिखरिण उत्तरतस्त्रयाणां समुद्राणां मध्ये ऐरावतवर्ष.। विजयार्द्धेन रक्तारक्तोदाभ्यां च विभक्त[2] स षट्खण्डः।

§ 386. षट् कुलपर्वता इत्युक्तं के पुनस्ते कथं वा व्यवस्थिता इत्यत आह—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥11॥

§ 387. तानि क्षेत्राणि विभजन्त इत्येवंशीलास्तद्विभाजिनः। पूर्वापरायता इति पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिस्पर्शिन इत्यर्थ.। हिमवदादयोऽनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्तसंज्ञा वर्षविभागहेतुत्वाद्वर्षधरपर्वता इत्युच्यन्ते। तत्र क्व हिमवान्? भरतस्य हैमवतस्य च सीमनि[3] व्यवस्थित.। क्षुद्रहिमवान् योजनशतोच्छ्राय.। हैमवतस्य हरिवर्षस्य[4] च विभागकरो महाहिमवान् द्वियोजनशतोच्छ्रायः[5]। विदेहस्य दक्षिणतो हरिवर्षस्योत्तरतो निषधो नाम पर्वतश्चतुर्योजनशतोच्छ्रायः। उत्तरे त्रयोऽपि पर्वता. स्ववर्षविभाजिनो व्याख्याता.। उच्छ्रायश्च तेषां चत्वारि द्वे एकं च योजनशतं वेदितव्यम्[6]। सर्वेषां पर्वतानामुच्छ्रायस्य चतुर्भागोऽवगाहः।

§ 388 तेषां वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥12॥

पश्चिम समुद्रके वीचमे रम्यक क्षेत्र है। रुक्मीके उत्तरमे और शिखरीके दक्षिणमे तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके वीचमे हेरण्यवत क्षेत्र है। शिखरीके उत्तरमे और तीन समुद्रोके वीचमे ऐरावत क्षेत्र है जो विजयार्ध और रक्ता रक्तोदासे विभाजित होकर छह खण्डोमे वँटा हुआ है।

§ 386 कुलपर्वत छह है यह पहले कह आये है, परन्तु वे कौन है और कहाँ स्थित है यह वतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

उन क्षेत्रोको विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत है ॥11॥

§ 387 इन पर्वतोका स्वभाव उन क्षेत्रोका विभाग करना है, इसलिए इन्हे उनका विभाग करनेवाला कहा है। ये पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे है। इसका यह भाव है कि इन्होने अपने पूर्व और पश्चिम सिरेसे लवण समुद्रको स्पर्श किया है। ये हिमवान् आदि सज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही है और विना निमित्तकी है। इन पर्वतोके कारण क्षेत्रोका विभाग होता है इसलिए इन्हे वर्षधर पर्वत कहते है। हिमवान् पर्वत कहाँ है अव इसे वतलाते है—भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमापर हिमवान् पर्वत स्थित है। इसे क्षुद्र हिमवान् भी कहते है। यह सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला महाहिमवान् है। यह दो सौ योजन ऊँचा है। विदेहके दक्षिणमे और हरिवर्षके उत्तरमे निषध पर्वत है। यह चार सौ योजन ऊँचा है। इसी प्रकार आगेके तीन पर्वत भी अपने-अपने क्षेत्रोका विभाग करनेवाले जानने चाहिए। उनकी ऊँचाई क्रमश. चार सौ, दो सौ और सौ योजन जाननी चाहिए। इन सव पर्वतोकी जड अपनी ऊँचाईका एक-चौथाई भाग है।

§ 388 अव इन पर्वतोके वर्णविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

ये छहो पर्वत क्रमसे सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना इनके समान रंगवाले हैं ॥12॥

---

1 सनिवेशो हैर- मु। 2 -विभक्त षट्- मु। 3 सीमन्यव- आ, दि 1, दि 2। 4 हरिवंशस्य च विभा- आ., दि 1, दि 2। 5 -च्छ्राय। महाविदेहस्य आ, दि 1, दि 2। 6 -तव्यम्। पर्वता- मु।

§ 384. तत्र जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि कानि तानीत्यत आह—

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि [1] ॥10॥

§ 385. भरतादयः संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्ताः। तत्र भरतवर्षः क्व संनिविष्टः? दक्षिणदिग्भागे हिमवतोऽद्रेस्त्रयाणां[2] समुद्राणां मध्ये आरोपितचापाकारो भरतवर्षः। विजयार्द्धेन गङ्गासिन्धुभ्यां च विभक्तः[3] स षट्खण्ड। क्षुद्रहिमवन्तमुत्तरेण दक्षिणेन महाहिमवन्तं पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवतवर्षः। निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले हरिवर्षः। निषधस्योत्तरान्नीलतो दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे विदेहस्य संनिवेशो द्रष्टव्यः। नीलत[4] उत्तरात्[5] (द्) रुक्मिणो दक्षिणात् पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये रम्यकवर्षः। रुक्मिण उत्तराच्छिख-

---

पृथिवीके ऊपरी भागपर अवस्थित है। इसमे गोल आकारको लिये हुए और एकके बाद एकको घेरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र है। इन सबके बीचमे जम्बूद्वीप है। इसके बीचमे और दूसरा द्वीप समुद्र नही है। यद्यपि गोल तो सब द्वीप और समुद्र है पर वे सब चूडीके समान गोल है और यह थालीके समान गोल है। इसका व्यास एक लाख योजन है। इसके ठीक बीचमे मेरु पर्वत है। यह एक लाख चालीस योजन ऊँचा हैं। इसमे-से एक हजार योजन जमीन मे है। चालीस योजनकी आखीरमे चोटी है और शेष निन्यानबे हजार योजनका समतलसे चूलिका तक है। प्रारम्भमे जमीनपर मेरु पर्वतका व्यास दस हजार योजन है। ऊपर क्रमसे घटता गया है। जिस हिसाबसे ऊपर घटा है उसी हिसाबसे जमीनमे उसका व्यास बढ़ा है। मेरु पर्वतके तीन काण्ड हैं। पहला काण्ड जमीनसे पाँच सौ योजनका, दूसरा साढे बासठ हजार योजनका और तीसरा छत्तीस हजार योजनका है। प्रत्येक काण्डके अन्तमे एक-एक कटनी है। जिसका एक ओरका व्यास पाँचसौ योजन है। अन्तिम कटनीका व्यास मात्र छह योजन कम है। एक जमीनपर और तीन इन तीन कटनियोपर इस प्रकार यह चार वनोसे सुशोभित है। इनके क्रमसे भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये नाम है। पहली और दूसरी कटनीके बाद मेरु पर्वत सीधा गया है फिर क्रमसे घटने लगता है। इसके चारो वनोमे चारो दिशाओमे एक-एक वनमें चार-चार इस हिसाबसे सोलह चैत्यालय है। पाण्डुक वनमे चारो दिशाओमे चार पाण्डुक शिलाएँ हैं जिनपर उस-उस दिशाके क्षेत्रोमे उत्पन्न हुए तीर्थंकरोका अभिषेक होता है। इसका रग पीला है।

§ 384 इस जम्बूद्वीपमे छह कुलपर्वतोसे विभाजित होकर जो सात क्षेत्र है वे कौन-से है? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं ॥10॥

§ 385. क्षेत्रोकी भरत आदि सज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही हैं और अनिमित्तक है। इनमे-से भरत क्षेत्र कहाँ स्थित है? हिमवान् पर्वतके दक्षिणमे और तीन समुद्रोके बीचमे चढे हुए धनुषके आकारवाला भरत क्षेत्र है जो विजयार्ध और गगा-सिन्धुसे विभाजित होकर छह खण्डोमे बँटा हुआ है। क्षुद्र हिमवान्के उत्तरमे और महाहिमवान्के दक्षिणमे तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रके बीचमे हैमवत क्षेत्र है। निषधके दक्षिणमे और महाहिमवान्के उत्तरमे तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमे हरिक्षेत्र है। निषधके उत्तरमे और नीलके दक्षिणमे तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमे विदेह क्षेत्रकी रचना है। नीलके उत्तरमे और रुक्मीके दक्षिणमे तथा पूर्व

---

1. क्षेत्राणि ॥10॥ भिन्न-भिन्नानि भरता- आ । 2 -याणा च समु- मु । 3. विभक्त. षट्- मु, । 4. नीलवत उत्त- आ., दि. 1, दि. 2 । 5. उत्तर. रुक्मिणो दक्षिणः मु ।

रिणो दक्षिणात्पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये सनिवेशी[1] हैरण्यवतवर्ष:। शिखरिण उत्तरतस्त्रयाणां समुद्राणां मध्ये ऐरावतवर्ष.। विजयार्द्धेन रक्तारक्तोदाभ्या च विभक्त[2] स षट्खण्ड.।

§ 386. षट् कुलपर्वता इत्युक्त के पुनस्ते कथ वा व्यवस्थिता इत्यत आह—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-
रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥11॥

§ 387. तानि क्षेत्राणि विभजन्त इत्येवंशीलास्तद्विभाजिन.। पूर्वापरायता इति पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिस्पर्शिन इत्यर्थ। हिमवदादयोऽनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्तसज्ञा वर्षविभागहेतुत्वाद्वर्षधरपर्वता इत्युच्यन्ते। तत्र क्व हिमवान्? भरतस्य हैमवतस्य च सीमनि[3] व्यवस्थित। क्षुद्रहिमवान् योजनशतोच्छ्राय.। हैमवतस्य हरिवर्षस्य[4] च विभागकरो महाहिमवान् द्वियोजनशतोच्छ्राय.[5]। विदेहस्य दक्षिणतो हरिवर्षस्योत्तरतो निषधो नाम पर्वतश्चतुर्योजनशतोच्छ्राय। उत्तरे त्रयोऽपि पर्वता: स्ववर्षविभाजिनो व्याख्याता.। उच्छ्रायश्च तेषा चत्वारि द्वे एकं च योजनशतं वेदितव्यम्[6]। सर्वेषां पर्वतानामुच्छ्रायस्य चतुर्भागोऽवगाह।

§ 388. तेषां वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममया. ॥12॥

पश्चिम समुद्रके बीचमे रम्यक क्षेत्र है। रुक्मीके उत्तरमे और शिखरीके दक्षिणमे तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमे हैरण्यवत क्षेत्र है। शिखरीके उत्तरमे और तीन समुद्रोके बीचमे ऐरावत क्षेत्र है जो विजयार्ध और रक्ता रक्तोदासे विभाजित होकर छह खण्डोमे बँटा हुआ है।

§ 386 कुलपर्वत छह है यह पहले कह आये है, परन्तु वे कौन है और कहाँ स्थित है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

उन क्षेत्रोको विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत है ॥11॥

§ 387 इन पर्वतोका स्वभाव उन क्षेत्रोका विभाग करना है, इसलिए उन्हे उनका विभाग करनेवाला कहा है। ये पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे है। इसका यह भाव है कि इन्होने अपने पूर्व और पश्चिम सिरेसे लवण समुद्रको स्पर्श किया है। ये हिमवान् आदि सज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही है और बिना निमित्तकी है। इन पर्वतोके कारण क्षेत्रोका विभाग होता है इसलिए इन्हे वर्षधर पर्वत कहते है। हिमवान् पर्वत कहाँ है अब इसे बतलाते है—भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमापर हिमवान् पर्वत स्थित है। इसे क्षुद्र हिमवान् भी कहते है। यह सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला महाहिमवान् है। यह दो सौ योजन ऊँचा है। विदेहके दक्षिणमे और हरिवर्षके उत्तरमे निषध पर्वत है। यह चार सौ योजन ऊँचा है। इसी प्रकार आगेके तीन पर्वत भी अपने-अपने क्षेत्रोका विभाग करनेवाले जानने चाहिए। उनकी ऊँचाई क्रमश चार सौ, दो सौ और सौ योजन जाननी चाहिए। इन सब पर्वतोकी जड अपनी ऊँचाईका एक-चौथाई भाग है।

§ 388 अब इन पर्वतोके वर्णविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

ये छहो पर्वत क्रमसे सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना इनके समान रंगवाले है ॥12॥

---

1 सनिवेशो हैर- मु। 2 -विभक्त षट्- मु। 3 सीमन्यव- आ, दि 1, दि 2। 4 हरिवर्षस्य च विभा- आ, दि 1, दि 2। 5 -च्छ्राय। महाविदेहस्य आ, दि 1, दि 2। 6 -तव्यम्। पर्वता- मु।

§ 389. त एते हिमवदादयः पर्वता हेमादिमया वेदितव्या यथाक्रमम् । हेममयो हिमवान् चीनपट्टवर्णः । अर्जुनमयो महाहिमवान् शुक्लवर्ण । तपनीयमयो निषधस्तरुणादित्यवर्णः । वैडूर्यमयो नीलो मयूरग्रीवाभः । रजतमयो रुक्मी शुक्ल । हेममय. शिखरी चीनपट्टवर्णः ।

§ 390. पुनरपि [1]तद्विशेषणार्थमाह—

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः॥13॥

§ 391. नानावर्णप्रभादिगुणोपेतैर्मणिभिर्विचित्राणि पार्श्वाणि येषां ते मणिविचित्रपार्श्वाः । अनिष्ट[2]संस्थानस्य निवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनं क्रियते । 'च'शब्दो मध्यसमुच्चयार्थ. । य एषां मूले विस्तार स उपरि मध्ये च तुल्यः ।

§ 392. तेषां मध्ये लब्धास्पदा ह्रदा उच्यन्ते—

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥14॥

§ 393. पद्मो महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी महापुण्डरीकः पुण्डरीक इति तेषां हिमवदादीनामुपरि यथाक्रममेते ह्रदा वेदितव्याः ।

§ 394. तत्राद्यस्य संस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

---

§ 389 वे पर्वत क्रमसे हेम आदि वर्णवाले जानने चाहिए। हिमवान् पर्वतका रग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है। महाहिमवान्का रग अर्जुनमय अर्थात् सफेद है। निषध पर्वतका रंग तपाये गये सोनेके समान अर्थात् उगते हुए सूर्यके रगके समान है। नील पर्वतका रग वैडूर्यमय अर्थात् मोरके गलेकी आभावाला है। रुक्मी पर्वतका रग रजतमय अर्थात् सफेद है और शिखरी पर्वतका रग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है।

§ 390 फिर भी इन पर्वतोंकी और विशेषता का ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इनके पार्श्व मणियोंसे चित्र-विचित्र हैं तथा वे ऊपर, मध्य और मूलमें समान विस्तारवाले हैं ॥13॥

§ 391 इन पर्वतोके पार्श्व भाग नाना रंग और नाना प्रकार की प्रभा आदि गुणोसे युक्त मणियोसे विचित्र है, इसलिए सूत्रमे इन्हे मणियोसे विचित्र पार्श्ववाले कहा है। अनिष्ट आकारके निराकरण करनेके लिए सूत्रमे 'उपरि' आदि पद रखे है। 'च' शब्द मध्यभागका समुच्चय करनेके लिए है। तात्पर्य यह हैं कि इनका मूलमें जो विस्तार है वही ऊपर और मध्यमें है।

§ 392 इन पर्वतोके मध्यमे जो तालाव है उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

इन पर्वतोके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये तालाव हैं ॥14॥

§ 393 पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह तालाव हैं जो उन हिमवान् आदि पर्वतोपर क्रमसे जानना चाहिए।

§ 394 इनमे-से पहले तालावके आकार-विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1. तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह मु. । 2 -ष्टस्य संस्था- मु. ।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥15॥

§ 395. प्राक्प्रत्यग् योजनसहस्रायाम उदगवाक् पञ्चयोजनशतविस्तारो वज्रमयतलो विविधमणिकनकविचित्रिततटः पद्मनामाह्रदः।

§ 396. तस्यावगाहप्रक्लृप्त्यर्थमिदमुच्यते—

दशयोजनावगाहः ॥16॥

§ 397. अवगाहोऽध प्रवेशो निम्नता। दशयोजनान्यवगाहोऽस्य दशयोजनावगाहः।

§ 398. [1]तन्मध्ये किम्—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥17॥

§ 399. योजनप्रमाणं योजनम्, क्रोशायामपत्रत्वात्क्रोशद्वयविष्कम्भकर्णिकत्वाच्च योजनायासविष्कम्भम्। जलतलात्क्रोशद्वयोच्छ्रायनालं यावद्बहुलपत्रप्रचय पुष्करमवगन्तव्यम्।

§ 400. इतरेषां ह्रदानां पुष्कराणा चायामादिनिर्ज्ञानार्थमाह—

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥18॥

§ 401. स च तच्च ते, तयोर्द्विगुणा[2] द्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वं व्याप्ति[3]ज्ञापनार्थम्। केन द्विगुणाः ? आयामादिना। पद्मह्रदस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहो महापद्मो[4]

पहला तालाब एक हजार योजन लम्बा और इससे आधा चौड़ा है ॥15॥

§ 395 पद्म नामक तालाव पूर्व और पश्चिम एक हजार योजन लम्वा है तथा उत्तर और दक्षिण पाँच सौ योजन चौडा है। इसका तलभाग वज्रसे वना हुआ है। तथा इसका तट नाना प्रकारके मणि और सोनेसे चित्रविचित्र है।

§ 396 अब इसकी गहराई दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

तथा दस योजन गहरा है ॥16॥

§ 397 अवगाह, अव प्रवेश और निम्नता ये एकार्थवाची नाम है। पद्म तालावकी गहराई दस योजन है यह इस सूत्रका तात्पर्य है।

§ 398 इसके बीचमे क्या है ?

इसके बीचमें एक योजनका कमल है ॥17॥

§ 399 सूत्रमे जो 'योजनम्' पद दिया है उसमे एक योजन प्रमाण लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कमलका पत्ता एक कोस लम्वा है और उसकी कर्णिकाका विस्तार दो कोसका है, इसलिए कमल एक योजन लम्वा और एक योजन विस्तारवाला है। इस कमलकी नाल जलतल से दो कोस ऊपर उठी है और इसके पत्तोकी उतनी ही मोटाई है। इस प्रकार यह कमल जानना चाहिए।

§ 400 अव दूसरे तालाव और कमलोकी लम्वाई आदिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

आगेके तालाब और कमल दूने-दूने हैं ॥18॥

§ 401 सूत्रमे जो 'तत्' पद आया है उससे तालाव और कमल दोनोका ग्रहण किया है। आगेके तालाव और कमल दूने-दूने है इस व्याप्तिका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमे 'तद्द्विगुणद्विगुणा' कहा है। शंका—ये तालाव और कमल किसकी अपेक्षा दूने हैं ? समाधान—लम्बाई आदिकी

---

1 —गाह। तन्मध्ये योजन आ, दि 1, दि 2। 2 —नयोर्द्विगुणास्तद्विगुणास्त- मु। 3 —ज्ञानार्थम् मु। 4 —पद्मह्रद मु।

ह्रदः। तस्य द्विगुणायामविष्कम्भावगाहस्तिगिञ्छो[1] ह्रदः। पुष्कराणि च। किम्? द्विगुणानि द्विगुणानीत्यभिसंबध्यते।

§ 402. तन्निवासिनीनां देवीनां संज्ञाजीवितपरिवारप्रतिपादनार्थमाह—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥19॥

§ 403. तेषु पुष्करेषु कर्णिकामध्यदेशनिवेशिनः शरद्विमलपूर्णचन्द्रद्युतिहराः क्रोशायामाः क्रोशार्द्धविष्कम्भा देशोनक्रोशोत्सेधाः प्रासादाः। तेषु निवसन्तीत्येवंशीलास्तन्निवासिन्यः, देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मीसंज्ञिकास्तेषु पद्मादिषु यथाक्रमं वेदितव्याः। 'पल्योपमस्थितयः' इत्यनेनायुषः प्रमाणमुक्तम्। समाने स्थाने भवा सामानिकाः। सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषदः। सह सामानिकपरिषद्भिर्वर्तन्त इति ससामानिकपरिषत्काः। तस्य पद्मस्य परिवारपद्मेषु प्रासादानामुपरि सामानिकाः परिषदश्च वसन्ति।

§ 404. यकाभिः सरिद्भिस्तानि क्षेत्राणि प्रविभक्तानि ता उच्यन्ते—

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

§ 405. सरितो न वाप्यः। ताः किमन्तरा उत समीपा इति? आह—तन्मध्यगाः तेषां

अपेक्षा। पद्म तालाबकी जो लम्बाई, विस्तार और गहराई है महापद्म तालाबकी लम्बाई, विस्तार और गहराई इससे दूनी है। इससे तिगिंछ तालावकी लम्बाई, विस्तार और गहराई दूनी है। शंका—कमल क्या है? **समाधान**—वे भी लम्वाई आदिकी अपेक्षा दूने-दूने है ऐसा यहाँ सम्वन्ध करना चाहिए।

§ 402 इनमे निवास करनेवाली देवियोके नाम, आयु और परिवारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

इनमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ सामानिक और परिषद् देवोंके साथ निवास करती है। तथा इनकी आयु एक पल्योपम है ॥19॥

§ 403 इन कमलोकी कर्णिकाके मध्यमे शरत्कालीन निर्मल पूर्ण चन्द्रमाकी कान्तिको हरनेवाले एक कोस लम्वे, आधा कोस चौडे और पौन कोस ऊँचे महल है। उनमे निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, वुद्धि और लक्ष्मी नामवाली देवियाँ क्रमसे पद्म आदि छह कमलोमें जानना चाहिए। 'उनकी स्थिति एक पल्योपमकी है' इस पदके द्वारा उनकी आयुका प्रमाण कहा है। समान स्थानमे जो होते है वे सामानिक कहलाते है। सामानिक और परिषत्क ये देव हैं। वे देवियाँ इनके साथ रहती है। तात्पर्य यह है कि मुख्य कमलके जो परिवार कमल है उनके महलोमे सामानिक और परिषद् जातिके देव रहते है।

§ 404. जिन नदियोसे क्षेत्रोका विभाग हुआ है अव उन नदियोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

इन भरत आदि क्षेत्रोमें-से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ बही हैं ॥20॥

§ 405. ये नदियाँ है तालाव नही। वे नदियाँ अन्तरालसे है या पास-पास इस वातका

---

1. –गिञ्छह्रद मु।

क्षेत्राणां मध्यं[1] तन्मध्यम् । तन्मध्य तन्मध्येन वा गच्छन्तीति तन्मध्यगा. । एकत्र सर्वासां प्रसग-निवृत्त्यर्थं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं चाह—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥21॥

§ **406** द्वयोर्द्वयोः सरितोरेकैक क्षेत्र विषय इति वाक्यशेषाभिसवन्धादेकत्र सर्वासां प्रसगनिवृत्ति कृता । 'पूर्वा पूर्वगा' इति वचन दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । तत्र पूर्वा याः सरितस्ताः पूर्वगाः । [2]पूर्वजलधि गच्छन्तीति पूर्वगाः । किमपेक्ष पूर्वत्वम् ? सूत्रनिर्देशापेक्षम् । यद्येवं गङ्गा-सिन्ध्वादयः सप्त पूर्वगा इति प्राप्तम् ? नैष दोष , द्वयोर्द्वयोरित्यभिसवन्धात् । द्वयोर्द्वयो पूर्वा. पूर्वगा इति वेदितव्याः ।

§ **407.** इतरासा दिग्विभागप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शेषास्त्वपरगाः ॥22॥

§ **408** द्वयोर्द्वयोर्या अवशिष्टास्ता अपरगा प्रत्येतव्या । अपरसमुद्रं गच्छन्तीत्यपरगा । तत्र पद्मह्लदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गा । अपरतोरणद्वारनिर्गता सिन्धुः । उदीच्यतोरणद्वार-निर्गता रोहितास्या । महापद्मह्लदप्रभवा [3]अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहित् । उदीच्यतोरणद्वार-निर्गता हरिकान्ता । तिगिञ्छह्लदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता हरित् । उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता

खुलासा करनेके लिए सूत्रमे 'तन्मध्यगा' पद दिया है । इसका यह भाव है कि उन क्षेत्रोंमें या उन क्षेत्रोंमे-से होकर वे नदिया बही है । एक स्थानमें सबका प्रसग प्राप्त होता है, अत इसका निराकरण करके दिशा विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

दो-दो नदियोंमें-से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्रको जाती है ॥21॥

§ 406 इस सूत्रमे 'दो-दो नदियाँ एक-एक क्षेत्रमे है' इस प्रकार वाक्यविशेषका सम्बन्ध कर लेनेसे एक क्षेत्रमे सब नदियोंके प्रसग होनेका निराकरण हो जाता है । 'पूर्वा पूर्वगा' यह वचन दिशाविशेषका ज्ञान करानेके लिए दिया है । इन नदियोंमें जो प्रथम नदियाँ है वे पूर्व समुद्रमें जाकर मिली है । सूत्रमें जो 'पूर्वगा' पद है उसका अर्थ 'पूर्व समुद्रको जाती है' यह है । शका—पूर्वत्व किस अपेक्षासे है ? समाधान—सूत्रमे किये गये निर्देशकी अपेक्षा । शका—यदि ऐसा है तो गगा, सिन्धु आदि सात नदियाँ पूर्व समुद्रको जानेवाली प्राप्त होती है ? समाधान—यह कोई दोष नही, क्योकि 'द्वयो द्वयो' इन पदोका सम्बन्ध है । तात्पर्य यह है कि दो-दो नदियोमे-से प्रथम-प्रथम नदी बहकर पूर्व समुद्रमे मिली है ।

§ 407 अब इतर नदियोके दिशाविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

किन्तु शेष नदियाँ पश्चिम समुद्रको जाती है ॥22॥

सीतोदा। केसरिह्रदप्रभवा अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता सीता। उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता नरकान्ता। महापुण्डरीकह्रदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता नारी। उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रूप्यकूला। पुण्डरीकह्रदप्रभवा अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूला। पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता। [1]प्रतीच्यतोरणद्वारनिर्गता रक्तोदा।

§ 409. तासां परिवारप्रतिपादनार्थमाह—

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृत्ता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥23॥

§ 410. किमर्थं 'गङ्गासिन्ध्वादि' ग्रहणं क्रियते ? नदीग्रहणार्थम्। प्रकृतास्ता अभिसंबध्यन्ते ? नैवं शंक्यम्; [2]'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति अपरगाणामेव ग्रहणं स्यात्। गङ्गादिग्रहणमेवास्तीति चेत् ? पूर्वगाणामेव ग्रहणं स्यात्। अत उभयीनां ग्रहणार्थं 'गङ्गासिन्ध्वादि' ग्रहणं क्रियते। 'नदी' ग्रहणं द्विगुणा द्विगुणा इत्यभिसंबन्धार्थम्। गङ्गा चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता। सिन्धुरपि। एवमुत्तरा अपि नद्यः प्रतिक्षेत्रं तद्द्विगुणद्विगुणा[3] भवन्ति; आ विदेहान्तात्। तत उत्तरा अर्द्धार्द्धहीनाः।

§ 411. उक्तानां क्षेत्राणां विष्कम्भप्रतिपत्त्यर्थमाह—

भरतः षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥24॥

§ 412. षडधिका विंशतिः षड्विंशतिः। षड्विंशतिरधिका[4] येषु तानि षड्विंशानि।

निकली हुई सीता नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई नरकान्ता नदी है। महापुण्डरीक तालावसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई नारी नदी है। तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई रूप्यकूला नदी है। पुण्डरीक तालावसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई सुवर्णकूला नदी है। पूर्व तोरणद्वारसे निकली हुई रक्ता नदी है और पश्चिम तोरणद्वारसे निकली हुई रक्तोदा नदी है।

§ 409 अब इनकी परिवार-नदियोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

गंगा और सिन्धु आदि नदियोकी चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं ॥23॥

§ 410 शंका—'गगा सिन्धु आदि' पदका ग्रहण किसलिए किया है ? समाधान—नदियो का ग्रहण करनेके लिए। शंका—उनका तो प्रकरण है ही, अत 'गगासिन्ध्वादि' पदके विना ग्रहण किये ही उनका सम्बन्ध हो जाता है ? समाधान—ऐसी शका नही करनी चाहिए, क्योकि 'अनन्तरका विधान होता है या प्रतिषेध' इस नियमके अनुसार पश्चिमकी ओर वहनेवाली नदियोका ही ग्रहण होता जो कि इष्ट नही, अत. सूत्रमे 'गगासिन्ध्वादि' पद दिया है। शंका—तो सूत्र मे 'गगादि' इतने पद का ही ग्रहण रहे ? समाधान—यदि 'गगादि' इतने पदका ही ग्रहण किया जाये तो पूर्वकी ओर बहनेवाली नदियोका ही ग्रहण होवे जो भी इष्ट नही, अत. दोनो प्रकारकी नदियोका ग्रहण करनेके लिए 'गगासिन्ध्वादि' पदका ग्रहण किया है। यद्यपि 'गंगासिन्ध्वादि' इतने पदके ग्रहण करनेसे ही यह वोध हो जाता है कि ये नदियाँ है, फिर भी सूत्रमे जो 'नदी' पदका ग्रहण किया है वह 'द्विगुणा द्विगुणाः' इसके सम्बन्धके लिए किया है। गंगाकी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं। इसी प्रकार सिन्धुकी भी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं। इस प्रकार आगेकी परिवार नदियाँ विदेह पर्यन्त दूनी-दूनी होती गयी हैं। और इससे आगेकी परिवार नदियाँ आधी-आधी होती गयी हैं।

§ 411 अब उक्त क्षेत्रोके विस्तारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन है ॥25॥

§ 412. यहाँ टीकामे पहले 'षड्विंशपचयोजनशतविस्तार:' पदका समास किया गया

---

1. अपरतोरण-मु.। 2. पा. म. भा., पृ 335। 3. -क्षेत्र द्विगुणा द्विगुणा मु.। 4. -रधिकानि येषु मु.।

षड्विंशानि पञ्चयोजनशतानि विस्तारो यस्य षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारो भरतः। किमेतावानेव ? न; इत्याह षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य विस्तारोऽस्येत्यभिसंबध्यते।

§ 413. इतरेषां विष्कम्भविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥25॥

§ 414. [1]ततो भरताद् द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषां त इमे तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः। के ते वर्षधरवर्षाः। किं सर्वे ? न; इत्याह विदेहान्ता इति।

§ 415. अथोत्तरेषां कथमित्यत आह—

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥26॥

§ 416. उत्तरा ऐरावतादयो नीलान्ता भरतादिभिर्दक्षिणैस्तुल्या द्रष्टव्याः। अतीतस्य सर्वस्यायं विशेषो वेदितव्यः। तेन ह्रदपुष्करादीनां तुल्यता योज्या।

§ 417 अत्राह, उक्तेषु भरतादिषु क्षेत्रेषु मनुष्याणां किं तुल्योऽनुभवादिः[2], आहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

§ 418. वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ। काभ्याम् ? [3]षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणी-

---

है जिसका अभिप्राय यह है कि भरतवर्ष पाँच सौ छब्बीस योजनप्रमाण विस्तार से युक्त है। शंका—क्या इसका इतना ही विस्तार है ? समाधान—नही, क्योकि इसका एक योजनका छह बटे उन्नीस योजन विस्तार और जोड लेना चाहिए।

§ 413 अब इतर क्षेत्रोके विस्तार विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विदेह पर्यन्त पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार भरत क्षेत्रके विस्तारसे दूना-दूना हैं ॥25॥

§ 414. जिनका भरतसे दूना-दूना विस्तार है वे भरतसे दूने-दूने विस्तारवाले कहे गये हैं। यहाँ 'तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा.' मे बहुव्रीहि समास है। शंका—वे दूने-दूने विस्तारवाले क्या हैं ? समाधान—पर्वत और क्षेत्र। शंका—क्या सबका दूना-दूना विस्तार है ? समाधान—नही, किन्तु विदेह क्षेत्र तक दूना-दूना विस्तार है।

§ 415. क्षेत्र और पर्वतोका विस्तार क्रमसे किस प्रकार है अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उत्तरके क्षेत्र और पर्वतोका विस्तार दक्षिणके क्षेत्र और पर्वतोके समान है ॥26॥

§ 416. 'उत्तर' इस पदसे ऐरावत क्षेत्रसे लेकर नील पर्यन्त क्षेत्र और पर्वत लिये गये हैं। इनका विस्तार दक्षिण दिशावर्ती भरतादिके समान जानना चाहिए। पहले जितना भी कथन कर आये है उन सबमे यह विशेषता जाननी चाहिए। इससे तालाव और कमल आदिकी समानता लगा लेनी चाहिए।

§ 417. यहाँ पर शकाकार कहता है कि इन पूर्वोक्त भरतादि क्षेत्रोमे मनुष्योका अनुभव आदि क्या समान हैं या कुछ विशेषता है ? इस शकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह समयोंकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता रहता है ॥27॥

§ 418. वृद्धि और ह्रास इन दोनो पदोमे कर्मधारय समास है। शका—किनकी अपेक्षा

---

1 ततो द्विगुणो ता, ना। 2. –तुल्योऽनुभव. आहो- ता, ना। 3. –याभ्याम्। कयोः मु.।

म्याम् । कयोः ? भरतैरावतयो. । न तयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ स्त ; असंभवात् । तत्स्थाना मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ भवतः । अथवाधिकरणनिर्देश । भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासाविति । किकृतौ वृद्धिह्रासौ ? अनुभवायु प्रमाणादिकृतौ । अनुभव उपभोग, आयुर्जीवितपरिमाणम्[1], प्रमाणं शरीरोत्सेध इत्येवमादिभिर्वृद्धिह्रासौ मनुष्याणां भवत[2] । किहेतुकौ पुनस्तौ ? कालहेतुकौ । स च कालो द्विविध.—उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति । तद्‌भेदाः प्रत्येक षट् । अन्वर्थसंज्ञे चैते । अनुभवादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी । तैरेवावसर्पणशीला अवसर्पिणी । तत्रावसर्पिणी षड्‌विधा—सुषमसुषमा सुषमा सुषमदुःषमा दुःषमसुषमा दुःषमा अतिदुःषमा चेति । उत्सर्पिण्यपि अतिदुःषमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्‌विधैव भवति । अवसर्पिण्याः परिमाणं दशसागरोपमकोटीकोटय । उत्सर्पिण्या अपि तावत्य एव । सोभयी कल्प इत्याख्याते । तत्र सुषमसुषमा चतस्र सागरोपमकोटीकोटयः । तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्याः । ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमा भवति तिस्र सागरोपमकोटीकोटय. । तदादौ मनुष्या हरिवर्षमनुष्यसमा. । तत. क्रमेण हानौ सत्या सुषमदुःषमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोटयौ । तदादो मनुष्या हैमवतकमनुष्यसमा । तत' क्रमेण हानौ सत्या दुःषमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना । तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति । ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुःषमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि । ततः क्रमेण हानौ सत्या-

---

वृद्धि और ह्रास होता है ? **समाधान**—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीसम्बन्धी छह समयोंकी अपेक्षा । **शंका**—किनका छह समयोंकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता है ? **समाधान**—भरत और ऐरावत क्षेत्रका । इसका यह मतलब नहीं कि उन क्षेत्रोंका वृद्धि और ह्रास होता है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है । किन्तु उन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है । अथवा, 'भरतैरावतयो' षष्ठी विभक्ति न होकर अधिकरणमें यह निर्देश किया है जिससे इस प्रकार अर्थ होता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रमें मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है । **शंका**—यह वृद्धि और ह्रास किंनिमित्तक होता है ? **समाधान**—अनुभव, आयु और प्रमाण आदि निमित्तक होता है । अनुभव उपभोगको कहते है, जीवित रहनेके परिमाणको आयु कहते है और शरीरकी ऊँचाईको प्रमाण कहते हैं । इस प्रकार इत्यादि कारणोंसे मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है । **शंका**—ये वृद्धि-ह्रास किस निमित्तसे होते है ? **समाधान**—ये कालके निमित्त से होते है । वह काल दो प्रकारका है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी । इनमें-से प्रत्येकके छह भेद हैं । ये दोनों काल सार्थक नामवाले है । जिसमें मनुष्योंके अनुभव आदिकी वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें इनका ह्रास होता है वह अवसर्पिणी है । अवसर्पिणीके छह भेद है—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुष्षमा, दुष्षमसुषमा, दुष्षमा और अतिदुष्षमा । इसीप्रकार उत्सर्पिणी भी अतिदुष्षमासे लेकर सुषमसुषमा तक छह प्रकार का है । अवसर्पिणी कालका परिमाण दस कोडाकोडी सागरोपम है और उत्सर्पिणीका भी इतना ही है । ये दोनों मिलकर एक कल्पकाल कहे जाते हैं । इनमें-से सुषमसुषमा चार कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य उत्तरकुरुके मनुष्योंके समान होते हैं । फिर क्रमसे हानि होनेपर तीन कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सुषमा काल प्राप्त होता है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान होते हैं । तदनन्तर क्रमसे हानि होनेपर दो कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सुषमदुष्षमा काल प्राप्त होता है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य हैमवतके मनुष्योंके समान होते हैं । तदनन्तर क्रमसे हानि होकर ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण दुष्षमसुषमा काल प्राप्त होता है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके समान होते है । तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस

---

1. —परिमाणम्, शरी - मु । 2 भवत तयो । किहेतु- ता, ना. ।

मतिदुष्षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि । एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या ।

§ 419. अथेतरासु भूमिषु कावस्थेत्यत आह—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता ।।28।।

§ 420. ताभ्यां भरतैरावताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता भवन्ति । न हि तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ स्तः ।

§ 421. किं तासु भूमिषु मनुष्यास्तुल्यायुष आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत आह—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ।।29।।

§ 422. हैमवते भवा हैमवतका इत्येवं 'वुञि' सति मनुष्यसंप्रत्ययो भवति । एवमुत्तरयोरपि । हैमवतकादयस्त्रयः । एकादयस्त्रयः । तत्र यथासंख्यमभिसंबन्धः क्रियते । एकपल्योपमस्थितयो हैमवतकाः । द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः । त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इति । तत्र पंचसु हैमवतेषु सुषमदुष्षमा सदावस्थिता । तत्र मनुष्या एकपल्योपमायुषो द्विधनुःसहस्रोच्छ्रिताश्चतुर्थभक्ताहारा नीलोत्पलवर्णाः । पञ्चसु हरिवर्षेषु सुषमा सदावस्थिता । तत्र मनुष्या द्विपल्योपमायुषश्चापसहस्रोत्सेधाः षष्ठभक्ताहाराः शंखवर्णाः । पञ्चसु देवकुरुषु सुषमसुषमा सदावस्थिता ।

हजार वर्षका दुष्षमा काल प्राप्त होता है । तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुष्षमा काल प्राप्त होता है । इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी इससे विपरीत क्रमसे जाननी चाहिए ।

§ 419. इतर भूमियोमे क्या अवस्था है अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

भरत और ऐरावतके सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित हैं ।।28।।

§ 420 सूत्रमे 'ताभ्याम्' पदसे भरत और ऐरावत क्षेत्रका ग्रहण किया है । इन दोनो क्षेत्रोसे शेष भूमियाँ अवस्थित है । उन क्षेत्रोमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल नही हैं ।

§ 421 इन भूमियोमे मनुष्य क्या तुल्य आयुवाले होते है या कुछ विशेषता है इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते है—

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरुके मनुष्योकी स्थिति क्रमसे एक, दो और तीन पल्योपम प्रमाण है ।।29।।

§ 422. हैमवत क्षेत्रमे उत्पन्न हुए हैमवतक कहलाते हैं । यहाँ हैमवत शब्दसे 'वुञ्' प्रत्यय करके हैमवतक शब्द बना है जिससे मनुष्योका ज्ञान होता है । इसी प्रकार आगेके हारिवर्षक और दैवकुरवक इन दो शब्दोमे जान लेना चाहिए । हैमवतक आदि तीन है और एक आदि तीन है । यहाँ इनका क्रमसे सम्बन्ध करते है जिससे यह अर्थ हुआ कि हैमवत क्षेत्रके मनुष्योकी स्थिति एक पल्योपम है । हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योकी स्थिति दो पल्योपम है और देवकुरुक्षेत्रके मनुष्योकी स्थिति तीन पल्योपम है । ढाई द्वीपमें जो पाँच हैमवत क्षेत्र हैं उनमे सदा सुषमदुष्षमा काल है । वहाँ मनुष्योकी आयु एक पल्योपम है, शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष है, उनका आहार एक दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रग नील कमलके समान है । पाँच हरिवर्ष नामके क्षेत्रोमे सदा सुषमा काल रहता है । वहाँ मनुष्योकी आयु दो पल्योपम है, शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है, उनका आहार दो दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रग शखके समान सफेद है । पाँच देवकुरु नामके क्षेत्रमे सदा सुषमसुषमा काल है । वहाँ मनुष्योकी आयु तीन पल्योपम है, शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुष है । उनका भोजन तीन

तत्र मनुष्या स्त्रिपल्योपमायुषः षड्धनुःसहस्रोच्छ्राया अष्टमभक्ताहारा कनकवर्णाः।

§ 423. अथोत्तरेषु कावस्थेत्यत आह—

तथोत्तराः ॥30॥

§ 424. यथा दक्षिणा व्याख्यातास्तथैवोत्तरा वेदितव्या। हैरण्यवतका हैमवतकैस्तुल्याः। राम्यका हारिवर्षकैस्तुल्या। दैवकुरवकैरौत्तरकुरवका समाख्याता.।

§ 425. अथ विदेहेष्ववस्थितेषु का स्थितिरित्यत्रोच्यते—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥31॥

§ 426. [1]सर्वेषु विदेहेषु संख्येयकाला मनुष्या। तत्र कालः [2]सुषमदुष्षमान्तोपमः सदावस्थित.। मनुष्याश्च पञ्चधनुःशतोत्सेधाः। नित्याहाराः। उत्कर्षेणैकपूर्वकोटीस्थितिकाः। जघन्येनान्तर्मुहूर्तायुषः। तस्याश्च[3] संबन्धे गाथां पठन्ति—

"पुव्वस्स दु परिमाण सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइ।
छप्पण्ण च सहस्सा वोद्धव्वा वासकोडीण[4]॥"

§ 427. उक्तो भरतस्य विष्कम्भः। पुन· प्रकारान्तरेण तत्प्रतिपत्त्यर्थमाह—

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥32॥

§ 428 जम्बूद्वीपविष्कम्भस्य योजनशतसहस्रस्य नवतिशतभागीकृतस्यैको भागो भरतस्य

दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रग सोनेके समान पीला है।

§ 423 उत्तर दिशावर्ती क्षेत्रोमे क्या अवस्था है इसके वतलानेके लिए अव आगेका सूत्र कहते है—

दक्षिणके समान उत्तरमें है ॥30॥

§ 424 जिस प्रकार दक्षिणके क्षेत्रोका व्याख्यान किया उसी प्रकार उत्तरके क्षेत्रोका जानना चाहिए। हैरण्यवत क्षेत्रोके मनुष्योकी सव वाते हैमवतके मनुष्योके समान हैं, रम्यक क्षेत्रके मनुष्योकी सव वाते हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योके समान है और देवकुरु क्षेत्रके मनुष्योकी सव वाते उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्योके समान है।

§ 425 पॉच विदेहोमे क्या स्थिति है इसके वतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विदेहोमे संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य हैं ॥31॥

§ 426 सव विदेहोमे सख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य होते है। वहॉं सुषमदु.षमा कालके अन्तके समान काल सदा अवस्थित है। मनुष्योके शरीरकी ऊॅंचाई पॉंच सौ धनुष होती है, वे प्रतिदिन आहार करते हैं। उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्षप्रमाण और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसके सम्बन्धमे एक गाथा कही जाती है—

"एक पूर्वकोटिका प्रमाण सत्तर लाख करोड और छप्पन हजार करोड वर्ष जानना चाहिए।"

§ 427 भरतक्षेत्रका विस्तार पहले कह आये हैं। अव प्रकारान्तरसे उसका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत क्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपका एकसौ नव्वेवाँ भाग है ॥32॥

§ 428 एक लाख योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विस्तारके एक सौ नव्वे भाग करनेपर

---

1. सर्वेषु पञ्चसु महाविदे- मु। 2. काल दुःषमसुषमादि सदा ता, ना। 3 तस्यास्ति सम्बन्धे आ, दि 1, दि 2। 4 —डीणं॥ 70560000000000 इत्यर्थो मु ता, ना,।

विष्कम्भः । स पूर्वोक्त एव । उक्तं जम्बूद्वीपं परिवृत्य वेदिका स्थिता, तत परो लवणोदः समुद्रो द्वियोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः । तत परो धातकीखण्डो द्वीपश्चतुर्योजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः ।

§ 429. तत्र वर्षादीनां संख्यादि[1]विधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

द्विर्धातकीखण्डे ॥33॥

§ 430 भरतादीनां द्रव्याणामिहाभ्यावृत्तिर्विवक्षिता । तत्र कथं सुच् ? अध्याह्रियमाण-क्रियाभ्यावृत्तिद्योतनार्थः सुच् । यथा द्विस्तावानयं प्रासादो मीयत इति । एवं [2]द्विर्धातकीखण्डे भरतादयो मीयन्ते इति । तद्यथा—द्वाभ्यामिष्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां लवणोदका-लोदवेदिकास्पृष्टकोटिभ्यां विभक्तो धातकीखण्ड पूर्वापर इति । तत्र पूर्वस्य[3] अपरस्य च मध्ये द्वौ मन्दरौ । तयोरुभयतो भरतादीनि क्षेत्राणि हिमवदादयश्च वर्षधरपर्वताः । एवं द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्तौ इत्येवमादि संख्यानं द्विगुणं वेदितव्यम् । जम्बूद्वीपहिमवदादीनां वर्षधराणां यो विष्कम्भ-स्तद्द्विगुणो धातकीखण्डे हिमवदादीनां वर्षधराणाम् । वर्षधराश्चक्रारवदवस्थिताः । अरविवर-संस्थानानि क्षेत्राणि । जम्बूद्वीपे यत्र जम्बूवृक्षः स्थित तत्र धातकीखण्डे धातकीवृक्षः सपरिवारः । तद्योगाद्धातकीखण्ड इति द्वीपस्य नाम प्रतीतम् । तत्परिक्षेपी कालोदः समुद्रः टंकच्छिन्नतीर्थः अष्ट-

---

जो एक भाग प्राप्त हो उतना भरतक्षेत्रका विस्तार है जो कि पूर्वोक्त पाँचसौ छब्वीस सही छह बटे उन्नीस योजन होता है ।

§ 429 जो पहले जम्बूद्वीप कह आये है उसके चारो ओर एक वेदिका है । इसके बाद लवणसमुद्र है जिसका विस्तार दो लाख योजन है । इसके बाद धातकीखण्ड द्वीप है जिसका विस्तार चार लाख योजन है । अब इसमे क्षेत्र आदिकी सख्याका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

धातकीखण्डमें क्षेत्र तथा पर्वत आदि जम्बूदीपसे दूने हैं ॥33॥

§ 430 भरत आदि क्षेत्रोकी यहाँ आवृत्ति विवक्षित है । शका—सूत्रमे 'सुच्' प्रत्यय किसलिए किया है ? समाधान—वाक्य पूरा करने के लिए जो क्रिया जोडी जाती है उसकी आवृत्ति बतलानेके लिए 'सुच्' प्रत्यय किया है । जैसे 'द्विस्तावान् अय प्रासाद' यहाँ 'सुच्' प्रत्ययके रहनेसे यह प्रासाद दुमजिला है यह समझा जाता है । इसी प्रकार धातकीखण्डमे 'सुच्' से भरतादिक दूने ज्ञात हो जाते है । यथा—अपने सिरेसे लवणोद और कालोदको स्पर्श करनेवाले और दक्षिणसे उत्तर तक लम्बे इष्वाकार नामक दो पर्वतोसे विभक्त होकर धातकीखण्ड द्वीपके दो भाग हो जाते है—पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड । इन पूर्व और पश्चिम दोनो खण्डोके मध्यमे दो मन्दर अर्थात् मेरु पर्वत है । इन दोनो के दोनो ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वत है । इस प्रकार दो भरत दो हिमवान् इत्यादि रूपसे जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड द्वीपमे दूनी संख्या जाननी चाहिए । जम्बूद्वीपमे हिमवान् आदि पर्वतोका जो विस्तार है धातकी खण्ड द्वीपमे हिमवान् आदि पर्वतोका उससे दूना विस्तार है । चक्केमे जिस प्रकार आरे होते है उसी प्रकार ये पर्वत क्षेत्रोके मध्यमे अवस्थित हैं । और चक्केमे छिद्रोका जो आकार होता है यहाँ क्षेत्रोका वही आकार है । जम्बूद्वीपमे जहाँ जम्बू वृक्ष स्थित है धातकीखण्डद्वीपमे परिवार वृक्षोके साथ वहाँ धातकी वृक्ष स्थित है । और इसके सम्बन्धसे द्वीपका नाम धातकीखण्ड प्रसिद्ध है । इसको घेरे हुए कालोद समुद्र है । जिसका घाट ऐसा मालूम देता है कि उसे टाँकीसे काट

---

1. संख्याविधि- मु. । 2 —तकीषडे ता, ना, दि 1, दि 2, आ । 3 —र्वस्य चापरस्य मध्ये मु ।

योजनशतसहस्रवलयविकम्भः। कालोदपरिक्षेपी पुष्करद्वीपः षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः।

§ 431. तत्र द्वीपाम्भोनिधिविष्कम्भद्विगुणपरिक्लृप्तिवद्धातकीखण्डवर्षादिद्विगुणवृद्धिप्रसंगे विशेषावधारणार्थमाह—

पुष्करार्द्धे च ॥34॥

§ 432. किम्। द्विरित्यनुवर्तते। किमपेक्षा द्विरावृत्तिः? जम्बूद्वीपभरतहिमवदाद्यपेक्षयैव[1]। कुतः? व्याख्यानतः। यथा धातकीखण्डे हिमवदादीनां विष्कम्भस्तथा पुष्करार्धे हिमवदादीनां विष्कम्भो द्विगुण इति व्याख्यायते। नामानि तान्येव, इष्वाकारौ मन्दरौ च पूर्ववत्। यत्र[2] जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्कर सपरिवारम्। तत एव तस्य[3] द्वीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति। अथ कथं पुष्करार्द्धसंज्ञा। मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात्पुष्करार्धसंज्ञा।

§ 433. अत्राह किमर्थं जम्बूद्वीपहिमवदादिसंख्या द्विरावृत्ता पुष्करार्धे कथ्यते, न पुनः कृत्स्न एव पुष्करद्वीपे। इत्यत्रोच्यते—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥35॥

§ 434. पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागी वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलः। तस्मात्प्रागेव मनुष्या न बहिरिति। ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति। नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधरा

दिया हो और जिसका विस्तार आठ लाख योजन है। कालोदको घेरे हुए पुष्करद्वीप है जिसका विस्तार सोलह लाख योजन है।

§ 431. द्वीप और समुद्रोका उत्तरोत्तर जिस प्रकार दूना दूना विस्तार बतलाया है उसी प्रकार यहाँ धातकीखण्ड द्वीपके क्षेत्र आदिकी सख्या दूनी प्राप्त होती है अत विशेष निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

पुष्करार्धमें उतने ही क्षेत्र और पर्वत है ॥34॥

§ 432 यहाँ 'द्वि' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। शका—'द्वि' इस पदकी किसकी अपेक्षा अनुवृत्ति होती है? **समाधान**—जम्बूद्वीपके भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोकी अपेक्षा 'द्वि.' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। **शका**—यह कैसे समझा जाता है? **समाधान**—व्याख्यानसे। जिस प्रकार धातकीखण्ड द्वीपमे हिमवान् आदिका विस्तार कहा है उसी प्रकार पुष्करार्धमे हिमवान् आदिका विस्तार दूना बतलाया है। नाम वे ही है। दो इष्वाकार और दो मन्दर पर्वत पहलेके समान जानना चाहिए। जहाँ पर जम्बूद्वीप मे जम्बूवृक्ष हैं पुष्कर द्वीपमे वहाँ अपने परिवार वृक्षोके साथ पुष्करवृक्ष हैं। इसीलिए इस द्वीपका पुष्करद्वीप यह नाम रूढ हुआ है। **शंका**—इस द्वीपको पुष्करार्ध यह संज्ञा कैसे प्राप्त हुई? **समाधान**—मानुषोत्तर पर्वतके कारण इस द्वीपके दो विभाग हो गये हैं अत. आधे द्वीपको पुष्करार्ध यह सज्ञा प्राप्त हुई।

§ 433 यहाँ शकाकारका कहना है कि जम्बूद्वीपमे हिमवान् आदिकी जो सख्या है उसमे हिमवान् आदिकी दूनी सख्या आधे पुष्करद्वीपमे क्यो कही जाती है पूरे पुष्कर द्वीपमे क्यो नही कही जाती? अब इस शकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मानुषोत्तर पर्वतके पहले तक ही मनुष्य हैं ॥35॥

§ 434 पुष्करद्वीपके ठीक मध्यमे चूडीके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत है। उससे पहले ही मनुष्य हैं, उससे बाहर नही। इसलिए मानुषोत्तर पर्वतके बाहर पूर्वोक्त क्षेत्रों-

1 —पेक्षयैव। जम्बूद्वीपात्पुष्करार्धे द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्तौ, इत्यादि। मुनः मु, दि 1, दि 2, आ।
2. यत्र जम्बूद्वीपे जम्बू- मु, दि., दि 2, आ.। 3 तस्य द्वीपस्यानुरूढं पुष्करद्वीप इति नाम। अथ मु।

ऋद्धिप्राप्ता अपि मनुष्या गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम्। ततोऽस्यान्वर्थसंज्ञा। एवं जम्बूद्वीपादिष्वर्वतृतीयेषु[1] द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्मनुष्या वेदितव्याः। ते द्विविधाः—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥36॥

§ 435 गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः। ते द्विविधा ऋद्धिप्राप्तार्या अनृद्धिप्राप्तार्याश्चेति। अनृद्धिप्राप्तार्याः पंचविधाः क्षेत्रार्या जात्यार्या कर्मार्याश्चारित्रार्या दर्शनार्याश्चेति। ऋद्धिप्राप्तार्या सप्तविधाः; बुद्धिविक्रियातपोबलौषधरसाक्षीणभेदात्। म्लेच्छा द्विविधाः—अन्तर्द्वीपजा कर्मभूमिजाश्चेति। तत्रान्तर्द्वीपा लवणोदधेरभ्यतरे[2] पार्श्वेऽष्टासु दिक्ष्वष्टौ। तदन्तरेषु चाष्टौ। हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्द्धयोरन्तेष्वष्टौ। तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक् पञ्चयोजनशतानि प्रविश्य भवन्ति। विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपा पञ्चाशत्पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति। शैला-

का विभाग नही है। इस पर्वतके उस ओर उपपाद जन्मवाले और समुद्घातको प्राप्त हुए मनुष्योको छोड कर और दूसरे विद्याधर या ऋद्धिप्राप्त मुनि भी कदाचित् नही जाते हैं इसलिए इस पर्वतका मानुषोत्तर यह सार्थक नाम है। इस प्रकार जम्बूद्वीप आदि ढाई द्वीपोमे और दो समुद्रोमें मनुष्य जानना चाहिए।

विशेषार्थ—ढाई द्वीप और इनके मध्यमे आनेवाले दो समुद्र यह मनुष्यलोक है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत मनुष्यलोकको सीमापर स्थित होनेसे इसका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है। मनुष्य इसी क्षेत्रमे रहते है, उनका वाहर जाना सम्भव नही, इसका यह अभिप्राय है कि गर्भमे आनेके वाद मरण पर्यन्त औदारिक शरीर या आहारक शरीरके साथ वे इस क्षेत्रसे वाहर नही जा सकते। सम्मूर्च्छन मनुष्य तो इसके औदारिक शरीर के आश्रयसे होते हैं, इसलिए उनका मनुष्यलोकके वाहर जाना कथमपि सम्भव नही है। पर इसका यह अर्थ नही है कि किसी भी अवस्थामे मनुष्य इस क्षेत्रके वाहर नही पाये जाते है। ऐसी तीन अवस्थाएँ हैं जिनके होनेपर मनुष्य इस क्षेत्रके भी वाहर पाये जाते हैं, यथा—(1) जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीपके वाहर उत्पन्न होनेवाले हैं वे यदि मरणके पहले मारणान्तिक समुद्घात करते है तो इसके द्वारा उनका ढाई द्वीपके वाहर गमन देखा जाता है। (2) ढाई द्वीपके बाहर निवास करनेवाले जो जीव मरकर मनुष्योमे उत्पन्न होते हे उनके मनुष्यायु और मनुष्य गतिनाम कर्मका उदय होनेपर भी ढाई द्वीपमे प्रवेश करनेके पूर्व तक उनका इस क्षेत्रके वाहर अस्तित्व देखा जाता है। (3) केवलिसमुद्घातके समय उनका मनुष्यलोकके वाहर अस्तित्व देखा जाता है। इन तीन अपवादोको छोडकर और किसी अवस्थामे मनुष्योका मनुष्यलोकके वाहर अस्तित्व नही देखा जाता। वे मनुष्य दो प्रकारके हैं अव ये वतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते है—

मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ ॥36॥

§ 435. जो गुणो या गुणवालोके द्वारा माने जाते है—वे आर्य कहलाते हैं। उनके दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिरहित आर्य पांच प्रकारके है—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ऋद्धिके भेदमे ऋद्धिप्राप्त आर्य सात प्रकारके है। म्लेच्छ दो प्रकारके हैं—अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ। लवणसमुद्रके भीतर आठो दिशाओमे आठ अन्तर्द्वीप हैं और उनके अन्तरालमें आठ अन्तर्द्वीप और हैं। तथा हिमवान् और शिखरी इन दोनो पर्वतोके अन्तमे और दोनों विजयार्ध पर्वतोके अन्तमे आठ अन्तर्द्वीप हैं। इनमे-से जो दिशाओमे द्वीप हैं वे वेदिकासे

1. –तीयेषु द्वयोश्च मु.। 2 लवणोदे अष्टासु दिक्ष्वष्टौ आ दि, 1, दि. 2। लवणोदधेरभ्यन्तरेऽष्टासु दिक्ष्वष्टौ मु.।

न्तेषु द्वीपाः षड्योजनशतेषु गतेषु भवन्ति। दिक्षु द्वीपा शतयोजनविस्तारा: । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपास्तदर्धविष्कम्भाः। शैलान्तेषु पञ्चविंशतियोजनविस्ताराः। तत्र पूर्वस्यां दिश्येकोरुकाः। अपरस्यां दिशि लाङ्गूलिनः। उत्तरस्यां[1] दिश्यभाषका.। दक्षिणस्यां[2] दिशि विषाणिन। शशकर्ण-शष्कुलीकर्णप्रा[3]वरणकर्णलम्बकर्णा विदिक्षु। अश्वसिंहश्वमहिषवराहव्याघ्र[4]काककपिमुखा अन्तरेषु। मेघ[5]मुखविद्युन्मुखाः शिखरिण उभयोरन्तयोः। मत्स्यमुखकालमुखा हिमवत उभयोर-न्तयोः। हस्तिमुखादर्शमुखा उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयोः। गोमुखमेषमुखा [6]दक्षिणविजयार्धस्यो-भयोरन्तयोः। एकोरुका मृदाहारा गुहावासिनः। शेषाः पुष्पफलाहारा वृक्षवासिनः। सर्वे ते पल्यो-पमायुषः। ते चतुर्विंशतिरपि[7] द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधाः[8]। लवणोदधेर्बाह्यपार्श्वेऽप्येवं चतु-र्विंशतिद्वीपा विज्ञातव्याः। तथा कालोदेऽपि वेदितव्या। त एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छा। कर्मभूमि-जाश्च शकयवनशबरपुलिन्दादयः।

तिरछे पाँचसौ योजन भीतर जाकर है। विदिशाओ और अन्तरालो मे जो द्वीप है वे पाँचसौ पचास योजन भीतर जाकर है। तथा पर्वतोके अन्तमे जो द्वीप है वे छहसौ योजन भीतर जाकर है। दिशाओमे स्थित द्वीपोका विस्तार सौ योजन है। विदिशाओ और अन्तरालोमे स्थित द्वीपोका विस्तार उससे आधा अर्थात् पचास योजन है।तथा पर्वतोके अन्तमे स्थित द्वीपोका विस्तार पच्चीस योजन है। पूर्व दिशामे एक टाँगवाले मनुष्य है। पश्चिम दिशामे पूँछवाले मनुष्य है। उत्तर दिशा-मे गूंगे मनुष्य है और दक्षिण दिशामे सीगवाले मनुष्य है। चारो विदिशाओमे क्रमसे खरगोश-के समान कानवाले, शष्कुली अर्थात् मछली अथवा पूडोके समान कानवाले, प्रावरणके समान कानवाले और लम्बे कानवाले मनुष्य है। आठो अन्तरालके द्वीपोमे क्रमसे घोडेके समान मुखवाले, सिहके समान मुखवाले, कुत्तोके समान मुखवाले, भैसाके समान मुखवाले, सुअरके समान मुखवाले, व्याघ्रके समान मुखवाले, कौआके समान मुखवाले और बन्दरके समान मुखवाले मनुष्य है। शिखरी पर्वतके दोनो कोणोकी सीधमे जो अन्तर्द्वीप है उनमे मेघके समान मुखवाले और बिजली के समान मुखवाले मनुष्य है। हिमवान् पर्वतके दोनो कोणोकी सीधमे जा अन्तर्द्वीप है उनमे मछलीके समान मुखवाले और कालके समान मुखवाले मनुष्य है। उत्तर विजयार्धके दोनो कोणोकी सीधमे जो अन्तर्द्वीप हैं उनमे हाथीके समान मुखवाले और दर्पणके समान मुखवाले मनुष्य है। तथा दक्षिण विजयार्धके दोनो कोणोकी सीधमे जो अन्तर्द्वीप है उनमे गायके समान मुखवाले और मेढाके समान मुखवाले मनुष्य है। इनमे-से एक टाँगवाले मनुष्य गुफाओमे निवास करते है और मिट्टीका आहार करते हैं तथा शेष मनुष्य फूलो और फलोका आहार करते है और पेडोपर रहते है। इन सबकी आयु एक पल्योपम है। ये चौबीसो अन्तर्द्वीप जलकी सतहसे एक योजन ऊँचे है। इसी प्रकार कालोद समुद्रमे भी जानना चाहिए। ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। इनसे अतिरिक्त जो शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक है वे सब कर्मभूमिज म्लेच्छ है।

विशेषार्थ—षट्खण्डागममें मनुष्योके दो भेद किये गये है—कर्मभूमिज और अकर्म-भूमिज। अकर्मभूमि भोगभूमिका दूसरा नाम है। भोगभूमिका एक भेद कुभोगभूमि है। उसमे जन्म लेनेवाले मनुष्य ही यहाँ अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे गये हैं। शेष रहे शक, यवन, शबर और पुलिन्द आदि म्लेच्छ कर्मभूमिज म्लेच्छ है। इसी प्रकार आर्य भी क्षेत्रकी अपेक्षा दो भागोमे

---

1 उत्तरस्यामभाषका' आ दि. 1, दि 2। 2 -णस्या विषा- दि 1, दि 2। 3. -वरणलम्ब मु। 4 काकघूककपि- मु.। 5 मेघविद्यु- मु। 6 दक्षिणदिग्विज- मु। 7. -शतिद्वितीयपक्षेऽपि उभयो-स्तटेऽष्टचत्वारिंशद्द्वीपा' जलतला- दि 2। 8. -त्सेधा'। तथा कालोदेऽपि आ., दि. 1।

§ 436. का पुनः कर्मभूमय इत्यत आह—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥37॥

§ 437. भरता[1] ऐरावता विदेहाश्च पच, पंच, एता कर्मभूमय इति व्यपदिश्यन्ते। तत्र 'विदेह'ग्रहणाद्देवकुरूत्तरकुरुग्रहणे प्रसक्ते तत्प्रतिषेधार्थमाह—'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' इति। 'अन्यत्र' शब्दो वर्जनार्थः। देवकुरव उत्तरकुरवो हैमवतो हरिवर्षो[2]रम्यको हैरण्यवतोऽन्तर्द्वीपाश्च भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते। अथ कथं कर्मभूमित्वम्? शुभाशुभलक्षणस्य कर्मणोऽधिष्ठानत्वात्। ननु सर्वं [3]लोकत्रितयं कर्मणोऽधिष्ठानमेव। तत एवं[4] प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते, प्रकर्षेण यत्कर्मणोऽधिष्ठानमिति। तत्राशुभकर्मणस्तावत्सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनम्, शुभस्य[5] च सर्वार्थसिद्ध्यादि[6]स्थानविशेषप्रापणस्य[7] कर्मण उपार्जनं तत्रैव, कृष्यादिलक्षणस्य षड्विधस्य कर्मणः पात्रदानादिसहितस्य तत्रैवारम्भात्कर्मभूमिव्यपदेशो वेदितव्यः। इतरास्तु दशविधकल्पवृक्षकल्पितभोगानुभवनविषयत्वाद् भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते।

विभक्त है—कर्मभूमिज आर्य और अकर्मभूमिज आर्य। तीस भोगभूमियोंके मनुष्य अकर्मभूमिज आर्य हैं और कर्मभूमिके आर्य कर्मभूमिज आर्य हैं। इनमें-से अकर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छोंके अविरत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु कर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छ अणुव्रत और महाव्रतके भी अधिकारी हैं। इनके सयमासयम और सयमस्थानोंका विशेष व्याख्यान कषायप्राभृत लब्धिसार क्षपणासारमें किया है।

§ 436 कर्मभूमियाँ कौन-कौन है, अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देवकुरु और उत्तरकुरुके सिवा भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमियाँ हैं ॥37॥

§ 437 भरत, ऐरावत और विदेह ये प्रत्येक पाँच-पाँच हैं। ये सब कर्मभूमियाँ कही जाती हैं। इनमे विदेहका ग्रहण किया है, इसलिए देवकुरु और उत्तरकुरुका भी ग्रहण प्राप्त होता है, अतः उनका निषेध करनेके लिए 'अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः' यह पद रखा है। अन्यत्र शब्दका अर्थ निषेध है। देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत और अन्तर्द्वीप ये भोगभूमियाँ कही जाती हैं। **शंका**—कर्मभूमि यह सज्ञा कैसे प्राप्त होती है? **समाधान**—जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आश्रय हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि तीनों लोक कर्मका आश्रय हैं, फिर भी इससे उत्कृष्टताका ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूपसे कर्मका आश्रय हैं। सातवें नरकको प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्मका भरतादि क्षेत्रोंमें ही अर्जन किया जाता है। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेषको प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मका उपार्जन भी यही पर होता है। तथा पात्रदान आदिके साथ कृषि आदि छह प्रकारके कर्मका आरम्भ यहीं पर होता है, इसलिए भरतादिककी कर्मभूमि सज्ञा जाननी चाहिए। इतर क्षेत्रोंमे दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त भोगोंकी मुख्यता है, इसलिए वे भोगभूमियाँ कहलाती हैं।

विशेषार्थ—यह पहले ही बतला आये हैं कि भरतादि क्षेत्रोंका विभाग ढाई द्वीपमे ही है। जम्बूद्वीपमे भरतादि क्षेत्र एक-एक है और धातकीखण्ड व पुष्करार्धमें ये दो-दो हैं। इस प्रकार कुल क्षेत्र 35 होते हैं। उसमे भी उत्तरकुरु और देवकुरु विदेह क्षेत्रमें होकर भी अलग गिने जाते हैं, क्योंकि यहाँ उत्तम भोगभूमिकी व्यवस्था है, इसलिए पाँच विदेहोंके पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु इनको उक्त 35 क्षेत्रोंमें मिलानेपर कुल 45 क्षेत्र होते हैं। इनमें-से 5 भरत,

---

1 भरतैरावतविदेहाश्च मु, ता, ना। 2 हरिवर्ष रम्य-आ, दि 1, दि 2। 3, सर्वो लोकत्रितय. कर्म- आ, दि 1, दि. 2। 4 एवं प्रक- मु। 5, शुभस्य सर्वा- मु। 6 -कृष्यादिषु स्थान- आ, दि. 1, दि. 2। 7. -पणस्य पुण्यकर्म- मु.।

§ 438. उक्तासु भूमिषु[1] मनुष्याणां स्थितिपरिच्छेदार्थमाह—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥38॥

§ 439. त्रीणि पल्योपमानि यस्या सा त्रिपल्योपमा। अन्तर्गतो मुहूर्तो यस्या सा अन्तर्मुहूर्ता। यथासंख्येनाभिसंबन्धः। मनुष्याणां परा उत्कृष्टा स्थितिस्त्रिपल्योपमा। अपरा जघन्या अन्तर्मुहूर्ता। मध्ये अनेकविकल्पाः। तत्र पल्यं त्रिविधम्—व्यवहारपल्यमुद्धारपल्यमद्धापल्यमिति। अन्वर्थसंज्ञा एताः। आद्यं व्यवहारपल्यमित्युच्यते; उत्तरपल्य[2]द्वयव्यवहारबीजत्वात्। नानेन किञ्चित्परिच्छेद्यमस्तीति। द्वितीयमुद्धारपल्यम्। तत उद्धृतैर्लोमकच्छेदैर्द्वीपसमुद्राः संख्यायन्त इति। तृतीयमद्धापल्यम्। अद्धा कालस्थितिरित्यर्थः। तत्राद्यस्य प्रमाणं कथ्यते[3], तत्परिच्छेदनार्थत्वात्। तद्यथा—प्रमाणाङ्गुलपरिमितयोजनविष्कम्भायामावगाहानि त्रीणि पल्यानि कुशूला इत्यर्थः। एकादिसप्तान्ताहोरात्रजाताविवालाग्राणि तावच्छिन्नानि यावद्द्वितीयं कर्तरिच्छेदं [4]नावाप्नुवन्ति, तादृशैर्लोमच्छेदैः परिपूर्णं [5]घनीकृतं व्यवहारपल्यमित्युच्यते। ततो वर्षशते वर्षशते[6] गते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत्तावान्कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः। तैरेव लोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटीसमयमात्रच्छिन्नैस्तत्पूर्णमुद्धारपल्यम्। ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावान्काल उद्धारपल्योपमाख्यः। एषामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोटय एकमुद्धारसागरोपमम्। अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमानां यावन्तो

---

5 विदेह और 5 ऐरावत ये 15 कर्मभूमियाँ हैं और शेष 30 भोगभूमियाँ हैं। ये सब कर्मभूमि और भोगभूमि क्यों कहलाती हैं इस बातका निर्देश मूल टीकामें किया ही है।

§ 438. उक्त भूमियोंमें स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है ॥38॥

§ 439 'त्रिपल्योपमा' इस वाक्यमें 'त्रि' और 'पल्योपम' का बहुव्रीहि समास है। मुहूर्तके भीतरके कालको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। पर और अपर के साथ इन दोनोंका क्रमसे सम्बन्ध है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तथा मध्यकी स्थिति अनेक प्रकारकी है। पल्य तीन प्रकारका है—व्यवहार पल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों सार्थक नाम हैं। आदिके पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं, क्योंकि वह आगेके दो पल्योंके व्यवहारका मूल है। इसके द्वारा और किसी वस्तुका परिमाण नहीं किया जाता। दूसरा उद्धारपल्य है। उद्धारपल्यमें-से निकाले गये लोमके छेदोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी गिनती की जाती है। तीसरा अद्धापल्य है। अद्धा और कालस्थिति ये एकार्थवाची शब्द हैं। इनमें-से अब प्रथम पल्यका प्रमाण कहते हैं—जो इस प्रकार है—प्रमाणांगुलकी गणनासे एक-एक योजन लम्बे, चौड़े और गहरे तीन गढ़ा करो और इनमें-से एकमें एक दिनसे लेकर सात दिन तकके पैदा हुए मेढ़ेके रोमोंके अग्र भागोंको ऐसे टुकड़े करके भरो जिससे कैंचीसे उनके दूसरे टुकड़े न किये जा सकें। अनन्तर सौ-सौ वर्षमें एक-एक रोमका टुकड़ा निकालो। इस विधिसे जितने कालमें वह गढ़ा खाली हो वह सब काल व्यवहार पल्योपम नामसे कहा जाता है। अनन्तर असंख्यात करोड़ वर्षोंके जितने समय हों उतने उन लोमच्छेदोंमें-से प्रत्येक खण्ड करके उनसे दूसरे गढ़ेके भरनेपर उद्धारपल्य होता है। और इसमें-से प्रत्येक समयमें एक-एक रोमको निकालते हुए जितने कालमें वह गढा खाली हो जाय उतने कालका नाम उद्धार पल्योपम है। इन दस कोड़ाकोड़ी उद्धार-

---

1. -मिषु स्थिति- मु.। 2 -द्वयस्य व्यव- मु.। 3. कथ्यते। तद्यथा मु.। 4. नाप्नु- मु.। 5. घनीभूत मु.। 6. ततो वर्षशते एकैक- मु.।

रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः । पुनरुद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावान्कालोऽद्धापल्योपमाख्यः । एषामद्धापल्यानां दशकोटीकोट्य एकमद्धासागरोपमम् । दशाद्धासागरोपमकोटीकोट्य एकावसर्पिणी । तावत्येवोत्सर्पिणी । अनेनाद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनिजानां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या । उक्ता च संग्रहगाथा—

"[1]ववहारुद्धारद्धा पल्ला तिण्णेव होंति बोद्धव्वा ।
संखा दीव-समुद्दा कम्मट्ठिदि वण्णिदा तदिए ॥"

§ 440. यथैवैते[2] उत्कृष्टजघन्ये स्थिती नृणां तथैव—

तिर्यग्योनिजानां च ॥39॥

§ 441. तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः । तिर्यग्गतिनामकर्मोदयापादितं जन्मेत्यर्थः । तिर्यग्योनौ जातास्तिर्यग्योनिजाः । तेषां तिर्यग्योनिजानामुत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रिपल्योपमा । जघन्या अन्तर्मुहूर्ता । मध्येऽनेकविकल्पाः ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥3॥

पल्योंका एक उद्धार सागरोपम काल होता है । तथा ढाई उद्धार सागरके जितने रोमखण्ड हों उतने सब दीप और समुद्र हैं । अनन्तर सौ वर्षके जितने समय हो उतने उद्धारपल्यके रोमखण्डोंमें-से प्रत्येकके खण्ड करके और उनसे तीसरे गढ़ेके भरनेपर एक अद्धापल्य होता है । और इनमें-से प्रत्येक समयमें एक-एक रोमके निकालनेपर जितने समयमे वह गढा खाली हो जाय उतने कालका नाम अद्धापल्योपम है । तथा ऐसे दस कोडाकोडी अद्धापल्योका एक अद्धासागर होता है । दस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोका एक अवसर्पिणी काल होता है और उत्सर्पिणी भी इतना ही वड़ा होता है ।

इस अद्धापल्यके द्वारा नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्योकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थिति की गणना करनी चाहिए । सग्रह गाथा भी कही है—

'व्यवहार, उद्धार और अद्धा ये तीन पल्य जानने चाहिए । सख्याका प्रयोजक व्यवहार पल्य है । दूसरेसे द्वीप-समुद्रोंकी गणना की जाती है और तीसरे अद्धापल्यमे कर्मोकी स्थितिका लेखा लिया जाता है ।'

§ 440. जिस प्रकार मनुष्योंकी यह उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति है उसी प्रकार—

तिर्यंचों की स्थिति भी उतनी ही है ॥39॥

§ 441. तिर्यंचोंकी योनिको तिर्यग्योनि कहते हैं । इसका अर्थ तिर्यंचगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुआ जन्म है । जो तिर्यंचयोनिमे पैदा होते हैं वे तिर्यग्योनिज कहलाते हैं । इन तिर्यंचयोनिसे उत्पन्न जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम और जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है । तथा बीचकी स्थितिके अनेक विकल्प हैं ।

विशेषार्थ—स्थिति दो प्रकारकी होती है—भवस्थिति और कायस्थिति । एक पर्यायमें रहनेमें जितना काल लगे वह भवस्थिति है । तथा विवक्षित पर्यायके सिवा अन्य पर्यायमें उत्पन्न न होकर पुनः पुनः उसी पर्यायमें निरन्तर उत्पन्न होनेसे जो स्थिति प्राप्त होती है वह कायस्थिति है । यहाँ मनुष्यों और तिर्यंचोंकी भवस्थिति कही गयी है इनकी जघन्य कायस्थिति जघन्य

---

1. ववहारुद्धारद्धा तियपल्ला पढमयम्मि संखाओ । विदिए दीवसमुद्दा तदिए मिज्जेदि कम्मठिदी । ति. प गा. 94 । 2. —वैते हे उत्कृ- आ., दि. 1, दि. 2 ।

भवस्थिति प्रमाण है, क्योकि एक बार जघन्य आयुके साथ भव पाकर उसका अन्य पर्यायमे जाना सभव है । मनुष्योकी उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है । पृथक्त्व यह रौढिक सज्ञा है । मुख्यत इसका अर्थ तीनसे ऊपर और नौसे नीचे होता है । यहाँ बहुत अर्थमे पृथक्त्व शब्द आया है । तिर्यचोकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल है जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तनोके बराबर है । यह तिर्यंचगति सामान्यकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति कही है । यदि अन्य गतिसे आकर कोई जीव निरन्तर तिर्यंचगतिमे परिभ्रमण करता रहता है तो अधिक-से अधिक इतने काल तक वह तिर्यंचगति मे रह सकता है । इसके बाद वह नियमसे अन्य गतिमें जन्म लेता है । वैसे तिर्यंचोके अनेक भेद है, इसलिए उन भेदोकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति जुदी-जुदी है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमे तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥3॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

§ 442. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्येवमादिष्वसकृद्देवशब्द उक्तस्तत्र न ज्ञायते के देवाः कतिविधा इति[1] तन्निर्णयार्थमाह—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥1॥

§ 443. देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूति[2]विशेषैः द्वीपाद्रिसमुद्रादिप्रदेशेषु [3]यथेष्टं दीव्यन्ति [4]क्रीडन्तीति देवाः । इहैकवचननिर्देशो युक्तः 'देवश्चतुर्णिकायः' इति[5] । स [6]जात्यभिधानाद् बहूनां प्रतिपादको भवति । बहुत्वनिर्देशस्तदन्तर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः । इन्द्रसामानिकादयो बहवो भेदाः सन्ति स्थित्यादिकृताश्च तत्सूचनार्थः । देवगतिनामकर्मोदयस्य [7]स्वकर्मविशेषापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः संघाता इत्यर्थः । चत्वारो निकाया येषां ते चतुर्णिकायाः । के पुनस्ते ? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति ।

§ 444. तेषां लेश्यावधारणार्थमुच्यते—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥2॥

---

§ 442. 'देव और नारकियोके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है' इत्यादि सूत्रोमें अनेक बार देव शब्द आया है । किन्तु वहाँ यह न जान सके कि देव कौन हैं और वे कितने प्रकारके हैं, अत इसका निर्णय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव चार निकायवाले हैं ॥1॥

§ 443 अभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्मका उदय होनेपर जो नाना प्रकारकी बाह्य विभूतिसे द्वीपसमुद्रादि अनेक स्थानोमे इच्छानुसार क्रीडा करते हैं, वे देव कहलाते हैं । **शंका**—'देवश्चतुर्णिकायः' इस प्रकार एकवचनरूप निर्देश करना उचित था, क्योकि जातिका कथन कर देनेसे बहुतका कथन हो ही जाता है । **समाधान**—देवोके अन्तर्गत अनेक भेद हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमे बहुवचनका निर्देश किया है । तात्पर्य यह है कि देवोके इन्द्र, सामानिक आदिकी अपेक्षा अनेक भेद है और स्थिति आदिकी अपेक्षा भी अनेक भेद है, अत. उनको सूचित करनेके लिए बहुवचनका निर्देश किया है । अपने अवान्तर कर्मोसे भेदको प्राप्त होनेवाले देवगति नामकर्मके उदयकी सामर्थ्यसे जो सग्रह किये जाते हैं वे निकाय कहलाते हैं । निकाय शब्दका अर्थ सघात है । 'चतुर्णिकाय' मे बहुव्रीहि समास है, जिससे देवोके मुख्य निकाय चार ज्ञात होते हैं । **शंका**—इन चार निकायोके क्या नाम हैं ? **समाधान**—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।

§ 444. अब इनकी लेश्याओका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदिके तीन निकायोंमें पीत पर्यन्त चार लेश्याएँ हैं ॥2॥

---

1 इति वा तन्नि- मु । 2 विशेषाद् द्वीपा- मु । 3 मुद्रादिषु प्रदे- मु, । 4 --डन्ति ते देवा मु । 5 इति । जात्य- मु. । 6 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' पा 1, 2, 2, 58 । 7. स्वधर्मविशे- मु ता, ना ।

§ 445. 'आदित' इत्युच्यते[1], अन्ते मध्ये अन्यथा वा ग्रहणं मा विज्ञायीति। आदौ आदितः। द्वयोरेकस्य च निवृत्त्यर्थं 'त्रि'ग्रहणं क्रियते। अथ चतुर्णां निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति? 'आदितः' इति वचनात्। षड्लेश्या उक्ता। तत्र चतसृणां लेश्यानां ग्रहणार्थं 'पीतान्त'ग्रहणं क्रियते। पीतं तेज इत्यर्थः। पीता अन्ते यासां ताः पीतान्ताः[2]। पीतान्ता लेश्या येषां ते पीतान्तलेश्याः। एतदुक्तं भवति—आदितस्त्रिषु निकायेषु भवनवासिव्यन्तरज्योति[3]ष्कनामसु देवानां कृष्णा नीला कापोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवन्ति।

§ 446. तेषां निकायानामन्तर्विकल्पप्रतिपादनार्थमाह—

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥3॥

§ 447. चतुर्णां देवनिकायानां दशादिभिः संख्याशब्दैर्यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः। दशविकल्पा भवनवासिनः। अष्टविकल्पा व्यन्तराः। पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः। द्वादशविकल्पा वैमानिका इति। सर्ववैमानिकानां द्वादशविकल्पान्तःपातित्वे प्रसक्ते ग्रैवेयकादिनिवृत्त्यर्थं विशेषणमुपादीयते 'कल्पोपपन्नपर्यन्ताः' इति। अथ कथं कल्पसंज्ञा? इन्द्रादयः प्रकारा दश एतेषु कल्प्यन्त

---

§ 445. अन्तके तीन निकायोंका, मध्यके निकायोका या विपरीत क्रमसे निकायोंका ग्रहण न समझ लिया जाय, इसलिए सूत्रमे 'आदितः' पद दिया है। दो और एक निकायके निराकरण करनेके लिए 'त्रि' पदका ग्रहण किया है। शंका—'त्रि' पदसे चारकी निवृत्ति क्यो नही होती है? समाधान—सूत्रमे जो 'आदितः' पद दिया है इससे ज्ञात होता है कि 'त्रि' पद चारकी निवृत्तिके लिए नही है। लेश्याएँ छह कही है। उनमे-से चार लेश्याओंके ग्रहण करनेके लिए सूत्रमें 'पीतान्त' पदका ग्रहण किया है। यहाँ पीतसे तेज लेश्या लेनी चाहिए। यहाँ पहले पीत और अन्त इन शब्दोमे और अनन्तर पीतान्त और लेश्या शब्दोमे बहुव्रीहि समास है। इसका यह अभिप्राय है कि आदिके भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन निकायोमें देवोके कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती है।

विशेषार्थ—यो तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-देवोके एक पीत लेश्या ही होती है किन्तु ऐसा नियम है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्याके मध्यम अंशसे मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच और पीत लेश्याके मध्यम अंशसे मरे हुए भोगभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच भवनत्रिकमें उत्पन्न होते है। यतः ऐसे कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचोंके मरते समय प्रारम्भकी तीन अशुभ लेश्याएँ होती है अतः इनके मरकर भवनत्रिकोमे उत्पन्न होनेपर वहाँ भी अपर्याप्त अवस्थामे ये तीन अशुभ लेश्याएँ पायी जाती है। इसीसे इनके पीत तक चार लेश्याएँ कही है। अभिप्राय यह है कि भवनत्रिकोंके अपर्याप्त अवस्थामे पीत तक चार लेश्याएँ और पर्याप्त अवस्थामे एक पीत लेश्या होती है।

§ 446. अब इन निकायोके भीतरी भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

वे कल्पोपपन्न देव तकके चार निकायके देव क्रमसे दस, आठ, पाँच और बारह भेदवाले हैं ॥3॥

§ 447. देव निकाय चार हैं और दश आदि संख्या शब्द चार है अतः इनका क्रमसे सम्बन्ध जानना चाहिए। यथा—भवनवासी दस प्रकारके हैं, व्यन्तर आठ प्रकारके है, ज्योतिषी पाँच प्रकारके है और वैमानिक बारह प्रकारके हैं। पूर्वोक्त कथनसे सब वैमानिक बारह भेदोमे आ जाते है, अतः ग्रैवेयक आदिके निराकरण करनेके लिए सूत्रमे 'कल्पोपपन्नपर्यन्ताः'

---

1. —च्यते अन्यथा वा ग्रह- दि. 2। -च्यते अन्ते मध्ये वा ग्रह- मु., ता., ना.। —च्यते अन्ते अन्यथा वा ग्रह- आ.। 2. —ताः पीतान्ता लेश्या मु., दि. 2। 3. ज्योतिष्काणां देवा- आ., दि. 1; दि. 2।

इति कल्पाः। भवनवासिषु तत्कल्पनासंभवेऽपि रूढिवशाद्वैमानिकेष्वेव वर्तते कल्पशब्दः। कल्पेषूपपन्ना कल्पोपपन्नाः। कल्पोपपन्नाः पर्यन्ता येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः।

§ 448. पुनरपि तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥4॥

§ 449. अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणयोगादिन्दन्तीति इन्द्राः। आज्ञैश्वर्यवर्जितं [1]यत्स्थानायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादि तत्समानं, तस्मिन्समाने भवाः सामानिका महत्तराः पितृगुरूपाध्यायतुल्याः। मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः। त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशाः। वयस्यपीठमर्दसदृशाः परिषदि भवाः पारिषदाः। आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमानाः। अर्थचरा रक्षकसमाना लोकपालाः। लोकं पालयन्तीति लोकपालाः। पदात्यादीनि सप्त अनीकानि दण्डस्थानीयानि। प्रकीर्णकाः पौरजानपदकल्पाः। आभियोग्या दाससमाना वाहनादिकर्मणि प्रवृत्ताः[2]। अन्तेवासिस्थानीयाः[3] किल्विषिकाः। किल्विषं पापं येषामस्तीति किल्विषिकाः।

§ 450. एकैकस्य निकायस्य एकश एते इन्द्रादयो दश विकल्पाश्चतुर्षु निकायेषूत्सर्गेण

यह पद दिया है। शंका—कल्प इस संज्ञाका क्या कारण है? समाधान—जिनमें इन्द्र आदि दस प्रकार कल्पे जाते हैं वे कल्प कहलाते हैं। इस प्रकार इन्द्रादिककी कल्पना ही कल्प संज्ञाका कारण है। यद्यपि इन्द्रादिक- की कल्पना भवनवासियों में भी सम्भव है फिर भी रूढ़िसे कल्प शब्द का व्यवहार वैमानिकोंमें ही किया जाता है। जो कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपन्न कहलाते हैं। तथा जिनके अन्तमें कल्पोपपन्न देव है उनको कल्पोपपन्नपर्यन्त कहा है।

§ 448. प्रकारान्तरसे उनके भेदोंका ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त दस आदि भेदोंमें-से प्रत्येक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक रूप हैं ॥4॥

§ 449 जो अन्य देवोंमें असाधारण अणिमादि गुणोंके सम्बन्धसे शोभते हैं वे इन्द्र कहलाते हैं। आज्ञा और ऐश्वर्यके सिवा जो स्थान, आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग आदि है वे समान कहलाते हैं। उस समानमें जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं। ये पिता, गुरु और उपाध्यायके समान सबसे बड़े हैं। जो मन्त्री और पुरोहित के समान हैं वे त्रायस्त्रिंश हैं। ये तैंतीस ही होते हैं इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। जो सभा में मित्र और प्रेमीजनों के समान होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं। जो अंगरक्षक के समान हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। जो रक्षकके समान अर्थचर हैं वे लोकपाल कहलते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोकका पालन करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। जैसे यहाँ सेना है उसी प्रकार सात प्रकारके पदाति आदि अनीक कहलाते हैं। जो गाँव और शहरों में रहनेवालों के समान हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। जो दास के समान वाहन आदि कर्ममें प्रवृत्त होते हैं वे आभियोग कहलाते हैं। जो सीमाके पास रहनेवालों के समान हैं वे किल्विषिक कहलाते हैं। किल्विष पापको कहते हैं इसकी जिनके बहुलता होती है वे किल्विषिक कहलाते हैं।

§ 450 चारों निकायोंमें-से प्रत्येक निकायमें ये इन्द्रादिक दस भेद उत्सर्गसे प्राप्त हुए,

---

1 —यत्समानायु- मु.। 2 —वृत्ता.। अन्त्यवासि- आ, दि. 1, दि 2। 3 —स्थानीयाः। किल्विष मु.। 4. —येषामस्ति ते किल्वि- मु.।

प्रसक्तास्तलोऽपवादार्थमाह—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तर[1]ज्योतिष्काः ॥5॥

§ 451. व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशाँल्लोकपालांश्च वर्जयित्वा इतरेऽष्टौ विकल्पा द्रष्टव्याः।

§ 452 अथ तेषु निकायेषु किमेकैक इन्द्र उतान्यः प्रतिनियमः कश्चिदस्तीत्यत आह—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥6॥

§ 453. पूर्वयोर्निकाययोर्भवनवासिव्यन्तरनिकाययोः। कथं द्वितीयस्य पूर्वत्वम् ? सामीप्यात्पूर्वत्वमुपचर्योक्तम्। 'द्वीन्द्रा' इति अन्तर्नीतवीप्सार्थः। द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्रा इति। यथा सप्तपर्णोऽष्टापद इति। तद्यथा—भवनवासिषु तावदसुरकुमाराणां द्वाविन्द्रौ चमरो वैरोचनश्च। नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च। विद्युत्कुमाराणां हरिसिंहो हरिकान्तश्च। सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुधारी च। अग्निकुमाराणामग्निशिखोऽग्निमाणवश्च। वातकुमाराणां वैलम्बः प्रभञ्जनश्च। स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च। उदधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च। द्वीपकुमाराणां पूर्णो वसिष्ठश्च। दिक्कुमाराणाममितगतिरमितवाहनश्चेति। व्यन्तरेष्वपि किन्नराणां द्वाविन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च। किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च[2]। महोरगाणांमतिकायो महाकायश्च। गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशश्च। यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च।

अत. जहाँ अपवाद है उसका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदों से रहित हैं ॥5॥

§ 551. व्यन्तर और ज्योतिषियोमे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदोके सिवा शेष आठ भेद जानना चाहिए।

§ 452 उन निकायोमे क्या एक-एक इन्द्र है या और दूसरा कोई नियम है इस वातके बतलानेके लिए अव आगेका सूत्र कहते है—

प्रथम दो निकायोमें दो दो इन्द्र हैं ॥6॥

§ 453 पूर्वके दो निकायोसे भवनवासी और व्यन्तर ये दो निकाय लेना चाहिए। **शंका**—दूसरे निकायको पूर्व कैसे कहा जा सकता है ? **समाधान**—प्रथमके समीपवर्ती होनेसे दूसरे निकाय को उपचारसे पूर्व कहा हे। 'द्वीन्द्रा' इस पदमे वीप्सारूप अर्थ गर्भित है अतः इसका विग्रह इस प्रकार हुआ कि 'द्वौ द्वौ इन्द्रौ येपा ते द्वीन्द्रा' जैसे सप्तपर्ण और अष्टापद। तात्पर्य यह है जिस प्रकार सप्तपर्ण और अष्टापद इन पदोमे वीप्सारूप अर्थ गर्भित है उसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। खुलासा इस प्रकार है—भवनवासियोमे असुरकुमारोके चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारोके धरण और भूतानन्द ये दो इन्द्र है। विद्युत्कुमारोके हरिसिंह और हरिकान्त ये दो इन्द्र हैं। सुपर्णकुमारोके वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र है। अग्निकुमारोके अग्निशिख और अग्निमाणव ये दो इन्द्र हैं। वातकुमारोके वैलम्ब और प्रभजन ये दो इन्द्र हैं। स्तनितकुमारोके सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं। उदधिकुमारोके जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं। दीपकुमारोके पूर्ण और विशिष्ट ये दो इन्द्र हैं। तथा दिक्कुमारोके अमितगति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं। व्यन्तरोमे भी किन्नरोके किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र हैं। किम्पुरुषोके सत्पुरुष और महापुरुष ये दो इन्द्र हैं। महोरगोके अतिकाय और महाकाय ये दो इन्द्र हैं। गन्धर्वो के गीतरति और गीतयश ये दो इन्द्र हैं। यक्षोके पूर्णभद्र और मणिभद्र ये

---

1. —वर्ज्या व्य- ता, ना.,। 2 —षश्चेति महो- मु।

राक्षसानां भीमो महाभीमश्च । भूताना प्रतिरूपोऽप्रतिरूपश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्च ।

§ 454. अथैषां देवानां सुखं कीदृशमित्युक्ते सुखावबोधनार्थमाह—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥7॥

§ 455. प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम् । कायेन प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः । [1]आङ् अभिविध्यर्थ. । असंहितया निर्देश असंदेहार्थ । एते भवनवास्यादय ऐशानान्ता. संक्लिष्टकर्मत्वान्मनुष्यवत्स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थ ।

§ 456. अवधिग्रहणादितरेषां सुखविभागेऽनिर्ज्ञाते तत्प्रतिपादनार्थमाह—

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥8॥

§ 457. उक्तावशिष्टग्रहणार्थं 'शेष' ग्रहणम् । के पुनरुक्तावशिष्टाः ? कल्पवासिनः । स्पर्शश्च रूप च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि, तेषु प्रवीचारो येषां ते स्पर्शरूपशब्दमनः-प्रवीचारा । कथमभिसंबन्ध. ? आर्षाविरोधेन । कुतः पुन 'प्रवीचार'ग्रहणम् ? इष्टसंप्रत्ययार्थमिति । कः पुनरिष्टोऽभिसबन्धः ? आर्षाविरोधी—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवा देवाङ्गना[2]ङ्गस्पर्शमात्रादेव परा प्रीतिमुपलभन्ते, तथा देव्योऽपि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवा दिव्याङ्गनानां

दो इन्द्र हैं । राक्षसोके भीम और महाभीम ये दो इन्द्र है । भूतोके प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इन्द्र हैं । तथा पिशाचोके काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं ।

§ 454 इन देवोका सुख किस प्रकारका होता है ऐसा पूछने पर सुखका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

ऐशान तकके देव कायप्रवीचार अर्थात् शरीरसे विषय-सुख भोगनेवाले होते है ॥7॥

§ 455 मैथुनद्वारा उपसेवनको प्रवीचार कहते है। जिनका कायसे प्रवीचार है वे कायप्रवीचारवाले कहे जाते हैं । कहाँतक कायसे प्रवीचारकी व्याप्ति है इस बातके बतलानेक लिए सूत्रमे 'आङ्' का निर्देश किया है । सन्देह न हो इसलिए 'आ ऐशानात्' इस प्रकार सन्धिके बिना निर्देश किया है । तात्पर्य यह है कि ऐशान स्वर्ग पर्यन्त ये भवनवासी आदि देव सक्लिष्ट कर्मवाले होनेके कारण मनुष्योके समान स्त्रीविषयक सुखका अनुभव करते है ।

§ 456 पूर्वोक्त सूत्रमे कायसे प्रवीचारकी मर्यादा कर दी है इसलिए इतर देवोके सुखका विभाग नही ज्ञात होता है, अत इसके प्रतिपादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेष देव स्पर्श, रूप, शब्द और मनसे विषय-सुख भोगनेवाले होते है ॥8॥

§ 457 पहले जिन देवोका प्रवीचार कहा है उनसे अतिरिक्त देवोके ग्रहण करनेके लिए 'शेष' पदका ग्रहण किया है । शका—उक्त देवोसे अवशिष्ट और कौन देव है ? **समाधान**—कल्पवासी । यहाँ स्पर्श, रूप, शब्द और मन इनका परस्पर द्वन्द्व समास करके अनन्तर प्रवीचार शब्दके साथ बहुव्रीहि समास किया है । **शका**—इनमे-से किन देवोके कौन-सा प्रवीचार है इसका सम्बन्ध कैसे करना चाहिए ? **समाधान**—इसका सम्बन्ध जिस प्रकार आर्षमे विरोध न आवे उस प्रकार कर लेना चाहिए । **शंका**—पुन 'प्रवीचार' शब्दका ग्रहण किसलिए किया है ? **समाधान**—इष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिए । **शंका**—जिसमे आर्षसे विरोध न आवे ऐसा वह इष्ट अर्थ क्या है ? **समाधान**—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव देवागनाओके स्पर्श मात्रसे परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार वहाँकी देवियाँ भी । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गके देव देवागनाओके शृंगार, आकृति, विलास, चतुर और मनोज्ञ वेष तथा मनोज्ञ रूपके

---

1. 'आङ् मर्यादाभिविध्यो.।' पा. 2, 1, 13 । 2. -नागकास्पर्श- मु ।

शृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेषरूपावलोकनमात्रादेव परमसुखमाप्नुवन्ति। शुक्रमहाशुक्रशतार-सहस्रारेषु देवा देववनितानां मधुरसंगीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव परां प्रीति-मास्कन्दन्ति। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवा स्वाङ्गनामनःसंकल्पमात्रादेव परं सुखमाप्नुवन्ति।

§ 458. अथोत्तरेषां किंप्रकारं सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह—

परेऽप्रवीचाराः ॥9॥

§ 459. 'पर'ग्रहणमितराशेषसंग्रहार्थम्। 'अप्रवीचार'ग्रहणं परमसुखप्रतिपत्त्यर्थम्। प्रवीचारो हि वेदनाप्रतिकारः। तदभावे तेषां परमसुखमनवरतं भवति।

§ 460. उक्ता ये आदिनिकायदेवा दशविकल्पा इति तेषां सामान्यविशेषसंज्ञाविज्ञाप-नार्थमिदमुच्यते—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥10॥

§ 461. भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिन। आदिनिकायस्येय सामान्यसंज्ञा। असुरादयो विशेषसंज्ञा विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तयः सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि वेषभूषायुधयानवाहनक्रीडनादिकुमारवदेषामाभासत इति भवनवासिषु कुमारव्यपदेशो रूढः। स प्रत्येक परिसमाप्यते असुरकुमारा इत्येवमादि। क्व तेषां भवनानीति चेत्। उच्यते—रत्नप्रभायाः [1]पंकवहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि। खरपृथिवीभागे उपर्यधश्च एकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा

देखने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गके देव देवांगनाओके मधुर सगीत, कोमल हास्य, ललित कथित और भूषणोके कोमल शब्दोके सुननेमात्र से ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं। तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पके देव अपनी अगनाका मनमे सकल्प करनेमात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते है।

§ 458 अव आगेके देवोका किस प्रकारका सुख है ऐसा प्रश्न करनेपर उसका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वाकीके सव देव विषय-सुख से रहित होते हैं ॥9॥

§ 459 शेष सव देवोका सग्रह करनेके लिए सूत्रमे 'पर' शब्दका ग्रहण किया है। परम सुखका ज्ञान करानेके लिए अप्रवीचार पदका ग्रहण किया है। प्रवीचार वेदनाका प्रतिकारमात्र है। इसके अभावमे उनके सदा परम सुख पाया जाता है।

§ 460. आदिके निकायके देवोके दस भेद कहे हैं। अव उनकी सामान्य और विशेष सज्ञाका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भवनवासी देव दस प्रकारके हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ॥10॥

§ 461. जिनका स्वभाव भवनोमे निवास करना है वे भवनवासी कहे जाते हैं। प्रथम निकायकी यह सामान्य सज्ञा है। तथा असुरादिक विशेष सज्ञाएँ हैं जो विशिष्ट नामकर्मके उदयमे प्राप्त होती हैं। यद्यपि इन सव देवोका वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनके वेष, भूषा, शस्त्र, यान, वाहन और क्रीडा आदि कुमारोके समान होती है, इसलिए सव भवन-वासियोमें कुमार शब्द रूढ है। यह कुमार शब्द प्रत्येकके साथ जोड लेना चाहिए। यथा असुर-कुमार आदि। शका—इनके भवन कहाँ है? समाधान—रत्नप्रभाके पकवहुल भागमे असुर-कुमारोके भवन है। और खर पृथिवीभागमे ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष

---

1. पंकवहुल- आ, दि 1, दि. 2।

शेषनवानां कुमाराणामावासाः ।

§ 462. द्वितीयनिकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञावधारणार्थमाह—

व्यन्तराः किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।।11।।

§ 463. विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते 'व्यन्तराः' इत्यन्वर्था सामान्यसंज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम् । तेषां व्यन्तराणामष्टौ विकल्पाः किंनरादयो वेदितव्या नामकर्मोदयविशेषापादिताः । क्व पुनस्तेषामावासा इति चेत् । उच्यते—अस्माज्जम्बूद्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य उपरिष्टे[1] खरपृथिवीभागे सप्तानां व्यन्तराणामावासाः । राक्षसानां पङ्कबहुलभागे ।

§ 464. तृतीयस्य निकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ।।12।।

§ 465. ज्योतिस्स्वभावत्वादेषां पञ्चानामपि 'ज्योतिष्काः' इति सामान्यसंज्ञा अन्वर्था । सूर्यादयस्तद्विशेषसंज्ञा नामकर्मोदयप्रत्ययाः । 'सूर्याचन्द्रमसौ' इति पृथग्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । किंकृतं पुनः प्राधान्यम् ? प्रभावादिकृतम् । क्व पुनस्तेषामावासाः ? इत्यत्रोच्यते, अस्मात्समाद् भूमिभागादूर्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्युत्तराणि[2] उत्पत्य सर्वज्योतिषामधोभागविन्यस्तास्तारकाश्चरन्ति । ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति । ततोऽशीतियोजनान्युत्पत्य चन्द्रमसो भ्रमन्ति । [3]ततश्चत्वारि योजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि । ततश्चत्वारि[4] योजनान्युत्पत्य बुधाः । ततस्त्रीणि

नौ प्रकारके कुमारोंके भवन हैं ।

§ 462. अब दूसरे निकायकी सामान्य और विशेष संज्ञाके निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्यन्तर देव आठ प्रकारके हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ।।11।।

§ 463. जिनका नानाप्रकारके देशोमे निवास है वे व्यन्तर देव कहलाते हैं । यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठो ही भेदोमे लागू है । इन व्यन्तरोके किन्नरादिक आठो भेद विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं ऐसा जानना चाहिए । शंका—इन व्यन्तरोके आवास कहाँ हैं ? समाधान—इस जम्बूद्वीपसे असंख्यात द्वीप और समुद्र लाँघकर ऊपरके खर पृथिवी भागमे सात प्रकारके व्यन्तरोके आवास हैं । तथा पकबहुल भागमे राक्षसोके आवास हैं ।

§ 464. अब तीसरे निकायकी सामान्य और विशेष सज्ञाका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषी देव पाँच प्रकारके हैं—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ।।12।।

§ 465. ये सब पाँचो प्रकारके देव ज्योतिर्मय हैं, इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है । तथा सूर्य आदि विशेष सज्ञाएँ विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं । सूर्य और चन्द्रमाकी प्रधानताको दिखलानेके लिए 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस प्रकार इन दोनोका अलगसे ग्रहण किया है । शंका—इनमें प्रधानता किस निमित्तसे प्राप्त होती है ? समाधान—इनमे प्रभाव आदिककी अपेक्षा प्रधानता प्राप्त होती है । शंका—इनका आवास कहाँपर है ? समाधान—इस समान भूमिभागसे सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर तारकाएँ विचरण करती हैं जो सब ज्योतिषियोके अधोभागमे स्थित हैं । इससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य विचरण करते हैं । इससे

---

1. -तीत्य परिष्टे आ., ता, ना, दि. 1, दि 2 । 2 -त्तराणि 790 उत्प- मु । 3 ततस्त्रीणि योज- ता., ना, । तत्त्वा. । 4 ततस्त्रीणि योज- ता, ना, तत्त्वा ।

योजनान्युत्पत्य शुक्रा । [1]ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य बृहस्पतयः । ततस्त्रीणि[2] योजनान्युत्पत्यांगारकाः । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शनैश्चराश्चरन्ति । स एष ज्योतिर्गणगोचरो नभोऽवकाशो दशाधिकयोजनशतबहलस्तिर्यगसंख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तः । उक्तं च ।

"णउदुत्तरसत्तसया दससीदी[4] चदुग तियचउक्क ।
ताररविससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअगिरारसणी[3] ।"

§ 466. ज्योतिष्काणां गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥13॥

§ 467. मेरोः प्रदक्षिणा मेरुप्रदक्षिणा । 'मेरुप्रदक्षिणाः' इति वचनं गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं विपरीता गतिर्मा विज्ञायीति । 'नित्यगतयः' इति विशेषणमनुपरतक्रियाप्रतिपादनार्थम् । 'नृलोक'ग्रहणं विषयार्थम् । अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्ज्योतिष्का नित्यगतयो नान्यत्रेति । ज्योतिष्कविमानानां गतिहेत्वभावात्तद्वृत्त्यभाव इति चेत् । न; असिद्धत्वात्, गतिरताभियोग्यदेवप्रेरित गतिपरिणामात्कर्मविपाकस्य वैचित्र्यात् । तेषां हि गतिमुखेनैव कर्म विपच्यत इति ।

अस्मी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं । इससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं । इससे चार योजन ऊपर जाकर बुध है । इससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है । इससे तीन योजन ऊपर जाकर वृहस्पति है । इससे तीन योजन ऊपर जाकर मगल है । इससे तीन योजन ऊपर जाकर शनीचर है । यह ज्योतिषियोसे व्याप्त नभ प्रदेश एक सौ दस योजन मोटा और घनोदधि-पर्यन्त असख्यात द्वीप-समुद्र-प्रमाण लम्बा है । कहा भी है—

'इस पृथिवी-तलसे सात सौ नव्वे योजन ऊपर जाकर ताराएँ है । पुन दस योजन ऊपर जाकर सूर्य है । पुन अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा है । पुन. चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र और चार योजन ऊपर जाकर बुध हैं । पुन. चार वार तीन योजन ऊपर जाकर अर्थात् तीन-तीन योजन ऊपर जाकर क्रमसे शुक्र, गुरु, मगल और शनि है ।।'

§ 466 अब ज्योतिषी देवोकी गतिविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगे का सूत्र कहते है—

ज्योतिषी देव मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं और निरन्तर गतिशील हैं ॥ 13 ॥

§ 467. 'मेरुप्रदक्षिणा' इस पदमे षष्ठी तत्पुरुष समास है । 'मेरुप्रदक्षिणा' यह वचन गतिविशेष का ज्ञान करनेके लिए और कोई विपरीत गति न समझ वैठे इसके लिए दिया है । वे निरन्तर गतिरूप क्रिया युक्त है इस वात का ज्ञान करानेके लिए 'नित्यगतय' पद दिया है । इस प्रकार के ज्योतिषी देवोका क्षेत्र वतानेके लिए 'नृलोक' पदका गृहण किया है । तात्पर्य यह है कि ढाई द्वीप और दो समुद्रोमे ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते रहते हैं अन्यत्र नही । **शका**—ज्योतिषी देवोके विमानो की गति का कारण नही पाया जाता अत उनका गमन नही वन सकता ? **समाधान**—नही, क्योकि यह हेतु असिद्ध है । वात यह है कि गमन करनेमे रत जो आभियोग्य जातिके देव है उनसे प्रेरित होकर ज्योतिषी देवो के विमानो का गमन होता रहता है । यदि कहा जाय कि आभियोग्य जाति के देव निरन्तर गति मे ही क्यो रत रहते हैं तो उसका उत्तर यह है कि यह कर्म के परिपाककी विचित्रता है । उनका कर्म गतिरूप से ही

1 ततश्चत्वारि योज- ता. ना., तत्त्वा । 2 ततश्चत्वारि योज- ता, ना, तत्त्वा । 3. -सीदि चदुतिय दुगचउक्कं । तारा- ता. ना, तत्त्वा. । 4 'णउदुत्तरसत्तसए दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के । तारिणससि-रिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी ।'- ति, सा, गा 332 ।

एकादशभिर्योजनशतैरेकविंशैर्मेरुमप्राप्य ज्योतिष्काः प्रदक्षिणाश्चरन्ति ।

§ 468. गतिमज्ज्योतिस्संबन्धेन व्यवहारकालप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तत्कृतः कालविभागः ॥14॥

§ 469. 'तद्'ग्रहणं गतिमज्ज्योतिःप्रतिनिर्देशार्थम् । न केवलया गत्या नापि केवलैर्ज्योतिर्भिः कालः परिच्छिद्यते; अनुपलब्धेरपरिवर्तनाच्च । कालो द्विविधो व्यावहारिको मुख्यश्च । व्यावहारिकः कालविभागस्तत्कृतः समयावलिकादिः क्रियाविशेषपरिच्छिन्नोऽन्यस्यापरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः । मुख्योऽन्यो वक्ष्यमाणलक्षणः ।

फलता है । यही कारण है कि वे निरन्तर गमन करने मे ही रत रहते है । यद्यपि ज्योतिषी देव मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं तो भी वे मेरु पर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रह कर ही विचरण करते हैं ।

§ 468 अब गमन करनेवाले ज्योतिषियोके सम्बन्धसे व्यवहार-काल का ज्ञान कराने-के लिए आगे का सूत्र कहते है—

उन गमन करनेवाले ज्योतिषियोंके द्वारा किया हुआ कालविभाग है ॥14॥

§ 469 गमन करनेवाले ज्योतिषी देवोका निर्देश करनेके लिए सूत्रमे 'तत्'पदका ग्रहण किया है । केवल गतिसे कालका निर्णय नही हो सकता, क्योकि वह पायी नही जाती और गतिके विना केवल ज्योतिसे भी कालका निर्णय नही हो सकता, क्योकि परिवर्तनके विना वह सदा एक-सी रहेगी । यही कारण है कि यहाँ 'तत्' पदके द्वारा गतिवाले ज्योतिषियोका निर्देश किया है । काल दो प्रकार का है—व्यावहारिक काल और मुख्य काल । इनमे-से समय और आवलि आदि रूप व्यावहारिक काल विभाग गतिवाले ज्योतिषी देवोके द्वारा किया हुआ है । यह क्रिया विशेषसे जाना जाता है और अन्य नही जानी हुई वस्तुओके जाननेका हेतु है । मुख्य-काल इससे भिन्न है जिसका लक्षण आगे कहनेवाले है—

विशेषार्थ—मनुष्य मानुषोत्तर पर्वतके भीतर पाये जाते है । मानुषोत्तर पर्वतके एक ओर-से लेकर दूसरी ओर तक कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन है । मनुष्य इसी क्षेत्रमे पाये जाते है इसलिए यह मनुष्यलोक कहलाता है । इस लोकमे ज्योतिष्क सदा भ्रमण किया करते हैं । इनका भ्रमण मेरुके चारो ओर होता है । मेरुके चारो ओर ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक ज्योतिष्क मण्डल नही है । इसके आगे वह आकाशमे सर्वत्र बिखरा हुआ है । जम्बूद्वीपमे दो सूर्य और दो चन्द्र है । एक सूर्य जम्बूद्वीपकी पूरी प्रदक्षिणा दो दिन-रातमें करता है । इसका चार क्षेत्र जम्बूद्वीपमे 180 योजन और लवण समुद्रमे $330\frac{48}{61}$ योजन माना गया है । सूर्यके घूमनेकी कुल गलियाँ 184 है । इनमे यह क्षेत्र विभाजित हो जाता है । एक गलीसे दूसरी गलीमे दो योजनका अन्तर माना गया है । इसमे सूर्यविम्बके प्रमाणको मिला देनेपर वह $2\frac{48}{61}$ योजन होता है । इतना उदयान्तर है । मण्डलान्तर दो योजनका ही है । चन्द्रको पूरी प्रदक्षिणा करनेमे दो दिन-रातसे कुछ अधिक समय लगता है । चन्द्रोदयमे न्यूनाधिकता इसीसे आती है । लवण समुद्रमे चार सूर्य, चार चन्द्र, धातकीखण्डमे बारह सूर्य, बारह चन्द्र, कालोदधिमे ब्यालीस सूर्य, ब्यालीस चन्द्र और पुष्करार्धमे बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्र है । इस प्रकार ढाई द्वीपमे एक सौ बत्तीस सूर्य और एक सौ बत्तीस चन्द्र है । इन दोनोमे चन्द्र, इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र हैं । एक-एक चन्द्रका परिवार एक सूर्य, अट्ठाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छयासठ हजार नौ सौ कोडाकोडी तारे है । इन ज्योतिष्कोका गमन स्वभाव है तो भी आभियोग्य देव सूर्य आदि के विमानोको निरन्तर ढोया करते है । ये देव सिंह, गज, बैल और घोड़ेका आकार धारण किये रहते है । सिंहाकार देवोका

§ 470. इतरत्र ज्योतिषामवस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

बहिरवस्थिताः ॥15॥

§ 471. 'बहिः' इत्युच्यते। कुतो बहिः ? नृलोकात्। कथमवगम्यते ? अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवति। ननु च नृलोके 'नित्यगति'वचनादन्यत्रावस्थानं ज्योतिष्काणां सिद्धम्। अतो बहिरवस्थिता इति वचनमनर्थकमिति। तन्न; किं कारणम् ? नृलोकादन्यत्र[1] हि ज्योतिषामस्तित्वमवस्थानं चासिद्धम्। अतस्तदुभयसिद्ध्यर्थं बहिरवस्थिता इत्युच्यते। विपरीतगतिनिवृत्त्यर्थं कादाचित्कगतिनिवृत्त्यर्थं च सूत्रमारब्धम्।

§ 472. तुरीयस्य निकायस्य सामान्यसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

वैमानिकाः ॥16॥

§ 473. 'वैमानिक'ग्रहणमधिकारार्थम्। इत उत्तरं ये वक्ष्यन्ते तेषां वैमानिकसंप्रत्ययो यथा स्यादिति अधिकारः क्रियते। विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि। विमानेषु भवा वैमानिकाः। तानि विमानानि[2] त्रिविधानि—इन्द्रकश्रेणीपुष्पप्रकीर्णकभेदेन। तत्र इन्द्रकविमानानि इन्द्रवन्मध्येऽवस्थितानि[3]। तेषां चतसृषु दिक्षु आकाशप्रदेशश्रेणिवदवस्थानात् श्रेणि-

---

मुख पूर्व दिशाकी ओर रहता है। तथा गजाकार देवोका मुख दक्षिण दिशाकी ओर, वृषभाकार देवोका मुख पश्चिमकी ओर, और अश्वाकार देवोका मुख उत्तर दिशाकी ओर रहता है।

§ 470. अव ढाई द्वीपके वाहर ज्योतिषियोके अवस्थानका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य-लोकके वाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते है ॥15॥

§ 471 सूत्रमे 'वहि·' पद दिया है। **शंका**—किससे वाहर ? **समाधान**—मनुष्य-लोकसे वाहर। **शंका**—यह कैसे जाना जाता है ? **समाधान**—पिछले सूत्रमे 'नृलोके' पद आया है। अर्थके अनुसार उसकी विभक्ति वदल जाती है, जिससे यह जाना जाता है कि यहाँ 'वहि·' पदसे मनुष्यलोकके वाहर यह अर्थ इष्ट है। **शका**—मनुष्य-लोकमे ज्योतिषी निरन्तर गमन करते हैं यह पिछले सूत्रमे कहा ही है, अत अन्यत्र ज्योतिषियोका अवस्थान सुतरा सिद्ध है। इसलिए 'वहिरवस्थिता·' यह सूत्रवचन निरर्थक है ? **समाधान**—यह कहना ठीक नही, क्योकि मनुष्यलोकके वाहर ज्योतिषियोका अस्तित्व और अवस्थान ये दोनो असिद्ध हैं। अतः इन दोनो की सिद्धिके लिए 'वहिरवस्थिता' यह सूत्रवचन कहा है। दूसरे विपरीत गतिके निराकरण करनेके लिए और कादाचित्क गतिके निराकरण करनेके लिए यह सूत्र रचा है। अत यह सूत्रवचन अनर्थक नही है।

§ 472. अव चौथे निकायकी सामान्य संज्ञाके कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चौथे निकायके देव वैमानिक हैं ॥16॥

§ 473. वैमानिकोंका अधिकार है यह वतलानेके लिए 'वैमानिक' पदका ग्रहण किया है। आगे जिनका कथन करनेवाले हैं वे वैमानिक हैं। इनका ज्ञान जैसे हो इसके लिए यह अधिकार वचन है। जो विशेषतः अपनेमे रहनेवाले जीवोंको पुण्यात्मा मानते हैं वे विमान हैं और जो उन विमानोमें होते हैं वे वैमानिक हैं। इन्द्रक, श्रेणिवद्ध और पुष्पप्रकीर्णकके भेदमे विमान अनेक प्रकारके हैं। उनमें-से इन्द्रक विमान इन्द्रके समान मध्यमें स्थित हैं। उनके चारों ओर

---

1. -न्यत्र बहिर्ज्यो - मु। 2. -नानि विविधा- मु। 3. मध्ये व्यव- मु.।

विमानानि । विदिक्षु प्रकीर्णपुष्पवदवस्थानात्पुष्पप्रकीर्णकानि ।

§ 474. तेषां वैमानिकानां भेदावबोधनार्थमाह—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥17॥

§ 475. कल्पेषूपन्नाः कल्पोपपन्नाः—कल्पातीताः कल्पातीताश्चेति द्विविधा वैमानिका ।

§ 476 तेषामवस्थानविशेषनिर्ज्ञानार्थमाह—

उपर्युपरि ॥18॥

§ 477. किमर्थमिदमुच्यते । तिर्यगवस्थितिप्रतिषेधार्थमुच्यते । न ज्योतिष्कवत्तिर्यगवस्थिताः । न व्यन्तरवदसमावस्थितयः । 'उपर्युपरि' इत्युच्यन्ते । के ते ? कल्पा ।

§ 478. यद्येवं, कियत्सु कल्पविमानेषु ते देवा भवन्तीत्यत आह—

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

§ 479. कथमेषां सौधर्मादिशब्दानां कल्पाभिधानम् ? चातुरर्थिकेनाणा स्वभावतो वा कल्पस्याभिधानं भवति । अथ कथमिन्द्राभिधानम् ? स्वभावत साहचर्याद्वा । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते—सुधर्मा नाम सभा, साऽस्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः । "तदस्मिन्नस्तीति"[1] अण् । तत्कल्प-

आकाशके प्रदेशोकी पक्तिके समान जो स्थित हैं वे श्रेणिविमान है । तथा बिखरे हुए फूलोके समान विदिशाओमे जो विमान है वे पुष्पप्रकीर्णक विमान है ।

§ 474. उन वैमानिकोके भेदोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

वे दो प्रकारके हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत ॥17॥

§ 475. जो कल्पोमे उत्पन्न होते है वे कल्पोपपन्न कहलाते है । ओर जो कल्पोके परे हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं । इस प्रकार वैमानिक दो प्रकारके है ।

§ 476. अब उनके अवस्थान विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे ऊपर-ऊपर रहते हैं ॥18॥

§ 477. **शंका**—यह सूत्र किसलिए कहा है ? **समाधान**—ये कल्पोपन्न और कल्पातीत वैमानिक तिरछे रूपसे रहते ह इसका निषध करनेके लिए कहा है। ये ज्योतिषियोके समान तिरछे रूपसे नही रहते हैं । उसी प्रकार व्यन्तरोके समान विषमरूपसे नही रहते हैं। किन्तु ऊपर-ऊपर हैं । **शंका**—वे ऊपर-ऊपर क्या हैं ? **समाधान**—कल्प ।

§ 478. यदि ऐसा है तो कितने कल्प विमानोमें वे देव निवास करते है, इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार तथा आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धिमें वे निवास करते हैं ॥19॥

§ 479. **शंका**—इन सौधर्मादिक शब्दोको कल्प संज्ञा किस निमित्तसे मिली है ? **समाधान**—व्याकरणमे चार अर्थमें 'अण्' प्रत्यय होता है उससे सौधर्म आदि शब्दोकी कल्पसंज्ञा है या स्वभावसे ही वे कल्प कहलाते है । **शंका**—सौधर्म आदि शब्द इन्द्रके वाची कैसे हैं ? समा-

1. 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि'- पा. 4, 2, 67 । 'तदस्मिन्नन्नं प्राये खौ' -जैनेन्द्र 4, 1, 25 ।

साहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्मः। ईशानो नाम इन्द्र स्वभावतः। ईशानस्य निवासः कल्प ऐशानः। "तस्य निवास[1]" इत्यण्। तत्साहचर्यादिन्द्रोऽप्यैशानः। सनत्कुमारो नाम इन्द्रः स्वभावतः। "तस्य निवास" इत्यण्। सानत्कुमार. कल्पः। तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि सानत्कुमारः। महेन्द्रो नामेन्द्रः स्वभावतः। तस्य निवासः कल्पो माहेन्द्रः। तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि माहेन्द्रः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। आगमापेक्षया व्यवस्था भवतीति 'उपर्युपरि' इत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः। प्रथमो सौधर्मैशानकल्पौ, तयोरुपरि सानत्कुमारमाहेन्द्रौ, तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ, तयोरुपरि लान्तवकापिष्ठौ, तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ, तयोरुपरि शतारसहस्रारौ, तयोरुपरि आनतप्राणतौ, तयोरुपरि आरणाच्युतौ। अध उपरि च प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो वेदितव्य। मध्ये तु प्रतिद्वयम्[2]। सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्राणां चतुर्णां चत्वार इन्द्राः। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरेको ब्रह्मा[3] नाम। लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाख्यः। शुक्रमहाशुक्रयोरेकः शुक्रसंज्ञः। शतारसहस्रारयोरेकः शतारनामा। आनतप्राणतारणाच्युतानां चतुर्णां चत्वारः। एवं कल्पवासिनां द्वादश इन्द्रा भवन्ति। जम्बूद्वीपे महामन्दरो योजनसहस्रावगाहो[4] नवनवतियोजनसहस्रोच्छ्रायः। तस्याधस्तादधोलोकः। बाहल्येन[5] तत्प्रमाण[6]स्तिर्यक्प्रसृतस्तिर्यग्लोकः। तस्योपरिष्टादूर्ध्वलोक। मेरुचूलिका

धान—स्वभावसे या साहचर्य से। शंका—कैसे ? समाधान—सुधर्मा नामकी सभा है, वह जहाँ है उस कल्पका नाम सौधर्म है। यहाँ 'तदस्मिन्नस्ति' इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ है। और इस कल्पके सम्बन्धसे वहाँका इन्द्र भी सौधर्म कहलाता है। इन्द्रका ईशान यह नाम स्वभावसे है। वह इन्द्र जिस कल्पमें रहता है उसका नाम ऐशान कल्प है। यहाँ 'तस्य निवास.' इस सूत्रसे 'अण्' प्रत्यय हुआ है। तथा इस कल्पके सम्बन्धसे इन्द्र भी ऐशान कहलाता है। इन्द्रका सनत्कुमार नाम स्वभावसे है। यहाँ 'तस्य निवास.' इस सूत्रसे 'अण्' प्रत्यय हुआ है इससे कल्पका नाम सानत्कुमार पड़ा और इसके सम्बन्धसे इन्द्र भी सानत्कुमार कहलाता है। इन्द्रका महेन्द्र नाम स्वभावसे है। वह इन्द्र जिस कल्पमें रहता है उसका नाम माहेन्द्र है। और इसके सम्बन्धसे इन्द्र भी माहेन्द्र कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना। व्यवस्था आगमके अनुसार होती है इसलिए 'उपर्युपरि' इस पदके साथ दो दो कल्पोंका सम्बन्ध कर लेना चाहिए। सर्वप्रथम सौधर्म और ऐशान कल्प है। इनके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प है। इनके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प हैं। इनके ऊपर लान्तव और कापिष्ठ कल्प हैं। इनके ऊपर शुक्र और महाशुक्र कल्प हैं। इनके ऊपर शतार और सहस्रार कल्प हैं। इनके ऊपर आनत और प्राणत कल्प हैं। इनके ऊपर आरण और अच्युत कल्प हैं। नीचे और ऊपर प्रत्येक कल्पमें एक एक इन्द्र है तथा मध्यमें दो दो कल्पोंमें एक एक इन्द्र है। तात्पर्य यह है कि सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं। ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पोंका एक ब्रह्म नामक इन्द्र है। लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पोंमें एक लान्तव नामका इन्द्र है। शुक्र और महाशुक्रमें एक शुक्र नामका इन्द्र है। शतार और सहस्रार इन दो कल्पोंमें एक शतार नामका इन्द्र है। तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं। इस प्रकार कल्पवासियोंके बारह इन्द्र होते हैं। जम्बूद्वीप में एक महामन्दर नामका पर्वत है जो मूलमें एक हजार योजन गहरा है। और निन्यानवे हजार योजन ऊँचा है। उसके नीचे अधोलोक है। मेरु पर्वतकी जितनी ऊँचाई है उतना मोटा और तिरछा फैला हुआ तिर्यग्लोक है। उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जिसकी मेरु चूलिका चालीस योजन विस्तृत है। उसके ऊपर एक बालके अन्तरमें

---

1 'तस्य निवास.' -पा. 4,2,69, । तस्य निवासादूरभवौ' -जैनेन्द्र 3, 2, 86। 2. द्वयमेकम् मु । 3. ब्रह्मेन्द्रो नाम मु.। 4. -गाहो भवति नव मु., ता, ना । 5. बाहल्येन मु., ता, ना., दि. 2। 6. तत्प्रमाण (मेरुप्रमाण) स्तिर्य- मु.।

चत्वारिंशद्योजनोच्छ्राया । तस्या उपरि केशान्तरमात्रे व्यवस्थितमृजुविमानमिन्द्रक सौधर्मस्य । सर्वमन्यल्लोकानुयोगाद्वेदितव्यम् । 'नवसु ग्रैवेयकेषु' इति नवशब्दस्य पृथग्वचनं[1] किमर्थम् ? अन्यान्यपि नवविमानानि[2] अनुदिशसंज्ञकानि सन्तीति ज्ञापनार्थम् । तेनानुदिशानां ग्रहण वेदितव्यम् ।

§ 480. एषामधिकृतानां[3] वैमानिकानां परस्परतो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥20॥

§ 481. स्वोपात्तस्यायुष उदयात्तस्मिन्भवे शरीरेण सहावस्थानं[4] स्थिति । शापानुग्रह-शक्तिः प्रभावः । सुखमिन्द्रियार्थानुभव । शरीरवसनाभरणादिदीप्तिः द्युति. । लेश्या उक्ता । लेश्याया विशुद्धिर्लेश्याविशुद्धिः । इन्द्रियाणामवधेश्च विषय इन्द्रियावधिविषयः । [5]तेभ्यस्तैर्वाऽधिका इति[6] तसि । उपर्युपरि प्रतिकल्प प्रतिप्रस्तार च वैमानिकाः स्थित्यादिभिरधिका इत्यर्थः ।

§ 482. यथा स्थित्यादिभिरुपर्युपर्यधिका एवं गत्यादिभिरपीत्यतिप्रसंगे तन्निवृत्त्यर्थमाह—

ऋजुविमान है जो सौधर्म कल्पका इन्द्रक विमान है । शेष सब लोकानुयोगसे जानना चाहिए । शंका—'नवसु ग्रैवेयकेषु' यहाँ 'नव' शब्दका कथन अलगसे क्यो किया है ? **समाधान**—अनुदिश नामके नौ विमान और हैं इस बातके बतलानेके लिए 'नव' शब्दका अलगसे कथन किया है । इससे भी अनुदिशोका ग्रहण कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले वैमानिक निकायके बारह भेद कर आये है और यहाँ सोलह भेद गिनाये हैं इसलिए यह शका होती है कि इनमे-से कोई एक कथन समीचीन होना चाहिए ? समाधान यह है कि कल्पोपपन्नोके बारह इन्द्र होते है, इसलिए उनके भेद भी बारह ही है पर वे रहते है सोलह कल्पोमे । यहाँ कल्पोमे रहनेवाले देवोके भेद नही गिनाये है । यहाँ तो उनके निवास-स्थानोकी परिगणना की गयी हे,इसलिए दोनो कथनोमे कोई विरोध नही है । शेष कथन सुगम है ।

§ 480 अब इन अधिकार प्राप्त वैमानिकोके परस्पर विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि इन्द्रियविषय और अवधिविषयकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव अधिक है ॥20॥

§ 481 अपने द्वारा प्राप्त हुई आयुके उदयसे उस भवमे शरीरके साथ रहना स्थिति कहलाती है । शाप और अनुग्रहरूप शक्तिको प्रभाव कहते है । इन्द्रियोके विषयोके अनुभवन करनेको सुख कहते है । शरीर, वस्त्र और आभूषण आदिकी कान्तिको द्युति कहते है । लेश्याका कथन कर आये है । लेश्याकी विशुद्धि लेश्याविशुद्धि कहलाती है । इन्द्रिय और अवधिज्ञानका विषय इन्द्रियविषय और अवधिविषय कहलाता है । इनसे या इनकी अपेक्षा वे सब देव उत्तरोत्तर अधिक-अधिक है । तात्पर्य यह है कि ऊपर-ऊपर प्रत्येक कल्पमे और प्रत्येक प्रस्तारमे वैमानिक देव स्थिति आदिकी अपेक्षा अधिक-अधिक है ।

§ 482 जिस प्रकार ये वैमानिक देव स्थिति आदिकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर अधिक हे उसी प्रकार गति आदिकी अपेक्षा भी प्राप्त हुए, अत इसका निराकरण करनेके लिए आगे का सूत्र कहते है—

---

1 -वचन अन्या- ता , ना । 2 -मानानि सन्तीति आ , ता , ना । 3 —ताना परस्प- आ । 4 सह स्थान आ , दि 1, दि. 2 । 5 'अपादाने चाहीयरुहो'- पा 5, 4, 45 । । —अपादानेऽहीयरुहो' —जैनेन्द्र 4, 2, 62 । 'आद्यादिभ्य उपसख्यानम्'— पा 5, 4, 44 वार्ति । 'आद्यादिभ्यस्तसि' —जैनेन्द्र. 4, 2, 60 । 6 इति तस्मिन्नुप- मु ।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।।21।।

§ 483. देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः । शरीरं वैक्रियिकमुक्तम् । लोभकषायोदयाद्विषयेषु सङ्गः परिग्रहः । मानकषायादुत्पन्नोऽहंकारोऽभिमानः । एतैर्गत्यादिभिरुपर्युपरि हीनाः । देशान्तरविषयक्रीडारतिप्रकर्षाभावादुपर्युपरि गतिहीनाः । शरीरं सौधर्मैशानयोर्देवानां सप्तारत्निप्रमाणम् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः षडरत्निप्रमाणम् । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पञ्चारत्निप्रमाणम् । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु चतुररत्निप्रमाणम् । आनतप्राणतयोरर्द्धचतुर्थारत्निप्रमाणम् । आरणाच्युतयोस्त्र्यरत्निप्रमाणम् । अधोग्रैवेयकेषु अर्द्धतृतीयारत्निप्रमाणम् । मध्यग्रैवेयकेष्वरत्निद्वयप्रमाणम् । उपरिमग्रैवेयकेषु अनुदिशविमानकेषु च अध्यर्द्धारत्नि[1]प्रमाणम् । अनुत्तरेष्वरत्निप्रमाणम् । परिग्रहश्च विमानपरिच्छदादिरुपर्युपरि हीनः । अभिमानश्चोपर्युपरि तनुकषायत्वाद्धीनः ।

§ 484. पुरस्तात्त्रिषु निकायेषु देवानां लेश्याविधिरुक्तः । इदानीं वैमानिकेषु लेश्याविधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।।22।।

§ 485. पीता च पद्मा च शुक्ला च[2] ताः पीतपद्मशुक्लाः । पीतपद्मशुक्ला लेश्या येषां

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव हीन हैं ।।21।।

§ 483 एक देशसे दूसरे देशके प्राप्त करनेका जो साधन है उसे गति कहते हैं । यहाँ शरीरमे वैक्रियिक शरीर लिया गया है यह पहले कह आये है । लोभ कषायके उदयसे विषयोके सगको परिग्रह कहते है । मानकषायके उदयसे उत्पन्न हुए अहकारको अभिमान कहते है । इन गति आदिकी अपेक्षा वैमानिक देव ऊपर-ऊपर हीन है । भिन्न देशमे स्थित विषयोमे क्रीड़ा विषयक रतिका प्रकर्ष नही पाया जाता इसलिए ऊपर-ऊपर गमन कम है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोका शरीर सात अरत्निप्रमाण है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोका शरीर छह अरत्निप्रमाण है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पके देवोका शरीर पाँच अरत्निप्रमाण है । शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पके देवोका शरीर चार अरत्निप्रमाण है । आनत और प्राणत कल्पके देवोका शरीर साढे तीन अरत्निप्रमाण है । आरण और अच्युत कल्पके देवोका शरीर तीन अरत्निप्रमाण है । अधोग्रैवेयकमे अहमिन्द्रोका शरीर ढाई अरत्निप्रमाण है । मध्यग्रैवेयकमे अहमिन्द्रोका शरीर दो अरत्निप्रमाण है । उपरिम ग्रैवेयकमे और अनुदिशोमे अहमिन्द्रोका शरीर डेढ अरत्निप्रमाण है । तथा पाँच अनुत्तर विमानोमे अहमिन्द्रोका शरीर एक अरत्निप्रमाण है । विमानोकी लम्बाई चौड़ाई आदि रूप परिग्रह ऊपर-ऊपर कम है । अल्प कषाय होनेसे अभिमान भी ऊपर-ऊपर कम है ।

विशेषार्थ—ऊपरके देवोमे परिग्रह कमती-कमती होता है और पुण्यातिशय अधिक-अधिक, इससे ज्ञात होता है कि बाह्य परिग्रहका संचय मुख्यतः पुण्यका फल न होकर मूर्च्छाका फल है । ऊपर-ऊपर मूर्च्छा न्यून होती है जो उनके पूर्वभवके सस्कारका फल है, इसलिए परिग्रह भी न्यून-न्यून होता है ।

§ 484. पहले तीन निकायोमे लेश्याका कथन कर आये । अब वैमानिकोमे लेश्याओका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो, तीन कल्प युगलोंमें और शेषमें क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं ।।22।।

§ 485. पीता, पद्मा और शुक्लामे द्वन्द्व समास है, अनन्तर लेश्या शब्दके साथ बहुव्रीहि

---

1 -रत्निमात्रम् । अनु- आ., दि. 1, दि 2, ता । 2. च पीत- आ., दि 2, ।

ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः। कथं ह्रस्वत्वम्। औत्तरपदिकम्[1]। यथा[2]—"द्रुतायां[3] तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्[4]" इति। अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीतपद्मशुक्ला वर्णवन्तोऽर्थाः। तेषामिव लेश्या येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः। तत्र कस्य का लेश्या इति। अत्रोच्यते—सौधर्मैशानयोः पीतलेश्याः। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पीतपद्मलेश्याः। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्याः। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः। आनतादिषु शुक्ललेश्याः। तत्राप्यनुदिशानुत्तरेषु परमशुक्ललेश्याः। सूत्रेऽनभिहितं कथं मिश्रग्रहणम्? साहचर्याल्लोकवत्। तद्यथा—छत्रिणो गच्छन्ति इति अच्छत्रिषु छत्रव्यवहारः। एवमिहापि मिश्रयोरन्यतरग्रहणं भवति। अयमर्थः सूत्रतः कथं गम्यते इति चेत्। उच्यते—एवमभिसंबन्धः क्रियते, द्वयोः कल्पयुगलयोः पीतलेश्या; सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पद्मलेश्याया अविवक्षातः। ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्या; शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः। शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्या; पद्मलेश्याया अविवक्षातः। इति नास्ति दोषः।

समास है। जिनके ये पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं। शंका—पीता, पद्मा और शुक्ला ये तीनों शब्द दीर्घ हैं वे ह्रस्व किस नियमसे हो गये? समाधान—जैसे 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्' अर्थात् द्रुतावृत्तिमें तपरकरण करनेपर मध्यमा और विलम्बितावृत्तिमें उसका उपसंख्यान होता है इसके अनुसार यहाँ 'मध्यमा' शब्दमें औत्तरपदिक ह्रस्व हुआ है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी औत्तरपदिक ह्रस्व जानना चाहिए। अथवा यहाँ पीता, पद्मा और शुक्ला शब्द न लेकर पीत, पद्म और शुक्ल वर्णवाले पदार्थ लेने चाहिए। जिनके इन वर्णोंके समान लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले जीव हैं। इस प्रकार यहाँ पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शब्द ह्रस्व ही समझना चाहिए। अब किसके कौन लेश्या है यह बतलाते हैं—सौधर्म और ऐशान कल्पमें पीतलेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पमें पीत और पद्म लेश्याएँ हैं। ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पोंमें पद्मलेश्या है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पमें पद्म और शुक्ल ये दो लेश्याएँ हैं। तथा आनतादिकमें शुक्ल लेश्या है। उसमें भी अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें परम शुक्ल लेश्या है। शंका—सूत्रमें तो मिश्र लेश्याएँ नहीं कही हैं फिर उनका ग्रहण कैसे होता है? समाधान—साहचर्यवश मिश्र लेश्याओंका ग्रहण होता है, लोकके समान। जैसे, 'छत्री जाते हैं' ऐसा कथन करने पर अछत्रियोंमें भी छत्री व्यवहार होता है उसी प्रकार यहाँ भी दोनों मिश्र लेश्याओंमें-से किसी एकका ग्रहण होता है। शंका—यह अर्थ सूत्रसे कैसे जाना जाता है? समाधान—यहाँ ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए कि दो कल्प युगलोंमें पीत लेश्या है। यहाँ सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की। ब्रह्मलोक आदि तीन कल्पयुगलोंमें पद्म लेश्या है। शुक्र और महाशुक्रमें शुक्ल लेश्याकी विवक्षा नहीं की। शेष शतार आदिमें शुक्ललेश्या है। पद्म लेश्याकी विवक्षा नहीं की। इसलिए कोई दोष नहीं है।

---

1. -त्तरपादिकम् आ, दि. 1, दि. 2। 2. यथाहुः द्रु- मु., ना. ता.। 3. 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्। द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम्। तथा मध्यमायां द्रुतविलम्बितयोः तथा विलम्बितायां द्रुतमध्यमयोः। किं पुनः कारणं न सिद्ध्यति। कालभेदात्। ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायाम्। ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम्।' -पा. म. भा. 1, 1, 9। 4. -स्यानमिति। द्रुतमध्यमविलम्बिता इति। अथवा आ., दि. 1। -स्यानमिति। द्रुतमध्यमविलम्बिता इति। अथवा दि. 2।

§ 486. आह कल्पोपपन्ना इत्युक्तं तत्रेदं न ज्ञायते के कल्पा इत्यत्रोच्यते—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥23॥

§ 487. इद न ज्ञायते इत आरभ्य कल्पा भवन्तीति सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते। तेनायमर्थो लभ्यते—सौधर्मादयः प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा इति। पारिशेष्यादितरे कल्पातीता इति।

§ 488. लौकान्तिका देवा वैमानिकाः सन्त क्व गृह्यन्ते? कल्पोपपन्नेषु। कथमिति चेदुच्यते—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥24॥

§ 489. एत्य तस्मिन् लीयन्त इति आलय आवासः। ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका देवा वेदितव्या। यद्येवं सर्वेषां ब्रह्मलोकालयानां देवानां लौकान्तिकत्वं प्रसक्तम्। अन्वर्थसंज्ञाग्रहणाददोषः। ब्रह्मलोको लोकः, तस्यान्तो लोकान्तः, तस्मिन्भवा लौकान्तिका इति न सर्वेषां ग्रहणम्। तेषां हि विमानानि ब्रह्मलोकस्यान्तेषु स्थितानि। अथवा जन्मजरामरणाकीर्णो लोकः संसार, तस्यान्तो लोकान्तः। लोकान्ते भवा लौकान्तिकाः। ते सर्वे परीतसंसारा, ततश्च्युता एकं गर्भावासं प्राप्य परिनिर्वास्यन्तीति।

§ 490. तेषां सामान्येनोपदिष्टानां भेदप्रदर्शनार्थमाह—

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥25॥

---

§ 486 कल्पोपपन्न देव है यह कह आये पर यह नही ज्ञात हुआ कि कल्प कौन है, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ग्रैवेयकोसे पहले तक कल्प हैं ॥23॥

§ 487 यह नही मालूम होता कि यहाँसे लेकर कल्प है, इसलिए सौधर्म आदि पदकी अनुवृत्ति होती है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि सौधर्मसे लेकर और नौ ग्रैवेयकसे पूर्वतक कल्प है। परिशेष न्यायसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि शेष सब कल्पातीत है।

§ 488 लौकान्तिक देव वैमानिक है उनका किनमे समावेश होता है? वैमानिकोमे। कैसे? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

लौकान्तिक देवोंका ब्रह्मलोक निवासस्थान है ॥24॥

§ 489 आकर जिसमे लयको प्राप्त होते है अर्थात् निवास करते हैं वह आलय या आवास कहलाता है। ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोकमे रहनेवाले लौकान्तिक देव जानना चाहिए। शका—यदि ऐसा है तो ब्रह्मलोकमे रहनेवाले सब देव लौकान्तिक हुए? **समाधान**—सार्थक संज्ञाके ग्रहण करनेसे यह दोष नही रहता। लौकान्तिक शब्दमे जो लोक शब्द है उससे ब्रह्मलोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्तभाग लोकान्त कहलाया। वहाँ जो होते हैं वे लौकान्तिक कहलाते हैं, इसलिए ब्रह्मलोकमे रहनेवाले सब देवोका ग्रहण नही होता है। इन लौकान्तिक देवोंके विमान ब्रह्मलोकके प्रान्तभाग मे स्थित हैं। अथवा जन्म, जरा और मरणसे व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है। इस प्रकार संसारके अन्तमे जो होते है वे लौकान्तिक हैं, क्योंकि ये सब परीतसंसारी होते है। वहाँसे च्युत होकर और एक बार गर्भमे रहकर निर्वाणको प्राप्त होंगे।

§ 490. सामान्यसे कहे गये उन लौकान्तिक देवोंके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं ॥25॥

§ 491. क्व इमे सारस्वतादयः ? अष्टास्वपि पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्याः । तद्यथा—पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्यां दिशि वह्निविमानम्, दक्षिणस्यां दिशि अरुणविमानम्, दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, अपरस्यां दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यां दिशि अव्याबाधविमानम्, उत्तरस्यां दिशि अरिष्टविमानम् । 'च'शब्दसमुच्चितास्तेषामन्तरेषु द्वौ देवगणौ । तद्यथा—सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभाः । आदित्यस्य च वह्नेश्चान्तरे चन्द्राभसत्याभाः । वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमंकराः । अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचाराः गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिताः । तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः । अव्याबाधारिष्टान्तराले मरुद्वसवः । अरिष्टसारस्वतान्तराले अश्वविश्वाः । सर्वे एते स्वतन्त्राः; हीनाधिकत्वाभावात्, विषयरतिविरहाद्देवर्षयः, इतरेषां देवानामर्चनीयाः, चतुर्दशपूर्वधराः तीर्थकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरा वेदितव्याः ।

§ 492. आह, उक्ता लौकान्तिकास्ततश्च्युता एकं गर्भवासमवाप्य निर्वास्यन्तीत्युक्ताः । किमेवमन्येष्वपि निर्वाणप्राप्तिकालविभागो विद्यते । इत्यत आह—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥26॥

§ 493. 'आदि'शब्दः प्रकारार्थे वर्तते, तेन विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानुदिशविमानानामिष्टानां ग्रहणं सिद्धं भवति । क पुनरत्र प्रकारः ? अहमिन्द्रत्वे सति सम्यग्दृष्ट्युपपादः । सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्ग इति चेत् । न; तेषां परमोत्कृष्टत्वात्, अन्वर्थसंज्ञात एकचरमत्वसिद्धेः । चरमत्वं

---

§ 491 शंका—ये सारस्वत आदिक कहाँ रहते है ? समाधान—पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओमे क्रमसे ये सारस्वत आदि देवगण रहते है ऐसा जानना चाहिए। यथा—पूर्वोत्तर कोणमे सारस्वतोके विमान है । पूर्व दिशामे आदित्योके विमान है । पूर्व-दक्षिण दिशामे वह्नि-देवोके विमान है । दक्षिण दिशामे अरुण विमान हैं । दक्षिण-पश्चिम कोनेमे गर्दतोयदेवोके विमान है । पश्चिम दिशामे तुषितविमान है । उत्तर-पश्चिम दिशामे अव्याबाधदेवोके विमान है । और उत्तर दिशामे अरिष्टदेवोके विमान है । सूत्रमे 'च' शब्द है उससे इनके मध्यमे दो दो देवगण और हैं इसका समुच्चय होता है । यथा—सारस्वत और आदित्यके मध्यमे अग्न्याभ और सूर्याभ हैं । आदित्य और वह्निके मध्यमे चन्द्राभ और सत्याभ है । वह्नि और अरुणके मध्य में श्रेयस्कर और क्षेमकर है । अरुण और गर्दतोयके मध्यमे वृषभेष्ट और कामचार है । गर्दतोय और तुषितके मध्यमे निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित है । तुषित और अव्याबाधके मध्यमे आत्मरक्षित और सर्वरक्षित है । अव्याबाध और अरिष्टके मध्यमे मरुत् और वसु है । अरिष्ट और सारस्वतके मध्यमे अश्व और विश्व है । ये सब देव स्वतन्त्र हैं क्योकि इनमे हीनाधिकता नही पायी जाती । विषय-रतिसे रहित होनेके कारण देवऋषि है । दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं । चौदह पूर्वोके ज्ञाता है और वैराग्य कल्याणकके समय तीर्थंकरको संबोधन करनेमें तत्पर है ।

§ 492 लौकान्तिक देवोका कथन किया और वहाँसे च्युत होकर तथा एक गर्भको धारण करके निर्वाणको प्राप्त होगे यह भी कहा । क्या इसी प्रकार अन्य देवोमें भी निर्वाणको प्राप्त होनेके कालमें भेद है ? अब इसी बातका ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विजयादिकमें दो चरमवाले देव होते हैं ॥26॥

§ 493. यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है । इससे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिशोका ग्रहण सिद्ध हो जाता है । शंका—यहाँ कौन-सा प्रकार लिया है ? समाधान—अहमिन्द्र होते हुए सम्यग्दृष्टियोका उत्पन्न होना, यह प्रकार यहाँ लिया गया है । शंका—इससे

देहस्य मनुष्यभवापेक्षया । द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः । विजयादिभ्यश्च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य ततश्च्युताः पुनर्मनुष्यभवमवाप्य सिद्ध्यन्तीति द्विचरमदेहत्वम् ।

§ 494. आह, जीवस्यौदयिकेषु भावेषु तिर्यग्योनिगतिरौदयिकीत्युक्तं, पुनश्च स्थितौ 'तिर्यग्योनिजानां च' इति । तत्र न ज्ञायते के तिर्यग्योनय: । इत्यत्रोच्यते—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥27॥

§ 495. औपपादिका उक्ता देवनारकाः । मनुष्याश्च निर्दिष्टाः 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः' इति । एभ्योऽन्ये संसारिणो जीवाः शेषास्ते[1] तिर्यग्योनयो वेदितव्याः । तेषां तिरश्चां देवादीनामिव क्षेत्रविभागः पुनर्निर्देष्टव्यः ? सर्वलोकव्यापित्वात्तेषां क्षेत्रविभागो नोक्तः ।

§ 496. आह, स्थितिरुक्ता नारकाणां मनुष्याणां तिरश्चां च । देवानां नोक्ता । तस्यां वक्तव्यायामादावुद्दिष्टानां भवनवासिनां स्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

सर्वार्थसिद्धिका भी ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि वे परम उत्कृष्ट हैं । उनका सर्वार्थसिद्धि यह सार्थक नाम है, इसलिए वे एक भवावतारी होते हैं । देहका चरमपना मनुष्य भवकी अपेक्षा लिया है । जिसके दो चरम भव होते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं । जो विजयादिकसे च्युत होकर और सम्यक्त्वको न छोड़कर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं और संयमकी आराधना कर पुन: विजयादिकमें उत्पन्न होकर और वहाँसे च्युत होकर मनुष्य भवको प्राप्त करके सिद्ध होते हैं । इस प्रकार यहाँ मनुष्य भवकी अपेक्षा द्विचरमपना है ।

विशेषार्थ—कोई-कोई विजयादिकके देव मनुष्य होते हैं । अनन्तर सौधर्म और ईशान कल्पमें देव होते हैं । अनन्तर मनुष्य होते हैं । फिर विजयादिकमें देव होते हैं और अन्तमें वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होते हैं । तब कहीं मोक्ष जाते हैं । इस प्रकार इस विधिसे विचार करनेपर मनुष्यके तीन भव हो जाते हैं । इसलिए मनुष्य भवकी अपेक्षा द्विचरमपना नहीं घटित होता ? इसका समाधान यह है कि विजयादिकसे तो दो वार ही मनुष्य जन्म लेना पड़ता है, इसलिए पूर्वोक्त कथन बन जाता है । ऐसा जीव यद्यपि मध्यमें एक वार अन्य कल्पमें हो आया है, पर सूत्रकारने यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है । उनकी दृष्टि यही बतलानेकी रही है कि विजयादिकसे अधिकसे अधिक कितनी वार मनुष्य होकर जीव मोक्ष जाता है ।

§ 494. कहते हैं, जीवके औदयिक भावोंको बतलाते हुए तिर्यंचगति औदयिकी कही है । पुन: स्थितिका कथन करते समय 'तिर्यग्योनिजानां च' यह सूत्र कहा है । पर यह न जान सके कि तिर्यंच कौन हैं इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उपपाद जन्मवाले और मनुष्योंके सिवा शेष सब जीव तिर्यंचयोनिवाले हैं ॥27॥

§ 495. औपपादिक देव और नारकी हैं यह पहले कह आये हैं । 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः' इसका व्याख्यान करते समय मनुष्योंका भी कथन कर आये हैं । इनसे अन्य जितने संसारी जीव हैं उनका यहाँ शेष पदके द्वारा ग्रहण किया है । वे सब तिर्यंच जानना चाहिए । शंका—जिस प्रकार देवादिकका पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है उसी प्रकार इनका क्षेत्र बतलाना चाहिए ? समाधान—तिर्यंच सब लोकमें रहते हैं, अत: उनका अलगसे क्षेत्र नहीं कहा ।

§ 496 नारकी, मनुष्य और तिर्यंचोंकी स्थिति पहले कही जा चुकी है । परन्तु अभी तक देवोंकी स्थिति नहीं कही है, अत: उसका कथन करते हुए सर्वप्रथम प्रारम्भमें कहे गये भवनवासियोंकी स्थितिका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1. शेषास्तिर्यं- मु., दि. 2 ।

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ॥28॥

§ 497 असुरादीनां सागरोपमादिभिर्यथाक्रममत्राभिसंबन्धो वेदितव्यः। इयं स्थितिरुत्कृष्टा जघन्याप्युत्तरत्र वक्ष्यते। तद्यथा असुराणां सागरोपमा स्थितिः। नागानां त्रिपल्योपमानि[1] स्थितिः। सुपर्णानामर्द्धतृतीयानि। द्वीपानां द्वे। शेषाणां षण्णामध्यर्द्धपल्योपमम्।

§ 498 आद्यदेवनिकायस्थित्यभिधानादनन्तरं व्यन्तरज्योतिष्कस्थितिवचने क्रमप्राप्ते सति तदुल्लङ्घ्य वैमानिकानां स्थितिरुच्यते। कुतः? तयोरुत्तरत्र लघुनोपायेन स्थितिवचनात्। तेषु चादावुद्दिष्टयो कल्पयो स्थितिविधानार्थमाह—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥29॥

§ 499. 'सागरोपमे' इति द्विवचननिर्देशाद् द्वित्वगतिः। 'अधिके' इत्ययमधिकारः। आ कुतः? आ सहस्रारात्। इदं तु कुतो ज्ञायते? उत्तरत्र 'तु' शब्दग्रहणात्। तेन सौधर्मैशानयोर्देवानां द्वे सागरोपमे सातिरेके प्रत्येतव्ये।

§ 500. उत्तरयो स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥30॥

§ 501. अनयोः कल्पयोर्देवानां सप्तसागरोपमाणि साधिकानि उत्कृष्टा स्थिति।

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासियो की उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागरोपम, तीन पल्योपम, ढाई पल्योपम, दो पल्योपम और डेढ़ पल्योपम होती है ॥28॥

§ 497 यहाँ सागरोपम आदि शब्दोके साथ असुरकुमार आदि शब्दोका क्रमसे सम्बन्ध जान लेना चाहिए। यह उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्य स्थिति भी आगे कहेगे। वह उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—असुराकी स्थिति एक सागरोपम है। नागकुमारोकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है। सुपर्णोकी उत्कृष्ट स्थिति ढाई पल्योपम है। द्वीपोकी उत्कृष्ट स्थिति दो पल्योपम है। और शेप छह कुमारोकी उत्कृष्ट स्थिति डेढ पल्योपम है।

§ 498 देवोके प्रथम निकायकी स्थिति कहनेके पश्चात् व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी स्थिति क्रमप्राप्त है, किन्तु उसे छोडकर वैमानिकोकी स्थिति कहते है, क्योकि व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी स्थिति आगे थोडमे कही जा सकेगी। वैमानिकोमे आदिमे कहे गये दो कल्पोकी स्थितिका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान कल्पमें दो सागरोपमसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है ॥29॥

§ 499 सूत्रमे 'सागरोपमे' यह द्विवचन प्रयोग किया है उससे दो सागरोपमोका ज्ञान होता है। 'अधिके' यह अधिकार वचन है। शका—इसका कहाँतक अधिकार है? समाधान—सहस्रार कल्प तक। शका—यह कैसे जाना जाता है? समाधान—अगले सूत्रमे जो 'तु' पद दिया है उससे जाना जाता है। इससे यह निश्चित होता है कि सौधर्म और ऐशान कल्पमें दो सागरोपमसे कुछ अधिक स्थिति है।

§ 500 अब आगेके दो कल्पोमे स्थिति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें सात सागरोपमसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है ॥30॥

§ 501 इन दो कल्पोमे देवोकी साधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

---

1. —पमा स्थिति. मु.।

§ 502. ब्रह्मलोकादिष्वच्युतावसानेषु स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥31॥

§ 503 'सप्त'ग्रहणं प्रकृतम् । तस्येह त्र्यादिभिर्निर्दिष्टैरभिसंबन्धो वेदितव्य । सप्त त्रिभिरधिकानि, सप्त सप्तभिरधिकानीत्यादिः । द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः । 'तु'शब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ? 'अधिक'शब्दोऽनुवर्तमानश्चतुर्भिर[1]भिसंबध्यते नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो विशिष्यते । तेनायमर्थो भवति—ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्दशसागरोपमाणि साधिकानि । लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दशसागरोपमाणि साधिकानि । शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसागरोपमाणि साधिकानि । शतारसहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि । आनतप्राणतयोर्विंशतिसागरोपमाणि । आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिसागरोपमाणि ।

§ 504. तत ऊर्ध्वं स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥32॥

§ 505. 'अधिक'ग्रहणमनुवर्तते । तेनेहाभिसंबन्धो वेदितव्यः । एकैकेनाधिकानीति ।

---

§ 502 अब ब्रह्मलोकसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पोमे स्थिति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगलसे लेकर प्रत्येक युगलमें आरण-अच्युत तक क्रमसे साधिक तीनसे अधिक सात सागरोपम, साधिक सातसे अधिक सात सागरोपम, साधिक नौसे अधिक सात सागरोपम, साधिक ग्यारहसे अधिक सात सागरोपम, तेरहसे अधिक सात सागरोपम और पन्द्रहसे अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ॥31॥

§ 503 यहाँ पिछले सूत्रसे 'सप्त' पदका ग्रहण प्रकृत है। उसका यहाँ तीन आदि निर्दिष्ट संख्याओं के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। यथा—तीन अधिक सात, सात सधिक सात आदि। तथा इनका क्रमसे दो दो कल्पोके साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। सूत्रमे 'तु' शब्द विशेषताके दिखलानेके लिए आया है। शंका—इससे क्या विशेषता मालूम पडती है ? समाधान—इससे यहाँ यह विशेषता मालूम पडती है कि अधिक शब्दकी अनुवृत्ति होकर उसका सम्बन्ध त्रि आदि चार शब्दोसे ही होता है, अन्तके दो स्थितिविकल्पोसे नही। इससे यहाँ यह अर्थ प्राप्त हो जाता है, ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तरमे साधिक दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठमें साधिक चौदहसागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। शुक्र और महाशुक्रमे साधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। शतार और सहस्रारमे साधिक अठारह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। आनत और प्राणतमे वीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। तथा आरण और अच्युतमे बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

§ 504. अब इसके आगेके विमानोमे स्थितिविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आरण-अच्युतके ऊपर नौ ग्रैवेयकमें-से प्रत्येकमें नौ अनुदिशमें, चार विजयादिकमें एक-एक सागरोपम अधिक उत्कृष्ट स्थिति है। तथा सर्वार्थसिद्धिमें पूरी तैंतीस सागरोपम स्थिति है ॥32॥

§ 505. पूर्व सूत्रमे अधिक पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए यहाँ इस प्रकार सम्बन्ध

---

1. –र्भिरिह सम्ब- आ. 1, दि. 2 ।

'नव' ग्रहणं किमर्थम् ? प्रत्येकमेकैकमधिकमिति ज्ञापनार्थम् । इतरथा हि ग्रैवेयकेष्वेकमेवाधिकं स्यात् । विजयादिष्विति 'आदि'शब्दस्य प्रकारार्थत्वादनुदिशानामपि ग्रहणम् । सर्वार्थसिद्धेस्तु पृथग्ग्रहणं जघन्याभावप्रतिपादनार्थम् । तेनायमर्थः, अधोग्रैवेयकेषु प्रथमे त्रयोविंशति, द्वितीये चतुर्विंशतिः, तृतीये पञ्चविंशतिः । मध्यमग्रैवेयकेषु प्रथमे षड्विंशतिः द्वितीये सप्तविंशतिः तृतीयेऽष्टाविंशतिः । उपरिमग्रैवेयकेषु प्रथमे एकोनत्रिंशद् द्वितीये त्रिंशत् तृतीये एकत्रिंशत् । अनुदिशविमानेषु द्वात्रिंशत् । विजयादिषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिः । सर्वार्थसिद्धौ[1] त्रयस्त्रिंशदेवेति ।

§ 506. निर्दिष्टोत्कृष्टस्थितिकेषु देवेषु जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥33॥

§ 507. पल्योपम व्याख्यातम् । अपरा जघन्या[2] स्थितिः । पल्योपमं साधिकम् । केषाम् ? सौधर्मैशानीयानाम् । कथं गम्यते ? 'परतः परत' इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् ।

§ 508. तत ऊर्ध्वं जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा ॥34॥

करना चाहिए कि एक-एक सागरोपम अधिक है । शंका—सूत्रमे 'नव' पदका ग्रहण किसलिए किया ? समाधान—पत्येक ग्रैवेयकमे एक-एक सागरोपम अधिक उत्कृष्ट स्थिति है इस वातका ज्ञान करानेके लिए 'नव' पदका अलगसे ग्रहण किया है । यदि ऐसा न करते तो सब ग्रैवेयकोमे एक सागरोपम अधिक स्थिति ही प्राप्त होती । 'विजयादिषु' मे आदि शब्द प्रकारवाची है जिससे अनुदिशोका ग्रहण हो जाता है । सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नही है यह बतलानेके लिए 'सर्वार्थसिद्धि' पदका अलगसे ग्रहण किया है । इससे यह अर्थ प्राप्त हुआ कि अधोग्रैवेयकमे-से प्रथममें तेईस सागरोपम, दूसरेमे चौवीस सागरोपम और तीसरेमे पच्चीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । मध्यम ग्रैवेयकमें-से प्रथममे छब्बीस सागरोपम, दूसरेमें सत्ताईस सागरोपम और तीसरेमे अट्ठाईस सागरोम उत्कृष्ट स्थिति है । उपरिम ग्रैवेयकमे-से पहलेमे उनतीस सागरोपम, दूसरेमे तीस सागरोपम और तीसरेमे इकतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । अनुदिश विमानोमे बत्तीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । विजयादिकमे तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और सर्वार्थसिद्धिमे तेतीस सागरोपम ही स्थिति है । यहाँ उत्कृष्ट और जघन्यका भेद नही है ।

§ 506 जिनमे उत्कृष्ट स्थिति कह आये है उनमे जघन्य स्थिति का कथन करने के लिए आगेका सूत्र कहते है—

सौधर्म और ऐशान कल्पमें जघन्य स्थिति साधिक एक पल्योपम है ॥33॥

§ 507. पल्योपमका व्याख्यान कर आये । यहाँ 'अपरा' पदसे जघन्य स्थिति ली गयी है जो साधिक एक पल्योपम है । शंका—यह जघन्य स्थिति किनकी है ? समाधान—सौधर्म और ऐशान कल्पके देवोकी । शंका—कैसे जाना जाता है ? समाधान—जो पूर्व-पूर्व देवो की उत्कृष्ट स्थिति है वह अगले-अगले देवो की जघन्य स्थिति है यह आगे कहनेवाले हैं इससे जाना जाता है कि यह सौधर्म और ऐशान कल्पके देवों की जघन्य स्थिति है ।

§ 508 अब सौधर्म और ऐशान कल्पसे आगेके देवोकी जघन्य स्थितिका प्रतिपादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आगे-आगे पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर-अनन्तरकी जघन्य स्थिति है ॥34॥

---

1. जघन्यस्थिति. मु. । 2. जघन्यस्थिति. मु. ।

§ 509. परस्मिन्देशे परतः। वीप्सायां द्वित्वम्। 'पूर्व'शब्दस्यापि। 'अधिक'ग्रहणमनुवर्तते। तेनैवमभिसबन्धः क्रियते—सौधर्मैशानयोर्द्वे सागरोपमे साधिके उक्ते, ते साधिके सानत्कुमार-माहेन्द्रयोर्जघन्या स्थितिः। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः परा स्थितिः सप्तसागरोपमाणि साधिकानि, [1]तानि साधिकानि ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्जघन्या स्थितिरित्यादि।

§ 510. नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरुक्ता। जघन्यां सूत्रेऽनुपात्तामप्रकृतामपि लघुनोपायेन प्रतिपादयितुमिच्छन्नाह—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥35॥

§ 511. 'च'शब्दः किमर्थं ? प्रकृतसमुच्चयार्थः। किं च प्रकृतम् ? 'परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा' अपरा स्थितिरिति। तेनायमर्थो लभ्यते—रत्नप्रभायां नारकाणां परा स्थितिरेकं सागरोपमम्। सा शर्कराप्रभायां जघन्या। शर्कराप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि। सा वालुकाप्रभायां जघन्येत्यादि।

§ 512. एवं द्वितीयादिषु जघन्या स्थितिरुक्ता। प्रथमायां का जघन्येति तत्प्रदर्शनार्थमाह-

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥36॥

§ 513. अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते[2]। रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्राणि अपरा स्थितिर्वेदितव्या।

---

§ 509 यहाँ 'परत.' पदका अर्थ 'पर स्थानमे' लिया गया है। तथा द्वित्व वीप्सा रूप अर्थमे आया है। इसी प्रकार 'पूर्व' शब्द को भी वीप्सा अर्थमे द्वित्व किया है। अधिक पदकी यहाँ अनुवृत्ति होती है। इसलिए इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि सौधर्म और ऐशान कल्पमे जो साधिक दो सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है उसमे एक समय मिला देने पर वह सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पमे जघन्य स्थिति होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्रमे जो साधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है उसमे एक समय मिला देने पर वह ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर मे जघन्य स्थिति होती है इत्यादि।

§ 510 नारकियोकी उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं पर सूत्र-द्वारा अभी जघन्य स्थिति नही कही है। यद्यपि उसका प्रकरण नही है तो भी यहाँ उसका थोड़ेमे कथन हो सकता है इस इच्छासे आचार्यने आगेका सूत्र कहा है—

दूसरी आदि भूमियोंमें नारकोकी पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर-अनन्तरकी जघन्य स्थिति है ॥35॥

§ 511. शका—सूत्रमे 'च' शब्द किसलिए दिया है ? **समाधान**—प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए 'च' शब्द दिया है। शंका—क्या प्रकृत है ? **समाधान**—'परत· परत· पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा अपरा स्थिति.' यह प्रकृत है अत 'च' शब्द से इसका समुच्चय हो जाता है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि रत्नप्रभामे नारकियोकी उत्कृष्ट स्थिति जो एक सागरोपम है वह शर्कराप्रभामे जघन्य स्थिति है। शर्कराप्रभामे उत्कृष्ट स्थिति जो तीन सागरोपम है वह वालुका प्रभामें जघन्य स्थिति है इत्यादि।

§ 512 इस प्रकार द्वितीयादि नरकोमे जघन्य स्थिति कही। प्रथम नरकमें जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रथम भूमिमें दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥36॥

§ 513. इस सूत्रमे 'अपरा स्थिति' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि रत्नप्रभा पृथिवीमे दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है।

---

1. तानि ब्रह्म-मु. ता.। 2 -र्तते। अथ भवन- आ., दि. 1, दि 2।

§ 514. अथ भवनवासिनां का जघन्या स्थितिरित्यत आह—

भवनेषु च ॥37॥

§ 515. 'च' शब्द किमर्थः ? प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेन भवनवासिनामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीत्यभिसंबध्यते ।

§ 516. व्यन्तराणां तर्हि का जघन्या स्थितिरित्यत आह—

व्यन्तराणां च ॥38॥

§ 517. 'च'शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेन व्यन्तराणामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीत्यवगम्यते ।

§ 518. अथैषां परा स्थितिः का इत्यत्रोच्यते—

परा पल्योपममधिकम् ॥39॥

§ 519. परा उत्कृष्टा स्थितिर्व्यन्तराणां पल्योपममधिकम् ।

§ 520. इदानीं ज्योतिष्काणां परा स्थितिर्वक्तव्येत्यत आह—

ज्योतिष्काणां च ॥40॥

§ 521. 'च'शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेनैवमभिसंबन्धः । ज्योतिष्काणां परा स्थितिः पल्योपममधिकमिति ।

§ 522. अथापरा कियतीत्यत आह—

---

§ 514 अब भवनवासियोंकी जघन्य स्थिति कितनी है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भवनवासियो में भी दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥37॥

§ 515 शंका—सूत्रमे 'च' शब्द किसलिए दिया है ? समाधान—प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए। इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि भवनवासियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है ।

§ 516 तो व्यन्तरोकी जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्यन्तरों की दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥38॥

§ 517 सूत्रमे 'च' शब्द प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए दिया है। इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि व्यन्तरोकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है ।

§ 218 अब व्यन्तरो की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

और उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्योपम है ॥39॥

§ 519. पर शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है। तात्पर्य यह है कि व्यन्तरो की उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्योपम है ।

§ 520. अब ज्योतिषियो की स्थिति कहनी चाहिए, अत आगे का सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्योपम है ॥40॥

§ 521. सूत्रमे 'च' शब्द प्रकृतका समुच्चय करनेके लिए दिया है। इससे यह अर्थ घटित होता है कि ज्योतिषियोकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्योपम है ।

§ 522 ज्योतिषियोकी जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तदष्टभागोऽपरा ॥41॥

§ 523. तस्य पल्योपमस्याष्टभागो ज्योतिष्काणामपरा स्थितिरित्यर्थः ।

§ 524. अथ लौकान्तिकानां विशेषोक्तानां स्थितिविशेषो नोक्तः। स कियानित्यत्रोच्यते—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥42॥

§ 525. अविशिष्टाः सर्वे ते शुक्ललेश्याः पञ्चहस्तोत्सेधशरीराः[1] ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसञ्ज्ञिकायां चतुर्थोऽध्याय ॥4॥

ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति उत्कृष्ट स्थितिका आठवाँ भाग है ॥41॥

§ 523 इस सूत्रका यह भाव है कि उसका अर्थात् पल्योपमका आठवाँ भाग ज्योतिषियोकी जघन्य स्थिति है ।

§ 554 विशेषरूपमे कहे गये लौकान्तिक देवोकी स्थिति नही कही है । वह कितनी है अव यह वतलाते है—

सव लौकान्तिकोकी स्थिति आठ सागरोपम है ॥42॥

§ 525 इन सव लौकान्तिकोकी शुक्ल लेश्या होती है । और शरीरकी ऊँचाई पांच हाथ होती है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमे चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥4॥

---

1. शरीरा । चतुर्णिकायदेवाना स्थान भेद सुखादिकम् । परापरा स्थितिर्लेश्या तुर्याध्याये निरूपितम् ॥ इति तत्त्वा- मु, दि. 1, मि. 2, आ. ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

§ 526 इदानीं सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपक्षिप्तेषु जीवादिषु जीवपदार्थो व्याख्यातः। अथाजीवपदार्थो विचारप्राप्तस्य संज्ञाभेदसंकीर्तनार्थमिदमुच्यते—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥1॥

§ 527. 'काय'शब्दः शरीरे व्युत्पादितः। इहोपचाराद‍ध्यारोप्यते। कुत उपचारः? यथा शरीरं पुद्गलद्रव्यप्रचयात्मकं तथा धर्मादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया काया इव काया इति। अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः "विशेषण विशेष्येणेति[1]" वृत्तिः। ननु च नीलोत्पलादिषु व्यभिचारे सति विशेषणविशेष्ययोगः। इहापि व्यभिचारयोगोऽस्ति। अजीवशब्दोऽकाये कालेऽपि वर्तते, कायोऽपि जीवे। किमर्थः कायशब्दः? प्रदेशबहुत्वज्ञापनार्थः। धर्मादीनां प्रदेशा बहव इति। ननु च 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' इत्यनेनैव प्रदेशबहुत्वं ज्ञापितम्। [2]सत्यमिदम्। परं किन्त्वस्मिन्विधौ सति तदवधारणं विज्ञायते, असंख्येयाः प्रदेशा न संख्येया नाप्यनन्ता इति। [3]कालस्य प्रदेशप्रचयाभावज्ञापनार्थं च इह 'काय'ग्रहणम्। कालो वक्ष्यते। तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह

---

§ 526. सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे जो जीवादि पदार्थ कहे हैं उनमे-से जीव पदार्थका व्याख्यान किया। अब अजीव पदार्थका व्याख्यान विचार प्राप्त है अत उसकी सज्ञा और भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीवकाय हैं ॥1॥

§ 527. व्युत्पत्तिसे काय शब्दका अर्थ शरीर है तो भी इन द्रव्योमे उपचारसे उसका आरोप किया है। **शंका**—उपचारका क्या कारण है? **समाधान**—जिस प्रकार शरीर पुद्गल द्रव्यके प्रचयरूप होता है उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य भी प्रदेशप्रचयकी अपेक्षा कायके समान होने से काय कहे गये हैं। अजीव और काय इनमे कर्मधारय समास है जो 'विशेषण विशेष्येण' इस सूत्रसे हुआ है। **शंका**—नीलोत्पल इत्यादिमे नील और उत्पल इन दोनो का व्यभिचार देखा जाता है अत. वहाँ विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध किया गया है, किन्तु अजीवकायमे विशेषणविशेष्य सम्बन्ध करनेका क्या कारण है? **समाधान**—अजीवकायका यहाँ भी व्यभिचार देखा जाता है क्योकि अजीव शब्द कालमें भी रहता है जो कि काय नही है और काय शब्द जीवमें रहता है, अत. इस दोषके निवारण करनेके लिए यहाँ विशेषणविशेष्य सम्बन्ध किया है। **शंका**—काय शब्द किसलिए दिया है? **समाधान**—प्रदेश बहुत्वका ज्ञान करानेके लिए। धर्मादिक द्रव्योके बहुत प्रदेश हैं यह इससे जाना जाता है। **शंका**—आगे यह सूत्र आया है कि 'धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं' इसीसे इनके बहुत प्रदेशोका ज्ञान हो जाता है फिर यहाँ कायशब्दके देनेकी क्या आवश्यकता? **समाधान**—यह ठीक है। तो भी इस कथनके होनेपर उस सूत्रसे प्रदेशोके विषयमें यह निश्चय किया जाता है कि इन धर्मादिक द्रव्योके प्रदेश असख्यात है, न संख्यात हैं और न अनन्त। दूसरे काल द्रव्यमें प्रदेशोका प्रचय नही है यह ज्ञान कराने के लिए इस सूत्रमें 'काय' पदका ग्रहण किया है। कालका आगे व्याख्यान करेगे। उसके प्रदेशोका निषेध करनेके लिए

---

1. जैनेन्द्र. 1।3।48। 2. सत्यं अस्मिन् ता, ना.। 3 कालप्रदेश- आ, दि 1, दि 2।

'काय'ग्रहणम्। यथाऽणोः प्रदेशमात्रत्वाद् द्वितीयादयोऽस्य[1] प्रदेशा न सन्तीत्यप्रदेशोऽणुः, तथा कालपरमाणुरप्येकप्रदेशत्वादप्रदेश इति। तेषां धर्मादीनाम् 'अजीव' इति सामान्यसंज्ञा जीवलक्षणाभावमुखेन प्रवृत्ता। 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः'[2] इति विशेषसंज्ञाः सामयिक्यः।

§ 528. अत्राह, 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इत्येवमादिषु द्रव्याण्युक्तानि, कानि तानीत्युच्यते—

द्रव्याणि ॥2॥

§ 529. यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि। द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यमिति चेत्? न; उभयासिद्धेः। यथा दण्डदण्डिनोर्योगो भवति पृथक्सिद्धयोः, न च तथा द्रव्यद्रव्यत्वे पृथक्सिद्धे स्तः। यद्यपृथक्सिद्धयोरपि योगः स्यादाकाशकुसुमस्य प्रकृत[3]पुरुषस्य द्वितीयशिरसश्च योगः स्यादिति। अथ पृथक्सिद्धिरभ्युपगम्यते, द्रव्यत्वकल्पना निरर्थिका। गुणसमुदायो[4] द्रव्यमिति चेत्? तत्रापि गुणानां समुदायस्य च भेदाभावे तद्[5] व्यपदेशो नोपपद्यते। भेदाभ्युपगमे च पूर्वोक्त एव दोष। ननु गुणान्द्रवन्ति[6] गुणैर्वा द्रूयन्त[7] इति विग्रहेऽपि स एव दोष इति चेत्? न; कथंचिद्-

---

यहाँ 'काय' शब्दका ग्रहण किया है। जिस प्रकार अणु एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसके द्वितीय आदि प्रदेश नही होते इसलिए अणुको अप्रदेशी कहते है उसी प्रकार काल परमाणु भी एकप्रदेशरूप होनेके कारण अप्रदेशी है। धर्मादिक द्रव्योमे जीवका लक्षण नही पाया जाता, इसलिए उनकी अजीव यह सामान्य सज्ञा है। तथा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये उनकी विशेष सज्ञाएँ है जो कि यौगिक है।

§ 528 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इत्यादि सूत्रोमे द्रव्य कह आये है। वे कौन हैं यह वतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

ये धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल द्रव्य हैं ॥2॥

§ 529. द्रव्य शब्दमे 'द्रु' धातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है। इससे द्रव्य शब्दका व्युत्पत्तिरूप अर्थ इस प्रकार हुआ कि जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायोके द्वारा प्राप्त होते है या पर्यायोको प्राप्त होते है वे द्रव्य कहलाते है। **शंका**—द्रव्यत्व नामकी एक जाति है उसके सम्बन्धसे द्रव्य कहना ठीक है। **समाधान**—नही, क्योकि इस तरह दोनो की सिद्धि नही होती। जिस प्रकार दण्ड और दण्डी ये दोनो पृथक् सिद्ध है अत. उनका सम्बन्ध वन जाता है उस प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व ये अलग-अलग सिद्ध नही है। यदि अलग-अलग सिद्ध न होनेपर भी इनका सम्बन्ध माना जाता है तो आकाश-कुसुम का और प्रकृत पुरुषके दूसरे सिरका भी सम्बन्ध मानना पडेगा। यदि इनकी पृथक् सिद्धि स्वीकार करते हो तो द्रव्यत्वका अलगसे मानना निष्फल है। गुणोके समुदायको द्रव्य कहते हैं यदि ऐसा मानते हो तो यहाँ भी गुणोका और समुदायका भेद नही रहनेपर पूर्वोक्त सज्ञा नही वन सकती है। यदि भेद माना जाता है तो द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है इसमें जो दोष दे आये हैं वही दोष यहाँ भी प्राप्त होता है। **शंका**—जो गुणोंको प्राप्त हो या गुणोके द्वारा प्राप्त हो उन्हे द्रव्य कहते हैं, द्रव्यका इस प्रकार विग्रह करनेपर भी वही दोष प्राप्त होता है? **समाधान**—नहीं, क्योकि कथचित् भेद और कथचित् अभेदके वन जानेमे द्रव्य इस सज्ञाकी सिद्धि हो जाती है। गुण और द्रव्य ये एक दूसरेको छोडकर नही पाये

---

1. योऽस्य न मु। 2. धर्मोऽधर्म आकाश पुद्गला इति आ., दि 1, दि. 2। 3. प्रकृतपुरुषद्वितीय- आ, दि 1, दि 2, ता.। प्रकृतिपुरुषस्य द्वितीय- मु.। 4. गुणसद्रावो द्रव्य-- आ, दि 1 दि. 2, ता, ना.। 5. तद्द्रव्यव्यप- मु। 6 द्रवति आ, दि. 1, दि. 2। 7. द्रूयते आ., दि. 1, दि. 2।

भेदाभेदोपपत्तेस्तद्व्यपदेशसिद्धिः । व्यतिरेकेणानुपलब्धेरभेदः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदाद् भेद इति । प्रकृता धर्मादयो बहवस्तत्सामानाधिकरण्याद् बहुत्वनिर्देशः । स्यादेतत्संख्यानुवृत्तिवत्पुंलिङ्गानुवृत्तिरपि प्राप्नोति ? नैष दोषः; आविष्टलिङ्गा शब्दा न कदाचिल्लिङ्गं व्यभिचरन्ति[1] । अतो धर्मादयो द्रव्याणि भवन्तीति ।

§ 530. अनन्तरत्वाच्चतुर्णामेव द्रव्यव्यपदेशप्रसंगेऽध्यारोपणार्थमिदमुच्यते—

जीवाश्च ॥3॥

§ 531. 'जीव'शब्दो व्याख्यातार्थः । बहुत्वनिर्देशो व्याख्यातभेदप्रतिपत्त्यर्थः । 'च'[2]शब्दः द्रव्यसंज्ञानुकर्षणार्थः जीवाश्च द्रव्याणीति । एवमेतानि वक्ष्यमाणेन कालेन सह षड् द्रव्याणि भवन्ति । ननु द्रव्यस्य लक्षणं वक्ष्यते 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति । तल्लक्षणयोगाद्धर्मादीनां द्रव्य[3]-व्यपदेशो भवति, नार्थः परिगणनेन ? परिगणनमवधारणार्थम् । तेनान्यवादिपरिकल्पितानां पृथिव्या[4]दीनां निवृत्तिः कृता भवति । कथम् ? पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवन्ति; रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्[5] । वायुमनसो रूपादियोगाभाव इति चेत् ? न; वायुस्तावद्रूपादिमान्; स्पर्शवत्त्वाद्घटादिवत् । चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावाद्रूपाद्यभाव इति[1] चेत् ? न; परमाण्वादि-

---

जाते, इसलिए तो इनमे अभेद है । तथा सज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद होनेसे इनमे भेद है । प्रकृत धर्मादिक द्रव्य बहुत है, इसलिए उनके साथ समानाधिकरण करनेके अभिप्रायसे 'द्रव्याणि' इस प्रकार वहुवचनरूप निर्देश किया है । शका—जिस प्रकार यहाँ सख्याकी अनुवृत्ति प्राप्त हुई है उसी प्रकार पुल्लिगकी भी अनुवृत्ति प्राप्त होती है ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि जिस शब्दका जो लिग है वह कभी भी अपने लिगका त्याग करके अन्य लिगके द्वारा व्यवहृत नहीं होता, इसलिए 'धर्मादया द्रव्याणि भवन्ति' ऐसा सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए ।

§ 530 अव्यवहित होनेके कारण धर्मादिक चारको ही द्रव्य सज्ञा प्राप्त हुई, अत. अन्यका अध्यारोप करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जीव भी द्रव्य हैं ॥3॥

§ 531. जीव शब्दका व्याख्यान कर आये । सूत्रमे जो बहुवचन दिया है वह जीव द्रव्यके कहे गये भेदोके दिखलानेके लिए दिया है । 'च' शब्द द्रव्य सज्ञाके खीचनेके लिए दिया है जिससे 'जीव भी द्रव्य हैं' यह अर्थ फलित हो जाता है । इस प्रकार ये पाँच आगे कहे जानेवाले कालके साथ छह द्रव्य होते है । शका—आगे 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र-द्वारा द्रव्यका लक्षण कहेगे, अत लक्षणके सम्बन्धसे धर्मादिकको 'द्रव्य' सज्ञा प्राप्त हो जाती है फिर यहाँ उनकी अलगसे गिनती करनेका कोई कारण नही ? समाधान—गिनती निश्चय करनेके लिए की है । इससे अन्यवादियोके द्वारा माने गये पृथिवी आदि द्रव्योका निराकरण हो जाता है । शंका—कैसे ? समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इनका पुद्गल द्रव्यमे अन्तर्भाव हो जाता है, क्योकि ये रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले होते हैं । शका—वायु और मनमे रूपादिक नही हैं ? समाधान—नही, क्योकि वायु रूपादिवाला है, स्पर्शवाला होनेसे, घटके समान । इस अनुमानके द्वारा वायुमे रूपादिकको सिद्धि होती है । शंका—चक्षु आदि इन्द्रियोके द्वारा वायुका ग्रहण नही होता, इसलिए उसमे रूपादिकका अभाव है ? समाधान—नही, क्योकि इस प्रकार

---

1 —चरन्ति, अनन्तरत्वात् ता , ना । 2. च शब्द सज्ञा— मु । 3 द्रव्यत्वव्यप—मु. । 4. 'पृथिव्याप स्तेजोवायुराकाश कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।'—वै. सू. 1-1,5 । 5 — त्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत् । वायु— मु., ता., ना. ।

ष्वतिप्रसङ्गः स्यात् । आपो गन्धवत्य ; स्पर्शवत्त्वात्पृथिवीवत् । तेजोऽपि रसगन्धवद्; रूपवत्त्वात् तद्वदेव । मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र भावमनो ज्ञानम्; तस्य जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भावः । द्रव्यमनश्च रूपादियोगात्पुद्गलद्रव्यविकारः । रूपादिवन्मनः, ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत् । ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोग[2]करणत्वदर्शनाद् व्यभिचारी हेतुरिति चेत् ? न; तस्य पौद्गलिकत्वान्मूर्तिमत्त्वोपपत्ते । ननु यथा परमाणूनां रूपादिमत्कार्य[3]दर्शनाद्रूपादिमत्त्वं न तथा वायुमनसो रूपादिमत्कार्यं दृश्यते[4] इति चेत् ? न; तेषामपि [5]तदुपपत्तेः । सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्यत्वाभ्युपगमात् । न च केचित्पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणव सन्ति; जातिसंकरेणारम्भदर्शनात् । दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः, आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः ।

माननेपर परमाणु आदिमे अतिप्रसग दोष आता है । अर्थात् परमाणु आदिको भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ नही ग्रहण करती, इसलिए उनमे भी रूपादिकका अभाव मानना पडेगा । इसी प्रकार जल गन्धवाला है, स्पर्शवाला होनेसे, पृथिवीके समान । अग्नि भी रस और गन्धवाली है, रूपवाली होनेसे, पृथिवीके समान । मन भी दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन । उनमे-से भावमन ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान जीवका गुण है, इसलिए इसका आत्मामे अन्तर्भाव होता है । तथा द्रव्यमनमे रूपादिक पाये जाते है, अत वह पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है । यथा—मन रूपादिवाला है, ज्ञानोपयोगका करण होनेसे, चक्षु इन्द्रियके समान । **शंका**—शब्द अमूर्त होते हुए भी उसमे ज्ञानोपयोगकी करणता देखी जाती है, अत मनको रूपादिवाला सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है ? **समाधान**—नही, क्योकि शब्द पौद्गलिक है, अत उसमे मूर्तपना बन जाता है । **शका**—जिस प्रकार परमाणुओके रूपादि गुणवाले कार्य देखे जाते है अत वे रूपादिवाले सिद्ध होते है उस प्रकार वायु और मनके रूपादि गुणवाले कार्य नही दिखाई देते ? **समाधान**—नही, क्योकि वायु और मनके भी रूपादि गुणवाले कार्य सिद्ध हो जाते है, क्योकि सव परमाणुओमे सव रूपादि गुणवाले कार्योके होनेकी योग्यता मानी है । कोई पार्थिव आदि भिन्न-भिन्न जातिके अलग-अलग परमाणु है, यह वात नही है, क्योकि जातिका सकर होकर सव कार्योका आरम्भ देखा जाता है । इसी प्रकार दिशाका भी आकाशमे अन्तर्भाव होता हे, क्योकि सूर्यके उदयादिककी अपेक्षा आकाश प्रदेशपक्तियोमे यहाँसे यह दिशा है इस प्रकारके व्यवहारकी उत्पत्ति होती है ।

विशेषार्थ—जातिकी अपेक्षा ये जीव पुद्गलादि जितने पदार्थ है वे सव द्रव्य कहलाते है । द्रव्य इस शब्दमे दो अर्थ छिपे हुए है—द्रवणशीलता और ध्रुवता । जगत्का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है, इसलिए उसे द्रव्य कहते है । आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुणो और पर्यायोका कभी भी उल्लघन नही करता । उसके प्रवाहित होनेकी नियत धारा है जिसके आश्रयमे वह प्रवाहित होता रहता है । द्रव्य इस शब्दका उपयोग हमे जैन दर्शनके सिवा वैशेषिक दर्शनमें विशेष रूपसे व्यवहृत दिखाई देता है । वैशेषिकदर्शनमें गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् और सामान्य-विशेषमें सर्वथा भेद माना गया है, इसलिए वह द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है, द्रव्य शब्दका ऐसा अर्थ करता है, किन्तु उसका यह अर्थ सगत प्रतीत नही होता, क्योकि द्रव्यत्व नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ अनुभवमे नही आता । इस दर्शनने द्रव्यके पृथ्वी, जल अग्नि, वायु,

---

1. इति चेत्पर— मु, आ. दि 1, दि. 2 । 2. —योगकारणत्व— मु । 3. —कार्यत्वदर्श— मु. । 4. दृश्यते न तेषा— आ, दि 1, दि. 2 । 5. तदुपपत्ते. मु. ।

§ 532. उक्तानां द्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥4॥

§ 533. नित्यं ध्रुवमित्यर्थः। '[1]नेर्ध्रुवे[2] त्य' इति निष्पादितत्वात्। धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादिविशेषलक्षणद्रव्यार्थादेशादस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न व्ययन्तीति नित्यानि। वक्ष्यते हि 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' इति। इयत्ताऽव्यभिचारादवस्थितानि। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते। ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते। न विद्यते रूपमेषामित्यरूपाणि, रूपप्रतिषेधे[3] तत्सहचारिणां रसादीनामपि प्रतिषेधः। तेन अरूपाण्यमूर्तानीत्यर्थः।

§ 534. यथा सर्वेषां द्रव्याणां 'नित्यावस्थितानि' इत्येतत्साधारणं लक्षणं[4] प्राप्तं तथा पुद्गलानामपि अरूपित्वं प्राप्तम्, अतस्तदपवादार्थमाह—

रूपिणः पुद्गलाः ॥5॥

मन, दिशा आदि अनेक भेद किये हैं, किन्तु विचार करनेपर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका अन्तर्भाव पुद्गलमे हो जाता है। पुद्गलका स्वरूप आगे बतलानेवाले है। वहाँ उसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाला वतलाया है। पृथ्वी जलादि जो पदार्थ पहले कह आये हैं, उन सबमे ये स्पर्शादिक उपलब्ध होते है यह निर्विवाद है। मनके दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन। उनमे से द्रव्यमनका अन्तर्भाव पुद्गलमे और भावमनका अन्तर्भाव जीवमे होता है। इसी प्रकार दिशा आकाशसे पृथक् भूत पदार्थ नही है क्योंकि सूर्यके उदयादिकी अपेक्षा आकाशमें ही दिशा का व्यवहार होता है। इस प्रकार विचार करनेपर जैन दर्शनमें जो जीवादि पदार्थ गिनाये गये हैं वे ही द्रव्य ठहरते है अन्य नही, ऐसा सिद्ध होता है।

§ 532 अब उक्त द्रव्योके विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं ॥4॥

§ 533. नित्य शब्दका अर्थ ध्रुव है। 'नेर्ध्रुवे त्य' इस वार्तिकके अनुसार 'नि' शब्दसे ध्रुव अर्थ मे 'त्य' प्रत्यय लगाकर नित्य शब्द बना है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा गतिहेतुत्व आदि रूप विशेष लक्षणोको ग्रहण करनेवाले और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अस्तित्व आदि रूप सामान्य लक्षणको ग्रहण करनेवाले ये छहो द्रव्य कभी भी विनाशको प्राप्त नही होते, इसलिए नित्य है। 'तदभावाव्यय नित्यम्' इस सूत्र द्वारा यही बात आगे कहनेवाले भी है। सख्याका कभी व्यभिचार नही होता, इसलिए ये अवस्थित हैं। धर्मादिक छहो द्रव्य कभी भी छह इस सख्याका उल्लघन नही करते, इसलिए ये अवस्थित कहे जाते हैं। इनमे रूप नही पाया जाता इसलिए अरूपी है। यहाँ केवल रूपका निषेध किया है, किन्तु रसादिक उसके सहचारी है अत उनका भी निषेध हो जाता है। इससे अरूपीका अर्थ अमूर्त होता है।

§ 534 जिस प्रकार सब द्रव्योका नित्य और अवस्थित यह साधारण लक्षण प्राप्त होता है उसी प्रकार पुद्गलोमे अरूपीपना भी प्राप्त होता है, अत. इसका अपवाद करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गल रूपी हैं ॥5॥

---

1. नि ध्रुवे नित्य इति आ, दि 1, दि. 2। नेर्ध्रुवेऽर्थे त्यः ता.। 2. 'त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्'– पा 4, 2, 104 वार्तिकम्। नेर्ध्रुवे'– जैनेन्द्र 3, 2, 82 वार्तिकम्। 3. –षेधेन तत्सह–मु.। 4. लक्षणं तथा अरूपित्व पुद्गलानामपि प्राप्तम् मु.।

§ 535. रूपं मूर्तिरित्यर्थः । का मूर्तिः ? रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः । रूपमेषामस्तीति रूपिणः । मूर्तिमन्त इत्यर्थः । अथवा रूपमिति गुणविशेषवचन[1]शब्दः । तदेषामस्तीति रूपिणः । रसाद्यग्रहणमिति चेत् ? न; तदविनाभावात्तदन्तर्भावः । 'पुद्गलाः' इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थम् । भिन्ना हि पुद्गलाः ; स्कन्धपरमाणुभेदात् । तद्विकल्प उपरिष्टाद्वक्ष्यते । यदि प्रधानवदरूपित्वमेकत्वं चेष्टं स्यात्, विश्वरूपकार्यदर्शनविरोधः स्यात् ।

§ 536. आह, किं पुद्गलवद्धर्मादीन्यपि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नानीत्यत्रोच्यते—

आ[2] आकाशादेकद्रव्याणि ॥6॥

§ 537. 'आङ्' अयमभिविध्यर्थः । सौत्रीमानुपूर्वी[3]मासृत्यैतदुक्तम् । तेन धर्माऽधर्माकाशानि गृह्यन्ते । 'एक' शब्दः संख्यावचनः । तेन द्रव्यं विशिष्यते, एकं द्रव्यं एकद्रव्यमिति । यद्येवं बहुवचनमयुक्तम् ? धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धिर्भवति । [4]ननु एकस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्तियोगादेकैकमित्यस्तु, लघुत्वात् । 'द्रव्य' ग्रहणमनर्थकम् ? (सत्यम्;[5]) तथापि द्रव्यापेक्षया एकत्वख्यापनार्थं

§ 535 रूप और मूर्ति इनका एक अर्थ है। शंका—मूर्ति किसे कहते हैं ? समाधान—रूपादिसंस्थानके परिणामको मूर्ति कहते हैं। जिनके रूप पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। इसका अर्थ मूर्तिमान् है। अथवा, रूप यह गुणविशेषका वाची शब्द है। वह जिनके पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। शंका—यहाँ रसादिकका ग्रहण नहीं किया है ? समाधान—नहीं, क्योंकि रसादिक रूपके अविनाभावी हैं, इसलिए उनका अन्तर्भाव हो जाता है।

पुद्गलोंके भेदोंका कथन करनेके लिए सूत्रमें 'पुद्गलाः' यह बहुवचन दिया है। स्कन्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गल अनेक प्रकारके हैं। पुद्गलके ये सब भेद आगे कहेंगे। यदि पुद्गलको प्रधानके समान एक और अरूपी माना जाय तो जो विश्वरूप कार्य दिखाई देता है उसके होनेमें विरोध आता है।

§ 536. पुद्गल द्रव्यके समान क्या धर्मादिक प्रत्येक द्रव्य भी अनेक हैं ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आकाश तक एक-एक द्रव्य हैं ॥6॥

§ 537. इस सूत्रमें 'आङ्' अभिविधि अर्थमें आया है। सूत्र सम्बन्धी आनुपूर्वीका अनुसरण करके यह कहा है। इससे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनका ग्रहण होता है। एक शब्द संख्यावाची है और वह द्रव्यका विशेषण है। तात्पर्य यह है कि धर्म, अधर्म और आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं। शंका—यदि ऐसा है तो सूत्र में 'एकद्रव्याणि' इस प्रकार बहुवचनका प्रकार करना अयुक्त है ? समाधान—धर्मादिक द्रव्योंकी अपेक्षा बहुवचन बन जाता है। शंका—एकमें अनेकके ज्ञान करानेकी शक्ति होती है, इसलिए 'एकद्रव्याणि' के स्थानमें 'एकैकम्' इतना ही रहा आवे। इससे सूत्र छोटा हो जाता है। तथा 'द्रव्य' पदका ग्रहण करना भी निष्फल है ? समाधान—ये धर्मादिक द्रव्यकी अपेक्षा एक हैं इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'द्रव्य' पदका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि यदि सूत्रमें 'एकैकम्' इतना ही कहा जाता तो यह नहीं मालूम पड़ता कि ये धर्मादिक द्रव्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनमें-से किसकी अपेक्षा एक हैं, अतः सन्देहके निवारण करनेके लिए 'एकद्रव्याणि' पद रखा है। इनमें-से धर्म और अधर्म द्रव्यके क्षेत्रकी अपेक्षा असंख्यात विकल्प इष्ट होनेसे और भावकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे तथा

1. शब्दः । तेषा- आ, दि. 1, दि. 2 । 2. -'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरयोरङित् ।' 3. -पूर्वीमनुसृत्यै- मु. । 4. -त्यति । एक- आ, दि. 1, दि. 2 । 5. -र्थक । तत्क्रियते द्रव्या- ता. ना. । -र्थक । तज्ज्ञायते द्रव्या- आ. दि. 1, दि. 2 ।

द्रव्यग्रहणम् । क्षेत्रभावा[1]द्यपेक्षया असंख्येयत्वानन्तत्वविकल्पस्येष्टत्वान्न जीवपुद्गलवदेषां बहुत्व-मित्येतदनेन ख्याप्यते ।

§ 538. अधिकृतानामेव एकद्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

निष्क्रियाणि च ॥7॥

§ 539. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया । तस्या निष्क्रान्तानि निष्क्रियाणि । अत्र चोद्यते—धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत् । क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः । उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति । अतः सर्व-द्रव्याणामुत्पादादित्रि[2]तयकल्पनाव्याघात इति ? तन्न, किं कारणम् ? अन्यथोपपत्तेः । क्रियानिमि-त्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते । तद्यथा—द्विविध उत्पादः—स्वनिमित्तः पर-प्रत्ययश्च । स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागम[3]प्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थान-पतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च । परप्रत्ययोऽपि अश्वादि-गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते । ननु यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि, जीवपुद्गलानां गत्यादिहेतुत्वं नोपपद्यते । जलादीनि हि क्रियावन्ति मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानीति ? नैष दोषः, बलाधाननि-

---

आकाशके क्षेत्र और भाव दोनोकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे ये जीव और पुद्गलोंके समान बहुत नही है इस प्रकार यह बात इस सूत्रमें दिखायी गयी है।

§ 538 अब अधिकार प्राप्त उन्ही एक-एक द्रव्योंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

तथा निष्क्रिय हैं ॥7॥

§ 539 अन्तरग और बहिरग निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय द्रव्यके एक क्षेत्रमे दूसरे क्षेत्रमे प्राप्त करानेका कारण है वह क्रिया कहलाती है और जो इस प्रकारकी क्रियासे रहित है वे निष्क्रिय कहलाते है। शंका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय है तो उनका उत्पाद नही बन सकता, क्योकि घटादिकका क्रियापूर्वक ही उत्पाद देखा जाता है। और उत्पाद नही बननेमे उनका व्यय नही बनता। अत सब द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते है इस कल्पनाका व्याघात हो जाता है ? समाधान—नही, क्योकि इनमे उत्पाद आदिक तीन अन्य प्रकारसे बन जाते है। यद्यपि इन धर्मादिक द्रव्योमें क्रियानिमित्तक उत्पाद नही है तो भी इनमें अन्य प्रकारसे उत्पाद माना गया है। यथा—उत्पाद दो प्रकारका है, स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। स्वनिमित्तक यथा—प्रत्येक द्रव्यमे आगम प्रमाणसे अनन्त अगुरुलघु गुण (अविभागप्रतिच्छेद) स्वीकार किये गये है जिनका छह स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा वर्तन होता रहता है, अत इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे होता है। इसी प्रकार परप्रत्यय का भी उत्पाद और व्यय होता हैं। यथा—ये धर्मादिक द्रव्य क्रमसे अश्व आदिकी गति, स्थिति और अवगाहनमे कारण हैं। चूँकि इन गति आदिक मे क्षण-क्षणमे अन्तर पडता है इसीलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए, इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्योंमे परप्रत्ययकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है। शंका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो ये जीव और पुद्गलोकी गति आदिकके कारण नही हो सकते, क्योकि जलादिक क्रिया-वान् होकर ही मछली आदिकी गति आदिमे निमित्त देखे जाते है, अन्यथा नही ? समाधान—

---

1 -भावापेक्षया आ, ता, ना, दि 1, दि 2। 2 -दादित्रयत्रल्प- मु । 3 -गमप्रमाणादभ्यु- आ, दि. 1, दि 2।

मित्तत्वाच्चक्षुर्वत् । यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्त[1]मिति न व्याक्षिप्तमनस्कस्यापि भवति । अधिकृतानां धर्माधर्माकाशानां निष्क्रियत्वेऽभ्युपगते जीवपुद्गलानां सक्रियत्वमर्थादापन्नम् । कालस्यापि सक्रियत्वमिति चेत् ? न; अनधिकारात् । अत एवासावेतैः सह नाधिक्रियते ।

§ 540. अजीवकाया इत्यत्र कायग्रहणेन प्रदेशास्तित्वमात्रं निर्ज्ञातं न त्वियत्तावधारिता प्रदेशानामतस्तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥8॥

§ 541. संख्यामतीता असंख्येयाः । असंख्येयास्त्रिविधः—जघन्य उत्कृष्टोऽजघन्योत्कृष्टश्चेति । तत्रेहाजघन्योत्कृष्टासंख्येयः परिगृह्यते । प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः । वक्ष्यमाणलक्षणः परमाणुः स यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते । धर्माधर्मैकजीवास्तुल्यासंख्येयप्रदेशाः । तत्र धर्माधर्मौ निष्क्रियौ लोकाकाशं व्याप्य स्थितौ । जीवस्तावत्प्रदेशोऽपि सन् संहरणविसर्पणस्वभावत्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणु महद्वाऽधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते । यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलमध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशा व्यवतिष्ठन्ते । इतरे प्रदेशा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्नं लोकाकाशं व्यश्नुवते ।

यह कोई दोष नही है, क्योकि चक्षु इन्द्रियके समान ये बलाधानमे निमित्तमात्र है । जैसे चक्षु इन्द्रिय रूपके ग्रहण करनेमे निमित्तमात्र है, इसलिए जिसका मन व्याक्षिप्त है उसके चक्षु इन्द्रियके रहते हुए भी रूपका ग्रहण नही होता । उसी प्रकार प्रकृतमें समझ लेना चाहिए । इस प्रकार अधिकार प्राप्त धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यको निष्क्रिय मान लेने पर जीव और पुद्गल सक्रिय है यह प्रकरणसे अपने-आप प्राप्त हो जाता है । **शंका**—काल द्रव्य भी सक्रिय होगा ? **समाधान**—नही, क्योकि उसका यहाँ अधिकार नही है । इसलिए इन द्रव्यो के साथ उसका अधिकार नही किया है ।

§ 540. 'अजीवकाया ' इत्यादि सूत्रमे 'काय' पदके ग्रहण करनेसे प्रदेशोंका अस्तित्व मात्र जाना जाता है, प्रदेशोकी सख्या नही मालूम होती, अत उसका निर्धारण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं ॥8॥

§ 541 जो संख्यासे परे है वे असख्यात कहलाते है । असख्यात तीन प्रकारका है—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट । उनमे-से यहाँ अजघन्योत्कृष्ट असख्यातका ग्रहण किया है । 'प्रदिश्यन्ते इति प्रदेश ' यह प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति है । तात्पर्य यह है कि जिससे विवक्षित परिमाणका सकेत मिलता है, उसे प्रदेश कहते हैं । परमाणुका लक्षण आगे कहेंगे । वह जितने क्षेत्रमे रहता है वह प्रदेश है ऐसा व्यवहार किया जाता है । धर्म, अधर्म और एक जीवके प्रदेशोंकी सख्या समान है । इनमे-से धर्म और अधर्मद्रव्य निष्क्रिय हैं और लोकाकाशभरमे फैले हुए है । यद्यपि जीवके प्रदेश धर्म और अधर्म द्रव्यके बराबर ही है तो भी वह सकोच और विस्तारस्वभाववाला है, इसलिए कर्मके निमित्तसे छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है उतनी अवगाहनाका होकर रहता है । और केवलिसमुद्घातके समय जब यह लोकको व्यापता है उस समय जीवके मध्यके आठ प्रदेश मेरु पर्वतके नीचे चित्रा पृथिवीके वज्रमय पटलके मध्यमे स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर, नीचे और तिरछे समस्त लोकको व्याप लेते हैं ।

---

1. -निमित्तमपि न मु, ता, ना ।

§ 542. अथाकाशस्य कति प्रदेशा इत्यत आह—

आकाशस्यानन्ताः[1] ॥9॥

§ 543. अविद्यमानोऽन्तो येषां ते अनन्ताः। के ? प्रदेशाः। कस्य ? आकाशस्य। पूर्ववदस्यापि प्रदेशकल्पनाऽवसेया।

§ 544. उक्तममूर्तानां प्रदेशपरिमाणम्। इदानीं मूर्तानां पुद्गलानां प्रदेशपरिमाणं निर्ज्ञातव्यमित्यत आह—

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥10॥

§ 545. 'च'[2]शब्दादनन्ताश्चेत्यनुकृष्यते। कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः संख्येयाः प्रदेशाः कस्यचिदसंख्येया अनन्ताश्च। अनन्तानन्तोपसंख्यानमिति चेत्। न; अनन्तसामान्यात्। अनन्तप्रमाण त्रिविधमुक्तं परीतानन्तं युक्तानन्तमनन्तानन्तं चेति। तत्सर्वमनन्तसामान्येन गृह्यते। स्यादेतदसंख्यातप्रदेशो लोक अनन्तप्रदेशस्यानन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधस्ततो नानन्त्यमिति ? नैष दोषः; सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात्। परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते, अवगाहनशक्तिश्चैषामव्याहतास्ति। तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्तानन्तानामवस्थानं न विरुध्यते।

---

§ 542 अब आकाश द्रव्यके कितने प्रदेश है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आकाशके अनन्त प्रदेश हैं ॥9॥

§ 543 जिनका अन्त नही है वे अनन्त कहलाते है ? **शंका**—अनन्त क्या हैं ? **समाधान**—प्रदेश। **शंका**—किसके ? **समाधान**—आकाशके। पहलेके समान इसके भी प्रदेशकी कल्पना जान लेनी चाहिए। अर्थात् जितने क्षेत्रमे एक परमाणु रहता है उसे प्रदेश कहते हैं। प्रदेशका यह अर्थ यहाँ जानना चाहिए।

§ 544 अमूर्त द्रव्योके प्रदेश कहे। अब मूर्त पुद्गलोके प्रदेशोकी सख्या ज्ञातव्य है, अत उसका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

पुद्गलोके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं ॥10॥

§ 545 सूत्रमे जो 'च' शब्द दिया है उससे अनन्तकी अनुवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि किसी द्व्यणुक आदि पुद्गल द्रव्यके सख्यात प्रदेश होते हैं और किसीके असख्यात तथा अनन्त प्रदेश होते है। **शंका**—यहाँ अनन्तानन्तका उपसख्यान करना चाहिए ? **समाधान**—नही, क्योकि यहाँ अनन्त सामान्यका ग्रहण किया है। अनन्त प्रमाण तीन प्रकारका कहा है—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। इसलिए इन सबका अनन्त सामान्यसे ग्रहण हो जाता है। **शंका**—लोक असख्यात प्रदेशवाला है, इसलिए वह अनन्त प्रदेशवाले और अनन्तानन्त प्रदेशवाले स्कन्धका आधार है, इस बातके माननेमे विरोध आता है, अत पुद्गलके अनन्त प्रदेश नही बनते ? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि सूक्ष्म परिणमन होनेसे और अवगाहन शक्तिके निमित्तसे अनन्त या अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल स्कन्धोका आकाश आधार हो जाता है। सूक्ष्मरूपसे परिणत हुए अनन्तानन्त परमाणु आकाशके एक-एक प्रदेशमे ठहर जाते हैं। इनकी यह अवगाहन शक्ति व्याघात रहित है, इसलिए आकाशके एक प्रदेशमे भी अनन्तानन्त परमाणुओका अवस्थान विरोधको प्राप्त नही होता।

---

1. -नन्ता. ॥9॥ लोकेऽलोके चाकाश वर्तते। अवि- मु। 2 च शब्देनानन्ता- मु ता, ना।

§ 546. 'पुद्गलानाम्' इत्यविशेषवचनात्परमाणोरपि प्रदेशवत्त्वप्रसंगे तत्प्रतिषेधार्थमाह—

नाणोः ॥11॥

§ 547. अणोः 'प्रदेशा न सन्ति' इति वाक्यशेषः। कुतो न सन्तीति चेत्? प्रदेशमात्रत्वात्। यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावादप्रदेशत्वमेवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात्प्रदेशभेदाभावः। किं च ततोऽल्पपरिमाणाभावात्। न ह्यणोरल्पीयानन्योऽस्ति, यतोऽस्य प्रदेशा भिद्येरन्।

§ 548. एषामवधृतप्रदेशानां धर्मादीनामाधारप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥12॥

§ 549 उक्तानां धर्मादीनां द्रव्याणां लोकाकाशेऽवगाहो न बहिरित्यर्थः। यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः, आकाशस्य क आधार इति? आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठम्; धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधार कल्प्य। तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत्? नैष दोषः; नाकाशादन्यदधिकपरिमाण द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्यते। सर्वतोऽनन्तं हि तत्[1]। धर्मादीनां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते व्यवहारनयवशात्। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। तथा चोक्तम्, "क्व भवानास्ते। आत्मनि" इति। धर्मादीनि लोकाकाशान्न बहिः सन्तीत्येतावदत्राधाराधेयकल्पनासाध्यं फलम्। ननु च लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावो

---

§ 546 पूर्व सूत्रमे 'पुद्गलानाम्' यह सामान्य वचन कहा है। इससे परमाणुके भी प्रदेशो का प्रसग प्राप्त होता है, अत उसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

परमाणुके प्रदेश नहीं होते ॥11॥

§ 547 परमाणुके प्रदेश नही है, यहाँ 'सन्ति' यह वाक्यका शेष है। शंका—परमाणुके प्रदेश क्यो नही होते? समाधान—क्योकि वह स्वय एक प्रदेशमात्र है। जिस प्रकार एक आकाश प्रदेशमे प्रदेश-भेद नही होनेसे वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वय एक प्रदेशरूप है इसलिए उसमे प्रदेशभेद नही होता। दूसरे अणुसे अल्प परिमाण नही पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नही जो परमाणुसे छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेदको प्राप्त होवे।

§ 548 इस प्रकार निश्चित प्रदेशवाले इन धर्मादिक द्रव्योके आधारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

इन धर्मादिक द्रव्योका अवगाह लोकाकाशमें है ॥12॥

§ 549 उक्त धर्मादिक द्रव्योका लोकाकाशमे अवगाह है बाहर नही, यह इस सूत्रका तात्पर्य है। शंका—यदि धर्मादिक द्रव्योका लोकाकाश आधार है तो आकाशका क्या आधार है? समाधान—आकाशका अन्य आधार नही है, क्योकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है। शंका—यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही होने चाहिए। यदि धर्मादिक द्रव्योका अन्य आधार माना जाता है तो आकाशका भी अन्य आधार मानना चाहिए। और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि आकाशसे अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नही है जहाँ आकाश स्थित है यह कहा जाय। वह सब ओर से अनन्त है। परन्तु धर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनयकी अपेक्षा कहा जाता है। एवभूत नयकी अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। कहा भी है—आप कहाँ रहते हैं? अपनेमें। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नही है, यहाँ आधार-आधेय कल्पनासे-

---

1. तत्। ततो धर्मा- ता, ना. मु.।

दृष्टो यथा कुण्डे बदरादीनाम् । न तथाऽऽकाशं पूर्वं धर्मादीन्युत्तरकालभावीनि; अतो व्यवहारनयापेक्षयाऽपि आधाराधेयकल्पनानुपपत्तिरिति ? नैष दोषः; युगपद्भाविनामपि आधाराधेयभावो दृश्यते । घटे रूपादयः शरीरे हस्तादय इति । लोक इत्युच्यते । को लोकः ? धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति । [1]अधिकरणसाधनो घञ् । आकाशं द्विधा विभक्तं—लोकाकाशमलोकाकाशं चेति । लोक उक्त । स यत्र तल्लोकाकाशम् । ततो बहिः सर्वतोऽनन्तमलोकाकाशम् । लोकालोकविभागश्च धर्माधर्मास्तिकाय[2]सद्भावासद्भावाद्विज्ञेय । असति हि तस्मिन्धर्मास्तिकाये जीवपुद्गलानां गतिनियमहेत्वभावाद्विभागो न स्यात् । असति चाधर्मास्तिकाये स्थितेराश्रयनिमित्ताभावात् [3]स्थितेरभावो लोकालोकविभागाभावो वा स्यात् । तस्मादुभयसद्भावा[4]सद्भावाल्लोकालोकविभागसिद्धिः ।

§ 550. तत्रावध्रियमाणानामवस्थानभेदसंभवाद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥13॥

§ 551. कृत्स्नवचनमशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थम् । अगारेऽस्थितो घट इति यथा तथा धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाहो न भवति । किं तर्हि ? कृत्स्ने तिलेषु तैलवदिति । अन्योन्यप्रदेशप्रवेश-

---

इतना ही फलितार्थ लिया गया है । शंका—लोकमे जो पूर्वोत्तर कालभावी होते है उन्हीका आधार-आधेयभाव देखा गया है । जैसे कि बेरोका आधार कुण्ड होता है । उसीप्रकार आकाश पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य पीछेसे उत्पन्न हुए हो, ऐसा तो है नही, अतः व्यवहारनयकी अपेक्षा भी आधार-आधेयकल्पना नही बनती ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि एक साथ होनेवाले पदार्थो में भी आधार-आधेयभाव देखा जाता है। यथा—घट में रूपादिक हैं। और शरीर मे हाथ आदि हैं । अब लोकका स्वरूप कहते हैं । शंका—लोक किसे कहते हैं ? समाधान—जहाँ धर्मादिक द्रव्य विलोके जाते है उसे लोक कहते है । 'लोक' धातुसे अधिकरण अर्थमे 'घञ्' प्रत्यय करके लोक शब्द बना है । आकाश दो प्रकारका है— लोकाकाश और अलोकाकाश । लोकका स्वरूप पहले कह आये हैं । वह जितने आकाशमे पाया जाता है लोकाकाश है और उससे बाहर सबसे अनन्त अलोकाकाश है । यह लोकालोकका विभाग धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षासे जानना चाहिए । अर्थात् धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और इससे बाहर अलोकाकाश है । यदि धर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो जीव और पुद्गलोकी गतिके नियमका हेतु न रहने से लोकालोकका विभग नही बनता । उसी प्रकार यदि अधर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो स्थितिका निमित्त न रहने से जीव और पुद्गलो की स्थितिका अभाव होता है जिससे लोकालोकका विभाग नहीं बनता । अत इन दोनो के सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा लोकालोकके विभाग की सिद्धि होती है ।

§ 550. लोकाकाशमे जितने द्रव्य बतलाये हैं उनके अवस्थानमे भेद हो सकता है, इस लिए प्रत्येक द्रव्यके अवस्थान विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह समग्र लोकाकाशमें है ॥13॥

§ 551. सब लोकाकाशके साथ व्याप्तिके दिखलानेके लिए सूत्रमे 'कृत्स्न' पद रखा है । घरमे जिस प्रकार घट अवस्थित रहता उस प्रकार लोकाकाशमे धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह नही है । किन्तु जिस प्रकार तिलमे तैल रहता है उस प्रकार सब लोकाकाशमे धर्म

---

1. 'हलः' जैनेन्द्र, 2।3।118। 'हलश्च' पाणिनि, 3।3।121।1। 2 -कायसद्भावाद्वि- मु । 3. -रभाव । तस्या अभावे लोका- मु, ता. ना । 4. भयसद्भावाल्लोका- मु ।

व्याघाताभावः अवगाहनशक्तियोगाद्वेदितव्यः ।

§ 552. अतो विपरीतानां मूर्तिमता[1]मप्रदेशसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां पुद्गलानामवगाहविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।।14।।

§ 553. [2]एकः प्रदेश एकप्रदेशः । एकप्रदेश आदिर्येषां त इमे एकप्रदेशादयः । तेषु पुद्गलानामवगाहो भाज्यो विकल्प्यः । "अवयवेन विग्रह समुदायः समासार्थः"[3] इति एकप्रदेशोऽपि गृह्यते । तद्यथा—एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे परमाणोरवगाहः । द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च । त्रयाणा[4]मप्येकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धानां च । एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानामेकसंख्येयासख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशेऽवस्थानं प्रत्येतव्यम् । ननु युक्तं तावदमूर्त्तयोर्धर्माधर्मयोरेकत्राविरोधेनावरोध इति । मूर्तिमतां पुद्गलानां कथम् ? इत्यत्रोच्यते—अवगाहनस्वभावत्वात्सूक्ष्मपरिणामाच्च मूर्तिमतामप्यवगाहो न विरुध्यते एकापवरके अनेकदीपप्रकाशावस्थानवत् । आगमप्रामाण्याच्च तथाऽध्यवसेयम् । तदुक्तम्—

"ओगाढगाढणिचिओ पुग्गलकाएहि सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं वादरेहिं अणताणतेहिं विवहेहिं[5] ।।"

और अधर्म द्रव्यका अवगाह है । यद्यपि ये सब द्रव्य एक जगह रहते है तो भी अवगाह शक्ति के निमित्तसे इनके प्रदेश परस्पर प्रविष्ट होकर व्याघातको नही प्राप्त होते ।

§ 552. अब जो उक्त द्रव्योसे विपरीत है और जो अप्रदेशी है या सख्यात, असख्यात और अनन्तप्रदेशी है ऐसे मूर्तिमान् पुद्गलोके अवगाह विशेपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

पुद्गलोंका अवगाह लोकाकाशके एक प्रदेश आदिमें विकल्पसे होता है ।।14।।

§ 553 एक और प्रदेश इन दोनोका द्वन्द्व समास है । जिनके आदिमे एक प्रदेश है वे एक प्रदेश आदि कहलाते हैं । उनमे पुद्गलोका अवगाह विकल्पसे है । यहाँ पर विग्रह अवयवके साथ है किन्तु समासार्थ समुदायरूप लिया गया है, इसलिए एक प्रदेशका भी ग्रहण होता है । खुलासा इस प्रकार है—आकाशके एक प्रदेशमे एक परमाणुका अवगाह है । वन्धको प्राप्त हुए या खुले हुए दो परमाणुओका आकाशके एक प्रदेशमे या दो प्रदेशो मे अवगाह है । वन्धको प्राप्त हुए या खुले हुए तीन परमाणुओका आकाशके एक, दो या तीन प्रदेशोमे अवगाह है । इसी प्रकार सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, सख्यात और असख्यात प्रदेशोमे अवगाह जानना चाहिए । शंका—यह तो युक्त है कि धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं, इसलिए उनका एक जगह विना विरोधके रहना वन जाता है, किन्तु पुद्गल मूर्त है इसलिए उनका विना विरोधके एक जगह रहना कैसे वन सकता है ? समाधान—इनका अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूपसे परिणमन हो जाता है, इसलिए एक ढक्कनमे जिस प्रकार अनेक दीपकोका प्रकाश रह जाता है उसी प्रकार मूर्तमान् पुद्गलोका एक जगह अवगाह विरोधको प्राप्त नही होता । तथा आगम प्रमाणमे यह वात जानी जाती है । कहा भी है—

'लोक सूक्ष्म और स्थूल अनन्तानन्त नाना प्रकारके पुद्गलकायोंसे चारो ओरसे खचाखच भरा है ।'

---

1 मतामेकप्रदे- मु । 2. एक एव प्रदेश मु. । 3 पा म भा. 2, 2, 2, 24 । 4. -माणामेकत्र मु., ता. । 5. पचन्पि. गा. 64 ।

§ 554. अथ जीवानां कथमवगाहनमित्यत्रोच्यते—

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥15॥

§ 555. 'लोकाकाशे' इत्यनुवर्तते । तस्यासंख्येयभागीकृतस्यैको भागोऽसख्येयभाग इत्युच्यते । स आदिर्येषां तेऽसंख्येयभागादयः । तेषु जीवानामवगाहो वेदितव्य । तद्यथा—एकस्मिन्नसंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते । एव द्वित्रिचतुरादिष्वपि असख्येयभागेषु आ सर्वलोकादवगाह' प्रत्येतव्यः । नानाजीवानां तु सर्वलोक एव । यद्येकस्मिन्नसख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते, कथं द्रव्यप्रमाणेनानन्तानन्तो जीवराशि' सशरीरोऽवतिष्ठते लोकाकाशे ? सूक्ष्मबादरभेदादवस्थानं प्रत्येतव्यम् । बादरास्तावत्सप्रतिघातशरीरा । सूक्ष्मास्तु सशरीरा[1] अपि सूक्ष्मभावादेकनिगोदजीवावगाह्येऽपि प्रदेशे साधारणशरीरा अनन्तानन्ता वसन्ति । न ते परस्परेण बादरैश्च व्याहन्यन्त इति नास्त्यवगाहविरोध [2] ।

§ 556. अत्राह लोकाकाशतुल्यप्रदेश एकजीव इत्युक्तम्, तस्य कथं लोकस्यासंख्येयभागादिषु वृत्तिः । ननु सर्वलोकव्याप्त्यैव भवितव्यमित्यत्रोच्यते—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥16॥

§ 557. अमूर्तस्वभावस्यात्मनोऽनादिबन्धं प्रत्येकत्वात् कथञ्चिन्मूर्ततां बिभ्रतः कार्मणशरीर-

---

§ 554. अब जीवोका अवगाह किस प्रकार है इस बातको अगले सूत्रमे कहते है—

लोकाकाशके असंख्यातवें भाग आदिमें जीवोंका अवगाह है ॥15॥

§ 555. इस सूत्रमे 'लोकाकाशे' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। उसके असख्यात भाग करके जो एक भाग प्राप्त हो वह असख्यातवाँ भाग कहलाता है। वह जिनके आदिमे है वे सब असख्यातवे भाग आदि है। उनमे जीवोका अवगाह जानना चाहिए। वह इस प्रकार है—एक एक असख्यातवे भागमे एक जीव रहता है। इस प्रकार दो, तीन और चार आदि असख्यात भागो से लेकर सब लोकपर्यन्त एक जीवका अवगाह जानना चाहिए। किन्तु नाना जीवोका अवगाह सब लोकमे ही होता है। शंका—यदि लोकके एक असख्यातवे भागमे एक जीव रहता है तो सख्याकी अपेक्षा अनन्तानन्त सशरीर जीवराशि लोकाकाशमे कैसे रह सकती है ? समाधान—जीव दो प्रकारके है सूक्ष्म और बादर, अत उनका लोकाकाशमे अवस्थान बन जाता है। जो बादर जीव है उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है किन्तु जो सूक्ष्म हैं वे यद्यपि सशरीर है तो भी सूक्ष्म होनेके कारण एक निगोद जीव आकाशके जितने प्रदेशोको अवगाहन करता है उतनेमे साधारण शरीरवाले अनन्तानन्त जीव रह जाते है। वे परस्परमे और बादरोके साथ व्याघातको नही प्राप्त होते, इसलिए लोकाकाशमे अनन्तानन्त जीवोके अवगाहमे कोई विरोध नही आता।

§ 556 यहाँ पर शकाकारका कहना है कि जब एक जीवके प्रदेश लोकाकाशके बराबर बतलाये है तो लोकके असख्यातवे भाग आदिमे एक जीव कैसे रह सकता है, उसे तो सब लोक को व्याप्त कर ही रहना चाहिए ? अब इस शकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

क्योंकि प्रदीपके समान जीवके प्रदेशोका संकोच और विस्तार होने के कारण लोकाकाशके असंख्येयभागादिकमें जीवोंका अवगाह बन जाता है ॥16॥

§ 557 चूंकि आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्धके कारण एकपनेसे

---

1. सशरीरत्वेऽपि आ., दि. 1, दि. 2 । 2. -वगाहेऽपि मु. ।

वशान्महदणु च शरीरमधितिष्ठतस्तद्वशात्प्रदेशसंहरणविसर्पणस्वभावस्य तावत्प्रमाणतायां सत्यामसंख्येयभागादिषु वृत्तिरुपपद्यते, प्रदीपवत् । यथा निरावरणव्योमप्रदेशेऽनव[1]धृतप्रकाशपरिमाणस्य प्रदीपस्य शरावमणिकापवरकाद्यावरणवशात्तत्परिमाणतेति । अत्राह धर्मादीनामन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्संकरे[2] सति, एकत्वं प्राप्नोतीति ? तन्न; परस्परमत्यन्तसश्लेषे सत्यपि स्वभावं न जहति । उक्तं च—

"अण्णोण्ण पविसता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्च सगसब्भाव ण जहति ।"

§ 558. यद्येवं धर्मादीनां स्वभावभेद उच्यतामित्यत आह—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥17॥

§ 559. देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गति । तद्विपरीता स्थितिः । उपगृह्यत इत्युपग्रहः । गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती । गतिस्थिती एव उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ । धर्माधर्मयोरिति कर्तृ निर्देशः । उपक्रियत इत्युपकार । कः पुनरसौ ? गत्युपग्रहः स्थित्युपग्रहश्च । यद्येवं द्वित्वनिर्देशः प्राप्नोति । नैष दोष ; सामान्येन व्युत्पादितः[3] शब्द उपात्तसंख्यः शब्दान्तरसंबन्धे सत्यपि न पूर्वोपात्तां संख्यां जहाति । यथा—"साधो कार्यं तप श्रुते" इति । एतदुक्तं भवति—गतिपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायः साधारणाश्रयो जलवन्मत्स्यगमने । तथा स्थितिपरिणामिनां

प्राप्त होनेसे वह मूर्त हो रहा है और कार्मण शरीरके कारण वह छोटे-बड़े शरीरमे रहता है, इसलिए वह प्रदेशोके सकोच और विस्तार स्वभाववाला है और इसलिए शरीरके अनुसार दीपकके समान उसका लोकके असख्यातवे भाग आदिमें रहना बन जाता है। जिस प्रकार निरावरण आकाश-प्रदेशमे यद्यपि दीपकके प्रकाशके परिमाणका निश्चय नही होता तथापि वह सकोरा, ढक्कन, तथा आवरण करनेवाले दूसरे पदार्थोके आवरणके वशसे तत्परिमाण होता है उसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। शंका—धर्मादिक द्रव्योके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेश होनेके कारण सकर होनेमे अभेद प्राप्त होता है ? समाधान—नही, क्योंकि परस्पर अत्यन्त सश्लेष सम्बन्ध हो जाने पर भी वे अपने-अपने स्वभाव को नही छोड़ते; इसलिए उनमे अभेद नही होता । कहा भी है—

'सब द्रव्य परस्पर प्रविष्ट है, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, और सदा मिलकर रह रहे है तो भी अपने स्वभावको नही छोडते ।'

§ 558 यदि ऐसा है तो धर्मादिक द्रव्योका स्वभावभेद कहना चाहिए इसलिए आगेका सूत्र कहते है—

गति और स्थितिमें निमित्त होना यह क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है ॥17॥

§ 559 एक स्थानसे दूसरे स्थानके प्राप्त करानेमे जो कारण है उसे गति कहते हैं। स्थितिका स्वरूप इससे उलटा है। उपग्रह शब्द उपकारका पर्यायवाची है जिसकी व्युत्पत्ति 'उपगृह्यते' है। गति और स्थिति इन दोनोमे द्वन्द्व समास है। गति और स्थिति ही उपग्रह हैं, इसलिए 'गतिस्थित्युपग्रहौ' यह सूत्रवचन कहा है। 'धर्माधर्मयो.' यह कर्ता अर्थमे षष्ठी निर्देश है। उपकारकी व्युत्पत्ति 'उपक्रियते' है। शका—यह उपकार क्या है ? समाधान— गति उपग्रह और स्थिति उपग्रह यही उपकार है। शंका—यदि ऐसा है तो द्विवचनका निर्देश प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योंकि सामान्यसे ग्रहण किया गया शब्द जिस सख्याको प्राप्त कर लेता है दूसरे शब्दके सम्बन्ध होनेपर भी वह उस सख्याको नही छोड़ता । जैसे 'साधो.

---

1. -देशेऽनवृ- ता. ना. । 2. पंचत्थि. गा. 7 । 3. -दित उपात्त- ता., ना., मु. ।

जीवपुद्गलानां स्थित्युपग्रहे कर्तव्ये अधर्मास्तिकायः साधारणाश्रय पृथिवीधातुरिवाश्वादिस्थिता-विति । ननु च 'उपग्रह' वचनमनर्थकम् 'उपकारः' इत्येवं[1] सिद्धत्वात् । 'गतिस्थिती धर्माधर्म-योरुपकारः' इति ? नैष दोषः; याथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् 'उपग्रह'वचनम् । धर्माधर्मयोर्गतिस्थित्योश्च यथासंख्यं भवति, एवं जीवपुद्गलानां यथासंख्यं प्राप्नोति धर्मस्योपकारो जीवानां गतिः अधर्म-स्योपकारः पुद्गलानां स्थितिरिति । तन्निवृत्त्यर्थमुपग्रहवचनं क्रियते । आह धर्माधर्मयोर्य उपकारः स आकाशस्य युक्तः; सर्वगतत्वादिति चेत् ? तदयुक्तम्; तस्यान्योपकारसद्भावात् । सर्वेषां धर्मा-दीनां द्रव्याणामवगाहनं तत्प्रयोजनम् । एकस्यानेकप्रयोजनकल्पनायां लोकालोकविभागाभावः । भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेत् ? न, साधारणाश्रय इति विशिष्योक्तत्वात् । अनेककारणसाध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य । तुल्यबलत्वात्तयोर्गतिस्थितिप्रतिबन्ध इति चेत् ? न, अप्रेरकत्वात् । अनुपलब्धेर्न तौ स्त खरविषाणवदिति चेत् ? न, सर्व[2]प्रवाद्यवि-प्रतिपत्तेः । सर्वे हि [3]प्रवादिनः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षानर्थानभिवाञ्छन्ति । अस्मान्प्रति हेतोरसिद्धेश्च ।

कार्यं तप श्रुते' इस वाक्य मे 'कार्यम्' एकवचन और 'तप श्रुते द्विवचन है । यही वात प्रकृतमे जानना चाहिए । इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मछलीके गमनमे जल साधारण निमित्त है उसी प्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलोके गमनमे धर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है । तथा जिस प्रकार घोड़ा आदिके ठहरनेमे पृथिवी साधारण निमित्त है उसी प्रकार ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोके ठहरनेमे अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है । **शंका**—सूत्रमे 'उपग्रह' वचन निरर्थक है, क्योकि 'उपकार' इसीसे काम चल जाता है । यथा—'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार' ? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि यथाक्रमके निराकरण करनेके लिए 'उपग्रह' पद रखा है । जिस प्रकार धर्म और अधर्मके साथ गति और स्थितिका क्रमसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोका क्रमसे सम्बन्ध प्राप्त होता है । यथा—धर्म द्रव्यका उपकार जीवोकी गति है और अधर्म द्रव्यका उपकार पुद्गलोकी स्थिति है, अत इसका निराकरण करनेके लिए सूत्रमे 'उपग्रह' पद रखा है । **शंका**—धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उप-कार है उसे आकाशका मान लेना युक्त है, क्योकि आकाश सर्वगत है ? **समाधान**—यह कहना युक्त नही है; क्योकि आकाशका अन्य उपकार है । सव धर्मादिक द्रव्योको अवगाहन देना आकाशकका प्रयोजन है । यदि एक द्रव्यके अनेक प्रयोजन माने जाते हैं तो लोकालोकके विभाग-का अभाव होता है, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार है वह आकाशका मानना युक्त नही । **शंका**—धर्म और अधर्म द्रव्यके जो प्रयोजन है पृथिवी और जल आदिक ही उनके करनेमे समर्थ हैं, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक नही ? **समाधान**—नही, क्योकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिके साधारण कारण है यह विशेष रूपसे कहा है । तथा एक कार्य अनेक कारणोसे होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक है । **शंका**—धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य तुल्य वलवाले हैं, अत गतिसे स्थितिका और स्थितिसे गतिका प्रतिवन्ध होना चाहिए ? **समाधान**—नही, क्योकि ये अप्रेरक है । **शंका**— धर्म और अधर्म द्रव्य नही हैं, क्योंकि उनकी उपलब्धि नही होती, जैसे गधेके सीग ? **समाधान**—नही, क्योकि इसमे सव वादियोको विवाद नही है । तात्पर्य यह है कि जितने वादी हैं वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो प्रकारके पदार्थोको स्वीकार करते हैं । इसलिए इनका अभाव नही किया जा सकता । दूसरे हम जैनोके प्रति 'अनुपलब्धि' हेतु असिद्ध है, क्योकि जिनके सातिशय प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी नेत्र विद्यमान

---

1. इत्येव सिद्ध- ता. । 2. प्रतिवाद्य ता., ना. । 3. प्रतिवादिन ता., ना. ।

सर्वज्ञेन निरतिशयप्रत्यक्षज्ञानचक्षुषा धर्मादयः सर्वे उपलभ्यन्ते । तदुपदेशाच्च श्रुतज्ञानिभिरपि ।

§ 560. अत्राह, यद्यतीन्द्रिययोर्धर्माधर्मयोरुपकारसंबन्धेनास्तित्वमवध्रियते, तदनन्तरमुद्दिष्टस्य नभसोऽतीन्द्रियस्याधिगमे क उपकार इत्युच्यते—

आकाशस्यावगाहः ॥18॥

§ 561. 'उपकारः'[1] इत्यनुवर्तते । जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाह आकाशस्योपकारो वेदितव्यः । आह, जीवपुद्गलानां क्रियावतामवगाहिनामवकाशदानं युक्तम् । धर्मास्तिकायादय पुनर्निष्क्रिया नित्यसंबन्धास्तेषां कथमवगाह इति चेत् ? न; उपचारतस्तत्सिद्धेः । यथा गमनाभावेऽपि 'सर्वगतमाकाशम्' इत्युच्यते, सर्वत्र सद्भावात्, एवं धर्माधर्मावपि अवगाह क्रियाभावेऽपि सर्वत्र व्याप्तिदर्शनादवगाहिनावित्युपचर्येते । आह यद्यवकाशदानमस्य स्वभावो वज्रादिभिर्लोष्टादीनां भित्त्यादिभिर्गवादीनां च व्याघातो न प्राप्नोति । दृश्यते च व्याघातः । तस्मादस्यावकाशदानं हीयते इति ? नैष दोष ; वज्रलोष्टादीनां स्थूलानां परस्परव्याघात इति नास्यावकाशदानसामर्थ्यं हीयते, तत्रावगाहिनामेव व्याघातात् । वज्रादयः पुनः स्थूलत्वात्परस्परं प्रत्यवकाशदानं कुर्वन्तीति नासावाकाशदोषः । ये खलु पुद्गला सूक्ष्मास्ते[2] परस्परं प्रत्यवकाशदानं कुर्वन्ति । यद्येवं नेदमाकाशस्यासाधारणं लक्षणम्; [3]इतरेषामपि तत्सद्भावादिति ? तन्न; सर्वपदार्थानां

है ऐसे सर्वज्ञ देव सब धर्मादिक द्रव्योको प्रत्यक्ष जानते है और उनके उपदेशसे श्रुतज्ञानी भी जानते हैं ।

§ 560 यदि अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकारके सम्बन्धसे अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो इनके अनन्तर जो अतीन्द्रिय आकाश द्रव्य कहा है, ऐसा कौन-सा उपकार है जिसमे उसका ज्ञान होता है ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

अवकाश देना आकाशका उपकार है ॥18॥

§ 561 इस सूत्रमे 'उपकार' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । अवगाहन करनेवाले जीव और पुद्गलोको अवकाश देना आकाशका उपकार जानना चाहिए । शंका—अवगाहन स्वभाव वाले जीव और पुगद्ल क्रियावान् है इसलिए इनको अवकाश देना युक्त है परन्तु धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय और नित्य सम्बन्धवाले है, उनका अवगाह कैसे बन सकता है ? **समाधान**—नही, क्योंकि उपचारसे इसकी सिद्धि होती है । जैसे गमन नही करने पर भी आकाश सर्वगत कहा जाता है, क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है इसी प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्यमे अवगाह-रूप क्रिया नही पायी जाती तो भी लोकाकाशमे वे सर्वत्र व्याप्त है, अत वे अवगाही है ऐसा उपचार कर लिया जाता है । शंका—यदि अवकाश देना आकाशका स्वभाव है तो वज्रादिकसे लोढा आदिकका और भीत आदिकसे गाय आदिका व्याघात नही प्राप्त होता है, किन्तु व्याघात तो देखा जाता है । इससे मालूम होता है कि अवकाश देना आकाशका स्वभाव नही ठहरता ? समाधान—यह कोई दोप नही है,क्योकि वज्र और लोढा आदि स्थूल पदार्थ है, इसलिए उनका आपसमें व्याघात होता है, अतः आकाशकी अवकाश देने रूप समार्थ्य नही नष्ट होती । यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करनेवाले पदार्थोका ही है । तात्पर्य यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्पर अवकाश नही देते, यह कुछ आकाशका दोप नही है । हाँ, जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं । शंका—यदि ऐसा है तो यह आकाशका

---

1. उपकार इति वर्तते आ., ता., ना. । 2 -स्तेऽपि परस्प- आ, दि. 1, दि 2 । 3. -क्षणमिति परे- आ., दि 1, दि. 2 ।

साधारणावगाहनहेतुत्वमस्यासाधारणं लक्षणमिति नास्ति दोषः । अलोकाकाशे तद्भावादभाव इति चेत् ? न, स्वभावापरित्यागात् ।

§ 562. उक्त आकाशस्योपकारः । अथ तदनन्तरोद्दिष्टानां पुद्गलानां क उपकार इत्यत्रोच्यते—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥19॥

§ 563. इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? पुद्गलानां क उपकार इति परिप्रश्ने पुद्गलानां लक्षणमुच्यते,[1] शरीरादीनि पुद्गलमयानीति ? नैतदयुक्तम्, पुद्गलानां लक्षणमुत्तरत्र[2] वक्ष्यते । इदं तु जीवान् प्रति पुद्गलानामुपकारप्रतिपादनार्थमेवेति उपकारप्रकरणे उच्यते । शरीराण्युक्तानि । औदारिकादीनि सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षाणि । तदुदयापादित[3]वृत्तीन्युपचयशरीराणि कानिचित्प्रत्यक्षाणि कानिचिदप्रत्यक्षाणि । एतेषां कारणभूतानि कर्माण्यपि शरीरग्रहणेन गृह्यन्ते । एतानि पौद्गलिकानीति कृत्वा जीवानामुपकारे पुद्गलाः प्रवर्तन्ते । स्यान्मतं कार्मणमपौद्गलिकम्, अनाकारत्वाद्[4] । आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तमिति ? तन्न; तदपि पौद्गलिकमेव; तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् । दृश्यते हि व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्रापितपरिपाकानां पौद्गलिकत्वम् । तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात्पौद्-

---

असाधारण लक्षण नही रहता, क्योकि दूसरे पदार्थोमे भी इसका सद्भाव पाया जाता है ? समाधान—नही क्योकि, आकाश द्रव्य सब पदार्थोको अवकाश देने मे साधारण कारण है यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नही है । शंका—अलोकाकाशमे अवकाशदान रूप स्वभाव नही पाया जाता, इससे ज्ञात होता है कि यह आकाशका स्वभाव नहीं है ? समाधान—नही, क्योकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव का त्याग नही करता ।

§ 562 आकाश द्रव्यका उपकार कहा । अब उसके अनन्तर कहे गये पुद्गलोका क्या उपकार है, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलोका उपकार है ॥19॥

§ 563 **शंका**—यह अयुक्त है । **प्रतिशंका**—क्या अयुक्त है ? शंका—पुद्गलोका क्या उपकार है यह प्रश्न था पर उसके उत्तरमे 'शरीरादिक पुद्गलमय हैं' इस प्रकार पुद्गलो का लक्षण कहा जाता है ? समाधान—यह अयुक्त नही है, क्योकि पुद्गलोका लक्षण आगे कहा जायगा, यह सूत्र तो जीवोके प्रति पुद्गलोके उपकारका कथन करनेके लिए ही आया है, अतः उपकार प्रकरणमे ही यह सूत्र कहा है । औदारिक आदि पाँचो शरीरोका कथन पहले कर आये हैं । वे सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियगोचर नही हैं । किन्तु उनके उदयसे जो उपचय शरीर प्राप्त होते हैं उनमें-से कुछ शरीर इन्द्रियगोचर हैं और कुछ इन्द्रियातीत है । इन पांचो शरीरोंके कारणभूत जो कर्म हैं उनका भी शरीर पदके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है । ये सब शरीर पौद्गलिक हैं ऐसा समझकर जीवोका उपकार पुद्गल करते हैं यह कहा है । शंका—आकारके समान कार्मण शरीरका कोई आकार नही पाया जाता, इसलिए उसे पौद्गलिक मानना युक्त नही है । हाँ, जो औदारिक आदिक शरीर आकारवाले हैं उनको पौद्गलिक मानना युक्त है ? समाधान—यह कहना ठीक नही है, क्योकि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है, क्योकि उनका फल मूर्तिमान् पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है । यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जलादिकके सम्बन्धसे पकनेवाले धान आदि

---

1. -च्यते भवता शरी- मु । 2 -रत्र स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः इत्यत्र वक्ष्यते मु । 3 -तदि- (तदुदयोपपादित) वृत्ती- मु. । 4 -कारत्वादाकारवन् । आकार- मु ।

गलिकमित्यवसेयम् । वाग् द्विविधा—द्रव्यवाग् भाववागिति । तत्र भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमति-श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी । तदभावे तद्वृत्त्यभावात् । तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणा पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी; श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात् । इतरेन्द्रियविषया कस्मान्न भवति । तद्ग्रहणायोग्यत्वात् । घ्राणग्राह्ये गन्धद्रव्ये रसाद्यनुपलब्धिवत् । अमूर्ता वागिति चेत् ? न; मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाताभिभवादिदर्शनान्मूर्तिमत्त्वसिद्धेः । मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति । भावमनस्तावल्लब्ध्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम् । द्रव्यमनश्च, ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम् । कश्चिदाह मनो द्रव्यान्तरं रूपादिपरिणामरहितमणुमात्रं तस्य पौद्गलिकत्वमयुक्तमिति ? तदयुक्तम् । कथम् ? उच्यते—तदिन्द्रियेणात्मना च संबद्धं वा स्यादसंबद्धं वा । यद्यसंबद्धम्, तन्नात्मन उपकारकं भवितुमर्हति इन्द्रियस्य च साचिव्यं न करोति । अथ संबद्धम्, एकस्मिन् प्रदेशे संबद्धं सत्तदणु इतरेषु प्रदेशेषु उपकारं न कुर्यात् । अदृष्टवशादस्य अलातचक्रवत्परिभ्रमणमिति चेत् । न; तत्सामर्थ्याभावात् । अमूर्तस्यात्मनो निष्क्रियस्यादृष्टो गुणः, स निष्क्रियः सन्नन्यत्र क्रियारम्भे न समर्थः । दृष्टो हि वायुद्रव्यविशेष

पौद्गलिक है । उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुड और काँटे आदि मूर्तिमान् पदार्थोके मिलने पर फल देते है, इससे ज्ञात होता है कि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक हैं । वचन दो प्रकार का है— द्रव्य-वचन और भाववचन । इनमे-से भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मोके क्षयोपशम और अगोपाग नामकर्मके निमित्तसे होता है, इसलिए वह पौद्गलिक है, क्योंकि पुद्गलोके अभावमे भाववचनका सद्भाव नही पाया जाता । चूँकि इस प्रकारकी सामर्थ्यसे युक्त क्रियावाले आत्माके द्वारा प्रेरित हो कर पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते है, इसलिए द्रव्य वचन भी पौद्गलिक है । दूसरे द्रव्य वचन श्रोत्र इन्द्रियके विषय है, इससे भी ज्ञात होता है कि वे पौद्गलिक है । **शंका**—वचन इतर इन्द्रियोके विषय क्यो नही होते ? **समाधान**—घ्राण इन्द्रिय गन्धको ग्रहण करती है उससे जिस प्रकार रसादिककी उपलब्धि नही होती उसी प्रकार इतर इन्द्रियोमे वचनके ग्रहण करनेकी योग्यता नही है । **शंका**—वचन अमूर्त है ? **समाधान**—नही, क्योकि वचनोका मूर्त इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदिके द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदिके द्वारा उनका व्याघात देखा जाता है तथा अन्य कारणोसे उनका अभिभव आदि देखा जाता है । इससे शब्द मूर्त सिद्ध होते हैं । मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन । लब्धि और उपयोग-लक्षण भावमन पुद्गलोके आलम्बनसे होता है, इसलिए पौद्गलिक है । तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे तथा अगोपाग नामकर्मके निमित्तसे जो पुद्गल गुण-दोषका विचार और स्मरण आदि उपयोगके सम्मुख हुए आत्माके उपकारक है वे ही मनरूपसे परिणत होते हैं, अत द्रव्यमन भी पौद्गलिक है । **शंका**—मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है । वह रूपादिरूप परिणमनसे रहित है और अणुमात्र है, इसलिए उसे पौद्गलिक मानना अयुक्त है । **समाधान**—शकाकारका इस प्रकार कहना अयुक्त है । खुलासा इस प्रकार है—वह मन आत्मा और इन्द्रियसे सम्बद्ध है या असम्बद्ध । यदि असम्बद्ध है तो वह आत्माका उपकारक नही हो सकता और इन्द्रियोंकी सहायता भी नही कर सकता । यदि सम्बद्ध है तो जिस प्रदेशमे वह अणु मन सम्बद्ध है उस प्रदेशको छोड कर इतर प्रदेशोका उपकार नही कर सकता । **शंका**—अदृष्ट नामका एक गुण है उसके वशसे वह मन अलातचक्रके समान सब प्रदेशोमे घूमता रहता है ? **समाधान**—नही, क्योकि अदृष्ट नामके गुणमे इस प्रकारकी सामर्थ्य नही पायी जाती । यत. अमूर्त और निष्क्रिय

क्रियावान्स्पर्शवान्प्राप्त[1]वनस्पतौ परिस्पन्दहेतुस्तद्विपरीतलक्षणश्चायमिति क्रियाहेतुत्वाभावः। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षि[2]णात्मना उदस्यमानः कोष्ठचो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते। तेनैवात्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽपान इत्याख्यायते। एव तावप्यात्मानुग्राहिणौ; जीवितहेतुत्वात्। तेषां मनःप्राणापानानां मूर्तिमत्त्वमवसेयम्। कुतः[3]? मूर्तिमद्भिः प्रतिघातादिदर्शनात्। प्रतिभयहेतुभिरशनिपातादिभिर्मनस प्रतिघातो दृश्यते। सुरादिभिश्चाभिभवः। [4]हस्ततलपटादिभिरास्यसंवरणात्प्राणापानयोः प्रतिघात उपलभ्यते। श्लेष्मणा चाभिभवः। न चामूर्तस्य मूर्तिमद्भिरभिघातादय स्यु। अत एवात्मास्तित्वसिद्धिः। यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मान साधयति।

§ 564. किमेतावानेव पुद्गलकृत उपकार आहोस्विदन्योऽप्यस्तीत्यत आह—

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥20॥

§ 565. [5]सदसद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीतिपरितापरूप परिणामः सुखदुःखमित्याख्यायते। भवधारणकारणायुराख्यकर्मोदयाद् भव-

---

आत्माका अदृष्ट गुण है। अतः यह गुण भी निष्क्रिय है, इसलिए अन्यत्र क्रियाका आरम्भ करनेमे असमर्थ है। देखा जाता है कि वायु नामक द्रव्य विशेष स्वय क्रियावाला और स्पर्शवाला होकर ही वनस्पतिमे परिस्पन्दका कारण होता है, परन्तु यह अदृष्ट उससे विपरीत लक्षणवाला है, इस लिए यह क्रियाका हेतु नही हो सकता। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशम तथा अगोपाग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा कोष्ठगत जिस वायुको बाहर निकालता है उच्छ्वासलक्षण उस वायुको प्राण कहते है। तथा वही आत्मा बाहरी जिस वायुको भीतर करता है निःश्वासलक्षण उस वायुको अपान कहते हैं। इस प्रकार ये प्राण और अपान भी आत्माका उपकार करते है, क्योकि इनसे आत्मा जीवित रहता है। ये मन, प्राण और अपान मूर्त है, क्योकि दूसरे मूर्तपदार्थोके द्वारा इनका प्रतिघात आदि देखा जाता है। जैसे—प्रतिभय पैदा करनेवाले बिजलीपात आदिके द्वारा मनका प्रतिघात होता है और सुरा आदिके द्वारा अभिभव। तथा हस्ततल और वस्त्र आदिके द्वारा मुखके ढँक लेनेसे प्राण और अपानका प्रतिघात उपलब्ध होता है और कफके द्वारा अभिभव। परन्तु अमूर्तका मूर्त पदार्थोके द्वारा अभिघात आदि नही हो सकता, इससे प्रतीत होता है कि ये सब मूर्त है। तथा इसीसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। जैसे यन्त्रप्रतिमाकी चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ताके अस्तित्वका ज्ञान कराती है उसी प्रकार प्राण और अपान आदि रूप कार्य भी क्रिया वाले आत्माके अस्तित्वके साधक हैं।

§ 564. क्या पुद्गलोका इतना ही उपकार है या और भी उपकार है, इस बातके बतलाने के लिए अब आगेका सूत्र कहते है—

सुख, दुःख जीवित और मरण ये भी पुद्गलोंके उपकार हैं ॥ 20 ॥

§ 565. साता और असाताके उदयरूप अन्तरंग हेतुके रहते हुए बाह्य द्रव्यादिके परिपाकके निमित्तसे जो प्रीति और परितापरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सुख और दुःख कहे जाते

---

1. प्राप्त वन- आ, दि 1, दि 2, ता., ना। 2 -पेक्षेणा- आ, दि 1, दि 2। 3 कुत। प्रतिघाता.। 4. हस्ततलपुटादि- ता, ना मु। 5 -वेद्येऽन्त- मु।

स्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तप्राणापानक्रियाविशेषाव्युच्छेदो जीवितमित्युच्यते। तदुच्छेदो मरणम्। एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः[1]; मूर्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः। उपकाराधिकारात् 'उपग्रह'वचनमनर्थकम्? नानर्थकम्। स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थमिदम्। पुद्गलानां पुद्गलकृत उपकार इति। तद्यथा—कांस्यादीनां भस्मादिभिर्जलादीनां कतकादिभिरयःप्रभृतीनामुदकादिभिरुपकारः क्रियते। 'च'शब्दः किमर्थः? समुच्चयार्थः। अन्योऽपि पुद्गलकृत उपकारोऽस्तीति समुच्चीयते। यथा शरीराणि एवं चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपीति।

§ 566. एवमाद्यमजीवकृतमुपकारं प्रदर्श्य जीवकृतोपकारप्रदर्शनार्थमाह—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥21॥

§ 567. 'परस्पर'शब्दः कर्मव्यतिहारे वर्तते। कर्मव्यतिहारश्च क्रियाव्यतिहारः। परस्परस्योपग्रहः परस्परोपग्रहः। जीवानामुपकारः। कः पुनरसौ? स्वामी भृत्यः, आचार्यः शिष्य, इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहः। स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते। भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उभयलोकफलप्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि तदानुकूल्यवृत्त्या आचार्याणाम्[2]।

हैं। पर्यायके धारण करनेमे कारणभूत आयुकर्मके उदयसे भवस्थितिको धारण करनेवाले जीवके पूर्वोक्त प्राण और अपानरूप क्रिया विशेष का विच्छेद नही होना जीवित है। तथा उसका उच्छेद मरण है। ये सुखादिक जीवके पुद्गलकृत उपकार है, क्योकि मूर्त कारणोके रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है। शंका—उपकारका प्रकरण होनेसे सूत्रमे उपग्रह शब्दका प्रयोग करना निष्फल है? समाधान—निष्फल नही है, क्योकि स्वत के उपकारके दिखलानेके लिए सूत्रमे उपग्रह शब्दका प्रयोग किया है। पुद्गलोका भी पुद्गलकृत उपकार होता है। यथा—कांसे आदिका राख आदिके द्वारा, जल आदिका कतक आदिके द्वारा और लोह आदिका जल आदिके द्वारा उपकार क्रिया जाता है। शंका—सूत्रमे 'च' शब्द किस लिए दिया हैं? समाधान—समुच्चयके लिए। पुद्गलकृत और भी उपकार है इसके समुच्चयके लिए सूत्र मे 'च' शब्द दिया है। जिस प्रकार शरीर आदिक पुद्गलकृत उपकार हैं उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

§ 566. इस प्रकार पहले अजीवकृत उपकारको दिखलाकर अब जीवकृत उपकारके दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परस्पर निमित्त होना यह जीवोंका उपकार है ॥21॥

§ 567 परस्पर यह शब्द कर्म व्यतिहार अर्थमे रहता है। और कर्मव्यतिहारका अर्थ क्रियाव्यतिहार है। परस्परका उपग्रह परस्परोपग्रह है। यह जीवोंका उपकार है। शंका—वह क्या है? समाधान—स्वामी और सेवक तथा आचार्य और शिष्य इत्यादि रूपसे वर्तन करना परस्परोपग्रह है। स्वामी तो धन आदि देकर सेवकका उपकार करता है और सेवक हित का कथन करके तथा अहितका निषेध करके स्वामीका उपकार करता है। आचार्य दोनो लोक मे सुखदायी उपदेश-द्वारा तथा उस उपदेशके अनुसार क्रियामे लगाकर शिष्योका उपकार करता है और शिष्य भी आचार्यके अनुकूल प्रवृत्ति करके आचार्यका उपकार करते हैं। शंका—उपकारका अधिकार है, इसलिए सूत्रमे फिर से 'उपग्रह' शब्द किसलिए दिया है? समाधान—पिछले

---

1. कारः। कृत। मूर्ति- मु., आ.। 2. -र्याणा कृतोप- आ।

उपकाराधिकारे पुनः 'उपग्रह'वचनं किमर्थम् ? पूर्वोक्तसुखादिचतुष्टयप्रदर्शनार्थं पुनः 'उपग्रह'वचनं क्रियते[1] । सुखादीन्यपि जीवानां जीवकृत उपकार इति ।

सूत्रमे जो सुखादिक चार कह आये है उनके दिखलानेके लिए फिरसे 'उपग्रह' शब्द दिया है । तात्पर्य यह है कि सुखादिक भी जीवोके जीवकृत उपकार हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ उपकार के प्रकरणमे कौन द्रव्य अन्यका क्या उपकार करता है इस वातका निर्देश किया गया है, इसलिए विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अन्य द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यका भला-बुरा कुछ कर सकता है। यदि कर सकता है तो यह मान लिया जाय कि जैन-दर्शनमे ईश्वरवादका निषेध क्यो किया गया है ? यह तो मानी हुई वात है कि एक द्रव्यके जो गुण और पर्याय होते हैं वे उसे छोडकर अन्य द्रव्यमे प्रविष्ट नही होते । इसलिए एक द्रव्य अपने से भिन्न दूसरेका उपकार करता है यह विचारणीय हो जाता है । जिन दर्शनोने ईश्वरवादको स्वीकार किया है वे प्रत्येक कार्यके प्रेरक रूपसे ईश्वरको निमित्त कारण मानते हैं । उनका कहना है कि यह प्राणी अज्ञ है, अपने सुख-दु खका स्वामी नही है । ईश्वरकी प्रेरणावश स्वर्ग जाता है या नरक । इसमे स्वर्ग और नरक आदि गतियोकी प्राप्ति जीवको होती है यह वात स्वीकार की गयी है, तथापि उनकी प्राप्तिमे ईश्वरका पूरा हाथ रहता है । अगर ईश्वर चाहे तो जीवको इन गतियोमे आनेसे वचा भी सकता है । इसी अभिप्रायसे एक द्रव्यको अन्य द्रव्यका उपकारक माना है तव तो ईश्वर वादका निषेध करना न करनेके बराबर होता है और यदि इस उपकार प्रकरणका कोई भिन्न अभिप्राय है तो उनका दार्शनिक विश्लेषण होना अत्यावश्यक है । आगे सक्षेपमे इसी वातपर प्रकाश डाला जाता है—

लोकमे जितने द्रव्य हैं वे सव अपने-अपने गुण और पर्यायोको लिये हुए हैं । द्रव्यदृष्टिसे वे अनन्त काल पहले जैसे थे आज भी वैसे ही हैं और आगे भी वैसे ही बने रहेगे । किन्तु पर्यायदृष्टिसे वे सदा परिवर्तनशील हैं । उनका यह परिवर्तन द्रव्यकी मर्यादाके भीतर ही होता है । प्रत्येक द्रव्यका यह स्वभाव है । इसलिए प्रत्येक द्रव्यमे जो भी परिणाम होता है वह अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होता है । ससारी जीव पुद्गल द्रव्यसे बँधा हुआ है यह भी अपनी योग्यताके कारण ही कालान्तरमे मुक्त होता है यह भी अपनी योग्यतानुसार ही । तथापि प्रत्येक द्रव्यके इस योग्यतानुसार कार्यके होनेमे वाह्य पदार्थ निमित्त माना जाता है । जैसे वालकमे पढनेकी योग्यता है, इसलिए उसे अध्यापक व पुस्तक आदिका निमित्त मिलने पर वह पढकर विद्वान् वनता है, इसलिए ये अध्यापक आदि उसके निमित्त हैं । पर तत्त्वत विचार करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ कुछ अध्यापक या पुस्तक आदिने बालककी आत्मामे वुद्धि नही उत्पन्न कर दी । यदि इन वाह्य पदार्थोमे बुद्धि उत्पन्न करनेकी योग्यता होती तो जितने वालक उस अध्यापकके पास पढते हैं उन सवमें वह वुद्धि उत्पन्न कर सकता था । पर देखा जाता है कि कोई मूर्ख रहता है, कोई अल्पज्ञानी हो पाता है और कोई महाज्ञानी हो जाता है । एक ओर तो अध्यापकके विना वालक पढ नही पाता और दूसरी ओर यदि बालकमे बुद्धिके प्रादुर्भाव होनेकी योग्यता नहीं है तो अध्यापकके लाख चेष्टा करने पर भी वह मूर्ख वना रहता है । इससे ज्ञात होता है कि कार्यकी उत्पत्तिमे अध्यापक निमित्त तो है पर वह परमार्थसे प्रेरक नही । ईश्वरकी मान्यतामे प्रेरकतापर बल दिया गया है और यहाँ उपकार प्रकरणमे वाह्य निमित्तको तो स्वीकार किया गया है पर उसे परमार्थ से प्रेरक नही माना है । यहाँ उपकार प्रकरणके ग्रथित करनेका यही अभिप्राय है ।

1 क्रियते । आह यद्यवश्यं ता., ना. ।

§ 568. आह, यद्यवश्यं सतोपकारिणा भवितव्यम्; संश्च कालोऽभिमतस्तस्य क उपकार इत्यत्रोच्यते—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥22॥

§ 569. वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिंगे वर्तनेति भवति। वर्त्यते[1] वर्तनमात्रं वा वर्तना इति। धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः। को णिजर्थः? वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः। यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति? नैष दोष; निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा "[2]कारीषोऽग्निरध्यापयति[3]। एवं कालस्य हेतुकर्तृता। स कथं काल इत्यवसीयते? समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिभिर्निर्वर्त्यमानानां च पाकादीनां समयः पाक इत्येवमादि[4] स्वसंज्ञारूढिसद्भावेऽपि समयः काल ओदनपाकः[5] काल इति अध्यारोप्यमाणः कालव्यपदेशस्तद्व्यपदेशनिमित्तस्य कालस्यास्तित्वं गमयति। कुत ? गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात्। द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मक. परिणाम । जीवस्य क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः। धर्माधर्माकाशानामगुरुलघु-

---

§ 568 यदि ऐसा है कि जो है उसे अवश्य उपकारी होना चाहिए तो काल भी सद्रूप माना गया है इसलिए उसका क्या उपकार है, इसी बातके वतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते है।

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं ॥22॥

§ 569 णिजन्त वृत्ति धातुसे कर्म या भावमे 'युट्' प्रत्ययके करनेपर स्त्रीलिंगमे वर्तना शब्द वनता है जिसकी व्युत्पत्ति 'वर्त्यते या वर्तनमात्रम् होती है। यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्यायके उत्पन्न करनेमे स्वय प्रवृत्त होते है तो भी उनकी वृत्ति वाह्य सहकारी कारणके विना नही हो सकती, इसलिए उसे प्रवर्तानेवाला काल है ऐसा मान कर वर्तना कालका उपकार कहा है। **शंका**—णिजर्थ क्या है ? **समाधान**—द्रव्यकी पर्याय वदलती है और उसे वदलानेवाला काल है। **शंका**—यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है ? जैसे शिष्य पढता है और उपाध्याय पढाता हे। (यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है।) **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि निमित्त मात्रमे भी हेतुकर्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे कडेकी अग्नि पढाती है। यहाँ कडेकी अग्नि निमित्तमात्र हे उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है। **शंका**—वह काल है यह कैसे जाना जाता है ? **समाधान**—समयादिक क्रियाविशेषोकी और समयादिकके द्वारा होनेवाले पाक आदिककी समय, पाक इत्यादि रूपसे अपनी अपनी रौढिक सज्ञाके रहते हुए भी उसमे जो समय काल, ओदनपाक काल इत्यादि रूपसे काल सज्ञाका अध्यारोप होता है वह उस सज्ञाके निमित्तभूत मुख्यकालके अस्तित्वका ज्ञान कराता है, क्योकि गौण व्यवहार मुख्यकी अपेक्षा रखता है। एक धर्मकी निवृत्ति करके दूसरे धर्मके पैदा करने रूप और परिस्पन्दसे रहित द्रव्यकी जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। यथा जीवके क्रोधादि और पुद्गलके वर्णादि। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यमे परिणाम होता है जो अगुरुलघु गुणो (अविभाग-

---

1. -र्त्यते वर्तते वर्तन- मु. 2 कारीषाग्नि- आ। 3 'हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे भिक्षादिषु दर्शनात्। हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे द्रष्टव्य। यावद् ब्रूयान्निमित्तं कारणमिति तावद्धेतुरिति। किं प्रयोजनम्? भिक्षादिषु दर्शनात्। भिक्षादिष्वपि णिज्दृश्यते भिक्षा वासयन्ति कारीषोऽग्निरध्यापयति इति।'- पा. म भा 3, 1, 2, 26। 4. -दिष्वसंज्ञा- मु। 5. पाककाल. मु।

गुणवृद्धिहानिकृत । क्रिया परिस्पन्दात्मिका[1] । सा द्विविधा; प्रायोगिकवैस्रसिकभेदात् । तत्र प्रायोगिकी शकटादीनाम्, वैस्रसिकी मेघादीनाम् । परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्त । तत्र [2]कालोपकारप्रकरणात्कालकृते गृह्येते । त एते वर्तनादय उपकारा कालस्यास्तित्वं गमयन्ति । ननु 'वर्तना'ग्रहणमेवास्तु, तद्भेदाः परिणामादयस्तेषां पृथग्ग्रहणमनर्थकम् ? नानर्थकम्; कालद्वयसूचनार्थत्वात्प्रपञ्चस्य । कालो हि द्विविध परमार्थकालो व्यवहारकालश्च । परमार्थकालो वर्तनालक्षणः । परिणामादिलक्षणो व्यवहारकाल. । अन्येन परिच्छिन्नः अन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवह्रियते । स त्रिधा व्यवतिष्ठते—भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति । तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः । भूतादिव्यपदेशो गौणः । व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः । कालव्यपदेशो गौणः; क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात्कालकृतत्वाच्च । अत्राह, धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवकालानामुपकारा उक्ता । लक्षण चोक्तम् 'उपयोगो लक्षणम्' इत्येवमादि । पुद्गलानां नु सामान्यलक्षणमुक्तम्[3] 'अजीवकायाः' इति । विशेषलक्षणं नोक्तम् । तत्किमित्यत्रोच्यते—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥23॥

§ 570. **स्पृश्यते स्पर्शनमात्रं वा स्पर्शः ।** सोऽष्टविधः; मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात् । रस्यते रसनमात्रं वा रसः । स पञ्चविध ; तिक्ताम्लकटुकमधुरकषायभेदात् ।

प्रतिच्छेदो) की वृद्धि और हानिसे उत्पन्न होता है । द्रव्यमे जो परिस्पन्दरूप परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं । प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे वह दो प्रकारकी है । उनमे-से गाडी आदि की प्रायोगिक क्रिया है और मेघादिककी वैस्रसिकी । परत्व और अपरत्व दो प्रकारका है—क्षेत्रकृत और कालकृत । प्रकृतमे कालकृत उपकारका प्रकरण है, इसलिए कालकृत परत्व और अपरत्व लिये गये है । ये सव वर्तनादिक उपकार कालके अस्तित्वका ज्ञान कराते हैं । **शंका**—सूत्रमे केवल वर्तना पदका ग्रहण करना पर्याप्त है । परिणाम आदिक उसके भेद हैं, अत उनका अलगसे ग्रहण करना निष्फल है । **समाधान**—परिणाम आदिकका अलगसे ग्रहण करना निष्फल नही है, क्योकि दो प्रकारके कालके सूचन करनेके लिए इतना विस्तारसे कथन किया है । काल दो प्रकारका है—परमार्थ काल और व्यवहारकाल । इनमे-से परमार्थ काल वर्तना लक्षणवाला है और परिणाम आदि लक्षणवाला व्यवहार काल है । तात्पर्य यह है कि जो क्रिया विशेष अन्यसे परिच्छिन्न होकर अन्यके परिच्छेदका हेतु हैं उसमे काल इस प्रकारका व्यवहार किया गया है । वह काल तीन प्रकारका है—भूत, वर्तमान और भविष्यत् । उनमे-से परमार्थ कालमे काल यह सज्ञा मुख्य है और भूतादिक व्यपदेश गौण है । तथा व्यवहार कालमे भूतादिकरूप सज्ञा मुख्य है और काल सज्ञा गौण है, क्योकि इस प्रकारका व्यवहार क्रिया वाले द्रव्यकी अपेक्षासे होता है तथा कालका कार्य है । यहाँ पर शकाकार कहता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल द्रव्यका उपकार कहा तथा, 'उपयोगो लक्षणम्' इत्यादि सूत्र द्वारा इनका लक्षण भी कहा । इसी प्रकार 'अजीवकाया' इत्यादि सूत्र द्वारा पुद्गलोका सामान्य लक्षण भी कहा, किन्तु पुद्गलोका विशेष लक्षण नही कहा, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले पुद्गल होते हैं ॥23॥

§ 570 जो स्पर्श किया जाता है उसे या स्पर्शनमात्रको स्पर्श कहते हैं । कोमल, कठोर, भारी, हल्का, ठडा, गरम, स्निग्ध और रूक्षके भेदसे वह आठ प्रकारका है । जो स्वाद रूप होता

---

1 -त्मिका । परत्वापरत्वे ता. । 2 कालोपकरणा- मु । 3 -मुक्त विशेष- आ, दि 1, दि 2 ।

गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्ध.। स द्वेधा; सुरभिरसुरभि[1]रिति। वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः। स पञ्चविधः, कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात्। त एते मूलभेदाः प्रत्येकं संख्येयासंख्येयानन्तभेदाश्च भवन्ति। स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्त एतेषां सन्तीति स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त इति। नित्ययोगे [2]मतुनिर्देशः। यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति। ननु च रूपिणः पुद्गला इत्यत्र पुद्गलानां रूपवत्त्वमुक्तं तदविनाभाविनश्च रसादयस्तत्रैव परिगृहीता इति व्याख्यातं तस्मात्तेनैव पुद्गलानां रूपादिमत्त्वसिद्धे. सूत्रमिदमनर्थकमिति ? नैष दोषः; 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्यत्र धर्मादीनां नित्यत्वादिनिरूपणेन पुद्गलानामरूपित्वप्रसंगे तदपाकरणार्थं तदुक्तम्। इदं तु तेषां स्वरूपविशेषप्रतिपत्त्यर्थमुच्यते।

§ 571. अवशिष्टपुद्गलविकारप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥24॥

§ 572. शब्दो द्विविधः भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषालक्षणो द्विविधः—साक्षरोऽनक्षरश्चेति। अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः। अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः। स एष सर्वः प्रायोगिकः। अभाषात्मको

है या स्वादमात्रको रस कहते है। तीता, खट्टा, कड़ुआ, मीठा और कसैलाके भेदसे वह पाँच प्रकारका है। जो सूँघा जाता है या सूँघनेमात्रको गन्ध कहते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे वह दो प्रकारका है। जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्रको वर्ण कहते है। काला, नीला, पीला, सफेद और लालके भेदसे वह पाँच प्रकारका है। ये स्पर्श आदिके मूल भेद है। वैसे प्रत्येकके सख्यात, असख्यात और अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार ये स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनमे पाये जाते है वे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले कहे जाते हैं। इनका पुद्गल द्रव्यसे सदा सम्बन्ध है यह वतलाने के लिए 'मतुप्' प्रत्यय किया है। जैसे 'क्षीरिणो न्यग्रोधा.'। यहाँ न्यग्रोध वृक्षमे दूधका सदा सम्बन्ध वतलानेके लिए 'णिनी' प्रत्यय किया है—उसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। शंका—'रूपिण पुद्गला' इस सूत्रमे पुद्गलोको रूपवाला बतला आये है। और रसादिक वही रहते है जहाँ रूप पाया जाता है, क्योकि इनका परस्परमे सहचर नामका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिए रूपके ग्रहण करनेसे रसादिका ग्रहण हो ही जाता है यह भी पहले वतला आये हैं, इसलिए उसी सूत्रके वलमे पुद्गल रूपादिवाला सिद्ध हो जाता है अतः यह सूत्र निष्फल है? समाधान—यह कोई दोप नही है, क्योकि 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्रमे धर्मादिक द्रव्योका नित्य आदि रूपमे निरूपण किया है इससे पुद्गलोको अरूपित्व प्राप्त हुआ, अत. इस दोप के दूर करनेके लिए 'रूपिण पुद्गलाः' यह सूत्र कहा है। परन्तु यह सूत्र पुद्गलोके स्वरूप विशेपका ज्ञान कराने के लिए कहा है।

§ 571 अव पुद्गलोको शेप रही पर्यायोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

तथा वे शब्द, वन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतवाले होते हैं ॥24॥

§ 572 भाषारूप शब्द और अभाषारूप शब्द इस प्रकार शब्दोके दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—साक्षर और अनक्षर। जिसमे शास्त्र रचे जाते है और जिससे आर्य और म्लेच्छोका व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सव साक्षर शब्द है। जिससे उनके सातिशय ज्ञानके स्वरूपका पता लगता है ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवोके शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। ये दोनो प्रकारके शब्द प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—

---

1 सुरभिदुरभि- आ दि 1, दि 2। 2 -मन्निर्देश मु। मत्निर्देश ना.।

द्विविधः प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। वैस्रसिको वलाहकादिप्रभवः। प्रायोगिकश्चतुर्धा, ततविततघनसौषिरभेदात्। तत्र चर्मतननिमित्तः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवस्ततः। तन्त्रीकृतवीणासुघोषादिसमुद्भवो विततः। तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घनः। वशशंखादिनिमित्तः सौषिरः। बन्धो द्विविधः—वैस्रसिक प्रायोगिकश्च। पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिक। तद्यथा-स्निग्धरूक्षत्वगुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषय। पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति द्विधा भिन्नः। तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः। जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः। सौक्ष्म्यं द्विविधं—अन्त्यमापेक्षिक च। तत्रान्त्यं परमाणूनाम्। आपेक्षिक विल्वामलकबदरादीनाम्। स्थौल्यमपि द्विविधमन्त्यमापेक्षिक चेति। तत्रान्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे। आपेक्षिकं बदरामलकविल्वतालादिषु। संस्थानमाकृतिः। तद् द्विविधम्—इत्थंलक्षणमनित्थंलक्षणं चेति। वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादीनामित्थंलक्षणम्। अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्यमिदमिति निरूपणाभावादनित्थंलक्षणम्। भेदाः षोढा; उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात्। तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम्। चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः। खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः। चूर्णिका माषमुद्गादीनाम्। प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम्। अणुचटनं सन्तप्तायःपिण्डादिषु अयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः। तमो दृष्टिप्रतिबन्ध-

---

प्रायोगिक और वैस्रसिक। मेघ आदि के निमित्तसे जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे वैस्रसिक शब्द हैं। तथा तत, वितत, घन और सौषिरके भेदसे प्रायोगिक शब्द चार प्रकारके है। चमडेसे मढे हुए पुष्कर, भेरी और दर्दुरसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह तत शब्द है। तांतवाले वीणा और सुघोष आदिसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितत शब्द है। ताल, घण्टा और लालन आदिके ताडनसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है तथा बाँसुरी और शख आदिके फूँकनेसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है। बन्धके दो भेद हैं—वैस्रसिक और प्रायोगिक। जिसमे पुरुषका प्रयोग अपेक्षित नही है वह वैस्रसिक बन्ध है। जैसे, स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे होनेवाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदिका विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है। और जो बन्ध पुरुषके प्रयोगके निमित्तसे होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। इसके दो भेद है—अजीवसम्बन्धी और जीवाजीवसम्बन्धी। लाख और लकडी आदिका अजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। तथा कर्म और नोकर्मका जो जीवसे बन्ध होता है वह जीवाजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। सूक्ष्मताके दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणुओमे अन्त्य सूक्ष्मत्व है। तथा बेल, आँवला और बेर आदिमे आपेक्षिक सूक्ष्मत्व है। स्थौल्य भी दो प्रकारका है—अन्त्य और आपेक्षिक। जगव्यापी महास्कधमें अन्त्य स्थौल्य है। तथा बेर, आंवला और बेल आदिमे आपेक्षिक स्थौल्य है। सस्थानका अर्थ आकृति है। इसके दो भेद है—इत्थलक्षण और अनित्थलक्षण। जिसके विषयमे *'यह सस्थान इस प्रकारका है' यह निर्देश किया जा सके वह इत्थलक्षण सस्थान है।* वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल आदि ये सब इत्थलक्षण सस्थान हैं। तथा इससे अतिरिक्त मेघ आदिके आकार जो कि अनेक प्रकारके है और जिनके विषयमे यह इस प्रकारका है यह नही कहा जा सकता वह अनित्थलक्षण सस्थान है। भेदके छह भेद हैं—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन। करोत आदिसे जो लकडी आदि को चीरा जाना है वह उत्कर नामका भेद है। जौ और गेहूँ आदिका जो सत्तू और कनक आदि बनता है वह चूर्ण नामका भेद है। घट आदिके जो कपाल और शर्करा आदि टुकडे होते हैं वह खण्ड नामका भेद है। उडद और मूग आदिका जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नामका भेद है। मेघके जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं वह प्रतर नामका भेद है। तपाये हुए लोहेके गोले आदिको घन

कारणं प्रकाशविरोधि। छाया प्रकाशावरणनिमित्ता। सा द्वेधा—वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका चेति। आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षण। उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिप्रभवः प्रकाशः। त एते शब्दादयः पुद्गलद्रव्यविकाराः। त एषां सन्तीति शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः पुद्गला इत्यभिसंबध्यते। 'च'शब्देन नोदनाभिघातादयः पुद्गलपरिणामा आगमे प्रसिद्धाः समुच्चीयन्ते।

§ 573. उक्तानां पुद्गलानां भेदप्रदर्शनार्थमाह—

अणवः स्कन्धाश्च ॥25॥

§ 574. प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणवः। सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च॥ उक्तं च—

"अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि॥"[1]

स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारस्कन्धनात्स्कन्धा इति संज्ञायन्ते। रूढौ क्रिया क्वचित्सती उपलक्षणत्वेनाश्रीयते इति ग्रहणादिव्यापारायोग्येष्वपि द्व्यणुकादिषु स्कन्धाख्या प्रवर्तते। अनन्तभेदा अपि पुद्गला अणुजात्या स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमापद्यमानाः सर्वे गृह्यन्त इति

आदिसे पीटने पर जो फुलगे निकलते है वह अणुचटन नामका भेद है। जिससे दृष्टिमे प्रतिबन्ध होता है और जो प्रकाशका विरोधी है वह तम कहलाता है। प्रकाशको रोकनेवाले पदार्थोके निमित्तसे जो पैदा होती है वह छाया कहलाती है। उसके दो भेद हैं—एक तो वर्णादिके विकार रूपमे परिणत हुई और दूसरी प्रतिबिम्बरूप। जो सूर्यके निमित्तसे उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं। तथा चन्द्रमणि और जुगुनू आदिके निमित्तसे जो प्रकाश पैदा होता है उसे उद्योत कहते है। ये सब शब्दादिक पुद्गल द्रव्यके विकार (पर्याय) है। इसीलिए सूत्रमे पुद्गलको इन शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योतवाला कहा है। सूत्रमे दिये हुए 'च' शब्द से नोदन अभिघात आदिक जो पुद्गलकी पर्याये आगममे प्रसिद्ध है उनका संग्रह करना चाहिए।

तज्जात्याधारानन्तभेदसंसूचनार्थं बहुवचनं क्रियते। अणवः स्कन्धा इति भेदाभिधान पूर्वोक्त-सूत्रद्वयभेदसंबन्धनार्थम्। स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तोऽणवः। स्कन्धाः पुनः शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य-संस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च स्पर्शादिमन्तश्चेति।

§ 575. आह, किमेषां पुद्गलानामणुस्कन्धलक्षणः परिणामोऽनादिरुत आदिमानित्युच्यते। स खलूत्पत्तिमत्त्वादादिमान्प्रतिज्ञायते। यद्येवं तस्मादभिधीयतां कस्मान्निमित्तादुत्पद्यन्त इति। तत्र स्कन्धानां तावदुत्पत्तिहेतुप्रतिपादनार्थमुच्यते—

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥26॥

§ 576. संघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः। पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः संघातः। ननु च द्वित्वाद् द्विवचनेन भवितव्यम्। बहुवचननिर्देशस्त्रित[1]यसंग्रहार्थः। भेदात्संघाताद् भेदसंघाताभ्यां च उत्पद्यन्त इति। तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेश स्कन्ध उत्पद्यते। द्विप्रदेशस्याणोश्च त्रयाणां वा अणूनां संघातात्त्रिप्रदेशः। द्वयोर्द्विप्रदेशयोस्त्रिप्रदेशस्याणोश्च चतुर्णां वा अणूनां संघाताच्चतुःप्रदेशः। एवं संख्येयासंख्येयान[2]न्तानामनन्तानन्तानां च संघातात्तावत्प्रदेशः। एषामेव भेदात्ता[3]वद द्विप्रदेशपर्यन्ता स्कन्धा उत्पद्यन्ते। एवं भेदसंघाताभ्या-

---

इस प्रकार पुद्गलोकी इन दोनो जातियोके आधारभूत अनन्त भेदोके सूचन करनेके लिए सूत्रमे वहुवचनका निर्देश किया है। यद्यपि सूत्रमे अणु और स्कन्ध इन दोनो पदोको समसित रखा जा सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणव स्कन्धा' इस प्रकार भेद रूपसे जो कथन किया है वह इस सूत्रसे पहले कहे गये दो सूत्रोके साथ अलग अलग सम्बन्ध बतलानेके लिए किया है। जिससे यह ज्ञात हो कि अणु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य सस्थान, भेद, छाया, आतप और उद्योतवाले हैं तथा स्पर्शादिवाले भी हैं।

§ 575. इन पुद्गलोका अणु और स्कन्धरूप परिणाम होना अनादि है या सादि ? वह उत्पन्न होता है इसलिए सादि है। यदि ऐसा है तो उस निमित्तका कथन करो जिससे अणु और स्कन्ध ये भेद उत्पन्न होते है। इसलिए पहले स्कन्धोकी उत्पत्तिके हेतुका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

भेदसे, संघातसे तथा भेद और संघात दोनोसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ॥26॥

§ 576 अन्तरग और बहिरग इन दोनो प्रकारके निमित्तोसे सघातोके विदारण करनेको भेद कहते हैं। तथा पृथग्भूत हुए पदार्थोके एकरूप हो जानेको सघात कहते हैं। **शंका**—भेद और सघात दो है, इसलिए सूत्रमे द्विवचन होना चाहिए ? **समाधान**—तीनका सग्रह करनेके लिए सूत्रमे बहुवचनका निर्देश किया है। जिससे यह अर्थ सम्पन्न होता है कि भेदसे, सघातसे तथा भेद और सघात इन दोनोसे स्कन्ध उत्पन्न होते है। खुलासा इस प्रकार है—दो परमाणुओके संघातसे दो प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके सघातसे या तीन अणुओके संघातसे तीन प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले दो स्कन्धोके सघातसे, तीन प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके सघातसे या चार अणुओके सघातसे चार प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार सख्यात, असख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त अणुओके सघातसे उतने उतने प्रदेशोवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तथा इन्ही सख्यात आदि परमाणुवाले स्कन्धोके भेदसे दो प्रदेशवाले स्कन्ध तक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार एक समयमे होनेवाले भेद

---

1. तृतीय- मु.। 2. -ख्येयानन्ताना च सघा- ता, ना.। 3. भेदाद्द्विप्रदे- ता., आ., दि. 1, दि. 2।

मेकसमयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । अन्यतो भेदेनान्यस्य संघातेनेति । एवं स्कन्धानामुत्पत्तिहेतुरुक्त: ।

§ 577. अणोरुत्पत्तिहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

भेदादणुः ॥27॥

§ 578. "सिद्धे[1] विधिरारभ्यमाणो नियमार्थो भवति ।" अणोरुत्पत्तिर्भेदादेव, न संघातान्नापि भेदसंघाताभ्यामिति ।

§ 579 आह, संघातादेव स्कन्धानामात्मलाभे सिद्धे भेदसंघातग्रहणमनर्थकमिति तद्ग्रहणप्रयोजनप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥28॥

§ 580. अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि कश्चिच्चाक्षुषः कश्चिदचाक्षुषः । तत्र योऽचाक्षुषः स कथं चाक्षुषो भवतीति चेदुच्यते—भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः । न भेदादिति । कात्रोपपत्तिरिति चेत् ? ब्रूमः; सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव । सौक्ष्म्यपरिणतः पुनरपरः सत्यपि तद्भेदेऽन्यसंघातान्तरसंयोगात्सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति ।

और सघात इन दोनोसे दो प्रदेशवाले आदि स्कन्ध उत्पन्न होते है । तात्पर्य यह है कि जब अन्य स्कन्ध से भेद होता है और अन्यका सघात, तब एक साथ भेद और सघात इन दोनोंसे भी स्कन्धकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण कहा ।

§ 577. अब अणुकी उत्पत्तिके हेतुको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

भेदसे अणु उत्पन्न होता है ॥27॥

§ 578. कोई विधि सिद्ध हो, फिर भी यदि उसका आरम्भ किया जाता है तो वह नियम के लिए होती है । तात्पर्य यह है कि अणु भेदसे होता है यद्यपि यह सिद्ध है फिर भी 'भेदादणु' इस सूत्रके निर्माण करनेसे यह नियम फलित होता है कि अणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है । न सघातसे होती है और न भेद और सघात इन दोनोसे ही होती है ।

§ 579. जब सघातसे ही स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है तब सूत्रमे भेद और सघात इन दोनों पदोंका ग्रहण करना निष्फल है ? अत इन दोनों पदोके ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है इसका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भेद और सघातसे चाक्षुष स्कन्ध बनता है ॥28॥

§ 580 अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायसे निष्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है और कोई अचाक्षुष । उसमें जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे होता है इसी बातके बतलानेके लिए यह कहा है कि भेद और सघातसे चाक्षुष स्कन्ध होता है, केवल भेदसे नहीं, यह इस सूत्रका अभिप्राय है । शंका—इसका क्या कारण है ? समाधान—आगे इसी कारणको बतलाते है—सूक्ष्मपरिणामवाले स्कन्धका भेद होनेपर वह अपनी सूक्ष्मताको नहीं छोड़ता इसलिए उसमें अचाक्षुषपना ही रहता है । एक दूसरा सूक्ष्मपरिणामवाला स्कन्ध है जिसका यद्यपि भेद हुआ तथापि उसका दूसरे सघातसे सयोग हो गया अत सूक्ष्मपना निकलकर उसमें स्थूलपनेकी उत्पत्ति हो जाती है और इसलिए वह चाक्षुष हो जाता है ।

---

1. 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' [illegible]

§ 581. आह, धर्मादीनां द्रव्याणां विशेषलक्षणान्युक्तानि, सामान्यलक्षणं नोक्तम्, तद्वक्तव्यम् । उच्यते—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥29॥

§ 582. यत्सत्तद् द्रव्यमित्यर्थः ।

§ 583 यद्येवं तदेव तावद्वक्तव्यं किं सत् । इत्यत आह—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥30॥

§ 584. चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत[1] उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् । तथा पूर्वभावविगमनं व्यय । यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृते. । अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः ! ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम् । यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः । तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तं[2] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति । आह, भेदे सति युक्तशब्दो दृष्ट । यथा दण्डेन युक्तो देवदत्त इति । तथा सति तेषां त्रयाणां तैर्युक्तस्य द्रव्यस्य चाभावः प्राप्नोति ? नैष दोषः; अभेदेऽपि कथंचिद् भेदनयापेक्षया युक्तशब्दो दृष्टः । यथा सारयुक्तः स्तम्भ इति । तथा सति तेषामविनाभावात्सद्व्यपदेशो युक्तः । समाधिवचनो वा युक्तशब्दः । युक्तः समाहितस्तदात्मक इत्यर्थः । उत्पादव्यय-

---

§ 581 धर्मादिक द्रव्यके विशेष लक्षण कहे, सामान्य लक्षण नही कहा, जो कहना चाहिए इसलिए सूत्र द्वारा सामान्य लक्षण कहते है—

द्रव्यका लक्षण सत् है ॥29॥

§ 582 जो सत् है वह द्रव्य है यह इस सूत्रका भाव है ।

§ 583. यदि ऐसा है तो यही कहिए कि सत् क्या है ? इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त अर्थात् इन तीनोरूप है वह सत् है ॥30॥

§ 584. द्रव्य दो हैं—चेतन और अचेतन । वे अपनी जातिको तो कभी नही छोडते फिर भी उनकी अन्तरग और बहिरग निमित्तके वशसे प्रति समय जो नवीन अवस्थाकी प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं । जैसे मिट्टीके पिण्डकी घट पर्याय । तथा पूर्व अवस्थाके त्यागको व्यय कहते हैं । जैसे घटकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डरूप आकारका त्याग तथा जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नही होता किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिए उसे ध्रुव कहते है । तथा इस ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है । जैसे मिट्टीके पिण्ड और घटादि अवस्थाओमे मिट्टीका अन्वय बना रहता है । इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे जो युक्त है वह सत् है । **शंका**—भेदके रहते हुए युक्त शब्द देखा जाता है । जैसे दण्डसे युक्त देवदत्त । यहाँ दण्ड और देवदत्तमे भेद है प्रकृतमें भी यदि ऐसा मान लिया जाय तो उन तीनोका और उन तीनोसे युक्त द्रव्यका अभाव प्राप्त होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि अभेदमे भी कथंचित् भेदग्राही नयकी अपेक्षा युक्त शब्दका प्रयोग देखा जाता है । जैसे सार युक्त स्तम्भ । ऐसी हालतमे उन तीनोका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से यहाँ युक्त शब्दका प्रयोग करना युक्त है । अथवा यह युक्त शब्द समाधिवाची है । भाव यह है कि युक्त, समाहित और तदात्मक ये तीनो एकार्थवाची शब्द है जिससे 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है' इसका भाव 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है' यह होता है । उक्त कथन

---

1. -जहत निमित- आ, दि. 1, दि 2 । 2 -ध्रौव्यैर्युक्त सदिति मु. ।

ध्रौव्ययुक्तं सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमिति यावत्। एतदुक्तं भवति—उत्पादादीनि[1] द्रव्यस्य लक्षणानि। द्रव्यं लक्ष्यम्[2]। तत्र पर्यायार्थिकनयापेक्षया परस्परतो द्रव्याच्चार्थान्तरभावः। द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यतिरेकेणानुपलब्धेरनर्थान्तरभावः। इति लक्ष्यलक्षणभावसिद्धिः।

§ 585. आह 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्युक्त तत्र न ज्ञायते किं नित्यमित्यत आह—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥31॥

§ 586. 'तद्भाव' इत्युच्यते। कस्तद्भावः? प्रत्यभिज्ञानहेतुता। तदेवेदमिति स्मरण

का तात्पर्य यह है कि उत्पाद आदि द्रव्यके लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। यदि इनका पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा विचार करते है तो ये आपसमे और द्रव्यसे पृथक् पृथक् है और यदि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा विचार करते हैं तो ये पृथक् पृथक् उपलब्ध नही होनेसे अभिन्न है। इस प्रकार इनमे और द्रव्यमे लक्ष्य-लक्षणभावकी सिद्धि होती है।

विशेषार्थ—यहाँ द्रव्यका लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव बतलाया है। उभय निमित्तवश अपनी जातिका त्याग किये बिना नवीन पर्यायकी प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्यायका त्याग व्यय है, और अनादि पारिणामिक स्वभावरूप अन्वयका बना रहना ध्रौव्य है। उदाहरणार्थ— कोयला जलकर राख हो जाता है, इसमे पुद्गलकी कोयलारूप पर्यायका व्यय हुआ है और क्षार रूप पर्यायका उत्पाद हुआ है, किन्तु दोनो अवस्थाओमे पुद्गल द्रव्यका अस्तित्व बना रहता है। पुद्गलपनेका कभी भी नाश नही होता यही उसकी ध्रुवता है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और उसमे यह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है। जैसे दूध कुछ समय बाद दही रूपसे परिणम जाता है और फिर दहीका मट्ठा बना लिया जाता है, यहाँ यद्यपि दूधसे दही और दहीसे मट्ठा ये तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हुई है पर है ये तीनो एक गोरसकी ही। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यमे अवस्था भेदके होनेपर भी उसका अन्वय पाया जाता है, इसलिए वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त सिद्ध होता है। यह प्रत्येक द्रव्यका सामान्य स्वभाव है। अब प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक द्रव्य एक साथ तीनरूप कैसे हो सकता है। कदाचित् कालभेदसे उसे उत्पाद और व्ययरूप मान भी लिया जाय, क्योकि जिसका उत्पाद होता है उसका कालान्तर मे नाश अवश्य होता है। तथापि वह ऐसी अवस्थामे ध्रौव्यरूप नही हो सकता, क्योकि जिसका उत्पाद और व्यय होता है उसे ध्रौव्य स्वभाव माननेमे विरोध आता है। समाधान यह है कि अवस्थाभेदसे द्रव्यमे ये तीनों धर्म माने गये है। जिस समय द्रव्यकी पूर्व अवस्था नाशको प्राप्त होती है उसी समय उसकी नयी अवस्था उत्पन्न होती है फिर भी उसका त्रैकालिक अन्वय स्वभाव बना रहता है। इसी बातको आचार्य समन्तभद्रने इन शब्दोमे व्यक्त किया है—'घटका इच्छुक उसका नाश होने पर दुखी होता है, मुकुटका इच्छुक उसका उत्पाद होनेपर हर्षित होता है और स्वर्णका इच्छुक न दुखी होता है न हर्षित होता है, वह मध्यस्थ रहता है।' एक ही समयमें यह शोक, प्रमोद और मध्यस्थभाव बिना कारणके नही हो सकता, इससे प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुत है यह सिद्ध होता है।

§ 585. 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' यह सूत्र कह आये है। वहाँ यह नही ज्ञात होता कि नित्य क्या है, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उसके भावसे (अपनी जातिसे) च्युत न होना नित्य है ॥31॥

§ 586. अब तद्भाव इस पदका खुलासा करते हैं। शंका—'तद्भाव' क्या वस्तु है?

---

1. -दादीनि त्रीणि द्रव्य —मु.। 2 लक्ष्यम्। तत्पर्या- मु, आ, दि 1।

प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स तद्भावः। भवनं भावः। तस्य भावस्तद्भावः। येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। यद्यत्यन्तनिरोधोऽभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव वा स्यात्ततः स्मरणानुपपत्तिः। तदधीनो लोकसंव्यवहारो विरुध्यते। ततस्तद्भावेनाव्ययं[3] तद्भावाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते। तत् तु कथंचिद्वेदितव्यम्। सर्वथा नित्यत्वे अन्यथाभावाभावात्संसारतद्विनिवृत्तिकारणप्रक्रियाविरोधः स्यात्।

§ 587. ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेवानित्यमिति। यदि नित्यं व्ययोदयाभावादनित्यताव्याघातः। अथानित्यमेव स्थित्यभावान्नित्यताव्याघात इति? नैतद्विरुद्धम्। कुत —

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥32॥

§ 588. अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया[4] प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। अर्पितं चानर्पित चार्पितानर्पिते। ताभ्यां सिद्धेरर्पितानर्पितसिद्धेर्नास्ति विरोध। तद्यथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता[5] भागिनेय इत्येवमादय

समाधान—जो प्रत्यभिज्ञानका कारण है वह तद्भाव है, 'वही यह है' इस प्रकारके स्मरणको प्रत्यभिज्ञान कहते है। वह अकस्मात् तो होता नही, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है। इसकी निरुक्ति 'भवन भाव, तस्य भाव तदभाव' इस प्रकार होती है। तात्पर्य यह है कि पहले जिसरूप वस्तुको देखा है उसी रूप उसके पुन होनेसे 'यह वही है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्व वस्तुका सर्वथा नाश हो जाय या सर्वथा नयी वस्तुका उत्पाद माना जाय तो इससे स्मरणकी उत्पत्ति नही हो सकती और स्मरणकी उत्पत्ति न हो सकनेसे स्मरणके आधीन जितना लोकसव्यवहार चालू है वह सब विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए जिस वस्तुका जो भाव है उस रूपसे च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है। परन्तु इसे कथञ्चित् जानना चाहिए। यदि सर्वथा नित्यता मान ली जाय तो परिणमनका सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और ऐसा होनेसे ससार और इसकी निवृत्तिके कारणरूप प्रक्रियाका विरोध प्राप्त होता है।

§ 587 शंका—उसीको नित्य कहना और उसीको अनित्य कहना यही विरुद्ध है। यदि नित्य है तो उसका व्यय और उत्पाद न होनेसे उसमे अनित्यता नही बनती। और यदि अनित्य है तो स्थितिका अभाव होनेसे नित्यताका व्याघात होता है? समाधान—नित्यता और अनित्यताका एक साथ रहना विरुद्ध नही है, क्योकि—

मुख्यता और गौणताकी अपेक्षा एक वस्तुमे विरोधी मालूम पड़नेवाले दो धर्मोंकी सिद्धि होती है ॥32॥

§ 588 वस्तु अनेकान्तात्मक है। प्रयोजनके अनुसार उसके किसी एक धर्मको विवक्षासे जब प्रधानता प्राप्त होती है तो वह अर्पित या उपनीत कहलाता है और प्रयोजनके अभावमे जिसकी प्रधानता नही रहती वह अनर्पित कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु या धर्मके रहते हुए भी उसकी विवक्षा नही होती, इसलिए जो गौण हो जाता वह अनर्पित कहलाता है। इन दोनोका 'अनर्पित च अर्पित च' इस प्रकार द्वन्द्व समास है। इन दोनोकी अपेक्षा एक वस्तुमे परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सिद्धि होती है, इसलिए कोई विरोध नही है। खुलासा इस

---

1 तद्भाव। तस्य मु। 2 -त्यन्तावेरोधो मु। 3. -नाव्यय नित्य- मु। 4 विवक्षाया- आ, दि 1, दि 2। 5. भ्राता माता भाग- मु.।

संबन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते; अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यम्, विशेषार्पणयानित्यमिति नास्ति विरोधः। तौ च सामान्यविशेषौ कथंचिद् भेदाभेदाभ्यां व्यवहारहेतू भवतः।

§ 589. अत्राह, सतोऽनेकनयव्यवहारतन्त्रत्वात् उपपन्ना भेदसंघातेभ्य सतां [1]स्कन्धात्मनोत्पत्तिः। इदं तु संदिग्धम्, किं संघातः संयोगादेव द्व्यणुकादिलक्षणो भवति, उत कश्चिद्विशेषोऽवध्रियत इति? उच्यते, 'सति संयोगे बन्धादेकत्वपरिणामात्मकात्संघातो निष्पद्यते। यद्येवमिदमुच्यतां, कुतो[2] नु खलु पुद्गलजात्यपरित्यागे[3] संयोगे च सति भवति केषांचिद् बन्धोऽन्येषां च नेति? उच्यते, यस्मात्तेषां पुद्गलात्माविशेषेऽप्यनन्तपर्यायाणां परस्परविलक्षणपरिणामादाहितसामर्थ्याद्भवन्प्रतीतः—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥33॥

§ 590. बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते[4] स्मेति स्निग्ध। तथा रूक्षणाद्रूक्षः। स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ। तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वम्। स्निग्धत्वं चिक्कणगुणलक्षणः पर्यायः। तद्विपरीतपरिणामो रूक्षत्वम्। 'स्निग्धरूक्षत्वात्' इति हेतुनिर्देश। तत्कृतो

प्रकार है—जैसे देवदत्तके पिता, पुत्र, भाई और भान्जे इसी प्रकार और भी जनकत्व और जन्यत्व आदिके निमित्तसे होने वाले सम्बन्ध विरोधको प्राप्त नही होते। जब जिस धर्मकी प्रधानता होती है उस समय उसमे वह धर्म माना जाता है। उदाहरणार्थ—पुत्रकी अपेक्षा वह पिता है और पिताकी अपेक्षा वह पुत्र है आदि। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है, इसलिए कोई विरोध नही है। वे सामान्य और विशेष कथंचित् भेद और अभेदकी अपेक्षा ही व्यवहारके कारण होते है।

§ 589. **शंका**—सत् अनेक प्रकारके नयके व्यवहारके आधीन होनेसे भेद, सघात और भेद-सघातसे स्कन्धोकी उत्पत्ति भले ही बन जावे परन्तु यह सदिग्ध है कि द्व्यणुक आदि लक्षणवाला सघात सयोगसे ही होता है या उसमे और कोई विशेषता है? **समाधान**—सयोगके होनेपर एकत्व परिणमन रूप बन्धसे सघातकी उत्पत्ति होती है। **शंका**—यदि ऐसा है तो यह बतलाइए कि सब पुद्गलजातिके होकर भी उनका सयोग होनेपर किन्हीका बन्ध होता है और किन्हीका नही होता, इसका क्या कारण है? **समाधान**—चूँकि वे सब जातिसे पुद्गल है तो भी उनकी जो अनन्त पर्याये है उनका परस्पर विलक्षण परिणमन होता है, इसलिए उससे जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि—

स्निग्धत्व और रूक्षत्वसे बन्ध होता है ॥33॥

§ 590 बाह्य और आभ्यन्तर कारणसे जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उससे पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति 'स्निह्यते स्मेति स्निग्ध' होगी। तथा रूखापनके कारण पुद्गल रूक्ष कहा जाता है। स्निग्ध पुद्गलका धर्म स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गलका धर्म रूक्षत्व है। पुद्गलकी चिकने गुणरूप जो पर्याय है वह स्निग्धत्व है और इससे जो विपरीत परिणमन है वह रूक्षत्व है। सूत्रमे 'स्निग्धरूक्षत्वात्' इस प्रकार हेतुपरक निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि

---

1. स्कन्धानामेवोत्प- दि 1, दि, 2, आ। 2 -कुतोऽत्र खलु दि. 1, दि. 2। 3. -त्यागे सति मु.।
4 -ह्यतेऽस्मिन्निति मु।

बन्धो द्व्यणुकादिपरिणामः। द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्परश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुक-स्कन्धो भवति। एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेश स्कन्धो योज्यः। तत्र स्नेहगुण एकद्वित्रिचतुः संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पः। तथा रूक्षगुणोऽपि। तद्गुणाः परमाणवः सन्ति। यथा तोयाजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु स्नेहगुणः प्रकर्षाप्रकर्षेण प्रवर्तते। पांशुकणिकाशर्करादिषु च रूक्षगुणो दृष्टः। तथा परमाणुष्वपि स्निग्धरूक्षगुणयोर्वृत्तिः प्रकर्षाप्रकर्षेणानुमीयते।

§ 591. स्निग्धरूक्षत्वगुणनिमित्ते बन्धे अविशेषेण प्रसक्ते अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

न जघन्यगुणानाम् ॥34॥

§ 592. जघन्यो निकृष्टः। गुणो भागः। जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणाः। तेषां जघन्य-गुणानां नास्ति बन्धः। तद्यथा—एकगुणस्निग्धस्यैकगुणस्निग्धेन द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुण-स्निग्धेन वा नास्ति बन्धः। तस्यैवैकगुणस्निग्धस्य एकगुणरूक्षेण द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुण-रूक्षेण वा नास्ति बन्धः। तथा एकगुणरूक्षस्यापि योज्यमिति।

§ 593. एतौ जघन्यगुणस्निग्धरूक्षौ वर्जयित्वा अन्येषां स्निग्धानां रूक्षाणां च परस्परेण बन्धो भवतीत्यविशेषेण प्रसगे तत्रापि प्रतिषेधविषयख्यापनार्थमाह—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥35॥

द्व्यणुक आदि लक्षणवाला जो बन्ध होता है वह इनका कार्य है। स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले दो परमाणुओका परस्पर सश्लेषलक्षण बन्ध होनेपर द्व्यणुक नामका स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। स्निग्ध गुणके एक, दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त भेद है। इसी प्रकार रूक्ष गुणके भी एक, दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात और अनन्त भेद है। और इन गुणवाले परमाणु होते है। जिस प्रकार जल तथा बकरी, गाय, भैस, और ऊँटके दूध और घीमे उत्तरोत्तर अधिक रूपसे स्नेह गुण रहता है तथा पाशु, कणिका और शर्करा आदिमे उत्तरोत्तर न्यूनरूपसे रूक्ष गुण रहता है उसी प्रकार परमाणुओमे भी न्यूनाधिकरूपसे स्निग्ध और रूक्ष गुणका अनुमान होता है।

§ 591 स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणके निमित्तसे सामान्यसे बन्धके प्राप्त होनेपर बन्धमे अप्रयोजनीय गुणके निराकरण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

जघन्य गुणवाले पुद्गलोका बन्ध नही होता ॥34॥

§ 592 यहाँ जघन्य शब्दका अर्थ निकृष्ट है और गुण शब्दका अर्थ भाग है। जिनमे जघन्य गुण होता है अर्थात् जिनका शक्त्यश निकृष्ट होता है वे जघन्य गुणवाले कहलाते हैं। उन जघन्य गुणवालोका बन्ध नही होता। यथा—एक स्निग्ध शक्त्यशवालेका एक स्निग्ध शक्त्यंशवालेके साथ या दो से लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त शक्त्यशवालोंके साथ बन्ध नही होता। उसी प्रकार एक स्निग्ध शक्त्यशवालेका एक रूक्ष शक्त्यशवालेके साथ या दोसे लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त रूक्षशक्त्यशवालोके साथ बन्ध नही होता। उसी प्रकार एक रूक्ष शक्त्यशवालेकी भी योजना करनी चाहिए।

§ 593. इन जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्त्यशवालोके सिवा अन्य स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलोका परस्पर बन्ध सामान्य रीतिसे प्राप्त हुआ, इसलिए इनमे भी जो बन्धयोग्य नही हैं वे प्रतिषेधके विषय हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

गुणोंकी समानता होने पर तुल्यजातिवालोका बन्ध नहीं होता ॥35॥

§ 594. 'सदृश'ग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थम्। 'गुणसाम्य'ग्रहणं तुल्यभागसंप्रत्ययार्थम्। एतदुक्तं भवति—द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः त्रिगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धैः द्विगुणरूक्षाणां द्विगुणरूक्षैश्चेत्येवमादिषु नास्ति बन्ध इति। यद्येवं 'सदृश'ग्रहणं किमर्थम्? गुणवैषम्ये सदृशानामपि बन्धप्रतिपत्त्यर्थं 'सदृश'ग्रहणं क्रियते।

§ 595. अतो विषमगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां चानियमेन बन्धप्रसक्तौ[1] इष्टार्थसंप्रत्ययार्थमिदमुच्यते—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥36॥

§ 596. द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिक। कः पुनरसौ? चतुर्गुणः। 'आदि'शब्दः प्रकारार्थः। कः पुनरसौ प्रकारः? द्व्यधिकता। तेन पञ्चगुणादीनां संप्रत्ययो न भवति। तेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां च बन्ध उक्तो भवति नेतरेषाम्। तद्यथा—द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोरेकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्ध। चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति बन्ध। तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा बन्धो नास्ति। एवं त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति। शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति। चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः। शेषैः पूर्वोत्तरै-

---

§ 594 तुल्य जातिवालोका ज्ञान करानेके लिए सदृश पदका ग्रहण किया है। तुल्य शक्त्यशोका ज्ञान करानेके लिए 'गुणसाम्य' पदका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि दो स्निग्ध शक्त्यशवालोका दो रूक्ष शक्त्यशवालोके साथ, तीन स्निग्ध शक्त्यशवालोका तीन रूक्ष शक्त्यशवालोके साथ, दो स्निग्ध शक्त्यशवालोका दो स्निग्ध शक्त्यशवालोके साथ, दो रूक्ष शक्त्यशवालोका दो रूक्ष शक्त्यशवालोके साथ वन्ध नही होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए। **शंका**—यदि ऐसा है तो सूत्रमे 'सदृश' पद किसलिए ग्रहण किया है? **समाधान**—शक्त्यशोकी असमानताके रहते हुए वन्ध होता है इसका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमे सदृश पद ग्रहण किया है।

§ 595 इस पूर्वोक्त कथनसे समानजातीय या असमानजातीय विषम शक्त्यशवालोका अनियमसे वन्ध प्राप्त हुआ, अत इष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो अधिक आदि शक्त्यंशवालोंका तो वन्ध होता है ॥36॥

§ 596 जिसमे दो शक्त्यश अधिक हो उसे द्व्यधिक कहते है। **शका**—वह द्व्यधिक कौन हुआ? **समाधान**—चार शक्त्यशवाला। सूत्रमे आदि शब्द प्रकारवाची है। **शंका**—वह प्रकार रूप अर्थ क्या है? **समाधान**—द्व्यधिकपना। इससे पाँच शक्त्यश आदिका ज्ञान नही होता। तथा इससे यह भी तात्पर्य निकल आता है कि समानजातीय या असमानजातीय दो अधिक आदि शक्त्यशवालोका वन्ध होता है दूसरोका नही। जैसे दो स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुका एक स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ, दो स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ और तीन स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ वन्ध नही होता। हाँ, चार स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ अवश्य वन्ध होता है। तथा उसी दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका पाँच स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ, इसी प्रकार छह, सात, आठ, सख्यात, असख्यात और अनन्त स्निग्ध शक्त्यश वाले परमाणुके साथ वन्ध नही होता। इसी प्रकार तीन स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुका पाँच स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ वन्ध होता है। किन्तु आगे-पीछेके शेष स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ वन्ध नही होता। चार स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुका छह स्निग्ध शक्त्यशवाले

---

1. —सक्तौ विशिष्टा मु।

र्नास्ति । एवं शेषेष्वपि योज्यः । तया द्विगुणरूक्षस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्ध । चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्ध । तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति बन्धः । एवं त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्यः । एवं भिन्नजातीयेष्वपि योज्यः । उक्तं च—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ।"

'तु'शब्दो विशेषणार्थः । प्रतिषेधं व्यावर्तयति बन्धं च विशेषयति ।

§ 597. किमर्थमधिकगुणविषयो बन्धो व्याख्यातो न समगुणविषय इत्यत आह—

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥37॥

§ 598. अधिकाराद् 'गुण'शब्दः संबध्यते । अधिकगुणावधिकाविति । भावान्तरापादनं पारिणामिकत्वं क्लिन्नगुडवत् । यथा क्लिन्नो गुडोऽधिकमधुररसः परीतानां रेण्वादीनां स्वगुणा[1]-पादनात् पारिणामिकः । तथान्योऽप्यधिकगुणः अल्पीयसः पारिणामिक इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्ष. पारिणामिको भवति । ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते । इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत् सयोगे सत्यप्यपारिणामि-

---

परमाणुके साथ बन्ध होता है किन्तु आगे पीछेके शेष स्निग्ध शक्त्यशवाले परमाणुके साथ बन्ध नही होता । इसी प्रकार यह क्रम आगे भी जानना चाहिए । तथा दो रूक्ष शक्त्यशवाले परमाणुका एक, दो और तीन रूक्ष शक्त्यशवाले परमाणुके साथ बन्ध नही होता । हाँ, चार रूक्ष शक्त्यशवाले परमाणुके साथ अवश्य बन्ध होता है । उसी दो रूक्ष शक्त्यशवाले परमाणुका आगे के पाँच आदि रूक्षशक्त्यंशवाले परमाणुओके साथ बन्ध नही होता । इसी प्रकार तीन आदि रूक्ष शक्त्यशवाले परमाणुओका भी दो अधिक शक्त्यशवाले परमाणुओके साथ बन्ध जान लेना चाहिए । समान जातीय परमाणुओमे बन्धका जो क्रम बतलाया है विजातीय परमाणुओमे भी बन्धका वही क्रम जानना चाहिए । कहा भी है—'स्निग्धका दो अधिक शक्त्यशवाले स्निग्धके साथ बन्ध होता है । रूक्षका दो अधिक शक्त्यशवाले रूक्षके साथ बन्ध होता है । तथा स्निग्धका रूक्षके साथ इसी नियमसे बन्ध होता है । किन्तु जघन्य शक्त्यशवालेका बन्ध सर्वथा वर्जनीय है ।' सूत्रमे 'तु' पद विशेषणपरक है जिससे बन्धके प्रतिषेधका निवारण और बन्धका विधान होता है ।

§ 597. अधिक गुणवालेके साथ बन्ध होता है ऐसा क्यो कहा, समगुणवालेके साथ बन्ध होता है ऐसा क्यो नही कहा ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्ध होते समय दो अधिक गुणवाला परिणमन करानेवाला होता है ॥37॥

§ 598 'गुण' शब्दका अधिकार चला आ रहा है, इसलिए इस सूत्रमे उनका सम्बन्ध होता है, जिससे 'अधिकौ' पदसे 'अधिकगुणौ' अर्थका ग्रहण हो जाता है । गीले गुडके समान एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त कराना पारिमाणिक कहलाता है । जैसे अधिक मीठे रसवाला गीला गुड उस पर पड़ी हुई धूलिको अपने गुणरूपसे परिणमानेके कारण पारिणामिक होता है उसी प्रकार अधिक गुणवाला अन्य भी अल्प गुणवालेका पारिणामिक होता है । इस व्यवस्थाके अनुसार दो शक्त्यंश आदि वाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका चार शक्त्यश आदि वाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु पारिणामिक होता है । इससे पूर्व अवस्थाओका त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है । अतः उनमे एकरूपता आ जाती है । अन्यथा सफेद और काले तन्तुके समान सयोगके होनेसे भी पारिणामिक न होनेसे सब अलग-अलग ही स्थित

---

1. —गुणोत्पाद— मु. दि. 2 ता. ।

कत्वात्सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत। उक्तेन विधिना बन्धे पुनः सति ज्ञानावरणादीनां कर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयादिस्थितिरुपपन्ना भवति।

रहेगा। परन्तु उक्त विधिसे बन्धके होनेपर ज्ञानावरणादि कर्मोकी तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि स्थिति बन जाती है।

विशेषार्थ—यहाँ एक परमाणु आदिका अन्य परमाणु आदिके साथ बन्ध कैसे होता है इसका विचार किया गया है। रूक्ष और स्निग्ध ये विरोधी गुण है। जिसमे स्निग्ध गुण होता है उसमे रूक्षगुण नही होता और जिसमे रूक्ष गुण होता है उसमे स्निग्ध गुण नही होता। ये गुण ही बन्धके कारण होते हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि रूक्ष और स्निग्ध गुणका सद्भावमात्र बन्धका कारण है, क्योकि ऐसा माननेपर एक भी पुद्गल परमाणु बन्धके विना नही रह सकता, इसलिए यहाँपर विधिनिषेध-द्वारा बतलाया गया है कि किन पुद्गल परमाणुओ आदिका परस्परमे बन्ध होता है और किनका नही होता है। जो स्निग्ध और रूक्ष गुण जघन्य शक्त्यश लिये हुए होते है उन पुद्गल-परमाणुओका बन्ध नही होता। इसी प्रकार गुणकी समानताके होनेपर सदृशोका भी बध नही होता किन्तु द्वयधिक गुणवाले पुद्गलपरमाणु आदिका ही द्वियहीन गुणवाले पुद्गलपरमाणुआदि के साथ बन्ध होता है। ऐसा बन्ध स्निग्ध गुणवालेका स्निग्ध गुणवालेके साथ, रूक्ष गुणवालेका रूक्ष गुणवालेके साथ और स्निग्ध गुणवालेका रूक्ष गुण वालेके साथ होता है यह नियम है। इसके अनुसार यह व्यवस्था फलित होती है—

क्रमाक	गुणाश	सदृशवन्ध	विसदृशवन्ध
1	जघन्य+जघन्य	नही	नही
2	जघन्य+एकादि अधिक	नही	नही
3	जघन्येतर+समजघन्येतर	नही	नही
4	जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नही	नही
5	जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है
6	जघन्येतर+त्र्यादिअधिकजघन्येतर	नही	नही

तत्त्वार्थसूत्रमे निर्दिष्ट यह बन्ध-व्यवस्था प्रवचनसारका अनुसरण करती है। प्रवचनसार मे भी इसी प्रकारसे बन्ध व्यवस्थाका निर्देश किया गया है, किन्तु षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डमे कही गयी बन्ध व्यवस्था इससे कुछ भिन्न है जिसका ठीक तरहसे परिज्ञान होनेके लिए आगे कोष्ठक दिया जाता है—

क्रमांक	गुणाश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
1	जघन्य+जघन्य	नही	नही
2	जघन्य+एकादिअधिक	नही	नही
3	जघन्येतर+समजघन्येतर	नही	है
4	जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नही	है
5	जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है
6	जघन्येतर+त्र्यादि अधिकजघन्येतर	नही	है

§ 599. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति द्रव्यलक्षणमुक्तं पुनरपरेण प्रकारेण द्रव्यलक्षण-प्रतिपादनार्थमाह—

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥38॥

§ 600. गुणाश्च पर्ययाश्च गुणपर्ययाः । तेऽस्य सन्तीति गुणपर्ययवद् द्रव्यम् । अत्र मतोरुत्पत्तावुक्त एव समाधिः, कथंचिद् भेदोपपत्तेरिति । के गुणाः के पर्यायाः ? अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः । उभयैरुपेतं द्रव्यमिति । उक्तं च—

"गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो ।
तेहि अणूण दव्व अजुदपसिद्ध हवे णिच्च ॥" इति

एतदुक्तं भवति, द्रव्यं द्रव्यान्तराद् येन विशिष्यते स गुणः । तेन हि तद् द्रव्यं विधीयते । असति तस्मिन् द्रव्यसंकरप्रसङ्गः[1] स्यात् । तद्यथा—जीव पुद्गलादिभ्यो ज्ञानादिभिर्गुणैर्विशिष्यते, पुद्गलादयश्च रूपादिभिः । ततश्चाविशेषे संकरः स्यात् । ततः सामान्यापेक्षया अन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्य गुणा पुद्गलादीनां च रूपादयः । तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमाना पर्यायाः । घटज्ञानं पटज्ञानं क्रोधो मानो गन्धो वर्णस्तीव्रो मन्द इत्येवमादयः । तेभ्योऽन्यत्वं कथंचिदापद्यमान. समुदायो द्रव्यव्यपदेशभाक् । यदि हि सर्वथा समुदायोऽनर्थान्तरभूत एव स्यात् सर्वाभावः स्यात् । तद्यथा—परस्परविलक्षणानां समुदाये सति एकानर्थान्तरभावात् समुदायस्य सर्वाभावः

---

§ 599 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' इस प्रकार द्रव्यका लक्षण कहा किन्तु अब अन्य प्रकारसे द्रव्यके लक्षणका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

गुण और पर्यायवाला द्रव्य है ॥38॥

§ 600 जिसमे गुण और पर्याय दोनो हैं वह गुण-पर्यायवाला कहलाता है और वही द्रव्य है । यहाँ 'मतुप्' प्रत्ययका प्रयोग कैसे बनता है इस विषयमे पहले समाधान कर आये है । तात्पर्य यह है कि द्रव्यका गुण और पर्यायोसे कथञ्चित् भेद है इसलिए यहाँ 'मतुप्' प्रत्ययका प्रयोग बन जाता है । **शका**—गुण किन्हे कहते है और पर्याय किन्हे कहते हैं ? **समाधान**—गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी । तथा इन दोनोंसे युक्त द्रव्य होता है । कहा भी है—'द्रव्य में भेद करनेवाले धर्मको गुण और द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं । द्रव्य इन दोनोसे युक्त होता है । तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है ।' तात्पर्य यह है कि जिससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे जुदा होता है वह गुण है । इसी गुणके द्वारा उस द्रव्यका अस्तित्व सिद्ध होता है । यदि भेदक गुण न हो तो द्रव्योमे साकर्य हो जाय । खुलासा इस प्रकार है—

जीव द्रव्य पुद्गलादिक द्रव्योसे ज्ञानादि गुणोके द्वारा भेदको प्राप्त होता है और पुद्गलादिक द्रव्य भी अपने रूपादि गुणोके द्वारा भेदको प्राप्त होते है । यदि ज्ञानादि गुणोके कारण विशेषता न मानी जाय तो साकर्य प्राप्त होता है । इसलिए सामान्यकी अपेक्षा जो अन्वमी ज्ञानादि हैं वे जीवके गुण हैं और रूपादिक पुद्गलादिकके गुण हैं । तथा इनके विकार विशेष रूपसे भेदको प्राप्त होते है इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं । जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान, गन्ध, वर्ण, तीव्र और मन्द आदिक । तथा जो इनसे कथचित् भिन्न है और समुदाय रूप है वह द्रव्य कहलाता है । यदि समुदायको सर्वथा अभिन्न मान लिया जाय तो सबका अभाव प्राप्त

---

1. प्रसगात् । तद्य- ता , ना. ।

परस्परतोऽर्थान्तरभूतत्वात् । यदिदं रूपं तस्मादर्थान्तरभूता रसादयः । ततः समुदायोऽनर्थान्तरभूतः । यश्च रसादिभ्योऽर्थान्तरभूताद्रूपादनर्थान्तरभूत समुदायः स कथं रसादिभ्योऽर्थान्तरभूतो न भवेत् । ततश्च रूपमात्रं समुदायः प्रसक्त । न चैकं रूपं समुदायो भवितुमर्हति । तत. समुदायाभावः । समुदायाभावाच्च तदनर्थान्तरभूतानां समुदायिनामप्यभाव इति सर्वाभाव. । एवं रसादिष्वपि योज्यम् । तस्मात्समुदायमिच्छता कथंचिदर्थान्तरभाव एषितव्यः ।

§ 601 उक्तानां द्रव्याणां लक्षणनिर्देशात्तद्विषय एव द्रव्याध्यवसाये प्रसक्ते अनुक्तद्रव्यसंसूचनार्थमाह—

कालश्च ॥39॥

होता है । खुलासा इस प्रकार है—परस्पर विलक्षण धर्मोका समुदाय होनेपर यदि उसे एक और अभिन्न माना जाय तो समुदायका और सबका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि वे धर्म परस्पर भिन्न हैं । जो यह रूप है उससे रसादिक भिन्न हैं । अब यदि इनका समुदाय अभिन्न माना जाता है तो रसादिकसे भिन्न जो रूप है और उससे अभिन्न जो समुदाय है वह रसादिकसे भिन्न कैसे नही होगा अर्थात् अवश्य होगा । और इस प्रकार समुदाय रूपमात्र प्राप्त होता है। परन्तु एक रूप गुण समुदाय हो नही सकता इसलिए समुदायका अभाव प्राप्त होता है और समुदायका अभाव हो जानेसे उससे अभिन्न समुदायियोका भी अभाव होता है । इस प्रकार समुदाय और समुदायी सबका अभाव हो जाता है । जिस प्रकार रूप की अपेक्षा कथन किया उसी प्रकार रसादिककी अपेक्षा भी कथन करना चाहिए । इसलिए यदि समुदाय स्वीकार किया जाता है तो वह कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिए ।

विशेषार्थ—पहले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त द्रव्य होता है यह कह आये हैं। यहाँ प्रकारान्तरसे द्रव्यका लक्षण कहा गया है। इसमे द्रव्यको गुणपर्यायवाला बतलाया गया है। वात यह कि प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणोका और क्रमसे होनेवाली उनकी पर्यायोंका पिण्डमात्र हैं। सर्वत्र गुणोंको अन्वयी और पर्यायोको व्यतिरेकी बतलाया गया है । इसका अर्थ यह है कि जिनसे धारामे एकरूपता वनी रहती है वे गुण कहलाते हैं और जिनसे उसमे भेद प्रतीत होता है वे पर्याय कहलाते है । जीवमे ज्ञानादिककी धाराका, पुद्गलमें रूप रसादिकी धाराका, धर्मद्रव्यमे गतिहेतुत्वकी धाराका, अधर्मद्रव्यमे स्थितिहेतुत्वकी धाराका, आकाशमें अवगाहन हेतुत्वकी धारा का और काल द्रव्यमे वर्तनाका कभी विच्छेद नही होता, इसलिए वे ज्ञानादिक उस उस द्रव्यके गुण है किन्तु वे गुण सदाकाल एकरूप नही रहते । जो नित्य द्रव्योके गुण हैं उन्हें यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी जीव और पुद्गलोके गुणोमें प्रतिसमय स्पष्टतया परिणाम लक्षित होता है। उदाहरणार्थ—जीवका ज्ञानगुण संसार अवस्थामें कभी मतिज्ञानरूप होता है और कभी श्रुतज्ञान रूप । इसीलिए ये मतिज्ञानादि ज्ञानगुणकी पर्याय हैं । इसी प्रकार अन्य गुणोमें भी जान लेना चाहिए । द्रव्य सदा इन गुणरूप पर्यायो में रहता है, इसलिए वह गुणपर्यायवाला कहा गया है। फिर भी गुण और पर्यायको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न न जानना चाहिए । वे दोनों मिलकर द्रव्यकी आत्मा है । इसका अभिप्राय यह है कि गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नही।

§ 601 पूर्वोक्त द्रव्योके लक्षणका निर्देश करनेसे यह प्राप्त हुआ कि जो उस लक्षणका विषय है वही द्रव्य है, अतः अभी तक जिस द्रव्यका कथन नहीं किया उसकी सूचना करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

काल भी द्रव्य है ॥39॥

§ 602. किम् ? 'द्रव्यम्' इति वाक्यशेषः। कुत ? तल्लक्षणोपेतत्वात्। द्विविधं लक्षणमुक्तम्—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति च। तदुभयं लक्षणं कालस्य विद्यते। तद्यथा—ध्रौव्य तावत्कालस्य स्वप्रत्ययं स्वभावव्यवस्थानात्। व्ययोदयौ परप्रत्ययौ, अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च। तथा गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः सन्ति। तत्रासाधारणो वर्तनाहेतुत्वम्, साधारणाश्चाचेतनत्वामूर्तत्वसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादयः। पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्या। तस्माद् द्विप्रकारलक्षणोपेतत्वादाकाशादिवत्कालस्य द्रव्यत्वं सिद्धम्। तस्यास्तित्वलिंगं धर्मादिवद् व्याख्यातम् 'वर्तनालक्षणः काल' इति[1]। ननु किमर्थमयं काल पृथगुच्यते। यत्रैव धर्मादय उक्तास्तत्रैवायमपि वक्तव्यः 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः' इति। नैवं शङ्क्यम्; तत्रोद्देशे सति कायत्वमस्य स्यात्। नेष्यते च मुख्योपचारप्रदेशप्रचयकल्पनाभावात्। धर्मादीना तावन्मुख्यप्रदेशप्रचय उक्तः 'असख्येयाः प्रदेशाः' इत्येवमादिना। अणोरप्येकप्रदेशस्य पूर्वोत्तरभाव[2]प्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेशप्रचय उक्तः। कालस्य पुनर्द्वेधापि प्रदेशप्रचयकल्पना नास्तीत्यकायत्वम्। अपि च तत्र पाठे 'निष्क्रियाणि च' इत्यत्र धर्मादीनामाकाशान्तानां निष्क्रियत्वे प्रतिपादिते इतरेषां जीवपुद्गलानां[3] सक्रियत्वप्राप्तिवत्कालस्यापि सक्रियत्वं स्यात्। अथाकाशात्प्राक्काल उद्दिश्येत[4]। तन्न, 'आ आकाशादेकद्रव्याणि' इत्येकद्रव्य-

§ 602. शंका—क्या है ? समाधान—'द्रव्य है' इतना वाक्य शेष है। शंका—काल द्रव्य क्यो है ? समाधान—क्योकि इसमे द्रव्यका लक्षण पाया जाता है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है तथा जो गुण और पर्यायवाला है वह द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्यका दो प्रकारसे लक्षण कहा है। वे दोनो ही लक्षण कालमे पाये जाते है। खुलासा इस प्रकार है—कालमे ध्रुवता स्वनिमित्तक है, क्योकि उससे अपने स्वभाव की व्यवस्था होती है। व्यय और उत्पाद परनिमित्तक हैं, और अगुरुलघु गुणोकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षा स्वनिमित्तक भी है। तथा कालके साधारण और असाधारण रूप दो प्रकारके गुण भी है। उनमे-से असाधारण गुण वर्तनाहेतुत्व है और साधारण गुण अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व आदिक है। इसी प्रकार व्यय और उत्पादरूप पर्याय भी घटित कर लेना चाहिए। इसलिए कालमे जब द्रव्यके दोनो लक्षण पाये जाते हैं तो वह आकाशादिके समान स्वतन्त्र द्रव्य है यह सिद्ध होता है। धर्मादिक द्रव्यके समान इसके अस्तित्वके कारण का व्याख्यान किया ही है कि 'कालका लक्षण वर्तना है।' शंका—काल द्रव्यको अलगसे क्यो कहा ? जहाँ धर्मादिक द्रव्योका कथन किया है वही पर इसका कथन करना था, जिससे प्रथम सूत्रका रूप यही होता—'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गला' समाधान—इस प्रकार शका करना ठीक नही है, क्योकि वहाँ पर यदि इसका कथन करते तो इसे कायपना प्राप्त होता। परन्तु काल द्रव्य कायवान् नही कहा है, क्योकि इसमे मुख्य और उपचार दोनो प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कल्पनाका अभाव है। धर्मादिक द्रव्योका तो 'असख्येया. प्रदेशा.' इत्यादिक सूत्रो द्वारा मुख्यरूपसे प्रदेशप्रचय कहा है। उसी प्रकार एक प्रदेशवाले अणुका भी पूर्वोत्तरभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपचारकल्पनासे प्रदेशप्रचय कहा है, परन्तु कालके दोनो प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कल्पना नही बनती, इसलिए वह अकाय है। दूसरे, यदि प्रथम सूत्र मे कालका पाठ रखते है तो 'निष्क्रियाणि च' इस सूत्रमे धर्मसे लेकर आकाश तक के द्रव्योको निष्क्रिय कहनेपर जैसे जीव और पुद्गलोको सक्रियत्व प्राप्त होता है वैसे ही काल द्रव्यको भी सक्रियत्व प्राप्त होता। शंका—इस दोषको दूर करनेके लिए आकाशसे पहले कालको रख दिया जाय ? समाधान—यह कहना ठीक नही है क्योकि 'आकाश तक एक द्रव्य है' इस सूत्र वचनके

1. इति। किमर्थं- मु। 2. -त्तरप्रज्ञा- मु। 3. -पुद्गलादीना मु। 4 -श्यते। आ आका- आ., दि.।

त्वमस्य स्यात् । तस्मात्पृथगिह कालोद्देश क्रियते । अनेकद्रव्यत्वे सति किमस्य प्रमाणम् । लोकाकाशस्य यावन्त प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो निष्क्रियाः। एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकं व्याप्य व्यवस्थिताः । उक्त च—

"लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्कक्का ।
रयणाण रासीविव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥"

रूपादिगुणविरहादमूर्ताः ।

अनुसार यदि कालको आकाशके पहले रखते है तो उसे एक द्रव्यत्व प्राप्त होता है। ये सब दोष न रहे, इसलिए कालका अलगसे कथन किया है। **शंका**—काल अनेक द्रव्य हैं इसमें क्या प्रमाण है ? **समाधान**—लोकाकाशके जितने प्रदेश है उतने कालाणु हैं और वे निष्क्रिय हैं। तात्पर्य यह है कि लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालाणु अवस्थित है। कहा भी है—'लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर जो रत्नोकी राशिके समान अवस्थित है उन्हे कालाणु जानो।' ये कालाणु रूपादि गुणोसे रहित होनेके कारण अमूर्त हैं।

विशेषार्थ—पहले पाँच द्रव्योके अस्तित्वकी चर्चा कर आये है। यहाँ छठा द्रव्य काल है इसका विचार किया जा रहा है। काल द्रव्य है या नही इस विषयमे श्वेताम्बर परम्परामे दो मत मिलते है। एक मत तो कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार करता है और दूसरा मत कालको स्वतन्त्र द्रव्य नही मानता। इस दूसरे मतके अनुसार सूर्यादिके निमित्तसे जो दिन-रात, घड़ी-घण्टा, पल-विपल आदि रूप काल अनुभवमे आता है वह सब पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इन जीव पुद्गल आदि द्रव्योका परिणमन किसके निमित्तसे होता है ? यदि कहा जाय कि उत्पन्न होना, व्यय होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव है। इसके लिए अन्य निमित्तके माननेकी क्या आवश्यकता ? तो इस प्रश्नपर यह तर्क होता है कि यदि इस तरह सर्वथा स्वभावसे ही प्रत्येक द्रव्यका परिणमन माना जाता है तो गति, स्थिति और अवगाहको भी सर्वथा स्वभावसे मान लेनेमे क्या आपत्ति है। और ऐसी हालतमे केवल जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही अवशिष्ट रहते है, शेष द्रव्योका अभाव प्राप्त होता है, इतना ही क्यो, जीव और पुद्गलका तथा पुद्गल और पुद्गलका बन्ध भी सर्वथा स्वाभाविक मानना पडता है। निमित्त-नैमित्तिक भावके माननेकी कोई आवश्यकता ही नही रहती और ऐसी अवस्थामे मुक्त जीव भी स्वभावसे बँधने लगेगा तथा ससारी जीव भी बिना प्रयत्नके कभी भी मुक्त हो जायगा। यदि कहा जाय कि गति, स्थिति आदि कार्य हैं और जितने भी कार्य होते हैं वे निमित्त और उपादान इन दो के मिलने पर ही होते हैं, इसलिए गति, स्थिति और अवगाहनरूप कार्योंके निमित्तरूपसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो प्रत्येक द्रव्यके परिणमनरूपसे काल द्रव्यके अस्तित्वके स्वीकार करनेमे क्या हानि है अर्थात् कुछ भी नही। इस प्रकार विचार करनेपर काल द्रव्यका अस्तित्व सिद्ध होता है।

फिर भी यह काल द्रव्य जीव आदि अन्य द्रव्योके समान न तो असख्यातप्रदेशी है और न अनन्तप्रदेशो है किन्तु लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने काल द्रव्य हैं और प्रत्येक कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर अवस्थित है। खुलासा इस प्रकार है—

प्रचय दो प्रकारका है—तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय। प्रदेशोके प्रचयको तिर्यक्प्रचय कहते हैं और कालनिमित्तक पर्यायप्रचयको ऊर्ध्वप्रचय कहते हैं। आकाश अवस्थित अनन्तप्रदेशवाला होनेसे, धर्म और अधर्म अवस्थित असख्यात प्रदेशवाला होनेसे, जीव असख्यात प्रदेशवाला होनेसे

§ 603. वर्तनालक्षणस्य मुख्यस्य कालस्य प्रमाणमुक्तम् । परिणामादिगम्यस्य व्यवहार-कालस्य किं प्रमाणमित्यत इदमुच्यते—

सोऽनन्तसमयः ॥40॥

§ 604. साम्प्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽपि अतीता अनागताश्च समया अनन्ता इति कृत्वा 'अनन्तसमयः' इत्युच्यते । अथवा मुख्यस्यैव कालस्य प्रमाणावधारणार्थमिदमुच्यते । अनन्तपर्याय-

---

और पुद्गल वन्धकी अपेक्षा अनेक प्रदेशरूप शक्तिसे युक्त होनेके कारण इनका प्रदेशप्रचय वन जाता है, किन्तु कालद्रव्य शक्ति और व्यक्ति दोनो रूपसे एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसमे प्रदेशप्रचय नही वनता । ऊर्ध्वप्रचय सव द्रव्योका होता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि अन्य पाँच द्रव्योमे समयनिमित्तक पर्यायप्रचयरूप ऊर्ध्वप्रचय होता है और कालद्रव्यमे मात्र समयप्रचय रूप ऊर्ध्वप्रचय होता है, क्योकि अन्य द्रव्योके परिणमनमे काल द्रव्य निमित्त है और काल द्रव्य-के अपने परिणमनमे अन्य कोई निमित्त नही हे । वही उपादान है । जिस प्रकार वह अन्य द्रव्यो-के परिणमनमे निमित्त होता है उसी प्रकार अपने परिणमनमे भी निमित्त होता है । जिस प्रकार अन्य द्रव्य अपने-अपने उपादानके अनुसार परिणमन करते है उसी प्रकार काल द्रव्य भी अपने उपादान के अनुसार परिणमन करता है ।

इस प्रकार यद्यपि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपसे तथा गुण और पर्यायरूपसे काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है पर वह अखण्ड एकप्रदेशी है यह सिद्ध नही होता, इसलिए आगे इसी वातका विचार करते है—

एक पुद्गल परमाणु मन्दगतिसे एक आकाश प्रदेशसे दूसरे आकाश प्रदेश पर जाता है और इसमे कुछ समय भी लगता है । यदि विचार कर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह समय ही काल द्रव्यकी पर्याय है जो कि अतिसूक्ष्म होनेसे निरश है । यदि कालद्रव्यको लोकाकाशके वरावर अखण्ड और एक माना जाता है तो इस अखण्ड समय पर्यायकी निष्पत्ति नही होती, क्योकि पुद्गल परमाणु जव एक कालाणुको छोडकर दूसरे कालाणुके प्रति गमन करता है तब वहाँ दोनो कालाणु पृथक्-पृथक् होनेसे समयका भेद वन जाता है । और यदि एक अखण्ड लोकके वरावर कालद्रव्य होवे तो समय पर्यायकी सिद्धि किस तरह हो सकती है ? यदि कहा जाय कि कालद्रव्य लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशी है, उसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशके प्रति जानेपर समय पर्यायकी सिद्धि हो जायगी तो इसका समाधान यह है कि ऐसा मानने पर एक अखण्डद्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जाने पर समय पर्यायका भेद नही वनता । इसलिए समय पर्यायमे भेद सिद्ध करनेके लिए काल द्रव्यको अणुरूपमे स्वीकार कर लिया गया है । इस प्रकार काल द्रव्य क्या है और वह एक प्रदेशी कैसे है इस बातका विचार किया ।

§ 603 वर्तना लक्षणवाले मुख्य कालका प्रमाण कहा । परन्तु परिणाम आदिके द्वारा जानने योग्य व्यवहार कालका क्या प्रमाण है ? इस वातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह अनन्त समयवाला है ॥40॥

§ 604 यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय हैं ऐसा मानकर कालको अनन्त समयवाला कहा है । अथवा मुख्य कालका निश्चय करने-के लिए यह सूत्र कहा है । तात्पर्य यह है कि अनन्त पर्यायें वर्तना गुणके निमित्तसे होती हैं, इस-

वर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते। समयः पुनः परमनिरुद्धः[1] कालांशस्तत्प्रचयविशेष आवलिकादिरवगन्तव्यः।

§ 605. आह गुणपर्ययवद् द्रव्यमित्युक्तं तत्र के गुणा इत्यत्रोच्यते—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥41॥

§ 606. द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः। निष्क्रान्ता गुणेभ्यो निर्गुणाः। एवमुभयलक्षणोपेता गुणा इति। 'निर्गुणाः' इति विशेषणं द्वयणुकादिनिवृत्त्यर्थम्। तान्यपि हि कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयाणि गुणवन्ति तु तस्मात् 'निर्गुणाः' इति विशेषणात्तानि निर्वर्त्तितानि भवन्ति। ननु पर्याया अपि घटसंस्थानादयो द्रव्याश्रया निर्गुणाश्च, तेषामपि गुणत्वं प्राप्नोति। 'द्रव्याश्रयाः' इति वचनात् 'नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते[2] ये' ते गुणा इति [3]विशेषात्पर्याया निर्वर्तिता भवन्ति। ते हि कादाचित्का इति।

लिए एक कालाणुको भी उपचारसे अनन्त कहा है। परन्तु समय अत्यन्त सूक्ष्म कालांश है और उसके समुदायकी आवलि आदि जानना चाहिए।

विशेषार्थ—समय शब्द द्रव्य और पर्याय दोनो अर्थोमे व्यवहृत होता है। यहाँ पर्यायरूप अर्थ लिया गया है। इससे व्यवहार काल और निश्चय काल दोनो की सिद्धि होती है। एक-एक समयका समुच्चय होकर जो आवलि, पल आदि कालका व्यवहार होता है वह व्यवहारकाल है और यह समय-पर्याय विना पर्यायीके नही हो सकती, इससे निश्चय कालका ज्ञान होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

§ 605 'गुण और पर्यायवाला द्रव्य है' यह पहले कह आये है। अव गुण क्या है यह वतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

जो निरन्तर द्रव्यमें रहते हैं और गुणरहित हैं वे गुण हैं ॥41॥

§ 606. जिनके रहनेका आश्रय द्रव्य है वे द्रव्याश्रय कहलाते है और जो गुणोसे रहित हैं वे निर्गुण कहे जाते हैं। इस प्रकार इन दोनो लक्षणोसे युक्त गुण होते है। सूत्रमे 'निर्गुणा' यह विशेषण द्वयणुक आदिके निराकरण करनेके लिए दिया है। वे भी अपने कारणभूत परमाणु द्रव्यके आश्रयसे रहते है और गुणवाले है, इसलिए 'निर्गुणा' इस विशेषणसे उनका निषेध किया गया है। **शंका**—घटसंस्थान आदि जितनी पर्याय है वे सव द्रव्यके आश्रयसे रहती हैं और निर्गुण होती है अत गुणके उक्त लक्षणके अनुसार उन्हे भी गुणत्व प्राप्त होता है ? **समाधान**—सूत्रमे जो 'द्रव्याश्रया' विशेषण है उसका यह अभिप्राय है कि जो सदा द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं वे गुण है। इस प्रकार 'सदा' विशेषण लगानेसे पर्यायोका निषेध हो जाता है अर्थात् गुणका लक्षण पर्यायोमे नही जाता है; क्योकि पर्याय कादाचित्क होती हैं।

विशेषार्थ—पहले गुण और पर्यायवाला द्रव्य है यह कह आये है। यहाँ गुणके स्वरूपका विचार किया गया है। जव कि द्रव्यको गुण और पर्यायवाला वतलाया है तव इसीसे स्पष्ट है कि गुण द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं अर्थात् द्रव्य आधार है और गुण आधेय है। पर इससे आधार और आधेयमें दही और कुण्डके समान सर्वथा भेदपक्षका ग्रहण नही करना चाहिए, क्योकि गुण द्रव्यके आश्रयसे रहते हुए भी वे उससे कथचित् अभिन्न है। जैसे—तैल तिलके सव अवयवोमे व्याप्त होकर रहता है वैसे ही प्रत्येक गुण द्रव्यके सभी अवयवोमे समान रूपसे व्याप्त होकर रहता है, पर इससे द्वयणुक आदिमे भी यह लक्षण घटित हो जाता है क्योकि द्वयणुक आदि भी

---

1. -निकृष्ट. काला- दि 1। 2. -र्तन्ते गुणा मु। 3 विशेषणत्वात्पर्यायश्च निव- मु.।

§ 607 असकृत् 'परिणाम' शब्द उक्तः। तस्य कोऽर्थं इति प्रश्ने उत्तरमाह—

तद्भावः परिणामः ॥42॥

§ 608. अथवा गुणा द्रव्यादर्थान्तरभूता इति केषांचिद्दर्शनं तत्किं भवतोऽभिमतम्। न; इत्याह—यद्यपि कथंचिद् व्यपदेशादिभेदहेत्व[1]पेक्षया द्रव्यादन्ये, तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्च नान्ये। यद्येव स उच्यतां कः परिणाम इति। तन्निश्चयार्थमिदमुच्यते—धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावस्तत्त्वं परिणाम इति आख्यायते। स द्विविधोऽनादिरादिमांश्च। तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः सामान्यापेक्षया। स एवादिमांश्च भवति विशेषापेक्षया इति।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकाया पचमोऽध्यायः।

अपने आधारभूत परमाणु द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं। अतएव जो स्वय विशेष रहित हो वे गुण हैं यह कहा है। ऐसा नियम है कि जैसे द्रव्यमे गुण पाये जाते है वैसे गुणमे अन्य गुण नही रहते। अतएव गुण स्वयं विशेष रहित रहते हैं, इस प्रकार यद्यपि जो द्रव्यके आश्रयसे रहते है और स्वयं विशेष रहित हैं वे गुण है, गुणका इतना लक्षण फलित हो जाता है पर यह पर्यायोमे भी प्राया हैं। क्योकि वे भी द्रव्यके आश्रयसे रहती हैं और स्वय विशेषरहित होती हैं। इसलिए इस अतिव्याप्ति दोषका निराकरण करनेके लिए जो द्रव्यके आश्रयसे रहते है इसका अर्थ—जो द्रव्यके आश्रयसे सदा रहते हैं, इतना समझना चाहिए। इस प्रकार गुणोंके स्वरूपका विचार किया। गुणका एक नाम विशेष भी है। जिनके निमित्तसे एक द्रव्य अन्य द्रव्यसे भेद को व्याप्त हो वे विशेष अर्थात् गुण है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। ऐसे गुण प्रत्येक द्रव्यमे अनन्त होते हैं। उनमे कुछ सामान्य होते हैं और कुछ विशेष। जो एकाधिक द्रव्योमे उपलब्ध होते हैं वे सामान्यगुण कहलाते हैं और जो प्रत्येक द्रव्यकी विशेषताको व्यक्त करते है वे विशेषगुण कहलाते हैं।

§ 607. परिणाम शब्दका अनेक वार उल्लेख किया, परन्तु उसका क्या तात्पर्य है ऐसा प्रश्न होनेपर अगले सूत्र द्वारा इसीका उत्तर देते हैं—

उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है ॥42॥

§ 608. अथवा गुण द्रव्यसे अलग हैं यह किन्हीका मत है। वह क्या आपके (जैन) मतमे स्वीकार है? नही, इसलिए कहते है कि सज्ञा आदिके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भेदके कारण गुण द्रव्यसे कथचित् भिन्न हैं तो भी वे द्रव्यसे भिन्न नही पाये जाते हैं और द्रव्यके परिणाम हैं इसलिए भिन्न नही भी हैं। यदि ऐसा है तो वह बात कहिए जिससे परिणामका स्वरूप ज्ञात हो। बस इसी बातका निश्चय करनेके लिए कहते हैं—धर्मादिक द्रव्य जिस रूपसे होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व है और इसे ही परिणाम कहते हैं। वह दो प्रकारका है—अनादि और सादि। उनमे-से धर्मादिक द्रव्यके जो गत्युपग्रहादिक होते हैं वे सामान्यकी अपेक्षा अनादि हैं और विशेषकी अपेक्षा सादि हैं।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

1. हेतुत्वापेक्ष- मु.।

अथ षष्ठोऽध्यायः

§ *609.* आह,[1] अजीवपदार्थो व्याख्यातः। इदानी तदनन्तरोद्देशभागास्रवपदार्थो व्याख्येय इति ततस्तत्प्रसिद्ध्यर्थमिदमुच्यते—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥1॥

§ *610.* कायादयः शब्दा व्याख्यातार्थाः। कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ्मनःकर्म योग इत्याख्यायते। आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः। स निमित्तभेदात्त्रिधा भिद्यते। काययोगो वाग्योगो मनोयोग इति। तद्यथा—वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसांनिध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसंनिधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। क्षयेऽपि त्रिविधवर्गणापेक्षः सयोगकेवलिन आत्म[2]प्रदेशपरिस्पन्दो योगो वेदितव्यः।

§ **611.** आह, [3]अभ्युपेमः आहितत्रैविध्यक्रियो योग इति। प्रकृत इदानी निदिश्यतां

---

§ 609 जीव और अजीवका व्याख्यान किया। अब उसके बाद आस्रव पदार्थका व्याख्यान क्रम प्राप्त है। अतः उसे स्पष्ट करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

काय, वचन और मनकी क्रिया योग है ॥1॥

§ 610. काय आदि शब्दोका व्याख्यान पहले कर आये हैं। कर्म और क्रिया ये एकार्थवाची नाम है। काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते है यह इसका तात्पर्य है। आत्माके प्रदेशोका परिस्पन्द—हलन चलन योग है। वह निमित्तोके भेदसे तीन प्रकारका है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। खुलासा इस प्रकार है—वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमके होनेपर औदारिक आदि सात प्रकारकी कायवर्गणाओमे-से किसी एक प्रकारकी वर्गणाओके आलम्बनसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है। शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओका आलम्बन होनेपर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धिके मिलनेपर वचनरूप पर्यायके सन्मुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धिके होनेपर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्गणाओका आलम्बन मिलनेपर मनरूप पर्यायके सन्मुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षय हो जानेपर भी सयोगकेवलीके जो तीन प्रकारकी वर्गणाओकी अपेक्षा आत्मप्रदेश-परिस्पन्द होता है वह भी योग है ऐसा जानना चाहिए।

§ 611. हम तो स्वीकार करते है कि तीन प्रकारकी क्रिया योग है। अब यह बतलाइए

---

1. अथाजीवप- मु। आह जीवाजीवप- ता, ना। इत्यजीवप- दि. 2। 2. आत्मनः प्रदे- आ. दि. 1, दि 2। 3. अभ्युपगत आदि- मु.।

किंलक्षण आस्रव इत्युच्यते । योऽयं योगशब्दाभिधेयः संसारिणः पुरुषस्य—

स आस्रवः ॥2॥

§ 612. यथा सरस्सलिलावाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वाद् आस्रव इत्याख्यायते तथा योग-प्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति ।

§ 613. आह कर्म द्विविधं पुण्य पाप चेति । तस्य किमविशेषेण योग [1]आस्रवहेतुराहोस्वि-दस्तिकश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥3॥

§ 614. कः शुभो योग. को वा अशुभ' । प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिरशुभ काययोगः । अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योगः । वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोग. । ततो विपरीतः शुभः । कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् । शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः । अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाशुभः । न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन । यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोग-स्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् । पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् । तत्सद्वेद्यादि । पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्[2] । तदसद्वेद्यादि ।

§ 615. आह किमयमास्रवः सर्वसंसारिणां[3] समानफलारम्भहेतुराहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रति-

---

कि आस्रवका क्या लक्षण है ? ससारी जीवके जो यह योग शब्दका वाच्य कहा है—

वही आस्रव है ॥2॥

§ 612 जिस प्रकार तालाबमे जल लानेका दरवाजा जलके आनेका कारण होनेसे आस्रव कहलाता है उसी प्रकार आत्माके साथ बधनेके लिए कर्म योगरूपी नालीके द्वारा आते हैं, इसलिए योग आस्रव सज्ञाको प्राप्त होता है ।

§ 613 कर्म दो प्रकारका है—पुण्य और पाप, इसलिए क्या योग सामान्यरूपसे उसके आस्रवका कारण है या कोई विशेषता है ? इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शुभयोग पुण्यका और अशुभयोग पापका आस्रव है ॥3॥

§ 614. **शंका**—शुभ योग क्या है और अशुभ योग क्या है ? **समाधान**—हिंसा, चोरी, और मैथुन आदिक अशुभ काययोग है । असत्य वचन, कठोर वचन और असभ्य वचन आदि अशुभ वचनयोग है । मारनेका विचार, ईर्ष्या और डाह आदि अशुभ मनोयोग है । तथा इनसे विपरीत शुभकाय योग, शुभ वचनयोग और शुभ मनोयोग है । **शंका**—योगके शुभ और अशुभ ये भेद किस कारणसे है ? **समाधान**—जो योग शुभ परिणामोके निमित्तसे होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ पमिणामोके निमित्तसे होता है वह अशुभ योग है । शायद कोई यह माने कि शुभ और अशुभ कर्मका कारण होनेसे शुभ और अशुभ योग होता है सो बात नही है, क्योंकि यदि इस प्रकार इनका लक्षण कहा जाता है तो शुभयोग ही नही हो सकता, क्योंकि शुभयोगको भी ज्ञानावरणादि कर्मोके वन्धका कारण माना है । इसलिए शुभ और अशुभ योगका जो लक्षण यहाँ पर किया है वही सही है । जो आत्माको पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीय आदि । तथा जो आत्माको शुभसे बचाता है वह पाप है, जैसे असाता वेदनीय आदि ।

§ 615 क्या यह आस्रव सब ससारी जीवोके समान फलको पैदा करता है या कोई

---

1. आस्रवणहेतु- मु, ता., ना. । 2 पापम् । असद्वे- मु । 3. ससारिसमा- आ, ता, ना. समारम्भा-दि. 2 ।

विशेष इत्यत्रोच्यते—

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥4॥

§ 616. स्वामिभेदादास्रवभेदः। स्वामिनौ द्वौ सकषायोऽकषायश्चेति। कषायः क्रोधादिः। कषाय इव कषाय.। कः उपमार्थः। यथा कषायो नैयग्रोधादिः श्लेपहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते। सह कषायेण वर्तत इति सकषायः। न विद्यते कषायो यस्येत्यकषायः। सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ तयोः सकषायाकषाययोः। संपराय संसारः तत्प्रयोजनं कर्म सांपरायिकम्। ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। सांपरायिकं च ईर्यापथं च सांपरायिकेर्यापथे। तयोः सांपरायिकेर्यापथयोः। यथासंख्यमभिसंबन्धः सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्टयादेः[1] सांपरायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति। अकषायस्य उपशान्तकषायादेरीर्यापथस्य कर्मण आस्रवो भवति।

§ 617. आदावुद्दिष्टस्यास्रवस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः॥5॥

§ 618. अत्र इन्द्रियादीनां पंचादिभिर्यथासंख्यमभिसबन्धो वेदितव्यः। इन्द्रियाणि पंच।

विशेषता है ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषायसहित और कषायरहित आत्माका योग क्रमसे साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मके आस्रवरूप है ॥4॥

§ 616 स्वामीके भेदसे आस्रवमे भेद है। स्वामी दो प्रकारके हैं—कषायसहित और कषायरहित। क्रोधादिक कषाय कहलाते है। कषायके समान होनेसे कषाय कहलाता है। उपमा-रूप अर्थ क्या है ? जिस प्रकार नैयग्रोध आदि कषाय श्लेषका कारण है उसी प्रकार आत्माका क्रोधादि रूप कषाय भी कर्मो के श्लेषका कारण है इसलिए कषायके समान यह कषाय है ऐसा कहते है। जिसके कषाय है वह सकषाय जोव है और जिसके कषाय नही है वह अकषाय जीव है। यहाँ इन दोनो पदोका पहले 'सकषायश्च अकषायश्चेति सकषायाकषायौ' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके अनन्तर स्वामित्व दिखलानेके लिए षष्ठीका द्विवचन दिया है। सम्पराय संसारका पर्यायवाची है। जो कर्म ससारका प्रयोजक है वह साम्परायिक कर्म है। ईर्याकी व्युत्पत्ति 'ईरण' होगी। योगका अर्थ गति है। जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्यापथ कर्म है। यहाँ इन दोनो पदोका पहले 'साम्परायिक च ईर्यापथं च साम्परायिकेर्यापथे' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके तदनन्तर सम्वन्ध दिखलानेके लिए षष्ठीका द्विवचन-दिया है। सकषायके साथ साम्परायिक शब्दका और अकषायके साथ ईर्यापथ शब्दका यथाक्रम सम्वन्ध है। जिससे यह अर्थ हुआ कि मिथ्यादृष्टि आदि कषायसहित जीवके साम्परायिक कर्मका आस्रव होता है। तथा उपशान्त कषाय आदि कषाय रहित जीवके ईर्यापथ कर्मका आस्रव होता है।

§ 617. आदिमे कहे गये आस्रवके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पूर्वके अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रवके इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियारूप भेद हैं जो क्रमसे पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं ॥5॥

§ 618 यहाँ इन्द्रिय आदिका पाँच आदिके साथ क्रमसे सम्वन्ध जानना चाहिए। यथा

---

1. –दृष्टेः साम्प– मु.।

चत्वारः कषायाः। पञ्चाव्रतानि। पञ्चविंशतिः क्रिया इति। तत्र पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनादीन्युक्तानि। चत्वारः कषायाः क्रोधादयः। पञ्चाव्रतानि प्राणव्यपरोपणादीनि वक्ष्यन्ते। पञ्चविंशतिः[1] क्रिया उच्यन्ते—चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुकी[2] प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया। गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया। संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया। ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। क्रोधावेशात्प्रादोषिकी क्रिया। प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया। हिंसोपकरणादानाधिकरणिकी[3] क्रिया। दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात्पारितापिकी क्रिया। आयुरिन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासप्राणानां वियोगकरणात्प्राणातिपातिकी क्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। रागार्द्रीकृतत्वात्प्रमादिनो रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया। प्रमादवशात्स्पृष्टव्यसंचेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया। स्त्रीपुरुषपशुसम्पातिदेशेऽन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया। अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। यां परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया। पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया। पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। यथोक्तामाज्ञामावश्यकादिषु[5] चारित्रमोहोदयात्कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया। शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। छेदनभेदनविशसनादि-

---

इन्द्रियाँ पाँच है, कषाय चार है, अव्रत पाँच है और क्रिया पच्चीस है। इनमे-से स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोका कथन पहले कर आये है। क्रोधादि चार कषाय है और हिंसा आदि पाँच अव्रत आगे कहेगे। पच्चीस क्रियाओका वर्णन यहाँ करते हैं—चैत्य, गुरु और शास्त्रकी पूजा आदिरूप सम्यक्त्वको बढानेवाली सम्यक्त्वक्रिया है। मिथ्यात्वके उदयसे जो अन्यदेवताके स्तवन आदि रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्व क्रिया है। शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदिरूप प्रवृत्ति प्रयोगक्रिया है। संयतका अविरतिके सम्मुख होना समादान क्रिया है। ईर्यापथकी कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है। ये पाँच क्रिया है। क्रोधके आवेशसे प्रादोषिकी क्रिया होती है। दुष्ट भाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है। हिंसाके साधनोको ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। जो दु खकी उत्पत्तिका कारण है वह पारितापिकी क्रिया है। आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणोका वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। रागवश स्नेहसिक्त होनेके कारण प्रमादीका रमणीय रूपके देखनेका अभिप्राय दर्शनक्रिया है। प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थका अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है। नये अधिकरणोको उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री, पुरुष और पशुओके जाने, आने, उठने और बैठनेके स्थानमे भीतरी मलका त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है। प्रमार्जन और अवलोकन नही की गयी भूमिपर शरीर आदिका रखना अनाभोग क्रिया है। ये पाँच क्रिया है। जो क्रिया दूसरो द्वारा करनेकी हो उसे स्वय कर लेना स्वहस्तक्रिया है। पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेषके लिए सम्मति देना निसर्ग क्रिया है। दूसरेने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारणक्रिया है। चारित्रमोहनीयके उदयसे आवश्यक आदिके विषयमे शास्त्रोक्त आज्ञाको न पाल सकनेके कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। धूर्तता और आलस्यके कारण शास्त्रमे उपदेशी गयी विधि करनेका अनादर अनाकाक्षक्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं।

---

1 —शतिक्रिया मु.। 2 हेतुका कर्मप्रवृ—दि 1, दि 2, आ.। 3 क्रिया। सत्त्वदु खो-- ता, ना., मु.। 4. बलप्राणाना-- मु.। 5. —श्यकादिचारि-- मु। 6. विसर्जनादि-- आ., दि. 1, दि. 2।

क्रियापरत्वमन्येन[1]वारम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष प्रारम्भक्रिया। परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया। अन्यं[2]मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। समुदिताः पञ्चविंशतिक्रियाः। एतानीन्द्रियादीनि कार्यकारणभेदाद्भेदमापद्यमानानि सांपरायिकस्य कर्मण आस्रवद्वाराणि भवन्ति।

§ 619. अत्राह, योगत्रयस्य सर्वात्मकार्यत्वात्सर्वेषां संसारिणां साधारणः,[3] ततो बन्धफलानुभवनं प्रत्यविशेष इत्यत्रोच्यते—नैतदेवम्। यस्मात् सत्यपि प्रत्यात्मसंभवे तेषां जीवपरिणामेभ्योऽनन्तविकल्पेभ्यो विशेषोऽभ्यनुज्ञायते कथमिति चेदुच्यते—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥6॥

§ 620 बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामस्तीव्रः। तद्विपरीतो मन्दः। अयं[4] प्राणी मया हन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवृत्तिर्ज्ञातमित्युच्यते। मदात्प्रमादाद्वानवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम्। अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणं द्रव्यमित्यर्थः। द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम्। भावशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते—तीव्रभावो मन्दभाव इत्यादिः। एतेभ्यस्तस्यास्रवस्य विशेषो भवति। कारणभेदाद्धि कार्यभेद इति।

छेदना, भेदना और मारना आदि क्रियामे स्वय तत्पर रहना और दूसरेके करनेपर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है। परिग्रहका नाश न हो इसलिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान, दर्शन आदिके विषयमे छल करना मायाक्रिया है। मिथ्यादर्शनके साधनोसे युक्त पुरुषकी प्रशसा आदिके द्वारा दृढ करना कि 'तू ठीक करता है' मिथ्यादर्शन क्रिया है। सयमका घात करनेवाले कर्मके उदयसे त्यागरूप परिणामोका न होना अप्रत्याख्यानक्रिया है। ये पाँच क्रिया है। ये सब मिलकर पच्चीस क्रियाएँ होती है। कार्य-कारणके भेदसे अलग-अलग भेदको प्राप्त होकर ये इन्द्रियादिक साम्परायिक कर्मके आस्रवके द्वार है।

§ 619. शका—तीनो योग सब आत्माओके कार्य है, इसलिए वे सब ससारी जीवोके समान रूपसे प्राप्त होते हैं, इसलिए कर्मबन्धके फलके अनुभवके प्रति समानता प्राप्त होनी चाहिए ? समाधान—यह बात ऐसी नही है, क्योकि यद्यपि योग प्रत्येक आत्माके होता है, परन्तु जीवोके परिणामोके अनन्त भेद है, इसलिए कर्मबन्धके फलके अनुभवकी विशेषता माननी पडती है। शका—किस प्रकार ? समाधान—अब अगले सूत्रद्वारा इसी बातका समाधान करते है—

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्यविशेषके भेदसे उसकी (आस्रवकी) विशेषता होती है ॥6॥

§ 620 बाह्य और आभ्यन्तर हेतुकी उदीरणाके कारण जो आवेगयुक्त परिणाम होता है वह तीव्र भाव है। मन्द भाव इससे उलटा है। इस प्राणीका मुझे हनन करना चाहिए इस प्रकार जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। मद या प्रमादके कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। जिसमे पदार्थ रखे जाते है वह अधिकरण है। यहाँ अधिकरणसे द्रव्यका ग्रहण किया है। द्रव्यकी अपनी शक्तिविशेष वीर्य है। सूत्रमे जो भाव शब्द आया है वह सब शब्दोंके साथ जोड लेना चाहिए। यथा—तीव्रभाव, मन्दभाव इत्यादि। इन सब कारणोसे आश्रवमें विशेपता आ जाती है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यमे भेद होता है।

---

1 दर्शनकरण- ता., ना, मु । 2. —रणस्य ततो मु.। 3 प्राणी हन्त- मु, ता, ना.। 4 वा क्रिय- मु.।

§ 621. अत्राह, अधिकरणमुक्तम्[1], तत्स्वरूपमनिर्ज्ञातमतस्तदुच्यतामिति। तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेणाधिकरणस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥7॥

§ 622. उक्तलक्षणा जीवाजीवा.। यद्युक्तलक्षणाः पुनर्वचनं किमर्थम् ? अधिकरणविशेषज्ञापनार्थं पुनर्वचनम्। जीवाजीवा अधिकरणमित्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य[2] इति। कः पुनरसौ ? हिंसाद्युपकरणभाव इति। स्यादेतन्मूलपदार्थयोर्द्वित्वाज्जीवाजीवावि्ति[3] द्विवचनं न्यायप्राप्तमिति। तन्न, पर्यायाणामधिकरणत्वात्। येन केनचित्पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यमधिकरणम्, न सामान्यमिति बहुवचनं कृतम्। जीवाजीवा अधिकरण कस्य ? आस्रवस्येति। अर्थवशादभिसंबन्धो भवति।

§ 623. तत्र जीवाधिकरणभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-
विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥8॥

§ 624. प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेश संरम्भः। साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः प्रक्रम आरम्भः। 'योग'शब्दो व्याख्यातार्थः। कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम्। कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम्। अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः।- अभिहितलक्षणाः

---

§ 621 पूर्व सूत्रमे 'अधिकरण' पद आया है पर उसका स्वरूप अज्ञात है, इसलिए वह कहना चाहिए ? अव उसके भेदोके कथन द्वारा उसके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अधिकरण जीव और अजीवरूप हैं ॥7॥

§ 622 जीव और अजीवके लक्षण पहले कह आये हैं। शंका—यदि इनके लक्षण पहले कह आये हैं तो फिरसे इनका उल्लेख किस लिए किया ? समाधान—अधिकरण विशेषका ज्ञान करानेके लिए फिरसे इनका उल्लेख किया है, जिससे जीव और अजीव अधिकरण है यह विशेष जताया जा सके। शंका—वह कौन है ? समाधान—हिंसादि उपकरणभाव। शंका—मूल पदार्थ दो है इसलिए 'जीवाजीवौ' इस प्रकार सूत्रमे द्विवचन रखना न्यायप्राप्त है ? समाधान—यह कहना ठीक नही है, क्योकि उनकी पर्यायोको अधिकरण माना है। तात्पर्य यह है कि किसी एक पर्यायसे युक्त द्रव्य अधिकरण होता है, केवल द्रव्य नही, इसलिए सूत्रमे बहुवचन रखा है। जीव और अजीव किसके अधिकरण है ? आस्रवके। इस प्रकार प्रयोजनके अनुसार यहाँ आस्रव पदका सम्बन्ध होता है।

§ 623 अव जीवाधिकरणके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भके भेद से तीन प्रकारका, योगोंके भेदसे तीन प्रकारका; कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकारका तथा कषायोंके भेदसे चार प्रकारका होता हुआ परस्पर मिलानेसे एक सौ आठ प्रकारका है ॥8॥

§ 624. प्रमादी जीवका प्राणोकी हिंसा आदिकार्यमे प्रयत्नशील होना संरम्भ है। साधनोका जुटाना समारम्भ है। कार्य करने लगना आरम्भ है। योग शब्दका व्याख्यान पहले कर आये है। कर्ताकी कार्यविषयक स्वतन्त्रता दिखलानेके लिए सूत्रमे 'कृत' वचन रखा है। कार्यमें दूसरे-

---

1. -करणमित्युक्तम् मु. ता.। 2 —तव्य इत्यर्थ'। क. मु.। 3 —जीवा इति मु., दि. 2।

कषायाः क्रोधादयः। विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः। स प्रत्येकमभिसंबध्यते—संरम्भविशेषः समारम्भविशेष इत्यादि। आद्यं जीवाधिकरणमेतैर्विशेषैः 'भिद्यते' इति वाक्यशेषः। एते चत्वारः सुजन्तास्त्र्यादिशब्दा यथाक्रममभिसंबध्यन्ते—संरम्भसमारम्भारम्भास्त्रयः, योगास्त्रय., कृतकारितानुमतास्त्रय', कषायाश्चत्वार इति। एतेषां गणनाभ्यावृत्तिः सुचा द्योत्यते। एकश इति वीप्सानिर्देशः। एकैकं [1]त्र्यादीन् भेदान् नयेदित्यर्थः। यद्यथा—क्रोधकृतकायसरम्भः मानकृतकायसंरम्भः मायाकृतकायसंरम्भ लोभकृतकायसंरम्भः क्रोधकारितकायसरम्भः मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः लोभकारितकायसंरम्भः क्रोधानुमतकायसरम्भः मानानुमतकायसंरम्भः मायानुमतकायसंरम्भ. लोभानुमतकायसंरम्भश्चेति द्वादशधा कायसंरम्भः। एवं वाग्योगे मनोयोगे च द्वादशधा संरम्भः। त एते[2] संपिण्डिताः षट्त्रिंशत्, तथा समारम्भा अपि षट्त्रिंशत्, आरम्भा अपि षट्त्रिंशत्। एते संपिण्डिता जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसंख्याः संभवन्ति। 'च'शब्दोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनकषायभेदकृतान्तर्भेदसमुच्चयार्थः।

§ 625 परस्याजीवाधिकरणस्य[3] भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥9॥

§ 626. निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना निष्पादना। निक्षिप्यत इति निक्षेप स्थापना। संयुज्यते इति संयोगो मिश्रीकृतम्। निसृज्यत इति निसर्ग. प्रवर्तनम्। एते द्व्यादिभिर्यथाक्रममभिसंबध्यन्ते--

---

प्रयोगकी अपेक्षा दिखलानेके लिए 'कारित' वचन रखा है। तथा प्रयोजकके मानस परिणामको दिखलानेके लिए अनुमत शब्द रखा हैं। क्रोधादि कषायोके लक्षण कहे जा चुके है। जिससे एक अर्थ दूसरे अर्थसे विशेषताको प्राप्त हो वह विशेष है। इसे प्रत्येक शब्दके साथ जोड लेना चाहिए यथा संरम्भविशेष, समारम्भविशेष आदि। यहाँ 'भिद्यते' यह वाक्यशेष है जिससे यह अर्थ होता है कि पहला जीवाधिकरण इन विशेषताओसे भेदको प्राप्त होता है। सुच् प्रत्ययान्त ये चारों 'तीन' आदि शब्द क्रमसे सम्बन्धको प्राप्त होते है। यथा—सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ ये तीन, योग तीन; कृत, कारित और अनुमत ये तीन और कषाय चार। इनके गणनाकी पुनरावृत्ति 'सुच्' प्रत्यय-द्वारा प्रकट की गयी है। 'एकश.' यह वीप्सामे निर्देश है। तात्पर्य यह है कि तीन आदि भेदोको प्रत्येकके प्रति लगा लेना चाहिए। जैसे क्रोधकृतकायसरम्भ, मानकृतकायसरम्भ, मायाकृतकायसरम्भ, लोभकृतकायसरम्भ, क्रोधकारितकायसंरम्भ, मानकारितकायसरम्भ, मायाकारितकायसरम्भ, लोभकारितकायसरम्भ, क्रोधानुमतकायसंरम्भ, मानानुमतकायसरम्भ, मायानुमतकायसंरम्भ, लोभानुमतकायसरम्भ। इसप्रकार कायसरम्भ बारह प्रकारका है। इसीप्रकार वचनयोग और मनोयोगकी अपेक्षा संरम्भ बारह-बारह प्रकारका है। ये सब मिला कर छत्तीस भेद होते है। इसी प्रकार समारम्भ और आरम्भके भी छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं। ये सब मिल कर जीवाधिकरणके 108 भेद होते है। 'च' शब्द अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनरूप कषायोके अवान्तर भेदोका समुच्चय करनेके लिए दिया है।

§ 625. अब दूसरे अजीवाधिकरणके भेदोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेदवाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है ॥9॥

§ 626. निर्वर्तनाका अर्थ निष्पादना अर्थात् रचना है। निक्षेपका अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है। संयोगका अर्थ मिश्रित करना अर्थात् मिलाना है और निसर्गका अर्थ प्रवर्तन है। ये

---

1. त्र्यादिभेदान् आ., दि. 1, दि 2। 2 ऐते पिण्डि-- मु.। 3. --जीवस्याधि-- मु.।

निर्वर्तना द्विभेदा निक्षेपश्चतुर्भेद संयोगो द्विभेदः निसर्गस्त्रिभेद इति । त एते भेदा अजीवाधिकरणस्य वेदितव्या । परवचनमनर्थकम्, पूर्वसूत्रे आद्यमिति वचनादिदमवशिष्टार्थं भवतीति । नानर्थकम् । अन्यार्थः परशब्दः । संरम्भादिभ्योऽन्यानि निर्वर्तनादीनि । इतरथा हि निर्वर्तनादीनामात्मपरिणामसद्भावाज्जीवाधिकरणविकल्पा एवेति विज्ञायेत । निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति । तत्र [1]मूलगुणनिर्वर्तनं पञ्चविधम्, शरीरवाङ्मनःप्राणापानाश्च । [2]उत्तरगुणनिर्वर्तनं काष्ठपुस्तचित्रकर्मादि । निक्षेपश्चतुर्विधः अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति । निसर्गस्त्रिविधः—कायनिसर्गाधिकरणं वाग्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति ।

§ 627. उक्तः सामान्येन कर्मास्रवभेदः । इदानीं कर्मविशेषास्रवभेदो वक्तव्यः । तस्मिन् वक्तव्ये आद्ययोर्ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥10॥

§ 628. तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरत अतःपैशुन्यपरिणामः प्रदोष । कुतश्चित्कारणान्नास्ति न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं निह्नव । कुतश्चित्कारणाद् भावितमपि विज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् । ज्ञानव्यवच्छेदकरणमन्तरायः । कायेन

क्रमसे दो आदि शब्दोके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते है । यथा—निर्वर्तना दो प्रकारकी है । निक्षेप चार प्रकारका है । सयोग दो प्रकारका है । निसर्ग तीन प्रकारका है । ये सब अजीवाधिकरणके भेद हैं । शंका—सूत्रमे 'पर' वचन निरर्थक है, क्योकि पिछले सूत्रमें 'आद्य' वचन दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह शेषके लिए है । समाधान—अनर्थक नही है क्योकि यहाँ 'पर' शब्दका अन्य अर्थ है जिससे यह ज्ञात होता है कि निर्वर्तना आदिक सरम्भ आदिकसे अन्य हैं । यदि पर शब्द न दिया जाय तो निर्वर्तना आदि आत्माके परिणाम हैं ऐसा हो जानेसे ये जीवाधिकरणके भेद समझे जायँगे । निर्वर्तनाधिकरण दो प्रकारका है—मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण । उनमे-से मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण पाँच प्रकारका है—शरीर, वचन, मन, प्राण और अपान । तथा काष्ठकर्म, पुस्तकर्म और चित्रकर्म आदि उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण हैं । निक्षेप चार प्रकारका है—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण । सयोग दो प्रकारका है—भक्तपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसयोगाधिकरण । निसर्ग तीन प्रकारका है—कायनिसर्गाधिकरण, वचननिसर्गाधिकरण और मननिसर्गाधिकरण ।

§ 627. सामान्यसे कर्मास्रवके भेद कहे । इस समय अलग-अलग कर्मोंके आस्रवके भेदोंका कथन करना चाहिए । उसमे सर्वप्रथम प्रारम्भके ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्ञान और दर्शनके विषयमें प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव हैं ॥10॥

§ 628. तत्त्वज्ञान मोक्षका साधन है उसका गुणगान करने पर उस समय नहीं बोलनेवालेके जो भीतर पैशुन्यरूप परिणाम होता है वह प्रदोष है । किसी कारणसे 'ऐसा नही है, मैं नही जानता' ऐसा कहकर ज्ञानका अपलाप करना निह्नव है । विज्ञानका अभ्यास किया है वह

1, मूलं पञ्च– आ, दि 1, दि 2 । 2 उत्तर काष्ठ– आ. दि 1, दि 2 ।

वाचा च परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनमासादनम् । प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः । आसादनमेवेति चेत् ? सतो ज्ञानस्य विनयप्रदानादिगुणकीर्तनाननुष्ठानमासादनम् । उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्रायः । इत्यनयोरयं भेदः । 'तत्'शब्देन ज्ञानदर्शनयोः प्रतिनिर्देश क्रियते । कथ पुनरप्रकृतयोरनिर्दिष्टयोस्तच्छब्देन परामर्शः कर्तुं शक्यः ? प्रश्नापेक्षया । ज्ञानदर्शनावरणयोः क आस्रव इति प्रश्ने कृते तदपेक्षया तच्छब्दो ज्ञानदर्शने प्रतिनिर्दिशति । एतेन ज्ञानदर्शनवत्सु तत्साधनेषु च प्रदोषादयो योज्याः; तन्निमित्तत्वात् । त एते ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवहेतवः । एककारणसाध्यस्य कार्यस्यानेकस्य दर्शनात् तुल्येऽपि प्रदोषादौ ज्ञानर्शनावरणास्रवसिद्धिः । अथवा विषयभेदादास्रवभेदः । ज्ञानविषया प्रदोषादयो ज्ञानावरणस्य । दर्शनविषया प्रदोषादयो दर्शनावरणस्येति ।

§ 629. यथानयोः कर्मप्रकृत्योरास्रवभेदास्तथा—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥11॥

§ 630. पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् । अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेष शोक । परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः । परितापजाताश्रुपातप्रचुरविप्रलापादिभिर्व्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम् । आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः । संक्लेशपरिणामावलम्बनं[1]

देने योग्य भी है तो जिस कारणसे वह नही दिया जाता है वह मात्सर्य है। ज्ञानका विच्छेद करना अन्तराय हैं। दूसरा कोई ज्ञानका प्रकाश कर रहा हो तब शरीर या वचनसे उसका निषेध करना आसादन है। प्रशसनीय ज्ञानमे दूषण लगाना उपघात है। **शंका**—उपघातका जो लक्षण किया है उससे वह आसादन ही ज्ञात होता है ? **समाधान**—प्रशस्त ज्ञानकी विनय न करना, उसकी अच्छाईकी प्रशसा न करना आदि आसादन है। परन्तु ज्ञानको अज्ञान समझकर ज्ञानके नाशका इरादा रखना उपघात है इस प्रकार इन दोनोमे अन्तर है। सूत्रमे 'तत्' पद ज्ञान और दर्शनका निर्देश करनेके लिए दिया है। **शंका**—ज्ञान और दर्शन अप्रकृत है, तथा उनका निर्देश भी नही किया है, फिर यहाँ 'तत्'शब्दके द्वारा उनका ज्ञान कैसे हो सकता है ? **समाधान**—प्रश्नकी अपेक्षा अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणका क्या आस्रव है ऐसा प्रश्न करनेपर उसकी अपेक्षा 'तत्' शब्द ज्ञान और दर्शनका निर्देश करता है। इससे यह अभिप्राय निकला कि ज्ञान और दर्शनवालोके विषयमे तथा उनके साधनोके विषयमे प्रदोषादिककी योजना करनी चाहिए, क्योंकि ये उनके निमित्तसे होते है। ये प्रदोषादिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण है। एक कारणसे भी अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं, इसलिए प्रदोषादिकके एक समान रहते हुए भी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनोका आस्रव सिद्ध होता है। अथवा विषयके भेदसे आस्रवमे भेद होता है। ज्ञानसम्बन्धी प्रदोषादिक ज्ञानावरणके आस्रव हैं और दर्शनसम्बन्धी प्रदोषादिक दर्शनावरणके आस्रव हैं।

§ 629. जिस प्रकार इन दोनो कर्मोका आस्रव अनेक प्रकारका है उसी प्रकार—

अपनेमें, दूसरेमें या दोनोमें विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असाता वेदनीय कर्मके आस्रव हैं ॥11॥

§ 630. पीडारूप आत्माका परिणाम दु ख है। उपकार करनेवालेका सम्बन्ध टूट जानेपर जो विकलता होती है वह शोक है। अपवाद आदिके निमित्तसे मनके खिन्न होनेपर जो तीव्र अनुशय-संताप होता है वह ताप है। परितापके कारण जो आँसू गिरनेके साथ विलाप आदि

---

1. —लम्बन स्वपरा— आ, दि 1, दि. 2।

गुणस्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुरं रोदनं परिदेवनम्। ननु च शोकादीनां दुःखविशेषत्वाद् दुःखग्रहणमेवास्तु ? सत्यमेवम्; तथापि कतिपयविशेषप्रतिपादनेन दुःखजात्य[1]नुविधानं क्रियते। यथा गौरित्युक्ते अनिर्ज्ञाते विशेषे तत्प्रतिपादनार्थं खण्डमुण्डकृष्ण-शुक्लाद्युपादानं क्रियते तथा दुःखविषयास्रवासंख्येयलोकभेदसंभवाद् दुःखमित्युक्ते विशेषानिर्ज्ञा-नात्कतिपयविशेषनिर्देशेन तद्विशेषप्रतिपत्तिः क्रियते। तान्येतानि दुःखादीनि [2]क्रोधाद्यावेशादात्म-स्थानि भवन्ति परस्थान्युभयस्थानि च। एतानि सर्वाण्यसद्वेद्यास्रवकारणानि वेदितव्यानि। अत्र चोद्यते—यदि दुःखादीन्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यास्रवनिमित्तानि, किमर्थमार्हतैः केशलुञ्चनान-शनातपस्थानादीनि दुःखनिमित्तान्यास्थीयन्ते परेषु च प्रतिपाद्यन्ते इति ? नैष दोषः—अन्तरङ्ग-क्रोधाद्यावेशपूर्वकाणि दुःखादीन्यसद्वेद्यास्रवनिमित्तानीति विशेष्योक्तत्वात्। यथा कस्यचिद् भिषजः परमकरुणाशयस्य निःशल्यस्य संयतस्योपरि गण्डं पाटयतो दुःखहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति। एवं संसारविषयमहादुःखादुद्विग्नस्य भिक्षोस्तन्निवृत्त्युपायं प्रति समाहितमनस्कस्य शास्त्रविहिते कर्मणि प्रवर्तमानस्य संक्लेशपरिणामाभावाद् दुःखनिमित्तत्वे सत्यपि न पापबन्धः। उक्तं च—

"न दुःखं न सुखं यद्वद्धेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।
चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥

होता है, उससे खुलकर रोना आक्रन्दन है। आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना वध है। संक्लेशरूप परिणामोके होनेपर गुणोका स्मरण और प्रशंसा करते हुए अपने और दूसरेके उपकारकी अभिलाषासे करुणाजनक रोना परिदेवन है। शंका—शोकादिक दुःखके भेद हैं, इसलिए दुःखका ग्रहण करना पर्याप्त है ? समाधान—यह कहना सही है तो भी यहाँ कुछ भेदोका कथन करके दुःखकी जातियाँ दिखलायी हैं। जैसे गौ ऐसा कहनेपर अवान्तर भेदोका ज्ञान नही होता, इसलिए खाडी, मुंडी, काली, सफेद आदि विशेषण दिये जाते हैं उसी प्रकार दुःखविषयक आस्रव असंख्यात लोकप्रमाण संभव है। परन्तु दुःख इतना कहनेपर सब भेदोका ज्ञान नही होता अतएव कुछ भेदोका उल्लेख करके उनको पृथक्-पृथक् जान लिया जाता है। क्रोधादिकके आवेशवश ये दुःखादिक कभी अपनेमे होते है, कभी दूसरोमे होते है और कभी दोनोंमे होते हैं। ये सब असाता वेदनीयके आस्रवके कारण जानने चाहिए। शंका—यदि अपनेमे, परमे या दोनोमे स्थित दुःखादिक असातावेदनीयके आस्रवके कारण है तो अरिहंतके मतको माननेवाले मनुष्य दुःखको पैदा करनेवाले केशलोच, अनशन और आतपस्थान (आतापनयोग) आदिमें क्यो विश्वास करते हैं और दूसरोको इनका उपदेश क्यो देते है ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि अन्तरंगमे क्रोधादिकके आवेशसे जो दुःखादिक पैदा होते हैं वे असातावेद-नीयके आस्रवके कारण हैं इतना यहाँ विशेष कहा है। जैसे अत्यन्त दयालु किसी वैद्यके फोड़ेको चीर-फाड और मरहमपट्टी करते समय निःशल्य संयतको दुःख देनेमे निमित्त होनेपर भी केवल बाह्य निमित्त मात्रसे पापबन्ध नही होता उसी प्रकार जो भिक्षु संसार-सम्बन्धी दुःखसे उद्विग्न है और जिसका मन उसके दूर करनेके उपायोमे लगा हुआ है उसके शास्त्रविहित कर्ममे प्रवृत्ति करते समय संक्लेशरूप परिणामोके नही होनेसे पापबन्ध नही होता। कहा भी है—"जिस प्रकार चिकित्साके साधन न स्वयं दुःखरूप देखे जाते है और न सुखरूप, किन्तु जो चिकित्सामे

1. -जात्यन्तरविधा- मु.। 2. क्रोधावेशा- मु.।

न दुःख न सुख तद्वद्धेतुर्मोक्षस्य साधने ।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दु.खमथवा सुखम् ॥"

§ 631. उक्ता असद्वेद्यास्रवहेतवः । सद्वेद्यस्य पुन के इत्यत्रोच्यते—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥12॥

§ 632 तासु तासु गतिषु कर्मोदयवशाद्भवन्तीति भूतानि प्राणिन इत्यर्थ. । व्रतान्यहिंसादीनि वक्ष्यन्ते, तद्वन्तो व्रतिनः । ते द्विविधाः । अगारं प्रति निवृत्तौत्सुक्या संयता. गृहिणश्च संयतासंयताः । अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा । भूतेषु व्रतिषु चानुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा । परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम् । संसारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशय सराग इत्युच्यते । प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः । सरागस्य संयम सरागो वा संयमः सरागसंयमः । 'आदि'-शब्देन संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपोऽनुरोध । योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थं । भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादीनां योगो भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग । क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः । लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् । 'इति'शब्दः प्रकारार्थः । के पुनस्ते प्रकाराः । अर्हत्पूजाकरण[1]तत्परताबालवृद्धतपस्विवैयावृत्त्यादयः ।

लग रहा है उसे दु ख भी होता है और सुख भी । उसी प्रकार मोक्ष-साधनके जो हेतु हैं वे स्वय न दु.खरूप है और न सुखरूप किन्तु जो मोक्षमार्गपर आरूढ है उसे दु ख भी होता है और सुख भी ।"

§ 631 असातावेदनीयके आस्रवके कारण कहे, परन्तु सातावेदनीयके आस्रवके कारण कौन हैं ? इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदि का योग तथा क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्मके आस्रव हैं ॥12॥

§ 632. जो कर्मोदयके कारण विविध गतियोमे होते हैं वे भूत कहलाते हैं। भूत यह प्राणीका पर्यायवाची शब्द है । अहिंसादिक व्रतोका वर्णन आगे करेंगे । जो उनसे युक्त हैं वे व्रती कहलाते हैं । वे दो प्रकारके है—पहले वे जो घरसे निवृत्त होकर सयत हो गये हैं और दूसरे गृहस्थ सयतासयत । अनुग्रहसे दयार्द्र चित्तवालेके दूसरेकी पीडाको अपनी ही माननेका जो भाव होता है उसे अनुकम्पा कहते हैं । सब प्राणियोपर अनुकम्पा रखना भूतानुकम्पा है और व्रतियोपर अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है । दूसरेका उपकार हो इस बुद्धिसे अपनी वस्तुका अर्पण करना दान है । जो ससारके कारणोके त्यागके प्रति उत्सुक है, परन्तु जिसके अभी रागके सस्कार नष्ट नही हुए हैं वह सराग कहलाता है । प्राणी और इन्द्रियोके विषयमे अशुभ प्रवृत्तिके त्यागको संयम कहते हैं। सरागका सयम या रागसहित संयम सरागसंयम कहलाता है। सूत्रमे सरागसयमके आगे दिये गये आदि पदसे सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतपका ग्रहण होता है । योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम है । पहले जो भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान और सरागसयम 'आदि' कहे हैं इनका योग अर्थात् इनमें भले प्रकार मन लगाना भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसयमादियोग है । क्रोधादि दोषोका निराकरण करना क्षान्ति है। तथा लोभके प्रकारोका त्याग करना शौच है । सूत्रमे आया हुआ 'इति' शब्द प्रकारवाची है। वे प्रकार कौन हैं ? अरहतकी पूजा करनेमे तत्परता तथा बाल और वृद्ध तपस्वियोकी वैयावृत्य आदि

---

1. –करणपरता– मु ।

'भूत'ग्रहणात् सिद्धे 'व्रति'ग्रहणं तद्विषयानुकम्पाप्राधान्यख्यापनार्थम् । त एते सद्वेद्यस्यास्रवा ज्ञेया.।

§ 633. अथ तदनन्तरोद्देशभाजो मोहस्यास्रवहेतौ वक्तव्ये तद्भेदस्य दर्शनमोहस्यास्रव-हेतुप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।।13।।

§ 634. निरावरणज्ञानाः केवलिन । तदुपदिष्ट बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतं ग्रन्थ-रचनं श्रुतं भवति। रत्नत्रयोपेतः श्रमणगण संघ । अहिंसालक्षणस्तदागमदेशितो धर्मः। देवाश्चतुर्णिकाया उक्ता । गुणवत्सु महत्सु असद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवादः। एतेष्ववर्णवादो दर्शनमोहस्यास्रवहेतु । कवलाभ्यवहारजीविन केवलिन इत्येवमादि वचन केवलिनामवर्णवादः। मांसभक्षणाद्यनवद्याभिधानं[1] श्रुतावर्णवादः। शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघावर्णवाद । जिनोपदिष्टो धर्मो निर्गुणस्तदुपसेविनो ये ते चासुरा भविष्यन्तीत्येवमाद्य[2]भिधानं धर्मावर्णवाद । सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवाद ।

§ 635. द्वितीयस्य मोहस्यास्रवभेदप्रतिपादनार्थमाह—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।।14।।

§ 636. कषाया उक्ता । उदयो विपाक । कषायाणामुदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्या-

---

करना वे प्रकार है। यद्यपि भूतपदके ग्रहण करनेसे व्रतियोका ग्रहण हो जाता है तो भी व्रती-विषयक अनुकम्पाकी प्रधानता दिखलानेके लिए सूत्रमे 'व्रतो' पदको अलगसे ग्रहण किया है। ये सव सातावेदनीयके आस्रव जानने चाहिए।

§ 633 अव इसके वाद मोहनीयके आस्रवके कारणोका कथन करना क्रमप्राप्त है। उसमे भी पहले उसके प्रथम भेद दर्शनमोहनीयके आस्रवके कारणोका कथन करनेके लिए आगे-का सूत्र कहते हैं—

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव है ।।13।।

§ 634 जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे केवली कहलाते हैं। अतिशय बुद्धिवाले गण-धरदेव उनके उपदेशोका स्मरण करके जो ग्रन्थोकी रचना करते है वह श्रुत कहलाता है। रत्न-त्रयसे युक्त श्रमणोका समुदाय सघ कहलाता है। सर्वज्ञ-द्वारा प्रतिपादित आगममे उपदिष्ट अहिंसा ही धर्म है। चार निकायवाले देवोका कथन पहले कर आये हैं। गुणवाले वडे पुरुषोमे जो दोष नही है उनका उनमे उद्भावन करना अवर्णवाद है। इन केवली आदिके विषयमे किया गया अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आस्रवका कारण है। यथा केवली कवलाहारसे जीते है इत्यादि रूपसे कथन करना केवलियोका अवर्णवाद है। शास्त्रमे मासभक्षण आदिको निर्दोष कहा है इत्यादि रूपसे कथन करना श्रुतका अवर्णवाद है। ये शूद्र हैं, अशुचि है, इत्यादि रूपसे अपवाद करना सघका अवर्णवाद है। जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट धर्ममे कोई सार नही, जो इसका सेवन करते हैं वे असुर होगे इस प्रकार कथन करना धर्मका अवर्णवाद है। देव सुरा और मास आदिका सेवन करते है इस प्रकारका कथन करना देवोका अवर्णवाद है।

§ 635 अव मोहनीयका दूसरा भेद जो चारित्र मोहनीय है उसके आस्रवके भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

कषायके उदयसे होनेवाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीयका आस्रव है ।।14।।

§ 636 कषायोका व्याख्यान पहले कर आये हैं। विपाकको उदय कहते हैं। कषायोके

---

1 —णाद्यभिधान मु., ना.। 2 —त्येवमभि— मु.।

स्रवो वेदितव्य । तत्र स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादि कषायवेदनीयस्यास्रव । सद्धर्मोपहसनदीनातिहास[1]कन्दर्पोपहासबहुविप्रलापोपहासशीलतादिर्हास्यवेदनीयस्य । विचित्रक्रीडनपरताव्रतशीलारुच्यादि रतिवेदनीयस्य । परारतिप्रादुर्भावनरतिविनाशनपापशीलसंसर्गादि अरतिवेदनीयस्य । स्वशोकोत्पादन[2]परशोकप्लुताभिनन्दनादि शोकवेदनीयस्य । स्वभयपरिणामपरभयोत्पादनादिर्भयवेदनीयस्य । कुशलक्रियाचारजुगुप्सापरिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य । अलीकाभिधायितातिसंधानपरत्वपररन्ध्र[3]प्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादि स्त्रीवेदनीयस्य । स्तोकक्रोधानुत्सुकत्वस्वदारसंतोषादि पुंवेदनीयस्य । प्रचुरकषायागुह्येन्द्रियव्यपरोपणपराङ्गनावस्क[4]न्दादिर्नपुंसकवेदनीयस्य ।

§ 637. निर्दिष्टो मोहनीयस्यास्रवभेद । इदानीं तदनन्तरनिर्दिष्टस्यायुष[5] आस्रवहेतौ वक्तव्ये आद्यस्य नियतकालपरिपाकस्यायुषः कारणप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥15॥

§ 638. आरम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः । ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः । आरम्भाश्च परिग्रहाश्च आरम्भपरिग्रहाः । बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः । तस्य भावो

उदयसे जो आत्माका तीव्र परिणाम होता है वह चारित्रमोहनीयका आस्रव जानना चाहिए। स्वय कषाय करना, दूसरोमे कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनोके चारित्रमे दूषण लगाना, सक्लेशको पैदा करनेवाले लिंग (वेष) और व्रतको धारण करना आदि कषायवेदनीयके आस्रव हैं। सत्य धर्मका उपहास करना, दीन मनुष्यकी दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित रागको बढ़ानेवाला हँसी मजाक करना, बहुत बकने और हँसनेकी आदत रखना आदि हास्यवेदनीयके आस्रव हैं। नाना प्रकारकी क्रीडाओमे लगे रहना, व्रत और शीलके पालन करनेमे रुचि न रखना आदि रतिवेदनीयके आस्रव हैं। दूसरोमे अरति उत्पन्न हो और रतिका विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगोकी संगति करना आदि अरतिवेदनीयके आस्रव हैं। स्वयं शोकातुर होना, दूसरोके शोकको बढाना तथा ऐसे मनुष्योका अभिनन्दन करना आदि शोकवेदनीयके आस्रव हैं। भयरूप अपना परिणाम और दूसरेको भय पैदा करना आदि भयवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। सुखकर क्रिया और सुखकर आचारसे घृणा करना और अपवाद करने मे रुचि रखना आदि जुगुप्सावेदनीयके आस्रव हैं। असत्य बोलनेकी आदत, अतिसन्धानपरता, दूसरेके छिद्र ढूँढ़ना और बढा हुआ राग आदि स्त्रीवेदनीयके आस्रव हैं। क्रोधका अल्प होना, ईर्ष्या नही करना, अपनी स्त्रीमे सन्तोष करना आदि पुरुषवेदनीयके आस्रव हैं। प्रचुर मात्रामे कषाय करना, गुप्त इन्द्रियोका विनाश करना और परस्त्रीसे बलात्कार करना आदि नपुसक वेदनीयके आस्रव हैं।

§ 637 मोहनीयके आस्रवके भेदोका कथन किया। इसके बाद आयुकर्मके आस्रवके कारणोका कथन क्रमप्राप्त है। उसमे भी पहले जिसका नियत काल तक फल मिलता है उस आयुके आस्रवके कारण दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहपनेका भाव नारकायुका आस्रव है ॥15॥

§ 638. प्राणियोको दुख पहुँचानेवाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है। यह वस्तु मेरी है इस प्रकारका सकल्प रखना परिग्रह है। जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बह्वारम्भपरिग्रहत्व है। हिंसा आदि

---

1 —नातिहासबहु— मु.। 2. —त्पादन परशोकाविष्करण शोक— ता.। 3 —रत्व पररन्ध्रापे— मु.। —रत्व रन्ध्रापे— आ.। 4. —नास्कन्दा— मु 5. निर्दिष्टस्यायुष. कारण— मु.।

बह्वारम्भपरिग्रहत्वम् । हिंसादिक्रूरकर्माजस्रप्रवर्तनपरस्वहरणविषयातिगृद्धिकृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो नारकस्यायुष आस्रवो भवति ।

§ 639 आह, उक्तो नारकस्यायुष आस्रवः । तैर्यग्योनस्येदानीं वक्तव्य इत्यत्रोच्यते—

माया तैर्यग्योनस्य ॥16॥

§ 640. चारित्रमोहकर्मविशेषस्योदयादाविर्भूत आत्मनः कुटिलभावो माया निकृतिः तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवो वेदितव्यः । तत्प्रपञ्चो मिथ्यात्वोपेतधर्मदेशना निःशीलतातिसंधानप्रियता नीलकापोतलेश्यार्तध्यानमरणकालतादिः ।

§ 641. आह, व्याख्यातस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवः । इदानीं मानुषस्यायुषः को हेतुरित्यत्रोच्यते—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥17॥

§ 642. नारकायुरास्रवो व्याख्यातः । तद्विपरीतो मानुषस्यायुष इति संक्षेपः । तद्व्यासः—विनीतस्वभावः प्रकृतिभद्रता प्रगुणव्यवहारता तनुकषायत्व मरणकालासंक्लेशतादिः ।

§ 643. किमेतावानेव मानुषस्यायुष आस्रव इत्यत्रोच्यते—

स्वभावमार्दवं च ॥18॥

§ 644. मृदोर्भावो मार्दवम् । स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम् । उपदेशानपेक्षमित्यर्थः ।

क्रूर कार्योंमें निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरेके धनका अपहरण, इन्द्रियोंके विषयोमे अत्यन्त आसक्ति तथा मरनेके समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदिका होना नरकायुके आस्रव हैं ।

§ 639 नरकायुका आस्रव कहा । अब तिर्यंचायुका आस्रव कहना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

माया तिर्यंचायुका आस्रव है ॥16॥

§ 640 माया नामक चारित्रमोहनीयके उदयसे जो आत्मामे कुटिल भाव पैदा होता है वह माया है । इसका दूसरा नाम निकृति है । इसे तिर्यंचायुका आस्रव जानना चाहिए । इसका विस्तारसे खुलासा—धर्मोपदेशमे मिथ्या बातोको मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, अतिसंधानप्रियता, तथा मरणके समय नील व कापोत लेश्या और आर्तध्यानका होना आदि तिर्यंचायुके आस्रव हैं ।

§ 641 तिर्यंचायुके आस्रव कहे । अब मनुष्यायुका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहपनेका भाव मनुष्यायुके आस्रव हैं ॥17॥

§ 642. नरकायुका आस्रव पहले कह आये है । उससे विपरीत भाव मनुष्यायुका आस्रव है । संक्षेपमे यह इस सूत्रका अभिप्राय है । उसका विस्तारसे खुलासा—स्वभावका विनम्र होना, भद्र प्रकृतिका होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषायका होना तथा मरणके समय संक्लेशरूप परिणतिका नही होना आदि मनुष्यायुके आस्रव है ।

§ 643. क्या मनुष्यायुका आस्रव इतना ही है या और भी है । इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्वभावकी मृदुता भी मनुष्यायुका आस्रव है ॥18॥

§ 644. मृदुका भाव मार्दव है । स्वभावसे मार्दव स्वभाव मार्दव है । आशय यह है कि किसीके समझाये-बुझाये मृदुता अपने जीवनमे उतरी हुई हो इसमे किसीके उपदेशकी आवश्यकता

एतदपि मानुषस्यायुष आस्रवः । पृथग्योगकरण किमर्थम् ? उत्तरार्थम्, देवायुष आस्रवोऽयमपि[1] यथा स्यात् ।

§ 645. किमेतदेव द्वितीयं[2] मानुषस्यास्रवः ? न; इत्युच्यते—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥19॥

§ 646. 'च'शब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः । अल्पारम्भपरिग्रहत्वं च निःशीलव्रतत्वं च । शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि[3] तानि वक्ष्यन्ते । निष्क्रान्तः शीलव्रतेभ्यो निःशीलव्रतः । तस्य भावो निःशीलव्रतत्वम् । 'सर्वेषां'ग्रहणं सकलायुरास्रवप्रतिपत्त्यर्थम् । किं देवायुषोऽपि भवति ? सत्यम्, भवति भोगभूमिजापेक्षया ।

§ 647. अथ चतुर्थस्यायुषः क आस्रव इत्यत्रोच्यते—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥20॥

§ 648. सरागसंयमः संयमासंयमश्च व्याख्यातौ । अकामनिर्जरा अकामश्चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्यामलधारणपरितापादिः । अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा । बालतपो मिथ्यादर्शनोपेत[4]मनुपायकायक्लेशप्रचुरं निकृतिबहुलव्रतधारणम् । तान्येतानि दैवस्यायुष आस्रवहेतवो वेदितव्याः ।

न पडे । यह भी मनुष्यायुका आस्रव है । **शंका**—इस सूत्रको अलगसे क्यो बनाया ? **समाधान**—स्वभावकी मृदुता देवायुका भी आस्रव है इस बातके बतलानेके लिए इस सूत्रको अलगसे बनाया है ।

§ 645. क्या ये दो ही मनुष्यायुके आस्रव है ? नही, किन्तु और भी हैं । इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते है—

शीलरहित और व्रतरहित होना सब आयुओंका आस्रव है ॥19॥

§ 646. सूत्रमे जो 'च' शब्द है वह अधिकार प्राप्त आस्रवोके समुच्चय करनेके लिए है । इससे यह अर्थ निकलता है कि अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहरूप भाव तथा शील और व्रतरहित होना सब आयुओके आस्रव है । शील और व्रतोका स्वरूप आगे कहनेवाले हैं । इनसे रहित जीवका जो भाव होता है उससे सब आयुओका आस्रव होता है यह इस सूत्रका भाव है । यहाँ सब आयुओका आस्रव इष्ट है यह दिखलानेके लिए सूत्रमे 'सर्वेषाम्' पदको ग्रहण किया है। **शंका**—क्या शील और व्रतरहितपना देवायुका भी आस्रव है ? **समाधान**—हाँ, भोगभूमियाँ प्राणियोकी अपेक्षा शील और व्रतरहितपना देवायुका भी आस्रव है ।

§ 647 अव चौथी आयुका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायुके आस्रव हैं ॥20॥

§ 648. सरागसंयम और संयमासंयमका व्याख्यान पहले कर आये है । चारकमें रोक रखनेपर या रस्सी आदिसे बाँध रखनेपर जो भूख प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता है, भूमिपर सोना पड़ता है, मलमूत्रको रोकना पडता है और संताप आदि होता है यह सब अकाम है और इससे जो निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है । मिथ्यात्वके कारण मोक्षमार्गमें उपयोगी न पड़नेवाले अनुपाय कायक्लेशबहुल मायासे व्रतोका धारण करना बालतप है । ये सब देवायुके आस्रवके कारण जानने चाहिए ।

---

1. आस्रवोऽपि मु । 2. द्वितीय मु । 3. व्रतानि वक्ष्य— मु । 4. —पेतमनुकम्पाकाय— ता., ना. ।

§ 649. किमेतावानेव दैवस्यायुष आस्रवः । नेत्याह—

सम्यक्त्वं च ॥21॥

§ 650. किम् ? दैवस्यायुष आस्रव इत्यनुवर्तते । अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः । कुतः । पृथक्करणात् । यद्येवम्, पूर्वसूत्रे, उक्त आस्रवविधिरविशेषेण प्रसक्तः तेन सरागसंयमसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्राप्नुतः । नैष दोषः; सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्तदुभयमप्यत्रान्तर्भवति ।

§ 651. आयुषोऽनन्तरमुद्दिष्टस्य नाम्न आस्रवविधौ वक्तव्ये, तत्राशुभनाम्न आस्रवप्रतिपत्त्यर्थमाह—

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥22॥

§ 652. योगस्त्रिप्रकारो व्याख्यातः । तस्य वक्रता कौटिल्यम् । विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम् । ननु च नार्थभेदः, योगवक्रतैवान्यथाप्रवर्तनम् ? सत्यमेवमेतत्—स्वगता योगवक्रतेत्युच्यते । परगतं विसंवादनम् । सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकायवाङ्मनोभिर्विसंवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति । एतदुभयमशुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम् । 'च'शब्देन मिथ्यादर्शनपैशुन्यास्थिरचित्तताकूटमानतुलाकरणपरनिन्दात्मप्रशंसादिः समुच्चीयते ।

---

§ 649 क्या देवायुका आस्रव इतना ही है या और भी है ? अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सम्यक्त्व भी देवायुका आस्रव है ॥21॥

§ 650 शंका—किस कारणसे । समाधान—अलग सूत्र बनानेसे । शंका—यदि ऐसा है तो पूर्व सूत्रमे जो विधान किया है वह सामान्यरूपसे प्राप्त होता है और इससे सरागसयम और सयमासयम ये भवनवासी आदिकी आयुके भी आस्रव हैं यह प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योंकि सम्यक्त्वके अभावमे सरागसयम और सयमासयम नही होते, इसलिए उन दोनोका यही अन्तर्भाव होता है । अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायुके आस्रव है, क्योकि ये सम्यक्त्वके होनेपर ही होते हैं ।

§ 651. आयुके बाद नामके आस्रवका कथन क्रमप्राप्त है । उसमे भी पहले अशुभ नामके आस्रवका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं ।

योगवक्रता और विसंवाद ये अशुभ नाम कर्मके आस्रव है ॥22॥

§ 652 तीन प्रकारके योगका व्याख्यान पहले कर आये है । इसकी कुटिलता योगवक्रता है । अन्यथा प्रवृत्ति करना विसवाद है । शंका—इस तरह इनमे अर्थभेद नही प्राप्त होता; क्योकि योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है ? समाधान—यह कहना सही है तब भी स्वगत योगवक्रता कही जाती है और परगत विसवादन । जो स्वर्ग और मोक्षके योग्य समीचीन क्रियाओंका आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिद्वारा रोकना कि ऐसा मत करो ऐसा करो विसवादन है । इस प्रकार ये दोनो एक नही हैं किन्तु अलग-अलग हैं । ये दोनो अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए । सूत्रमें आये हुए 'च' पदसे मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्तका स्थिर न रहना, मापने और तौलनेके बाँट घट-बढ़ रखना, दूसरोकी निन्दा करना और अपनी प्रशसा करना आदि आस्रवोका समुच्चय होता है ।

§ 653. अथ शुभनामकर्मणः क आस्रव इत्यत्रोच्यते—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥23॥

§ 654. कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादनं च तद्विपरीतम् । 'च'शब्देन समुच्चितस्य च विपरीतं ग्राह्यम् । धार्मिकदर्शनसंभ्रमसद्भावोपनयनसंसरणभीरुताप्रमादवर्जनादिः । तदेतच्छुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम् ।

§ 655. आह किमेतावानेव शुभनाम्न आस्रवविधिरुत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—यदिदं तीर्थकरनामकर्मानन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति । यद्येवमुच्यतां के तस्यास्रवः । इत्यत इदमारभ्यते—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥24॥

§ 656. जिनेन भगवतार्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः प्रागुक्तलक्षणा । तस्या अष्टावङ्गानि निश्शङ्कितत्वं निःकाङ्क्षिता विचिकित्साविरहता अमूढदृष्टिता उपबृंहणं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावनं चेति । सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु[1] तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन संपन्नता विनयसंपन्नता । अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपाल-

---

§ 653 अब शुभ नामकर्मका आस्रव क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं।

उससे विपरीत अर्थात् योगकी सरलता और अविसंवाद ये शुभनामकर्मके आस्रव हैं ॥23॥

§ 654 काय, वचन और मनकी सरलता तथा अविसंवाद ये उससे विपरीत हैं। उसी प्रकार पूर्व सूत्रकी व्यवस्था करते हुए 'च' शब्दसे जिनका समुच्चय किया गया है उनके विपरीत आस्रवोंका ग्रहण करना चाहिए। जैसे—धार्मिक पुरुषों व स्थानोका दर्शन करना, आदर सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, संसारसे डरना और प्रमादका त्याग करना आदि। ये सब शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं।

§ 655 शंका—क्या इतनी ही शुभ नामकर्मकी आस्रवविधि हैं या और भी कोई विशेषता है ? समाधान—जो यह अनन्त और अनुपम प्रभाववाला, अचिन्त्य विभूति विशेषका कारण और तीन लोककी विजय करनेवाला तीर्थंकर नामकर्म है उसके आस्रवमे विशेषता है, अतः अगले सूत्र द्वारा उसीका कथन करते हैं—

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील और व्रतोंका अतिचार रहित पालन करना, ज्ञानमें सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्तिके अनुसार त्याग, शक्तिके अनुसार तप, साधु-समाधि, वैयावृत्त्य करना, अरिहतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओंको न छोड़ना, मोक्षमार्गकी प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव हैं ॥24॥

§ 656. (1) जिन भगवान् अरिहत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्गपर रुचि रखना दर्शनविशुद्धि है। इसका विशेष लक्षण पहले कह आये हैं। उसके आठ अंग हैं—निःशकितत्व, निःकाक्षिता, निर्विचिकित्सितत्व, अमूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना। (2) सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदिके प्रति अपने योग्य

---

1. --मोक्षसाधनेषु तत्-- मु.।

नार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः। संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। त्यागो दानम्। तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति। तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमानं त्याग इत्युच्यते। अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः। यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः। गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्। अर्हदाचार्येषु[2] बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः। [3]ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना। वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि च तीर्थकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि।

§ 657. इदानीं नामास्रवाभिधानानन्तरं गोत्रास्रवे वक्तव्ये सति नीचैर्गोत्रस्यास्रवविधानार्थमिदमाह—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥25॥

आचरणद्वारा आदर सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है। (3) अहिंसादिक व्रत हैं और इनके पालन करनेके लिए क्रोधादिकका त्याग करना शील है। इन दोनोंके पालन करनेमें निर्दोष प्रवृत्ति रखना शीलव्रतानतिचार है। (4) जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञानमें निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। (5) संसारके दुःखोंसे निरन्तर डरते रहना संवेग है। (6) त्याग दान है। वह तीन प्रकारका है—आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान। उसे शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक देना यथाशक्ति त्याग है। (7) शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है। (8) जैसे भाण्डारमें आग लग जानेपर बहुत उपकारी होनेसे आगको शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकारके व्रत और शीलोंसे समृद्ध मुनिके तप करते हुए किसी कारणसे विघ्नके उत्पन्न होनेपर उसका संधारण करना—शान्त करना साधुसमाधि है। (9) गुणी पुरुषके दुःखमें आ पड़नेपर निर्दोष विधिसे उसका दुःख दूर करना वैयावृत्त्य है। (10-13) अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भावोंकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति है। (14) छह आवश्यक क्रियाओंका यथा समय करना आवश्यकापरिहाणि है। (15) ज्ञान, तप, दान और जिनपूजा इनके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। (16) जैसे गाय बछड़ेपर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियोंपर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है। ये सब सोलह कारण हैं। यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण होते हैं और समुदायरूपसे सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए।

§ 657. नामकर्मके आस्रवोंका कथन करनेके बाद अब गोत्रकर्मके आस्रवोंका कथन प्रसंग-प्राप्त है। उसमें भी पहले नीच गोत्रके आस्रवोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणोंका उच्छादन और असद्गुणोंका उद्भावन ये नीचगोत्रके आस्रव हैं ॥25॥

---

1. —चार्यबहु— मु 2 —तपोजिन— मु।

§ 658. [1]तथ्यस्य वातथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा। गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा। यथासंख्य[2]मभिसंबन्धः—परनिन्दा आत्मप्रशंसेति। प्रतिबन्धकहेतुसंनिधाने सति अनुद्भूतवृत्तिता अनाविर्भाव उच्छादनम्। प्रतिबन्धकाभावे[3] प्रकाशवृत्तिता उद्भावनम्। अत्रापि च यथाक्रममभिसंबन्धः—सद्गुणोच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति। तान्येतानि नीचैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि वेदितव्यानि।

§ 659. अथोच्चैर्गोत्रस्य क आस्रवविधिरत्रोच्यते—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥26॥

§ 660. 'तत्' इत्यनेन प्रत्यासत्तेर्नीचैर्गोत्रस्यास्रवः[4] प्रतिनिर्दिश्यते। अन्येन[5] प्रकारेण वृत्तिर्विपर्ययः। तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययः। कः पुनरसौ विपर्ययः? आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणोद्भावनमसद्गुणोच्छादनं च। गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः। विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहंकारतानुत्सेकः। तान्येतान्युत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति।

§ 661. अथ गोत्रानन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य क आस्रव इत्युच्यते—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥27॥

§ 662. दानादीन्युक्तानि 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इत्यत्र। तेषां विहननं

---

§ 658. सच्चे या झूठे दोषको प्रकट करनेकी इच्छा निन्दा है। गुणोके प्रकट करनेका भाव प्रशसा है। पर और आत्मा शब्दके साथ इनका क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा परनिन्दा और आत्मप्रशसा है। रोकनेवाले कारणोके रहनेपर प्रकट नही करनेकी वृत्ति होना उच्छादन है और रोकनेवाले कारणोका अभाव होनेपर प्रकट करनेकी वृत्ति होना उद्भावन है। यहाँ भी क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—सद्गुणोच्छादन और असद्गुणोद्भावन। इन सब का नीच गोत्रके आस्रवके कारण जानना चाहिए।

§ 659. अब उच्च गोत्रके आस्रवके कारण क्या हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणोंका उद्भावन और असद्गुणोंका उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्रके आस्रव है ॥2॥

§ 660 इसके पहले नीच गोत्रके आस्रवोका उल्लेख कर आये है, अतः 'तत्' इस पदसे उनका ग्रहण होता है। अन्य प्रकारसे वृत्ति होना विपर्यय है। नीच गोत्रका जो आस्रव कहा है उससे विपर्यय तद्विपर्यय है। शंका—वे विपरीत कारण कौन हैं? समाधान—आत्मनिन्दा, परप्रशसा, सद्गुणोका उद्भावन और असद्गुणोका उच्छादन। जो गुणोमे उत्कृष्ट हैं उनके विनयसे नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है। ज्ञानादिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहकार रहित होना अनुत्सेक है। ये उत्तर अर्थात् उच्च गोत्रके आस्रवके कारण हैं।

§ 661 अब गोत्रके बाद क्रम प्राप्त अन्तराय कर्मका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दानादिकमें विघ्न डालना अन्तराय कर्मका आस्रव है ॥27॥

§ 662 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इस सूत्रकी व्याख्या करते समय दानादिकका

---

1 तथ्यस्य वा दो— मु। 2 —मस्यमिति मम्ब— आ, दि 1, दि 2। 3 —भावेन प्रकाश— मु। 4 —गोत्रास्रव आ, दि. 1, दि. 2। 5 —अनेन मु।

विघ्न । विघ्नस्य करणं विघ्नकरणमन्तरायस्यास्रवविधिर्वेदितव्यः । अत्र चोद्यते—तत्प्रदोषनिह्नवादयो ज्ञानदर्शनावरणादीनां प्रतिनियता आस्रवहेतवो वर्णिता , किं ते प्रतिनियतज्ञानावरणाद्यास्रवहेतव एव उताविशेषेणेति । यदि प्रतिनियतज्ञानावरणाद्यास्रवहेतव एव, आगमविरोधः प्रसज्यते । आगमे हि सप्त कर्माणि आयुर्वर्ज्यानि प्रतिक्षणं युगपदास्रवन्तीत्युक्तम् । तद्विरोधः स्यात् । अथाविशेषेण आस्रवहेतवो[1] विशेषनिर्देशो न युक्त इति ? अत्रोच्यते—यद्यपि तत्प्रदोषादिभिर्ज्ञानावरणादीनां सर्वासां कर्मप्रकृतीनां प्रदेशबन्धनियमो नास्ति, तथाप्यनुभागनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषनिह्नवादयो विभाज्यन्ते ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥6॥

व्याख्यान कर आये है । उनका नाश करना विघ्न है । और इस विघ्नका करना अन्तराय कर्मका आस्रव जानना चाहिए । शंका—तत्प्रदोष और निह्नव आदिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि कर्मोंके प्रतिनियत आस्रवके कारण कहे तो क्या वे ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि प्रतिनियत कर्मोंके आस्रवके कारण है या सामान्यसे सभी कर्मोंके आस्रवके कारण हैं ? यदि ज्ञानावरणादिक प्रतिनियत कर्मोंके कारण हैं तो आगमसे विरोध प्राप्त होता है, क्योकि आयुके सिवा शेष सात कर्मोका प्रति समय आस्रव होता है ऐसा आगममे कहा है, अतः इससे विरोध होता है । और यदि सामान्यसे सव कर्मोंके आस्रवके कारण है ऐसा माना जाता है तो इस प्रकार विशेष रूपसे कथन करना युक्त नही ठहरता ? **समाधान**—यद्यपि तत्प्रदोष आदिसे ज्ञानावरणादि सव कर्म प्रकृतियोका प्रदेश वन्ध होता है ऐसा नियम नही है तो भी वे प्रतिनियत अनुभागबन्धके हेतु हैं, इसलिए तत्प्रदोष, निह्नव आदिका अलग-अलग कथन किया है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमे छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥6॥

---

1. —हेतुविशेष— आ , ता. ना. दि. 1, दि. 2 ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

§ 663. आस्रवपदार्थो व्याख्यातः। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभः पुण्यस्य' इति तत्सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं कः पुनः शुभ इत्युक्ते इदमुच्यते—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्[1] ॥1॥

§ 664. 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्येवमादिभिः सूत्रैर्हिंसादयो निर्देक्ष्यन्ते। तेभ्यो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते। [2]व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा। ननु च हिंसादयः परिणामविशेषा अध्रुवाः, कथं तेषाम[3]पादानत्वमुच्यते? बुद्ध्यपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः। यथा [4]धर्माद्विरमतीत्यत्र य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिः स पश्यति—दुष्करो धर्मः, फलं चास्य श्रद्धामात्रगम्यमिति स[5] बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते। एवमिहापि य[6] एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति—य एते हिंसादयः परिणामास्ते पापहेतवः। पापकर्मणि प्रवर्तमानान् जनानिहैव राजानो दण्डयन्ति परत्र च दुःखमाप्नुवन्तीति स[7] बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते। ततो बुद्ध्या ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेरपादानत्वं युक्तम्। 'विरति'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते हिंसाया विरतिः

---

§ 663. आस्रव पदार्थका व्याख्यान करते समय उसके आरम्भ मे 'शुभः पुण्यस्य' यह कहा है पर वह सामान्यरूपसे ही कहा है, अतः विशेषरूपसे उसका ज्ञान करानेके लिए शुभ क्या है ऐसा पूछने पर आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरत होना व्रत है ॥1॥

§ 664. 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि सूत्रो द्वारा हिंसादिका जो स्वरूप आगे कहेंगे उनसे विरत होना व्रत कहलाता है। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। या 'यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है। **शंका**—हिंसा आदिक परिणाम विशेष ध्रुव अर्थात् सदा काल स्थिर नही रहते इसलिए उनका अपादान कारकमें प्रयोग कैसे बन सकता है? **समाधान**—बुद्धिपूर्वक त्यागमे ध्रुवपनेकी विवक्षा बन जानेसे अपादान कारकका प्रयोग बन जाता है। जैसे 'धर्मसे विरत होता है' यहाँ जो यह धर्मसे विमुख बुद्धिवाला मनुष्य है वह विचार करता है कि 'धर्म दुष्कर है और उसका फल श्रद्धामात्रगम्य है' इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर धर्मसे विरत हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी जो यह मनुष्य विचारपूर्वक काम करनेवाला है वह विचार करता है कि जो ये हिंसादिक परिणाम हैं वे पापके कारण हैं और जो पाप कार्यमें प्रवृत्त होते हैं उन्हे इसी भवमें राजा लोग दण्ड देते हैं और वे पापाचारी परलोकमें दुःख उठाते हैं, इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर हिंसादिकसे विरत हो जाता है। इसलिए बुद्धिसे ध्रुवत्वपनेकी विवक्षा बन जानेसे अपादान कारकका प्रयोग करना उचित है। विरति शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा

---

1. 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'—पा. यो. सू. 2, 30। 2. 'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।'—रत्न. 3, 40। 3. 'ध्रुवमपायेऽपादानम्।'—पा. 1, 4, 24। 4. 'धर्माद्विरमति ×× य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति।'—पा. म. भा. 1, 4, 3, 24। 5. स्वबुद्ध्या मु.। 'स बुद्ध्या निवर्तते'—पा. म. भा. 1, 4, 3, 24। 6. 'य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति।'—पा. म. भा. 1, 4, 3, 24। 7. —वन्तीति स्वबुद्ध्या मु., ता. ना.।

अनृताद्विरतिरित्येवमादि । तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते प्रधानत्वात् । सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृतिपरिक्षेपवत् । सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधमिहोच्यते । ननु च अस्य व्रतस्यास्रवहेतुत्वमनुपपन्नं संवरहेतुष्वन्तर्भावात् । संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादयः । तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति ? नैष दोषः; तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते । प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते[1]; हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यवचनदत्तादानादिक्रियाप्रतीतेः गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च । व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधु सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेनोपदेशः क्रियते । ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् ? न; भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते[2] । तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति ।

§ 665. तस्य पञ्चतयस्य व्रतस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

देशसर्वतोऽणुमहती[3] ॥2॥

§ 666. देश एकदेशः । सर्वं सकलं । देशश्च सर्वश्च देशसर्वौ ताभ्यां देशसर्वतः । 'विरतिः' इत्यनुवर्तते । अणु च महच्चाणुमहती । व्रताभिसंबन्धान्नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । यथासंख्यमभि-

---

हिंसासे विरति, असत्यसे विरति आदि । इन पाँच व्रतोंमें अहिंसा व्रतको प्रारम्भमें रखा है क्योंकि वह सबमें मुख्य है । धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर काँटोंका घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत उसकी रक्षाके लिए हैं । सब पापोंसे निवृत्त होनेरूप सामायिककी अपेक्षा एक व्रत है । वही व्रत छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है और उन्हींका यहाँ कथन किया है । शंका—यह व्रत आस्रवका कारण है यह बात नहीं बनती, क्योंकि संवरके कारणोंमें इनका अन्तर्भाव होता है । आगे गुप्ति, समिति इत्यादि संवरके कारण कहनेवाले हैं । वहाँ दस प्रकारके धर्मोंमें एक संयम नामका धर्म बतलाया है उसमें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवरका कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदिका त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि-रूप क्रिया देखी जाती है । दूसरे ये व्रत गुप्ति आदि रूप संवरके अंग हैं । जिस साधुने व्रतोंकी मर्यादा कर ली है वह सुखपूर्वक संवर करता है, इसलिए व्रतोंका अलगसे उपदेश दिया है । शंका—रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना करनी थी ? समाधान—नहीं, क्योंकि उसका भावनाओंमें अन्तर्भाव हो जाता है । आगे अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कहेंगे । उनमें एक आलोकितपानभोजन नामकी भावना है उसमें रात्रिभोजनविरमण नामक व्रतका अन्तर्भाव हो जाता है ।

§ 665. उस पाँच प्रकारके व्रतके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसादिकसे एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है ॥2॥

§ 666 देश शब्दका अर्थ एकदेश है और सर्व शब्दका अर्थ सकल है । सूत्रमें देश और सर्व शब्दका द्वन्द्व समास करके तसि प्रत्यय करके 'देशसर्वतः' पद बनाया है । इस सूत्रमें विरति शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे होती है । यहाँ अणु और महत् शब्दका द्वन्द्व समास होकर 'अणुमहती' पद बना है । व्रत शब्द नपुंसक लिंग है, इसलिए 'अणुमहती' यह नपुंसक लिंगपरक निर्देश किया है । इनका सम्बन्ध क्रमसे होता है । यथा—एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और

---

1. दृश्यते हिंसानृतादत्तादानादिक्रिया— मु । 2. —क्ष्यन्ते । आलो— आ, दि. 1, दि. 2 । 3. 'एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।' —पा. यो. सू. 2, 31 ।

संबध्यते । देशतो विरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति द्विधा भिद्यते प्रत्येकं व्रतम् । एतानि व्रतानि भावितानि वरौषधवद्यत्नवते[1] दुःखनिवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति ।

§ 667. किमर्थं कथं वा भावनं तेषामित्यत्रोच्यते—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥3॥

§ 668. तेषां व्रतानां स्थिरीकरणायैकैकस्य व्रतस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्या । यद्येवमाद्यस्याहिंसाव्रतस्य भावनाः का इत्यत्रोच्यते—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥4॥

§ 669. वाग्गुप्ति मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः आदाननिक्षेपणसमितिः आलोकितपानभोजनमित्येताः पञ्चाहिंसाव्रतस्य भावनाः ।

§ 670. अथ द्वितीयस्य व्रतस्य का इत्यत्रोच्यते—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ॥5॥

§ 671 क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानं भीरुत्वप्रत्याख्यानं हास्यप्रत्याख्यानम् अनुवीचीभाषणं चेत्येताः पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य ज्ञेया । अनुवीचीभाषणं निरवद्यानुभाषणमित्यर्थः ।

§ 672. इदानी तृतीयस्य व्रतस्य का भावना इत्यत्राह—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥6॥

सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है इस प्रकार अहिंसादि प्रत्येक व्रत दो प्रकारके है। प्रयत्नशील जो पुरुष उत्तम ओषधिके समान इन व्रतोका सेवन करता है उसके दु खोका नाश होता है।

§ 667. इन व्रतोकी किसलिए और किस प्रकार भावना करनी चाहिए, अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ है ॥3॥

§ 668 उन व्रतोको स्थिर करनेके लिए एक एक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ जाननी चाहिए। यदि ऐसा है तो प्रथम अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कौन-सी है ? अब इस बातको बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ है ॥4॥

§ 669. वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसा व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

§ 670 अब दूसरे व्रतकी भावनाएँ कौनसी है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है-

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥5॥

§ 671 क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ है। अनुवीचीभाषणका अर्थ निर्दोष भाषण है।

§ 672 अब तीसरे व्रतकी कौनसी भावनाएँ हैं, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्षशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥6॥

---

1. वरौषधवत् दु ख— आ. ।

§ 649. किमेतावानेव दैवस्यायुष आस्रवः । नेत्याह—

सम्यक्त्वं च ॥21॥

§ 650. किम् ? दैवस्यायुष आस्रव इत्यनुवर्तते। अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः। कुतः। पृथक्करणात्। यद्येवम्, पूर्वसूत्रे, उक्त आस्रवविधिरविशेषेण प्रसक्तः तेन सरागसंयमसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्राप्नुतः। नैष दोषः; सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्तदुभयमप्यत्रान्तर्भवति।

§ 651. आयुषोऽनन्तरमुद्दिष्टस्य नाम्न आस्रवविधौ वक्तव्ये, तत्राशुभनाम्न आस्रवप्रतिपत्त्यर्थमाह—

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥22॥

§ 652. योगस्त्रिप्रकारो व्याख्यातः। तस्य वक्रता कौटिल्यम्। विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्। ननु च नार्थभेद, योगवक्रतैवान्यथाप्रवर्तनम्? सत्यमेवमेतत्—स्वगता योगवक्रतेत्युच्यते। परगतं विसंवादनम्। सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकायवाङ्मनोभिर्विसंवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति। एतदुभयमशुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम्। 'च'शब्देन मिथ्यादर्शनपैशुन्यास्थिरचित्तताकूटमानतुलाकरणपरनिन्दात्मप्रशंसादिः समुच्चीयते।

---

§ 649 क्या देवायुका आस्रव इतना ही है या और भी है? अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सम्यक्त्व भी देवायुका आस्रव है ॥21॥

§ 650 शंका—किस कारणसे। समाधान—अलग सूत्र बनानेसे। शंका—यदि ऐसा है तो पूर्व सूत्रमे जो विधान किया है वह सामान्यरूपसे प्राप्त होता है और इससे सरागसयम और संयमासयम ये भवनवासी आदिकी आयुके भी आस्रव हैं यह प्राप्त होता है? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि सम्यक्त्वके अभावमे सरागसयम और सयमासयम नही होते, इसलिए उन दोनोका यही अन्तर्भाव होता है। अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायुके आस्रव है, क्योकि ये सम्यक्त्वके होनेपर ही होते हैं।

§ 651. आयुके बाद नामके आस्रवका कथन क्रमप्राप्त है। उसमे भी पहले अशुभ नामके आस्रवका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं।

योगवक्रता और विसंवाद ये अशुभ नाम कर्मके आस्रव है ॥22॥

§ 652 तीन प्रकारके योगका व्याख्यान पहले कर आये हैं। इसकी कुटिलता योगवक्रता है। अन्यथा प्रवृत्ति करना विसवाद है। शंका—इस तरह इनमे अर्थभेद नही प्राप्त होता, क्योकि योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है? समाधान—यह कहना सही है तब भी स्वगत योगवक्रता कही जाती है और परगत विसवादन। जो स्वर्ग और मोक्षके योग्य समीचीन क्रियाओंका आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिद्वारा रोकना कि ऐसा मत करो ऐसा करो विसवादन है। इस प्रकार ये दोनो एक नही हैं किन्तु अलग-अलग हैं। ये दोनों अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए। सूत्रमे आये हुए 'च' पदसे मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्तका स्थिर न रहना, मापने और तौलनेके बाँट घट-बढ़ रखना, दूसरोकी निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना आदि आस्रवोका समुच्चय होता है।

§ 653. अथ शुभनामकर्मणः क आस्रव इत्यत्रोच्यते—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥23॥

§ 654. कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादनं च तद्विपरीतम् । 'च'शब्देन समुच्चितस्य च विपरीतं ग्राह्यम् । धार्मिकदर्शनसंभ्रमसद्भावोपनयनसंसरणभीरुताप्रमादवर्जनादिः । तदेतच्छुभ-नामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम् ।

§ 655. आह किमेतावानेव शुभनाम्न आस्रवविधिरुत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—यदिदं तीर्थकरनामकर्मानन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजय-करं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति । यद्येवमुच्यतां के तस्यास्रवः । इत्यत इदमारभ्यते—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥24॥

§ 656. जिनेन भगवतार्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः प्रागुक्तलक्षणा । तस्या अष्टावङ्गानि निश्शङ्कितत्वं निःकाङ्क्षिता विचिकित्साविरहता अमूढदृष्टिता उपबृंहणं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावनं चेति । सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन संपन्नता विनयसंपन्नता । अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपाल-

---

§ 653 अब शुभ नामकर्मका आस्रव क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं।

उससे विपरीत अर्थात् योगकी सरलता और अविसंवाद ये शुभनामकर्मके आस्रव हैं ॥23॥

§ 654 काय, वचन और मनकी सरलता तथा अविसंवाद ये उससे विपरीत हैं । उसी प्रकार पूर्व सूत्रकी व्यवस्था करते हुए 'च' शब्दसे जिनका समुच्चय किया गया है उनके विपरीत आस्रवोंका ग्रहण करना चाहिए । जैसे—धार्मिक पुरुषों व स्थानोका दर्शन करना, आदर सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, ससारसे डरना और प्रमादका त्याग करना आदि । ये सब शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं ।

§ 655 शंका—क्या इतनी ही शुभ नामकर्मकी आस्रवविधि है या और भी कोई विशेषता है ? समाधान—जो यह अनन्त और अनुपम प्रभाववाला, अचिन्त्य विभूति विशेषका कारण और तीन लोककी विजय करनेवाला तीर्थंकर नामकर्म है उसके आस्रवमे विशेषता है, अतः अगले सूत्र द्वारा उसीका कथन करते हैं—

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील और व्रतोंका अतिचार रहित पालन करना, ज्ञानमें सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्तिके अनुसार त्याग, शक्तिके अनुसार तप, साधु-समाधि, वैयावृत्य करना, अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओंको न छोड़ना, मोक्षमार्गकी प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव हैं ॥24॥

§ 656. (1) जिन भगवान् अरिहंत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्ग-पर रुचि रखना दर्शनविशुद्धि है । इसका विशेष लक्षण पहले कह आये हैं । उसके आठ अंग हैं—नि:शंकितत्व, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सितत्व, अमूढ़दृष्टिता, उपबृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना । (2) सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदिके प्रति अपने योग्य

---

1. -मोक्षसाधनेषु तत्-- मु. ।

नार्येषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः। संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। त्यागो दानम्। तत्त्रिविधम्–आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति। तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमानं त्याग इत्युच्यते। अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः। यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः। गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्। अर्हदाचार्येषु[1] बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकाल प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः। [2]ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना। वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि च तीर्थकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि।

§ 657. इदानीं नामास्रवाभिधानानन्तर गोत्रास्रवे वक्तव्ये सति नीचैर्गोत्रस्यास्रवविधानार्थमिदमाह—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥25॥

आचरणद्वारा आदर सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है। (3) अहिंसादिक व्रत हैं और इनके पालन करनेके लिए क्रोधादिकका त्याग करना शील है। इन दोनोके पालन करनेमे निर्दोष प्रवृत्ति रखना शीलव्रतानतिचार है। (4) जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञानमे निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। (5) ससारके दुःखोसे निरन्तर डरते रहना सवेग है। (6) त्याग दान है। वह तीन प्रकारका है—आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान। उसे शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक देना यथाशक्ति त्याग है। (7) शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है। (8) जैसे भाडारमे आग लग जानेपर बहुत उपकारी होनेसे आगको शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकारके व्रत और शीलोसे समृद्ध मुनिके तप करते हुए किसी कारणसे विघ्नके उत्पन्न होनेपर उसका सधारण करना—शान्त करना साधुसमाधि है। (9) गुणी पुरुषके दु खमे आ पड़नेपर निर्दोष विधिसे उसका दुःख दूर करना वैयावृत्त्य है। (10-13) अरिहत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमे भावोकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना अरिहतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति है। (14) छह आवश्यक क्रियाओका यथा समय करना आवश्यकापरिहाणि है। (15) ज्ञान, तप, दान और जिनपूजा इनके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। (16) जैसे गाय बछडेपर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियोपर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है। ये सब सोलह कारण हैं। यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण होते है और समुदायरूपसे सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए।

§ 657. नामकर्मके आस्रवोका कथन करनेके बाद अब गोत्रकर्मके आस्रवोका कथन क्रमप्राप्त है। उसमे भी पहले नीच गोत्रके आस्रवोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणो का उच्छादन और असद्गुणो का उद्भावन ये नीचगोत्रके आस्रव हैं ॥25॥

---

1 —चार्यबहु— मु 2. —तपोजिन— मु ।

§ 658. [1]तथ्यस्य वातथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा। गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा। यथासंख्य[2]मभिसंबन्धः—परनिन्दा आत्मप्रशंसेति। प्रतिबन्धकहेतुसंनिधाने सति अनुद्भूतवृत्तिता अनाविर्भाव उच्छादनम्। प्रतिबन्धकाभावे[3] प्रकाशवृत्तिता उद्भावनम्। अत्रापि च यथाक्रममभिसंबन्धः—सद्गुणोच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति। तान्येतानि नीचैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि वेदितव्यानि।

§ 659. अथोच्चैर्गोत्रस्य क आस्रवविधिरत्रोच्यते—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥26॥

§ 660. 'तत्'इत्यनेन प्रत्यासत्तेर्नीचैर्गोत्रस्यास्रवः[4] प्रतिनिर्दिश्यते। अन्येन[5] प्रकारेण वृत्तिर्विपर्ययः। तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययः। कः पुनरसौ विपर्ययः? आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणोद्भावनमसद्गुणोच्छादनं च। गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः। विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहंकारतानुत्सेकः। तान्येतान्युत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति।

§ 661. अथ गोत्रानन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य क आस्रव इत्युच्यते—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥27॥

§ 662. दानादीन्युक्तानि 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इत्यत्र। तेषां विहननं

---

§ 658. सच्चे या झूठे दोषको प्रकट करनेकी इच्छा निन्दा है। गुणोके प्रकट करनेका भाव प्रशसा है। पर और आत्मा शब्दके साथ इनका क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा परनिन्दा और आत्मप्रशसा है। रोकनेवाले कारणोके रहनेपर प्रकट नही करनेकी वृत्ति होना उच्छादन है और रोकनेवाले कारणोका अभाव होनेपर प्रकट करनेकी वृत्ति होना उद्भावन है। यहाँ भी क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—सद्गुणोच्छादन और असद्गुणोद्भावन। इन सब का नीच गोत्रके आस्रवके कारण जानना चाहिए।

§ 659. अब उच्च गोत्रके आस्रवके कारण क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणोंका उद्भावन और असद्गुणोंका उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्रके आस्रव है ॥2॥

§ 660 इसके पहले नीच गोत्रके आस्रवोका उल्लेख कर आये हैं, अतः 'तत्' इस पदसे उनका ग्रहण होता है। अन्य प्रकारसे वृत्ति होना विपर्यय है। नीच गोत्रका जो आस्रव कहा है उससे विपर्यय तद्विपर्यय है। **शंका**—वे विपरीत कारण कौन हैं? **समाधान**—आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणोका उद्भावन और असद्गुणोका उच्छादन। जो गुणोमे उत्कृष्ट हैं उनके विनयसे नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है। ज्ञानादिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहकार रहित होना अनुत्सेक है। ये उत्तर अर्थात् उच्च गोत्रके आस्रवके कारण हैं।

§ 661 अब गोत्रके वाद क्रम प्राप्त अन्तराय कर्मका क्या आस्रव है यह वतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दानादिकमें विघ्न डालना अन्तराय कर्मका आस्रव है ॥27॥

§ 662 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इस सूत्रकी व्याख्या करते समय दानादिकका

---

1. तथ्यस्य वा दो— मु। 2 —सख्यमिति सम्ब— आ, दि 1, दि 2। 3 —भावेन प्रकाश— मु। 4 —गोत्रास्रव आ, दि 1, दि 2। 5 —अनेन मु।

विघ्न । विघ्नस्य करणं विघ्नकरणमन्तरायस्यास्रवविधिर्वेदितव्यः । अत्र चोद्यते—तत्प्रदोषनिह्नवादयो ज्ञानदर्शनावरणादीनां प्रतिनियता आस्रवहेतवो वर्णिता, किं ते प्रतिनियतज्ञानावरणाद्यास्रवहेतव एव उताविशेषेणेति। यदि प्रतिनियतज्ञानावरणाद्यास्रवहेतव एव, आगमविरोध प्रसज्यते। आगमे हि सप्त कर्माणि आयुर्वर्ज्यानि प्रतिक्षणं युगपदास्रवन्तीत्युक्तम्। तद्विरोधः स्यात्। अथाविशेषेण आस्रवहेतवो[1] विशेषनिर्देशो न युक्त इति ? अत्रोच्यते—यद्यपि तत्प्रदोषादिभिर्ज्ञानावरणादीनां सर्वासां कर्मप्रकृतीनां प्रदेशबन्धनियमो नास्ति, तथाप्यनुभागनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषनिह्नवादयो विभाज्यन्ते ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसञ्ज्ञिकाया षष्ठोऽध्याय ॥6॥

व्याख्यान कर आये है। उनका नाश करना विघ्न है। और इस विघ्नका करना अन्तराय कर्मका आस्रव जानना चाहिए। शंका—तत्प्रदोष और निह्नव आदिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि कर्मोंके प्रतिनियत आस्रवके कारण कहे तो क्या वे ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि प्रतिनियत कर्मोंके आस्रवके कारण हैं या सामान्यसे सभी कर्मोंके आस्रवके कारण हैं ? यदि ज्ञानावरणादिक प्रतिनियत कर्मोंके कारण हैं तो आगमसे विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि आयुके सिवा शेष सात कर्मोका प्रति समय आस्रव होता है ऐसा आगममे कहा है, अतः इससे विरोध होता है। और यदि सामान्यसे सब कर्मोंके आस्रवके कारण है ऐसा माना जाता है तो इस प्रकार विशेष रूपसे कथन करना युक्त नही ठहरता ? समाधान—यद्यपि तत्प्रदोष आदिसे ज्ञानावरणादि सब कर्म प्रकृतियोका प्रदेश वन्ध होता है ऐसा नियम नही है तो भी वे प्रतिनियत अनुभागवन्धके हेतु हैं, इसलिए तत्प्रदोष, निह्नव आदिका अलग-अलग कथन किया है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमे छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥6॥

---

1. –हेतुविशेष– आ, ता. ना. दि. 1, दि. 2 ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

§ 663. आस्रवपदार्थो व्याख्यातः। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभः पुण्यस्य' इति तत्सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं कः पुनः शुभ इत्युक्ते इदमुच्यते—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्[1] ॥1॥

§ 664. 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्येवमादिभिः सूत्रैर्हिंसादयो निर्देक्ष्यन्ते। तेभ्यो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते। [2]व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा। ननु च हिंसादयः परिणामविशेषा अध्रुवाः, कथं तेषाम[3]पादानत्वमुच्यते? बुद्धयपाये ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः। यथा [4]धर्माद्विरमतीत्यत्र य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिः स पश्यति—दुष्करो धर्मः, फलं चास्य श्रद्धामात्रगम्यमिति स[5] बुद्धया संप्राप्य निवर्तते। एवमिहापि य[6] एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति—य एते हिंसादयः परिणामास्ते पापहेतवः। पापकर्मणि प्रवर्तमानान् जनानिहैव राजानो दण्डयन्ति परत्र च दुःखमाप्नुवन्तीति स[7] बुद्धया सम्प्राप्य निवर्तते। ततो बुद्धया ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेरपादानत्वं युक्तम्। 'विरति'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते हिंसाया विरति.

---

§ 663. आस्रव पदार्थका व्याख्यान करते समय उसके आरम्भ मे 'शुभः पुण्यस्य' यह कहा है पर वह सामान्यरूपसे ही कहा है, अत: विशेषरूपसे उसका ज्ञान करानेके लिए शुभ क्या है ऐसा पूछने पर आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरत होना व्रत है ॥1॥

§ 664. 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसादिका जो स्वरूप आगे कहेंगे उनसे विरत होना व्रत कहलाता है। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। या 'यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है। शंका—हिंसा आदिक परिणाम विशेष ध्रुव अर्थात् सदा काल स्थिर नही रहते इसलिए उनका अपादान कारकमें प्रयोग कैसे बन सकता है? समाधान—बुद्धिपूर्वक त्यागमे ध्रुवपनेकी विवक्षा बन जानेसे अपादान कारकका प्रयोग बन जाता है। जैसे 'धर्मसे विरत होता है' यहाँ जो यह धर्मसे विमुख बुद्धिवाला मनुष्य है वह विचार करता है कि 'धर्म दुष्कर है और उसका फल श्रद्धामात्रगम्य है' इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर धर्मसे विरत हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी जो यह मनुष्य विचारपूर्वक काम करनेवाला है वह विचार करता है कि जो ये हिंसादिक परिणाम हैं वे पापके कारण हैं और जो पाप कार्यमें प्रवृत्त होते हैं उन्हे इसी भवमे राजा लोग दण्ड देते हैं और वे पापाचारी परलोकमें दुःख उठाते हैं, इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर हिंसादिकसे विरत हो जाता है। इसलिए बुद्धिसे ध्रुवत्वपनेकी विवक्षा बन जानेसे अपादान कारकका प्रयोग करना उचित है। विरति शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए। यथा

---

1. 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'—पा. यो. सू. 2, 30। 2. 'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।'—रत्न. 3, 40। 3. 'ध्रुवमपायेऽपादानम्।'—पा. 1, 4, 24। 4. 'धर्माद्विरमति ×× य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति।'— पा. म. भा. 1, 4, 3, 24। 5. स्वबुद्धया मु.। 'स बुद्धया निवर्तते'— पा. म. भा. 1, 4, 3, 24। 6. 'य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति।' —पा. म. भा. 1, 4, 3, 24। 7. —न्तीति स्वबुद्धया मु., ता. ना.।

अनृताद्विरतिरित्येवमादि । तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते प्रधानत्वात् । सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृतिपरिक्षेपवत् । सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधमिहोच्यते । ननु च अस्य व्रतस्यास्रवहेतुत्वमनुपपन्नं संवरहेतुष्वन्तर्भावात् । संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादयः । तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति ? नैष दोषः; तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते । प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते[1]; हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यवचनदत्तादानादिक्रियाप्रतीतेः गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च । व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधु सुखेन संवरं करोतीति तत पृथक्त्वेनोपदेशः क्रियते । ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् ? न; भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते[2] । तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति ।

§ 665. तस्य पञ्चतयस्य व्रतस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

देशसर्वतोऽणुमहती[3] ॥2॥

§ 666. देश एकदेशः । सर्वं सकल. । देशश्च सर्वश्च देशसर्वौ ताभ्यां देशसर्वतः । 'विरतिः' इत्यनुवर्तते । अणु च महच्चाणुमहती । व्रताभिसंबन्धान्नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । यथासंख्यमभि-

---

हिंसासे विरति, असत्यसे विरति आदि । इन पाँच व्रतोंमें अहिंसा व्रतको प्रारम्भमे रखा है क्योंकि वह सबमे मुख्य है । धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर काँटोका घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत उसकी रक्षाके लिए हैं । सब पापोसे निवृत्त होनेरूप सामायिककी अपेक्षा एक व्रत है । वही व्रत छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है और उन्हीका यहाँ कथन किया है । **शंका**—यह व्रत आस्रवका कारण है यह बात नहीं बनती, क्योंकि संवरके कारणोमें इनका अन्तर्भाव होता है । आगे गुप्ति, समिति इत्यादि संवरके कारण कहनेवाले हैं । वहाँ दस प्रकारके धर्मोंमें एक संयम नामका धर्म बतलाया है उसमें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवरका कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदिका त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि-रूप क्रिया देखी जाती है । दूसरे ये व्रत गुप्ति आदि रूप संवरके अंग हैं । जिस साधुने व्रतोकी मर्यादा कर ली है वह सुखपूर्वक संवर करता है, इसलिए व्रतोंका अलगसे उपदेश दिया है । **शंका**—रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना करनी थी ? **समाधान**—नही, क्योंकि उसका भावनाओमें अन्तर्भाव हो जाता है । आगे अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कहेंगे । उनमे एक आलोकितपानभोजन नामकी भावना है उसमे रात्रिभोजनविरमण नामक व्रतका अन्तर्भाव हो जाता है ।

§ 665. उस पाँच प्रकारके व्रतके भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसादिकसे एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है ॥2॥

§ 666. देश शब्दका अर्थ एकदेश है और सर्व शब्दका अर्थ सकल है । सूत्रमें देश और सर्व शब्दका द्वन्द्व समास करके तसि प्रत्यय करके 'देशसर्वतः' पद बनाया है । इस सूत्रमें विरति शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे होती है । यहाँ अणु और महत् शब्दका द्वन्द्व समास होकर 'अणुमहती' पद बना है । व्रत शब्द नपुंसक लिंग है, इसलिए 'अणुमहती' यह नपुंसक लिंगपरक निर्देश किया है,। इनका सम्बन्ध क्रमसे होता है । यथा—एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और

---

1. दृश्यते हिंसानृतादत्तादानादिक्रिया— मु. । 2. —ध्यन्ते । आलो— आ., दि. 1, दि., 2 । 3. 'एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ।' —पा. यो. सू. 2, 31 ।

संबध्यते। देशतो विरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति द्विधा भिद्यते प्रत्येकं व्रतम्। एतानि व्रतानि भावितानि वरौषधवद्यत्नवते[1] दुःखनिवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति।

§ 667. किमर्थं कथं वा भावनं तेषामित्यत्रोच्यते—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥3॥

§ 668. तेषां व्रतानां स्थिरीकरणायैकैकस्य व्रतस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्या। यद्येवमाद्यस्याहिंसाव्रतस्य भावनाः का इत्यत्रोच्यते—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥4॥

§ 669. वाग्गुप्ति मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः आदाननिक्षेपणसमितिः आलोकितपानभोजनमित्येताः पञ्चाहिंसाव्रतस्य भावनाः।

§ 670. अथ द्वितीयस्य व्रतस्य का इत्यत्रोच्यते—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ॥5॥

§ 671 क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानं भीरुत्वप्रत्याख्यानं हास्यप्रत्याख्यानम् अनुवीचीभाषणं चेत्येताः पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य ज्ञेया। अनुवीचीभाषणं निरवद्यानुभाषणमित्यर्थः।

§ 672. इदानीं तृतीयस्य व्रतस्य का भावना इत्यत्राह—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥6॥

सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है इस प्रकार अहिंसादि प्रत्येक व्रत दो प्रकारके है। प्रयत्नशील जो पुरुष उत्तम ओषधिके समान इन व्रतोका सेवन करता है उसके दु खोका नाश होता है।

§ 667 इन व्रतोकी किसलिए और किस प्रकार भावना करनी चाहिए, अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

उन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ है ॥3॥

§ 668. उन व्रतोको स्थिर करनेके लिए एक एक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ जाननी चाहिए। यदि ऐसा है तो प्रथम अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कौन-सी है ? अब इस बातको बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसाव्रतकी पांच भावनाएँ हैं ॥4॥

§ 669. वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसा व्रतकी पाँच भावनाएँ है।

§ 670 अब दूसरे व्रतकी भावनाएँ कौनसी हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥5॥

§ 671 क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ है। अनुवीचीभाषणका अर्थ निर्दोष भाषण है।

§ 672. अब तीसरे व्रतकी कौनसी भावनाएँ हैं, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्षशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य व्रतकी पांच भावनाएँ हैं ॥6॥

---

1. वरौपधवत् दु ख— आ.।

§ 673 शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिष्वावासः। परकीयेषु च विमोचितेष्वावास। परेषामुपरोधाकरणम्। आचारशास्त्रमार्गेण भैक्षशुद्धि। ममेदं तवेदमिति सधर्मभिरविसंवादः। इत्येताः पञ्चादत्तादानविरमणवृतस्य भावनाः।

§ 674. अथेदानीं ब्रह्मचर्यवृतस्य भावना वक्तव्या इत्यत्राह—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥7॥

§ 675 त्यागशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्यागः पूर्वरतानुस्मरणत्याग. वृष्येष्टरसत्यागः स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति चतुर्थवृतस्य भावनाः पञ्च विज्ञेया।

§ 676. अथ पञ्चमवृतस्य भावनाः का इत्यत्रोच्यते—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥8॥

§ 677. पञ्चानामिन्द्रियाणां स्पर्शनादीनामिष्टानिष्टेषु विषयेषूपनिपतितेषु[1] स्पर्शादिषु रागवर्जनानि पञ्च आकिंचन्यस्य वृतस्य भावना प्रत्येतव्याः।

§ 678. किंचान्यद्यथामीषां वृतानां द्रढिमार्थं भावनाः प्रतीयन्ते तद्विपश्चिद्भिरिति भावनोपदेश, तथा तदर्थं तद्विरोधिष्वपीत्याह—

---

§ 673. पर्वतकी गुफा और वृक्षका कोटर आदि शून्यागार है इनमे रहना शून्यागारावास है। दूसरो द्वारा छोड़े हुए मकान आदिमे रहना विमोचितावास है। दूसरोको ठहरनेसे नही रोकना परोपरोधाकरण है। आचार शास्त्रमे वतलायी हुई विधिके अनुसार भिक्षा लेना भैक्षशुद्धि है। 'यह मेरा है यह तेरा है' इस प्रकार सधर्मियोसे विसवाद नही करना सधर्माविसवाद है। ये अदत्तादानविरमण व्रतकी पाँच भावनाएँ है।

§ 674. अब इस समय ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाओका कथन करना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्त्रियोंमें रागको पैदा करनेवाली कथाके सुननेका त्याग, स्त्रियोके मनोहर अंगोको देखनेका त्याग, पूर्व भोगोके स्मरणका त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रसका त्याग तथा अपने शरीरके सस्कारका त्याग ये ब्रह्मचर्य वृतकी पांच भावनाएँ हैं ॥7॥

§ 675. त्याग शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड लेना चाहिए। यथा—स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, तन्मनोहरागनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीरसस्कारत्याग ये ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं।

§ 676 अव पाँचवें वृतकी कौनसी भावनाएँ हैं यह वतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियोंके विषयोमें क्रमसे राग और द्वेषका त्याग करना ये अपरिग्रहवृतकी पांच भावनाएं हैं ॥8॥

§ 677. स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियोके इष्ट और अनिष्ट स्पर्श आदिक पांच विषयोके प्राप्त होने पर राग और द्वेषका त्याग करना ये आकिंचन्य व्रतकी पांच भावनाएं जाननी चाहिए।

§ 678. जिस प्रकार इन व्रतोकी दृढताके लिए भावनाएँ प्रतीत होती हैं, इसलिए भावनाओका उपदेश दिया है उसी प्रकार विद्वान् पुरुषोको वृतोकी दृढताके लिए विरोधी भावोके विषयमें क्या करना चाहिए ? यह वतलानेके लिए अव आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1. —येषूपरिपतितेषु आ., दि. 1, दि. 2।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥9॥

§ 679 अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशक[1] प्रयोगोऽपायः। अवद्यं गर्ह्यम्। अपायश्चावद्य चापायावद्ये तयोर्दर्शनमपायावद्यदर्शनं भावयितव्यम्। क्व ? इहामुत्र च। केषु ? हिंसादिषु। कथमिति चेदुच्यते—हिंसायां तावत्, हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च इह च वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान्। तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते मिथ्याभ्याख्यान-दुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति अनृतवचनादुपरमः श्रेयान्। तथा स्तेनः परद्रव्याहरणासक्तः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति। इहैव चाभिघातवधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति स्तेयाद् व्युपरतिः श्रेयसी। तथा अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्भ्रान्तचित्तो वनगज इव वासितावञ्चितो विवशो वधबन्धनपरिक्लेशाननुभवति मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किंचित्कुशलमाचरति पराङ्गनालिङ्गनसङ्गकृतरतिश्चेहैव वैरानुबन्धिनो लिंगच्छेदनवधबन्धसर्वस्वहरणादीनपायान् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते गर्हितश्च भवति अतो

हिंसादिक पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्यका दर्शन भावने योग्य है ॥9॥

§ 679 स्वर्ग और मोक्षकी प्रयोजक क्रियाओंका विनाश करनेवाली प्रवृत्ति अपाय है। अवद्यका अर्थ गर्ह्य है। अपाय और अवद्य इन दोनोंके दर्शनकी भावना करनी चाहिए। **शंका**—कहाँ ? **समाधान**—इस लोक और परलोकमें। **शंका**—किनमें ? **समाधान**—हिंसादि पाँच दोषोंमें। **शंका**—कैसे ? **समाधान**—हिंसामें यथा—हिंसक निरन्तर उद्वेजनीय है, वह सदा वैरको बाँधे रहता है। इस लोकमें वध, बन्ध और क्लेश आदिको प्राप्त होता है तथा परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इस लिए हिंसाका त्याग श्रेयस्कर है। असत्यवादीका कोई श्रद्धान नहीं करता। वह इस लोकमें जिह्वाछेद आदि दुःखोंको प्राप्त होता है तथा असत्य बोलनेसे दुःखी हुए अतएव जिन्होंने वैर बाँध लिया है उनसे बहुत प्रकारकी आपत्तियोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए असत्य वचनका त्याग श्रेयस्कर है। तथा परद्रव्यका अपहरण करनेवाले चोरका सब तिरस्कार करते हैं। इस लोकमें वह ताड़ना, मारना, बाँधना तथा हाथ, पैर, कान नाक, ऊपरके ओठका छेदना, भेदना और सर्वस्वहरण आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है इसलिए चोरीका त्याग श्रेयस्कर है। तथा जो अब्रह्मचारी है उसका चित्त मदसे भ्रमता रहता है। जिस प्रकार वनका हाथी हथिनीसे जुदा कर दिया जाता है और विवश होकर उसे वध, बन्धन और क्लेश आदि दुःखोंको भोगना पड़ता है ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारीकी होती है। मोहसे अभिभूत होनेके कारण वह कार्य और अकार्यके विवेकसे रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नहीं करता। परस्त्रीके आलिंगन और संसर्गमें ही इसकी रति रहती है, इसलिए यह वैरको बढ़ानेवाले लिंगका छेदा जाना, मारा जाना, बाँधा जाना और सर्वस्वका अपहरण किया जाना आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है तथा गर्हित भी होता है, इसलिए अब्रह्मका त्याग आत्महितकारी है। जिस प्रकार पक्षी मांसके टुकड़ेको प्राप्त करके उसको चाहनेवाले दूसरे पक्षियोंके द्वारा पराभूत होता है उसी प्रकार परिग्रहवाला भी इसी

---

1 —शकप्रयो— मु.।

विरतिरात्महिता । तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्त्रिणामिहैव तस्करादीनामभिभवनीयो भवति तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान् बहूनवाप्नोति न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवाग्ने लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति प्रेत्य चाशुभां गतिमास्कन्दते लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति तद्विरमणं श्रेयः । एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम् ।

§ 680 हिंसादिषु भावनान्तरप्रतिपादनार्थमाह—

दुःखमेव वा ।।10।।

§ 681. हिंसादयो दुःखमेवेति भावयितव्याः । कथं हिंसादयो दुःखम् ? दुःखकारणत्वात् । यथा "अन्नं वै प्राणा" इति । कारणस्य कारणत्वाद्वा । यथा "धनं प्राणा" इति । धनकारणमन्नपानकारणाः प्राणा इति । तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकर्मकारणम् । असद्वेद्यकर्म च दुःखकारणमिति दुःखकारणे दुःखकारणकारणे वा दुःखोपचारः । तदेते दुःखमेवेति भावनं परात्मसाक्षिकमवगन्तव्यम्[1] । ननु[2] च तत्सर्वं न दुःखमेव; विषयरतिसुखसद्भावात् ? न तत्सुखम्; वेदनाप्रतीकारत्वात्कच्छूकण्डूयनवत् ।

§ 682 पुनरपि[3] भावनान्तरमाह—

लोकमे उसको चाहनेवाले चोर आदिके द्वारा पराभूत होता है । तथा उसके अर्जन, रक्षण और नाशसे होनेवाले अनेक दोषोको प्राप्त होता है । जैसे ईंधनसे अग्निकी तृप्ति नही होती वैसे ही इसकी कितने ही परिग्रहसे कभी भी तृप्ति नही होती । यह लोभातिरेकके कारण कार्य और अकार्यका विवेक नही करता, परलोकमे अशुभ गतिको प्राप्त होता है । तथा यह लोभी है इस प्रकारसे इसका तिरस्कार भी होता है, इसलिए परिग्रहका त्याग श्रेयस्कर है । इस प्रकार हिंसा आदि दोषोमे अपाय और अवद्यके दर्शनकी भावना करनी चाहिए ।

§ 680 अब हिंसा आदि दोषोमें दूसरी भावनाका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिए ।।10।।

§ 681 हिंसादिक दुःख ही है ऐसा चिन्तन करना चाहिए । **शंका**—हिंसादिक दुःख कैसे हैं ? **समाधान**—दुःखके कारण होनेसे । यथा—'अन्न ही प्राण हैं ।' अन्न प्राणधारणका कारण है पर कारणमे कार्यका उपचार करके जिस प्रकार अन्नको ही प्राण कहते है । या कारणका कारण होनेसे हिंसादिक दुःख हैं । यथा—'धन ही प्राण है ।' यहाँ अन्नपानका कारण धन है और प्राणका कारण अन्नपान है, इसलिए जिस प्रकार धनको प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादिक असाता वेदनीय कर्मके कारण है और असाता वेदनीय दुःखका कारण है, इसलिए दुःखके कारण या दुःखके कारणके कारण हिंसादिकमे दुःखका उपचार है । ये हिंसादिक दुःख ही हैं इस प्रकार अपनी और दूसरोकी साक्षीपूर्वक भावना करनी चाहिए । **शंका**—ये हिंसादिक सबके सब केवल दुःख ही है यह बात नही है, क्योकि विषयोके सेवनमे सुख उपलब्ध होता है ? **समाधान**—विषयोके सेवनसे जो सुखाभास होता है वह सुख नही है, किन्तु दादको खुजलानेके समान केवल वेदनाका प्रतिकारमात्र है ।

§ 682. और भी अन्य भावना करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

---

1 तदेते दुःखमेवेति भावनं परमात्मसा— आ । तदेतत् दुःखमेवेति भावनं परात्मसा— मु. । तदेते दुःखमेवेति भावनं परत्रात्मसा— ता. । 2. ननु च सर्वं दुःखमेव ता. । 3. भावनार्थमाह आ, दि. 1, दि 2 ।

[1]मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ।।11।।

§ 683 परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः । दीनानुग्रहभाव कारुण्यम् । रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम् । दुष्कर्मविपाकवशान्नानायोनिषु सीदन्तीति सत्त्वा जीवा । सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः । असद्वेद्योदयापादितक्लेशा क्लिश्यमाना । तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यासपादितगुणा अविनेयाः । एतेषु सत्त्वादिषु यथासंख्य मैत्र्यादीनि भावयितव्यानि । सर्वसत्त्वेषु मैत्री, गुणाधिकेषु प्रमोदः, क्लिश्यमानेषु कारुण्यम्, अविनेयेषु माध्यस्थ्यमिति । एव भावयतः पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति ।

§ 684. पुनरपि भावनान्तरमाह—

[2]जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।।12।।

§ 685 जगत्स्वभावस्तावदनादिरनिधनो वेत्रासनझल्लरीमृदंगनिभः । अत्र जीवा अनादिसंसारेऽनन्तकाल नानायोनिषु दु ख भोज भोज पर्यटन्ति । न चात्र किंचिन्नियतमस्ति । जलबुद्बुदोपमं जीवितम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसंपद इति । एवमादिजगत्स्वभावचिन्तनात्संसारात्संवेगो भवति । कायस्वभावश्च अनित्यता दु खहेतुत्व नि सारता अशुचित्वमिति । एवमादि-

---

प्राणीमात्रमें मैत्री, गुणाधिकोंमे प्रमोद, क्लिश्यमानोंमें करुणा वृत्ति और अविनेयोमें माध्यस्थ्य भावना करनी चाहिए ।।11।।

§ 683. दूसरोको दु ख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है । मुखकी प्रसन्नता आदिके द्वारा भीतर भक्ति और अनुरागका व्यक्त होना प्रमोद है । दीनो पर दयाभाव रखना कारुण्य है । रागद्वेषपूर्वक पक्षपातका न करना माध्यस्थ्य है । बुरे कर्मोके फलसे जो नाना योनियोमें जन्मते और मरते है वे सत्त्व है । सत्त्व यह जीवका पर्यायवाची नाम है । जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोमे बढे चढे है वे गुणाधिक कहलाते हैं । असातावेदनीयके उदयसे जो दु खी है वे क्लिश्यमान कहलाते है । जिनमे जीवादि पदार्थोको सुनने और ग्रहण करनेका गुण नही है वे अविनेय कहलाते है । इन सत्त्व आदिकमे क्रमसे मैत्री आदिकी भावना करनी चाहिए । जो सब जीवोमे मैत्री, गुणाधिकोमे प्रमोद, क्लिश्यमानोमे कारुण्य और अविनेयोमे माध्यस्थ्य भावकी भावना करता है उसके अहिंसा आदि व्रत पूर्णताको प्राप्त होते है ।

§ 684 अब फिर भी और भावनाके लिए आगेका सूत्र कहते है —

संवेग और वैराग्यके लिए जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए ।।12।।

§ 685. जगत्का स्वभाव यथा—यह जगत् अनादि है, अनिधन है, वेत्रासन, झल्लरी और मृदगके समान है । इस अनादि ससारमे जीव अनन्त काल तक नाना योनियोमे दु खोको पुन पुन भोगते हुए भ्रमण करते है । इसमे कोई भी वस्तु नियत नही है । जीवन जलके बुलबुलेके समान है । और भोग-सम्पदाएँ विजली और इन्द्रधनुषके समान चचल है—इत्यादि रूपसे जगत्के स्वभावका चिन्तन करनेसे ससारसे सवेग—भय होता है । कायका स्वभाव यथा—यह शरीर अनित्य है, दु खका कारण है, नि सार है और अशुचि है इत्यादि । इस प्रकार कायके

---

1 मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनतश्चित्तप्रसादनम् ।' पा. यो सू 1, 33 ।

2 शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।'– पा यो. सू 2,40 ।

कायस्वभावचिन्तनाद्विषयरागनिवृत्तेर्वैराग्यमुपजायते । इति जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ ।

§ 686. अत्राह; उक्तं भवता[1] हिंसादिनिवृत्तिव्रतमिति, तत्र न जानीम. के हिंसादयः क्रियाविशेषा इत्यत्रोच्यते । युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्तल्लक्षणनिर्देशस्य क्रमप्रसंगे यासावादौ चोदिता सैव तावदुच्यते—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥13॥

§ 687 प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणाम प्रमत्तः । प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगः, तस्मात्प्रमत्तयोगात् इन्द्रियादयो दशप्राणास्तेषां यथासंभवं व्यपरोपणं वियोगकरणं हिंसेत्यभिधीयते । सा प्राणिनो दुःखहेतुत्वादधर्महेतुः । 'प्रमत्तयोगात्' इति विशेषणं केवल प्राणव्यपरोपण नाधर्मायेति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च—

वियोजयति[2] चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते ॥" इति ॥

उक्त च—

"उच्चालिदम्हि[3] पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवादे [धे] ज्ज कुलिगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥
ण हि तस्स[4] तण्णिमित्तो बधो सुहुमो वि देसिदो समए ।
मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥"

ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते । उक्तं च—

स्वभावका चिन्तन करनेसे विषयोसे आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है । अत. जगत् और कायके स्वभावकी भावना करनी चाहिए ।

§ 686 यहाँ पर शकाकार कहता है कि आपने यह तो बतलाया कि हिंसादिकसे निवृत्त होना व्रत है । परन्तु वहाँ यह न जान सके कि हिसादिक क्रियाविशेष क्या हैं ? इसलिए यहाँ कहते है । तथापि उन सबका एक साथ कथन करना अशक्य है, किन्तु उनका लक्षण क्रमसे ही कहा जा सकता हैं, अत प्रारम्भमे जिसका उल्लेख किया है उसीका स्वरूप बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रमत्तयोगसे प्राणोंका वध करना हिंसा है ॥13॥

§ 687 प्रमाद कषाय सहित अवस्थाको कहते है और इस प्रमादसे युक्त जो आत्माका परिणाम होता है वह प्रमत्त कहलाता है । तथा प्रमत्तका योग प्रमत्तयोग है । इसके सम्बन्धसे इन्द्रियादि दस प्राणोका यथासम्भव व्यपरोपण अर्थात् वियोग करना हिसा कही जाती है । इससे प्राणियोको दु ख होता है, इसलिए वह अधर्मका कारण है । केवल प्राणोका वियोग करनेसे अधर्म नही होता है यह बतलानेके लिए सूत्रमे 'प्रमत्तयोगसे' यह पद दिया है । कहा भी है—

'यह प्राणी दूसरेको प्राणोसे वियुक्त करता है तो भी उसे हिसा नही लगती ।' और भी कहा है—

'ईर्यासमितिसे युक्त साधुके अपने पैरके उठाने पर चलनेके स्थानमे यदि कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैरसे दब जाय और उसके सम्बन्धसे मर जाय तो भी उस निमित्तसे थोड़ा भी बन्ध आगममे नही कहा है, क्योकि जैसे अध्यात्म दृष्टिसे मूर्च्छाको ही परिग्रह कहा है वैसे यहाँ भी रागादि परिणामको हिंसा कहा है ॥'

शंका—प्राणोका विनाश न होने पर भी केवल प्रमत्तयोगसे ही हिंसा कही जाती है । कहा भी है—

---

1 भगवता मु, ता, ना । 2. सिद्ध द्वा. 3,16 । 3 प्रवचन क्षे. 3,16 । 4 प्रवचन. क्षे. 3,17 ।

"मरदु[1] व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥"

नैष दोषः । अत्रापि[2] प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् । तथा चोक्तम्—

"स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥"

§ 688. आह अभिहितलक्षणा हिंसा । तदनन्तरोद्दिष्टमनृतं किंलक्षणमित्यत्रोच्यते—

असदभिधानमनृतम् ॥14॥

§ 689. सच्छब्दः प्रशंसावाची । सदसदप्रशस्तमिति यावत् । असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानमनृतम् । ऋतं सत्यं, न ऋतमनृतम् । किं पुनरप्रशस्तम् ? प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयं वा अविद्यमानार्थविषयं वा । उक्तं च प्रागेवाहिंसाव्[3]रतपरिपालनार्थमितरद्व्रतम् इति । तस्माद्धिंसाकरं[4] वचोऽनृतमिति निश्चेयम् ।

§ 690. अथानृतानन्तरमुद्दिष्टं यत्स्तेयं तस्य किं लक्षणमित्यत आह—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥15॥

§ 691 आदानं ग्रहणमदत्तस्यादानमदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते । यद्येवं कर्मनोकर्मग्रहणमपि स्तेयं प्राप्नोति; अन्येनादत्तत्वात् ? नैष दोष, दानादाने यत्र संभवतस्तत्रैव स्तेयव्यवहारः ।

'जीव मर जाय या जीता रहे तो भी यत्नाचारसे रहित पुरुषके नियमसे हिंसा होती है और जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, हिंसाके हो जाने पर भी उसे बन्ध नही होता ॥'

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि यहाँ भी भावरूप प्राणोका नाश है ही । कहा भी है—

'प्रमादसे युक्त आत्मा पहले स्वय अपने द्वारा ही अपना घात करता है इसके बाद दूसरे प्राणियोका बध होवे या मत होवे ।'

§ 688. हिसाका लक्षण कहा । अब उसके बाद असत्यका लक्षण बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

असत् बोलना अनृत है ॥15॥

§ 689. सत् शब्द प्रशसावाची है । जो सत् नही वह असत् है । असत्का अर्थ अप्रशस्त है । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ नही है उसका कथन करना अनृत—असत्य कहलाता है । ऋतका अर्थ सत्य है और जो ऋत—सत्य नही है वह अनृत है । **शंका**—अप्रशस्त किसे कहते हैं ? **समाधान**—जिससे प्राणियोको पीडा होती है उसे अप्रशस्त कहते है । भले ही वह चाहे विद्यमान पदार्थको विषय करता हो या चाहे अविद्यमान पदार्थको विषय करता हो । यह पहले ही कहा है कि शेष व्रत अहिसा व्रतकी रक्षाके लिए है । इसलिए जिससे हिसा हो वह वचन अनृत है ऐसा निश्चय करना चाहिए ।

§ 690 असत्यके बाद जो स्तेय कहा है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विना दी हुई वस्तुका लेना स्तेय है ॥15॥

§ 691 आदान शब्दका अर्थ ग्रहण है । विना दी हुई वस्तुका लेना अदत्तादान है और यही स्तेय—चोरी कहलाता है । **शंका**—यदि स्तेयका पूर्वोक्त अर्थ किया जाता है तो कर्म और

---

1. वचन 317 । 2. तत्रापि आ दि 1, दि 2 । 3 –हिंसाप्रतिपाल– मु. । 4. कर्मवचो मु ।

कुत. । 'अदत्त'ग्रहणसामर्थ्यात् । एवमपि भिक्षोर्ग्रामनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादिप्रवेशाद-दत्तादानं प्राप्नोति ? नैष दोष , सामान्येन मुक्तत्वात् । तथाहि—अय भिक्षु पिहितद्वारादिषु न प्रविशति अमुक्तत्वात् । अथवा 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते । प्रमत्तयोगाददत्तादान यत् तत्स्तेय-मित्युच्यते । न च रथ्यादि प्रविशतः प्रमत्तयोगोऽस्ति । तेनैतदुक्तं भवति, यत्र संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति बाह्यवस्तुनो[1] ग्रहणे चाग्रहणे च ।

§ 692 अथ चतुर्थमब्रह्म किलक्षणमित्यत्रोच्यते—

मैथुनमब्रह्म ।।16।।

§ 693 स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम् । मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते । न सर्वं कर्म । कुत ? लोके शास्त्रे च तथा प्रसिद्धे । लोके तावदागोपालादिप्रसिद्धं स्त्रीपुंस[2]यो. रागपरिणामनिमित्तं चेष्टितं मैथुनमिति । शास्त्रेऽपि "अश्ववृष[3]भयोर्मैथुनेच्छायाम्" इत्येवमादिषु तदेव गृह्यते । अपि च 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते तेन स्त्रीपु समिथुनविषयं रतिसुखार्थं चेष्टितं मैथुनमिति गृह्यते, न सर्वम् । अहिंसादयो[4] गुणा

नोकर्मका ग्रहण करना भी स्तेय ठहरता है, क्योकि ये किसीके द्वारा दिये नही जाते ? समाधान —यह कोई दोष नही है, क्योकि जहाँ देना और लेना सम्भव है वही स्तेयका व्यवहार होता है । शका—यह अर्थ किस शब्दसे फलित होता है ? समाधान—सूत्रमे जो 'अदत्त' पदका ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि जहाँ देना लेना सम्भव है वही स्तेयका व्यवहार होता है । शंका—स्तेयका उक्त अर्थ करने पर भी भिक्षुके ग्राम नगरादिकमे भ्रमण करते समय गली, कूचाके दरवाजा आदिमे प्रवेश करने पर बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान —यह कोई दोष नही है, क्योकि वे गली, कूचाके दरवाजा आदि सबके लिए खुले है । यह भिक्षु जिनमे किवाड आदि लगे है उन दरवाजा आदिमे प्रवेश नही करता, क्योकि वे सबके लिए खुले नही है । अथवा, 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है जिससे यह अर्थ होता है कि प्रमत्त-के योगसे विना दी हुई वस्तुका ग्रहण करना स्तेय है । गली कूचा आदिमे प्रवेश करनेवाले भिक्षु-के प्रमत्तयोग तो है नही, इसलिए वैसा करते हुए स्तेयका दोष नही लगता । इस सब कथनका यह अभिप्राय है कि बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय किन्तु जहाँ सक्लेशरूप परिणामके साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है ।

§ 692 अब चौथा जो अब्रह्म है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

मैथुन अब्रह्म है ।।16।।

§ 693 चारित्रमोहनीयका उदय होनेपर राग परिणामसे युक्त स्त्री और पुरुषके जो एक दूसरेको स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन कहलाता है और इसका कार्य मैथुन कहा जाता है । सब कार्य मैथुन नही कहलाता क्योकि लोकमे और शास्त्रमे इसी अर्थमे मैथुन शब्दकी प्रसिद्धि है । लोकमे बाल-गोपाल आदि तक यह प्रसिद्ध है कि स्त्री-पुरुषकी रागपरिणामके निमित्तसे होनेवाली चेष्टा मैथुन है । शास्त्रमे भी 'घोडा और बैलकी मैथुनेच्छा होनेपर' इत्यादि वाक्योमें यही अर्थ लिया जाता है । दूसरे 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए रतिजन्य सुखके लिए स्त्री-पुरुषकी मिथुनविषयक जो चेष्टा होती है वही मैथुनरूपसे ग्रहण किया

---

1 —वस्तुनो ग्रहणे च आ. । 2. —पुंसराग— मु । 3 पा सू. 7।1।51 इत्यत्र वार्तिकम् । 4 —दयो धर्मा य— मु. ।

यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म[1] इति। किं तत् ? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूँश्चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते अचेतनमितर[2] च परिग्रहं गृह्णाति।

§ 694. अथ पञ्चमस्य परिग्रहस्य किं लक्षणमित्यत आह—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥17॥

§ 695. मूर्च्छेत्युच्यते।[3] का मूर्च्छा ? बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां[4] चेतनाचेत[5]नानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यावृत्तिर्मूर्च्छा। ननु च लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहण कस्मान्न भवति ? सत्यमेवमेतत् मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तते। "सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते" इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थितः परिगृ[6]ह्यते; परिग्रहप्रकरणात्। एवमपि बाह्यस्य परिग्रहत्व न प्राप्नोति; आध्यात्मिकस्य संग्रहात् ? सत्यमेवमेतत्; प्रधानत्वादभ्यन्तर एव संगृहीतः।[7] असत्यपि बाह्ये ममेदमिति संकल्पवान् सपरिग्रह[8] एव भवति। अथ बाह्यः परिग्रहो न भवत्येव, भवति च मूर्च्छाकारणत्वात् यदि ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः; सज्ञानाद्यपि परिग्रहः प्राप्नोति, तदपि हि ममेदमिति संकल्प्यते रागादिपरिणामवत् ? नैष दोषः, 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते[9]। ततो ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य

जाता है, सब नही। अहिंसादिक गुण जिसके पालन करनेपर बढते है वह ब्रह्म कहलाता है और जो इससे रहित है वह अब्रह्म है। **शंका**—अब्रह्म क्या है ? **समाधान**—मैथुन। मैथुनमे हिंसादिक दोष पुष्ट होते है, क्योकि जो मैथुनके सेवनमे दक्ष है वह चर और अचर सब प्रकार के प्राणियोकी हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनो प्रकारके परिग्रहको स्वीकार करता है।

§ 694 अब पाँचवाँ जो परिग्रह है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मूर्च्छा परिग्रह है ॥17॥

§ 695 अब मूर्च्छाका स्वरूप कहते है। **शंका**—मूर्च्छा क्या है ? **समाधान**—गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन अचेतन बाह्य उपधिका तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधिका संरक्षण अर्जन और संस्कार आदिरूप व्यापार ही मूर्च्छा है। **शंका**—लोकमे वातादि प्रकोपविशेषका नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यो नही किया जाता ? **समाधान**—यह कहना सत्य है तथापि मूर्च्छ धातुका सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोमे ही रहते है ऐसा मान लेने पर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है। **शंका**—मूर्च्छाका यह अर्थ लेने पर भी बाह्य वस्तुको परिग्रहपना नही प्राप्त होता, क्योकि मूर्च्छा इस शब्दसे आभ्यन्तर परिग्रहका संग्रह होता हैं। **समाधान**—यह कहना सही है, क्योकि प्रधान होनेसे आभ्यन्तरका ही सग्रह किया है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रहके न रहनेपर भी 'यह मेरा है' ऐसा सकल्पवाला पुरुष परिग्रहसहित ही होता है। **शंका**—यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह नही ही है और यदि मूर्च्छाका कारण होनेसे 'यह मेरा है' इस प्रकारका सकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योकि रागादि परिणामोके समान ज्ञानादिक मे भी 'यह मेरा है' इस प्रकारका सकल्प होता है ? **समाधान**—यह

---

1. अब्रह्म। किं मु.। 2 सचेतनमितरच्च मु। 3 –च्यते। केयं मूर्च्छा मु आ., दि. 1, दि. 2। 4 –मुक्तादी –मु., ता.। 5 –तनाना च रागा– मु.। 6. –गृह्यते। एवमपि ता, ना.। 7. सगृह्यते। असत्यपि मु.। 8 –ग्रहो भवति मु.। 9. –र्तते। ज्ञान– आ, दि 1, दि. 2।

मोहाभावान्न मूर्च्छास्तीति निष्परिग्रहत्वं सिद्धम् । किंच तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वादात्मस्वभावत्वादपरिग्रहत्वम् । रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः । ततस्तेषु संकल्पः परिग्रह इति युज्यते । तन्मूलाः सर्वे दोषाः । ममेदमिति हि सति संकल्पे संरक्षणादयः संजायन्ते । तत्र च हिंसावश्यंभाविनी । तदर्थमनृतं जल्पति । चौर्यं वा[1] आचरति । मैथुने च कर्मणि प्रयतते । तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः ।

§ 696. एवमुक्तेन[2] प्रकारेण हिंसादिदोषदर्शिनोऽहिंसादिगुणाहितचेतसः परमप्रयत्नस्याहिंसादीनि व्रतानि यस्य सन्ति स —

निश्शल्यो व्रती ॥18॥

§ 697. शृणाति हिनस्तीति शल्यम् । शरीरानुप्रवेशि काण्डादिप्रहरणं[3] शल्यमिव शल्यं, यथा तत् प्राणिनो बाधाकरं तथा[4] शारीरमानसबाधाहेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते । तत् त्रिविधम्—मायाशल्यं निदानशल्यं मिथ्यादर्शनशल्यमिति । माया निकृतिर्वञ्चना । निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा । मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो निश्शल्यो व्रती इत्युच्यते । अत्र चोद्यते—शल्याभावान्निःशल्यो व्रताभिसंबन्धाद् व्रती, न निश्शल्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति । न हि देवदत्तो दण्डसंबन्धाच्छत्री भवतीति ? अत्रोच्यते—उभयविशेषणविशिष्ट[5]-

---

कोई दोष नही है, क्योकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमादरहित है उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्च्छा नही है, अतएव परिग्रहरहितपना सिद्ध होता है। दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्माके स्वभाव हैं, इसलिए उनमे परिग्रहपना नही प्राप्त होता। परन्तु रागादिक तो कर्मोके उदयसे होते हैं, अत वे आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय है इसलिए उनमे होनेवाला सकल्प परिग्रह है यह बात बन जाती है। सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकारके सकल्पके होनेपर सरक्षण आदिरूप भाव होते हैं। और इसमे हिंसा अवश्यभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्ममे प्रवृत्त होता है। नरकादिकमे जितने दु ख है वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

§ 696 इस प्रकार उक्त विधिसे जो हिंसादिमे दोषोका दर्शन करता है, जिसका चित्त अहिंसादि गुणोमे लगा रहता है और जो अत्यन्त प्रयत्नशील है वह यदि अहिंसादि व्रतोको पाले तो किस सज्ञाको प्राप्त होता है इसी बातका खुलासा करनेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

जो शल्यरहित है वह व्रती है ॥18॥

§ 697 'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्दकी व्युत्पत्ति है। शल्यका अर्थ है पीडा देनेवाली वस्तु। जब शरीरमे काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ उसके समान जो पीडाकर भाव है वह शल्य शब्दसे लिया गया है। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियोको बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मनसम्बन्धी बाधाका कारण होनेसे कर्मोदयजनित विकारमे भी शल्यका उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते है। वह शल्य तीन प्रकारकी है—माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य। माया, निकृति और वचना अर्थात् ठगनेकी वृत्ति यह माया शल्य है। भोगोकी लालसा निदान शल्य है और अतत्त्वोका श्रद्धान मिथ्यादर्शन शल्य है। इन तीन शल्योसे जो रहित है वही नि शल्य व्रती कहा जाता है। **शंका**—शल्यके न होनेसे नि शल्य होता है और व्रतोके धारण करनेसे व्रती होता है। शल्य-

---

1 चौर्यं चाचरति ता । 2 एवमुक्तक्रमेण हिंसा- ता । 3 –प्रहरण । तच्छल्य मु । 4 तथा शरीर– मु । 5 –विशिष्टत्वात् मु. ।

स्येष्टत्वात् । न हिंसाद्युपरति[1]मात्रव्रताभिसंबन्धाद् व्रती भवत्यन्तरेण शल्याभावम् । सति शल्यापगमे व्रतसंबन्धाद् व्रती विवक्षितो यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति व्यपदिश्यते । बहुक्षीरघृताभावात्सतीष्वपि गोषु न गोमांस्तथा सशल्यत्वात्सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती । यस्तु निःशल्यः स व्रती ।

§ 698. तस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अगार्यनगारश्च ।।19।।

§ 699. प्रतिश्रयार्थिभिः अंग्यते इति अगारं वेश्म, तद्वानगारी । न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः । द्विविधो व्रती अगारी अनगारश्च । ननु चात्र विपर्ययोऽपि प्राप्नोति शून्यागारदेवकुलाद्यावासस्य मुनेरगारित्वम् अनिवृत्तविषयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणाद् गृहं विमुच्य वने वसतोऽनगारत्वं च प्राप्नोतीति[2] ? नैष दोषः, भावागारस्य विवक्षितत्वात् । चारित्रमोहोदये सत्यगारसंबन्धं प्रत्यनिवृत्तः[3] परिणामो भावागारमित्युच्यते । स यस्यास्त्यसावगारी वने वसन्नपि । गृहे वसन्नपि तदभावादनगार इति च भवति । ननु चागारिणो व्रतित्वं न प्राप्नोति; असकलव्रतत्वात् ? नैष दोषः; नैगमादिनयापेक्षया अगारिणोऽपि व्रतित्वमुपपद्यते नगरावासवत् । यथा गृहे अपवरके वा वसन्नपि नगरावास इत्युच्येत तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसंग्रहव्यवहारनयापेक्षया व्रतीति

रहित होनेसे व्रती नही हो सकता । उदाहरणार्थ देवदत्तके हाथमे लाठी होनेपर वह छत्री नही हो सकता ? **समाधान**—व्रती होनेके लिए दोनो विशेषणोसे युक्त होना आवश्यक है, यदि किसीने शल्योका त्याग नही किया और केवल हिंसादि दोषोको छोड दिया तो वह व्रती नही हो सकता। यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्योका त्याग करके व्रतोको स्वीकार किया है । जैसे जिसके यहाँ बहुत घी दूध होता है वह गायवाला कहा जाता है । यदि उसके घी दूध नही होता और गायें हैं तो वह गायवाला नही कहलाता, उसी प्रकार जो सशल्य है व्रतोके होनेपर भी वह व्रती नही हो सकता । किन्तु जो नि.शल्य है वह व्रती है ।

§ 698 अब उसके भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

उसके अगारी और अनागार ये दो भेद हैं ।।19।।

§ 699. आश्रय चाहनेवाले जिसे अगीकार करते है वह अगार है । अगारका अर्थ वेश्म अर्थात् घर है । जिसके घर है वह अगारी है । और जिसके घर नही है वह अनगार है इस तरह व्रती दो प्रकारका है—अगारी और अनगार । **शंका**—अभी अगारी और अनगारका जो लक्षण कहा है उससे विपरीत अर्थ भी प्राप्त होता है, क्योकि पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार जो मुनि शून्य घर और देवकुलमे निवास करते है वे अगारी हो जायेगे और विषयतृष्णाका त्याग किये विना जो किसी कारणसे घरको छोडकर वनमे रहने लगे हैं वे अनगार हो जायेंगे ? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि यहाँपर भावागार विवक्षित है । चारित्र मोहनीयका उदय होने पर जो परिणाम घरसे निवृत्त नही है वह भावागार कहा जाता है । वह जिसके है वह वनमे निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नही है वह घरमे रहते हुए भी अनगार है । शंका—अगारी व्रती नही हो सकता, क्योकि उसके पूर्ण व्रत नही है ? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि नैगम आदि नयोकी अपेक्षा नगरावासके समान अगारीके भी व्रतीपना बन जाता है । जैसे कोई घरमे या झोपडीमे रहता है तो भी 'मै नगरमे रहता हूँ' यह कहा जाता है उसी प्रकार जिसके पूरे व्रत नही है वह नैगम, सग्रह और व्यवहारनयकी

1, --मात्रसम्ब-- मु । 2 -प्नोति नैप आ, दि. 1, दि 2 । 3. --वृत्तिपरि-- आ, दि, 1, दि. 2 ।

व्यपदिश्यते ।

§ 700. अत्राह किं हिंसादीनामन्यतमस्माद्य. प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती ? नैवम् । किं तर्हि ? पंचतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इत्युच्यते—

अणुव्रतोऽगारी ।।20।।

§ 701. 'अणु'शब्दोऽल्पवचनः । अणूनि वृतान्यस्य अणुवृतोऽगारीत्युच्यते । कथमस्य वृतानामणुत्वम् ? सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात् । कुतस्तर्ह्यसौ निवृत्त· ? त्रसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुवृतम् । स्नेहमोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमतादसत्यवचनान्निवृत्तो गृहीति द्वितीयमणुवृतम् । अन्यपीडाकरं[1] पार्थिवभयादिवशादवश्य परित्यक्तमपि यददत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुवृतम् । उपात्ताया अनुपात्तायाश्च परांगनाया. संगान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुवृतम् । धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पंचममणुवृतम् ।

§ 702. आह अपरित्यक्तागारस्य किमेतावानेव विशेष आहोस्विदस्ति कश्चिदन्योऽपीत्यत आह—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ।।21।।

अपेक्षा वृती कहा जाता है ।

§ 700. शंका—जो हिंसादिकमें-से किसी एकमें निवृत्त है वह क्या अगारी व्रती है ? समाधान—ऐसा नही है । शंका—तो क्या है ? समाधान—जिसके एक देशसे पाँचो प्रकारकी विरति है वह अगारी है यह अर्थ यहाँ विवक्षित है । अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अणुव्रतोंका धारी अगारी है ।।20।।

§ 701 अणु शब्द अल्पवाची है । जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प है वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है । शंका—अगारीके व्रत अल्प कैसे होते हैं ? समाधान—अगारीके पूरे हिंसादि दोषोका त्याग सम्भव नही है इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं । शंका—तो यह किससे निवृत्त हुआ है ? समाधान—यह त्रस जीवोकी हिंसासे निवृत्त है, इसलिए उसके पहला अहिंसा अणुवृत होता है । गृहस्थ स्नेह और मोहादिकके वशसे गृहविनाश और ग्रामविनाशके कारण असत्य वचनसे निवृत्त है, इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है । श्रावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीडाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुको लेना यद्यपि अवश्य छोड देता है तो भी बिना दी हुई वस्तुके लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है, इसलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है । गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका सग करनेसे रति हट जाती है, इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नामका चौथा अणुव्रत होता है । तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदिका स्वेच्छासे परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत होता है ।

§ 702 गृहस्थको क्या इतनी ही विशेषता है कि और भी विशेषता है, अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत इन व्रतोसे भी सम्पन्न होता है ।।21।।

1, –करपार्थिव– मु ।

§ 703. 'विरति'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। दिग्विरतिः देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिरिति एतानि त्रीणि गुणव्रतानि; 'व्रत'शब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात्। तथा सामायिकव्रतं प्रोषधोपवासव्रतं उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतं अतिथिसंविभागव्रतं[1] एतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानि। एतैर्व्रतैः संपन्नो गृही विरताविरत इत्युच्यते। तद्यथा—दिक्प्राच्यादिः तत्र प्रसिद्धैरभिज्ञानैरवधिं कृत्वा नियमनं दिग्विरतिव्रतम्। ततो बहिस्त्रसस्थावरव्यपरोपणनिवृत्तेर्महाव्रतत्वमवसेयम्।[2] तत्र लाभे सत्यपि परिणामस्य निवृत्तेर्लोभनिरासश्च कृतो भवति। ग्रामादीनामवधृतपरिमाणः[3] प्रदेशो देशः। ततो बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम्। पूर्ववद्बहिर्महाव्रतत्वं व्यवस्थाप्यम्। असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः।[4] ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः। अनर्थदण्डः पंचविधः—अपध्यानं पापोपदेशः प्रमादाचरितं हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति। तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्ग[5]च्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा[6] चिन्तनमपध्यानम्।[7] तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।[8] प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्।[9] विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डा-

§ 703. विरति शब्द प्रत्येक शब्दपर लागू होता है। यथा—दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति। ये तीन गुणव्रत हैं, क्योंकि व्रत शब्दका हर एकके साथ सम्बन्ध है। तथा सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत ये चार हैं। इस प्रकार इन व्रतोंसे जो सम्पन्न हैं वह गृही विरताविरत कहा जाता है। खुलासा इस प्रकार है—जो पूर्वादि दिशाएँ है उनमे प्रसिद्ध चिह्नोंके द्वारा मर्यादा करके नियम करना दिग्विरतिव्रत है। उस मर्यादाके बाहर त्रस और स्थावर हिंसाका त्याग हो जानेसे उतने अंशमे महाव्रत होता है। मर्यादाके बाहर लाभ होते हुए भी उसमे परिणाम न रहनेके कारण लोभका त्याग हो जाता है। ग्रामादिककी निश्चित मर्यादारूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जानेका त्याग कर देना देशविरतिव्रत है। यहाँ भी पहलेके समान मर्यादाके बाहर महाव्रत होता है। उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पापका कारण है वह अनर्थदण्ड है। इससे विरत होना अनर्थदण्डविरतिव्रत है। अनर्थदण्ड पाँच प्रकारका है—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति। दूसरोंका जय, पराजय, मारना, बाँधना, अंगोंका छेदना और धनका अपहरण आदि कैसे होवे इस प्रकार मनसे विचार करना अपध्यान नामका अनर्थदण्ड है। तिर्यंचोंको क्लेश पहुँचानेवाले, वणिजका प्रसार करनेवाले और प्राणियोंकी हिंसाके कारणभूत आरम्भ आदिके विषयमे पापबहुल वचन बोलना पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है। बिना प्रयोजनके वृक्षादिका छेदना, भूमिका कूटना, पानीका सींचना आदि पाप कार्य प्रमादाचरित नामका अनर्थदण्ड है। विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और लकडी आदि हिंसाके उपकरणोंका प्रदान करना हिंसाप्रदान नामका अनर्थदण्ड है। हिंसा और राग आदिको बढानेवाली दुष्ट कथाओंका सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभश्रुति नामका अनर्थदण्ड है। 'सम्' उपसर्गका

1. व्रतम्। इत्येतैः—मु.। 2 सीमन्तानां परतः स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात्। देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥'— रत्न 3, 5। 3 —माणप्रदेशो मु.। 4 'पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुती: पंच। प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधरा॥'— रत्न 3, 5। 5 —च्छेदस्वहर— आ.। च्छेदसर्वस्वहर— दि 1, दि. 2। 6 'वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदा॥' —रत्न. 3,32। 7. —ध्यानम्। प्राणिवधक— आ, दि. 1, दि 2। 8 'तिर्यक्क्लेशवाणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्। कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥' —रत्न. 3, 30। 9 'क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्। सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥' —रत्न 3,34।

विहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् । हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः । समेकीभावे[1] वर्तते । तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते । एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकं, समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् । इयति देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम् । कुतः ? अणुस्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः । संयमप्रसंग इति चेत् ? न; तद्घातिकर्मोदयसद्भावात् । महाव्रतत्वाभाव इति चेत् ? तन्न; उपचाराद् राजकुले सर्वगतचैत्राभिधानवत् । प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची । शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पंचाणीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः । [2]चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः । प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः । स्व[3]शरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहितः शुचाववकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनविहितान्तःकरणः सन्नुपवसेन्निरारम्भः श्रावकः । उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः । परिभोग आच्छादनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् । मधु[4] मांसं मद्यं च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा । [5]केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात् ।

अर्थ एकरूप है । जैसे 'घी संगत है, तेल संगत है' जब यह कहा जाता है तब संगतका अर्थ एकीभूत होता है । सामायिकमें मूल शब्द समय है । इसके दो अवयव हैं सम् और अय । सम्का अर्थ कहा ही है और अयका अर्थ गमन है । समुदायार्थ एकरूप हो जाना समय है और समय ही सामायिक है । अथवा समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है । इतने देशमें और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गयी सामायिकमें स्थित पुरुषके पहलेके समान महाव्रत जानना चाहिए, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकारके हिंसा आदि पापोंका त्याग हो जाता है । **शंका**—यदि ऐसा है तो सामायिकमें स्थित हुए पुरुषके सकलसंयमका प्रसंग प्राप्त होता है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि इसके संयमका घात करनेवाले कर्मोंका उदय पाया जाता है । **शंका**—तो फिर इसके महाव्रतका अभाव प्राप्त होता है ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि जैसे राजकुलमें चैत्रको सर्वगत उपचारसे कहा जाता है उसी प्रकार इसके महाव्रत उपचारसे जानना चाहिए । प्रोषधका अर्थ पर्व है और पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंके त्यागपूर्वक उसमें निवास करना उपवास है । अर्थात् चार प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है । तथा प्रोषधके दिनोंमें जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं । प्रोषधोपवासी श्रावकको अपने शरीरके संस्कारके कारण स्नान, गन्ध, माला और आभरण आदिका त्याग करके किसी पवित्र स्थानमें, साधुओंके रहनेके स्थानमें, चैत्यालयमें या अपने प्रोषधोपवासके लिए नियत किये गये घरमें, धर्मकथाके सुनने, सुनाने और चिन्तन करनेमें मनको लगाकर उपवासपूर्वक निवास करना चाहिए और सब प्रकारका आरम्भ छोड़ देना चाहिए । भोजन, पान, गन्ध और माला आदि उपभोग कहलाते हैं तथा ओढ़ना-बिछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर,

---

1 "तद्यदा तावदेकार्थीभावः सामर्थ्यं तदैव विग्रहः करिष्यते—संगतार्थः समर्थः सृष्टार्थः समर्थ इति । तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते ।' —पा. म. भा. 2,1,1,1 । 2 'चतुराहारविसर्जनमुपवासः ।' —रत्न. 4,19 । 3 'पचानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥' —रत्न. 4-17,18 । 4. 'त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये । मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥' रत्न. 3,38 । 5 अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि । नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥' —रत्न. 3,39 ।

यानवाह[1]नाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति। संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालागमन इत्यर्थः। अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः। स चतुर्विधः; भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति। 'च'शब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः।

§ 704 क पुनरसौ—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥22॥

§ 705. स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम्। 'अन्त'ग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम्। मरणमन्तो मरणान्तः। स प्रयोजनमस्येति मारणान्तिकी। सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण[2] सम्यग्लेखना सल्लेखना। तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता सेविता गृहीत्यभि-

---

यान और वाहन आदि परिभोग कहलाते है। इनका परिमाण करना उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है। जिसका चित्त त्रसहिंसासे निवृत्त है उसे सदाके लिए मधु, मास और मदिराका त्याग कर देना चाहिए। जो बहुत जन्तुओकी उत्पत्तिके आधार है और जिन्हे अनन्तकाय कहते है ऐसे केतकीके फूल और अर्जुनके फूल आदि तथा अदरख और मूली आदिका त्याग कर देना चाहिए, क्योकि इनके सेवनमे फल कम है और घात बहुत जीवोका है। तथा यान, वाहन और आभरण आदिकमे हमारे लिए इतना ही इष्ट है शेष सब अनिष्ट है इस प्रकारका विचार करके कुछ कालके लिए या जीवन भरके लिए शक्त्यनुसार जो अपने लिए अनिष्ट हो उसका त्याग कर देना चाहिए।

सयमका विनाश न हो इस विधिसे जो चलता है वह अतिथि है या जिसके आनेकी कोई तिथि नही उसे अतिथि कहते है। तात्पर्य यह है कि जिसके आनेका कोई काल निश्चित नही है उसे अतिथि कहते है। इस अतिथिके लिए विभाग करना अतिथिसविभाग है। वह चार प्रकारका है—भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहनेका स्थान। जो मोक्षके लिए बद्धकक्ष है, सयमके पालन करनेमे तत्पर है और शुद्ध है उस अतिथिके लिए शुद्ध मनसे निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए। सम्यग्दर्शन आदिके बढानेवाले धर्मोपकरण देने चाहिए। योग्य औषधकी योजना करनी चाहिए तथा परम धर्ममे श्रद्धापूर्वक निवास-स्थान भी देना चाहिए। सूत्रमे जो 'च' शब्द है वह आगे कहे जानेवाले गृहस्थधर्मके सग्रह करनेके लिए दिया है।

§ 704. वह और क्या होता है—

तथा वह मारणान्तिक संलेखनाका प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है ॥22॥

§ 705 अपने परिणामोसे प्राप्त हुई आयुका, इन्द्रियोका और मन, वचन, काय इन तीन बलोका कारण विशेषके मिलने पर नाश होना मरण है। उसी भवके मरणका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमे मरण शब्दके साथ अन्त पदको ग्रहण किया है। मरण यही अन्त मरणान्त है और जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है वह मारणान्तिकी कहलाती है। अच्छे प्रकारसे काय और कषायका लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है। अर्थात् बाहरी शरीरका और भीतरी

---

1. 'यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।' —रत्न 3,40। 2 —हापनया क्रमे— आ., दि. 1, ता.।

संबध्यते । ननु च विस्पष्टार्थं सेवितेत्येवं वक्तव्यम् ? न, अर्थविशेषोपपत्तेः । न केवलमिह सेवनं परिगृह्यते । किं तर्हि ? प्रीत्यर्थोऽपि । यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते । सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति । स्यान्मतमात्मवधः प्राप्नोति; स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेः ? नैष दोषः; अप्रमत्तत्वात् । 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्युक्तम् । न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति । कुतः । रागाद्यभावात् । रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति । न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः । उक्तं च—

"रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं ति [1]देसिदं समये ।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥"

किं च मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः । तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति[2] परिहरति । दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते । एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति ।

कषायोंका, उत्तरोत्तर काय और कषायको पुष्ट करनेवाले कारणोंको घटाते हुए, भले प्रकारसे लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है । मरणके अन्तमे होने वाली इस सल्लेखनाको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला गृहस्थ होता है यह इस सूत्रका तात्पर्य है । **शंका**—सहज तरीकेसे अर्थका स्पष्टीकरण हो इसके लिए सूत्रमे 'जोषिता' इसके स्थानमे 'सेविता' कहना ठीक है ? **समाधान**—नही, क्योकि 'जोषिता' क्रियाके रखनेसे उससे अर्थ-विशेष ध्वनित हो जाता है। यहाँ केवल 'सेवन करना' अर्थ नही लिया गया है किन्तु प्रीति रूप अर्थ भी लिया गया है, क्योकि प्रीतिके न रहने पर बलपूर्वक सल्लेखना नही करायी जाती । किन्तु प्रीतिके रहने पर जीव स्वयं ही सल्लेखना करता है । तात्पर्य यह है कि 'प्रीतिपूर्वक सेवन करना' यह अर्थ 'जोषिता' क्रियासे निकल आता है 'सेविता' से नही, अत सूत्रमे 'जोषिता' क्रिया रखी है । **शंका**—चूंकि सल्लेखनामें अपने अभिप्रायसे आयु आदिका त्याग किया जाता है, इसलिए यह आत्मघात हुआ ? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि सल्लेखनामे प्रमादका अभाव है । 'प्रमत्तयोगसे प्राणोका वध करना हिंसा है' यह पहले कहा जा चुका है । परन्तु इसके प्रमाद नही है, क्योकि इसके रागादिक नही पाये जाते । राग, द्वेष और मोहसे युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणोंका प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है उसे आत्मघातका दोष प्राप्त होता है । परन्तु सल्लेखनाको प्राप्त हुए जीवके रागादिक तो हैं नही, इसलिए इसे आत्मघातका दोष नही प्राप्त होता । कहा भी है—

"शास्त्रमें यह उपदेश है कि रागादिका नहीं उत्पन्न होना अहिंसा है । तथा जिनदेवने उनकी उत्पत्तिको हिंसा कहा है ॥"

दूसरे, मरण किसी को भी इष्ट नही है । जैसे नाना प्रकारकी विक्रेय वस्तुओके देन, लेन और संचयमे लगे हुए किसी व्यापारीको अपने घरका नाश होना इष्ट नही है । फिर भी परिस्थिति-वश उसके विनाशके कारण आ उपस्थित हो तो यथाशक्ति वह उनको दूर करता है । इतने पर भी यदि वे दूर न हो सके तो जिससे विक्रेय वस्तुओका नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है उसी प्रकार पण्यस्थानीय व्रत और शीलके सचयमे जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु आदि-का पतन नही चाहता । यदा कदाचित् उनके विनाशके कारण उत्पन्न हो जाँय तो जिससे अपने गुणोमे बाधा नही पड़े इस प्रकार उनको दूर करनेका प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर

---

1. ति भासिदं स– मु । 2 –शक्ति च परि– मु ।

तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्।

§ 706. अत्राह, 'निःशल्यो वृती' इत्युक्तं तत्र च तृतीयं शल्यं मिथ्यादर्शनम्। ततः सम्यग्दृष्टिना वृतिना[1] निःशल्येन भवितव्यमित्युक्तम्। तत्सम्यग्दर्शनं किं सापवादं निरपवाद-मिति। उच्यते—कस्यचिन्मोहनीयावस्थाविशेषात्कदाचिदिमे भवन्त्यपवादाः—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥23॥

§ 707. निःशंकितत्वादयो व्याख्याता 'दर्शनविशुद्धिः' इत्यत्र। तत्प्रतिपक्षभूताः शकादयो वेदितव्याः। अथ प्रशंसासंस्तवयोः को विशेष ? मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, भूताभूतगुणोद्भाववचन संस्तव इत्ययमनयोर्भेद । ननु च सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमुक्त तस्या-तिचारैरप्यष्टभिर्भवितव्यम्। नैष दोषः; व्रतशीलेषु पच पंचातिचारा इत्युत्तरत्र विवक्षुणाचार्येण प्रशंसासंस्तवयोरितरानतिचारानन्तर्भाव्य पंचैवातिचारा उक्ताः।

§ 708. आह, सम्यग्दृष्टेरतिचारा उक्ताः। किमेव वृतशीलेष्वपि भवन्तीति ? ओमि-त्युक्त्वा तदतिचारसंख्यानिर्देशार्थमाह—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥24॥

न हो तो जिससे अपने गुणोका नाश न हो इस प्रकार प्रयत्न करता है, इसलिए इसके आत्मघात नामका दोष कैसे हो सकता है अर्थात् नही हो सकता है।

§ 706 यहाँ पर शकाकार कहता है कि व्रती नि शल्य होता है ऐसा कहा है और वहाँ तीसरी शल्य मिथ्यादर्शन है। इसलिए सम्यग्दृष्टि व्रतीको नि शल्य होना चाहिए यह उसका अभिप्राय है, तो अब यह बतलाइए कि वह सम्यग्दर्शन सापवाद होता है या निरपवाद होता है ? अब इसका समाधान करते है—किसी जीवके मोहनीयकी अवस्था विशेषके कारण ये अप-वाद होते है—

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पांच अतिचार हैं ॥23॥

§ 707 'दर्शनविशुद्धिः' इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय नि शकितत्व आदिका व्याख्यान किया। ये शकादिक उनके प्रतिपक्षभूत जानना चाहिए। **शंका**—प्रशसा और सस्तवमे क्या अन्तर है ? **समाधान**—मिथ्यादृष्टिके ज्ञान और चारित्र गुणोका मनसे उद्भावन करना प्रशसा है और मिथ्यादृष्टिमे जो गुण है या जो गुण नही है इन दोनोका सद्भाव बतलाते हुए कथन करना सस्तव है, इस प्रकार यह दोनोमे अन्तर है। **शंका**—सम्यग्दर्शनके आठ अग कहे हैं, इसलिए उसके अतिचार भी आठ ही होने चाहिए। **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि आगे आचार्य व्रतो और शीलोके पाँच-पॉच अतिचार कहनेवाले है, इसलिए अन्यदृष्टिप्रशसा और अन्यदृष्टिसस्तव इन दो अतिचारोमे शेष अतिचारोका अन्तर्भाव करके सम्यग्दृष्टिके पाँच ही अतिचार कहे हैं।

§ 708. सम्यग्दृष्टिके अतिचार कहे, क्या इसी प्रकार व्रत और शीलोके भी अतिचार होते हैं ? हाँ, यह कह कर अब उन अतिचारोंकी सख्याका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्रतों और शीलोंमें पाँच पांच अतिचार है जो क्रमसे इस प्रकार है ॥24॥

---

1 व्रतिना भवि— आ, दि, 1, दि 2।

§ 709. **व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि तेषु व्रतशीलेषु। शीलग्रहणमनर्थकम्; व्रतग्रहणेनैव सिद्धेः? नानर्थकम्; विशेषज्ञापनार्थं व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह 'शील'ग्रहणेन गृह्यन्ते।**

§ 710. अगार्यधिकारादगारिणो व्रतशीलेषु पंच पचातिचारा वक्ष्यमाणा यथाक्रमं वेदितव्याः। तद्यथा—आद्यस्य तावदहिंसाव्रतस्य—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।।25।।

§ 711. अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बन्धः। दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः, न प्राणव्यपरोपणम्, तत प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात्। कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेद। न्याय्यभारादतिरिक्तवाहनमतिभारारोपणम्। गवादीनां क्षुत्पिपासाबाधाकरणमन्नपाननिरोध। एते पंचाहिंसाणुव्रतस्यातिचाराः।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।।26।।

§ 712. अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमतिसंधापनं वा मिथ्योपदेशः। यत्स्त्रीपुंसाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं तद्रहोभ्याख्यान वेदितव्यम्। अन्येनानुक्त[1]मननुष्ठितं यत्किंचित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वंचनानिमित्तं

---

§ 709 शील और व्रत इन शब्दोंका कर्मधारय समास होकर व्रतशील पद बना है। उनमे अर्थात् व्रत-शीलोमे। शंका—सूत्रमे शील पदका ग्रहण करना निष्फल है, क्योकि व्रत पदके ग्रहण करनेसे ही उसकी सिद्धि हो जाती है? समाधान—सूत्रमें शील पदका ग्रहण करना निष्फल नही है, क्योकि विशेषका ज्ञान करानेके लिए और व्रतोकी रक्षा करनेके लिए शील है, इसलिए यहाँ शील पदके ग्रहण करनेसे दिग्विरति आदि लिये जाते हैं।

§ 710. यहाँ गृहस्थका प्रकरण है, इसलिए गृहस्थके व्रतो और शीलोके आगे कहे जाने-वाले क्रमसे पाँच पाँच अतिचार जानने चाहिए जो इस प्रकार हैं। उसमे भी पहले प्रथम अहिंसा व्रतके अतिचार बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्ध, वध, छेद, अतिभारका आरोपण और अन्नपानका निरोध ये अहिंसा अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ।।25।।

§ 711. किसीको अपने इष्ट स्थानमे जानेसे रोकनेके कारणको बन्ध कहते है। डंडा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोको मारना वध है। यहाँ वधका अर्थ प्राणोका वियोग करना नही लिया है, क्योकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है। कान और नाक आदि अवयवों का भेदना छेद है। उचित भारसे अतिरिक्त भारका लादना अतिभारारोपण है। गौ आदिके भूखप्यास में बाधाकर अन्नपानका रोकना अन्नपाननिरोध है। ये पाँच अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ।।26।।

§ 712 अभ्युदय और मोक्षकी कारणभूत क्रियाओंमे किसी दूसरेको विपरीत मार्गसे लगा देना या मिथ्या वचनो द्वारा दूसरोको ठगना मिथ्योपदेश है। स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्तमे किये गये आचरण विशेषका प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है। दूसरेने न तो कुछ कहा और न

---

1. —नुक्त यत्किं मु।

लेखनं कूटलेखक्रिया। हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यात्पसंख्येयमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहारः। अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूविक्षेपादिभिः[1] पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते। त एते सत्याणुव्रतस्य पंचातिचारा बोद्धव्याः।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥27॥

§ 713. मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्तेऽन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स स्तेनप्रयोगः। अप्रयुक्तेनानुमतेन च चौरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम्। उचितन्यायादन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रमः। विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं विरुद्धराज्येऽतिक्रम विरुद्धराज्यातिक्रमः। तत्र ह्यल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्नः। प्रस्थादि मानम्, तुलाद्युन्मानम्। एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम्। कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहारः। त एते पञ्चादत्तादानाणुव्रतस्यातिचाराः।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥28॥

§ 714. कन्यादानं विवाहः। परस्य विवाहः परविवाहः। परविवाहस्य करणं परविवाह-

---

कुछ किया तो भी अन्य किसीकी प्रेरणासे उसने ऐसा कहा है और ऐसा किया है इस प्रकार छलसे लिखना कूटलेखक्रिया है। धरोहरमें चाँदी आदिको रखनेवाला कोई उसकी सख्या भूलकर यदि उसे कमती लेने लगा तो 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करना न्यासापहार है। अर्थवश, प्रकरणवश, शरीरके विकारवश या भ्रूक्षेप आदिके कारण दूसरेके अभिप्रायको जान कर डाहसे उसका प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। इस प्रकार ये सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार जानने चाहिए।

स्तेनप्रयोग, स्तेन आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक-व्यवहार ये अचौर्य अणुव्रतके पाँच अतिचार है ॥27॥

§ 713 किसीको चोरीके लिए स्वय प्रेरित करना, या दूसरेके द्वारा प्रेरित कराना या प्रयुक्त हुए की अनुमोदना करना स्तेनप्रयोग है। अपने द्वारा अप्रयुक्त असम्मत चोरके द्वारा लायी हुई वस्तुका ले लेना तदाहृतादान है। यहाँ न्यायमार्गको छोड कर अन्य प्रकारसे वस्तु ली गयी है इसलिए अतिचार है। विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्धराज्य है। राज्योमे किसी प्रकारका विरोध होने पर मर्यादाका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। यदि वहाँ अल्प मूल्यमे वस्तुएँ मिल गयी तो उन्हे महँगा वेचनेका प्रयत्न करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। मानपदसे प्रस्थ आदि मापने के वाट लिये जाते है और उन्मानपदसे तराजू आदि तौलनेके वाट लिये जाते है। कमती माप-तौलसे दूसरेको देना और वढती माप-तौलसे स्वय लेना इत्यादि कुटिलतासे लेन-देन करना हीनाधिकमानोन्मान है। वनावटी चाँदी आदिसे कपटपूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। इस प्रकार ये अदत्तादान अणुव्रतके पाँच अतिचार है।

परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वारिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥28॥

§ 714 कन्याका ग्रहण करना विवाह है। किसी अन्यका विवाह परविवाह है और

---

1. भ्रूनिक्षेपणादि –मु।

करणम् । परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला[1] इत्वरी । कुत्सिता इत्वरी कुत्सायां क इत्वरिका । या एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता । या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता । परिगृहीता चापरिगृहीता च परिगृहीतापरिगृहीते । इत्वरिके च ते परिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीते, तयोर्गमने इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमने । अंग प्रजननं योनिश्च, ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा । कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः । त एते पंच स्वदारसंतोषव्रतस्यातिचाराः ।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥29॥

§ 715. क्षेत्रं सस्याधिकरणम् । वास्तु अगारम् । हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम् । सुवर्णं प्रतीतम् । धन गवादि । धान्यं व्रीह्यादि । दासीदासं भृत्यस्त्रीपुंसवर्गः । कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि । क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु, हिरण्यं च सुवर्णं च हिरण्यसुवर्णम्, धन च धान्यं च धनधान्यम्, दासी च दासश्च दासीदासम् । क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यानि । एतावानेव परिग्रहो मम नान्य इति [2]परिच्छिन्नाणुप्रमाणात्क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेका अतिलोभवशात्प्रमाणातिक्रमा इति प्रत्याख्यायन्ते । त एते परिग्रहपरिमाणव्रतस्यातिचाराः ।

§ 716. उक्ता व्रतानामतिचाराः शीलानामतिचारा वक्ष्यन्ते । तद्यथा—

इसका करना परविवाह-करण है। जिसका स्वभाव अन्य पुरुषोके पास जाना-आना है वह इत्वरी कहलाती है । इत्वरी अर्थात् अभिसारिका । इसमे भी जो अत्यन्त आचरट होती है वह इत्वरिका कहलाती है । यहाँ कुत्सित अर्थमे 'क' प्रत्यय होकर इत्वरिका शब्द बना है। जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहीता कहलाती है । तथा जो वेश्या या व्यभिचारिणी होनेसे दूसरे पुरुषोके पास जाती-आती रहती है और जिसका कोई पुरुष स्वामी नही है वह अपरिगृहीता कहलाती है । परिगृहीता इत्वरिकाका गमन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है और अपरिगृहीता इत्वरिकाका गमन करना इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन है । यहाँ अग शब्दका अर्थ प्रजनन और योनि है । तथा इनके सिवा अन्यत्र क्रीडा करना अनगक्रीडा है । कामविषयक वढा हुआ परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है । ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ।

क्षेत्र और वास्तुके प्रमाणका अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्णके प्रमाणका अतिक्रम, धन और धान्यके प्रमाणका अतिक्रम, दासी और दासके प्रमाणका अतिक्रम तथा कुप्यके प्रमाणका अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पाँच अतिचार है ॥29॥

§ 715 धान्य पैदा करनेका आधारभूत स्थान क्षेत्र है । मकान वास्तु है। जिससे रूप्य आदिका व्यवहार होता है वह हिरण्य है । सुवर्णका अर्थ स्पष्ट है । धनसे गाय आदि लिये जाते है । धान्यसे व्रीहि आदि लिये जाते हैं । नौकर स्त्री पुरुष मिलकर दासी-दास कहलाते है । रेशम, कपास, और कोसाके वस्त्र तथा चन्दन आदि कुप्य कहलाते है। क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य इनके विषयमे मेरा इतना ही परिग्रह है इससे अधिक नही ऐसा प्रमाण निश्चित करके लोभवश क्षेत्रवास्तु आदिके प्रमाणको वढा लेना प्रमाणातिक्रम है। इस प्रकार ये परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पाँच अतिचार है ।

§ 716 व्रतोके अतिचार कहे । अव शीलोके अतिचार कहते है जो इस प्रकार हैं —

---

1. शीला इत्वरी कुत्सा— मु, ता. । 2 —च्छिन्नात्प्रमा— मु ।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥30॥

§ 717. परिमितस्य दिगवधेरतिलंघनमतिक्रमः। स समासतस्त्रिविध—ऊर्ध्वातिक्रमः अधोऽति[1]क्रमस्तिर्यगतिक्रमश्चेति। तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः। कूपावतरणादेरधोऽतिक्रमः। बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतिक्रमः। परिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धि. क्षेत्रवृद्धिः। स एषोऽतिक्रमः प्रमादान्मोहाद्[2]व्यासंगाद्वा भवतीत्यवसेयः। अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम्। त एते दिग्विरमणस्यातिचाराः।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥31॥

§ 718 आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यत्किंचिदानयेत्याज्ञा[3]पनमानयनम्। एवं कुर्विति नियोग प्रेष्यप्रयोगः। व्यापारकरान्पुरुषान्प्रत्यभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। स्वविग्रहदर्शनं रूपानुपातः। लोष्टादिनिपात पुद्गलक्षेपः। त एते देशविरमणस्य पञ्चातिचाराः।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥32॥

§ 719. रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कन्दर्पः। तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मप्रयुक्त कौत्कुच्यम्। धार्ष्ट्यं प्रायं[4] यत्किंचनानर्थकं बहुप्रला[5]पित्वं मौखर्यम्। असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमसमीक्ष्याधिकरणम्। यावताऽर्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थस्ततोऽन्यस्याधिक्य-

---

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥30॥

§ 717 दिशाकी जो मर्यादा निश्चित की हो उसका उल्लंघन करना अतिक्रम है। वह संक्षेपसे तीन प्रकारका है—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यगतिक्रम। इनमेसे मर्यादाके बाहर पर्वतादिक पर चढनेसे ऊर्ध्वातिक्रम होता है, कुआँ आदिमे उतरने आदिसे अधोऽतिक्रम होता है और बिल आदिमे घुसनेसे तिर्यगतिक्रम होता है। लोभके कारण मर्यादा की हुई दिशाके बढानेका अभिप्राय रखना क्षेत्रवृद्धि है। यह व्यतिक्रम प्रमादसे, मोहसे या व्यासगसे होता है। मर्यादाका स्मरण न रखना स्मृत्यन्तराधान है। ये दिग्विरमण व्रतके पाँच अतिचार है।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरति व्रतके पाँच अतिचार है ॥31॥

§ 718. अपने द्वारा संकल्पित देशमे ठहरे हुए पुरुषको प्रयोजनवश किसी वस्तुको लानेकी आज्ञा करना आनयन है। ऐसा करो इस प्रकार काममे लगाना प्रेष्यप्रयोग है। जो पुरुष किसी उद्योगमे जुटे हैं उन्हे उद्देश्य कर खाँसना आदि शब्दानुपात है। उन्ही पुरुषोको अपने शरीरको दिखलाना रूपानुपात है। ढेला आदिका फेकना पुद्गलक्षेप है। इस प्रकार देशविरमण व्रतके पाँच अतिचार है।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डविरति व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥32॥

§ 719. रागभावकी तीव्रतावश हास्यमिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। परिहास और असभ्यवचन इन दोनोके साथ दूसरेके लिए शारीरिक कुचेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है। धीठताको लिये हुए निःसार कुछ भी बहुत बकवास करना मौखर्य है। प्रयोजनका विचार किये बिना मर्यादाके बाहर अधिक काम करना असमीक्ष्याधिकरण है। उपभोग परिभोगके लिए जितनी

---

1 अधोऽतिक्रम विलप्र– मु.। 2. मोहाद्यासङ्गा– मु.। 3 नयेदित्या– आ., दि. 1, दि 2। 4. -प्राय बहु– आ, दि. 1, दि. 2। 5. –प्रलपित मौ- मु.।

मानर्थक्यम् । त एते पञ्चानर्थदण्डविरतेरतिचाराः ।

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।33।।

§ 720. योगो व्याख्यातस्त्रिविधः । तस्य दुष्टं[1] प्रणिधानं योगदुष्प्रणिधानम्—कायदुष्प्रणिधानं वाग्दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानमिति । अनादरोऽनुत्साहः । अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानम् । त एते पञ्च सामायिकस्यातिक्रमाः ।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।।34।।

§ 721 जन्तव सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षण चक्षुर्व्यापारः । मृदुनोपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जितम् । तदुभय प्रतिषेधविशिष्टमुत्सर्गादि[2]भिस्त्रिभिरभिसबध्यते—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग इत्येवमादि । तत्र अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां[3] भूमौ मूत्रपुरीषोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्याहृदाचार्यपूजोपकरणस्य गंधमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य च वस्त्रादेरादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानम् । अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः सस्तरस्योपक्रमण अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसस्तरोपक्रमणम् । क्षुदर्म्यादितत्वादावश्यकेष्वनादरोऽनुत्साह । स्मृत्यनुपस्थान व्याख्यातम् । त एते पञ्च प्रोषधोपवासस्यातिचाराः ।

वस्तुकी आवश्यकता है वह अर्थ है उससे अतिरिक्त अधिक वस्तु रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है । इस प्रकार ये अनर्थदण्डविरति व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं ।।33।।

§ 720 तीन प्रकारके योगका व्याख्यान किया जा चुका है । उसका बुरी तरहसे प्रयोग करना योगदुष्प्रणिधान है जो तीन प्रकारका है—कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान और मनोदुष्प्रणिधान । उत्साहका न होना अनुत्साह है और वही अनादर है । तथा एकाग्रताका न होना स्मृत्यनुपस्थान है । इस प्रकार ये सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिमें उत्सर्ग अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तुका आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित सस्तरका उपक्रमण, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार हैं ।।34।।

§ 721. जीव हैं या नहीं है इस प्रकार आँखसे देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है और कोमल उपकरणसे जो प्रयोजन साधा जाता है वह प्रमार्जित कहलाता है । निषेधयुक्त इन दोनो पदोका उत्सर्ग आदि अगले तीन पदोसे सम्बन्ध होता है । यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग आदि । बिना देखी और बिना प्रमार्जित भूमिमे मल-मूत्रका त्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है । अरहत और आचार्यकी पूजाके उपकरण, गन्ध, माला और धूप आदिको तथा अपने ओढने आदिके वस्त्रादि पदार्थोंको बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए ले लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है । बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए प्रावरण आदि सस्तरका बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसस्तरोपक्रमण है । भूखसे पीडित होनेके कारण आवश्यक कार्योंमे अनुत्साहित होना अनादर है । स्मृत्यनुपस्थानका व्याख्यान पहले किया ही है । इस प्रकार ये प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

---

1. दु.प्रणि— मु. । 2 —दिभिरभि— मु । 3 —र्माजितभूमौ आ, दि, 1, दि 2 ।

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ।।35।।

§ 722 सह चित्तेन वर्तते इति सचित्तं चेतनावद् द्रव्यम् । तदुपश्लिष्ट संबन्धः । तद्व्यतिकीर्णं संमिश्रः । कथं पुनरस्य सचित्तादिषु प्रवृत्तिः[1] ? प्रमादसंमोहाभ्याम् । द्रवो वृष्यो वाभिषवः । असम्यक्पक्वो दुष्पक्वः । एतैराहारो विशेष्यते—सचित्ताहारः संबन्धाहारः संमिश्राहारोऽभिषवाहारो दुष्पक्वाहार इति । त एते पञ्च भोगोपभोगपरिसंख्यानस्यातिचाराः ।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।।36।।

§ 723 सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः । अपिधानमावरणम् । सचित्तेनैव संबध्यते सचित्तापिधानमिति । अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः । प्रयच्छतोऽप्यादराभावोऽन्यदातृगुणासहनं वा मात्सर्यम् । अकाले भोजनं कालातिक्रमः । त एते पञ्चातिथिसंविभागशीलातिचाराः ।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।।37।।

§ 724 आशंसनमाशंसा आकाङ्क्षणमित्यर्थः । जीवितं च मरणं च जीवितमरणम्, जीवितमरणस्याशंसे जीवितमरणाशंसे । पूर्वसुहृत्सहपांसुक्रीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः । अनुभूत-

---

सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रतके पाँच अतिचार हैं ।।35।।

§ 722 जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है । सचित्तसे चेतना सहित द्रव्य लिया जाता है । इससे सम्बन्धको प्राप्त हुआ द्रव्य सम्बन्धाहार है । और इससे मिश्रित द्रव्य सम्मिश्र है । शंका—यह गृहस्थ सचित्तादिकमे प्रवृत्ति किस कारणसे करता है ? समाधान—प्रमाद और सम्मोहके कारण । द्रव, वृष्य और अभिषव इनका एक अर्थ है । जो ठीक तरहसे नही पका है वह दुःपक्व है । ये पाँचो शब्द आहारके विशेषण है या इनसे आहार पाँच प्रकारको हो जाता है । यथा—सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये सब भोगोपभोपरिसख्यान व्रतके पाँच अतिचार है ।

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथि-सविभाग व्रतके पाँच अतिचार हैं ।।36।।

§ 723. सचित्त कमलपत्र आदिमे रखना सचित्तनिक्षेप है । अपिधानका अर्थ ढाँकना है । इस शब्दको भी सचित्त शब्दसे जोड लेना चाहिए, जिससे सचित्त कमलपत्र आदिसे ढाँकना यह अर्थ फलित होता है । इस दानकी वस्तुका दाता अन्य है यह कहकर देना परव्यपदेश है । दान करते हुए भी आदरका न होना या दूसरे दाताके गुणोको न सह सकना मात्सर्य है । भिक्षा-काल के सिवा दूसरा काल अकाल है और उसमे भोजन कराना कालातिक्रम है । ये सब अतिथिसंविभाग शीलव्रतके पाँच अतिचार है ।

जीविताशंसा, मरणाशसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखनाके पाँच अतिचार हैं ।।37।।

§ 724 आशसाका अर्थ चाहना है । जीनेकी चाह करना जीविताशसा हैं और मरनेकी चाह करना मरणाशसा है । पहले मित्रोके साथ पासुक्रीडन आदि नाना प्रकारको क्रीडाएँ की रहीं उनका स्मरण करना मित्रानुराग हैं । अनुभवमे आये हुए विविध सुखोका पुनः-पुनः

---

1. -त्ति. स्यात् । प्रमा- मु. ।

प्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहार सुखानुबन्ध· । भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम् । त एते पञ्च सल्लेखनाया अतिचाराः ।

§ 725. अत्राह, उक्तं भवता[1] तीर्थकरत्वकारणकर्मास्रवनिर्देशे 'शक्तितस्त्यागतपसी' इति, पुनश्चोक्त शीलविधाने 'अतिथिसविभाग' इति । तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञात तदुच्यतामित्यत आह—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।।38।।

§ 726. स्वपरोपकारोऽनुग्रहः । स्वोपकार पुण्यसचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः । 'स्व'शब्दो धनपर्यायवचनः । अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गस्त्यागो दान वेदितव्यम् ।

§ 727 अत्राह—उक्त दान तत्किमविशिष्टफलमाहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत आह—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।।39।।

§ 728. प्रतिग्रहादिक्रमो विधि· । विशेषो गुणकृत । तस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः क्रियते—विधिविशेषो द्रव्यविशेषो दातृविशेषः पात्रविशेष इति । तत्र विधिविशेषः प्रतिग्रहादिष्वादरानादरकृतो भेदः । तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष । अनसूयाविषादादिर्दातृविशेषः ।

स्मरण करना सुखानुबन्ध है । भोगाकाक्षासे जिसमे या जिसके कारण चित्त नियमसे दिया जाता है वह निदान है । ये सब सल्लेखनाके पाँच अतिचार है ।

§ 725. तीर्थंकर पदके कारणभूत कर्मके आस्रवका कथन करते समय शक्तिपूर्वक त्याग और तप कहा, पुन शीलोका कथन करते समय अतिथिसविभागव्रत कहा परन्तु दानका लक्षण अभीतक ज्ञात नही हुआ, इसलिए दानका स्वरूप बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अनुग्रहके लिए अपनी वस्तुका त्याग करना दान है ।।38।।

§ 726 स्वय अपना और दूसरेका उपकार करना अनुग्रह है । दान देनेसे पुण्यका सचय होता है यह अपना उपकार है तथा जिन्हे दान दिया जाता है उनके सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि होती है यह परका उपकार है । सूत्रमे आये हुए स्वशब्दका अर्थ धन है । तात्पर्य यह है कि अनुग्रहके लिए जो धनका अतिसर्ग अर्थात् त्याग किया जाता है वह दान है ऐसा जानना चाहिए ।

§ 727 दानका स्वरूप कहा तब भी उसका फल एक-सा होता है या उसमे कुछ विशेषता है, यह बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

विधि, देय वस्तु, दाता और पात्रकी विशेषतासे उसकी विशेषता है ।।39।।

§ 728 प्रतिग्रह आदि करनेका जो क्रम है वह विधि है । विशेषता गुणसे आती है । इस विशेष शब्दको विधि आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड लेना चाहिए । यथा—विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष । प्रतिग्रह आदिकमे आदर और अनादर होनेसे जो भेद होता है वह विधिविशेष है । जिससे तप और स्वाध्याय आदिकी वृद्धि होती है वह द्रव्यविशेष है । अनसूया और विषाद आदिका न होना दाताकी विशेषता है । तथा मोक्षके कारणभूत गुणोसे युक्त रहना पात्रकी विशेषता है । जैसे पृथिवी आदिमे विशेषता होनेसे उससे उत्पन्न हुए

---

1. भगवता मु, ता ।

मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः । ततश्च पुण्यफलविशेषः क्षित्यादि[1]विशेषाद् बीजफलविशेषवत् ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसञ्ज्ञिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥7॥

बीजमें विशेषता आ जाती है वैसे ही विधि आदिककी विशेषतासे दानसे प्राप्त होनेवाले पुण्य फलमें विशेषता आ जाती है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥7॥

1. क्षेत्रादि– मु. ।

अथाष्टमोऽध्यायः

§ 729. व्याख्यात आस्रवपदार्थः । तदनन्तरोद्देशभाग्बन्धपदार्थ इदानीं व्याख्येयः । तस्मिन्व्याख्येये सति पूर्वं बन्धहेतूपन्यासः क्रियते; तत्पूर्वकत्वाद् बन्धस्येति—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।।1।।

§ 730. मिथ्यादर्शनादय उक्ताः । क्व ? मिथ्यादर्शनं तावदुक्तम्, 'तत्त्वार्थश्रद्धानं[1] सम्यग्दर्शनम्' इत्यत्र तत्प्रतिपक्षभूतम्, आस्रवविधाने च क्रियासु व्याख्यातं मिथ्यादर्शनक्रियेति । विरतिरुक्ता । तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या । आज्ञाव्यापादनक्रिया अनाकाङ्क्षाक्रियेत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावः । स च प्रमाद कुशलेष्वनादरः । कषायाः क्रोधादय अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पा प्रोक्ताः । क्व ? 'इन्द्रियकषाया' इत्यत्रैव । योगाः कायादिविकल्पाः प्रोक्ताः । क्व ? 'कायवाङ्मन कर्म योगः' इत्यत्र ।

§ 731. मिथ्यादर्शनं द्विविधम्; नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च । तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम् । परोपदेशनिमित्त चतुर्विधम्; क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिक[2]वैनयिकविकल्पात् । अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनम्—एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनम् [3]अज्ञानिकमिथ्यादर्शनं

---

§ 729. आस्रव पदार्थका व्याख्यान किया । अब उसके बाद कहे गये बन्ध पदार्थका व्याख्यान करना चाहिए । उसका व्याख्यान करते हुए पहले बन्धके कारणोका निर्देश करते हैं, क्योंकि बन्ध तत्पूर्वक होता है—

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं ।।1।।

§ 730. मिथ्यादर्शन आदिका व्याख्यान पहले किया जा चुका है। शंका—इनका व्याख्यान पहले कहाँ किया है ? 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रमे सम्यग्दर्शनका व्याख्यान किया है । मिथ्यादर्शन उसका उलटा है, अत इससे उसका भी व्याख्यान हो जाता है । या आस्रवका कथन करते समय पच्चीस क्रियाओमें मिथ्यादर्शनक्रियाके समय उसका व्याख्यान किया है । विरतिका व्याख्यान पहले कर आये हैं । उसकी उलटी अविरति लेनी चाहिए । प्रमादका अन्तर्भाव आज्ञाव्यापादनक्रिया और अनाकाक्षाक्रिया इन दोनोमे हो जाता है । अच्छे कार्योंके करनेमें आदरभावका न होना प्रमाद है । कषाय क्रोधादिक हैं जो अन्ततानुबन्धी, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और सज्वलनके भेदसे अनेक प्रकारकी है। इनका भी पहले कथन कर आये है । शंका–कहाँ पर ? समाधान—'इन्द्रियकषाया' इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय। तथा कायादिके भेदसे तीन प्रकारके योगका आख्यान भी पहले कर आये हे । शंका—कहाँ पर ? समाधान—'कायवाङ्मन कर्म योग' इस सूत्रमें ।

§ 731. मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक । इनमेसे जो परोपदेशके विना मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जीवादि पदार्थोका अश्रद्धानरूप भाव होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है । तथा परोपदेशके निमित्तसे होनेवाला मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक । अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकारका है—एकान्त

---

1. श्रद्धानं इत्यत्र आ, दि 1, दि. 2 । 2 –ज्ञानिवै– मु । 3. अज्ञानमिथ्या– मु. ।

चेति। तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। "पुरुष एवेद सर्वम्"[1] इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति। सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादि. विपर्यय। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः सशयः। सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्। हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्। उक्तं च—

"असिदिसद[2] किरियाण अक्किरियाण[3] तह य होइ चुलसीदी।
[4]सत्तट्ठमण्णाणीण वेणइयाण तु बत्तीस॥"

§ 732. अविरतिर्द्वादशविधाः; षट्कायषट्करणविषयभेदात्। षोडश कषाया नव नोकषाया[5]स्तेषामीषद्भेदो न भेद इति पंचविंशति कषाया। चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगाः पञ्च काययोगा इति त्रयोदशविकल्पो योगः। आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोः प्रमत्तसंयते संभवात्पञ्चदशापि[6] भवन्ति। प्रमादोऽनेकविध[7], शुद्ध्यष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्[8]। त एते पञ्च बन्धहेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा—मिथ्यादृष्टेः पंचापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः। संयतासंयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा प्रमादकषाययोगाश्च। प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः।

मिथ्यादर्शन, विपरीतमिथ्यादर्शन, सशयमिथ्यादर्शन, वैनयिकमिथ्यादर्शन और अज्ञानिक मिथ्यादर्शन। यही है, इसी प्रकारका है इस प्रकार धर्म और धर्मीमे एकान्तरूप अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे यह सब जग परब्रह्मरूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही है या नित्य ही हैं। सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपर्यय मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर क्या मोक्षमार्ग है या नही इस प्रकार किसी एक पक्षको स्वीकार नही करना सशय मिथ्यादर्शन है। सब देवता और सब मतोको एक समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। हिताहितकी परीक्षासे रहित होना अज्ञानिक मिथ्यादर्शन है। कहा भी है—"क्रियावादियोके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोके चौरासी, अज्ञानियोंके सडसठ और वैनयिकोके बत्तीस भेद हैं।

§ 732 छहकायके जीवोकी दया न करनेसे और छह इन्द्रियोके विषयभेदसे अविरति बारह प्रकारकी है।। सोलह कषाय और नौ नोकषाय ये पच्चीस कषाय है। यद्यपि कषायोसे नोकषायोमे थोडा भेद है पर वह यहाँ विवक्षित नही है, इसलिए सबको कषाय कहा है। चार मनोयोग, चार वचनयोग और पाँच काययोग ये योगके तेरह भेद है। प्रमत्तसयत गुणस्थानमे आहारक ऋद्धिधारी मुनिके आहारककाययोग और आहारक मिश्रकाययोग भी सम्भव है इस प्रकार योग पन्द्रह भी होते हैं। शुद्ध्यष्टक और उत्तम क्षमा आदि विषयक भेदसे प्रमाद अनेक प्रकारका है। इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचो मिलकर या पृथक्-पृथक् बन्धके हेतु हैं। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि जीवके पाँचो ही मिलकर बन्धके हेतु है। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टिके अविरति आदि चार बन्धके हेतु हैं। सयतासयतके विरति और अविरति ये दोनो मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं। प्रमत्तसंयतके प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्धके हेतु है। अप्रमत्तसयत आदि चारके

---

1. इति वा नित्यमेवेति मु, दि 1, दि 2, आ.। 2 गो कर्म, गा 876। 3 —याण च होइ मु। 4. सत्तच्छण्णा—मु 5 —षाया ईषद्भे- दि 1, दि 2, आ। 6 —दश भवन्ति आ, दि. 1, दि 2। 7 —नेकविध पचसमितित्रिगुप्तिशुद्ध्य— मु, आ, दि 1, दि 2। 8. —भेदात्। शुद्ध्यष्टकस्यार्थः भावकायविनयेर्यापथभिक्षाप्रतिष्ठापनशयनासनवाक्यशुद्धयोऽष्टौ दशलक्षणो धर्मश्च। त एते मु., आ., दि. 1, दि. 2।

अप्रमत्तादीनां चतुर्णां योगकषायौ। उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेक एव योगः। अयोगकेवलिनो न बन्धहेतुः।

§ 733 उक्ता बन्धहेतवः। इदानीं बन्धो वक्तव्य इत्यत आह—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥2॥

§ 734 सह कषायेण वर्तत इति सकषायः। सकषायस्य भावः सकषायत्वम्। तस्मात्सकषायत्वादिति। पुनर्हेतुनिर्देशः[1] जठराग्न्याशयानुरूपाहारग्रहणवत्तीव्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपस्थित्यनुभवविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्[2]। अमूर्तिरहस्त आत्मा कथं कर्मादत्त इति चोदितः सन् 'जीव' इत्याह। जीवनाज्जीवः प्राणधारणादायुःसंबन्धान्नायुर्विरहादिति। 'कर्मयोग्यान्' इति लघुनिर्देशात्सिद्धे 'कर्मणो योग्यान्' इति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम्। किं पुनस्तद्वाक्यान्तरम्? कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकं वाक्यम्। एतदुक्तं भवति—'कर्मणः' इति हेतुनिर्देशः कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति, नाकर्मस्य कषायलेपोऽस्ति। ततो जीवकर्मणोरनादिसंबन्ध इत्युक्तं भवति। तेनामूर्तो जीवो मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यते इति चोद्यमपाकृतं भवति। इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे आत्यन्तिकीं शुद्धिं दधतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत। द्वितीयं वाक्यं 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति। अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति पूर्वहेतुसंबन्धं त्यक्त्वा षष्ठीसंबन्धमुपैति 'कर्मणो योग्यान्' इति। 'पुद्गल'वचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम्[3]।

योग और कषाय ये दो बन्धके हेतु हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इनके एक योग ही बन्धका हेतु है। अयोगकेवलीके बन्धका हेतु नहीं है।

§ 733. बन्धके हेतु कहे। अब बन्धका कथन करना चाहिए इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता

§ 734. कषायके साथ रहता है इसलिए सकषाय कहलाता है सकषायत्व है। इससे अर्थात् सकषाय होनेसे। यह हेतुनिर्देश है। जिस रूप आहारका ग्रहण होता है उसी प्रकार तीव्र, मन्द और मध्यम कषाय और अनुभाग होता है। इस प्रकार इस विशेषताका ज्ञान करानेके लि इस पदद्वारा पुनः हेतुका निर्देश किया है। अमूर्ति और बिना हाथव ग्रहण करता है इस प्रश्नका उत्तर देनेके अभिप्रायसे सूत्रमें 'जीव' पद व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जीवनाज्जीवः—जो जीता है अर्थात् जो प्राणोंको आयुका सद्भाव है, आयुका अभाव नहीं है वह जीव है। सूत्रमें 'कर्मय निर्देश करनेसे काम चल जाता फिर भी 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार पृ वाक्यान्तरका ज्ञान करानेके लिए किया है। वह वाक्यान्तर क्या है? भवति' यह एक वाक्य है। इसका यह अभिप्राय है कि 'कर्मण' यह हेतु अर्थ है कि कर्मके कारण जीव कषायसहित होता है। कर्मरहित जीवके न इससे जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है यह कथन निष्पन्न होता है। मूर्त कर्मके साथ कैसे बँधता है इस प्रश्नका निराकरण हो जाता है मानने पर आत्यन्तिक शुद्धिको धारण करनेवाले सिद्ध जीवके समान अभाव प्राप्त होता है। 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' यह दूसरा अनुसार विभक्ति बदल जाती है इसलिए पहले जो हेत्वर्थमें विभक्ति

---

1. -निर्देश किमर्थम्? जठ- मु., दि. 1। 2. -त्यर्थं। अमूर्त आत्मा आ., मु.। 3

तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति; तस्य संसारहेतुत्वानुपपत्तेः । 'आदत्ते' इति हेतुहेतुमद्भावख्यापनार्थम् । अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात्तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते । यथा भाजनविशेषे[1] प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः । 'सः'वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम । स एष बन्धो नान्योऽस्तीति । तेन गुणगुणिबन्धो निवर्तितो भवति । कर्मादिसाधनो बन्ध'-शब्दो व्याख्येयः ।

§ 735. आह किमयं बन्ध एकरूप एव, आहोस्वित्प्रकारा अप्यस्य सन्तीत्यत इदमुच्यते—

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥3॥

§ 736 प्रकृतिः स्वभावः । निम्बस्य का प्रकृतिः ? तिक्तता । गुडस्य का प्रकृतिः ? मधुरता । तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः ? अर्थानवगमः । दर्शनावरणस्य का प्रकृतिः ? अर्थानालो-

---

योग्यान्' इस प्रकार षष्ठी अर्थको प्राप्त होती है । सूत्रमे 'पुद्गल' पद कर्मके साथ तादात्म्य दिखलानेके लिए दिया है । इससे अदृष्ट आत्माका गुण है इस बातका निराकरण हो जाता है, क्योकि उसे आत्माका गुण मानने पर वह ससारका कारण नही बन सकता । सूत्रमें 'आदत्ते' पद हेतुहेतुमद्भावका ख्यापन करनेके लिए दिया है । इससे मिथ्यादर्शन आदिके अभिनिवेशवश गीले किये गये आत्माके सब अवस्थाओमे योग विशेषसे उन सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभावको प्राप्त होने योग्य पुद्गलोका उपश्लेष होना बन्ध है यह कहा गया है । जिस प्रकार पात्रविशेषमे प्रक्षिप्त हुए विविध रसवाले बीज, फूल और फलोंका मदिरारूपसे परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मामें स्थित हुए पुद्गलोका भी योग और कषायके निमित्तसे कर्मरूपसे परिणमन जानना चाहिए । सूत्रमे 'स.' पद अन्यका निराकरण करनेके लिए दिया है कि यह बन्ध है अन्य नही । इससे गुणगुणीबन्धका निराकरण हो जाता है । यहाँ 'बन्ध' शब्दका कर्मादि साधनमे व्याख्यान कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे मुख्यरूपसे बन्धकी व्याख्या की गयी है । जीव द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व होते हुए भी अनादि कालसे वह कर्मोके अधीन हो रहा है जिससे उसे नर नारक आदि नाना गतियोमे परिभ्रमण करना पडता हैं । प्रश्न यह है कि जीव कर्मोके अधीन क्यों होता है और उन कर्मोका स्वरूप क्या है ? प्रकृत सूत्रमे इन दोनों प्रश्नोंका समर्पक उत्तर दिया गया है । सूत्रमे बतलाया गया है कि कर्मोके कारण जीव कषायाविष्ट होता है और इससे उसके कर्मके योग्य पुद्गलोका उपश्लेष होता है । यही बन्ध है । इससे दो बाते फलित होती हैं । प्रथम तो यह कि कर्मके निमित्तसे जीवमे अशुद्धता आती है और इस अशुद्धताके कारण कर्मका बन्ध होता है और दूसरी यह कि जीव और कर्मका यह बन्ध परम्परासे अनादि है । इस प्रकार बन्ध क्या है और वह किस कारणसे होता है यह बात इस सूत्रसे जानी जाती है ।

§ 735 यह बन्ध क्या एक है या इसके भेद हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार भेद हैं ॥3॥

§ 736. प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है । जिस प्रकार नीमकी क्या प्रकृति है ? कड़ुआपन । गुडकी क्या प्रकृति है ? मीठापन । उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति है ? अर्थका

---

1. –शेषे क्षिप्ता–मु ।

कनम्। वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम्। दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। चारित्रमोहस्यासंयमः। आयुषो भवधारणम्। नाम्नो नारकादिनामकरणम्। गोत्रस्योच्चैर्नीचैः-स्थानसंशब्दनम्। अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम्। तदेवंलक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः। तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। यथा—अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावाद-प्रच्युतिः स्थितिः। तथा ज्ञानावरणादीनामर्थावगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तद्रसविशेषोऽनु-भवः यथा—अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः। तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। इयत्तावधारणं प्रदेशः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणु-परिच्छेदेनावधारणं प्रदेशः। 'विधि'-शब्दः प्रकारवचनः। त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारस्तस्य बन्धस्य प्रकाराः। तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ। कषायनिमित्तौ स्थित्यनुभवौ। तत्प्रकर्षाप्रकर्षभेदात्तद्-बन्धविचित्रभावः। तथा चोक्तम्—

> "जोगा[1] पयडि-पएसा ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि।
> अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि॥"

ज्ञान न होना। दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति है? अर्थका आलोकन नहीं होना। सुख-दुःखका संवेदन कराना साता और असाता वेदनीयकी प्रकृति है। तत्त्वार्थका श्रद्धान न होने देना दर्शन-मोहकी प्रकृति है। असंयमभाव चारित्रमोहकी प्रकृति है। भवधारण आयु कर्मकी प्रकृति है। नारक आदि नामकरण नामकर्मकी प्रकृति है। उच्च और नीच स्थानका संशब्दन गोत्र कर्मकी प्रकृति है तथा दानादिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मकी प्रकृति है। इस प्रकारका कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है। जिसका जो स्वभाव है उससे च्युत न होना स्थिति है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका माधुर्यस्वभावसे च्युत न होना स्थिति है उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंका अर्थका ज्ञान न होने देना आदि स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है। इन कर्मोंके रसविशेषका नाम अनुभव है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका अलग-अलग तीव्र मन्द आदि रूपसे रसविशेष होता है उसी प्रकार कर्म-पुद्गलोंका अलग अलग स्वगत सामर्थ्यविशेष अनुभव है। तथा इयत्ताका अवधारण करना प्रदेश है। अर्थात् कर्मरूपसे परिणत पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओंकी जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है। 'विधि' शब्द प्रकारवाची है। ये प्रकृति आदिक चार उस बन्धके प्रकार हैं। इनमें से योगके निमित्तसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषायके निमित्तसे स्थिति-बन्ध और अनुभवबन्ध होता है। योग और कषायमें जैसा प्रकर्षाप्रकर्षभेद होता है उसके अनु-सार बन्ध भी नाना प्रकारका होता है। कहा भी है—'यह जीव योगसे प्रकृति और प्रदेश बन्ध-को तथा कषायसे स्थिति और अनुभाग बन्धको करता है। किन्तु जो जीव योग और कषायरूप-से परिणत नहीं है और जिनके योग और कषायका उच्छेद हो गया है उनके कर्मबन्धकी स्थिति-का कारण नहीं पाया जाता।'

विशेषार्थ—इस सूत्रमें बन्धके चार भेदोंका निर्देश किया है। साम्परायिक आस्रवसे जो भी कर्म बँधता है उसे हम इन चार रूपोंमें देखते हैं। बँधे हुए कर्मका स्वभाव क्या है, स्थिति कितनी है, अपने स्वभावानुसार वह न्यूनाधिक कितना काम करेगा और आत्मासे कितने प्रमाण-में व किस रूपमें वह बन्धको प्राप्त होता है। यहीं वे चार प्रकार हैं। कर्मके इन चार प्रकारों-की हीनाधिकता के मुख्य कारण दो हैं—योग और कषाय। योगके निमित्तसे प्रकृतिबन्ध के साथ कमअधिक प्रदेशबन्ध होता है तथा कषायके निमित्तसे कम अधिक स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध

---

1. मूला. 5/47। पंचसं. 4, 507। गो. क., गा 257।

§ 737. तत्राद्यस्य प्रकृतिबन्धस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।।4।।

§ 738. आद्यः प्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणाद्यष्टविकल्पो वेदितव्यः। आवृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा आवरणम्। तत्प्रत्येकमभिसंबध्यते—ज्ञानावरणं दर्शनावरणमिति। वेदयति वेद्यत इति वा वेदनीयम्। मोहयति [1]मोह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्। एत्यनेन नारकादिभवमित्यायुः। नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम। उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यत इति वा गोत्रम्। दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेतीत्यन्तराय। एकेनात्मपरिणामेनादीयमाना पुद्गला ज्ञानावरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते सकृ[2]दुपभुक्तान्नपरिणामरसरुधिरादिवत्।

होता है। इसका अर्थ है कि जहाँ योग और कषाय नहीं हैं वहाँ कर्मबन्ध भी नहीं है। कषाय दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें जीव कषायरूपसे परिणत नहीं होता और बारहवें गुणस्थानमें उसका उच्छेद अर्थात् अभाव है, इसलिए इस जीवके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है। आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें यद्यपि सातावेदनीयका बन्ध होता है पर वहाँ कषाय न होनेसे उसका प्रकृति और प्रदेशबन्ध ही होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि इन गुणस्थानोंमें सातावेदनीयका बिना स्थितिके बन्ध होता है तो उसका आत्माके साथ अवस्थान कैसे होगा और यदि बिना अनुभागसे बन्ध होता है तो उसका विपाक सातारूप कैसे होगा? समाधान यह है कि इन गुणस्थानोंमें ईर्यापथ आस्रव होनेसे कर्म आते हैं और चले जाते हैं। उनका दो, तीन आदि समय तक अवस्थान नहीं होता। इसलिए तो यहाँ स्थितिबन्धका निषेध किया है और अनुभाग भी कषायके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले अनुभागसे यहाँ प्राप्त होनेवाला अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है, इसलिए यहाँ कषायके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले अनुभागबन्धका भी निषेध किया है। योग तेरहवें और कषाय दसवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए स्थिति और अनुभागबन्ध दसवें तक और प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तेरहवें तक होते हैं। अयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव है इसलिए वहाँ किसी प्रकारका भी बन्ध नहीं होता। इस प्रकार यहाँ बन्धके भेद और उनके कारणोंका विचार किया।

§ 737 अब प्रकृतिबन्धके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप है ।।4।।

§ 738 आदिका प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरणादि आठ प्रकारका जानना चाहिए। जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। वह प्रत्येकके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है यथा—ज्ञानावरण और दर्शनावरण। जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है वह वेदनीय कर्म है। जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। जिसके द्वारा नारक आदि भवको जाता है वह आयुकर्म है। जो आत्माको नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नामकर्म है। जिसके द्वारा जीव उच्च नीच गूयते अर्थात् कहा जाता है वह गोत्र कर्म है। जो दाता और देय आदिका अन्तर करता है अर्थात् बीचमें आता है वह गोत्र कर्म है। एक बार खाये गये अन्नका जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूपसे अनेक प्रकारका परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्म-परिणामके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेदोंको प्राप्त होते हैं।

---

1. मुह्यते इति मु। 2. -दुपयुक्ता- आ, दि. 1, दि. 2 ता., ना.।

§ 739. आह, उक्तो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः। इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धो वक्तव्य इत्यत आह—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥5॥

§ 740 द्वितीयग्रहणमिह कर्तव्य, द्वितीय उत्तरप्रकृतिबन्ध एवंविकल्प इति ? न कर्तव्यम्; पारिशेष्यात्सिद्धेः। आद्यो [1]मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविकल्प उक्तः। ततः पारिशेष्यादयमुत्तरप्रकृतिविकल्पविधिर्भवति। 'भेद'शब्दः पञ्चादिभिर्यथाक्रममभिसबध्यते—पञ्चभेदं ज्ञानावरणीयं नवभेदं दर्शनावरणीयं द्विभेदं वेदनीयं अष्टाविंशतिभेदं मोहनीयं चतुर्भेदमायुः द्विचत्वारिंशद्भेद नाम द्विभेदं गोत्रं पंचभेदोऽन्तराय इति।

§ 741. यदि ज्ञानावरणं पचभेदं तत्प्रतिपत्तिरुच्यतामित्यत आह—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥6॥

§ 742. मत्यादीनि ज्ञानानि व्याख्यातानि। तेषामावृतेरावरणभेदो भवतीति पचोत्तरप्रकृतयो वेदितव्याः। अत्र चोद्यते—अभव्यस्य मनःपर्ययज्ञानशक्तिः केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा। यदि स्यात् तस्याभव्यत्वाभावः। अथ नास्ति तत्रावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति ? उच्यते—आदेशवचनान्न दोष। द्रव्यार्थादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिसभवः। पर्यायार्थादेशात्तच्छक्त्यभावः। यद्येवं भव्याभव्यविकल्पो नोपपद्यते; उभयत्र तच्छक्तिसद्भावात् ? न शक्तिभावाभावा-

§ 739. मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका कहा। अब उत्तर प्रकृतिबन्धका कथन करते हैं—

आठ मूल प्रकृतियोंके अनुक्रमसे पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच भेद हैं ॥5॥

§ 740. **शंका**—यहाँ द्वितीय पदका ग्रहण करना चाहिए, जिससे मालूम पडे कि द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्ध इतने प्रकारका है ? **समाधान**—नही करना चाहिए, क्योकि पारिशेष्य न्यायसे उसकी सिद्धि हो जाती है। आदिका मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका कह आये है, इसलिए पारिशेष्य न्यायसे ये उत्तर प्रकृतिबन्धके भेद समझने चाहिए। भेद शब्द पाँच आदि शब्दोंके साथ यथाक्रमसे सम्बन्धको प्राप्त होता है। यथा—पाँच भेदवाला ज्ञानावरण, नौ भेदवाला दर्शनावरण, दो भेदवाला वेदनीय, अट्ठाईस भेदवाला मोहनीय, चार भेदवाला आयु, ब्यालीस भेदवाला नाम, दो भेदवाला गोत्र और पाँच भेदवाला अन्तराय।

§ 741. यदि ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकारका है, तो उसका ज्ञान कराना है, अत आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनको आवरण करनेवाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं ॥6॥

§ 742. मति आदि ज्ञानोका व्याख्यान कर आये हैं। उनका आवरण करनेसे आवरणोमे भेद होता है, इसलिए ज्ञानावरण कर्मकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ जानना चाहिए। **शंका**—अभव्य जीवके मन.पर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति होती है या नही होती। यदि होती है तो उसके अभव्यपना नही बनता। यदि नही होती है तो उसके उक्त दो आवरण-कर्मोंकी कल्पना करना व्यर्थ है ? **समाधान**—आदेश वचन होनेसे कोई दोष नही है। अभव्यके द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मन.पर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उसके उसका

1. मूलः प्रकृ— मु.।

पेक्षया भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते। कुतस्तर्हि? व्यक्तिसद्भावासद्भावापेक्षया। सम्यग्दर्शनादि-भिर्व्यक्तिर्यस्य भविष्यति स भव्यः। यस्य तु न भविष्यति सोऽभव्य इति। कनकेतरपाषाणवत्।

§ 743. आह, उक्तो ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिविकल्पः। इदानीं दर्शनावरणस्य वक्तव्य इत्यत आह—

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥7॥

§ 744. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानामिति दर्शनावरणापेक्षया भेदनिर्देशः—चक्षुर्दर्शनावरण-मचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति। मदखेदक्लमविनोदनार्थः स्वापो निद्रा।

अभाव है। शंका—यदि ऐसा है तो भव्याभव्य विकल्प नहीं बन सकता है क्योंकि दोनोंके मनः-पर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है? समाधान—शक्तिके सद्भाव और असद्भाव-की अपेक्षा भव्याभव्य विकल्प नहीं कहा गया है। शंका—तो किस आधारसे यह विकल्प कहा गया है? समाधान—व्यक्तिकी सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा यह विकल्प कहा गया है। जिसके कनक पाषाण और इतर पाषाणकी तरह सम्यग्दर्शनादि रूपसे व्यक्ति होगी वह भव्य है और जिसके नहीं होगी वह अभव्य है।

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञानावरण कर्मके पाँच उत्तर-भेदोंका निर्देश किया गया है। मूलमें ज्ञान एक है। उसके ये पाँच भेद आवरणकी विशेषतासे प्राप्त होते हैं। धवला टीकामें इस विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए सूर्य और मेघपटलका उदाहरण दिया गया है। वहाँ बतलाया है कि जिस प्रकार अति सघन मेघपटल सूर्यको आच्छादित करते हैं तो भी अतिमन्द सूर्य किरणें मेघपटलमेंसे प्रस्फुटित होती रहती हैं उसी प्रकार केवलज्ञानावरण कर्मके आवृत होनेपर भी कुछ न कुछ ज्ञानांश प्रस्फुटित होता रहता है और उसीको आवृत करनेसे चार उत्तर आवरण कर्म प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कुल ज्ञानावरण कर्म पाँच हैं जो भव्य और अभव्य दोनोंके पाये जाते हैं। शास्त्रमें भव्य और अभव्य संज्ञा बन्ध विशेषकी अपेक्षा से दी गयी है। जीवके ये भेद इसी अपेक्षासे जानने चाहिए। इन भेदोंका अन्य कोई निमित्त नहीं है। बन्ध दो प्रकारका होता है—एक बन्ध वह जो सन्तानकी अपेक्षा अनादि अनन्त होता है और दूसरा वह जो अनादि सान्त होता है। जिन जीवोंके कर्मका अनादि-अनन्त बन्ध होता है वे अभव्य कहलाते हैं और जिनके अनादिसान्त बन्ध होता है वे भव्य माने गये हैं। इसलिए शक्ति सब जीवोंके एक-सी होकर भी उसके व्यक्त होनेमें अन्तर हो जाता है। शास्त्रमें इस भेदको समझानेके लिए कनक-पाषाण और अन्धपाषाण उदाहरणरूपसे उपस्थित किये गये हैं सो इस दृष्टान्तसे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। इस प्रकार ज्ञानावरण कर्मके पाँच भेद क्यों हैं इस बातका खुलासा किया।

§ 743. ज्ञानावरण कर्मके उत्तर प्रकृतिविकल्प कहे। अब दर्शनावरण कर्मके कहने चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारोंके चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्रादिक ऐसे नौ दर्शनावरण हैं ॥7॥

§ 744. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलका दर्शनावरणकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है; यथा—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण। मद, खेद

---

1. —नादिर्व्यक्ति— आ., दि. 1, दि. 2, ता.।

तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा । या क्रियात्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकश्रममदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविक्रियासूचिका । सैव पुन.पुनरावर्तमाना[1] प्रचलाप्रचला । स्वप्ने[2] यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः । स्त्यायतेरनेकार्थत्वात्स्वप्नार्थ इह गृह्यते, गृद्धेरपि दीप्ति' । स्त्याने स्वप्ने गृद्धयति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धि. । इह निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसंबध्यते—निद्रादर्शनावरण निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि ।

§ 745. तृतीयस्या प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिप्रतिपादनार्थमाह—

सदसद्वेद्ये ॥8॥

§ 746. यदुदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्[1]। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति । यत्फलं दु.खमनेकविध तदसद्वेद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति ।

और परिश्रमजन्य थकावटको दूर करनेके लिए नीद लेना निद्रा है । इसकी उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होना निद्रानिद्रा है । जो शोक, श्रम और मद आदिके कारण उत्पन्न हुई है और जो बैठे हुए प्राणीके भी नेत्र, गात्रकी विक्रियाकी सूचक है ऐसी जो क्रिया आत्माको चलायमान करती है वह प्रचला है । तथा उसकी पुन-पुन आवृत्ति होना प्रचलाप्रचला है । जिसके निमित्तसे स्वप्नमे वीर्यविशेषका आविर्भाव होता है वह स्त्यानगृद्धि है । 'स्त्यायति' धातुके अनेक अर्थ हैं । उनमेसे यहाँ स्वप्न अर्थ लिया है और 'गृद्धि' दीप्यते जो स्वप्नमे प्रदीप्त होती है वह 'स्त्यानगृद्धि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'स्त्याने स्वप्ने' गृद्धयति धातुका दीप्ति अर्थ लिया गया है। अर्थात् जिसके उदयसे रौद्र बहु कर्म करता है वह स्त्यानगृद्धि है । यहाँ निद्रादि पदोके साथ दर्शनावरण पदका समानाधिकरणरूपसे सम्बन्ध होता है यथा—निद्रादर्शनावरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण आदि ।

विशेषार्थ—यहाँ दर्शनावरण कर्मके नौ भेद गिनाये है । दर्शनके कुल भेद चार हैं उनकी अपेक्षा प्रारम्भके चार भेद गिनाये है । निद्रादिक सामान्य आवरण कर्म हैं पर ससारी जीवके पहले दर्शनोपयोग होता है और ये निद्रादिक उस उपयोगमे बाधक हैं इसलिए इन निद्रा आदि पाँच कर्मोकी दर्शनावरणके भेदोमे परिगणना की जाती है । इससे दर्शनावरण कर्मके नौ भेद सिद्ध होते है ।

§ 745 तृतीय प्रकृतिकी उत्तर प्रकृतियोको बतलाने के लिए कहते हैं—

सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय हैं ॥8॥

§ 746 जिसके उदयसे देवादि गतियोमे शरीर और मनसम्बन्धी सुखकी प्राप्ति होती है वह सद्वेद्य है । प्रशस्त वेद्यका नाम सद्वेद्य है । जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके दु ख मिलते हैं वह असद्वेद्य है । अप्रशस्त वेद्यका नाम असद्वेद्य है ।

विशेषार्थ—यहाँ वेदनीय कर्मके दो भेद गिनाये है । यह जीवविपाकी कर्म है । जीवका साता और असातारूप परिणाम इसके उदयके निमित्तसे होता है । अन्य बाह्य सामग्रीको इसका फल कहा है पर वह उपचार कथन है । वस्तुतः बाह्य सामग्री साता और असाताके उदयमे निमित्त है, इसलिए बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति वेदनीय कर्मका फल उपचारसे माना जा सकता है। देवगति, नरकगति और भोगभूमिमे बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका कारण तत्तत्पर्यायकी लेश्या है और कर्मभूमिमे बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके अनेक कारण हैं । इस प्रकार वेदनीय कर्मके दो भेद और उनका कार्य जानना चाहिए ।

---

1 —वर्त्यमाना आ, दि. 1, दि. 2 । 2 स्वप्नेऽपि यया मु, ता, दि 1, दि 2 ।

§ 747 चतुर्थ्याः प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिविकल्पनिदर्शनार्थमाह—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्न-पुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥9॥

§ 748 दर्शनादयश्चत्वारः त्र्यादयोऽपि[1]। तत्र यथासंख्येन संबन्धो भवति—दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम्, चारित्रमोहनीय द्विभेदम्, अकषायवेदनीयं नवविधम्, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति।

§ 749 तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम्—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं तदुभयमिति। तद् बन्धं प्रत्येकं भूत्वा सत्कर्मापेक्षया त्रिधा व्यवतिष्ठते। तत्र यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मन श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमान पुरुष सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात्क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत्सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्रवौ[2]दनोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणाम।

---

§ 747 अब चौथी मूल प्रकृतिके उत्तर प्रकृति विकल्प दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषाय वेदनीय इनके क्रमसे तीन, दो, नौ और सोलह भेद है। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकपायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो चारित्र-मोहनीय है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पु वेद और नपु सकवेद ये नौ अकषायवेदनीय हैं। तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे सोलह कषायवेदनीय है ॥9॥

§ 748 दर्शन आदिक चार हैं और तीन आदिक भी चार है। वहाँ इनका यथाक्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—दर्शनमोहनीय तीन प्रकारका है, चारित्रमोहनीय दो प्रकारका है, अकषायवेदनीय नौ प्रकारका है और कषायवेदनीय सोलह प्रकारका है।

§ 749 उनमे-से दर्शनमोहनीयके तीन भेद ये है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय। वह बन्धकी अपेक्षा एक होकर सत्कर्मकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। इन तीनोमे-से जिसके उदयसे यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख, तत्त्वार्थोके श्रद्धान करनेमे निरुत्सुक, हिताहितका विचार करनेमे असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। वही मिथ्यात्व जब शुभ परिणामोके कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीनरूपसे अवस्थित रहकर आत्माके श्रद्धानको नही रोकता है तब सम्यक्त्व है। इसका वेदन करनेवाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेषके कारण क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोके समान अर्धशुद्ध स्वरसवाला होनेपर तदुभय कहा जाता है। इसीका दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यात्व है। इसके उदयसे अर्धशुद्ध मदशक्तिवाले कोदो और ओदनके उपयोगसे प्राप्त हुए मिश्र परिणामके समान उभयात्मक परिणाम होता है।

---

1 —त्र्यादयोऽपि चत्वार। तत्र मु., ता., ना.। 2 —कोद्रवोपयो— मु.।

§ 750. चारित्रमोहनीयं द्विधा; अकषायकषायभेदात् । ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति । अकषायवेदनीय नवविधम् । कुत. । हास्यादिभेदात् । यस्योदयाद्धास्याविर्भावस्तद्धास्यम् । यदुदया[1]द्देशादिष्वौत्सुक्य सा रति. । अरतिस्तद्विपरीता । यद्विपाकाच्छोचन स शोक । यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम् । यदुदयादात्मदोषसंवरण [2]परदोषाविष्करणं सा जुगुप्सा । यदुदयात्स्त्रैणा[1]न्भावान्प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः । यस्योदयात्पौंस्नान्भावानास्कन्दति स पु वेद । यदुदयान्नापु सकान्भावानुपव्रजति स नपु सकवेदः ।

§ 751. कषायवेदनीय षोडशविधम् । कुत. । अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् । तद्यथा -- कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तेषां चतस्रोऽवस्थाः—अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति । अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् । तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन. क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्देशविरति सयमासयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणा. क्रोधमानमायालोभा. । यदुदयाद्विरति कृत्स्नां सयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यानमावृण्वन्त प्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । समेकीभावे वर्तते । सयमेन सहावस्थानादेकीभूय[1] ज्वलन्ति सयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति सज्वलना. क्रोधमानमायालोभा. । त एते समुदिता सन्त. षोडश कषाया भवन्ति ।

---

§ 750 चारित्रमोहनीय दो प्रकारका है—अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय । यहाँ ईषद् अर्थात् किंचित् अर्थमे 'नञ्' का प्रयोग होनेसे किंचित् कषायको अकषाय कहा है । हास्य आदिके भेदसे अकषायवेदनीयके नौ भेद है । जिसके उदयसे हँसी आती है वह हास्य है । जिसके उदयसे देश आदिमे उत्सुकता होती है वह रति है । अरति इससे विपरीत है । जिसके उदयसे शोक होता है वह शोक है । जिसके उदयसे उद्वेग होता है वह भय है । जिसके उदयसे आत्म-दोषोका सवरण और परदोषोका आविष्करण होता है वह जुगुप्सा है । जिसके उदयसे स्त्रीसम्बन्धी भावोको प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है । जिसके उदयसे पुरुषसम्बन्धी भावोको प्राप्त होता है वह पु वेद है और जिसके उदयसे नपु सकसम्बन्धी भावोको प्राप्त होता है वह नपु सकवेद है ।

§ 751. अनन्तानुबन्धी आदिके विकल्पसे कषायवेदनीयके सोलह भेद है । यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय हैं । इनकी चार अवस्थाएँ है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन । अनन्त ससारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है तथा जो कषाय उसके अर्थात् अनन्तके अनुबन्धी है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ है । जिनके उदयसे जिसका दूसरा नाम सयमासयम है ऐसी देशविरतिको यह जीव स्वल्प भी करनेमे समर्थ नही होता है वे देशप्रत्याख्यानको आवृत करनेवाले अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया और लोभ हैं । जिनके उदयसे सयम नामवाली परिपूर्ण विरतिको यह जीव करनेमे समर्थ नही होता है वे सकल प्रत्याख्यानको आवृत करनेवाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ है । 'स' एकीभाव अर्थमे रहता है । सयमके साथ अवस्थान होनेमे एक होकर जो ज्वलित होते है अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भावमे सयम चमकता रहता है वे सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ हैं । ये सब मिलकर सोलह कषाय होते हैं ।

आदिक तीन भेद है। मिथ्यात्व समीचीन दर्शनका प्रतिपक्ष कर्म है। यह जीव अनादि कालमे मिथ्यादृष्टि हो रहा है। इसे योग्य द्रव्यादिकका निमित्त मिलनेपर ही समीचीन दर्शनका श्रद्धान होता है। सर्वप्रथम यह श्रद्धान इसके प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व कर्मके उपशमसे ही होता है। साधारणत: ससारमे रहनेका काल जब अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण शेष रहता है तब यह होता है इसके पहले नही होता। इतने कालके शेष रहने पर होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नही है। इससे भी कम कालके शेष रहने पर यह हो सकता है। इसका नाम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है समीचीन दर्शन। जैनदर्शनके अनुसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेवाला और आत्मदर्शन करानेवाला दर्शन समीचीन दर्शन माना गया है। जब इस प्रकारका सम्यग्दर्शन होता है तब इस दर्शनका प्रतिपक्षभूत कर्म तीन भागोमें विभक्त हो जाता है। जिनके नाम मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व होते है। प्रथमका यही नाम है। दूसरा और तीसरा अपने नामानुसार काम करते है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व मिश्र परिणामके होनेमे निमित्त होता है और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व समीचीन दर्शनरूप परिणामको सदोष बनानेमे निमित्त होता है। इस प्रकार एक मिथ्यात्व कर्म सम्यक्त्वका निमित्त पाकर तीन भागों मे विभक्त हो जाता है, इसलिए बन्धकी अपेक्षा दर्शनमोहनीय एक होकर भी सत्ताकी अपेक्षा वह तीन प्रकारका माना गया है। मोहनीयका दूसरा भेद चारित्रमोहनीय है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेवाला दर्शन ही सम्यग्दर्शन है यह हम पहले बतला आये हैं। अत. हमारा इस दर्शनके अनुरूप जो आचार होता है वही सदाचार माना जा सकता है, अन्य नही। यही कारण है कि जैनदर्शनके अनुसार स्वावलम्बनके अनुरूप आचारको ही सदाचार कहा गया है। इसी सदाचारका दूसरा नाम सच्चारित्र है। जो कर्म इस सच्चारित्रके होनेमे बाधक होता है उसे ही आगममे चारित्रमोहनीय कहा है। इसके मूल भेद दो हैं—कपायवेदनीय और अकपायवेदनीय। अकषायवेदनीय देशघाति कर्म होनेसे यह सम्यक् चारित्रकी प्राप्तिमे बाधक नही है। कषायवेदनीयके चार भेद है। उनमे-से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके अनुरूप स्वावलम्बनकी धाराका जीवनमे महत्त्व प्रस्थापित नही होने देता। इसीसे इसे अनन्त अर्थात संसारका कारण कहा है। व्यक्तिस्वातन्त्र्य और स्वावलम्बनका अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवनमे व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा होनेपर स्वावलम्बनका महत्त्व अपने आप समझमे आने लगता है। यह नही हो सकता कि कोई व्यक्ति अपने जीवनमे व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा तो करे पर उसकी प्राप्तिके लिए जीवनको परावलम्बी बनाये रखनेकी ओर उसका झुकाव हो। यही कारण है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कको अनन्तका अनुबन्धी माना गया है। इस प्रकार जीवनमे व्यक्तिस्वातन्त्र्य और तदनुरूप स्वावलम्बनके प्रति अभिरुचि हो जानेपर व्यक्ति पूर्ण स्वावलम्बी बननेके लिए उद्यत होता है। किन्तु अनादिकालीन परतन्त्रताओका वह युगपत् त्याग नही कर सकता, इसलिए जैसी-जैसी अन्त शुद्धि होती जाती है तदनुरूप वह स्वावलम्बी बनता जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्तिके जीवनमे व्यक्तिस्वातन्त्र्य और उसके मार्ग स्वावलम्बनके प्रति पूर्ण श्रद्धाके होनेपर भी वह उसे जीवनमे उतारनेमे अपनेको असमर्थ पाता है। इसका कारण जहाँ जीवनकी भीतरी कमजोरी माना गया है वहाँ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इस दशाके बनाये रखनेमें निमित्त है। यही कारण है कि इन कषायोको आंशिक स्वावलम्बनका बाधक कहा है। और पूर्ण स्वावलम्बनमे बाधक कारण प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ माने गये है। संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ स्वावलम्बनके आचरणको सदोष तो करते हैं पर बाधक नही हो पाते। इस प्रकार मोहनीय और उसके अवान्तर भेदोंका क्या कार्य है इसका यहाँ सक्षेपमे विचार किया।

§ 752. मोहनीयानन्तरोद्देशभाज आयुष उत्तरप्रकृतिनिर्ज्ञापनार्थमाह—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।।10।।

§ 753. नारकादिषु भवसंबन्धेनायुषो व्यपदेश क्रियते। नरकेषु भवं नारकमायुः, तिर्यग्योनिषु भव तैर्यग्योनम्, मानुषेषु भवं मानुषम्, देवेषु भव दैवमिति। नरकेषु तीव्रशीतोष्ण-वेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकम्। एव शेषेष्वपि।

§ 754. आयुश्चतुर्विधं व्याख्यातम्। तदनन्तरमुद्दिष्ट यन्नामकर्म तदुत्तरप्रकृतिनिर्णयार्थ-माह—

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानु-पूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रस-सुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ।।11।।

§ 755. यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गति। सा चतुर्विधा—नरकगतिस्तिर्यग्गति-र्मनुष्यगतिर्देव[1]गतिश्चेति। यन्निमित्त आत्मनो नारको भावस्तन्नरकगतिनाम। एव शेषेष्वपि योज्यम्[2]। तासु नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः। तन्निमित्त जाति-

---

§ 752 मोहनीयके अनन्तर उद्देशभाक् आयु कर्मकी उत्तर प्रकृतियोका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु हैं ।।10।।

§ 753 नारक आदि गतियोमे भवके सम्बन्धसे आयुकर्मका नामकरण किया जाता है। यथा—नरकोमे होनेवाली नारक आयु है, तिर्यग्योनिवालोमे होनेवाली तैर्यग्योन आयु है, मनुष्योमे होनेवाली मानुष आयु है और देवोमे होनेवाली देवायु है। तीव्र शीत और उष्ण वेदनावाले नरकोमे जिसके निमित्तसे दीर्घ जीवन होता है वह नारक आयु है। इसी प्रकार शेष आयुओमे भी जानना चाहिए।

विशेषार्थ—दस प्राणोमे आयु प्राण मुख्य है। यह जीवित रहनेका सर्वोत्कृष्ट निमित्त माना गया है। इसके सद्भावमे प्राणीका जीवन है और इसके अभावमे वह मरा हुआ माना जाता है। अन्नादिक तो आयुको कायम रखनेमे सहकारीमात्र है। भवधारण करनेका मुख्य कारण आयुकर्म ही है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

§ 754 चार प्रकारके आयुका व्याख्यान किया। इसके अनन्तर जो नामकर्म कहा गया है उसकी उत्तर प्रकृतियोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, सघात, सस्थान, सहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोके साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयश कीर्ति और यश कीर्ति एव तीर्थंकरत्व ये ब्यालीस नामकर्मके भेद है ।।11।।

§ 755 जिसके उदयसे आत्मा भवान्तरको जाता है वह गति है। वह चार प्रकारकी है—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति। जिसका निमित्त पाकर आत्माका नारक भाव होता है वह नरकगति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष गतियोमे भी योजना करनी चाहिए।

---

1 —गतिर्देवगतिर्मनुष्यगतिश्चेति मु। 2 योज्यन्ते। तासु आ।

नाम । तत्पञ्चविधम्—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति । यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम । तत्पञ्चविधम्—औदारिकशरीरनाम वैक्रियिकशरीरनाम आहारकशरीरनाम तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम चेति । तेषां विशेषो व्याख्यातः । यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम । तत् त्रिविधम्—औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गोपांगनाम चेति । यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम् । तद् द्विविध—स्थाननिर्माण प्रमाणनिर्माणं चेति । तज्जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीना स्थान प्रमाणं च निर्वर्तयति । निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम् । शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषण यतो भवति तद्बन्धननाम । यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितान्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम । यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम । तत् षोढा विभज्यते—समचतुरस्रसंस्थाननाम न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थाननाम स्वातिसंस्थाननाम कुब्जसंस्थाननाम वामनसस्थाननाम हुण्डसंस्थाननाम चेति । यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनननाम । तत् षड्विधम्—वज्रर्षभनाराचसहनननाम वज्रनाराचसहनननाम नाराचसंहनननाम अर्धनाराचसंहनननाम कीलि[1]कासंहनननाम असंप्राप्तासृ[2]पाटिकासंहनननाम चेति । यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भावस्तत्स्पर्शनाम । तदष्टविधम्—

उन नरकादि गतियोमे जिस अव्यभिचारी सादृश्यसे एकपने रूप अर्थ की प्राप्ति होती है वह जाति है। और इसका निमित्त जाति नामकर्म है। वह पाँच प्रकारका है—एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म, त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म और पचेन्द्रिय जाति नामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष जातियोमे भी योजना करनी चाहिए। जिसके उदयसे आत्माके शरीरकी रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। वह पाँच प्रकारका है—औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारक शरीर नामकर्म, तैजस शरीर नामकर्म और कार्मण शरीर नामकर्म। इनका विशेष व्याख्यान पहले कर आये है। जिसके उदयसे अंगोपांगका भेद होता है वह अगोपाग नामकर्म है। वह तीन प्रकारका है—औदारिक शरीर अगोपाग नामकर्म, वैक्रियिक शरीर अगोपाग नामकर्म और आहारक शरीर अगोपाग नामकर्म। जिसके निमित्तसे परिनिष्पत्ति अर्थात् रचना होती है वह निर्माण नामकर्म है। वह दो प्रकारका है—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण। वह जाति नामकर्मके उदयका अवलम्बन लेकर चक्षु आदि अवयवोके स्थान और प्रमाण की रचना करता है। निर्माण शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम्' जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्माण कहलाता है। शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए पुद्गलोका अन्योन्य प्रदेश सश्लेष जिसके निमित्तसे होता है वह बन्धन नामकर्म है। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोकी छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशोके अनुप्रवेश द्वारा एकरूपता आती है वह सघात नामकर्म है। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी आकृति वनती है वह सस्थान नामकर्म है। वह छह प्रकारका है—समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान नामकर्म, स्वातिसस्थान नामकर्म, कुब्जकसस्थान नामकर्म, वामनसंस्थान नामकर्म और हुण्डसस्थान नामकर्म। जिसके उदयसे अस्थियोका बधन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। वह छह प्रकारका है—वज्रर्षभनाराचसहनन नामकर्म, वज्रनाराचसहनन नामकर्म, नाराचसहनन नामकर्म, अर्धनाराचसहनन नामकर्म, कीलिकासहनन नामकर्म, और असम्प्राप्ता-

1. कीलितस— मु । कीलस— दि. 2 । 2. —प्राप्तासृक्पा— आ, दि 1, दि. 2 ।

कर्कशनाम मृदुनाम गुरुनाम लघुनाम स्निग्धनाम रूक्षनाम शीतनाम उष्णनाम चेति । यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम । तत्पञ्चविधम्—तिक्तनाम कटुकनाम कषायनाम आम्लनाम मधुरनाम चेति । यदुदयप्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम । तद्विविधम्—सुरभिगन्धनाम [1]असुरभिगन्धनाम चेति । यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । तत्पंचविधम्—कृष्णवर्णनाम नीलवर्णनाम रक्तवर्णनाम हारिद्र[2] वर्णनाम शुक्लवर्णनाम चेति । पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यनाम । तच्चतुर्विधम्—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम चेति । यस्योदयादय.पिण्डवद् गुरुत्वान्नाध पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । यस्योदयात्स्वयकृतोद्‌बन्धन[3]मरुप्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । यन्निमित्त' परशस्त्रादेर्व्याघातस्तत्परघातनाम । यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातपनाम । तदादित्ये वर्तते । यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम । तच्चन्द्रखद्योतादिषु वर्तते । यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम । विहाय आकाशम् । तत्र गतिनिर्वर्तक तद्विहायोगतिनाम । तद्‌द्विविधम्—प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमान शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारण शरीर यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम । यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम् । यन्निमित्त एकेन्द्रियेषु प्रादुर्भाव-

---

सृपाटिकासहनन नामकर्म । जिसके उदयसे स्पर्शकी उत्पत्ति होती है वह स्पर्श नामकर्म है । वह आठ प्रकारका है—कर्कश नामकर्म, मृदु नामकर्म, गुरु नामकर्म, लघु नामकर्म, स्निग्ध नामकर्म, रूक्ष नामकर्म, शीत नामकर्म और उष्ण नामकर्म । जिसके उदयसे रसमे भेद होता है वह रस नामकर्म है । वह पाँच प्रकारका है—तिक्त नामकर्म, कटु नामकर्म, कषाय नामकर्म, आम्ल नामकर्म और मधुर नामकर्म । जिसके उदयसे गंधकी उत्पत्ति होती है वह गध नामकर्म है । वह दो प्रकारका है—सुरभिगन्ध नामकर्म और असुरभिगन्ध नामकर्म । जिसके निमित्तसे वर्णमे विभाग होता है वह वर्ण नामकर्म है । वह पाँच प्रकारका है—कृष्णवर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, रक्तवर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नामकर्म और शुक्लवर्ण नामकर्म । जिसके उदयसे पूर्व शरीरके आकारका विनाश नही होता है वह आनुपूर्व्य नामकर्म है । वह चार प्रकारका है—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म और देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म । जिसके उदयसे लोहेके पिण्डके समान गुरु होनेसे न तो नीचे गिरता है और न अर्कतूलके समान लघु होनेसे ऊपर जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है । जिसके उदयसे स्वयकृत उद्‌बन्धन और मरुस्थलमे गिरना आदि निमित्तक उपघात होता है वह उपघात नामकर्म है । जिसके उदयसे परशस्त्रादिकका निमित्त पाकर व्याघात होता है वह परघात नामकर्म है । जिसके उदयसे शरीरमे आतपकी रचना होती है वह आतप नामकर्म है । वह सूर्यबिम्बमे होता है । जिसके निमित्तसे शरीरमे उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है । वह चन्द्रबिम्ब और जुगुनू आदिमे होता है । जिसके निमित्तसे उच्छ्वास होता है वह उच्छ्वास नामकर्म है । विहायस्‌का अर्थ आकाश है । उसमे गतिका निर्वर्तक कर्म विहायोगति नामकर्म है । प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे वह दो प्रकारका है । शरीर नामकर्मके उदयसे रचा जानेवाला जो शरीर जिसके निमित्तसे एक आत्माके उपभोगका कारण होता है वह प्रत्येकशरीर नामकर्म है । बहुत आत्माओके उपभोगका हेतुरूपसे साधारण शरीर जिसके निमित्तसे होता है वह साधारणशरीर नामकर्म है । जिसके उदयसे द्वीन्द्रियादिकमें जन्म होता है वह त्रस नामकर्म है । जिनके निमित्तसे एकेन्द्रियोमे उत्पत्ति होती है वह स्थावर नामकर्म है । जिसके उदयसे अन्यजनप्रीतिकर अवस्था

---

1. —नाम दुरभिगन्ध— आ., दि. 1, दि 2 । 2 हरिद्वर्ण— मु. । 3. मरुत्प्र— मु. ।

स्तत्स्थावरनाम। यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम। यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद् दुर्भगनाम। यन्निमित्त मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम। तद्विपरीतं दुःस्वरनाम। यदुदयाद्-रमणीयत्व तच्छुभनाम। तद्विपरीतमशुभनाम। सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम। अन्यबाधाकर-शरीरकारणं बादरनाम। यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्ति तत्पर्याप्तिनाम। तत् षड्विधम्—आहारपर्याप्तिनाम शरीरपर्याप्तिनाम इन्द्रियपर्याप्तिनाम प्राणापानपर्याप्तिनाम भाषापर्याप्तिनाम मनःपर्याप्तिनाम चेति। षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम। स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम। तद्विपरीतमस्थिरनाम। प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम। निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम। पुण्य-गुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम। तत्प्रत्यनीकफलमयश कीर्तिनाम। आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्व-नाम।

होती है वह सुभग नामकर्म। जिसके उदयसे रूपादि गुणोसे युक्त होकर भी अप्रीतिकर अवस्था होती है वह दुर्भग नामकर्म है। जिसके निमित्तसे मनोज्ञ स्वरकी रचना होती है वह सुस्वर नामकर्म है। इससे विपरीत दु स्वर नामकर्म है। जिसके उदयसे रमणीय होता है वह शुभ नाम-कर्म है। इससे विपरीत अशुभ नामकर्म है। सूक्ष्म शरीरका निर्वर्तक कर्म सूक्ष्म नामकर्म है। अन्य बाधाकर शरीरका निर्वर्तक कर्म बादर नामकर्म है।

जिसके उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोकी रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है। वह छह प्रकारका है—आहारपर्याप्ति नामकर्म, शरीरपर्याप्ति नामकर्म, इन्द्रियपर्याप्ति नाम-कर्म, प्राणापानपर्याप्ति नामकर्म, भाषापर्याप्ति नामकर्म और मन पर्याप्ति नामकर्म। जो छह प्रकारकी पर्याप्तियोके अभावका हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। स्थिरभावका निर्वर्तक कर्म स्थिर नामकर्म है। इससे विपरीत अस्थिर नामकर्म है। प्रभायुक्त शरीरका कारण आदेय नामकर्म है। निष्प्रभ शरीरका कारण अनादेय नामकर्म है। पुण्य गुणोकी प्रसिद्धिका कारण यश कीर्ति नामकर्म है। इससे विपरीत फलवाला अयश कीर्ति नामकर्म है। आर्हन्त्यका कारण तीर्थंकर नामकर्म है।

विशेषार्थ—यहाँ नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोके कार्योकी चर्चा की गयी है। मूल कर्म आठ है। उनमे से सात कर्म जीवविपाकी माने गये है। नामकर्म जीवविपाकी और पुद्गल-विपाकी दोनो प्रकारका है। जिन कर्मोका विपाक जीवमे होता है वे जीवविपाकी हैं और जिनका विपाक शरीरादि पुद्गलमे होता है वे पुद्गलविपाकी है। यह इनका शब्दार्थ है। इसे ध्यानमे रखते हुए इनके अर्थकी विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है। साधारणत सभी कर्म जीवके मोह, राग द्वेष आदि परिणामोका निमित्त पाकर बँधते है अत उन का विपाक जीवमें ही होता है। अर्थात् उनके उदयका निमित्त पाकर जीवमे तत्तत्प्रकारक योग्यताएँ आती है। फिर भी कर्मोके जीव-विपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी ऐसे भेद करनेका क्या कारण है यही बात यहाँ देखनी है। जीवका ससार जीव और पुद्गल इन दोके मेलसे होता है। वहाँ रहते हुए वह विविध गतियोमे जन्म लेता है, मरता है और उनके अनुरूप नाना शरीरोंको धारण करता हैं। यह सब अकारण नही हो सकता, इसलिए इनकी प्राप्तिके निमित्तभूत नाना प्रकारके कर्म माने जाते है। जिनको शास्त्रमे भवविपाकी कहा है वे उस उस पर्यायमे अवस्थाविशेषके कारण होनेसे उस सज्ञाको प्राप्त होते है। जिनको क्षेत्रविपाकी कहा है वे एक गतिसे दूसरी गतिके लिए जाते समय अन्तरालमे जीवका आकार बनाये रखते है। जिन्हे पुद्गलविपाकी कहा है वे नाना प्रकारके शरीर और भोगक्षम इन्द्रियोकी प्राप्तिमे सहायक होते है और जो जीवविपाकी कहे हैं वे जीवके विविध प्रकारके परिणाम और उसकी विविध अवस्थाओके होनेमें सहायता करते

§ 756. उदतो नामकर्मण उत्तरप्रकृतिभेदः। तदनन्तरोद्देशभाजो गोत्रस्य प्रकृतिभेदो व्याख्यायते—

उच्चैर्नीचैश्च ॥12॥

§ 757. गोत्रं द्विविधम्—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति। यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म[1] तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म[2] तन्नीचैर्गोत्रम्।

हैं और भवके अवस्थानके कारण भवविपाकी कर्म हैं।

इस प्रकार कार्यभेदसे कर्मोको इन चार भागोमे विभक्त किया गया है। वस्तुत. सभी कर्म जीवकी उस उस कर्मके नामानुरूप योग्यताके होनेमे सहायता करते हैं और उस उस योग्यतासे युक्त जीव तदनुरूप कार्य करता है। उदाहरणार्थ—औदारिक शरीर नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमे ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिससे वह योगद्वारा शरीर निर्माणके लिए औदारिक वर्गणाओको ही ग्रहण करता है, अन्य वर्गणाओको नही। वज्रर्षभनाराचसहनन और समचतुरस्रसस्थान नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमे ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिससे वह ग्रहण की गयी औदारिक वर्गणाओको उस रूपसे परिणमाता है। प्रश्न यह है कि पुद्गलविपाकी कर्मोके उदयको निमित्त पाकर यदि जीवमे कर्मोके नामानुरूप योग्यता उत्पन्न होती है तो फिर इन्हे पुद्गलविपाकी कर्म क्यो कहते हैं? क्या ये कर्म जीवको माध्यम बनाकर ही अपना काम करते हैं? इनका जो काम है वह यदि सीधा माना जाय तो क्या आपत्ति है? उत्तर यह है कि जब तक जीवको औदारिक आदि नोकर्मवर्गणा का निमित्त नही मिलता है तब तक पुद्गलविपाकी कर्म अपना कार्य करनेमे समर्थ नही होते हैं। इनका विपाक पुद्गलो का निमित्त पाकर होता है इसलिए इन्हे पुद्गलविपाकी कहते हैं। उदाहरणार्थ—कोई एक जीव दो मोडा लेकर यदि जन्म लेता है तो उसके प्रथम और द्वितीय विग्रहके समय शरीर आदि पुद्गलविपाकी प्रकृतियोका उदय नही होता है। तीसरे समयमे जब वह नवीन शरीरको ग्रहण करता है तभी उसके इन प्रकृतियोका उदय होता है। इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि शरीर आदि नामकर्मकी प्रकृतियोकी पुद्गलविपाकी संज्ञा क्यो है। इसी प्रकार भवविपाकी और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियोके सम्बन्धमे भी स्पष्ट जानना चाहिए। भवकी कारणभूत जो आयुकर्मकी प्रकृतियाँ हैं और जिनका उदय तत्तत् भव तक ही सीमित है इसीसे इनकी भवविपाकी संज्ञा है। क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ मरणके बाद दूसरे भवके अन्तरालवर्ती क्षेत्रमे अपना काम करती हैं, इसलिए इनकी क्षेत्रविपाकी संज्ञा है। यद्यपि बाह्य सुपुत्रादिके निमित्तसे सातादि जीवविपाकी प्रकृतियोका भी उदय देखा जाता है पर ये बाह्यनिमित्त उनके उदयके अविनाभावी कारण नही हैं। कदाचित् इन बाह्य निमित्तोके रहते हुए भी उनसे प्रतिकूल प्रकृतियोका उदय देखा जाता है और कदाचित् इन निमित्तोके अभावमे भी उनका उदय देखा जाता है, इसलिए बाह्य निमित्तोकी प्रधानता न होनेसे सातादि प्रकृतियोकी जीवविपाकी सज्ञा है। इस प्रकार सब कर्मप्रकृतियाँ कितने भागोमे बटी हुई हैं और उनकी जीवविपाकी आदि सज्ञा होनेका क्या कारण है इसका विचार किया।

§ 756 नामकर्मके उत्तर प्रकृतिविकल्प कहे। इसके बाद कहने योग्य गोत्रकर्मके प्रकृतिविकल्पोका व्याख्यान करते हैं—

उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं ॥12॥

§ 757. गोत्रकर्म दो प्रकारका है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोमे जन्म होता है वह उच्चगोत्र है। जिसके उदयसे गर्हित कुलोमे जन्म होता है वह नीचगोत्र है।

---

1. जन्मकारण तदु— आ, दि 1, दि 2। 2. जन्मकारण तन्नी— आ दि,, 1, दि. 2।

§ 758. अष्टम्याः कर्मप्रकृतेरुत्तरप्रकृतिनिर्देशार्थमाह—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।।13।।

§ 759 अन्तरायापेक्षया भेदनिर्देशः क्रियते—दानस्यान्तरायो लाभस्यान्तराय इत्यादि । दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेशः । यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते त एते पञ्चान्तरायस्य भेदा ।

§ 760 व्याख्याताः प्रकृतिबन्धविकल्पाः । इदानीं स्थितिबन्धविकल्पो वक्तव्यः । सा स्थितिर्द्विविधा—उत्कृष्टा जघन्या च । तत्र यासां कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः समाना तन्निर्देशार्थमुच्यते—

विशेषार्थ—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जिसके उच्चगोत्र का उदय होता है वह ऐसे माता पिता के यहाँ जन्म लेता है जहाँ सदाचारकी प्रवृत्ति हो या उस ओर झुकाव हो या ऐसी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियोके साथ सम्पर्क हो । और जिसके नीचगोत्र कर्मका उदय होता है वह विरुद्ध प्रवृत्तिवाले माता पिताके यहाँ जन्म लेता है । कुल, गोत्र, सन्तान और परम्परा इनका एक अर्थ है । परम्परा दो प्रकारसे चलती है एक पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रमूलक परम्परा और दूसरी आचार-विचारमूलक परम्परा । यहाँ दूसरी प्रकारकी परम्परा ली गयी है । गोत्रका सम्बन्ध शरीर या रक्तसे न होकर जीवके आचार-विचारसे है । गोत्रकर्मको जीवविपाकी कहनेका कारण भी यही है । इस प्रकार गोत्रकर्म, उसके भेद और उनके स्वरूपका सक्षेपमे विचार किया ।

§ 758 आठवी कर्म प्रकृतिकी उत्तर प्रकृतियोका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनके पाँच अन्तराय हैं ।।13।।

§ 759. यहाँ अन्तरायकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है । यथा—दानका अन्तराय, लाभका अन्तराय इत्यादि । इन्हे दानादि परिणामके व्याघातका कारण होनेसे यह सज्ञा मिली है । जिनके उदयसे देनेकी इच्छा करता हुआ भी नही देता है, प्राप्त करनेकी इच्छा रखता हुआ भी नही प्राप्त करता है, भोगनेकी इच्छा करता हुआ भी नही भोग सकता है, उपभोग करनेकी इच्छा करता हुआ भी उपभोग नही ले सकता है और उत्साहित होनेकी इच्छा रखता हुआ भी उत्साहित नही होता है इस प्रकार ये पाँच अन्तरायके भेद है ।

विशेषार्थ जीवकी दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ है । अन्तरायकर्म इन पाँच जीवभावोकी अभिव्यक्तिमे बाधक कारण है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । कही-कही अन्तराय कर्मके क्षय व क्षयोपशमका फल बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति कहा गया है पर वह उपचार कथन है । तत्त्वत बाह्य सामग्री पर है । उसकी प्राप्ति जीवविपाकी अन्तराय कर्मके क्षय व क्षयोपशमका फल कहना उपचारकथन है । परमे स्वका भाव मिथ्यात्वका फल है और उसका स्वीकार कषायका फल है ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

§ 760 प्रकृतिबन्धके भेद कहे । इस समय स्थितिबन्धके भेद कहने चाहिए । वह स्थिति दो प्रकारकी है—उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति । उनमे जिन कर्मप्रकृतियोकी उत्कृष्ट स्थिति समान है उनका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ।।14।।

§ 761. मध्येऽन्ते वा तिसृणां ग्रहणं माभूदिति 'आदितः' [1]इत्युच्यते । 'अन्तरायस्य' इति वचनं व्यवहितग्रहणार्थम् । सागरोपममुक्तपरिमाणम् । कोटीनां कोटयः कोटीकोटयः । पर उत्कृष्टेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय इति । सा कस्य भवति ? मिथ्यादृष्टे संज्ञिनः पचेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य । अन्येषामागमात्संप्रत्ययः कर्तव्य ।

§ 762. मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।15।।

§ 763. 'सागरोपमकोटीकोटय परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते । इयमपि परा स्थितिर्मिथ्यादृष्टे. संज्ञिन पंचेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यावसेया । इतरेषां[2] यथागममवगमः कर्तव्यः ।

§ 764. नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ।।16।।

आदिकी तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चारकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है ।।14।।

§ 761 बीचमे या अन्तमें तीन का ग्रहण न होवे इसलिए सूत्रमे 'आदित ' पद कहा है । अन्तरायकर्मका पाठ प्रारम्भके तीन कर्मोके पाठसे व्यवहित है उसका ग्रहण करनेके लिए, 'अन्तरायस्य' वचन दिया है । सागरोपमका परिमाण पहले कह आये है । कोटियोकी कोटि कोटाकोटि कहलाती है । पर शब्द उत्कृष्ट वाची है । उक्त कथनका यह अभिप्राय हे कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम होती है । **शंका**—यह उत्कृष्ट स्थिति किसे प्राप्त होती है ? **समाधान**—मिथ्यादृष्टि, सज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्तक जीवको प्राप्त होती है । अन्य जीवोके आगमसे देखकर ज्ञान कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—कर्मोकी स्थिति तीन प्रकारसे प्राप्त होती है—बन्धसे, सक्रमसे और सत्त्वसे। यहाँपर बन्धकी अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलायी गयी है । अतितीव्र सक्लेश परिणामोसे मिथ्यादृष्टि संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी तीस कोटाकोटि सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बाँधता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

§ 762 मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है ।।15।।

§ 763 इस सूत्रमे 'सागरोपमकोटीकोटय परा स्थिति ' पदकी अनुवृत्ति होती है । यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके जानना चाहिए । इतर जीवोंके आगमके अनुसार ज्ञान कर लेना चाहिए ।

§ 764. नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है ।।16।।

---

1. आदित उच्य— आ, दि 1, दि 2 । 2 —सेया । अन्येषा यथागममवगम कर्तव्य आ, दि 1 । —सेया । इतरेषा यथागममवगन्तव्यम् ?

§ 765 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते। इयमप्युत्कृष्टा स्थितिर्मिथ्यादृष्टेः संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकस्य। इतरेषां यथागममवबोद्धव्या।

§ 766. अथायुषः कोत्कृष्टा स्थितिरित्युच्यते—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥17॥

§ 767 पुनः 'सागरोपम'ग्रहणं कोटीकोटीनिवृत्त्यर्थम्। 'परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते। इयमपि पूर्वोक्तस्यैव। शेषाणामागमतोऽवसेया।

§ 768. उक्तोत्कृष्टा स्थितिः। इदानीं जघन्या स्थितिर्वक्तव्या। तत्र समानजघन्यस्थितीः पंच प्रकृतीरवस्थाप्य तिसृणां जघन्यस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रद्वयमुपन्यस्यते लघ्वर्थम्—

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥18॥

§ 769. अपरा जघन्या इत्यर्थः। वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥19॥

§ 770 'मुहूर्ता' इत्यनुवर्तते। 'अपरा स्थितिः' इति च।

§ 771. अवस्थापितप्रकृतिजघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

---

§ 765 'सागरोपमकोटीकोटय परा स्थिति' पदकी अनुवृत्ति होती है। यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके जानना चाहिए। इतर जीवोंके आगमके अनुसार जान लेना चाहिए।

§ 766 अब आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आयुकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ॥17॥

§ 767. इस सूत्र में पुन 'सागरोपम' पदका ग्रहण कोटाकोटी पदकी निवृत्तिके लिए दिया है। यहाँ 'परा स्थिति' पदकी अनुवृत्ति होती है। यह भी पूर्वोक्त जीवके होती है। शेष जीवोंके आगमसे जान लेना चाहिए।

विशेषार्थ—यहाँ टीकामे आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि कहा है। सो यह इस अभिप्रायसे कहा है कि मिथ्यादृष्टि संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी नरकायु बन्धके योग्य उत्कृष्ट सक्लेश परिणामोके होने पर नरकायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है। इसका यह अभिप्राय नही कि अन्य गुणस्थानवालेके आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नही होता। देवायुका तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सकल सयमके धारी सम्यग्दृष्टिके ही होता है। पर टीकाकारने यहाँ उसके कहनेकी विवक्षा नही की।

§ 768. उत्कृष्ट स्थिति कही। अब जघन्य स्थिति कहनी चाहिए। उसमें समान जघन्य स्थितिवाली पाँच प्रकृतियोको स्थगित करके थोडेमे कहनेके अभिप्रायसे तीन प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका ज्ञान करानेके लिए दो सूत्र कहते हैं—

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है ॥18॥

§ 769 अपरा अर्थात् जघन्य। यह वेदनीयकी बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है ॥19॥

§ 770 यहाँ 'मुहूर्ता' पदकी अनुवृत्ति होती है और 'अपरा स्थितिः पदकी भी।

§ 771. अब स्थगित की गयी प्रकृतियोकी जघन्य स्थितिका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥20॥

§ 772. शेषाणां पञ्चानां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तापरा स्थितिः । ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्या स्थितिः सूक्ष्मसांपराये, मोहनीयस्य अनिवृत्तिबादरसांपराये । आयुषः संख्येयवर्षायुष्षु[1] तिर्यक्षु मनुष्येषु च ।

§ 773. आह, उभयी स्थितिरभिहिता । ज्ञानावरणादीनाम् अथानुभवः किंलक्षण इत्यत आह—

विपाकोऽनुभवः ॥21॥

§ 774. विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः । पूर्वोक्तकषायतीव्रमन्दादिभावास्रवविशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः । अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः । असावनुभव इत्याख्यायते । शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः शुभप्रकृतीनां निकृष्टः । स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम् । न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते । नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन ।

§ 775. आह अभ्युपेमः प्रागुपचितनानाप्रकारकर्मविपाकोऽनुभवः । इदं तु न विजानीमः

बाकीके पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥20॥

§ 772. शेष पाँच प्रकृतियोंकी अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें, मोहनीयकी जघन्य स्थिति अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थानमें और आयुकी जघन्य स्थिति संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचों और मनुष्योंमें प्राप्त होती है ।

§ 773. दोनों प्रकारकी स्थिति कही । अब ज्ञानावरणादिकके अनुभवका क्या स्वरूप है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विपाक अर्थात् विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका पड़ना ही अनुभव है ॥21॥

§ 774. विशिष्ट या नाना प्रकारके पाकका नाम विपाक है । पूर्वोक्त कषायोंके तीव्र, मन्द आदिरूप भावास्रवके भेदसे विशिष्ट पाकका होना विपाक है । अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावलक्षण निमित्तभेदसे उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकारका पाक विपाक है । इसीको अनुभव कहते हैं । शुभ परिणामोंके प्रकर्षभावके कारण शुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभव होता है और अशुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभव होता है । तथा अशुभ परिणामोंके प्रकर्षभावके कारण अशुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभव होता है और शुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभव होता है । इस प्रकार कारणवशसे प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है—स्वमुख और परमुखसे । सब मूल प्रकृतियोंका अनुभव स्वमुखसे ही प्रवृत्त होता है । आयु, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके सिवा तुल्यजातीय उत्तरप्रकृतियोंका अनुभव परमुखसे भी प्रवृत्त होता है । नरकायुके मुखसे तिर्यंचायु या मनुष्यायुका विपाक नहीं होता । और दर्शनमोह चारित्रमोहरूपसे और चारित्रमोह दर्शनमोहरूपसे विपाकको नहीं प्राप्त होता ।

§ 775. शंका—पहले संचित हुए नाना प्रकारके कर्मोंका विपाक अनुभव है यह हम

---

1. –युष्कति– मु. ।

§ 765 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते । इयमप्युत्कृष्टा स्थिति-र्मिथ्यादृष्टेः संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकस्य । इतरेषां यथागममवबोद्धव्या ।

§ 766. अथायुष उत्कृष्टा स्थितिरित्युच्यते—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥17॥

§ 767 पुनः 'सागरोपम'ग्रहणं कोटीकोटीनिवृत्त्यर्थम् । 'परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते । इयमपि पूर्वोक्तस्यैव । शेषाणामागमतोऽवसेया ।

§ 768. उक्तोत्कृष्टा स्थितिः । इदानीं जघन्या स्थितिर्वक्तव्या । तत्र समानजघन्य-स्थितीः पंच प्रकृतीरवस्थाप्य तिसृणां जघन्यस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रद्वयमुपन्यस्यते लघ्वर्थम्—

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥18॥

§ 769. अपरा जघन्या इत्यर्थः । वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः ।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥19॥

§ 770 'मुहूर्ता' इत्यनुवर्तते । 'अपरा स्थितिः' इति च ।

§ 771. अवस्थापितप्रकृतिजघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

---

§ 765 'सागरोपमकोटीकोटच परा स्थिति' पदकी अनुवृत्ति होती है । यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके जानना चाहिए । इतर जीवोंके आगमके अनुसार जान लेना चाहिए ।

§ 766 अब आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आयुकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है ॥17॥

§ 767 इस सूत्र में पुन 'सागरोपम' पदका ग्रहण कोटाकोटी पदकी निवृत्तिके लिए दिया है । यहाँ 'परा स्थिति' पदकी अनुवृत्ति होती है । यह भी पूर्वोक्त जीवके होती है । शेष जीवोंके आगमसे जान लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—यहाँ टीकामे आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि कहा है । सो यह इस अभिप्रायसे कहा है कि मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी नरकायु बन्धके योग्य उत्कृष्ट सक्लेश परिणामोके होने पर नरकायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है । इसका यह अभिप्राय नही कि अन्य गुणस्थानवालेके आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नही होता । देवायुका तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सकल सयमके धारी सम्यग्दृष्टिके ही होता है । पर टीकाकारने यहाँ उसके कहनेकी विवक्षा नही की ।

§ 768. उत्कृष्ट स्थिति कही । अब जघन्य स्थिति कहनी चाहिए । उसमें समान जघन्य स्थितिवाली पाँच प्रकृतियोको स्थगित करके थोडेमे कहनेके अभिप्रायसे तीन प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका ज्ञान करानेके लिए दो सूत्र कहते हैं—

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है ॥18॥

§ 769. अपरा अर्थात् जघन्य । यह वेदनीयकी बारह मुहूर्त है ।

नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है ॥19॥

§ 770. यहाँ 'मुहूर्ता' पदकी अनुवृत्ति होती है और 'अपरा स्थितिः पदकी भी' ।

§ 771 अब स्थगित की गयी प्रकृतियोकी जघन्य स्थितिका कथन करनेके लिए आगे-का सूत्र कहते हैं—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥20॥

§ 772. शेषाणां पञ्चानां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तापरा स्थिति । ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्या स्थितिः सूक्ष्मसांपराये, मोहनीयस्य अनिवृत्तिबादरसांपराये । आयुषः सख्येयवर्षायुष्षु[1] तिर्यक्षु मनुष्येषु च ।

§ 773. आह, उभयो स्थितिरभिहिता । ज्ञानावरणादीनाम् अथानुभवः किंलक्षण इत्यत आह—

विपाकोऽनुभवः ॥21॥

§ 774. विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाक । पूर्वोक्तकषायतीव्रमन्दादिभावास्रव-विशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः । अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः । असावनुभव इत्याख्यायते । शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीना प्रकृष्टोऽनु-भवः शुभप्रकृतीनां निकृष्ट । स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम् । न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते । नापि दर्शन-मोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन ।

§ 775 आह अभ्युपेमः प्रागुपचितनानाप्रकारकर्मविपाकोऽनुभवः । इदं तु न विजानीमः

बाकीके पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥20॥

§ 772 शेष पाँच प्रकृतियोकी अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे, मोहनीयकी जघन्य स्थिति अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थानमे और आयुकी जघन्य स्थिति सख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचो और मनुष्योंमे प्राप्त होती है ।

§ 773 दोनो प्रकारकी स्थिति कही । अब ज्ञानावरणादिकके अनुभवका क्या स्वरूप है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विपाक अर्थात् विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका पड़ना ही अनुभव है ॥21॥

§ 774. विशिष्ट या नाना प्रकारके पाकका नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायोंके तीव्र, मन्द आदिरूप भावास्रवके भेदसे विशिष्ट पाकका होना विपाक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावलक्षण निमित्तभेदसे उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकारका पाक विपाक है। इसी-को अनुभव कहते है। शुभ परिमाणोके प्रकर्षभावके कारण शुभ प्रकृतियोका प्रकृष्ट अनुभव होता है और अशुभ प्रकृतियोका निकृष्ट अनुभव होता है। तथा अशुभ परिणामोंके प्रकर्षभाव-के कारण अशुभ प्रकृतियोका प्रकृष्ट अनुभव होता है और शुभ प्रकृतियोका निकृष्ट अनुभव होता है। इस प्रकार कारणवशसे प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है—स्वमुख- और परमुखसे। सब मूल प्रकृतियोका अनुभव स्वमुखसे ही प्रवृत्त होता है। आयु, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके सिवा तुल्यजातीय उत्तरप्रकृतियोका अनुभव परमुखसे भी प्रवृत्त होता है। नरकायुके मुखसे तिर्यंचायु या मनुष्यायुका विपाक नही होता। और दर्शनमोह चारित्रमोह-रूपसे और चारित्रमोह दर्शनमोहरूपसे विपाकको नही प्राप्त होता।

§ 775 शका—पहले सचित हुए नाना प्रकारके कर्मोंका विपाक अनुभव है यह हम

---

1 —युष्कति— मु. ।

किमयं प्रसंख्यातोऽप्रसंख्यातः ? इत्यत्रोच्यते प्रसंख्यातोऽनुभूयत इति ब्रूमहे । कुतः ? यत —

स यथानाम ।।22।।

§ 776. ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावो दर्शनावरणस्यापि[1] फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येवमाद्यन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशात्सर्वासां कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानामनुभवसंप्रत्ययो जायते ।

§ 777. आह, यदि विपाकोऽनुभव प्रतिज्ञायते, तत्कर्मानुभूत सत्[2] किमाभरणवदवतिष्ठते आहोस्विन्निष्पीतसारं प्रच्यवते ? इत्यत्रोच्यते—

ततश्च निर्जरा ।।23।।

§ 778 पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत्पूर्वस्थितिक्षयादवस्थानाभावात्कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा । सा द्विप्रकारा— विपाकजा इतरा च । तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते[3] संसारमहार्णवे चिर परिभ्रमत शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं वलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा । 'च'शब्दो निमित्तान्तरसमुच्चयार्थः । 'तपसा निर्जरा

स्वीकार करते हैं किन्तु यह नही जानते कि क्या यह प्रसख्यात होता है या अप्रसख्यात होता है ? समाधान—हम कहते हैं कि यह प्रसख्यात अनुभवमे आता है । शंका—किस कारणसे । समाधान—यत —

वह जिस कर्मका जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है ।।22।।

§ 776 ज्ञानावरणका फल ज्ञानका अभाव करना है । दर्शनावरणका भी फल दर्शनशक्तिका उपरोध करना है इत्यादि रूपसे सब कर्मोकी सार्थक सञ्ज्ञाका निर्देश किया है अतएव अपने अवान्तर भेदसहित उनमे किसका क्या अनुभव है इसका ज्ञान हो जाता है ।

§ 777 यदि विपाकका नाम अनुभव है ऐसा स्वीकार करते हो तो अनुभूत होने पर वह कर्म आभरणके समान अवस्थित रहता है या फल भोग लेनेके बाद वह झर जाता है ? इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

इसके बाद निर्जरा होती है ।।23।।

§ 778. जिस प्रकार भात आदिका मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है उसी प्रकार आत्माको भला-बुरा फल देकर पूर्व प्राप्त स्थितिका नाश हो जानेसे स्थिति न रहनेके कारण कर्मकी निवृत्तिका होना निर्जरा है । वह दो प्रकारकी है—विपाकजा और अविपाकजा । उसमे अनेक जाति विशेषरूपी भँवर युक्त चार गतिरूपी संसार महासमुद्रमे चिरकाल तक परिभ्रमण करनेवाले इस जीवके क्रमसे परिपाक कालको प्राप्त हुए और अनुभवोदयावलिरूपी सोतेमे प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्मका फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। तथा आम और पनस को औपक्रमिक क्रियाविशेषके द्वारा जिस प्रकार अकालमे पका लेते है उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी नही प्राप्त हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रियाविशेषकी सामर्थ्यसे उदयावलिके बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदीरणाद्वारा उदयावलिमे प्रविष्ट कराके अनुभवा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है । सूत्रमे 'च' शब्द अन्य निमित्तका समुच्चय करनेके लिए दिया है । 'तपसा निर्जरा च' यह आगे कहेगे, इसलिए 'च' शब्दके देनेका यह प्रयोजन है कि पूर्वोक्त प्रकारसे निर्जरा होती है और अन्य प्रकारसे भी । शंका—यहाँ निर्जराका उल्लेख

1. —नस्य फलं मु । 2. भूत किमा —मु. । 3. —घूर्णिते आ, दि 1, दि 2 ।

च' इति वक्ष्यते ततश्च भवति अन्यतश्चेति सूत्रार्थो योजितः । किमर्थमिह निर्जरानिर्देशः क्रियते, संवरात्परा निर्देष्टव्या उद्देशवत् ? लघ्वर्थमिह वचनम् । तत्र हि पाठे 'विपाकोऽनुभवः' इति पुनरनुवादः कर्तव्यः स्यात् ।

किसलिए किया है, क्योंकि उद्देश्यके अनुसार उसका सवरके बाद उल्लेख करना ठीक होता ? **समाधान**—थोडेमे बोध करानेके लिए यहाँ निर्जराका उल्लेख किया है । सवरके बाद पाठ देने पर 'विपाकोऽनुभव' इसका फिरसे अनुवाद करना पडता ।

विशेषार्थ—अनुभव, अनुभाग या फलदानशक्ति इनका एक ही अर्थ है । कर्मका बन्ध होते समय जिस कर्मकी जो प्रकृति होती है उसके अनुरूप उसे फलदानशक्ति प्राप्त होती है । उदाहरणार्थ—ज्ञानावरणकी ज्ञानको आवृत करनेकी प्रकृति है, इसलिए इसे इसीके अनुरूप फलदान शक्ति प्राप्त होती है । प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है और अनुभवका अर्थ है उस स्वभावके अनुरूप उसे भोगना । साधारणत. यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि प्रकृति और अनुभवका यही अर्थ है तो इन्हे अलग-अलग मानना उचित नही है, क्योकि जिस कर्मकी जैसी प्रकृति होगी उसके अनुरूप उसका भोग सुतरा सिद्ध है । इसलिए प्रकृतिबन्ध और अनुभवबन्ध ये दो स्वतन्त्र सिद्ध नही होते, किन्तु अनुभवबन्धका अन्तर्भाव प्रकृतिबन्धमे ही हो जाता है । यदि कहा जाय कि ज्ञानावरण आदि रूपसे कर्मकी प्रकृति फलदानशक्तिके निमित्तसे होती है, इसलिए प्रकृतिबन्धमे अनुभवबन्धका अन्तर्भाव नही किया जा सकता सो इसका यह समाधान है कि जबकि प्रकृतिबन्धका कारण योग है और अनुभवबन्धकी हीनाधिकताका कारण कषाय है तब फिर फलदान शक्तिके निमित्तसे कर्मकी प्रकृति बनती है यह कैसे माना जा सकता है । थोडी देरको यह मान भी लिया जाय तब भी यह प्रश्न खडा रहता है कि प्रकृतिबन्ध और अनुभवबन्धको अलग अलग क्यो माना गया है और उनके अलग अलग माननेके योग और कषाय दो स्वतन्त्र कारण क्यो बतलाये गये हैं । सूत्रकारने बन्धके चार भेद करके भी विपाक अर्थात् कर्मभोगको अनुभव कहा है और उसे प्रकृतिके अनुरूप बतलाया है । इससे तो यही सिद्ध होता है कि वस्तुत. ये दो नही है, किन्तु बन्ध समयकी अपेक्षा जिसका नाम प्रकृति है उदयकाल की अपेक्षा उसे ही अनुभव कहते है ? समाधान यह है कि कर्मबन्धके समय कर्मका विविधरूपसे विभाग योगके निमित्तसे ही होता है और विभागको प्राप्त हुए कर्मोमे हीनाधिक फलदानशक्ति का प्राप्त होना कषायके निमित्तसे होता है, इसलिए ये दोनो स्वतन्त्र माने गये हैं । यद्यपि यह ठीक है कि बिना शक्तिके किसी कर्मकी प्रकृति नही बन सकती । स्वतन्त्र पकृति कहनेसे उसकी शक्तिका बोध हो ही जाता है, फिर भी ऐसी शक्तिकी एक सीमा होती है । उसका उल्लघन कर जो न्यूनाधिक शक्ति पायी जाती है उसीका बोध कराना अनुभागबन्धका काम है । उदाहरणार्थ ग्यारहवे, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमे सातावेदनीयका प्रकृतिबन्ध होता है और यह प्रकृतिबन्ध एक नियत मर्यादामे अनुभागको लिये ही होता है, फिर भी यहाँ अनुभागबन्धका निषेध किया गया है सो इसका कारण यह है कि जो अनुभाग सकषाय अवस्थामे सातावेदनीयका प्राप्त होता था वह यहाँ प्राप्त नही होता है । सकषाय अवस्थामे प्राप्त होनेवाले जघन्य अनुभागसे भी यह अनन्तवे भागमात्र होता है । इतना कम अनुभाग सकषाय अवस्थामे नही प्राप्त हो सकता । इससे प्रकृतिबन्धसे अनुभागबन्धके अलग कहनेकी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह है कि प्रकृतिबन्धमे कर्मभेद को स्वीकार करके भी न्यूनाधिक फलदान शक्ति नही स्वीकार की गयी है, किन्तु अनुभागबन्धमे इसका और इसके कारणका स्वतन्त्र रूपसे विचार किया जाता है, इसलिए प्रकृतिबन्ध और उसका कारण स्वतन्त्र है तथा अनुभागबन्ध और

§ 779 आह अभिहितोऽनुभवबन्धः। इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्यः। तस्मिंश्च वक्तव्ये सति इमे निर्देष्टव्याः—किंहेतवः कदा कुतः किंस्वभावाः कस्मिन् किंपरिमाणाश्चेति ? तदर्थमिदं क्रमेण परिगृहीतप्रश्नापेक्षभेदं सूत्रं प्रणीयते—

उसका कारण स्वतन्त्र है यह निश्चित होता है। अब रही सूत्रकारके विपाकको अनुभव कहनेकी बात सो इस कथनमे भी यही अभिप्राय छिपा हुआ है। सब जीवोका विपाक एक प्रकारका नही होता, वह न्यूनाधिक देखा जाता है और विपाककी यह न्यूनाधिकता अकारण नही हो सकती। यही कारण है कि सूत्रकार अनुभवबन्धकी स्वतन्त्र परिगणना करते हैं और उसकी पुष्टि विपाकके द्वारा दिखलाते है। इस प्रकार अनुभवबन्ध क्या है और उसे स्वतन्त्र क्यो कहा इसका विचार किया।

फिर भी यह अनुभाग बन्धकालमे जैसा प्राप्त होता है एकान्ततः वैसा ही नही बना रहता है। अपने अवस्थान कालके भीतर वह बदल भी जाता है और नही भी बदलता है। बदलनेसे इसकी तीन अवस्थाएँ होती है—सक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण। सक्रमण अवान्तर प्रकृतियोमे होता है, मूल प्रकृतियोमे नही होता। उसमे भी आयुकर्मकी अवान्तर प्रकृतियो का सक्रमण नही होता और दर्शनमोहनीयका चारित्रमोहनीय रूपसे तथा चारित्रमोहनीयका दर्शन-मोहनीयरूपसे सक्रमण नही होता। सक्रमणके चार भेद है—प्रकृतिसक्रमण, स्थितिसक्रमण, अनुभागसक्रमण और प्रदेशसक्रमण। जहाँ प्रकृतिसक्रमण और प्रदेशसक्रमणकी मुख्यता होती है वहाँ वह सक्रमण शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है और जहाँ मात्र स्थितिसक्रमण अनुभाग-सक्रमण होता है वहाँ वह उत्कर्षण और अपकर्षण शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है। बन्ध-कालमे जो स्थिति और अनुभाग प्राप्त होता है उसमे कमी होना अपकर्षण है और घटी हुई स्थिति व अनुभागमे वृद्धि होना उत्कर्षण है। इस प्रकार विविध अवस्थाओमे-से गुजरते हुए उदयकालमे जो अनुभाग रहता है उसका परिपाक होता है। अनुदय अवस्थाको प्राप्त प्रकृतियो-का परिपाक उदय अवस्थाको प्राप्त सजातीय प्रकृतिरूपसे होता है। इसके विषयमे यह नियम है कि उदयवाली प्रकृतियोका फल स्वमुखसे मिलता है और अनुदयवाली प्रकृतियोका फल पर-मुखसे मिलता है। उदाहरणार्थ—साताका उदय रहने पर उसका भोग सातारूपसे ही होता है, किन्तु तब असाता स्तिबुक सक्रमण द्वारा सातारूपसे परिणमन करती रहती है, इसलिए इसका उदय परमुखसे होता है। उदय कालके एक समय पहले अनुदयरूप प्रकृतिके निषेकका उदयको प्राप्त हुई प्रकृतिरूपसे परिणम जाना स्तिबुक सक्रमण है। जो प्रकृतियाँ जिस कालमे उदयमे नही होती है, किन्तु सत्तारूपसे विद्यमान रहती है उन सबका प्रति समय इसी प्रकार परिणमन होता रहता है।

घाति और अघातिके भेदसे अनुभाग दो प्रकारका होता है। लता, दारु, अस्थि और शैल यह चार प्रकारका घाति प्रकृतियोका अनुभाग है। अघाति प्रकृतियोके पुण्य और पाप ऐसे दो भेद हैं। पुण्य प्रकृतियोका अनुभाग गुड, खाँड, शर्करा और अमृत इन चार भागोंमें बँटा हुआ है तथा निम्ब, काजीर, विष और हलाहल यह चार प्रकारका पाप प्रकृतियोका अनुभाग है। इस प्रकार सामान्यरूपसे अनुभागबन्धका विचार किया।

§ 779 अनुभवबन्धका कथन किया। अब प्रदेशबन्धका कथन करना है। उसका कथन करते समय इतनी बाते निर्देश करने योग्य हैं—प्रदेशबन्धका हेतु क्या है, वह कब होता है, उसका निमित्त क्या है, उसका स्वभाव क्या है, वह किसमे होता है और उसका परिणमन क्या है। इस प्रकार क्रमसे इन प्रश्नोको लक्ष्यमे रखकर आगेका सूत्र कहते है—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः
सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥24॥

§ 780. नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्ययाः 'नाम' इति सर्वा. कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते; 'स यथा-नाम' इति वचनात् । अनेन हेतुभाव उक्तः । सर्वेषु भवेषु सर्वतः 'दृश्यन्ते अन्यतोऽपि' इति तसि कृते सर्वत । अनेन कालोपादानं इति कृतम् । एकैकस्य हि जीवस्यातिक्रान्ता[1] अनन्ता भवा आगामिनः संख्येया असंख्येया[2] अनन्तानन्ता वा भवन्तीति । योगविशेषान्निमित्तात्कर्मभावेन पुद्गला आदीयन्त इति निमित्तविशेषनिर्देशः कृतो भवति । 'सूक्ष्म' आदिग्रहणं कर्मग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्तनार्थम्, ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति । 'एकक्षेत्रावगाह'वचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् । 'स्थिताः' इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम्, स्थिता न गच्छन्त इति । 'सर्वात्मप्रदेशेषु' इति वचनमाधारनिर्देशार्थं नैकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा वर्तन्ते । क्व तर्हि ? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति । 'अनन्तानन्तप्रदेश'वचनं परिमाणान्तरव्यपोहार्थम्, न संख्येया न चासंख्येया नाप्यनन्ता इति । ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणा सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशा घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिन एकद्वित्रिचतुःसंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्ण-पञ्चरस-द्विगन्ध-चतुःस्पर्शस्वभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्या योगवशादा[3]त्मनात्मसात्क्रियन्ते । इति प्रदेश-बन्धः समासतो वेदितव्यः ।

कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत प्रति समय योगविशेषसे सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशोमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते हैं ॥24॥

§ 780. नामप्रत्यया.—नामके कारणभूत कर्मपरमाणु नामप्रत्यय कहलाते हैं। 'नाम' इस पद द्वारा सब कर्मप्रकृतियाँ कही जाती हैं। जिसकी पुष्टि 'स यथानाम' इस सूत्रवचनसे होती है। इस पदद्वारा हेतुका कथन किया गया है। सर्वत.—प्रदेशबन्ध सब भवोमे होता है। 'सर्वेषु भतेषु इति सर्वत.' यह इसकी व्युत्पत्ति है। सर्व शब्दसे 'दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि' इस सूत्र द्वारा तसि प्रत्यय करनेपर सर्वत' पद बनता है। इस पदद्वारा कालका ग्रहण किया गया है। एक-एक जीवके व्यतीत हुए अनन्तानन्त भव होते हैं और आगामी सख्यात, असख्यात व अनन्तानन्त भव होते हैं। योगविशेषात्—योगविशेषरूप निमित्तसे कर्मरूप पुद्गल ग्रहण किये जाते है। इस पद द्वारा निमित्तविशेषका निर्देश किया गया है। कर्मरूपसे ग्रहण योग्य पुद्गलोका स्वभाव दिखलानेके लिए सूक्ष्म आदि पदका ग्रहण किया है। ग्रहणयोग्य पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नही होते। क्षेत्रान्तरका निराकरण करनेके लिए 'एकक्षेत्रावगाह' वचन दिया है। क्रियान्तरकी निवृत्तिके लिए 'स्थिता' वचन दिया है। ग्रहणयोग्य पुद्गल स्थित होते हैं गमन करते हुए नही। आधार-निर्देश करनेके लिए 'सर्वात्मप्रदेशेषु' वचन दिया है। एकप्रदेश आदिमे कर्मप्रदेश नही रहते। फिर कहाँ रहते है ? ऊपर, नीचे, तिरछे सब आत्मप्रदेशोमें व्याप्त होकर स्थित होते हैं। दूसरे परिमाणका वारण करनेके लिए अनन्तानन्तप्रदेश वचन दिया है। ये न सख्यात होते हैं, न असख्यात होते हैं और न अनन्त होते हैं। अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवें भागप्रमाण सख्यावाले, घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रकी अवगाहनावाले, एक, दो, तीन, चार, सख्यात और असंख्यात समयकी स्थितिवाले तथा पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्शवाले वे आठ प्रकारकी कर्मप्रकृतियोके योग्य कर्मस्कन्ध योगविशेषसे आत्माद्वारा आत्मसात् किये जाते हैं। इस प्रकार संक्षेपमे प्रदेशबन्ध जानना चाहिए।

---

1 —क्रान्ता अनन्तानन्ता भवाः ता., ना । 2 —असंख्येया अनन्ता वा ता, ना । 3. दशादात्मसा- आ. ।

§ 781. आह, बन्धपदार्थान्तरं पुण्यपापोपसंख्यान चोदितं तद्‌बन्धेऽन्तर्भूतमिति प्रत्याख्यातम्। तत्रेद वक्तव्यं कोऽत्र पुण्यबन्ध कः पापबन्ध इति। तत्र [1]पुण्यप्रकृतिपरिगणनार्थमिदमारभ्यते—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥25॥

§ 782. शुभ प्रशस्तमिति यावत्। तदुत्तरैः प्रत्येकमभिसंबध्यते शुभमायुः शुभं नाम शुभं गोत्रमिति। शुभायुस्त्रितयं तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति। शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पम्। तद्यथा—मनुष्यगतिर्देवगतिः पंचेन्द्रियजाति पंच शरीराणि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसहननं प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शा मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्यद्वयमगुरुलघुपरघातोच्छ्‌वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगतयस्त्रसबादरपर्याप्तिप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तयो निर्माणं तीर्थंकरनाम चेति। शुभमेकमुच्चैर्गोत्रं, सद्वेद्यमिति। एता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः 'पुण्य' संज्ञाः।

विशेषार्थ—इस सूत्रमे प्रदेशवन्धका विचार किया गया है। जो पुद्‌गल परमाणु कर्मरूपसे ग्रहण किये जाते है वे ज्ञानावरण आदि आठ या सात प्रकारसे परिणमन करते है। उनका ग्रहण ससार अवस्थामें सदा होता रहता है। ग्रहणका मुख्य कारण योग है। वे सूक्ष्म होते है। जिस क्षेत्रमे आत्मा स्थित होता है उसी क्षेत्रके कर्मपरमाणुओका ग्रहण होता है, अन्यका नही। उसमे भी स्थित कर्मपरमाणुओका ही ग्रहण होता है, अन्यका नही। ग्रहण किये गये कर्मपरमाणु आत्माके सब प्रदेशोमे स्थित रहते हैं और वे अनन्तानन्त होते है यह इस सूत्रका भाव है। इससे प्रदेशवन्धकी सामान्य रूपरेखा और उसके कारणका ज्ञान हो जाता है।

§ 781 बन्ध पदार्थके अनन्तर पुण्य और पापकी गणना की है और उसका वन्धमें अन्तर्भाव किया है, इसलिए यहाँ यह बतलाना चाहिए कि पुण्यबन्ध क्या है और पापबन्ध क्या है। उसमे सर्वप्रथम पुण्य प्रकृतियोकी परिगणना करनेके लिए यह सूत्र आरम्भ करते है—

साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ॥25॥

§ 782 शुभका अर्थ प्रशस्त है। यह आगेके प्रत्येक पदके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है। यथा—शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र। शुभ आयु तीन है—तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु। शुभ नामके सैंतीस भेद है। यथा—मनुष्यगति, देवगति, पचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अगोपाग, समचतुरस्रसस्थान, वज्रर्षभनाराच सहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त रस, प्रशस्त गन्ध और प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये दो, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। एक उच्च गोत्र शुभ है और सातावेदनीय ये बयालीस प्रकृतियाँ पुण्यसंज्ञक हैं।

विशेषार्थ—यहाँ बयालीस पुण्य प्रकृतियाँ गिनायी है। प्रशस्त परिणामोसे जिनमे अधिक अनुभाग प्राप्त होता है वे पुण्य प्रकृतियाँ है। यह लक्षण इन प्रकृतियोमे घटित होता है इसलिए ये पुण्य प्रकृतियाँ मानी गयी है। वन्धकी अपेक्षा कुल प्रकृतियाँ 120 परिगणित की जाती है। इसी अपेक्षासे यहाँ बयालीस सख्या निर्दिष्ट की गयी है। यहाँ वर्णादिकके अवान्तर भेद बीस न गिना कर कुल चार भेद गिनाये हैं। तत्त्वार्थभाष्यकार आचार्य गृद्धपिच्छने सम्यक्त्वप्रकृति, हास्य रति और पुरुषवेद इन चारकी भी पुण्यप्रकृतियोमे परिगणना की है। तथा वीरसेन स्वामीने जयधवला टीकामे भी इन्हे पुण्यप्रकृतियाँ सिद्ध किया है। इस प्रकार कुल पुण्यप्रकृतियाँ कितनी हैं इसका निर्देश किया।

---

1 पुण्यबन्धप्रकृ– मु।

अतोऽन्यत्पापम् ।।26।।

§ 783. अस्मात्पुण्यसंज्ञिकर्मप्रकृतिसमूहादन्यत्कर्म 'पापम्'इत्युच्यते । तद् द्व्यशीतिविधम् । तद्यथा—ज्ञानावरणस्य प्रकृतयः पंच दर्शनावरणस्य नव मोहनीयस्य षड्विंशतिः पंचान्तरायस्य नरकगतितिर्यग्गती चतस्रो जातय पंच संस्थानानि पंच संहननान्यप्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शा नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयमुपघाताप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तिसाधारणशरीरास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तयश्चेति नामप्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत् । असद्वेद्य नरकायुर्नीचैर्गोत्रमिति । एवं व्याख्यातः सप्रपञ्चो बन्धपदार्थः । अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेयः ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायामष्टमोऽध्याय समाप्त. ।।8।।

इनके सिवा शेष सब प्रकृतियाँ पापरूप हैं ।।26।।

§ 783. इस पुण्यसंज्ञावाले कर्मप्रकृतिसमूहसे जो भिन्न कर्मसमूह है वह पापरूप कहा जाता है। वह बयासी प्रकारका है। यथा—ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियाँ, मोहनीयकी छब्बीस प्रकृतियाँ, अन्तरायकी पाँच प्रकृतियाँ, नरकगति, तिर्यंचगति, चार जाति, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गन्ध और अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यंगत्यानुपूर्वी ये दो, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयश-कीर्ति ये नामकर्मकी चौंतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र। इस प्रकार विस्तार के साथ बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया। यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

विशेषार्थ—यहाँ पाप प्रकृतियाँ कौन-कौन है इनका नाम निर्देश किया गया है। अप्रशस्त परिणामोके निमित्तसे जिनमे अधिक अनुभाग प्राप्त होता है वे पाप प्रकृतियाँ है। यहाँ पाप प्रकृतियाँ कुल बयासी गिनायी हैं। पाँच बन्धन और संघात इनका पाँच शरीरोमे अन्तर्भाव हो जाता है तथा मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय ये दो बन्ध प्रकृतियाँ नही है। और वर्णादि बीस प्रशस्त भी होते हैं और अप्रशस्त भी। यही कारण है कि इन्हे पुण्य प्रकृतियोमे भी गिनाया है और पाप प्रकृतियोमे भी। इस प्रकार कुल बयासी पाप प्रकृतियाँ होती है जिनका नामनिर्देश टीकामे किया ही है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिसंज्ञक तत्त्वार्थवृत्तिमे आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।।8।।

अथ नवमोऽध्यायः

§ 784. बन्धपदार्थो निर्दिष्टः। इदानीं तदनन्तरोद्देशभाजः संवरस्य निर्देशः प्राप्तकाल इत्यत इदमाह—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥1॥

§ 785. अभिनवकर्मादानहेतुरास्रवो व्याख्यात। तस्य निरोधः संवर इत्युच्यते। स द्विविधो भावसंवरो द्रव्यसंवरश्चेति। तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। तन्निरोधे[1] तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवर।

§ 786. इद विचार्यते—कस्मिन् गुणस्थाने कस्य संवर इति? अत्र उच्यते—मिथ्यादर्शनकर्मोदयवशीकृत आत्मा मिथ्यादृष्टि.। तत्र मिथ्यादर्शनप्राधान्येन यत्कर्म आस्रवति तन्निरोधाच्छेषे सासादनसम्यग्दृष्टयादौ तत्संवरो भवति। किं पुनस्तत्? मिथ्यात्वनपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्डसंस्थानासंप्राप्तासृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणशरीरसंज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम्।

§ 787. असंयमस्त्रिविध; अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात्। तत्प्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे संवरोऽवसेयः। तद्यथा--निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगायुस्तिर्यग्गतिचतुःसंस्थानचतुःसंहननतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्यो-

---

§ 784 बन्ध पदार्थका निर्देश किया। इस समय उसके बाद कहने योग्य संवर पदार्थके निर्देशका समय आ गया है, इसलिए यह सूत्र कहते है—

आस्रवका निरोध संवर है ॥1॥

§ 785 नूतन कर्मके ग्रहणमे हेतुरूप आस्रवका व्याख्यान किया। उसका निरोध होना सवर है। वह दो प्रकारका है—भाव सवर और द्रव्य सवर। ससारकी निमित्तभूत क्रियाकी निवृत्ति होना भावसवर है और इसका (ससारकी निमित्तभूत क्रियाका) निरोध होनेपर तत्पूर्वक होनेवाले कर्म-पुद्गलोके ग्रहणका विच्छेद होना द्रव्यसवर है।

§ 786 अब इस बातका विचार करना है कि किस गुणस्थानमे किस कर्मप्रकृतिका सवर होता है, इसलिए इसी बातको आगे कहते हैं—जो आत्मा मिथ्यादर्शन कर्मके उदयके आधीन है वह मिथ्यादृष्टि है। इसके मिथ्यादर्शनकी प्रधानतासे जिस कर्मका आस्रव होता है उसका मिथ्यादर्शनके अभावमे शेष रहे सासादनसम्यग्दृष्टि आदिमे सवर होता है। वह कर्म कौन है? मिथ्यात्व, नपुसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डसस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिकासहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर यह सोलह प्रकृतिरूप कर्म है।

§ 787 असयमके तीन भेद हैं—अनन्तानुबन्धीका उदय, अप्रत्याख्यानावरणका उदय और प्रत्याख्यानावरणका उदय। इसलिए इसके निमित्तसे जिस कर्मका आस्रव होता है उसका इसके अभावमे सवर जानना चाहिए। यथा—अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होनेवाले असयमकी मुख्यतासे आस्रवको प्राप्त होनेवाली निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु,

---

1 तन्निरोधेन तत्पू– ता, ना.। 2. इति। उच्य– मु।

ताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदु स्वरानादेयनीचैर्गोत्रसंज्ञिकानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तानुबन्धिकषायोदयकृतासंयमप्रधानास्रवाणामेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्ट्यन्ता बन्धकाः। तदभावे तासामुत्तरत्र सवर.। अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभमनुष्यायुर्मनुष्यगत्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नां दशानां प्रकृतीनामप्रत्याख्यानकषायोदयकृतासयमहेतुकानामेकेन्द्रियादयोऽसयतसम्यग्दृष्ट्यन्ता बंधकाः। तदभावादूर्ध्वं तासा सवर। सम्यङ्मिथ्यात्वगुणेनायुर्न वध्यते। प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्याख्यानकषायोदयकारणासयमास्रवाणामेकेन्द्रियप्रभृतय संयतासंयतावसाना बन्धका। तदभावादुपरिष्टात्तासां संवरः। प्रमादोपनीतस्य तदभावे निरोधः। प्रमादेनोपनीतस्य कर्मणः प्रमत्तसयतादूर्ध्व तदभावान्निरोध प्रत्येतव्य। किं पुनस्तत्। असद्वेद्यारतिशोकास्थिराशुभायश.कीर्तिविकल्पम्। देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः। तदूर्ध्वं तस्य सवरः। कषाय एवास्रवो यस्य कर्मणो न प्रमादादिः तस्य तन्निरोधे निरासोऽवसेय। स च कषायः प्रमादादिविरहितस्तीव्रमध्यमजघन्यभावेन त्रिषु गुणस्थानेषु व्यवस्थित। तत्रापूर्वकरणस्यादौ सख्येयभागे द्वे कर्मप्रकृती निद्राप्रचले बध्येते। तत ऊर्ध्वं सख्येयभागे त्रिंशत् प्रकृतयो देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसस्थानवैक्रियिकाहारकशरीरांगोपांगवर्णगंधरसस्पर्श

तिर्यचगति, मध्यके चार सस्थान, मध्यके चार सहनन, तिर्यचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन पच्चीस प्रकृतियोका एकेन्द्रियसे लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव वन्ध करते हैं, अत अनन्तानुवन्धीके उदयसे होनेवाले असयमके अभावमे आगे इनका सवर होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असयमकी मुख्यतासे आस्रवको प्राप्त होनेवाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिकशरीर, औदारिक अगोपाग, वज्रर्षभनाराच सहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियोका एकेन्द्रियोसे लेकर असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव वन्ध करते है, अत अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असयमका अभाव होनेपर आगे इनका सवर होता है। सम्यग्मिथ्यात्व गुणके होनेपर आयुकर्मका वन्ध नही होता यहाँ इतनी विशेष वात है। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असयमसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोका एकेन्द्रियोसे लेकर सयतासयत गुणस्थान तक के जीव वन्ध करते है, अत प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असयमके अभावमे आगे इनका सवर होता है। प्रमादके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाले कर्मका उसके अभावमे सवर होता है। जो कर्म प्रमादके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होता है उसका प्रमत्तसयत गुणस्थानके आगे प्रमाद न रहनेके कारण सवर जानना चाहिए। वह कर्म कौन है ? असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्तिरूप प्रकृतियोके भेदमे वह कर्म छह प्रकारका है। देवायुके वन्धका आरम्भ प्रमादहेतुक भी होता है और उसके नजदीकका अप्रमादहेतुक भी, अत इसका अभाव होनेपर आगे उसका सवर जानना चाहिए। जिस कर्मका मात्र कषायके निमित्तसे आस्रव होता है प्रमादादिकके निमित्तसे नही उसका कषायका अभाव होनेपर सवर जानना चाहिए। प्रमादादिकके अभावमे होनेवाला वह कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्यरूपसे तीन गुणस्थानोमे अवस्थित है। उनमेसे अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रारम्भिक सख्येय भागमे निद्रा और प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ वन्धको प्राप्त होती है। इससे आगे सख्येय भागमे देवगति, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र सस्थान,

देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थकराख्या बध्यन्ते। तस्यैव चरमसमये चतस्रः प्रकृतयो हास्यरतिभयजुगुप्सासञ्ज्ञा बन्धमुपयान्ति। ता एतास्तीव्रकषायास्रवास्तदभावान्निर्दिष्टाद्भागादूर्ध्वं संव्रियन्ते। अनिवृत्तिबादरसांपरायस्यादिसमयादारभ्य सङ्ख्येयेषु भागेषु पुंवेदक्रोधसंज्वलनौ बध्येते। तत ऊर्ध्वं शेषेषु संख्येयेषु भागेषु मान[1]सञ्ज्वलनमायासञ्ज्वलनौ बन्धमुपगच्छतः। तस्यैव चरमसमये लोभसंज्वलनो बन्धमेति। ता एताः प्रकृतयो मध्यमकषायास्रवास्तदभावे निर्दिष्टस्य भागस्योपरिष्टात्संवरमाप्नुवन्ति। पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां यशःकीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायास्रवाणां सूक्ष्मसांपरायो बन्धकः। तदभावादुत्तरत्र[2] तेषां संवरः। केवलेनैव योगेन सद्वेद्यस्योपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगानां बन्धो भवति। तदभावादयोगकेवलिनस्तस्य संवरो भवति।

§ 788 उक्तः संवरस्तद्धेतु[3]प्रतिपादनार्थमाह—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥2॥

वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थकर ये तीस प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं। तथा इसी गुणस्थानके अन्तिम समयमे हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं। ये तीव्र कषायसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियाँ हैं, इसलिए तीव्र कषायका उत्तरोत्तर अभाव होनेसे विवक्षित भागके आगे उनका सवर होता है। अनिवृत्ति बादर साम्परायके प्रथम समयसे लेकर उसके सख्यात भागोमे पुवेद और क्रोध सज्वलनका बन्ध होता है। इससे आगे शेष रहे सख्यात भागोमे मान सज्वलन और माया सज्वलन ये दो प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती है और उसीके अन्तिम समयमे लोभ सज्वलन बन्धको प्राप्त होती है। इन प्रकृतियोका मध्यम कषायके निमित्तसे आस्रव होता है, अतएव मध्यम कषायका उत्तरोत्तर अभाव होनेपर विवक्षित भागके आगे उनका सवर होता है। मन्द कषाय के निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियोंका सूक्ष्मसाम्पराय जीव बन्ध करता है, अत मन्द कषायका अभाव होनेसे आगे इनका सवर होता है। केवल योगके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली साता वेदनीयका उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली जीवोके बध होता है। योगका अभाव हो जानेसे अयोगकेवलीके उसका सवर होता है।

विशेषार्थ—सवर जीवनमे नये दोष और दोषोके कारण एकत्रित न होने देनेका मार्ग है। सवरके होनेपर ही सचित हुए दोषो व उनके कारणोका परिमार्जन किया जा सकता है और तभी मुक्ति-लाभ होता है। साधारणत वे दोष और उनके कारण क्या है यहाँ इनकी गुणस्थानक्रमसे विस्तृत चर्चा की गयी है। प्राणीमात्रको इन्हे समझकर सवरके मार्गमे लगना चाहिए यह उक्त कथनका भाव है।

§ 788. सवरका कथन किया। अब उसके हेतुओका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रसे होता है ॥2॥

---

1. मानमाया— मु.। 2 —भावात्तदु— मु.। 3. तद्भेदप्रति— मु.।

§ 789. यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः। प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः। इष्टे[1] स्थाने धत्ते इति धर्मः। शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। क्षुदादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषहः। परिषहस्य जयः परिषहजयः। चारित्रशब्द आदिसूत्रे व्याख्यातार्थः। एतेषां गुप्त्यादीनां संवरणक्रियाया साधकतमत्वात् करणनिर्देशः। संवरोऽधिकृतोऽपि 'स' इति तच्छब्देन परामृश्यते गुप्त्यादिभिः साक्षात्संबन्धनार्थः[2]। किं प्रयोजनम्? अवधारणार्थम्[3]। स एष संवरो गुप्त्यादिभिरेव नान्येनोपायेनेति। तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोप-[4]हारदेवताराधनादयो निवर्तिता भवन्ति; रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्मणोऽन्यथा निवृत्त्यभावात्।

§ 790. संवरनिर्जराहेतुविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तपसा निर्जरा च ॥3॥

§ 791. तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्यप्रतिपादनार्थं च। ननु च तपोऽभ्युदयांगमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्[5], तत् कथं निर्जरांगं स्यादिति? नैष दोषः; एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाग्निरेकोऽपि [6]विक्लेदन-

---

§ 789. जिसके बलसे संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है। प्राणिपीडाका परिहार करनेके लिए भले प्रकार आना-जाना, उठाना-धरना, ग्रहण करना व मोचन करना समिति है। जो इष्ट स्थानमे धरता है वह धर्म है। शरीरादिकके स्वभावका बार बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुधादि वेदनाके होनेपर कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए उसे सह लेना परिषह है और परिषहका जीतना परिषहजय है। चारित्र शब्दका प्रथम सूत्रमे व्याख्यान कर आये हैं। ये गुप्ति आदिक संवररूप क्रियाके अत्यन्त सहकारी हैं, अतएव सूत्रमे इनका करण रूपसे निर्देश किया है। संवरका अधिकार है तथापि गुप्ति आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध दिखलानेके लिए इस सूत्रमे उसका 'स' इस पदके द्वारा निर्देश किया है। **शंका**—इसका क्या प्रयोजन है? **समाधान**—अवधारण करना इसका प्रयोजन है। यथा—वह संवर गुप्ति आदिक द्वारा ही हो सकता है, अन्य उपायसे नही हो सकता। इस कथनसे तीर्थयात्रा करना, अभिषेक करना, दीक्षा लेना, उपहार स्वरूप सिरको अर्पण करना और देवताकी आराधना करना आदिका निराकरण हो जाता है, क्योंकि राग, द्वेष और मोहके निमित्तसे ग्रहण किये गये कर्मका अन्यथा अभाव नही किया जा सकता।

§ 790. अब संवर और निर्जराके हेतु विशेषका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तपसे निर्जरा होती है और संवर भी होता है ॥ 3 ॥

§ 791. तपका धर्ममे अन्तर्भाव होता है फिर भी वह संवर और निर्जरा इन दोनोंका कारण है और संवरका प्रमुख कारण है यह बतलानेके लिए उसका अलगसे कथन किया है। **शंका**—तपको अभ्युदयका कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेषकी प्राप्तिके हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है, इसलिए वह निर्जराका कारण कैसे हो सकता है? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योंकि अग्निके समान एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य

---

1. 'संसारदुःखतः सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे।' रत्न पृ 250। 2 —सबन्धार्थं। प्रयो- मु.। 3 —र्थम्। स मु। 4 'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः। सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥' युक्त्यनु श्लो 39। 5. —मात्, स्य मु। 6 —रेकोऽपि [illegible]वादिप- आ.। —कोऽपि विक्लेदभस्मतादृभावादिप्र- दि. 2। —नोऽपि पवनविक्लेदन[illegible] 1।

भस्मांगारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः ।

§ 792. सवरहेतु[1]ष्वादावुद्दिष्टाया गुप्तेः स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥4॥

§ 793. योगो व्याख्यातः 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र । तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनं निग्रहः । विषयसुखाभिलाषार्थ[2]प्रवृत्तिनिषेधार्थं सम्यग्विशेषणम् । तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशाप्रादुर्भावपरात्कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति सवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या । सा त्रितयी कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति ।

§ 794. तत्राशक्तस्य मुनेर्निरवद्यप्रवृत्तिख्यापनार्थमाह—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥5॥

§ 795. 'सम्यग्' इत्य[3]नुवर्तते । तेनेर्यादयो विशेष्यन्ते । सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपौ सम्यगुत्सर्ग इति । ता एताः पञ्च समितयो विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेः प्राणिपीडापरिहाराभ्युपाया वेदितव्याः । तथा प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्संवरो भवति ।

§ 796 तृतीयस्य संवरहेतोर्धर्मस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

उपलब्ध होते है वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय इन दोनोका हेतु है ऐसा होने मे क्या विरोध है ।

§ 792 गुप्तिका सवरके हेतुओके प्रारम्भमे निर्देश किया है, अत उसके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

योगोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है ॥4॥

§ 793 'कायवाङ्मन कर्म योग.' इस सूत्रमे योगका व्याख्यान कर आये है । उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का बन्द होना निग्रह है । विषय-सुखकी अभिलाषाके लिए की जानेवाली प्रवृत्तिका निषेध करनेसे लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है । इस सम्यक् विशेषण युक्त सक्लेशको नही उत्पन्न होने देनेरूप योगनिग्रहसे कायादि योगोका निरोध होने पर तन्निमित्तक कर्म आस्रव नही होता है, इसलिए सवरकी प्रसिद्धि जान लेना चाहिए । वह गुप्ति तीन प्रकारकी है—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ।

§ 794. अब गुप्तिके पालन करनेमे अशक्त मुनिके निर्दोष प्रवृत्तिकी प्रसिद्धिके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं ॥5॥

§ 795 यहाँ 'सम्यक्' इस पदकी अनुवृत्ति होती हैं । उससे ईर्यादिक विशेष्यपनेको प्राप्त होते हैं—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यगुत्सर्ग । इस प्रकार कही गयी ये पाँच समितियाँ जीवस्थानादि विधिको जाननेवाले मुनिके प्राणियोकी पीडाको दूर करनेके उपाय जानने चाहिए । इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवालेके असयमरूप परिणामोके निमित्तसे जो कर्मोंका आस्रव होता है उसका सवर होता है ।

§ 796 तीसरा सवरका हेतु धर्म है । उसके भेदोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1 —हेतुत्वादा— । 2. —पार्थवृत्तिनियमनार्थं सम्य- ता., ना. । 3. इति वर्तते ता. ।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥6॥

§ 797. किमर्थमिदमुच्यते ? आद्यं प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्, तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयम् । इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं[1] समितिषु प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् । शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्यु[2]पगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहसनावज्ञाताडनशरीरव्यापादनादीनां संनिधाने कालुष्यानुत्पत्तिः क्षमा । जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणम् । योगस्यावक्रता आर्जवम् । प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम् । सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते । ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति ? नैष दोषः; समितौ प्रवर्तमानो मुनिः साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात् अन्यथा रागादनर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समितिरित्यर्थः । इह पुनः संतः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्र[3]शिक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम् । समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारस्संयमः । कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः । तदुत्तरत्र वक्ष्यमाणं द्वादशविकल्पमवसेयम् । संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः । उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिंचन्यम् । नास्य[4] किंचनास्तीत्यकिंचनः तस्य भावः कर्म वा आकिंचन्यम् । अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवण-

---

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकारका धर्म है ॥6॥

§ 797 **शंका**—यह किसलिए कहा है ? **समाधान**—संवरका प्रथम कारण प्रवृत्तिका निग्रह करनेके लिए कहा है । जो वैसा करनेमे असमर्थ है उन्हे प्रवृत्तिका उपाय दिखलानेके लिए दूसरा कारण कहा है । किन्तु यह दश प्रकारके धर्मका कथन समितियोमे प्रवृत्ति करनेवालेके प्रमादका परिहार करनेके लिए कहा है । शरीरकी स्थितिके कारणकी खोज करनेके लिए पर कुलोमे जाते हुए भिक्षुको दुष्ट जन गाली-गलौज करते है, उपहास करते है, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीरको तोडते-मरोडते है तो भी उनके कलुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है । जाति आदि मदोके आवेशवश होनेवाले अभिमानका अभाव करना मार्दव है । मार्दवका अर्थ है मानका नाश करना । योगोका वक्र न होना आर्जव है । प्रकर्षप्राप्त लोभका त्याग करना शौच है । अच्छे पुरुषोके साथ साधु वचन बोलना सत्य है । **शंका**—इसका भाषासमितिमे अन्तर्भाव होता है ? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि समितिके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला मुनि साधु और असाधु दोनो प्रकारके मनुष्योमे भाषाव्यवहार करता हुआ हितकारी परिमित वचन बोले, अन्यथा राग होनेसे अनर्थदण्डका दोष लगता है यह वचनसमितिका अभिप्राय है । किन्तु सत्य धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला मुनि सज्जन पुरुष, *दीक्षित या उनके भक्तोमे साधु* सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान चारित्रके शिक्षण आदिके निमित्तसे बहुविध कर्तव्योकी सूचना देता है और यह सब धर्मकी अभिवृद्धिके अभिप्रायसे करता है, इसलिए सत्य धर्मका भाषासमितिमे अन्तर्भाव नही होता । समितियोमे प्रवृत्ति करनेवाले मुनि के उनका परिपालन करनेके लिए जो प्राणियोका और इन्द्रियोका परिहार होता है वह संयम है । कर्मक्षयके लिए जो तपा जाता है वह तप है । वह आगे कहा जानेवाला बारह प्रकारका जानना चाहिए । संयतके योग्य ज्ञानादिका दान करना त्याग है । जो शरीरादिक उपात्त है उनमे भी संस्कारका त्याग करनेके लिए 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका त्याग करना आकिंचन्य है । जिसका कुछ नहीं है वह अकिंचन है और उसका भाव या कर्म आकिंचन्य है । अनुभूत स्त्रीका स्मरण न करनेसे, स्त्री-

---

1. –ख्यानं प्रवर्त– ता । 2. –न्युपयतो भिक्षो ता. । 3 –रित्रलक्षणा– मु. । 4. –नास्ति किंचनास्याकिं– मु., दि. 1, दि. 2 ।

स्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा [1]गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्। तान्येवं भाव्यमानानि धर्मव्यपदेशभाञ्जिस्वगुणप्रतिपक्षदोषसद्भावनाप्रणिहितानि संवरकारणानि भवन्ति।

§ 798. आह, क्रोधाद्यनुत्पत्तिः क्षमादिविशेषप्रत्यनीकालम्बनादित्युक्तम्। तत्र कस्मात्क्षमादीनयमवलम्बते नान्यथा प्रवर्तत इत्युच्यते। यस्मात्तप्तायःपिण्डवत्क्षमादिपरिणतेनात्महितैषिणा कर्तव्याः—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥7॥

§ 799. इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि समुदयरूपाणि जलबुद्बुद्वदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते। न किंचित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यतानुप्रेक्षा। एवं [2]ह्यस्य भव्यस्य चिन्तयतस्तेष्वभिष्वङ्गाभावाद् भुक्तोज्झितगन्धमाल्यादिष्विव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते।

§ 800. यथा—मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न

विषयक कथाके सुननेका त्याग करनेसे और स्त्रीसे सटकर सोने व बैठनेका त्याग करनेसे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्तिका त्याग करनेके लिए गुरुकुलमे निवास करना ब्रह्मचर्य है। दिखाई देनेवाले प्रयोजनका निषेध करनेके लिए क्षमादिके पहले उत्तम विशेषण दिया है। इस प्रकार जीवनमे उतारे गये और स्वगुण तथा प्रतिपक्षभूत दोषोके सद्भावमे यह लाभ और यह हानि है इस तरहकी भावनामे प्राप्त हुए ये धर्मसज्ञावाले उत्तम क्षमादिक सवरके कारण होते है।

§ 798 क्षमादि विशेष और उनके उलटे कारणोका अवलम्बन आदि करनेसे क्रोधादिकी उत्पत्ति नही होती है यह पहले कह आये है। उसमे किस कारणसे यह जीव क्षमादिकका अवलम्बन लेता है, अन्यथा प्रवृत्ति नही करता है इसका कथन करते हैं। यत तपाये हुए लोहेके गोलेके समान क्षमादिरूपसे परिणत हुए आत्महितैषीको करने योग्य—

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्वका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं ॥7॥

§ 799 ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रियविषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जलके बुलबुलेके समान अनवस्थित स्वभाववाले हैं तथा गर्भादि अवस्थाविशेषोमे सदा प्राप्त होनेवाले संयोगोसे विपरीत स्वभाववाले है। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमे नित्यताका अनुभव करता है पर वस्तुत. आत्माके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगस्वभावके सिवा इस संसारमे अन्य कोई भी पदार्थ ध्रुव नही है इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस भव्यके उन शरीरादिमे आसक्तिका अभाव होनेसे भोगकर छोड़े हुए गन्ध और माला आदिके समान वियोग कालमे भी सन्ताप नही होता है।

§ 800 जिस प्रकार एकान्तमे क्षुधित और मांसके लोभी बलवान् व्याघ्रके द्वारा दबोचे गये मृगशावकके लिए कुछ भी शरण नही होता उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि

1. —कुलावासो मु., ता.। 2. ह्यस्य चिन्त— मु., ता.।

किञ्चिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते। परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते। यत्नेन संचिता[1] अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति। संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते। बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति। अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद् भवव्यसनसंकटे धर्म एव शरणं। सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यत्किंचिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतो नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो[2] भवति। भगवदर्हत्सर्वज्ञ-प्रणीत एव मार्गे प्रयत्नो[3] भवति।

§ 801 कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। स पुरस्तात्पञ्चविधपरिवर्तन-रूपेण व्याख्यातः। तस्मिन्ननेकयोनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्र[4]-प्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति। स्वामी भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति। नट इव रङ्गे। अथवा किं बहुना, स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्य भावयतः संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय [5]प्रयतते।

§ 802. जन्मजरामरणावृत्ति[6]महादुःखानुभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा

दुःखोके मध्यमे परिभ्रमण करनेवाले जीवका कुछ भी शरण नही है। परिपुष्ट हुआ शरीर ही भोजनके प्रति सहायक है, दुःखोके प्राप्त होनेपर नही। यत्नसे सचित किया हुआ धन भी भवान्तरमे साथ नही जाता। जिन्होने सुख और दुःखको समानरूपसे बाँट लिया है ऐसे मित्र भी मरणके समय रक्षा नही कर सकते। मिलकर बन्धुजन भी रोगसे व्याप्त इस जीवकी रक्षा करने मे असमर्थ होते है। यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दुःखरूपी महासमुद्रमे तरनेका उपाय हो सकता है। मृत्युसे ले जानेवाले इस जीवके सहस्रनयन आदि भी शरण नही है, इसलिए संसार विपत्तिरूप स्थानमे धर्म ही शरण है। वही मित्र है और वही कभी भी न छूटनेवाला अर्थ है, अन्य कुछ शरण नही है इस प्रकारकी भावना करना अशरणानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके 'मैं सदा अशरण हूँ' इस तरह अतिशय उद्विग्न होनेके कारण संसारके कारणभूत पदार्थोंमे ममता नही रहती और वह भगवान् अरहत सर्वज्ञ प्रणीत मार्गमे ही प्रयत्न-शील होता है।

§ 801. कर्मके विपाकके वशसे आत्माको भवान्तरकी प्राप्ति होना संसार है। उसका पहले पाँच प्रकारके परिवर्तनरूपसे व्याख्यान कर आये हैं। अनेक योनि और कुल कोटिलाखसे व्याप्त इस ससारमे परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्रसे प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रगस्थलमे नट नाना रूप धारण करता है उस प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन, स्वय अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूपसे ससारके स्वभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए संसारके दुःखके भयसे उद्विग्न हुए इसके ससारसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर ससारका नाश करनेके लिए प्रयत्न करता है।

§ 802. 'जन्म, जरा और मरणकी आवृत्तिरूप महादुःखका अनुभवन करनेके लिए अकेला

---

1 संचितोऽर्थोऽपि न भवान्तरमनुगच्छति मु.। 2 ममत्वनिरासो भव- आ, दि 1, दि 2, मु, ना.। 3. मार्गे प्रतिपन्नो भव-आ., दि. 1, दि 2, मु.। 4 -यन्त्रानुप्रेरित। 5. प्रतियतते मु.। 6 -मरणानुवृत्ति-मु.।

विद्यते । एक एव जायेऽहम्[1] । एक एव म्रिये । न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरा-मरणादीनि दुःखान्यपहरति । बन्धुमित्राणि स्मशानं[2] नातिवर्तन्ते । धर्म एव मे सहायः सदा अनपायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति । परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते । ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते ।

§ 803 शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा । तद्यथा—बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्योऽहमैन्द्रियकं शरीर[3]मतीन्द्रियोऽहमज्ञं शरीरं ज्ञोऽहमनित्यं शरीरं नित्योऽहमाद्यन्तवच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहम् । बहूनि मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः । स एवाहमन्यस्तेभ्य इत्येवं मे किमङ्ग, पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः इत्येव ह्यस्य मनः समादधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते । ततस्तत्त्वज्ञानभावनापूर्वके वैराग्यप्रकर्षे सति आत्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्या[4]वाप्तिर्भवति ।

§ 804 शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनि[5] शुक्रशोणिताशुचिसंवर्धितमवस्करवदशुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितमतिपूतिरसनिष्यन्दिस्रोतोबिलमङ्गारवदात्मभावमाश्रितमप्याश्वेवापादयति । स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुमस्य । सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य

मैं ही हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा और मरण आदि दुःखोको दूर नही करता। बन्धु और मित्र श्मशानसे आगे नही जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोडनेवाला सदा काल सहायक है।' इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके स्वजनोमे प्रीतिका अनुबन्ध नही होता और परजनोमे द्वेषका अनुबन्ध नही होता, इसलिए निःसगताको प्राप्त होकर मोक्षके लिए ही प्रयत्न करता है।

§ 803 शरीरसे अन्यत्वका चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—यथा बन्धके प्रति अभेद होनेपर भी लक्षणके भेदसे 'मै' अन्य हूँ। शरीर ऐन्द्रियिक है, मै अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। ससारमे परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखो शरीर अतीत हो गये। उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीरसे भी जब मैं अन्य हूँ तब हे वत्स! मै बाह्य पदार्थोसे भिन्न होऊँ तो इसमे क्या आश्चर्य? इस प्रकार मनको समाधान युक्त करनेवाले शरीरादिकमे स्पृहा उत्पन्न नही होती है और इससे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्यका प्रकर्ष होनेपर आत्यन्तिक मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है।

§ 804 यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थोका योनि है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थोसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है, शौचगृहके समान अशुचि पदार्थोका भाजन है। त्वचामात्रसे आच्छादित है। अति दुर्गन्ध रसको बहानेवाला झरना है। अगारके समान अपने आश्रयमें आये हुए पदार्थको भी शीघ्र ही नष्ट करता है। स्नान, अनुलेपन, धूपका मालिश और सुगन्धिमाला आदिके द्वारा भी इसकी अशुचिताको दूर कर सकना शक्य नही है, किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीवकी आत्यन्तिक शुद्धिको प्रकट करते हैं। इस प्रकार वास्तविकरूपसे चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इसके शरीरसे निर्वेद

---

1. जायेऽहम् । एक ता. । 2. स्मशानात् नाति— ता । 3. —मनिन्द्रियो मु., दि 1, दि 2, ता. । 4. —स्याप्तिर्भ- मु. । 5 —न्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचिस— मु. । —न्ताशुचिभूतिशुक्रशोणितसं —दि. 1 । —न्ताशुचिशुक्रशोणितस— दि. 2 ।

संस्मरत शरीरनिर्वेदो भवति । निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते ।

§ 805. आस्रवसंवरनिर्जराः पूर्वोक्ता अपि इहोपन्यस्यन्ते [1]तद्गतगुणदोषभावनार्थम् । तद्यथा—आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषाया व्रतादयः । तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शनादीनि वनगजवायसपन्नगपतङ्गहरिणादीन् व्यसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायादयोऽपीह वधबन्धापय[2]शःपरिक्लेशादीन् जनयन्ति । अमुत्र च नानागतिषु बहुविधदुःखप्रज्वलितासु परि[3]भ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयत क्षमादिषु श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते । सर्वं एते आस्रवदोषाः कूर्मवत्संवृतात्मनो न भवन्ति ।

§ 806. यथा महार्णवे नावो [4]विवरपिधानेऽसति क्रमात् स्रुतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं, तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्ध इति संवरगुणानुचिन्तन संवरानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति । ततश्च निःश्रेयसपदप्राप्तिरिति ।

§ 807. निर्जरा वेदनाविपाक[5] इत्युक्तम् । सा द्वेधा—अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा । परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति । इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्यानु-

होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधिको तरनेके लिए चित्तको लगाता है ।

§ 805 आस्रव, संवर और निर्जराका कथन पहले कर आये है तथापि उनके गुण और दोषोका विचार करनेके लिए यहाँ उनका फिरसे उपन्यास किया गया है । यथा—आस्रव इस लोक और परलोकमे दुःखदायी है । महानदीके प्रवाहके वेगके समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप है । उनमे से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वनगज, कौआ, सर्प, पतग और हरिण आदिको दुःख रूप समुद्रमे अवगाहन कराती हैं । कषाय आदिक भी इस लोकमे वध, वन्ध अपयश और क्लेशादिक दुःखोको उत्पन्न करते हैं, तथा परलोकमे नाना प्रकारके दुःखोसे प्रज्वलित नाना गतियोमे परिभ्रमण कराते हैं । इस प्रकार आस्रवके दोषोका चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके क्षमादिकमे कल्याणरूप बुद्धिका त्याग नही होता है, तथा कछुएके समान जिसने अपनी आत्माको सवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रवके दोष नही होते हैं ।

§ 806 जिस प्रकार महार्णवमे नावके छिद्रके नही ढके रहनेपर क्रमसे झिरे हुए जलसे व्याप्त होनेपर उसके आश्रयसे बैठे हुए मनुष्योका विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्रके ढँके रहने पर निरुपद्रवरूपसे अभिलषित देशान्तरका प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागमके द्वारके ढंके होनेपर कल्याणका प्रतिवन्ध नही होता । इस प्रकार संवरके गुणोका चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके सवरमे निरन्तर उद्युक्तता होती है और इससे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है ।

§ 807 वेदना विपाकका नाम निर्जरा है यह पहले कह आये हैं । वह दो प्रकारकी है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला । नरकादि गतियोमे कर्मफलके विपाकसे जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुवन्धा है । तथा परीषहके जीतनेपर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है । वह शुभानुवन्धा और निरनुवन्धा होती है । इस प्रकार निर्जराके गुणदोषका

1 तद्गुण– मु. । 2 –वन्धपरि– मु, ता. । 3 –तासु भ्रम– मु । 4 ङ्विवरापिधाने मति मु । 5. –पाकजा इत्यु– मु. ।

स्मरतः कर्मनिर्जरायै प्रवृत्तिर्भवति ।

§ 808. लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यात । तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्याध्यवस्यतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवति ।

§ 809. एकस्मिन्निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः । एवं सर्वलोको निरन्तरं निचित स्थावरैरतस्तत्र त्रसता वालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा । तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात्पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या । तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः । तत्प्रच्यवे च पुनस्तदुत्पत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिवद् दुर्लभा । तल्लाभे च देशकुलेन्द्रियसंपन्नीरोगत्वान्युत्तरोत्तरतोऽतिदुर्लभानि । सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्याद् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम् । तमेवं[1] कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थचन्दनदहनमिव विफलम् । विरक्तविषयसुखस्य तु तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षण समाधिर्दुरवापः । तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तन बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य भावयतो बोधिं प्राप्य

चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसकी कर्मनिर्जराके लिए प्रवृत्ति होती है।

§ 808 लोकसस्थान आदिकी विधि पहले कह आये है। अर्थात् चारो ओरसे अनन्त अलोकाकाशके बहुमध्यदेशमे स्थित लोकके सस्थान आदिकी विधि पहले कह आये हैं। उसके स्वभावका अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करनेवाले इसके तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि होती है।

§ 809 एक निगोदशरीरमे सिद्धोसे अनन्तगुणे जीव है। इस प्रकार स्थावर जीवोसे सब लोक निरन्तर भरा हुआ है। अत इस लोकमे त्रस पर्यायका प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि वालुकाके समुद्रमे पडी हुई वज्रसिकताकी कणिकाका प्राप्त होना दुर्लभ होता है। उसमे भी विकलेन्द्रिय जीवोकी वहुलता होनेके कारण गुणोमे जिस प्रकार कृतज्ञता गुणका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्यायका प्राप्त होना दुर्लभ है। उसमे भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यंचोकी बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौपथपर रत्नराशिका प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना भी अति कठिन है। और मनुष्य पर्यायके मिलनेके वाद उसके च्युत हो जानेपर पुन उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन है जितना कि जले हुए वृक्षके पुद्गलोका पुन उस वृक्ष पर्यायरूपसे उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् पुन इसकी प्राप्ति हो जाये तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सवके मिल जानेपर भी यदि समीचीन धर्मकी प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टिके विना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्यजन्मका प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अतिकठिनतासे प्राप्त होने योग्य उस धर्मको प्राप्त कर विषयसुखमे रममाण होना भस्मके लिए चन्दनको जलानेके समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुखसे विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधिका प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके होनेपर ही वोधिलाभ सफल है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके वोधिको प्राप्त कर कभी भी

---

1. तमेव कृ.- आ, दि 1, दि. 2 ।

प्रमादो न कदाचिदपि भवति ।

§ 810. अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः । क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बन. । अस्यालाभादनादिससारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकजं दु खमनुभवन्त । अस्य पुन. प्रतिलम्भे विविधाभ्युदयप्राप्तिपूर्विका निःश्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्याततत्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयतो धर्मानुरागात्सदा[1] प्रतियत्नो भवति ।

§ 811 एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासंनिधाने उत्तमक्षमादिधारणान्महान् संवरो भवति । मध्ये 'अनुप्रेक्षा'वचनमुभयार्थम् । अनुप्रेक्षा हि भावयन्नुत्तमक्षमादींश्च प्रतिपालयति परीषहांश्च जेतुमुत्सहते ।

§ 812 के पुनस्ते परिषहाः किमर्थं वा[2] ते सह्यन्त इतीदमाह—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।।8।।

§ 813. संवरस्य प्रकृतत्वात्तेन मार्गो विशिष्यते । संवरमार्ग इति । तदच्यवनार्थं निर्जरार्थं च परिषोढव्याः परीषहाः । क्षुत्पिपासादिसहनं कुर्वन्तः जिनोपदिष्टान्मार्गादप्रच्यवमानास्तन्मार्ग-परिक्रमणपरिचयेन कर्मागमद्वारं संवृण्वन्त औपक्रमिकं कर्मफलमनुभवन्तः क्रमेण निर्जीर्णकर्माणो मोक्षमाप्नुवन्ति ।

प्रमाद नही होता ।

§ 810 जिनेन्द्रदेवने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका वल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशमकी उसमे प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है । इसकी प्राप्ति नही होनेसे दुष्कर्म विपाकसे जायमान दु खको अनुभव करते हुए ये जीव अनादि ससारमे परिभ्रमण करते हैं । परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकारके अभ्युदयोकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्याततत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके धर्मानुरागवश उसकी प्राप्तिके लिए सदा यत्न होता है ।

§ 811 इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओका सान्निध्य मिलने पर उत्तमक्षमादिके धारण करनेसे महान् सवर होता है । अनुप्रेक्षा दोनोका निमित्त है इसलिए 'अनुप्रेक्षा' वचन मध्यमे दिया है । अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करता हुआ यह जीव उत्तमक्षमादिका ठीक तरहसे पालन करता है और परीषहोको जीतनेके लिए उत्साहित होता है ।

§ 812 वे परीषह कौन-कौन हैं और वे किसलिए सहन किये जाते हैं, यह बतलानेके लिए यह सूत्र कहते हैं—

मार्गसे च्युत न होनेके लिए और कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए जो सहन करने योग्य हो वे परीषह हैं ।।8।।

§ 813. सवरका प्रकरण होनेसे वह मार्गका विशेषण है, इसलिए सूत्रमे आये हुए 'मार्ग' पदसे संवरमार्गका ग्रहण करना चाहिए । उससे च्युत न होनेके लिए और निर्जराके लिए सहन करने योग्य परीषह होते हैं । क्षुधा, पिपासा आदिको सहन करनेवाले, जिनदेवके द्वारा कहे हुए मार्गसे नही च्युत होनेवाले, मार्गके सतत अभ्यासरूप परिचयके द्वारा कर्मागमद्वारको संवृत करनेवाले तथा औपक्रमिक कर्मफलको अनुभव करनेवाले क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्षको प्राप्त होते हैं ।

---

1. सदा कृतप्रति- ता. । 2 वा सह्य- मु. ।

§ 814. तत्स्वरूपसंख्यासंप्रतिपत्त्यर्थमाह—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।।9।।

§ 815. क्षुदादयो वेदनाविशेषा द्वाविंशतिः। एतेषां सहनं मोक्षार्थिना कर्तव्यम्। तद्यथा—भिक्षोर्निरवद्याहारगवेषिणस्तदलाभे ईषल्लाभे च अनिवृत्तवेदनस्याकाले अदेशे च भिक्षां प्रति निवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहाणिं मनागप्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरस्य बहुकृत्वः स्वकृतपरकृतानशनावमौदर्यस्य नीरसाहारस्य सतप्तभ्राष्ट्रपतितजलबिन्दुकतिपयवत्सहसा परिशुष्कपानस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि सतो भिक्षालाभादलाभमधिकगुणं मन्यमानस्य क्षुद्बाधां प्रत्यचिन्तनं क्षुद्विजयः।

§ 816. जलस्नानावगाहनपरिषेकपरित्यागिनः पतत्रिवदनियतासनावसथस्यातिलवणस्निग्धरूक्षविरुद्धाहारग्रैष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारस्य पिपासानलशिखां धृतिनवमृद्घटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिवारिणा प्रशमयतः पिपासासहनं प्रशस्यते।

§ 817 परित्यक्तप्रच्छादनस्य पक्षिवदनवधारितालयस्य वृक्षमूलपथिशिलातलादिषु

---

§ 814 अब उन परीषहोंके स्वरूप और संख्याका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नामवाले परीषह हैं ।।9।।

§ 815 क्षुधादिक वेदनाविशेष बाईस है। मोक्षार्थी पुरुषको इनको सहन करना चाहिए। यथा—जो भिक्षु निर्दोष आहारका शोध करता है, जो भिक्षाके नही मिलने पर या अल्पमात्रामे मिलने पर क्षुधावेदनाको नही प्राप्त होता, अकालमे या अदेशमे जिसे भिक्षा लेनेकी इच्छा नही होती, आवश्यकोकी हानिको जो थोडा भी सहन नही करता, जो स्वाध्याय और ध्यानभावनामे तत्पर रहता है, जिसने बहुत वार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमौदर्य तप किया है, जो नीरस आहारको लेता है, अत्यन्त गरम भाडमे गिरी हुई जलकी कतिपय बूँदोके समान जिसका गला सूख गया है और क्षुधावेदनाकी उदीरणा होनेपर भी जो भिक्षालाभकी अपेक्षा उसके अलाभको अधिक गुणकारी मानता है उसका क्षुधाजन्य बाधाका चिन्तन नही करना क्षुधापरीषहजय है।

§ 816. जिसने जलसे स्नान करने, उसमे अवगाहन करने और उससे सिंचन करनेका त्याग कर दिया है, जिसका पक्षीके समान आसन और आवास नियत नही है, जो अतिखारे, अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष प्रकृति विरुद्ध आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदिके कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियोंको मथनेवाली पिपासाका प्रतीकार करनेमे आदरभाव नही रखता, और जो पिपासारूपी अग्निशिखाको सन्तोषरूपी नूतन मिट्टीके घड़ेमे भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधिरूपी जलसे शान्त कर रहा है उसके पिपासाजय प्रशसाके योग्य है।

§ 817 जिसने आवरणका त्याग कर दिया है, पक्षीके समान जिसका आवास निश्चित

---

1. —रस्य तप्त— मु.।

हिमानीपतनशीतलानिल[1]सपाते तत्प्रतिकारप्राप्ति प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकार-हेतुवस्तूनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भागारे वसत शीतवेदनासहनं परिकीर्त्यते ।

§ 818 निवाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपरिशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यटव्यन्तरे यदृच्छयोपनिपतितस्यानशनाद्यभ्यन्तरसाधनोत्पादितदाहस्य दवाग्निदाहपरुषवातातपजनितगलता-लुशोषस्य तत्प्रतीकारहेतून् बहूननुभूतानचिन्तयतः प्राणिपीडापरिहारावहितचेतसश्चारित्ररक्षण-मुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते ।

§ 819. 'दंशमशक'[2]ग्रहणमुपलक्षणम् । यथा "काकेभ्यो रक्ष्यता सर्पि" इति उपघात-कोप[3]लक्षणं काकग्रहणं, तेन दशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादयो गृह्यन्ते । तत्कृतां बाधामप्रतीकारां सहमानस्य तेषां बाधां त्रिधाप्यकुर्वाणस्य निर्वाणप्राप्तिमात्र-संकल्पप्रावरणस्य तद्वेदनासहनं दंशमशकपरिषहक्षमेत्युच्यते ।

§ 820. जातरूपवन्निष्कलकजातरूपधारणमशक्यप्रार्थनीयं[4] याचनरक्षणहिंसनादिदोष-विनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्निर्वाणप्राप्ति प्रत्येक साधनमनन्यबाधन नाग्न्य बिभ्रतो मनोविक्रिया-विप्लुतिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचिकुणपरूपेण भावयतो रात्रिन्दिवं ब्रह्मचर्यमखण्डमातिष्ठ-मानस्याचेलव्रतधारणमनवद्यमवगन्तव्यम् ।

§ 821. संयतस्येन्द्रियेष्टविषयसंबन्धं प्रति निरुत्सुकस्य गीतनृत्यवादित्रादिविरहितेषु

नही है, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदिपर निवास करते हुए बर्फके गिरने पर और शीतल हवाका झोका आनेपर उसका प्रतीकार करनेकी इच्छासे जो निवृत्ति है, पहले अनुभव किये गये शीतके प्रतीकारके हेतुभूत वस्तुओका जो स्मरण नही करता और जो ज्ञानभावनारूपी गर्भागार-मे निवास करता है उसके शीतवेदनाजय प्रशसाके योग्य है ।

§ 818 निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोसे सूख कर पत्तोके गिर जानेसे छायारहित वृक्षोसे युक्त ऐसे वनके मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन आदि आभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु और आतपके कारण जिसे गले और तालुमे शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकारके बहुत-से अनु-भूत हेतुओको जानता हुआ भी उनका चिन्तन नही करता है तथा जिसका प्राणियोकी पीडाके परिहारमे चित्त लगा हुआ है उस साधुके चारित्रके रक्षणरूप उष्णपरीषहजय कही जाती है ।

§ 819 सूत्रमे 'दशमशक' पदका ग्रहण उपलक्षण है । जैसे 'कौओसे घीको रक्षा करनी चाहिए' यहाँ 'काक' पदका ग्रहण उपघातक जितने जीव है उनका उपलक्षण है, इसलिए 'दशम-शक' पदसे दशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चीटी और बिच्छु आदिका ग्रहण होता है । जो इनके द्वारा की गयी बाधाको बिना प्रतीकार किये सहन करता है, मन वचन और कायसे उन्हे बाधा नही पहुँचाता है और निर्वाणकी प्राप्तिमात्र सकल्प ही जिसका ओढना है उसके उनकी वेदनाको सह लेना दशमशक परीषहजय कहा जाता है ।

§ 820 बालकके स्वरूपके समान जो निष्कलक जातरूपको धारण करनेरूप है, जिसका याचना करनेसे प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषोसे रहित है, जो निष्परिग्रहरूप होनेसे निर्वाण प्राप्तिका एक—अनन्य साधन है और जो दिन-रात अखण्ड ब्रह्मचर्यको धारण करता है उसके निर्दोष अचेलव्रत धारण जानना चाहिए ।

§ 821. जो संयत इन्द्रियोके इष्ट विषयसम्बन्धके प्रति निरुत्सुक है, जो गीत, नृत्य और

1, –शीतानिल– आ, दि 1, दि 2 । 2 - ग्रहण दशमशकोपलक्षण । यथा आ. दि 1, दि 2, ता. । 3. उपघातोप– मु । 4 –शक्यमप्रार्थ्य– ता., ना, दि. 2, आ ।

शून्यागारदेवकुलतरुकोटरशिलागुहादिषु स्वाध्यायध्यानभावनारतिमास्कन्दतो दृष्टश्रुतानु[1]भूतरतिस्मरणतत्कथाश्रवणकामशरप्रवेशनिर्विवरहृदयस्य प्राणिषु सदा सदयस्यारतिपरिषहजयोऽवसेयः।

§ 822. एकान्तेष्वारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदविभ्रममदिरापानप्रमत्तासु प्रमदासु बाधमानासु कूर्मवत्संवृ[2]तेन्द्रियविकारस्य ललितस्मितमृदुकथितसविलासवीक्षणप्रहसनमदमन्थर[3]-गमनमन्मथशरव्यापारविफलीकरणस्य[4] स्त्रीबाधापरिषहसहनमवगन्तव्यम्।

§ 823 दीर्घकालमुषितगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबन्धमोक्षपदार्थतत्त्वस्य संयमायतनभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेर्गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य पवनवन्निःसंगतामङ्गीकुर्वतो बहुशोऽनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागादिबाधापरिक्ला[5]न्तकायस्य देशकालप्रमाणापेतमध्वगमनं संयमविरोधि परिहरतो निराकृतपादावरणस्य परुषशर्कराकण्टकादिव्य[6]धनजातचरणखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतो यथाकालमावश्यकापरिहाणिमास्कन्दतश्चर्यापरिषहसहनमवसेयम्।

§ 824 स्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागह्वरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसत आदित्यप्रकाश[7]स्वेन्द्रियज्ञानपरीक्षितप्रदेशे[8] कृतनियमक्रियस्य निषद्यां नियमितकालामास्थितवतः सिंहव्या-

---

वादित्र आदिसे रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर और शिलागुफा आदिमे स्वाध्याय, ध्यान और भावनामे लीन है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषयभोगके स्मरण, विषयभोग सम्बन्धी कथाके श्रवण और कामशर प्रवेशके लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियोके ऊपर सदाकाल सदय है उसके अरतिपरीषहजय जानना चाहिए।

§ 822 एकान्त ऐसे बगीचा और भवन आदि स्थानो मे नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापानसे प्रमत्त हुई स्त्रियोके द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुएके समान जिसने इन्द्रिय और हृदयके विकारको रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरोसे देखना, हँसना, मदभरी धीमी चालसे चलना, और कामबाण मारना आदिको विफल कर दिया है उसके स्त्रीबाधापरीषहजय जानना चाहिए।

§ 823 जिसने दीर्घकाल तक गुरुकुलमे रहकर ब्रह्मचर्यको धारण किया है, जिसने बन्धमोक्ष पदार्थोके स्वरूपको जान लिया है, सयमके आयतन शरीरको भोजन देनेके लिए जो देशान्तरका अतिथि बना है, गुरुके द्वारा जिसे स्वीकृति मिली है, जो वायुके समान निःसगताको स्वीकार करता है, बहुत बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान और रसपरित्याग आदि जन्य बाधाके कारण जिसका शरीर परिक्लान्त है, देश और कालके प्रमाणसे रहित तथा सयमविरोधी मार्गगमनका जिसने परिहार कर दिया है, जिसने खडाऊँ आदिका त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण ककड और काँटे आदिके बिधनेसे चरणोमे खेदके उत्पन्न होनेपर भी पहले योग्य यान और वाहन आदिसे गमन करनेका जो स्मरण नही करता है तथा जो यथाकाल आवश्यकोका परिपूर्ण परिपालन करता है उसके चर्यापरीषहजय जानना चाहिए।

§ 824 जिनमे पहले रहनेका अभ्यास नही किया है ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यघर गिरिगुफा और गह्वर आदिमे जो निवास करता है, आदित्यके प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञानसे परीक्षित प्रदेशमे जिसने नियमक्रिया की है, जो नियतकाल निषद्या लगाकर बैठता है, सिंह और व्याघ्र आदिकी नानाप्रकारकी भीषण ध्वनिके सुनने से जिसे किसी प्रकारका भय नही होता, चार

---

1 'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।' --समयप्रा गा 4। 2. सहृते-- मु। 3 पदमन्थर-- मु.। 4 --करणचरणस्य आ, दि 1, दि 2। 5 --परिक्रान्त-- मु। 6 --व्यथन-- मु, दि 1, दि 2। 7 प्रतिषु आदित्यस्येन्द्रियज्ञानप्रकाशपरीक्षितप्रदेशे इति पाठ। 8 --देशे प्रकृत-- मु।

घ्रादिविविधभीषणध्वनिश्रवणान्निवृत्तभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनादप्रच्युतमोक्षमार्गस्य वीरासनोत्कुटिकाद्यासनादविचलितविग्रहस्य तत्कृतबाधान्सहनं निषद्यापरिषहविजय इति निश्चीयते ।

§ 825. स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य मौहूर्तिकी खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसंकटा[1]तिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृतैकपार्श्वदण्डायितादिशायिनः प्राणिबाधापरिहाराय पतितदारुवद्[2] व्यपगतासुवद्[3]परिवर्तमानस्य ज्ञान[4]भावनावहितचेतसोऽनुष्ठितव्यन्तरादिविविधोपसर्गादप्यचलितविग्रहस्यानियमितकालां तत्कृतबाधां क्षममाणस्य शय्या परिषहक्षमा कथ्यते ।

§ 826. मिथ्यादर्शनोद्वृत्तामर्षपरुषावज्ञानिन्दासभ्यवचनानि क्रोधाग्निशिखाप्रवर्धनानि [5]निशृण्वतोऽपि तदर्थेष्वसमाहितचेतस सहसा तत्प्रतीकारं कर्तुमपि शक्नुवतः पापकर्मविपाकमभिचिन्तयतस्तान्याकर्ण्य तपश्चरणभावनापरस्य कषायविषलवमात्रस्याप्यनवकाशमात्महृदयं कुर्वत आक्रोशपरिषहसहनमवधार्यते ।

§ 827. निशितविशसनमुशलमुद्गराद्रिप्रहरणताडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराका. किं कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुदवद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमेतैर्बाबाध्यते[6], सज्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केन-

---

प्रकारके उपसर्गके सहन करनेसे जो मोक्षमार्गसे च्युत नही हुआ है तथा वीरासन और उत्कुटिका आदि आसनके लगानेसे जिसका शरीर चलायमान नही हुआ है उसके निपद्याकृत वाधाका सहन करना निषद्यापरीषहजय निश्चित होता है ।

§ 825. स्वाध्याय, ध्यान और अध्वश्रमके कारण थककर जो कठोर, विषम तथा प्रचुरमात्रामे ककड और खपरोके टुकडो से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमिप्रदेशोमे एक मुहूर्तप्रमाण निद्राका अनुभव करता है, जो यथाकृत एक पार्श्व भागसे या दण्डायित आदिरूपसे शयन करता है, करवट लेनेसे प्राणियोको होनेवाली वाधाका निवारण करनेके लिए जो गिरे हुए लकडीके कुन्देके समान या मुर्दाके समान करवट नही बदलता, जिसका चित्त ज्ञानभावनामे लगा हुआ है, व्यन्तरादिके द्वारा किये गये नाना प्रकारके उपसर्गोसे भी जिसका शरीर चलायमान नही होता और जो अनियतकालिक तत्कृत वाधाको सहन करता है उसके शय्यापरीषहजय कहा जाता है ।

§ 826. मिथ्यादर्शनके उद्रेकसे कहे गये जो क्रोधाग्निकी शिखाको वढाते हैं ऐसे क्रोधरूप, कठोर, अवज्ञाकर, निन्दारूप और असभ्य वचनोको सुनते हुए भी जिसका उनके विषयमे चित्त नही जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतीकार करनेमे समर्थ है फिर भी यह सव पापकर्मका विपाक है इस तरह जो चिन्तन करता है, जो उन शब्दोको सुनकर तपश्चरणकी भावनामे तत्पर रहता है और जो कषायविषके लेशमात्रको भी अपने हृदयमे अवकाश नही देता उसके आक्रोशपरीषहसहन निश्चित होता है ।

§ 827. तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोके द्वारा ताडन और पीडन आदिसे जिसका शरीर तोडा-मरोडा जा रहा है तथापि मारनेवालोपर जो लेशमात्र भी मनमे विकार नही लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये वेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जलके वुलवुलेके समान विशरण-स्वभाव है, दुःखके कारणको ही ये अतिशय वाधा पहुँचाते है, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नही कर सकता इस प्रकार जो

---

1. —सकटादिशी— मु, । 2 —पतिततरुदण्डव— ता । 3 —तामुवदुपरि— मु. । 4. ज्ञानपरिभावना— मु. ।
5. —नानि शृण्व— मु, दि. 1 । 2 —मेतैर्व्यावा— मु ।

चिदुपहन्यन्ते इति चिन्तयतो वासितक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो वधपरिषहक्षमा मन्यते ।

§ 828. बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्सारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापनिष्पीतसारतरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिशिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणात्यये[1] सत्यप्याहारवसतिभेषजादीनि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवद् दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरिषहसहनमवसीयते ।

§ 829 वायुवदसङ्गादनेकदेशचारिणोऽभ्युपगतैककालसंभोजनस्य वाचंयमस्य तत्समितस्य[2] वा सकृत्स्वतनुदर्शनमात्रतन्त्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु[3] बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तप इति सतुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः ।

§ 830. सर्वाशुचिनिधानमिदमनित्यमपरित्राणमिति शरीरे निःसंकल्पत्वाद्विगतसंस्कारस्य गुणरत्नभाण्डसंचयप्रवर्धनसंरक्षण[4]सधारणकारणत्वादभ्युपगतस्थितिविधानस्याक्षम्रक्षणवद् व्रणानुलेपनवद्वा बहूपकारमाहारमभ्युपगच्छतो विरुद्धाहारपानसेवनवैषम्यजनितवातादिविकाररोगस्य युगपदनेकशतसख्यव्याधिप्रकोपे सत्यपि तद्वशवर्तितां विजहतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिस्स्पृहत्वात्तत्प्रतिकारानपेक्षिणो रोगपरिषहसहनमवगन्तव्यम् ।

विचार करता है वह बसूलासे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमे समदर्शी होता है, इसलिए उसके वधपरीषहजय माना जाता है ।

§ 828 जो बाह्य और आभ्यंतर तपके अनुष्ठान करनेमे तत्पर है, जिसने तपकी भावनाके कारण अपने शरीरको सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्यके तापके कारण सार व छाया रहित वृक्षके समान त्वचा, अस्थि और शिराजालमात्र से युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणीका वियोग होनेपर भी आहार, वसति और दवाई आदिकी दीन शब्द कहकर, मुखकी विवर्णता दिखाकर व सज्ञा आदिके द्वारा याचना नही करता तथा भिक्षाके समय भी जिसकी मूर्ति विजलीकी चमकके समान दुरुपलक्ष्य रहती है ऐसे साधुके याचना परीषहजय जानना चाहिए ।

§ 829 वायुके समान नि सग होनेसे जो अनेक देशोमे विचरण करता है, जिसने दिनमे एक कालके भोजनको स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषासमितिका पालन करता है, एक वार अपने शरीरको दिखलानामात्र जिसका सिद्धान्त है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, वहुत दिन तक या वहुत घरोमे भिक्षाके नही प्राप्त होनेपर भी जिसका चित्त सक्लेशसे रहित है, दाताविशेषकी परीक्षा करनेमे जो निरुत्सुक है तथा लाभसे भी अलाभ मेरे लिए परम तप है इस प्रकार जो सन्तुष्ट है उसके अलाभ परीषहजय जानना चाहिए ।

§ 830 यह सब प्रकारके अशुचि पदार्थोका आश्रय है, यह अनित्य है और परित्राणसे रहित है इस प्रकार इस शरीरमे सकल्परहित होनेसे जो विगतसस्कार है, गुणरूपी रत्नोके पात्रके सचय, वर्धन, सरक्षण और सधारणका कारण होनेसे जिसने शरीरकी स्थितिविधानको भले प्रकार स्वीकार किया है, धुरको ओगन लगानेके समान या व्रणपर लेप करनेके समान जो बहुत उपकारवाले आहारको स्वीकार करता है, विरुद्ध आहार-पानके सेवनरूप विषमतासे जिसके वातादि विकार रोग उत्पन्न हुए है, एक साथ सैकडो व्याधियोका प्रकोप होनेपर भी जो उनके आधीन नही हुआ है तथा तपोविशेषमे जल्लौषधि की प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियोका सम्बन्ध होनेपर भी शरीरसे निस्पृह होनेके कारण जो उनके प्रतीकारकी अपेक्षा नही करता उसके रोगपरीषहसहन जानना चाहिए ।

---

1. प्राणवियोगे सत्य-- मु । 2. तत्समस्य वा आ, दि 1, दि, 2 । 3. -सेषु च मु । 4 रक्षणकार-- आ, दि 2, ता. ।

§ 831. तृणग्रहणमुपलक्षणं कस्यचिद्व्यधनदुःखकारणस्य। तेन शुष्कतृणपरुषशर्कराकण्टकनिशितमृत्तिकाशूलादिव्य[1]धनकृतपादवेदनाप्राप्तौ सत्यां तत्राप्रणिहितचेतसश्चर्याशय्यानिषद्यासु प्राणिपीडापरिहारे नित्यमप्रमत्तचेतसस्तृणादिस्पर्शबाधापरिषहविजयो वेदितव्यः।

§ 832 अप्कायिकजन्तुपीडापरिहारायामरणादस्नानव्रतधारिण पटुरविकिरणप्रतापजनितप्रस्वे[2]दाक्तपवनानीतपांसुनिचयस्य सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णकण्डूयायामुत्पन्नायामपि कण्डूयनविमर्दनसंघट्टनविवर्जितमूर्तेः स्वगतमलोपचय[3]परगतमलापचययोरसंकल्पितमनस [4]सज्ज्ञानचारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपंक[5]निराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहनमाख्यायते[6]।

§ 833 सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रत. करणमामंत्रणं वा, तत्रानादरो[7] मयि क्रियते। चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिर्णज्ञस्य बहुकृत्वः परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोति। मिथ्यादृष्टय एवातीव भक्तिमन्त. किंचिदजानन्तमपि सर्वज्ञसंभावनया समान्य [8]स्वसमयप्रभावनं कुर्वन्ति। व्यन्तरादय पुरा अत्युग्रतपसां प्रत्यग्रपूजां निर्वर्तयन्तीति मिथ्या श्रुतिर्यदि न स्यादिदानीं कस्मान्मादृशां न कुर्वन्तीति दुष्प्रणिधानविरहितचित्तस्य सत्कारपुरस्कारपरिषहविजय इति [9]विज्ञायते।

§ 834. अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे

---

§ 831. जो कोई विंधनेरूप दु.खका कारण है उसका 'तृण' पदका ग्रहण उपलक्षण है। इसलिए सूखा तिनका, कठोर ककड, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदिके विंधनेसे पैरोमे वेदनाके होनेपर उसमे जिसका चित्त उपयुक्त नही है तथा चर्या, शय्या और निषद्यामे प्राणिपीडाका परिहार करनेके लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमादरहित है उसके तृणस्पर्शादि बाधापरीषहजय जानना चाहिए।

§ 832 अप्कायिक जीवोकी पीडाका परिहार करनेके लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्नानव्रत स्वीकार किया है, तीक्ष्ण सूर्यकी किरणोके तापसे उत्पन्न हुए पसीनामे जिसके पवनके द्वारा लाया गया धूलिसचय चिपक गया है, सिध्म, खाज और दादके होनेसे खुजलीके होनेपर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थसे घिसनेरूप क्रियासे रहित है, स्वगत मलका उपचय और सम्यक्चारित्ररूपी विमल जलके प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममलपंकको दूर करनेके लिए निरन्तर उद्यतमति है उसके मलपीडासन कहा गया है।

§ 833. सत्कारका अर्थ पूजा-प्रशंसा है। तथा क्रिया-आरम्भ आदिकमे आगे करना या आमन्त्रण देना पुरस्कार है। इस विषयमे यह मेरा अनादर करता है। चिरकालसे मैंने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, मैं महातपस्वी हूँ, स्वसमय और परसमयका निर्णयज्ञ हूँ, मैने बहुत बार परवादियोको जीता है तो भी कोई मुझे प्रणाम और भक्ति नही करता और उत्साहसे आसन नही देता, मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त भक्तिवाले होते है, कुछ नही जाननेवालेको भी सर्वज्ञ समझ कर आदर सत्कार करके अपने समयकी प्रभावना करते है, व्यन्तरादिक पहले अत्यन्त उग्र तप करनेवालोंकी प्रत्यग्र पूजा रचते थे यह यदि मिथ्या श्रुति नही है तो इस समय वे हमारे समान तपस्वियोकी क्यों नही करते हैं इस प्रकार खोटे अभिप्रायसे जिसका चित्त रहित है उसके सत्कारपुरस्कारपरीषहजय जानना चाहिए।

§ 834, मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोमे विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र

---

1. –व्यधन-- मु.। 2. –स्वेदात्तपव– मु। 3. –लोपचयगत– मु। 4 सज्ज्ञान– मु। 5 –पंकजालनिरा- मु.। 6 –ख्यायते। केशलुञ्चसस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम्। सत्कार – मु.। 7. –दरोऽपि क्रि– मु.। 8 स्वशासनप्रभा– ता। 9. –जय प्रतिज्ञा– मु।

भास्करप्रभाभिभूतखद्योतोद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरिषहजयः प्रत्येतव्यः ।

§ 835. अज्ञोऽयं न वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्य[1]धिक्षेपवचनं सहमानस्य परमदुश्चरतपोऽनुष्ठायिनो नित्यमप्रमत्तचेतसो मेऽद्या[2]पि ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इति अनभिसंदधतोऽज्ञानपरिषहजयोऽवगन्तव्यः ।

§ 836 परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्यार्हदायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनप्रव्रजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते । महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमनर्थिकेयं प्रव्रज्या । विफलं व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरिषहसहनमवसातव्यम् ।

§ 837. एवं परिषहान्[3] असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामास्रवनिरोधान्महान् संवरो भवति ।

§ 838. आह, किमिमे परिषहाः सर्वे संसारमहाटवीमतिक्रमितुमभ्युद्यतमभिद्रवन्ति उत कश्चिदस्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—अमी व्याख्यातलक्षणाः क्षुदादयश्चारित्रान्तराणि प्रति भाज्याः । नियमेन पुनरनयोः प्रत्येतव्याः—

और अध्यात्मशास्त्रमे निपुण हूँ । मेरे आगे दूसरे जन सूर्यकी प्रभासे अभिभूत हुए खद्योतके उद्योतके समान विलकुल नही सुशोभित होते है इस प्रकार विज्ञानमदका निरास होना प्रज्ञापरीषहजय जानना चाहिए ।

§ 835 यह मूर्ख है, कुछ नही जानता है, पशुके समान है इत्यादि तिरस्कारके वचनोंको मैं सहन करता हूँ, मैने परम दुश्चर तपका अनुष्ठान किया है, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञानका अतिशय नही उत्पन्न हुआ है इस प्रकार विचार नही करनेवालेके अज्ञानपरीषजय जानना चाहिए ।

§ 836 परम वैराग्यकी भावनासे मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थोंके रहस्यको जान लिया है, मैं अरहन्त, आयतन, साधु और धर्मका उपासक हूँ, चिरकालसे मैं प्रव्रजित हूँ तो भी मेरे अभी ज्ञानातिशय नही उत्पन्न हुआ है । महोपवास आदिका अनुष्ठान करनेवालोके प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए यह प्रलापमात्र है, यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतोका पालन करना निरर्थक है इत्यादि वातोका दर्शनविशुद्धिके योगसे मनमे नही विचार करनेवालेके अदर्शनपरिषहसहन जानना चाहिए ।

§ 837 इस प्रकार जो सकल्पके विना उपस्थित हुए परीषहोंको सहन करता है और जिसका चित्त सक्लेश रहित है उसके रागादि परिणामोके आस्रवका निरोध होनेसे महान संवर होता है ।

§ 838 ससाररूपी महा अटवीको उल्लघन करनेके लिए उद्यत हुए पुरुषोको क्या ये सव परीपह प्राप्त होती है या कोई विशेषता है इसलिए यहाँ कहते है—जिनके लक्षण कह आये हैं ऐसे ये क्षुधादिक परीपह अलग-अलग चारित्रके प्रति विकल्पसे होते हैं । उसमें भी इन दोनोमें नियमसे जानने योग्य—

---

1. -द्यवक्षेप- मु । -द्यविक्षेप- दि 1, 2 । 2 मेऽद्यत्वेपि विज्ञा- मु । 3. -षहान् सह- मु. ।

सूक्ष्म[1]सांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥10॥

§ **839.** क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधालाभरोगतृणस्पर्शमलप्रज्ञाज्ञानानि । 'चतुर्दश' इति वचनादन्येषां परिषहाणामभावो वेदितव्यः। आह युक्तं तावद्वीतरागच्छद्मस्थे मोहनीयाभावात्[2] तत्कृतवक्ष्यमाणाष्टपरिषहाभावाच्चतुर्दशनियमवचनम्। सूक्ष्मसांपराये तु मोहोदयसद्भावात् 'चतुर्दश' इति नियमो नोपपद्यत इति? तदयुक्तम्, सन्मात्रत्वात्। तत्र हि केवलो[3] लोभसंज्वलनकषायोदयः सोऽप्यतिसूक्ष्मः। ततो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वात् 'चतुर्दश' इति नियमस्तत्रापि युज्यते। ननु मोहोदयसहायाभावान्मन्दोदयत्वाच्च क्षुदादिवेदनाभावात्तत्सहनकृतपरिषहव्यपदेशो न युक्तिमवतरति। तन्न? किं कारणम्। शक्तिमात्रस्य विवक्षितत्वात्। सर्वार्थसिद्धिदेवस्य सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यव्यपदेशवत्।

§ **840** आह, यदि शरीरवत्यात्मनि परिषहसंनिधानं प्रतिज्ञायते अथ भवति उत्पन्नकेवलज्ञाने कर्मचतुष्टयफलानुभवनवशवर्तिनि कियन्त उपनिपतन्तीत्यत्रोच्यते। तस्मिन्पुनः—

[4]एकादश जिने ॥11॥

§ **841.** निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादशपरिषहाः संति। ननु च[5] मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्तः? सत्यमेवमेतत्—

सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थवीतरागके चौदह परीषह सम्भव हैं ॥10॥

§ 839. क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह हैं। सूत्रमे आये हुए 'चतुर्दश' इस वचनसे अन्य परीषहोका अभाव जानना चाहिए। शंका—वीतरागछद्मस्थके मोहनीयके अभावसे तत्कृत आगे कहे जानेवाले आठ परीषहोका अभाव होनेसे चौदह परीषहोके नियमका वचन तो युक्त है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे मोहनीयका उदय होनेसे चौदह परीषह होते है यह नियम नही बनता। **समाधान**—यह कहना अयुक्त है, क्योकि वहाँ मोहनीय का सद्भाव है। वहाँ पर केवल लोभसंज्वलन कषायका उदय होता है और वह भी अतिसूक्ष्म होता है, इसलिए वीतराग छद्मस्थके समान होनेसे सूक्ष्मसाम्परायमे चौदह परीषह होते है यह नियम वहाँ भी वन जाता है। **शंका**—इन स्थानोमे मोहके उदयकी सहायता नही होनेसे और मन्द उदय होनेसे क्षुधादि वेदनाका अभाव है इसलिए इनके कार्यरूपसे 'परीषह' सज्ञा युक्तिको नही प्राप्त होती। **समाधान**—ऐसा नही है, क्योकि यहाँ शक्तिमात्र विवक्षित है। जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिके देवके सातवी पृथ्वीके गमनके सामर्थ्यका निर्देश करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए।

§ 840 यदि शरीरवाले आत्मामे परीषहोके सन्निधानकी प्रतिज्ञा की जाती है तो केवलज्ञानको प्राप्त और चार कर्मोके फलके अनुभवके वशवर्ती भगवान्के कितने परीषह प्राप्त होते हैं इसलिए यहाँ कहते हैं। उनमे तो—

जिन में ग्यारह परीषह सम्भव हैं ॥11॥

§ 841. जिन्होने चार घातिया कर्मोका नाश कर दिया है ऐसे जिन भगवान्मे वेदनीयकर्मका सद्भाव होनेसे तन्निमित्तक ग्यारह परीषह होते हैं। शंका—मोहनीयके उदयकी सहायता

---

1. वेयणीयभवाए ए पन्नानाणा उ आइमे। अट्ठमंमि अलाभोत्थो छउमत्थे चोद्दस ॥'—पञ्चस द्वा 4, गा 22। 2. मुद्रितप्रतौ मोहनीयाभावाद्वक्ष्यमाणनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारादर्शनानि तत्कृताष्ट -इति पाठः। लिखितप्रतिषु च तथैव। पर नासौ सम्यक् प्रतिभाति सशोधितपाठस्तु तत्त्वार्थवार्तिकपाठानुसारी इति सोऽत्र योजित। 3 केवललोभ- मु.। 4. 'खुप्पिवासुण्हसीयाणि सेज्जा रोगो वहो मलो। तणफासो चरीया य दसेक्कारस जोगिसु ॥'—पंचस द्वा 4, गा., 22। 5 ननु मोह—मु।

वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परिषहोपचारः क्रियते, निरवशेषनिरस्तज्ञानातिशये चिन्ता-निरोधाभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारवत् । अथवा—एकादश जिने 'न संति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः, सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम् । "कल्प्यो हि [1]वाक्यशेषो वाक्य च वक्तर्य-धीनम्" इत्युपगमात् । मोहोदयसहायीकृतक्षुदादि[2]वेदनाभावात् 'न सन्ति' इति वाक्यशेष. ।

न होनेसे क्षुधादि वेदनाके न होनेपर परीषह सज्ञा युक्त नही है । **समाधान**—यह कथन सत्य ही है तथापि वेदनाका अभाव होनेपर भी द्रव्यकर्मके सद्भावकी अपेक्षासे यहाँ परीषहोंका उपचार किया जाता है । जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरणके नाश हो जानेपर एक साथ समस्त पदार्थोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानातिशयके होनेपर चिन्ता-निरोधका अभाव होनेपर भी कर्मोके नाश रूप उसके फलकी अपेक्षा ध्यानका उपचार किया जाता है उसी प्रकार यहाँ परी-षहोका उपचारसे कथन जानना चाहिए, अथवा जिन भगवान्मे ग्यारह परीषह 'नही हैं' इतना वाक्यशेष कल्पित कर लेना चाहिए क्योकि सूत्र उपस्कारसहित होते है । 'वाक्य शेषकी कल्पना करनी चाहिए और वाक्य वक्ताके अधीन होता है' ऐसा स्वीकार भी किया गया है । मोहके उदयकी सहायतासे होनेवाली क्षुधादि वेदनाओका अभाव होनेसे 'नही हैं' यह वाक्यशेष उप-न्यस्त किया गया है ।

विशेषार्थ—जिन भगवान्के असाता वेदनीयका उदय होता है और यह क्षुधादि वेदना-का कारण है इसलिए यहाँ जिन भगवान्के कारणकी दृष्टिसे क्षुधादि ग्यारह परीषह कहे जाते है । पर क्या सचमुचमे जिन भगवान्के क्षुधादि ग्यारह परीषह होते है यह एक प्रश्न है जिसका समाधान टीकामे दो प्रकारसे किया है । पहले तो जिन भगवान्के क्षुधादि परीषहोके होनेके कारणके सद्भावकी अपेक्षा उनके उपचारसे अस्तित्वका निर्देश किया है पर कार्यरूपमे क्षुधादि ग्यारह परीषह जिन भगवान्के नही होते इसलिए इस दृष्टिसे 'न सन्ति' इस वाक्यशेषकी योजना कर वहाँ उनका निषेध किया है । अब यहाँ यह देखना है कि जिन भगवान्के क्षुधादि ग्यारह परीषह नही होते यह कैसे समझा जाय । वे इस कालमें पाये तो जाते नही, इसलिए प्रत्यक्ष देखकर तो यह जाना नही जा सकता । एक मात्र आगमको पुष्ट करनेवाली युक्तियाँ ही शेष रहती हैं जिनके अवलम्बनसे यह बात समझी जा सकती है, अत. यहाँ उन्हीका निर्देश करते हैं—

1 केवली जिन के शरीरमे निगोद और त्रस जीव नही रहते । उनका क्षीणमोह गुण-स्थान मे अभाव होकर वे परम औदारिक शरीरके धारी होते हैं । अत भूख, प्यास और रोगा-दिकका कारण नही रहनेसे उन्हे भूख, प्यास और रोगादिककी बाधा नही होती । देवोके शरीर-मे इन जीवोके न होनेसे जो विशेषता होती है उससे अनन्तगुणी विशेषता इनके शरीरमें उत्पन्न हो जाती है । 2 श्रेणि आरोहण करने पर प्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा बढता जाता है और अप्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग प्रति समय अनन्तगुणा हीन होता जाता है । इसलिए तेरहवें गुणस्थानमे होनेवाला असाता प्रकृतिका उदय इतना बलवान् नही होता जिससे उसे क्षुधादि कार्योका सूचक माना जा सके । 3. असाताकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है, आगे नही होती, इसलिए उदीरणाके अभावमे वेदनीय कर्म क्षुधादिरूप कार्यका वेदन करानेमे असमर्थ है । जब कि केवली जिन के शरीरको पानी और भोजनकी ही आवश्यकता नही रहती तब इनके न मिलनेसे जो क्षुधा और तृषा होती है वह उनके हो ही कैसे सकती है ।

---

1 'कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्य वक्तर्यधीन हि' —पा म. भा 1, 1, 8 । 2. —भावात् । आह मु. ।

§ 842. आह, यदि सूक्ष्मसांपरायादिषु व्यस्ताः परिषहाः अथ समस्ता[1] ता. क्वेति—

[2]बादरसांपराये सर्वे ।।12।।

§ 843. सांपरायः कषायः । बादरः सांपरायो यस्य स बादरसांपराय इति । नेदं गुणस्थानविशेषग्रहणम् । किं तर्हि ? अर्थनिर्देश । तेन प्रमत्तादीनां सयतानां ग्रहणम् । तेषु हि [3]अक्षीणकषायदोषत्वात्सर्वे संभवन्ति । कस्मिन् पुनश्चारित्रे सर्वेषां सभवः ? सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसंयमेषु[4] प्रत्येकं सर्वेषां सभव ।

वेदनीय कर्मका कार्य कुछ शरीरमे पानी तत्त्व और भोजन तत्त्वका अभाव करना नही है। वास्तवमे इनका अभाव अन्य कारणोसे होता है। हाँ, इनका अभाव होनेपर इनकी पूर्तिके लिए जो वेदना होती है वह वेदनीय कर्मका काम है। सो जब कि केवली जिन के शरीरको उनकी आवश्यकता ही नही रहती, तब वेदनीयके निमित्तसे तज्जनित वेदना कैसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती। 4 केवली जिन के साताका आस्रव सदाकाल होनेसे उसकी निर्जरा भी सदाकाल होती रहती है, इसलिए जिस कालमे असाताका उदय होता है उस कालमे केवल उसका ही उदय नही होता, किन्तु उसमे अनन्तगुणी शक्तिवाले साताके साथ वह उदयमे आता है। माना कि उस समय उसका स्वमुखेन उदय है पर वह प्रति समय बँधनेवाले साता कर्मपरमाणुओं की निर्जराके साथ ही होता है, इसलिए असाताका उदय वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाका कारण नही हो सकता। 5 सुख-दु खका वेदन वेदनीय कर्मका कार्य होने पर भी वह मोहनीयकी सहायतासे ही होता है। यत केवली जिन के मोहनीयका अभाव होता है, अत वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाओंका सद्भाव मानना युक्तिसगत प्रतीत नही होता। इन प्रमाणोसे निश्चित होता है कि केवली जिन के क्षुधादि ग्यारह परीषह नही होते।

§ 842 कहते है—यदि सूक्ष्मसाम्पराय आदि मे अलग-अलग परीषह होते है तो मिलकर वे कहाँ होते है, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

बादरसाम्परायमें सब परीषह सम्भव हैं ।।12।।

§ 843 साम्पराय कषायको कहते हैं। जिसके साम्पराय बादर होता है वह बादरसाम्पराय कहलाता है। यह गुणस्थान विशेषका ग्रहण नही है। तो क्या है ? सार्थकनिर्देश है। इसमे प्रमत्त आदिक सयतोका ग्रहण होता है। इनमें कषाय और दोषोके अथवा कषायदोषके क्षीण न होनेसे सब परीषह सम्भव है। शंका—तो किस चारित्रमे सब परीषह सम्भव हैं ? समाधान—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धिसयम इनमेसे प्रत्येकमे सब परीषह सम्भव हैं।

विशेषार्थ—बादरसाम्पराय अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थानका दूसरा नाम है। नौवें गुणस्थान तक स्थूल कषायका सद्भाव होता है, इसलिए अन्तदीपक न्यायसे इस गुणस्थानका नाम भी बादरसाम्पराय है। यहाँ 'बादरसाम्पराय' पदमे इस गुणस्थानका ग्रहण न हो, इसीलिए टीकामे इसका निषेध किया है, क्योकि बादरसाम्परायमे तो बाईस परीषह सम्भव हैं, बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थानमे नही। कारण कि इस गुणस्थानमे दर्शनमोहनीयका उदय नही होता। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं। उनमेसे सम्यक्त्वमोहनीयका उदय सातवें गुणस्थान तक ही सम्भव है, क्योकि यही तक वेदक सम्यक्त्व होता है, इसलिए यहाँ पर बादर-

---

1 समस्ता- क्वेति मु । 2 'निसेज्जा जायणाकोसो अरई इत्थिनग्गया । सक्कारो दंसणं मोहा बावीसा सव्व रागिसु ।।' —पंचस द्वा. 4, गा. 23 । 3 अक्षीणाशयत्वात्सर्वे— आ, दि 1, 2, ता । 4 —प्रत्येकं सर्वे— मु ता ।

§ 844 आह, गृहीतमेतत्परिषहाणां स्थानविशेषावधारणम्, इदं तु न विद्मः कस्याः प्रकृतेः क्व कार्यं इत्यत्रोच्यते—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।।13।।

§ 845. इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? ज्ञानावरणे सत्यज्ञानपरिषह उपपद्यते, प्रज्ञापरिषहः पुनस्तदपाये भवतीति कथं ज्ञानावरणे स्यात् ? इत्यत्रोच्यते—क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं जनयति न सकलावरणक्षये इति ज्ञानावरणे सतीत्युपपद्यते ।

§ 846. पुनरपरयोः परिषहयोः प्रकृतिविशेषनिर्देशार्थमाह—

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।।14।।

§ 847. यथासंख्यमभिसंबन्धः । दर्शनमोहे अदर्शनपरिषहो, लाभान्तराये अलाभपरिषह इति ।

साम्पराय अर्थात् स्थूल कषायमे सब परीषह सम्भव है यही अर्थ लेना चाहिए।

§ 844 कहते है—इन परीषहोके स्थानविशेषका अवधारण किया, किन्तु हम यह नही जानते कि किस प्रकृतिका क्या कार्य है इसलिए यहाँपर कहते है—

ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते है ।।13।।

§ 845 शका—यह अयुक्त है ? प्रतिशंका—यहाँ क्या अयुक्त है । शंका—माना कि ज्ञानावरणके होनेपर अज्ञान परीषह उत्पन्न होता है, परन्तु प्रज्ञा परीषह उसके अभावमे होता है, इसलिए वह ज्ञानावरणके सद्भावमे कैसे हो सकता है ? समाधान—यहाँ कहते है—क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरणके होनेपर मदको उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणके क्षय होने पर नही, इसलिए ज्ञानावरणके होनेपर प्रज्ञा परीषह होती है यह कथन बन जाता है।

विशेषार्थ—विकल्पका अर्थ श्रुतज्ञान है, इसलिए जहाँ तक श्रुतज्ञान होता है वहाँ तक 'मैं अधिक जानता हूँ, यह कुछ भी नही जानता' ऐसा विकल्प देखा जाता है। यद्यपि इस प्रकारका विकल्प करनेवाले व्यक्तिको अधिक ज्ञानका लाभ ज्ञानावरण कर्मके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे होता है तथापि जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान होता है तभी तक यह विकल्प होता है और क्षायोपशमिक ज्ञान उदयसापेक्ष होता है, इसलिए यहाँ पर इस प्रकारके विकल्पका मुख्य कारण ज्ञानावरण कर्मका उदय कहा है। बहुतसे जीवोको मोहका उदय रहते हुए भी ऐसा भाव होता है कि 'मै महाप्राज्ञ हूँ, मेरी बराबरी करनेवाला अन्य कोई नही।' पर यहाँ मोहके उदयसे होनेवाले इस भावका ग्रहण नही किया है। यहाँ तो अपनी अज्ञानतावश जो अल्पज्ञानको महाज्ञान माननेका विकल्प होता है उसीका ग्रहण किया है। इस प्रकार ज्ञानावरणके सद्भावमे प्रज्ञा और अज्ञान दो परीषह होते है यह निश्चित होता है।

§ 846 पुन अन्य दो परीषहोकी प्रकृति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दर्शनमोह और अन्तरायके सद्भावमें क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीषह होते है ।।14।।

§ 847 इस सूत्रमे 'यथासख्य' पदका सम्बन्ध होता है। दर्शनमोहके सद्भावमे अदर्शन परीषह होता है और लाभान्तरायके सद्भावमे अलाभ परीषह होता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहसे यहाँ सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति ली गयी है। इसका उदय रहते हुए चल, मल और अगाढ दोष उत्पन्न होते है। सम्यक्त्वके रहते हुए भी आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमे नाना विकल्प होना चल दोष है। जिस प्रकार जलके स्वस्थ होते हुए भी उसमे वायुके निमित्तसे तरगमाला उठा करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अपने

आह, यद्याद्ये मोहनीयभेदे एकः परिषहः अथ द्वितीयस्मिन् कति भवन्तीत्यत्रोच्यते—

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥15॥

§ 848. पुंवेदोदयादिनिमित्तत्वान्नाग्न्यादिपरिषहाणां मोहोदयनिमित्तत्वं प्रतिपद्यामहे। निषद्यापरिषहस्य कथम् ? तत्रापि प्राणिपीडापरिहारार्थत्वात्। मोहोदये सति प्राणिपीडापरिणामः संजायत इति।

स्वरूपमे स्थित रहता है तथापि सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंके विषय मे उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है। यही चल दोष है। मलका अर्थ मैल है। शंकादि दोषोके निमित्तसे सम्यग्दर्शनका मलिन होना मल दोष है। यह भी सम्यक्त्व मोहनीयके उदयमे होता है। तथा अगाढका अर्थ स्थिर न रहना है। सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक प्रयोजनवश कदाचित् तत्त्वसे चलायमान होने लगता है। उदाहरणार्थ—अन्य अन्यका कर्ता नही होता यह सिद्धान्त है और सम्यग्दृष्टि इसे भली प्रकार जानता है, पर रागवश वह इस सिद्धान्त पर स्थिर नही रह पाता। कदाचित् वह पारमार्थिक कार्यको भी लौकिकप्रयोजनका प्रयोजक मान बैठता है। इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे ये तीन दोष होते हैं। ये तीनो एक हैं फिर भी भिन्न-भिन्न अभिप्रायकी दृष्टिसे यहाँ इन्हे पृथक्-पृथक् रूपसे परिगणित किया है। प्रकृतमे इसी दोषको ध्यानमे रखकर अदर्शन परीषहका निर्देश किया है। यह दर्शनमोहनीयके उदयसे होता है, इसलिए इसे दर्शनमोहनीयका कार्य कहा है। भोजनादि पदार्थोंका न प्राप्त होना अन्य बात है पर भोजनादि पदार्थोंके न मिलने पर जिसके 'अलाभ' परिणाम होता है उसका वह परिणाम लाभान्तराय कर्मका कार्य होनेसे अलाभको लाभान्तराय कर्मका कार्य कहा है। परके लाभको स्वका लाभ मानना मिथ्यात्व दर्शनमोहनीयका कार्य है, इसलिए यहाँ इसकी विवक्षा नही है। यहाँ तो अलाभ परिणाम किसके उदयमे होता है इतना ही विचार किया है। इसप्रकार अदर्शनभाव मोहनीय कर्मका और अलाभभाव लाभान्तराय कर्मका कार्य है यह निश्चित होता है।

कहते हैं—यदि आदिके मोहनीयके भेदके होनेपर एक परीषह होता है तो दूसरे भेदके होनेपर कितने परीषह होते हैं, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चारित्रमोहके सद्भावमें नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होते हैं ॥15॥

§ 848. शंका—नाग्न्यादि परीषह पुंवेदोदय आदिके निमित्तसे होते हैं, इसलिए मोहोदयको उनका निमित्त कहते हैं पर निषद्यापरीषह मोहोदयके निमित्तसे कैसे होता है ? समाधान—उसमे भी प्राणिपीडाके परिहारकी मुख्यता होनेसे वह मोहोदयनिमित्तक माना गया है, क्योंकि मोहोदयके होनेपर प्राणिपीडारूप परिणाम होता है।

विशेष

§ 849. अवशिष्टपरिषहप्रकृतिविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनीये शेषाः ।।16।।

§ 850. उक्ता एकादश परिषहाः । तेभ्योऽन्ये शेषा वेदनीये सति 'भवन्ति' इति वाक्यशेषः । के पुनस्ते ? क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरिषहाः ।

§ 851. आह, व्याख्यातनिमित्तलक्षणविकल्पाः प्रत्यात्मनि प्रादुर्भवन्तः कति युगपदवतिष्ठन्त इत्यत्रोच्यते—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ।।17।।

§ 852. आङभिविध्यर्थः । तेन एकोनविंशतिरपि क्वचित् युगपत्संभवतीत्यवगम्यते । तत्कथम् ? इति चेदुच्यते—शीतोष्णपरिषहयोरेकः शय्यानिषद्याचर्याणां [1]चान्यतम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि । कुतः ? विरोधात् । तत्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनीतरेषां संभवादेकोनविंशतिविकल्पा[2] बोद्धव्या । ननु प्रज्ञाज्ञानयोरपि विरोधाद्युगपदसंभवः ? श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञापरिषहः

कण्टकादिनिमित्तक वेदना ये दोनो कार्य सम्भव है । इसलिए इन दोनो कार्योका परिज्ञान कराने के लिए निषद्याको मोहनिमित्तक और शेष दोको वेदनीयनिमित्तक कहा है ।

§ 849 अब अवशिष्ट परीषहोकी प्रकृति विशेषका कथन करनेकेलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाकीके सब परीषह वेदनीयके सद्भावमें होते हैं ।।16।।

§ 850 ग्यारह परीषह पहले कह आये है । उनसे अन्य शेष परीषह है । वे वेदनीयके सद्भावमे होते है । यहाँ 'भवन्ति' यह वाक्यशेष है । **शंका**—वे कौन-कौन है ? **समाधान**—क्षुधा, पिपासा, शीत उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मलपरीषह ।

विशेषार्थ—शरीरमे भोजनका कम होना, पानीका कम होना, कण्ठका सूखना, ऋतुमे ठण्डी या गरमीका होना, डास-मच्छरका काटना, गमन व शयन करते समय कण्टक आदिका चुभना, किसीके द्वारा मारना, गाली-गलौज करना, शरीरमे रोगका होना, तिनका आदिका चुभना और शरीरमे मलका जमा होना आदि अपने-अपने कारणोसे होते है। इनका कारण वेदनीय कर्मका उदय नही है पर इन कामोके होने पर भूखकी वेदना होती है, प्यास लगती है आदि वह वेदनीय कर्मका कार्य है । ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना चाहिए ।

§ 851 कहते हैं, परीषहो के निमित्त, लक्षण और भेद कहे । प्रत्येक आत्मामे उत्पन्न होते हुए वे एक साथ कितने हो सकते है, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक साथ एक आत्मामें एकसे लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्पसे हो सकते हैं ।।17।।

§ 852 यहाँ 'आङ्' अभिविधि अर्थ मे आया है । इससे किसी एक आत्मामे एक साथ उन्नीस भी सम्भव हैं यह ज्ञात होता है । **शंका**—यह कैसे ? **समाधान**—एक आत्मामे शीत और उष्ण परीषहोमे-से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या इनमे-से कोई एक परीषह ही होते है, क्योकि शीत और उष्ण इन दोनोके तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनोके एक साथ होनेमे विरोध आता है । इन तीनोके निकाल देनेपर एक साथ एक आत्मामे इतर परीषह सम्भव होनेसे वे सब मिलकर उन्नीस परीषह जानना चाहिए । **शंका**—प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमे भी विरोध है, इसलिए इन दोनो का एक साथ होना असम्भव है ? **समाधान**—एक साथ एक आत्मामे श्रुत-

---

1. --चर्याणामन्यतम मु. । 2 कल्पो बोद्धव्यो । ननु आ, दि. 2 ।

अवधिज्ञाना[1]द्यभावापेक्षया अज्ञानपरिषह् इति नास्ति विरोध ।

§ 853. आह, उक्ता गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजया संवरहेतव पञ्च । संवरहेतुश्चारित्रसंज्ञो वक्तव्य इति तद्भेदप्रदर्शनार्थमुच्यते—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥18॥

§ 854. अत्र चोद्यते—दशविधे धर्मे सयम उक्तः स एव चारित्रमिति पुनर्ग्रहणमनर्थकमिति ? नानर्थकम्; धर्मेऽन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्ते साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम् । सामायिकमुक्तम् । क्व ? 'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक—' इत्यत्र । तद् द्विविध नियतकालमनियतकालं च । स्वाध्यायादि नियतकालम् । ईर्यापथाद्यनियतकालम्[2] । प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा । परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः । तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् । अतिसूक्ष्मकषायत्वात्सूक्ष्मसांपरायचारित्रम् । मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षण अथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते । पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यात न तत्प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातम् । अथशब्दस्यानन्त[3]र्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः[4] ।

ज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान आदिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते है, इसलिए कोई विरोध नही है।

§ 853 कहते है, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये पाँच सवरके हेतु कहे। अव चारित्रसज्ञक सवरका हेतु कहना चाहिए, इसलिए उसके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र है ॥18॥

§ 854. **शंका**—दश प्रकारके धर्ममे सयमका कथन कर आये है और वह ही चारित्र है, इसलिए उसका फिरसे ग्रहण करना निरर्थक है ? **समाधान**—निरर्थक नही है, क्योकि धर्ममे अन्तर्भाव होनेपर भी चारित्र मोक्ष-प्राप्तिका साक्षात् कारण है यह दिखलानेके लिए उसका अन्तमे ग्रहण किया है। सामायिकका कथन पहले कर आये है। **शका**—कहाँ पर ? **समाधान**—'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक'—इस सूत्रका व्याख्यान करते समय। वह दो प्रकारका है—नियतकाल और अनियतकाल। स्वाध्याय आदि नियतकाल सामायिक है और ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है। प्रमादकृत अनर्थप्रबन्धका अर्थात् हिंसादि अव्रतोके अनुष्ठानका विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करनेपर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुन व्रतोका ग्रहण होता है वह छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा विकल्पोकी निवृत्तिका नाम छेदोपस्थापनाचारित्र है। प्राणिवधसे निवृत्तिको परिहार कहते है। इससे युक्त शुद्धि जिस चारित्रमे होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। जिस चारित्रमे कषाय अतिसूक्ष्म हो जाता है वह सूक्ष्मसाम्परायचारित्र है। समस्त मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे जैसा आत्माका स्वभाव है उस अवस्थास्वरूप अपेक्षा लक्षण जो चारित्र होता है वह अथाख्यातचारित्र कहा जाता है। पूर्व चारित्रका अनुष्ठान करनेवालोने जिसका कथन किया है पर मोहनीयके क्षय या उपशम होनेके पहले जिसे प्राप्त नहीं किया,

1 —ज्ञानापेक्षया मु । 2 —कालच । प्रमा— ता । 3 —नन्तरार्थवर्ति— मु, ता । 4 —र्थः । तथा— मु, ता, ना ।

'यथाख्यातम्' इति वा; यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्। 'इति'शब्दः परिसमाप्तौ द्रष्टव्य। ततो यथाख्यातचारित्रात्सकलकर्मक्षयपरिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते। सामायिकादीनामानुपूर्व्यवचनमुत्तरोत्तरगुणप्रकर्ष[1]ख्यापनार्थं क्रियते।

§ 855 आह, उक्त चारित्रम्। तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् 'तपसा निर्जरा च' इति तस्येदानीं

इसलिए इसे अथाख्यात कहते है। 'अथ' शब्द 'अनन्तर' अर्थवर्ती होनेसे समस्त मोहनीय कर्मके क्षय या उपशमके अनन्तर वह आविर्भूत होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अथवा इस चारित्रका एक नाम यथाख्यात भी है। जिस प्रकार आत्माका स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिए इसे यथाख्यान कहते है। सूत्रमे आया हुआ 'इति' शब्द परिसमाप्ति अर्थमे जानना चाहिए। इसलिए इससे यथाख्यात चारित्रमे समस्त कर्मोके क्षयकी परिसमाप्ति होती है यह जाना जाता है। उत्तरोत्तर गुणोके प्रकर्षका ख्यापन करनेके लिए सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि क्रमसे इनका नामनिर्देश किया है।

विशेषार्थ—चारित्र यह एक प्रकारका होकर भी उसके पाँच भेद विवक्षाविशेषसे किये गये है। सामायिकमे सर्वसावद्यकी निवृत्तिरूप परिणाम की मुख्यता है। छेदोपस्थापनामे चारित्रमे लगनेवाले दोषोके परिमार्जनकी मुख्यता हे। परिहारविशुद्धि चारित्र ऐसे सयतके होता है जो तीस वर्षतक गृहस्थ अवस्थामे सुखपूर्वक बिताकर सयत होनेपर तीर्थंकर पादमूलकी परिचर्या करते हुए आठ वर्ष तक प्रत्याख्यानपूर्वका अध्ययन करता है। यह जन्तुओकी रक्षा कैसे करनी चाहिए, वे किस द्रव्यके निमित्तसे किस क्षेत्र और किस कालमे विशेषत उत्पन्न होते है, जीवोकी योनि और जन्म कितने प्रकारके होते है इत्यादि बातोको भले प्रकार जानता है। यह प्रमादरहित, महाबलशाली, कर्मोकी महानिर्जरा करनेवाला और अति दुष्कर चर्याका अनुष्ठान करनेवाला होता है। तथा यह तीनो सध्याकालोको छोडकर दो कोस गमन करनेवाला होता है। इन सब कारणोसे इस सयतके ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न होती है जिसके बलसे यह अन्य जीवोको बाधा पहुँचाये बिना चर्या करनेमे समर्थ होता है। सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रका अर्थ स्पष्ट ही है। इस प्रकार विवक्षाभेदसे एक चारित्र पाँच प्रकारका कहा गया है।

इनमे से सामायिक और छेदोपस्थापनाकी जघन्य विशुद्धिलब्धि सबसे अल्प होती है। इससे परिहारविशुद्धि चारित्रकी जघन्य विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे इसीकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे सामायिक और छेदोपस्थापनाकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्रकी जघन्य विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे इसीकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है। इससे यथाख्यात चारित्रकी विशुद्धिलब्धि एक प्रकारकी होकर भी अनन्तगुणी होती है। यही कारण है कि सूत्रमे सामायिक छेदोपस्थापना इत्यादि क्रमसे इन पाँचोका नाम निर्देश किया है। पहले दस प्रकारके धर्मका निर्देश करते समय सयमधर्म कह आये है, इसलिए चारित्रका अन्तर्भाव उसमे हो जानेके कारण यहाँ इसका अलगसे कथन करनेकी आवश्यकता नही होती है फिर भी समस्त कर्मका क्षय चारित्रसे होता है यह दिखलानेके लिए यहाँ चारित्रका पृथक्रूपसे व्याख्यान किया है।

§ 855 कहते है, चारित्रका कथन किया। संवरके हेतुओका निर्देश करनेके बाद 'तपसा निर्जरा च' यह सूत्र कहा है, इसलिए यहाँ तपका विधान करना चाहिए, अत. यहाँ

---

1 —[illegible] मु.।

तपसो विधानं कर्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद् द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्प्रत्येकं षड्विधम् । तत्र बाह्यभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।।19।।

§ 856. दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम् । संयमप्रजाग[1]रदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम् । भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः[2] संकल्पः चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम् । इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुखसिद्ध्या[3]द्यर्थो घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तपः । शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनमाबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यमिति पंचमं तपः । आतपस्थानं वृक्षमूलनिवासो निरावरणशयनं बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः[4] तत् षष्ठं तपः । तत्किमर्थम् ? देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभावनाद्यर्थम् । परिषहस्यास्य च को विशेषः ? यदृच्छयोपनिपतितः परिषहः । स्वयंकृत कायक्लेशः । बाह्यत्वमस्य कुतः ? बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् ।

§ 857. आभ्यन्तरतपोभेदप्रदर्शनार्थमाह—

कहते हैं—वह दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर । उसमे भी यह प्रत्येक छह प्रकारका है । उनमे से पहले बाह्य तपके भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बाह्य तप है ।।19।।

§ 856 दृष्टफल मन्त्र साधना आदिकी अपेक्षा किये विना सयमकी सिद्धि, रागका उच्छेद, कर्मोका विनाश, ध्यान और आगमकी प्राप्तिके लिए अनशन तप किया जाता है। सयमको जागृत रखने, दोषोके प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्याय आदिकी सुखपूर्वक सिद्धिके लिए अवमौदर्य तप किया जाता है। भिक्षाके इच्छुक मुनिका एक घर आदि विषयक सकल्प अर्थात् चिन्ताका अवरोध करना वृत्तिपरिसख्यान तप है। आशाकी निवृत्ति इसका फल जानना चाहिए। इन्द्रियोके दर्पका निग्रह करनेके लिए, निद्रापर विजय पानेके लिए और सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए घृतादि गरिष्ठ रसका त्याग करना चौथा तप है। एकान्त, जन्तुओकी पीडासे रहित शून्य घर आदिमे निर्वाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदिकी प्रसिद्धिके लिए सयतको शय्यासन लगाना चाहिए। यह पाँचवाँ तप है। आतापनयोग, वृक्षके मूलमे निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकारके प्रतिमास्थान इत्यादि करना कायक्लेश है, यह छठा तप है। यह किसलिए किया जाता है ? यह देह-दु खको सहन करनेके लिए, सुखविषयक आसक्तिको कम करनेके लिए और प्रवचनकी प्रभावना करनेके लिए किया जाता है। **शंका**—परीषह और कायक्लेशमे क्या अन्तर है ? **समाधान**—अपने आप प्राप्त हुआ परीषह और स्वय किया गया कायक्लेश है, यही इन दोनोमें अन्तर है। **शंका**—इस तपको वाह्य क्यो कहते हैं ? **समाधान**—यह वाह्य-द्रव्यके आलम्वनसे होता है और दूसरोके देखनेमे आता है, इसलिए इसे वाह्य तप कहते हैं।

§ 857. अब आभ्यन्तर तपके भेदोको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1. —गरणदोष—आ., दि. 1, दि 2, ता । 2 --विषयसकल्पचित्ताव-- ता., मु । -विषय सकल्पचिन्ताव- दि 1, दि. 2 । 3 सिद्धचर्यो मु., दि 2 । 4. —क्लेश षष्ठ मु. ता. ।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥20॥

§ 858. कथमस्याभ्यन्तरत्वम् ? मनोनियमनार्थत्वात् । प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम् । पूज्येष्वादरो विनयः । कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण [1]चोपासनं वैयावृत्त्यम् । ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः । आत्मात्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः । चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम् ।

§ 859 तद्भेदप्रतिपादनार्थमाह—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥21॥

§ 860. 'यथाक्रमम्' इति वचनान्नवभेदं प्रायश्चित्तम्, विनयश्चतुर्विधः, वैयावृत्त्यं दशविधम्, स्वाध्यायः पञ्चविधः, द्विभेदो[2] व्युत्सर्ग इत्यभिसंबध्यते । 'प्राग्ध्यानात्' इति वचनं ध्यानस्य बहुवक्तव्यत्वात्पश्चाद्वक्ष्यत इति ।

§ 861 आद्यस्य भेदस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥22॥

§ 862. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम् ।[3] मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम् । [तदुभय] संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम् । संसक्तान्नपानोप-

---

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है ॥20॥

§ 858 शंका—इसे आभ्यन्तर तप क्यों कहते हैं ? समाधान—मनका नियमन करनेवाला होनेसे इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। प्रमादजन्य दोषका परिहार करना प्रायश्चित्त तप है। पूज्य पुरुषोंका आदर करना विनय तप है। शरीरकी चेष्टा या दूसरे द्रव्यद्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है। आलस्यका त्यागकर ज्ञानकी आराधना करना स्वाध्याय तप है। अहंकार और ममकाररूप संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग तप है, तथा चित्तके विक्षेपका त्याग करना ध्यान तप है।

§ 859 अब इनके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ध्यानसे पूर्वके आभ्यन्तर तपोंके अनुक्रमसे नौ, चार, दश, पांच और दो भेद हैं ॥21॥

§ 860 सूत्रमें 'यथाक्रमम्' यह वचन दिया है। इससे प्रायश्चित्त नौ प्रकारका है, विनय चार प्रकारका है, वैयावृत्य दश प्रकारका है, स्वाध्याय पाँच प्रकारका है और व्युत्सर्ग दो प्रकारका है ऐसा सम्बन्ध होता है। सूत्रमें—'प्राग्ध्यानात्' यह वचन दिया है, क्योंकि ध्यानके विषयमें बहुत कुछ कहना है, इसलिए उसका आगे कथन करेंगे।

§ 861 अब पहले आभ्यन्तर तपके भेदोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकारका प्रायश्चित्त है ॥22॥

§ 862. गुरुके समक्ष दश दोषोंको टालकर अपने प्रमादका निवेदन करना आलोचना है। 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरुसे ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंका संसर्ग होनेपर दोषोंका शोधन होनेसे तदुभय प्रायश्चित्त है। संसक्त हुए अन्न, पान और उपकरण आदिका विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है।

---

1. —नेन वा— ता. । 2 द्विविधो व्युत्स— । 3. —लोचनम् । आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च । छण्णं सद्दाउलियं बहुजण अव्वत्त तस्सेवि ॥ इति दश दोषा । मिथ्या— मु. ।

करणादिविभजनं विवेकः। कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। अनशनावमौदर्यादिलक्षणं तपः। दिवस-पक्षमासादिना[1] प्रव्रज्याहापनं छेदः। पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं[2] परिहारः। पुनर्दीक्षा-प्रापणमुपस्थापना।

कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है। दिवस, पक्ष और महीना आदिकी प्रव्रज्याका छेद करना छेदप्रायश्चित्त है। पक्ष, महीना आदिके विभागसे सघसे दूर रखकर त्याग करना परिहारप्रायश्चित्त है। पुनः दीक्षाका प्राप्त करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

विशेषार्थ—यहाँ प्रायश्चित्तके नौ भेद गिनाये है। प्राय. शब्दका अर्थ साधुलोक है। उसका जिस कर्ममें चित्त होता है वह प्रायश्चित्त कहलाता है। अथवा प्राय. शब्दका अर्थ अपराध है और चित्त शब्दका अर्थ शुद्धि है, इसलिए प्रायश्चित्तका अर्थ अपराधोका शोधन करना होता है। ये ही वे नौ भेद हैं जिनके द्वारा साधु दोषोका परि-मार्जन करता है। पहला भेद आलोचना है। आलोचना इन दश दोषोसे रहित होकर की जाती है। दश दोष यथा—उपकरण देनेपर मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे ऐसा विचारकर उपकरण प्रदान करना यह प्रथम आलोचना दोष है। मैं प्रकृतिसे दुर्बल हूँ, ग्लान हूँ, उपवास आदि नही कर सकता। यदि लघु प्रायश्चित्त दें तो दोष कहूँगा ऐसा कहना दूसरा दोष है। अन्य अदृष्ट (गुप्त) दोषोंको छिपा कर प्रकाशमें आये हुए दोषका निवेदन करना तीसरा मायाचार दोष है। आल-स्यवश या प्रमादवश अपने अपराधोकी जानकारी प्राप्त करनेमे निरुत्सुक होनेपर स्थूल दोष कहना चौथा दोष है। महा दुश्चर प्रायश्चित्तके भयसे महादोष छिपा कर उससे हलके दोषका ज्ञान कराना पाँचवाँ दोष है। व्रतमे इस प्रकार दोष लगनेपर हमें क्या प्रायश्चित्त करना पडेगा इस विधिसे गुरुकी उपासना करना छठा दोष है। पाक्षिक और चातुर्मासिक आदि क्रिया कर्मके समय बहुत साधुओं द्वारा किये जानेवाले आलोचनाजन्य शब्दोंसे प्रदेशके व्याप्त होनेपर पूर्व दोष कहना सातवाँ दोष है। गुरुद्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त क्या युक्त है, आगममे इसका विधान है या नही इस प्रकारकी शका अन्य साधुके समक्ष प्रकट करना आठवाँ दोष है। किसी प्रयोजनवश अपने समान साधुके समक्ष दोष कह कर प्रायश्चित्त लेना नौवाँ दोष है। इस विधि से लिया हुआ बड़ासे बड़ा प्रायश्चित्त भी फलदायक नही होता। मेरा दोष इसके अपराधके समान है। इसे यह भी जानता है। इसे जो प्रायश्चित्त मिलेगा वह मुझे भी युक्त है इस प्रकार अपने दोषको छिपाना दसवाँ दोष है।

अन्यत्र इन दश दोषोके आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये नाम आये हैं। प्रायश्चित्तका दूसरा भेद प्रतिक्रमण है। मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन करना प्रतिक्रमण है। यह शिष्य करता है और गुरुके द्वारा जो आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है वह तदुभय कहलाता है। यह प्रायश्चित्तका तीसरा भेद है। आगे के प्रायश्चित्तोके जिनके जो नाम हैं तदनुसार उनका स्वरूप है। यहाँ प्रायश्चित्त के ये नौ भेद कहे हैं, किन्तु मूलाचारमे इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इस प्रकार दस भेद किये है। टीकाकारने इनका स्पष्टी-करण करते समय मूलका वही अर्थ किया है जो यहाँ उपस्थापनाका किया गया है। तथा मान-सिक दोषके होनेपर उसके परिमार्जनके लिए मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा अभिव्यक्त करनेको श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त बतलाया है।

---

1. —मासादीना प्रव्र—मु.। 2. परिवर्जनीयं परि— आ.।

§ 863. विनयविकल्पप्रतिपत्त्यर्थमाह—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥23॥

§ 864. 'विनय' इत्यधिकारेणाभिसंबन्धः क्रियते। ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति। सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः। शंकादिदोषविरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः। [1]तद्वतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः। प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोऽभिरंजलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः।

§ 865 वैयावृत्त्यभेदप्रतिपादनार्थमाह—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥24॥

§ 866. वैयावृत्त्यं दशधा भिद्यते। कुत ? विषयभेदात्। आचार्यवैयावृत्त्यमुपाध्यायवैयावृत्त्यमित्यादि। तत्र आचरन्ति[2] तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य[3] तस्मादधीयत इत्युपाध्याय.। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। शिक्षाशीलः शैक्षः। रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः। गणः स्थविरसंततिः। दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः[4] कुलम्। चातुर्वर्ण्य[5]श्रमणनिवहः संघः। चिरप्रव्रजित साधु। मनोज्ञो लोकसंमतः। तेषां व्याधिपरिषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते कायचेष्टया द्रव्या-

---

§ 863. विनयके भेदोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय यह चार प्रकारका विनय है ॥23॥

§ 864. अधिकारके अनुसार 'विनय' इस पदका सम्बन्ध होता है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। बहुत आदरके साथ मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है। शकादि दोषोसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना दर्शनविनय है। सम्यग्दृष्टिका चारित्रमे चित्तका लगना चारित्रविनय है तथा आचार्य आदिकके समक्ष आनेपर खडे हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचारविनय है तथा उनके परोक्षमे भी काय, वचन और मनसे नमस्कार करना, उनके गुणोका कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचारविनय है।

§ 865. अब वैयावृत्यके,भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्यके भेदमे वैयावृत्य दश प्रकारका है ॥24॥

न्तरेण वा तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं समाध्या[1]धानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम्[2]।

§ 867. स्वाध्यायविकल्पविज्ञानार्थमाह—

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥25॥

§ 868 निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना। संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः प्रच्छना। अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा। घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश। स एष पञ्चविधः स्वाध्यायः किमर्थं ? प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः।

§ 869. व्युत्सर्गभेदनिर्ज्ञानार्थमाह—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥26॥

§ 870. व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः। स द्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति। अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते। स किमर्थ. ? निस्सङ्गत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थः।

उनका प्रतीकार करना वैयावृत्त्य तप है। यह समाधिकी प्राप्ति, विचिकित्साका अभाव और प्रवचनवात्सल्यकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है।

§ 867 स्वाध्यायके भेदोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं--

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकारका स्वाध्याय है ॥25॥

§ 868 ग्रन्थ, अर्थ और दोनोंका निर्दोष प्रदान करना वाचना है। सशयका उच्छेद करनेके लिए अथवा निश्चित बलको पुष्ट करनेके लिए प्रश्न करना प्रच्छना है। जाने हुए अर्थका मनमें अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। उच्चारणकी शुद्धिपूर्वक पाठको पुन-पुनः दुहराना आम्नाय है और धर्मकथा आदिका अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है। शंका—यह पूर्वोक्त पाँच प्रकारका स्वाध्याय किसलिए किया जाता है ? समाधान—प्रज्ञामे अतिशय लानेके लिए, अध्यवसायको प्रशस्त करनेके लिए, परम संवेगके लिए, तपमे वृद्धि करनेके लिए और अतीचारोमे विशुद्धि लाने आदिके लिए किया जाता है।

§ 869 अब व्युत्सर्ग तपके भेदोका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाह्य और अभ्यन्तर उपधिका त्याग यह दो प्रकारका व्युत्सर्ग है ॥26॥

§ 870. व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है जिसका अर्थ त्याग होता है। वह दो प्रकारका है—बाह्य उपधित्याग और अभ्यन्तर उपधित्याग। आत्मासे एकत्वको नही प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि है और क्रोधादिरूप आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि है। तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा जाता है। यह निःसगता, निर्भयता और जीविताशाका व्युदास आदि करनेके लिए किया जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब कि पाँच महाव्रतोमे परिग्रहत्यागका उपदेश दिया है, दश धर्मोमे त्याग धर्मका उपदेश दिया है तथा नौ प्रकारके प्रायश्चित्तोमे व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त अलगसे कहा है ऐसी अवस्थामे पुनः व्युत्सर्ग तपका अलगसे कथन करना कोई मायने नही रखता, क्योंकि इस प्रकार एक ही तत्त्वका पुनः-पुनः कथन करनेसे पुनरुक्त दोष आता है। समाधान यह है कि पाँच महाव्रतोमे जो परिग्रह-त्याग महाव्रत है उसमे गृहस्थसम्बन्धी उपधिके

---

1. —माध्यायानं— मु.। 2. —व्यक्तार्थम् आ, दि. 1, दि. 2, ना.।

§ 871 यद् वहुवक्तव्यं ध्यानमिति पृथग्व्यवस्थापितं तस्येदानीं भेदाभिधानं प्राप्तकालम्। तदुल्लङ्घ्य तस्य प्रयोक्तृस्वरूपकालनिर्द्धारणार्थमुच्यते—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो [1]ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।।27।।

§ 872. आद्यं त्रितय संहननमुत्तमं वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमिति। तत्त्रितयमपि ध्यानस्य साधनं भवति। मोक्षस्य तु आद्यमेव। तदुत्तमं संहननं यस्य सोऽयमुत्तमसंहनन., तस्योत्तमसंहननस्येति। अनेन प्रयोक्तृनिर्देशः कृत। अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्र.। नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवति। मुहूर्त इति कालपरिमाणम्। अन्तर्गतो मुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्तः। 'आ अन्तर्मुहूर्तात्' इत्यनेन कालावधिः कृतः। ततः परं [2]दुर्धरत्वादेकाग्रचिन्तायाः। चिन्ताया निरोधो यदि ध्यानं, निरोधश्चाभावः, तेन ध्यानमसत्खरविषाणवत्स्यात? नैष दोषः, अन्यचिन्तानिवृत्त्यपेक्षयासदिति चोच्यते, स्वविषयाकारप्रवृत्ते सदिति च; अभावस्य भावान्तरत्वाद् हेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च। अथवा नायं भावसाधन, निरोधन निरोध इति। किं तर्हि? कर्मसाधनः, 'निरुध्यत इति निरोधः'। चिन्ता चासौ

त्यागकी मुख्यता है। त्यागधर्ममे आहारादि विषयक आसक्तिके कम करनेकी मुख्यता है, व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तमे परिग्रह त्याग धर्ममे लगनेवाले दोषके परिमार्जनकी मुख्यता है, और व्युत्सर्ग तपमे वसतिका आदि वाह्य व मनोविकार तथा शरीर आदि अभ्यन्तर उपधिमे आसक्तिके त्यागकी मुख्यता है, इसलिए पुनरुक्त दोष नही आता।

§ 871. जो वहुवक्तव्य ध्यान पृथक् स्थापित कर आये हैं उसके भेदोका कथन करना इस समय प्राप्तकाल है तथापि उसे उल्लघन करके इस समय ध्यानके प्रयोक्ता, स्वरूप और कालका निर्धारण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उत्तम सहननवालेका एक विषयमें चित्तवृत्तिका रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ।।27।।

§ 872 आदिके वज्रर्षभनाराचसहनन, वज्रनाराचसहनन और नाराचसहनन ये तीन संहनन उत्तम हैं। ये तीनो ही ध्यानके साधन है। मोक्षका साधन तो प्रथम ही है। जिसके ये उत्तम सहनन होते हैं वह उत्तम सहननवाला कहलाता है उस उत्तम सहननवालेके। यहाँ इस पदद्वारा प्रयोक्ताका निर्देश किया है। 'अग्र' पदका अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थोका अवलम्वन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखोंसे लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषयमे नियमित करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है। इस द्वारा ध्यानका स्वरूप कहा गया है। मुहूर्त यह कालका विवक्षित परिमाण है। जो मुहूर्तके भीतर होता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। 'अन्तर्मुहूर्त काल तक' इस पद द्वारा कालकी अवधि की गयी है। इतने कालके वाद एकाग्रचिन्ता दुर्धर होती है। शंका—यदि चिन्ताके निरोधका नाम ध्यान है और निरोध अभावस्वरूप होता है, इसलिए गधेके सीगके समान ध्यान असत् ठहरता है? समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि अन्य चिन्ताकी निवृत्तिकी अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषयरूपसे प्रवृत्ति होनेके कारण वह सत् कहा जाता है, क्योंकि अभाव भावान्तरस्वभाव होता है और अभाव वस्तुका धर्म है यह वात सपक्ष सत्त्व विपक्षव्यावृत्ति इत्यादि हेतुके अग आदिके द्वारा सिद्ध होती है। अथवा, यह निरोध शब्द

---

1. [illegible] —आ मु 6, 25। 2. —दुर्धरत्वात्। चिन्ताया नि— ता. ना।

निरोधश्च चिन्तानिरोध इति। एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति।

§ 873. तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥28॥

§ 874. ऋतं दुःखम्, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्। रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्। धर्मो व्याख्यातः। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्।

§ 875 किं पुनस्तदिति चेदुच्यते—

परे मोक्षहेतू ॥29॥

§ 876. परमुत्तरमन्त्यम्। अन्त्यं शुक्लम्। तत्सामीप्याद्धर्म्यमपि 'परम्' इत्युपचर्यते। [1]द्विवचननिर्देशसामर्थ्याद् गौणमपि गृह्यते। '[2]परे मोक्षहेतू' इति वचनात्पूर्वे आर्तरौद्रे संसारहेतू इत्युक्तं भवति। कुतः? तृतीयस्य साध्यस्याभावात्।

§ 877 तत्रार्तं चतुर्विधम्। तत्रादिविकल्पलक्षणनिर्देशार्थमाह—

'निरोधन निरोध.' इस प्रकार भावसाधन नही है। तो क्या है? 'निरुध्यत इति निरोध·'—जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्मसाधन है। चिन्ताका जो निरोध वह चिन्तानिरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्निशिखाके समान निश्चलरूपसे अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

§ 873 अब उसके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यानके चार भेद हैं ॥28॥

§ 874. आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमे से किसी एकसे बना है। इनमें से ऋतका अर्थ दुःख है और अर्तिकी 'अर्दन अर्ति' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें (ऋतमे या अर्तिमे) जो होता है वह आर्त है। रुद्रका अर्थ क्रूर आशय है। इसका कर्म या इसमे होनेवाला रौद्र है। धर्मका व्याख्यान पहले कर आये हैं। जो धर्मसे युक्त होता है वह धर्म्य है। तथा जिसमे शुचि गुणका सम्बन्ध है वह शुक्ल है। यह चार प्रकारका ध्यान दो भागोमे विभक्त है, क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे वह दो प्रकारका है। जो पापास्रवका कारण है वह अप्रशस्त है और जो कर्मोंके निर्दहन करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है वह प्रशस्त है।

§ 875. तो वह क्या है ऐसा प्रश्न करनेपर आगेका सूत्र कहते हैं—

उनमें से पर अर्थात् अन्तके दो ध्यान मोक्षके हेतु है ॥29॥

§ 876 पर, उत्तर और अन्त्य इनका एक अर्थ है। अन्तिम शुक्लध्यान है और इसका समीपवर्ती होनेसे धर्म्यध्यान भी पर है ऐसा उपचार किया जाता है, क्योकि सूत्रमे 'परे' यह द्विवचन दिया है, इसलिए उसकी सामर्थ्यसे गौणका भी ग्रहण होता है। 'पर अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ये मोक्षके हेतु हैं' इस वचनसे पहलेके अर्थात् आर्त और रौद्र ये संसारके हेतु हैं यह तात्पर्य फलित होता है, क्योकि मोक्ष और ससारके सिवा और कोई तीसरा साध्य नही है।

§ 877 उनमे आर्तध्यान चार प्रकारका है। उनमे से प्रथम भेदके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1. –वचनसाम– मु.। 2. परे धर्म्यशुक्ले मोक्ष– आ, दि. 1, दि. 2, ता., ना.।

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥30॥

§ 878 अमनोज्ञमप्रियं विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि, तद्बाधाकारणत्वाद् 'अमनोज्ञम्' इत्युच्यते। तस्य संप्रयोगे, स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्तमित्याख्यायते।

§ 879. द्वितीयस्य विकल्पस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥31॥

§ 880. कुतो विपरीतम्? पूर्वोक्तात्। तेनैतदुक्तं भवति—मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्रदारधनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्तमवगन्तव्यम्।

§ 881. तृतीयस्य विकल्पस्य लक्षणप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनायाश्च ॥32॥

§ 882 'वेदना' शब्दः सुखे दुःखे च वर्तमानोऽपि आर्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनायां प्रवर्तते, तस्या वातादिविकारजनितवेदनाया उपनिपाते तस्या अपायः कथं नाम मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तृतीयमार्तमुच्यते।

§ 883. तुरीयस्यार्तस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

निदानं च ॥33॥

§ 884. भोगाकाङ्क्षातुरस्यानागतविषयप्राप्तिं प्रति मनःप्रणिधानं संकल्पश्चिन्ताप्रबन्ध-

---

अमनोज्ञ पदार्थके प्राप्त होनेपर उसके वियोगके लिए चिन्तासातत्यका होना प्रथम आर्तध्यान है ॥30॥

§ 878 अमनोज्ञका अर्थ अप्रिय है। विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं वे बाधाके कारण होनेसे अमनोज्ञ कहे जाते है। उनका सयोग होनेपर वे मेरे कैसे न हों इस प्रकारका संकल्प चिन्ताप्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्तध्यान कहलाता है।

§ 879. अब दूसरे भेदके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोज्ञ वस्तुके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिकी सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है ॥31॥

§ 880 किससे विपरीत ? पूर्वमे कहे हुए से। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनोज्ञ अर्थात् इष्ट अपने पुत्र, स्त्री और धनादिकके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिए सकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान जानना चाहिए।

§ 881 अब तीसरे भेदके लक्षणका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

वेदनाके होनेपर उसे दूर करनेके लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है ॥32॥

§ 882. वेदना शब्द यद्यपि सुख और दुःख दोनो अर्थोंमे विद्यमान है पर यहाँ आर्तध्यानका प्रकरण होनेसे उसमे दुःखवेदना ली गयी है। वातादि विकारजनित दुःख वेदनाके होनेपर उसका अभाव मेरे कैसे होगा इस प्रकार विकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान कहा जाता है।

§ 883 अब चौथे आर्तध्यानके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निदान नामका चौथा आर्तध्यान है ॥33॥

§ 884. भोगोंकी आकांक्षाके प्रति आतुर हुए व्यक्तिके आगामी विषयोकी प्राप्तिके

स्तुरीयमार्तं निदानमित्युच्यते ।

§ 885. तदेतच्चतुर्विधमार्तं किंस्वामिकमिति चेदुच्यते—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।।34।।

§ 886. अविरता असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः । देशविरताः संयतासंयताः । प्रमत्तसंयताः पंचदशप्रमादोपेताः क्रियानुष्ठायिनः । तत्राविरतदेशविरतानां चतुर्विधमप्यार्[1]तं भवति; असंयमपरिणामोपेतत्वात् । प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्स्यात् ।

§ 887 व्याख्यातमार्तं संज्ञादिभिः । द्वितीयस्य संज्ञाहेतुस्वामिनिर्द्धारणार्थमाह—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ।।35।।

§ 888. हिंसादीन्युक्तलक्षणानि । तानि रौद्रध्यानोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति हेतुनिर्देशो विज्ञायते । तेन हेतुनिर्देशेनानुवर्तमानः 'स्मृतिसमन्वाहारः' अभिसंबध्यते । हिंसायाः स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि । तद्रौद्रध्यानमविरतदेशविरतयोर्वेदितव्यम् । अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं, देशविरतस्य कथम् ? तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद् भवितुमर्हति । तत्पुनर्नारका-

---

लिए मन प्रणिधानका होना अर्थात् संकल्प तथा निरन्तर चिन्ता करना निदान नामका चौथा आर्तध्यान कहा जाता है ।

§ 885 इस चार प्रकारके आर्तध्यानका स्वामी कौन है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवोंके होता है ।।34।।

§ 886 असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव अविरत कहलाते हैं, संयतासंयत जीव देशविरत कहलाते हैं और पन्द्रह प्रकारके प्रमादसे युक्त क्रिया करनेवाले जीव प्रमत्तसंयत कहलाते हैं । इनमें से अविरत और देशविरत जीवोंके चारों ही प्रकारका आर्तध्यान होता है, क्योंकि ये असंयमरूप परिणामसे युक्त होते हैं । प्रमत्तसंयतोंके तो निदानके सिवा बाकीके तीन प्रमादके उदयकी तीव्रतावश कदाचित् होते हैं ।

विशेषार्थ—पुराण साहित्यमें मुनियों द्वारा निदान करनेके कई उदाहरण हैं पर इन उदाहरणोंसे प्रमत्तसंयत अवस्थामें उन साधुओंने निदान किया ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिए । एक तो भावलिंगी साधुके आगामी भोगोंकी आकांक्षा होती ही नहीं और कदाचित् होती है तो उस समयमें वह भावलिंगी नहीं रहता ऐसा अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिए ।

§ 887 संज्ञा आदिके द्वारा आर्तध्यानका व्याख्यान किया । अब दूसरे ध्यानकी संज्ञा, हेतु और स्वामीका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षणके लिए सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है । वह अविरत और देशविरतके होता है ।।35।।

§ 888 हिंसादिकके लक्षण पहले कह आये हैं । वे रौद्रध्यानकी उत्पत्तिके निमित्त होते हैं । उससे हेतुनिर्देश जाना जाता है । हेतुका निर्देश करनेवाले उन हिंसादिकके साथ अनुवृत्तिको प्राप्त होनेवाले 'स्मृतिसमन्वाहार' पदका सम्बन्ध होता है । यथा—हिंसाका स्मृतिसमन्वाहार आदि । यह रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके जानना चाहिए । शंका—रौद्रध्यान अविरतके होओ देशविरतके कैसे हो सकता है ? समाधान—हिंसादिकके आवेशसे या वित्तादिके संरक्षणके परतन्त्र होनेसे कदाचित् उसके भी हो सकता है । किन्तु देशविरतके होनेवाला यह रौद्रध्यान

---

1 –विधमार्तं ता. मु ।

दीनामकारण; सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् । सयतस्य तु न भवत्येव; तदारम्भे संयमप्रच्युतेः ।

§ 889 आह, 'परे मोक्षहेतू' उपदिष्टे । तत्राद्यस्य मोक्षहेतोर्ध्यानस्य भेदस्वरूपस्वामिनिर्देश. कर्तव्य इत्यत आह—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।।36।।

§ 890. विचयनं विचयो विवेको विचारणे[1]त्यर्थः । आज्ञापायविपाकसंस्थानानां विचय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचय । 'स्मृतिसमन्वाहार' इत्यनुवर्तते । स प्रत्येकं संबध्यते—आज्ञाविचयाय स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि । तद्यथा—उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागम प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं "नान्यथावादिनो जिना." इतिगहनपदार्थश्रद्धाना[2]दर्थावधारणमाज्ञाविचयः । अथवा—स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते । जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचय' । अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्य कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचय. । कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं

नारकादि दुर्गतियोका कारण नही है, क्योकि सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही सामर्थ्य है । परन्तु सयतके तो वह होता ही नही है, क्योकि उसका आरम्भ होनेपर सयमसे पतन हो जाता है ।

§ 889 कहते हैं, अन्तके दो ध्यान मोक्षके हेतु है यह कह आये । उनमेसे मोक्षके हेतुरूप प्रथम ध्यानके भेद, स्वरुप और स्वामीका निर्देश करना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते है—

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणाके निमित्त मनको एकाग्र करना धर्म्यध्यान है ।।36।।

§ 890 विचयन करना विचय है । विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम हैं । आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान इनका परस्पर द्वन्द्व समास होकर विचय शब्दके साथ षष्ठीतत्पुरुष समास है और इस प्रकार 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः' पद बना है । 'स्मृतिसमन्वाहार' पदकी अनुवृत्ति होती है । और उसका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होता है । यथा—आज्ञाविचयके लिए स्मृतिसमन्वाहार आदि । स्पष्टीकरण इस प्रकार है—उपदेश देनेवालेका अभाव होनेसे, स्वय मन्दबुद्धि होनेसे, कर्मोका उदय होनेसे तथा पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे तत्त्वके समर्थनमें हेतु और दृष्टान्तका अभाव होनेपर सर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाण करके 'यह इसी प्रकार है, क्योकि जिन अन्यथावादी नही होते' इस प्रकार गहन पदार्थके श्रद्धानद्वारा अर्थका अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है । अथवा स्वय पदार्थोंके रहस्यको जानता है और दूसरोंके प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्व-सिद्धान्तके अविरोधद्वारा तत्त्वका समर्थन करनेके लिए उसका जो तर्क, नय और प्रमाणकी योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है वह सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रकाशित करनेवाला होनेसे आज्ञाविचय कहा जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुषके समान सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्गका परिज्ञान न होनेसे वे मोक्षार्थी पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देते हैं इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है । अथवा, ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे दूर होंगे इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है । ज्ञानावरणादि

---

1. विचारणमित्यर्थः मु. । विचारणमित्यर्थ. ता. । 2. –द्धानमर्था– मु. ।

विपाकविचयः। लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहार संस्थानविचयः। उत्तमक्षमादिलक्षणो धर्म उक्त । तस्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानं चतुर्विकल्पमवसेयम्। तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति।

कर्मोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावनिमित्तक फलके अनुभवके प्रति उपयोगका होना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। तथा लोकके आकार और स्वभावका निरन्तर चिन्तन करना सस्थानविचय धर्म्यध्यान है। पहले उत्तम क्षमादिरूप धर्मका स्वरूप कह आये हैं। उससे अनपेत अर्थात् युक्त धर्म्यध्यान चार प्रकारका जानना चाहिए। यह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत जीवोंके होता है।

विशेषार्थ—ससार, शरीर और भोगोसे विरक्त होनेके लिए या विरक्त होनेपर उस भावको स्थिर बनाये रखनेके लिए सम्यग्दृष्टिका जो प्रणिधान होता है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं। यह उत्तम क्षमादिरूप धर्मसे युक्त होता है, इसलिए इसे धर्म्यध्यान कहते है। यहाँ निमित्तभेदसे इसके चार भेद किये गये हैं। यथा—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। आज्ञाविचय तत्त्वनिष्ठामे सहायक होता है, अपायविचय ससार, शरीर और भोगोसे विरक्ति उत्पन्न करता है। विपाक विचयसे कर्मफल और उसके कारणोकी विचित्रताका ज्ञान दृढ होता है और सस्थानविचयसे लोकको स्थितिका ज्ञान दृढ होता है।

मूल टीकामे विपाकविचयके स्वरूपका निर्देश करते हुए जो द्रव्य, क्षेत्र और काल आदिके निमित्तसे कर्मफलकी चर्चा की है उसका आशय यह है कि यद्यपि कर्मोके उदय या उदीरणासे जीवके औदयिक भाव और विविध प्रकारके शरीरादिककी प्राप्ति होती है पर इन कर्मोका उदय और उदीरणा विना अन्य निमित्तके नही होती, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र आदिका निमित्त पाकर ही कर्मोका उदय और उदीरणा होती है। आगे इसी बातको विशेष रूपसे स्पष्ट करते हैं। द्रव्यनिमित्त—मान लो एक व्यक्ति हँस खेल रहा हैं, वह अपने बाल-बच्चोके साथ गप्पागोष्ठीमे तल्लीन है। इतनेमे अकस्मात् मकानको छत टूटती है और वह उससे घायल होकर दु खका वेदन करने लगता है तो यहाँ उसके दु.खवेदनके कारणभूत असाता वेदनीयके उदय और उदीरणा मे टूट कर गिरनेवाली छतका संयोग निमित्त है। टूट कर गिरनेवाली छतके निमित्तसे उस व्यक्तिके असातावेदनीयकी उदय-उदीरणा हुई और असातावेदनीयके उदय-उदीरणासे उस व्यक्तिको दु.खका अनुभवन हुआ यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इसी प्रकार अन्य कर्मोके उदय-उदीरणामे वाह्य द्रव्य कैसे निमित्त होता है इसका विचार कर लेना चाहिए। कालनिमित्त—कालके निमित्त होनेका विचार दो प्रकारसे किया जाता है। एक तो प्रत्येक कर्मका उदय-उदीरणा काल और दूसरा वह काल जिसके निमित्तसे बीच मे ही कर्मोकी उदय-उदीरणा वदल जाती है। आगममे अध्रुवोदय रूप कर्मके उदय-उदीरणा कालका निर्देश किया है उसके समाप्त होते ही विवक्षित कर्मके उदय-उदीरणाका अभाव होकर उसका स्थान दूसरे कर्मकी उदय-उदीरणा ले लेती है। जैसे सामान्यसे हास्य और रतिका उत्कृष्ट उदय-उदीरणाकाल छह महीना है। इसके वाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोककी उदय-उदीरणा होने लगती है। किन्तु छह महीनाके भीतर यदि हास्य और रतिके विरुद्ध निमित्त मिलता है तो वीचमे ही इनकी उदय-उदीरणा वदल जाती है। यह कर्मका उदय-उदीरणा काल है। अव एक ऐसा जीव लो जो निर्भय होकर देशान्तरको जा रहा है, किन्तु किसी दिन मार्गमे ही ऐसे जंगल मे रात्रि हो जाती है जहाँ हिंस्र जन्तुओका प्रावल्य है और विश्राम करनेके लिए कोई निरापद स्थान नही है। यदि दिन होता तो उसे रचमात्र भी भय न होता, किन्तु रात्रि होनेसे वह भयभीत होता है इससे इसके

असाता, अरति, शोक और भय कर्मकी उदय-उदीरणा होने लगती है। यह कालनिमित्तक उदय-उदीरणा है। इसी प्रकार क्षेत्र, भव और भावनिमित्तक उदय और उदीरणा जान लेनी चाहिए। कालप्राप्त कर्मपरमाणुओके अनुभव करनेको उदय कहते है और उदयावलिके बाहर स्थित कर्म-परमाणुओको कषायसहित या कषायरहित योग सज्ञावाले वीर्यविशेषके द्वारा उदयावलिमे लाकर उनका उदयप्राप्त कर्मपरमाणुओ के साथ अनुभवन करनेको उदीरणा कहते हैं। इस प्रकार कर्मपरमाणुओका अनुभवन उदय और उदीरणा दोनोमे लिया जाता है। यदि इनमे अन्तर है तो कालप्राप्त और अकालप्राप्त परमाणुओका है। उदयमे कालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं और उदीरणामे अकालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते है। सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्मका उदय होता है वहाँ उसकी उदीरणा अवश्य होती है। फिर भी इनमे जो विशेषता है उसका यहाँ निर्देश करते है—मिथ्यात्वका उदय और उदीरणा मिथ्यात्व गुणस्थानमे होती है। इतनी विशेषता है कि उपशम सम्यक्त्वके अभिमुख हुए जीवके अन्तिम आवली प्रमाण कालमे मिथ्यात्वकी उदीरणा नही होती, वहाँ मात्र उसका उदय होता है। एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रियजाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन नौ प्रकृतियोकी मिथ्यात्व गुणस्थानमे ही उदय और उदीरणा होती है आगे नही। अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी प्रारम्भके दो गुणस्थानोमे ही उदय और उदीरणा होती है आगे नही। सम्यङ्मिथ्यात्व-की तीसरे गुणस्थानमे ही उदय और उदीरणा होती है, अन्यत्र नही। अप्रत्याख्यान चार, नरक-गति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अगोपाग, दुर्भग, अनादेय और अयशस्कीर्ति इन ग्यारह प्रकृतियोका चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नही। नरकायु और देवायुकी चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नही। मात्र मरणके समय अन्तिम आवलिकालमे उदीरणा नही होती। चार आनुपूर्वियोकी प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानमे ही उदय और उदीरणा होती है अन्यत्र नही। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, तिर्यंचगति, उद्योत और नीचगोत्र इन सात प्रकृतियोकी सयतासयत गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा

§ 891 त्रयाणां ध्यानानां निरूपण कृतम्। इदानीं शुक्लध्यानं निरूपयितव्यम्। तद्वक्ष्यमाणचतुर्विकल्पम्। तत्राद्ययो स्वामिनिर्देशार्थमिदमुच्यते—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।।37।।

§ 892 वक्ष्यमाणेषु शुक्लध्यानविकल्पेषु आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। 'च'शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। तत्र 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति'[1] इति श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते।

§ 893. अवशिष्टे कस्य भवत इत्यत्रोच्यते—

परे केवलिनः ।।38।।

तथा नारकियोके उत्पत्तिसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक अरति और शोककी नियमसे उदीरणा होती है, आगे भजनीय है। तीन वेद और क्रोधादि तीन सज्वलनोकी उदीरणा व उदय नौवेंके उपान्त्य भाग तक ही होती है आगे नही। इतनी विशेषता है कि जो जिस वेदके उदयसे श्रेणि चढता है उसके प्रथम स्थितिमे एक आवलिकाल शेष रहनेपर उदीरणा नही होती। लोभ-सज्वलनका दसवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होता है। मात्र दसवे गुणस्थानके अन्तिम आवलि कालके शेष रहनेपर उदीरणा नहीं होती, उदय होता है। वज्रनाराच और नाराच सहननका ग्यारहवें गुणस्थान तक उदीरणा और उदय होता है। निद्रा और प्रचलाकी बारहवें गुणस्थानमे एक समय अधिक एक आवलि काल शेष रहने तक उदय व उदीरणा दोनो होते है, आगे बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समय तक इनका उदय ही होता है। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोका उदय तो बारहवे गुणस्थानके अन्तिम समय तक होता है और उदीरणा बारहवे गुणस्थानमे एक आवलि काल शेष रहने तक होती है। मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर, छह सस्थान, औदारिक अगोपाग, वज्रवृषभनाराच सहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, दोनो विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, दु:स्वर, आदेय, यशकीर्ति, निर्माण और उच्चगोत्र इन अडतीस प्रकृतियोकी तेरहवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होते है आगे नही। तथा तीर्थंकर प्रकृतिका तेरहवें गुणस्थानमे ही उदीरणा व उदय होता है। इस प्रकार आज्ञा आदिके निमित्तसे सतत चिन्तन करना धर्म्यध्यान है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

§ 891. तीन ध्यानोका कथन किया, इस समय शुक्लध्यानका कथन करना चाहिए, उसके आगे चार भेद कहनेवाले हैं उनमे-से आदिके दो भेदोके स्वामीका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वविद्‌के होते है ।।37।।

§ 892 आगे कहे जानेवाले शुक्लध्यानके भेदोमे-से आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवलीके होते है। सूत्रमे 'च' शब्द आया है उससे धर्म्यध्यानका समुच्चय होता है। 'व्याख्यानसे विशेष ज्ञान होता है' इस नियमके अनुसार श्रेणि चढनेसे पूर्व धर्म्यध्यान होता है और दोनो श्रेणियोमे आदिके दो शुक्लध्यान होते है ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।

§ 893 शेषके दो शुक्लध्यान किसके होते है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

शेषके दो शुक्लध्यान केवलीके होते हैं ।।38।।

---

1 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।' —परि शे, पृ 8। पा. म भा, पृ 57, 130, 154। वक्खाणओ विसेसो न हि सदेहादलक्खणया ।।' -वि भा, गा, 340।

§ 894. प्रक्षीणसकलज्ञानावरणस्य केवलिनः सयोगस्यायोगस्य च परे उत्तरे शुक्लध्याने भवतः।

§ 895. यथासंख्यं तद्विकल्पप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥39॥

§ 896 पृथक्त्ववितर्कमेकत्ववितर्कं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति चतुर्विधं शुक्लध्यानम्। वक्ष्यमाणलक्षण[1]मपेक्ष्य सर्वेषामन्वर्थत्व[2]मवसेयम्।

§ 897 तस्यालम्बनविशेषनिर्धारणार्थमाह—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥40॥

§ 898. 'योग' शब्दो व्याख्यातार्थः 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र। उक्तैश्चतुर्भिः शुक्लध्यानविकल्पैस्त्रियोगादीनां चतुर्णां यथासंख्येनाभिसंबन्धो वेदितव्यः। त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम्, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कम्, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति।

§ 899. तत्राद्ययोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥41॥

§ 900 एक आश्रयो ययोस्ते एकाश्रये। [3]उभेऽपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते,

---

§ 894 जिसके समस्त ज्ञानावरणका नाश हो गया है ऐसे सयोगकेवली और अयोगकेवलीके पर अर्थात् अन्तके दो शुक्लध्यान होते है।

§ 895 अब क्रमसे शुक्लध्यानके भेदोका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं ॥39॥

§ 896. पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं। आगे कहे जानेवाले लक्षणकी अपेक्षा सबका सार्थक नाम जानना चाहिए।

§ 897 अब उसके आलम्बन विशेषका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

वे चार ध्यान क्रमसे तीन योगवाले, एक योगवाले, काययोगवाले और अयोगके होते हैं ॥40॥

§ 898 'कायवाङ्मन कर्म योग' इस सूत्रमे योग शब्दका व्याख्यान कर आये हैं। पूर्वमे कहे गये शुक्लध्यानके चार भेदोके साथ त्रियोग आदि चार पदोका क्रमसे सम्बन्ध ज्ञान लेना चाहिए। तीन योगवालेके पृथक्त्ववितर्क होता है। तीन योगोमे-से एक योगवालेके एकत्ववितर्क होता है। काययोगवालेके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान होता है और अयोगीके व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है।

§ 899 अब इन चार भेदोंमे-से आदिके दो भेदोके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहलेके दो ध्यान एक आश्रयवाले, सवितर्क और सवीचार होते हैं ॥41॥

§ 900 जिन दो ध्यानोंका एक आश्रय होता है वे एक आश्रयवाले कहलाते हैं। जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान आरम्भ किये जाते हैं। यह उक्त

---

1. [illegible] मु.। 2. [illegible] मु.। 3. उभयेऽपि आ दि 1, दि 2, ना।

इत्यर्थः। वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ, सह वितर्कवीचाराभ्यां वर्तेत इति सवितर्कवीचारे। पूर्वे पृथक्त्वैकत्ववितर्के इत्यर्थः।

§ 901. तत्र यथासंख्यप्रसंगेऽनिष्टनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते—

अवीचारं द्वितीयम् ॥42॥

§ 902 पूर्वयोर्यद् द्वितीयं तदवीचारं प्रत्येतव्यम्। एतदुक्तं भवति—आद्यं सवितर्कं सवीचारं च भवति। द्वितीयं सवितर्कमवीचारं चेति।

§ 903. अथ वितर्कवीचारयो क प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

वितर्कः श्रुतम् ॥43॥

§ 904. विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः।

§ 905. अथ को वीचारः।

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥44॥

§ 906 अर्थो ध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा। व्यञ्जनं वचनम्। योग कायवाङ्मन.कर्मलक्षणः। संक्रान्तिः परिवर्तनम्। द्रव्य विहाय पर्यायमुपैति पर्याय त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः। एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। काययोगं त्यक्त्वा योगान्तर गृह्णाति योगान्तरं च[1] त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः। एवं परिवर्तनं वीचार इत्युच्यते[2]। तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं च पूर्वोदितगुप्त्यादिबहुप्रकारोपायं

कथनका तात्पर्य है। जो वितर्क और वीचारके साथ रहते है वे सवितर्कवीचार ध्यान कहलाते है। सूत्रमे आये हुए पूर्व पदसे पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान लिये गये हैं।

§ 901 पूर्व सूत्रमे यथासख्यका प्रसग होनेपर अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

दूसरा ध्यान अवीचार है ॥42॥

§ 902 पहलेके दो ध्यानोमे जो दूसरा ध्यान है वह अवीचार जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है तथा दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क और अवीचार होता है।

§ 903 अब वितर्क और वीचारमे क्या भेद है यह दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वितर्कका अर्थ श्रुत है ॥43॥

§ 904 विशेष रूपसे तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क श्रुतज्ञान कहलाता है।

§ 905. अब वीचार किसे कहते हैं यह बात अगले सूत्र द्वारा कहते हैं—

अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति वीचार है ॥44॥

§ 906 अर्थ ध्येयको कहते हैं। इससे द्रव्य और पर्याय लिये जाते हैं। व्यञ्जनका अर्थ वचन है तथा काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं। संक्रान्तिका अर्थ परिवर्तन है। द्रव्यको छोडकर पर्यायको प्राप्त होता है और पर्यायको छोड द्रव्यको प्राप्त होता है—यह अर्थसक्रान्ति है। एक श्रुतवचनका आलम्बन लेकर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है और उसे भी त्यागकर अन्य वचनका आलम्बन लेता है—यह व्यंजन-सक्रान्ति है। काययोगको छोड़कर दूसरे योगको स्वीकार करता है और दूसरे योगको छोड़कर काययोगको स्वीकार करता है—यह योग-

---

1 —न्तर त्यक्त्वा मु.। 2 इत्युच्यते। सक्रान्तौ सत्यां कथं ध्यानमिति चेत् ध्यानसतानमपि ध्यानमुच्यते इति न दोष। तदेतत्सामान्य— मु. दि. 1, दि. 2, आ,

संसारनिवृत्तये मुनिर्ध्यातुमर्हति कृतपरिकर्मा। तत्र द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः [1]अर्थव्यंजने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता [2]मनसापर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति। स एव पुनः समूलतूलं[3] मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणवि[4]शुद्धियोगविशेषमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसहायीभूतानां प्रकृतीनां बन्धं निरुन्धन् स्थितिह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो[5] निवृत्तार्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः अविचलितमनाः क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम्। एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनः प्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलो मेघपञ्जरनिरोधनिर्गत इव घर्मरश्मिर्वा भासमानो भगवांस्तीर्थंकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायुषः पूर्वकोटीं देशोनां विहरति। स यदान्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्वं वाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति। यदा पुनरन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मत्रयो भवति सयोगी तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्या-

---

संक्रान्ति है। इस प्रकारके परिवर्तनको वीचार कहते हैं। सामान्य और विशेष रूपसे कहे गये इन चार प्रकारके धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको पूर्वोक्त गुप्ति आदि बहुत प्रकारके उपायोसे युक्त होनेपर संसारका नाश करनेके लिए जिसने भले प्रकारसे परिकर्मको किया है ऐसा मुनि ध्यान करनेके योग्य होता है। जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साहसे युक्त बालक अव्यवस्थित और भौथरे शस्त्रके द्वारा भी चिरकालमे वृक्षको छेदता है उसी प्रकार चित्तकी सामर्थ्यको प्राप्तकर जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा काय और वचनमे पृथक्त्व रूपसे संक्रमण करनेवाले मनके द्वारा मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोका उपशमन और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्क वीचारध्यानको धारण करनेवाला होता है। पुनः

शेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्याद्दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भि समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति। ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते। समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेश-परिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते। तस्मिन्समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशातनसामर्थ्योपपत्तेरयोगिकेवलिनः संपूर्णयथाख्यातचारित्र-ज्ञानदर्शनं सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते। स पुनरयोगकेवली भगवांस्तदा ध्यानातिशयाग्निनिर्दग्धसर्वमलकलङ्कबन्धनो निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनक-वल्लब्धात्मा परिनिर्वाति। तदेतद् द्विविधं तपोऽभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात्संवरकारणं प्राक्तन-कर्मरजोविधूननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि भवति।

§ 907 अत्राह सम्यग्दृष्टयः किं सर्वे समनिर्जरा आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्य-त्रोच्यते—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-
मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥45॥

§ 908 त एते दश सम्यग्दृष्ट्यादयः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। तद्यथा - भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः पूर्वोक्तकाललब्ध्यादिसहायः परिणामविशुद्ध्या वर्धमानः क्रमेणापूर्वकरणादिसो-

---

और जिनके स्वल्पमात्रामे कर्मोका परिपाचन हो रहा है ऐसे वे अपने आत्मप्रदेशोके फैलनेसे कर्मरजको परिशातन करनेकी शक्तिवाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको चार समयोके द्वारा करके अनन्तर प्रदेशोके विसर्पणका सकोच करके तथा शेष चार कर्मोकी स्थिति-को समान करके अपने पूर्व शरीरप्रमाण होकर सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको स्वीकार करते है। इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यानको आरम्भ करते हैं। इसमे प्राणापानके प्रचाररूप क्रियाका तथा सब प्रकारके काययोग, वचनयोग और मनोयोगके द्वारा होनेवाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप क्रियाका उच्छेद हो जानेसे इसे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान कहते है। इस समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यानमे सब प्रकारके कर्मबन्धके आस्रवका निरोध हो जानेसे तथा बाकीके बचे सब कर्मोके नाश करनेकी शक्तिके उत्पन्न हो जानेसे अयोगिकेवली के ससारके सब प्रकारके दु खजालके सम्बन्धका उच्छेद करनेवाला सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र, ज्ञान और दर्शनरूप साक्षात् मोक्षका कारण उत्पन्न होता है। वे अयोगिकेवली भगवान् उस समय ध्यानातिशयरूप अग्निके द्वारा सब प्रकारके मल-कलंकबन्धनको जलाकर और किट्ट धातु व पाषाणका नाशकर शुद्ध हुए सोनेके समान अपने आत्माको प्राप्तकर परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह दोनो प्रकारका तप नूतन कर्मोके आस्रवके निरोधका हेतु होनेसे सवरका कारण है और प्राक्तन कर्मरूपी रजके नाश करनेका हेतु होनेसे निर्जराका भी हेतु है।

§ 907 यहाँ कहते है कि सब सम्यग्दृष्टि क्या समान निर्जरावाले होते हैं या कुछ विशेषता है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्त-मोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रमसे असख्यगुण निर्जरावाले होते हैं ॥45॥

§ 908 सम्यग्दृष्टि आदि ये दश क्रमसे असंख्येयगुण निर्जरावाले होते हैं। यथा—जिसे पूर्वोक्त काललब्धि आदिकी सहायता मिली है और जो परिणामोकी विशुद्धि द्वारा वृद्धिको प्राप्त

पानपङ्क्त्योत्प्लवमानो बहुतरकर्मनिर्जरो भवति। स एव पुनः प्रथमसम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तसंनिधाने सति सम्यग्दृष्टिर्भवन्नसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनश्चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमनिमित्तपरिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको भवन् ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनः प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमकारणपरिणामविशुद्धियोगाद् विरतव्यपदेशभाक् सन् ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनरनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां वियोजनपरो भवति यदा तदा परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगात्ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनर्दर्शनमोहप्रकृतित्रयतृणनिचयं निर्दिधक्षन् परिणामविशुद्ध्यतिशययोगाद्दर्शनमोहक्षपकव्यपदेशभाक्[1] पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। एवं सः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहोपशमं प्रति व्याप्रियमाणो विशुद्धिप्रकर्षयोगादुपशमकव्यपदेशमनुभवन् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनरशेषचारित्रमोहोपशमनिमित्तसंनिधाने परिप्राप्तोपशान्तकषायव्यपदेशः पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव पुनश्चारित्रमोहक्षपणं प्रत्यभिमुखः परिणामविशुद्ध्या वर्द्धमानः क्षपकव्यपदेशमनुभवन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स यदा निःशेषचारित्रमोहक्षपणकारणपरिणामाभिमुखः क्षीणकषायव्यपदेशमास्कन्दन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति। स एव द्वितीयशुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मनिचयः सन् जिनव्यपदेशभाक् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति।

हो रहा है ऐसा भव्य पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीव क्रमसे अपूर्वकरण आदि सोपान पंक्तिपर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला होता है। सर्वप्रथम वह ही प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येयगुण कर्मनिर्जरावाला होता है। पुनः वह ही चारित्र मोहनीय कर्मके एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी प्राप्तिके समय विशुद्धिका प्रकर्ष होनेसे श्रावक होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही प्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी विशुद्धिवश विरत संज्ञाको प्राप्त होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभकी विसंयोजना करता है तब परिणामोंकी विशुद्धिके प्रकर्षवश उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही दर्शनमोहनीयत्रिकरूपी तृणसमूहको भस्मसात् करता हुआ परिणामोंकी विशुद्धिके अतिशयवश दर्शनमोह क्षपक संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहलेसे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। इस प्रकार वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणिपर आरोहण करनेके सम्मुख होता हुआ तथा चारित्र मोहनीयके उपशम करनेके लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धिके प्रकर्षवश उपशमक संज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीयके उपशमके निमित्त मिलनेपर उपशान्तकषाय संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके लिए सम्मुख होता हुआ तथा परिणामोंकी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर क्षपक संज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके कारणोंसे प्राप्त हुए परिणामोंके अभिमुख होकर क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येय गुण निर्जरावाला होता है। पुनः वह ही द्वितीय शुक्लध्यानरूपी अग्निके द्वारा घातिकर्म समूहका नाश करके जिन संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है।

---

1. —भाक् [illegible] पूर्वो— मु.।

§ 909. आह, सम्यग्दर्शनसंनिधानेऽपि यद्यसंख्येयगुणनिर्जरत्वात्परस्परतो न साम्यमेषां किं तर्हि श्रावकवदमी विरतादयो गुणभेदान्न निर्ग्रन्थतामर्हन्तीति ? उच्यते, नैतदेवम् । कुत । यस्माद् गुणभेदादन्योऽन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात्सर्वेऽपि हि भवन्ति—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।।46।।

§ 910. उत्तरगुणभाव[1]नापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तोऽ[2]-विशुद्धपुलाकसादृश्यात्पुलाका इत्युच्यन्ते । नैर्ग्रन्थ्यं प्रति स्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभू-षानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा[3] मोहशबलयुक्ता बकुशाः । शबलपर्यायवाची बकुशशब्दः । कुशीला द्विविधाः—प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीला इति । अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथंचिदुत्तर-गुण[4]विराधिनः प्रतिसेवनाकुशीला । वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्रा कषायकुशीलाः । उदकदण्डराजिवदनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः ।

विशेषार्थ—यहाँ मुख्य रूपसे गुणश्रेणि निर्जराके दस स्थानोका निर्देश किया गया है। असंख्यात गुणितक्रम श्रेणिरूपसे कर्मोंकी निर्जरा होना गुणश्रेणिनिर्जरा है । यह गुणश्रेणि निर्जरा सर्वदा नही होती किन्तु उपशमना और क्षपणाके कारणभूत परिणामोके द्वारा ही गुणश्रेणि रचना होकर यह निर्जरा होती है । गुणश्रेणि रचना दो प्रकारकी होती है—एक तो गलितावशेष गुण-श्रेणि रचना और दूसरी अवस्थित गुणश्रेणि रचना । यह कहाँ किस प्रकारकी होती है इसे लब्धि-सार क्षपणासारसे जान लेना चाहिए । यहाँ इतना ही विशेष वक्तव्य है कि यहाँ जो दस स्थान बतलाये हैं उनमें उत्तरोत्तर गुणश्रेणिनिर्जराके लिए असख्यातगुणा द्रव्य प्राप्त होता है किन्तु आगे-आगे गुणश्रेणिका काल सख्यातगुणा हीन-हीन है । अर्थात् सम्यग्दृष्टिको गुणश्रेणि निर्जरामे जो अन्तर्मुहूर्त काल लगता है उससे श्रावकको संख्यात गुणा हीन काल लगता है पर सम्यग्दृष्टि गुणश्रेणि द्वारा जितने कर्मप्रदेशोकी निर्जरा करता है उससे श्रावक असख्यात गुणे कर्मपरमाणुओ-की निर्जरा करता है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए ।

§ 909. कहते हैं, सम्यग्दर्शनका सान्निध्य होनेपर भी यदि असंख्येयगुण निर्जराके कारण ये परस्परमें समान नही हैं तो क्या श्रावकके समान ये विरत आदिक भी केवल गुणभेदके कारण निर्ग्रन्थपनेको नही प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए कहते हैं कि यह बात ऐसी नही है, क्योकि यत गुणभेदके कारण परस्पर भेद होनेपर भी नैगमादि नयकी अपेक्षा वे सभी होते हैं—

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रन्थ हैं ।।46।।

§ 910. जिनका मन उत्तरगुणोकी भावनासे रहित है, जो कही पर और कदाचित् व्रतो-में भी परिपूर्णताको नही प्राप्त होते हैं वे अविशुद्धपुलाक (मुरझाये हुए धान्य) के समान होनेसे पुलाक कहे जाते हैं । जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतोंका अखण्डरूपसे पालन करते हैं, शरीर और उप-करणोंकी शोभा बढानेमे लगे रहते हैं, परिवारसे घिरे रहते है और विविध प्रकारके मोहसे युक्त होते हैं वे बकुश कहलाते हैं । यहाँ पर बकुश शब्द 'शबल' (चित्र-विचित्र) शब्दका पर्यायवाची है । कुशील दो प्रकारके होते हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील । जो परिग्रहसे घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तरगुणोमें परिपूर्ण हैं लेकिन कभी-कभी उत्तरगुणोकी विराधना करते है वे प्रतिसेवनाकुशील कहलाते हैं । जिन्होने अन्य कषायोके उदयको जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषायके अधीन हैं वे कषायकुशील कहलाते हैं । जिस प्रकार जलमे लकडीसे की गयी

---

1. —भावनोपेत-- मु. । 2 शुद्धा पुलाक— मु. । 3 -वारा मोहछेदशबल— आ., दि 1 ।—वारानु मोह-शबल —दि. 2 । 4. —विरोधिन मु ।

प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनो द्विविधाः स्नातका । त एते पंचापि निर्ग्रन्था । चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते ।

§ 911. तेषां पुलाकादीनां भूयोऽपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥47॥

§ 912. त एते पुलाकादयः संयमादिभिरष्टभिरनुयोगैः साध्या व्याख्येयाः । तद्यथा— पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः सयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्वर्तन्ते । कषायकुशीला द्वयो संयमयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययोः पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसयमे सन्ति ।

§ 913. श्रुतं—पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधरा. । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः ।

§ 914. प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतम प्रतिसेवमान· पुलाको भवति । बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्चेति । तत्रोपकरणवकुशो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकांक्षी । शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुशः । प्रतिसेवना-

---

रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मोका उदय अप्रकट हो और जो अन्तर्मुहूर्तके बाद प्रकट होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करते है वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं । जिन्होने चार घातिया कर्मोका नाश कर दिया है ऐसे दोनो प्रकारके केवली स्नातक कहलाते हैं । ये पाँचो ही निर्ग्रन्थ होते है । इनमे चारित्ररूप परिणामोकी न्यूनाधिकताके कारण भेद होनेपर भी नैगम और सग्रह आदि नयोकी अपेक्षा वे सब निर्ग्रन्थ कहलाते हैं ।

§ 911. अब उन पुलाक आदिके सम्बन्धमे पुनरपि ज्ञान प्राप्त करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थानके भेदसे इन निर्ग्रन्थोंका व्याख्यान करना चाहिए ॥47॥

§ 912 ये पुलाक आदि संयम आदि आठ अनुयोगोके द्वारा साध्य है अर्थात् व्याख्यान करने योग्य है । यथा—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो सयमोमे रहते हैं । कषायकुशील पूर्वोक्त दो सयमोके साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय इन दो सयमोमे रहते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातक एक मात्र यथाख्यात सयममे रहते है ।

§ 913. श्रुत—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्टरूपसे अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं । कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वधर होते हैं । जघन्यरूपसे पुलाकका श्रुत आचार वस्तुप्रमाण होता है । वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थोका श्रुत आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण होता है । स्नातक श्रुतज्ञानसे रहित केवली होते हैं ।

कुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति।

§ 915. तीर्थमिति सर्वे सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु भवन्ति।

§ 916. लिङ्गं द्विविधं—द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति। भावलिंगं प्रतीत्य सर्वे पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः।

§ 917. लेश्याः—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रः बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि[1]। कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तराः। सूक्ष्मसांपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला। अयोगा अलेश्या।

§ 918. उपपाद—पुलाकस्योत्कृष्ट उपपाद उत्कृष्टस्थितिदेवेषु सहस्रारे। बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिषु आरणाच्युतकल्पयोः। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।

§ 919. स्थानम्—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः। तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः। ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गच्छत्येकाकी। तत कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति। ततो बकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽ-

---

की प्रतिसेवना करनेवाला होता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकोके प्रतिसेवना नही होती।

§ 915. तीर्थ—ये सब निर्ग्रन्थ सब तीर्थंकरोके तीर्थोंमे होते है।

§ 916. लिंग—लिंग दो प्रकारका है, द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंगकी अपेक्षा पांचो ही साधु निर्ग्रन्थ लिंगवाले होते हैं। द्रव्यलिंग अर्थात् शरीरकी ऊँचाई, रग व पीछी आदिकी अपेक्षा उनमे भेद है।

§ 917 लेश्या—पुलाकके आगेकी तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना-कुशील के छहो लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशीलके अन्तकी चार लेश्याएँ होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय कषायकुशीलके तथा निर्ग्रन्थ और स्नातकके केवल शुक्ल लेश्या होती है और अयोगी लेश्यारहित होते हैं।

§ 918 उपपाद—पुलाकका उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार कल्पके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोमे होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशीलका उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत कल्पमे बाईस सागरोपमकी स्थितिवाले देवोमे होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थका उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धिमे तैतीस सागरोपमकी स्थितिवाले देवोमे होता है। इन सभीका जघन्य उपपाद सौधर्म कल्पमें दो सागरोपम की स्थितिवाले देवोमे होता है। तथा स्नातक मोक्ष जाते है।

§ 919 स्थान—कषायनिमित्तक असख्यात सयमस्थान होते है। पुलाक और कषायकुशीलके सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते है। वे दोनो असख्यात स्थानोतक एक साथ जाते हैं। इसके बाद पुलाककी व्युच्छित्ति हो जाती है। आगे कषायकुशील असख्यात स्थानोतक अकेला जाता है। इससे आगे कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश असख्यात स्थानोतक एक साथ जाते हैं। यहाँ बकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर

---

1 षडपि। कृष्णलेश्यादित्रितय तयो कथमिति चेदुच्यते—तयोरुपकरणासक्तिसभवादार्तध्यान कदाचित्सभवति, आर्तध्यानेन च कृष्णादिलेश्यात्रितय सभवतीति। कषाय— मु.।

प्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं[1] प्राप्नोतीत्येतेषां संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः।

प्रतिसेवना कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है। पुन. इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर कषाय कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे अकषाय स्थान है जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त होता है। उसकी भी असंख्यातस्थान आगे जाकर व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाणको प्राप्त होता है। इनकी संयमलब्धि अनन्तगुणी होती है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिनामक तत्त्वार्थवृत्तिमें नौवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ दशमोऽध्यायः

§ 920 आह, अन्ते निर्दिष्टस्य मोक्षस्येदानीं स्वरूपाभिधानं प्राप्तकालमिति । सत्यमेवम् । मोक्षप्राप्तिः केवलज्ञानावाप्तिपूर्विकेति केवलज्ञानोत्पत्तिकारणमुच्यते—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥1॥

§ 921. इह वृत्तिकरणं न्याय्यम् । कुतः ? लघुत्वात् । कथम्[2] ? एकस्य 'क्षय'शब्दस्याकरणाद् विभक्त्यन्तरनिर्देशस्य चाभावात् 'च' शब्दस्य चाप्रयोगाल्लघु सूत्रं भवति 'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्' इति । सत्यमेतत्, क्षयक्रमप्रतिपादनार्थो वाक्यभेदेन निर्देशः क्रियते । प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति । तत्क्ष[3]यो हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षणो विभक्तिनिर्देशः कृत । कथं प्रागेव मोहः क्षयमुपनीयते इति चेदुच्यते—भव्य सम्यग्दृष्टिः परिणामविशुद्ध्या वर्धमानोऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानेषु कस्मिंश्चिन्मोहस्य सप्त प्रकृतीः क्षयमुपनीय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यारोहणाभिमुखोऽधःप्रवृत्तकरणमप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्यापूर्वकरणप्रयोगेणापूर्वकरणक्षपकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूय तत्राभिनवशुभाभिसन्धितनूकृतपापप्रकृतिस्थित्यनुभागो विवर्धितशुभकर्मानुभवोऽनिवृत्तिकरणप्राप्त्यानिवृत्तिबादरसांप-

---

§ 920. कहते हैं कि अन्तमे कहे गये मोक्षके स्वरूपके कथनका अब समय आ गया है । यह कहना सही है तथापि केवलज्ञानकी उत्पत्ति होने पर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिए पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कारणोका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते है—

मोहका क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रकट होता है ॥1॥

§ 921 इस सूत्रमे समास करना उचित है, क्योकि इससे सूत्र लघु हो जाता है । **शंका**—कैसे ? **प्रतिशंका**—क्योकि ऐसा करनेसे एक क्षयशब्द नही देना पडता है और अन्य विभक्तिके निर्देशका अभाव हो जानेसे 'च' शब्दका प्रयोग नही करना पडता है, इसलिए सूत्र लघु हो जाता है । यथा—'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्' । **समाधान**—यह कहना सही है तथापि क्षयके क्रमका कथन करनेके लिए वाक्योका भेद करके निर्देश किया है । पहले ही मोहका क्षय करके और अन्तर्मुहूर्त कालतक क्षीणकषाय सज्ञाको प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका एक साथ क्षय करके केवलज्ञानको प्राप्त होता है । इन कर्मोका क्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है ऐसा जानकर 'हेतुरूप' विभक्तिका निर्देश किया है । **शंका**—पहले ही मोहके क्षयको कैसे प्राप्त होता है ? **समाधान**—परिणामोकी विशुद्धि द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता हुआ असयत सम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत, और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानोमे-से किसी एक गुणस्थानमे मोहनीयकी सात प्रकृतियोका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपकश्रेणिपर आरोहण करनेके लिए सम्मुख होता हुआ अप्रमत्तसयत गुणस्थानमे अधःप्रवृत्तकरणको प्राप्त होकर अपूर्वकरणके प्रयोग द्वारा अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान सज्ञाका अनुभव करके और वहांपर नूतन-परिणामोकी विशुद्धिवश पापप्रकृतियोंकी स्थिति और अनुभागको कृश करके तथा शुभकर्मोंके अनुभागकी वृद्धि करके अनिवृत्तिकरणकी प्राप्ति द्वारा अनिवृत्तिबादर-

---

1. —ज्ञानाप्ति— आ । 2 कथम् ? क्षय— मु. । 3 तत्क्षयहेतु केवलोत्पत्तिरिति मु, ता ।

रायक्षपकगुणस्थानमधिरुह्य तत्र कषायाष्टकं नष्टं कृत्वा नपुंसकवेदनाशं समापाद्य स्त्रीवेदमुन्मूल्य नोकषायषट्कं पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने, क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने, मानसंज्वलनं मायासंज्वलने, मायासंज्वलनं[1] च लोभसंज्वलने क्रमेण बादरकृष्टिविभागेन विलयमुपनीय लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसांपरायक्षपकत्वमनुभूय निरवशेषं मोहनीयं निर्मूलकषायं कषित्वा क्षीणकषायतामधिरुह्यावतारितमोहनीयभार उपान्त्यप्रथमे समये निद्राप्रचले प्रलयमुपनीय पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां[2] चान्तमन्ते समुपनीय[3] तदनन्तरं ज्ञानदर्शनस्वभावं केवलपर्यायमप्रतर्क्यविभूतिविशेषमवाप्नोति ।

§ 922. आह कस्माद्धेतोर्मोक्षः किंलक्षणश्चेत्यत्रोच्यते—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥2॥

§ 923. मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्माभावः पूर्वोदितनिर्जराहेतुसंनिधाने चार्जितकर्मनिरासः । ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः । ततो भवस्थितिहेतुसमीकृतशेषकर्मावस्थस्य[4] युगपदात्यन्तिकः[5] कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः प्रत्येतव्यः । कर्माभावो द्विविधः—यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति । तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवायुषामभावो न यत्नसाध्यः, असत्त्वात् । यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते—असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु कस्मिंश्चि-

साम्पराय क्षपकगुणस्थानपर आरोहण करके तथा वहाँ आठ कषायोंका नाश करके तथा नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्रमसे नाश करके, छह नोकषायका पुरुषवेदमें संक्रमण द्वारा नाश करके तथा पुरुषवेदका क्रोधसंज्वलनमें, क्रोधसंज्वलनका मानसंज्वलनमें, मानसंज्वलनका मायासंज्वलनमें और मायासंज्वलनका लोभसंज्वलनमें क्रमसे बादरकृष्टिविभागके द्वारा संक्रमण करके तथा लोभसंज्वलनको कृश करके, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकत्वका अनुभव करके, समस्त मोहनीयका निर्मूल नाश करके, क्षीणकषाय गुणस्थानपर आरोहण करके, मोहनीयके भारको उतारकर क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचलाका नाश करके तथा अन्तिम समयमें पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मोंका अन्त करके तदनन्तर ज्ञानदर्शनस्वभाव अचिन्त्य विभूति विशेषरूप केवलपर्यायको प्राप्त होता है।

§ 922. कहते हैं कि किस कारणसे मोक्ष प्राप्त होता है और उसका लक्षण क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

त्सप्तप्रकृतिक्षयः क्रियते । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनरकगतितिर्यग्गत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञिकानां षोडशानां कर्मप्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसांपरायस्थाने युगपत्क्षयः क्रियते । ततः परं तत्रैव कषायाष्टकं नष्टं क्रियते । नपुंसकवेदः स्त्रीवेदश्च[1] क्रमेण तत्रैव क्षयमुपयाति । [2]नोकषायषट्कं च सहैकेनैव प्रहारेण विनिपातयति । ततः पुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमाया क्रमेण तत्रैवात्यन्तिकं ध्वंसमास्कन्दन्ति । लोभसंज्वलनः सूक्ष्मसांपरायान्ते यात्यन्तम् । निद्राप्रचले क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थस्योपान्त्यसमये प्रलयमुपव्रजतः । पंचानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पंचानामन्तरायाणां च तस्यैवान्त्यसमये प्रक्षयो भवति । अन्यतरवेदनीयदेवगत्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरपंचबन्धनपंचसंघातसंस्थानषट्कौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गषट्संहननपंचप्रशस्तवर्णपंचाप्रशस्तवर्णगन्धद्वयपंचप्रशस्तरसपञ्चाप्रशस्तरसस्पर्शाष्टकदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनिर्माणनामनीचैर्गोत्राख्या द्वासप्ततिप्रकृतयोऽयोगकेवलिन उपान्त्यसमये विनाशमुपयान्ति । अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीत्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रसंज्ञिकानां त्रयोदशानां प्रकृतीनामयोगकेवलिनश्चरमसमये व्युच्छेदो भवति ।

प्रकृतियोका क्षय करता है । पुन निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नामवाली सोलह कर्मप्रकृतियोका अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानमे एक साथ क्षय करता है । इसके वाद उसी गुणस्थानमे आठ कषायोका नाश करता है । पुन. वहीपर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्रमसे क्षय करता है । तथा छह नोकषायोको एक ही प्रहारके द्वारा गिरा देता है । तदनन्तर पुरुषवेद सज्वलनक्रोध, सज्वलनमान और सज्वलनमायाका वहाँपर क्रमसे अत्यन्त क्षय करता है । तथा लोभसज्वलन सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमे विनाशको प्राप्त होता है । निद्रा और प्रचला क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थानके उपान्त्य समयमे प्रलयको प्राप्त होते हैं । पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मोका उसी गुणस्थानके अन्तिम समयमे क्षय होता है । कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, पाँच वन्धन, पाँच सघात, छह संस्थान, औदारिक शरीर अगोपांग, वैक्रियिकशरीर अगोपांग, आहारक शरीर अगोपाग, छह सहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्त रस, पाँच अप्रशस्त रस, आठ स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र नामवाली वहत्तर प्रकृतियोका अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमे विनाश होता है तथा कोई एक वेदनीय, मनुष्य आयु मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, वादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र नामवाली तेरह प्रकृतियोका अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमे वियोग होता है ।

विशेषार्थ—कुल उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अडतालीस हैं । उनमे से चरमशरीरी जीवके नरकायु, तिर्यंचायु और देवायुका सत्त्व होता ही नही । आहारकचतुष्क और तीर्थंकरका सत्त्व

1. –वेदश्च तत्रैव मु. । 2. नोकषायाष्टक च सहै– मु ।

§ 924. आह, किमासां पौद्गलिकीनामेव द्रव्यकर्मप्रकृतीनां निरासान्मोक्षोऽवसीयते उत भावकर्मणोऽपीत्यत्रोच्यते—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥3॥

§ 925. किम् ? 'मोक्षः' इत्यनुवर्तते । भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकनिवृत्त्यर्थम् । तेन पारिणामिकेषु भव्यत्वस्यौपशमिकादीनां च भावानामभावान्मोक्षो भवतीत्यभ्युपगम्यते ।

§ 926. आह, यद्यपवर्गो भावोपरतेः प्रतिज्ञायते, [1]ननु औपशमिकादिभावनिवृत्तिवत्सर्वक्षायिकभावनिवृत्ति[2]व्यपदेशो मुक्तस्य प्राप्नोतीति । स्यादेतदेवं यदि विशेषो नोच्येत । अस्त्यत्र विशेष इत्यपवादविधानार्थमिदमुच्यते—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥4॥

§ 927 अन्यत्रशब्दापेक्षया 'का'निर्देशः[3] । केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यत्रान्यस्मिन्नयं विधिरिति । यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते, अनन्तवीर्यादीनां निवृत्तिः प्राप्नोति ? नैष दोषः,

---

किसीके होता है और किसीके नही होता । इनके सिवा शेष प्रकृतियोंका सत्त्व नियमसे होता है। यह जीव गुणस्थान क्रमसे बन्धहेतुओका अभाव करता है इसलिए क्रमसे नूतन बन्धका अभाव होता जाता है और सत्तामे स्थित प्राचीन प्रकृतियोका परिणाम-विशेषसे क्षय करता जाता है इसलिए सत्तामे स्थित कर्मोका भी अभाव होता जाता है और इस प्रकार अन्तमें सब कर्मोंका वियोग हो जानेसे यह जीव मुक्त होता है । यहाँ मोक्ष शब्दका प्रयोग कर्म, नोकर्म और भावकर्मके वियोग अर्थमे किया गया है । ससारी जीव बद्ध है अतएव वह किसी अपेक्षा से परतन्त्र है । उसके बन्धनके टूट जाने पर वह मुक्त होता है अर्थात् अपनी स्वतन्त्रताको प्राप्त करता है। इस प्रकार मोक्ष क्या है इसका निर्देश किया ।

§ 924 कहते हैं कि क्या इन पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रकृतियोके वियोगसे ही मोक्ष मिलता है या भावकर्मोके भी अभावसे मोक्ष मिलता है इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं-

तथा औपशमिक आदि भावो और भव्यत्व भावके अभाव होनेसे मोक्ष होता है ॥3॥

§ 925. क्या होता है ? मोक्ष होता है । यहाँ पर 'मोक्ष' इस पदकी अनुवृत्ति होती है। अन्य पारिणामिक भावोंकी निवृत्ति करनेके लिए सूत्रमे भव्यत्व पदका ग्रहण किया है। इससे पारिणामिक भावोंमे भव्यत्वका और औपशमिक आदि भावोका अभाव होनेसे मोक्ष होता है यह स्वीकार किया जाता है ।

§ 926 कहते हैं, यदि भावोके अभाव होनेसे मोक्षकी प्रतिज्ञा करते हो तो औपशमिक आदि भावोंकी निवृत्तिके समान समस्त क्षायिक भावोकी निवृत्ति मुक्त जीवके प्राप्त होती है ? यह ऐसा होवे यदि इसके सम्बन्धमे कोई विशेष बात न कही जावे तो । किन्तु इस सम्बन्धमें विशेषता है इसलिए अपवादका विधान करनेके लिए यह आगेका सूत्र कहते हैं—

पर केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भावका अभाव नहीं होता ॥4॥

§ 927 यहाँ पर अन्यत्र शब्दकी अपेक्षा पचमी विभक्तिका निर्देश किया है। केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इनके सिवा अन्य भावोमे यह विधि होती है। शंका—सिद्धोंके यदि चार ही भाव शेष रहते हैं तो अनन्तवीर्य आदिकी निवृत्ति प्राप्त होती है ?

ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वादनन्तवीर्यादीनामविशेषः, अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावाज्ज्ञानमय[1]त्वाच्च सुखस्येति। अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न; [2]अतीतानन्तरशरीराकारत्वात्।

§ 928. स्यान्मत, यदि शरीरानुविधायी जीवः, तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति। नैष दोषः। कुतः? कारणाभावात्। नामकर्मसंबन्धो[3] हि संहरणविसर्पणकारणम्। तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः।

§ 929. यदि कारणाभावान्न संहरणं न विसर्पणं तर्हि गमनकारणाभावादूर्ध्वगमनमपि न प्राप्नोति अधस्तिर्यग्गमनाभाववत्, ततो यत्र मुक्तस्तत्रैवावस्थानं प्राप्नोतीति। अत्रोच्यते—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥5॥

§ 930 तस्यानन्तरम्। कस्य? सर्वकर्मविप्रमोक्षस्य। आङभिविध्यर्थः। ऊर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात्।

§ 931. अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमित्यत्रोच्यते—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥6॥

समाधान—यह कोई दोष नही है क्योकि ज्ञान-दर्शनके अविनाभावी होनेसे अनन्तवीर्य आदिक भी सिद्धोंमें समानरूपसे पाये जाते है, क्योंकि अनन्त सामर्थ्यसे हीन व्यक्तिके अनन्तज्ञानकी वृत्ति नही हो सकती और सुख ज्ञानमय होता है। **शंका**—अनाकार होनेसे मुक्त जीवोका अभाव प्राप्त होता है? **समाधान**—नही। क्योकि उनके अतीत अनन्तर शरीरका आकार उपलब्ध होता है।

§ 928 **शंका**—यदि जीव शरीरके आकारका अनुकरण करता है तो शरीरका अभाव होनेसे उसके स्वाभाविक लोकाकाशके प्रदेशोके बराबर होनेके कारण जीव तत्प्रमाण प्राप्त होता है? **समाधान**—यह कोई दोष नही है, क्योकि जीवके तत्प्रमाण होनेका कोई कारण नही उपलब्ध होता। नामकर्मका सम्बन्ध जीवके सकोच और विस्तारका कारण है, किन्तु उसका अभाव हो जाने से जीवके प्रदेशोका सकोच और विस्तार नही होता।

§ 929 यदि कारणका अभाव हो जानेसे जीवके प्रदेशोका सकोच और विस्तार नही होता तो गमनके कारणका अभाव हो जानेसे जिस प्रकार यह जीव तिरछा और नीचेकी ओर गमन नही करता है उसी प्रकार उसका ऊर्ध्वगमन भी नही प्राप्त होता है, इसलिए जिस स्थानपर मुक्त होता है उसी स्थान पर उसका अवस्थान प्राप्त होता है, ऐसी शकाके होनेपर आगेके सूत्र द्वारा उसका समाधान करते है।

तदनन्तर मुक्त जीव लोकके अन्त तक ऊपर जाता है ॥5॥

§ 930. उसके अनन्तर। **शंका**—किसके? **समाधान**—सब कर्मोके वियोग होनेके। सूत्रमे 'आङ्' पद अभिविधि अर्थमे आया है। लोकके अन्त तक ऊपर जाता है।

§ 931. जीव ऊर्ध्वगमन क्यो करता है इसका कोई हेतु नही बतलाया, इसलिए इसका निश्चय कैसे होता है, अतः इसी बातका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पूर्वप्रयोगसे, संगका अभाव होनेसे, बन्धनके टूटनेसे और वैसा गमन करना स्वभाव होनेसे मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है ॥6॥

---

1. –मयपर्यायत्वाच्च मु., ता.। 2 अतीतानन्तशरी– मु.। 3. –कर्मससर्गो हि ता.।

§ 932. आह, हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमित्यत्रोच्यते—

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥7॥

§ 933 पूर्वसूत्रे[1] विहितानां हेतूनामत्रोक्तानां दृष्टान्तानां च यथासंख्यमभिसंबन्धो भवति। तद्यथा—कुलालप्रयोगापादितहस्तदण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणम्। उपरतेऽपि तस्मिन्पूर्वप्रयोगादा संस्कारक्षयाद् भ्रमति। एवं भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्प्रणिधानं तदभावेऽपि तदावेशपूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते। किं च, असङ्गत्वात्। यथा मृत्तिकालेपजनितगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽध पतितं जलक्लेदविश्लिष्टमृत्तिकाबन्धनं लघु सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्मभाराक्रान्तिवशीकृत आत्मा तदावेशवशात्संसारे अनियमेन गच्छति। तत्सङ्गविमुक्त[2]स्तूपर्येवोपयाति। किं च, बन्धच्छेदात्। यथा बीजकोशबन्धच्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापकगतिजातिनामादिसकलकर्मबन्धच्छेदान्मुक्तस्य ऊर्ध्वगतिरवसीयते। किं च, तथागतिपरिणामात्। यथा तिर्यक्प्लवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारकारणकर्मनिर्वारणे सत्यूर्ध्वगतिस्वभावा[3]दूर्ध्वमेवारोहति।

§ 934 आह, यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते

---

§ 932 कहते है, पुष्कल भी हेतु दृष्टान्त द्वारा समर्थनके बिना अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि करनेमे समर्थ नही होते इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

घुमाये गये कुम्हारके चक्के समान, लेपसे मुक्त हुई तूमड़ीके समान, एरण्डके बीजके समान और अग्निकी शिखाके समान ॥7॥

§ 933 पिछले सूत्रमे कहे गये हेतुओका और इस सूत्रमे कहे गये दृष्टान्तोंका क्रमसे सम्बन्ध होता है। यथा—कुम्हारके प्रयोगसे किया गया हाथ, दण्ड और चक्रके संयोगपूर्वक जो भ्रमण होता है उसके उपरत हो जानेपर भी पूर्व प्रयोगवश सस्कारका क्षय होने तक चक्र घूमता रहता है। इसी प्रकार ससारमे स्थित आत्माने मोक्षकी प्राप्तिके लिए जो अनेक बार प्रणिधान किया है उसका अभाव होनेपर भी उसके आवेश पूर्वक मुक्त जीवका गमन जाना जाता है। असगत्वात्—जिस प्रकार मृत्तिकाके लेपसे तूमड़ीमे जो भारीपन आ जाता है उससे जलके नीचे पड़ी हुई तूमड़ी जलमे मिट्टीके गीले हो जानेके कारण बन्धनके शिथिल होनेसे शीघ्र ही ऊपर ही जाती है उसी प्रकार कर्मभारके आक्रमणसे आधीन हुआ आत्मा उसके आवेशवश संसारमें अनियमसे गमन करता है किन्तु उसके संगसे मुक्त होनेपर ऊपर ही जाता है। बन्धच्छेदात्—जिस प्रकार बीजकोशके बन्धनके टूटनेसे एरण्ड बीजकी ऊर्ध्व गति देखी जाती है उसी प्रकार मनुष्यादि भवको प्राप्त करानेवाले गतिनाम और जातिनाम आदि समस्त कर्मोंके बन्धका छेद होनेसे मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगति जानी जाती है। तथागतिपरिणामात्—जिस प्रकार तिर्यग्वहन स्वभाववाले वायुके सम्बन्धसे रहित प्रदीपशिखा स्वभावसे ऊपरकी ओर गमन करती है उसी प्रकार मुक्त आत्मा भी नानागति रूप विकारके कारणभूत कर्मका अभाव होनेपर ऊर्ध्वगति स्वभाव होनेसे ऊपरकी ओर ही आरोहण करता है।

§ 934 कहते हैं कि यदि मुक्त जीव ऊर्ध्व गति स्वभाववाला है तो लोकान्तसे ऊपर भी किस कारणसे नही गमन करता है, इसलिए यहाँ आगेका सूत्र कहते हैं—

---

1. पूर्वसूत्रेऽभिहिताना– मु। 2. –विप्रमुक्तो तूपर्येवोप– मु.। –विमुक्ते तूपर्येवोप–ता.। –विमुक्तोऽन–दि. 1, दि 2। 3 –भावत्वादू– मु।

धर्मास्तिकायाभावात् ।।8।।

§ 935. गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभाव । तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते ।

§ 936. आह, अमी परिनिर्वृत्ता गतिजात्यादिभेदकारणाभावादतीतभेदव्यवहारा एवेति । अस्ति कथंचिद् भेदोऽपि । कुतः—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञाना-
वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।।9।।

§ 937. क्षेत्रादिभिर्द्वादशभि[1]रनुयोगैः सिद्धाः साध्या विकल्प्या इत्यर्थः, प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वयविवक्षावशात् । तद्यथा—क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म[2] प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः । कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः ? प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्ध्यन् सिद्धो भवति । भूतप्रज्ञापननयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिध्यति । विशेषेणावसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्त्ये भागे दुःषमसुषमायां च जातः सिध्यति । न तु दुःषमायां जातो दुःषमायां सिध्यति । अन्यदा नैव सिध्यति । संहरणतः सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति । गत्या कस्यां गतौ सिद्धि ? सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ

धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे मुक्त जीव लोकान्तसे और ऊपर नहीं जाता ।।8।।

§ 935 गतिके उपकारका कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्तके ऊपर नही है, इसलिए मुक्त जीवका अलोकमे गमन नही होता । और यदि आगे धर्मास्तिकायका अभाव होनेपर भी अलोकमे गमन माना जाता है तो लोकालोकके विभागका अभाव प्राप्त होता है ।

§ 936. कहते हैं कि निर्वाणको प्राप्त हुए ये जीव गति, जाति आदि भेदके कारणोका अभाव होनेसे भेद व्यवहारसे रहित ही हैं । फिर भी इनमे कथचित् भेद भी है क्योकि—

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं ।।9।।

§ 937. क्षेत्रादिक तेरह अनुयोगोके द्वारा सिद्ध जीव साध्य हैं अर्थात् विभाग करने योग्य हैं और यह विभाग वर्तमान और भूतका अनुग्रह करनेवाले दो नयोकी विवक्षासे किया गया है। यथा—क्षेत्रकी अपेक्षा किस क्षेत्रमें सिद्ध होते हैं ? वर्तमानको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा सिद्धि क्षेत्रमें, अपने प्रदेशमे या आकाश-प्रदेशमें सिद्धि होती है । अतीतको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुष क्षेत्रमे सिद्धि होती है । काल—कालकी अपेक्षा किस कालमें सिद्धि होती है ? वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है । अतीतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मकी अपेक्षा सामान्य रूपमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमे उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है । विशेष रूपसे अवसर्पिणी कालमे सुषमा-दुःषमाके अन्त भागमे और दुःषमा-सुषमामे उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है । दुःषमामे उत्पन्न हुआ दुःषमामें सिद्ध नही होता । इस कालको छोड़कर अन्यकालमे सिद्ध नही होता है । संहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोमे सिद्ध होता है । गति—गतिकी अपेक्षा किस गतिमें सिद्धि होती है ? सिद्धगतिमें या मनुष्यगतिमे सिद्धि होती है । लिंग—किस लिंगसे

1. —दिभिः त्रयोदश— ता, ना. । 2. जन्मप्रभृति पञ्चदशकर्म— मु. ।

वा। लिंगेन केन सिद्धिः ? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्य सिद्धिर्भावतो न द्रव्यत । द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव। अथवा ,निर्ग्रन्थलिंगेन। सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया। तीर्थेन[1], तीर्थसिद्धि. द्वेधा तीर्थकरेतरविकल्पात्। इतरे द्विविधाः सति तीर्थकरे सिद्धा असति चेति। चारित्रेण केन सिध्यति। अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धि । स्वशक्तिपरोपदेश-निमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पः। ज्ञानेन केन ? एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषै. सिद्धि । आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम्। तद् द्विविधम्, उत्कृष्टजघन्यभेदात्। तत्रोत्कृष्टं पंच-धनु.शतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि। जघन्यमर्धचतुर्थारत्नयो देशोनाः। मध्ये विकल्पाः। एकस्मिन्न-वगाहे सिध्यति। किमन्तरम् ? सिध्यतां [2]सिद्धानामनन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ। अन्तर जघन्येनैक समय उत्कर्षेण षण्मासाः। संख्या, जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति। उत्कर्षेणा-ष्टोत्तरशतसख्या.। क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परत सख्याविशेषोऽल्पबहुत्वम्। तद्यथा—प्रत्युत्पन्न-नयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते, क्षेत्रसिद्धा द्विविधा—जन्मतः संहरणतश्च। तत्राल्पे संहरणसिद्धाः। जन्मसिद्धाः संख्येयगुणा । क्षेत्राणां विभाग कर्मभूमिरकर्मभूमिः समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति। तत्र स्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः। अधोलोकसिद्धा. सख्येयगुणाः। तिर्यग्लोकसिद्धा संख्येयगुणाः। सर्वतः स्तोकाः समुद्रसिद्धा.। द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणा । एव तावदविशेषेण। सर्वत स्तोका लवणोदसिद्धाः। कालोदसिद्धाः

सिद्धि होती है ? अवेद भावमे या तीनो वेदोसे सिद्धि होती है। यह कथन भावकी अपेक्षा है द्रव्यकी अपेक्षा नही। द्रव्यकी अपेक्षा पुलिंगसे ही सिद्धि होती है अथवा निर्ग्रन्थलिंगसे सिद्धि होती है। भूतपूर्वनयकी अपेक्षा सग्रन्थ लिंगसे सिद्धि होती है। तीर्थ—तीर्थसिद्धि दो प्रकारकी है—तीर्थंकरसिद्ध और इतरसिद्ध। इतर दो प्रकारके है, कितने ही जीव तीर्थंकरके रहते हुए सिद्ध होते है और कितने ही जीव तीर्थंकरके अभावमे सिद्ध होते हैं। चारित्र—किस चारित्रसे सिद्धि होती है ? नामरहित चारित्रमे सिद्धि होती है या एक, चार और पाँच प्रकारके चारित्रसे सिद्धि होती है। प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्ध—अपनी शक्तिरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे प्रत्येकबुद्ध होते है और परोपदेशरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे बोधितबुद्ध होते है, इस प्रकार ये दो प्रकारके है। ज्ञान—किस ज्ञानसे सिद्धि होती है। एक, दो, तीन और चार प्रकारके ज्ञानविशेषोसे सिद्धि होती है। अवगाहना—आत्मप्रदेशमे व्याप्त करके रहना इसका नाम अवगाहना है। वह दो प्रकारकी है—जघन्य और उत्कृष्ट। उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पचीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढे तीन अरत्नि है। बीचके भेद अनेक हैं। किसी एक अवगाहनामे सिद्धि होती है। अन्तर—क्या अन्तर है ? सिद्धिको प्राप्त होनेवाले सिद्धोंका जघन्यअन्तर का अभाव दो समय और उत्कृष्ट अन्तर का अभाव आठ समय। जघन्यअन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अतर छह महीना। संख्या—जघन्यरूपसे एक समयमे एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट रूपसे एक समयमे एक सौ आठ जीव सिद्ध होते है। अल्पबहुत्व—क्षेत्रादि की अपेक्षा भेदोको प्राप्त जीवोकी परस्पर संख्याका विशेष प्राप्त करना अल्पबहुत्व है। यथा—वर्तमान नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमे सिद्ध होनेवाले जीवोमे अल्पबहुत्व नही है। भूतपूर्व नयकी अपेक्षा विचार करते हैं—क्षेत्रसिद्ध जीव दो प्रकारके है—जन्मसिद्ध और संहरणसिद्ध। इनमे-से संहरणसिद्ध जीव सबसे अल्प हैं। इनसे जन्मसिद्ध जीव संख्यातगुणे है। क्षेत्रोका विभाग इस प्रकार है—कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक। इनमे से ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे अधोलोकसिद्ध संख्यातगुणे है, इनसे तिर्यग्लोकसिद्ध संख्यातगुणे है। समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक

---

1. तीर्थेन ... सिद्ध मु.। 2. सिद्धानामन्तर मु.।

संख्येयगुणाः । जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः । धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः । पुष्करद्वीपार्ध[1]-सिद्धाः संख्येयगुणा इति । एवं कालादिविभागेऽपि यथागममल्पबहुत्वं वेदितव्यम् ॥10॥

§ 938 स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै-
जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता ।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥1॥
तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः
शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या ।
हस्ते कृत परमसिद्धिसुखामृतं तै-
र्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम् ॥2॥
येनेदमप्रतिहतं सकलार्थतत्त्व—
मुद्द्योतितं विमलकेवललोचनेन ।
भक्त्या तमद्भुतगुणं प्रणमामि वीर-
मारान्नरामरगणार्चितपादपीठम् ॥3॥

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसञ्ज्ञिकाया दशमोऽध्याय समाप्त ।

शुभं भवतु सर्वेषाम् ।

हैं। इनसे द्वीपसिद्ध सख्यातगुणे हैं। यह सामान्य रूपसे कहा है। विशेष रूपसे विचार करनेपर लवण समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक हैं। इनसे कालोदसिद्ध सख्यातगुणे है। इनसे जम्बूद्वीपसिद्ध सख्यातगुणे हैं। इनसे धातकी खण्ड सिद्ध सख्यातगुणे है। इनसे पुष्करार्द्ध द्वीपसिद्ध सख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार कालादिका विभाग करनेपर भी आगमके अनुसार अल्पवहुत्व जान लेना चाहिए।

§ 938. स्वर्ग और अपवर्गके सुखको चाहनेवाले आर्य पुरुषोने इस तत्त्वार्थवृत्तिका सर्वार्थसिद्धि यह नाम रखा है। यह जिनेन्द्रदेवके शासनरूपी अमृतका सार है, अत. मनःपूर्वक इसे निरन्तर धारण करना चाहिए ॥1॥ सब तत्त्वोके जानकार जो इस तत्त्वार्थवृत्तिको धर्म-भक्तिसे सुनते हैं और पढते हैं मानो उन्होने परम सिद्धिसुखामृतको अपने हाथमे ही कर लिया है, फिर, चक्रवर्ती और देवेन्द्रके सुखके विषयमे तो कहना ही क्या है ॥2॥ जिन्होने अपने विमल केवलज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा इस निर्विवाद सकल तत्त्वार्थका प्रकाश किया है, मनुष्यो और देवोके द्वारा पूजित अद्भुतगुणवाले उन वीर भगवान् को भक्तिपूर्वक मैं प्रणाम करता हूँ ॥3॥

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमे दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

1 —द्वीपसिद्धा म ।

परिशिष्ट 1

सूत्रपाठ

प्रथम अध्याय

सूत्र	पैराग्राफ संख्या
1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।	4
2. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।	9
3. तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।	13
4. जीवाजीवास्रव[1]बन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।	17
5. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।	21
6. प्रमाणनयैरधिगमः ।	23
7. निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।	25
8. सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।	32
9. मतिश्रुतावधिमनःपर्यय[2]केवलानि ज्ञानम् ।	163
10. तत्प्रमाणे ।	165
11. आद्ये परोक्षम् ।[3]	173
12. प्रत्यक्षमन्यत् ।	175
13. मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।	181
14. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।	184
15. अवग्रहेहावाय[4]धारणाः ।	189
16. बहुबहुविधक्षिप्रानि[5]सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।	191
17. अर्थस्य ।	197
18. व्यञ्जनस्यावग्रहः ।	199
19. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।	201
20. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।	205
21. भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।[6]	212
22. क्षयोपशमनिमित्तः[7] षड्विकल्पः शेषाणाम् ।	214
23. ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ।[8]	216
24. विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।	219
25. विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ।[9]	221
26. मतिश्रुतयोर्निबन्धो[10] द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।	223

1. –बन्धसंवर– हारिभ. । 2. मनःपर्याय– त. भा । 3. तत्र आद्ये–हारिभ । 4. –हेहापाय– त, भा, हारिभ. सि. । तत्त्वार्थवार्तिकमें 'अवाय और अपाय' दोनों पाठ हैं । 5. –निश्रिता– त. भा, क्षिप्रनि.सृतानु– स., निःसृतानुक्त– सि. वृ. पा । 6. त. भा में भवप्रत्ययो इत्यादि सूत्रके स्थान पर द्विविधोऽवधिः ॥21॥ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥22॥ ऐसे दो सूत्र हैं । 7. यथोक्तनिमित्तः । त. भा. । 8. –मनःपर्यायः । त. भा । 9. –मनःपर्याययोः । त. भा । 10. सर्वद्रव्ये– त. भा ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

दूसरा अध्याय

---

1. मनःपर्यायस्य त. भा. । 2. –श्रुतविभंगा विप– हारिभ. । 3. सूत्रशब्दा नयाः त. भा. । 4 त. भा. में आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥35॥ यह सूत्र अधिक है । 5. –दानादिलब्धय– त भा । 6. त भा. में 'यथाक्रमम्' इतना पाठ अधिक है । 7. सिद्धत्व– त भा. । 8. भव्यत्वादीनि– त भा । 9 'स' पाठ नहीं है सि वृ. पा. । 10. 'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः' त. भा. । 11. तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः त भा. । 12 'स्पर्शनरसन'– इत्यादि सूत्रके पूर्व 'उपयोगः स्पर्शादिषु' ॥19॥ यह सूत्र त भा में अधिक है । 13. शब्दास्तेषामर्थाः । त भा. ।

इति द्वितीयोऽध्याय ।

---

1 वाय्वन्तानामेकम् त. भा.। 2. एकसमयोऽविग्रह त भा.। 3 द्वौ वानाहारक त भा। 4 –गर्भोपपाता त भा। 5 जराय्वण्डपोतजाना त भा। 6 नारकदेवानामुपपात त भा। 7 –वैक्रियाहारक– त भा। 8. अप्रतिघाते। त भा। 9 युगपदेकस्या। 10 वैक्रियमौपपातिकम्। त. भा.। 11. त भा मे यह सूत्र नही है। 12 चतुर्दशपूर्वधरस्यैव। त भा मे इतना पाठ अधिक है। 13. त भा मे यह सूत्र नही। 14. 'चरमदेहा' यह भी पाठान्तर है। स, त वा। 15. औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासख्येय–। त. भा.।

तीसरा अध्याय

---

1 त. भा. में पृथुतराः पाठ अधिक है। 2 त भा मे तासु नरकाः इतना ही सूत्र है। नरकोंकी संख्याएँ तत्त्वार्थभाष्यमें दी हैं। 3 त भा मे नारका यह पाठ नही है। 4 —लवणादयः त भा । 5 त भा मे 'तत्र' इतना पाठ अधिक है। 6 वशधरपर्वताः सि । 7 यहाँसे लेकर आगे 'द्विर्धातकीखण्डे' इस सूत्रके पूर्वतकके 21 सूत्र तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमे नही हैं।

इति तृतीयोऽध्याय· ।

चौथा अध्याय

---

1. म्लिशश्च । त. भा, हारिभ । 2. परापरे । त. भा. । 3. तिर्यग्योनीना च । त. भा । 4. –श्चतुर्निकाया त भा । 5 त. भा मे 'तृतीय. पीतलेश्य' ऐसा सूत्र है । 6 –पारिषद्यात्म –त. भा. । 7. त. भा. मे इस सूत्र के आगे 'पीतान्तलेश्या' सूत्र अधिक है । 8 त भा. मे द्वयोर्द्वयो. इतना पाठ अधिक है। 9. गान्धर्व– त. भा । 10 सूर्याश्चन्द्रमसो । त. भा । 11. प्रकीर्णतारकाश्च । त. भा. । 12. –ब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानत– त. भा. । 13. सर्वार्थसिद्धे च । त. भा. ।

इति चतुर्थोऽध्याय ।

पाँचवाँ अध्याय

---

1 पीतमिश्र-पद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतु शेषेषु इति त भा । 2 लोकान्तिका त भा. । 3. व्यावाधमरुतोऽरिष्टाश्च । त भा । 4 औपपातिक- त भा । 5 इस एक सूत्र के स्थान पर त. भा मे चार सूत्र हैं । वे इस प्रकार हैं —स्थिति ॥29॥ भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीना पल्योपममध्यर्धम्॥30॥शेषाणा पादोने॥31॥ असुरेन्द्रयो सागरोपममधिक च ॥32॥ 6 त. भा मे इस एक सूत्र के स्थान पर 'सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥33॥ सागरोपमे ॥34॥ अधिके ॥35॥ ऐसे तीन सूत्र है । 7 त भा मे 'सप्त सानत्कुमारे' ऐसा सूत्र है । 8 त भा मे 'विशेषत्रिसप्तदशैकादशपचदशभिरधिकानि च' ऐसा सूत्र है । 9. सर्वार्थसिद्धे च त. भा । 10 -मधिक च त भा । 11. त. भा मे इस सूत्र के पूर्व दो सूत्र और पाये जाते है । वे इस प्रकार हैं—सागरोपमे ॥40॥ अधिके च ॥41॥ 12 ज्योतिष्काणामधिकम् त. भा । 13 इस सूत्र के स्थान पर त. भा मे निम्नलिखित सूत्र हैं —ग्रहाणामेकम् ॥49॥ नक्षत्राणामर्धम् ॥50॥ तारकाणा चतुर्भाग ॥51॥ जघन्या त्वष्टभाग. ॥52॥ चतुर्भाग शेषाणाम् ॥54॥ 14. त भा मे यह सूत्र नही है । 15 त. भा मे 'द्रव्याणि जीवाश्च' ऐसा दो सूत्रोंके स्थान पर एक सूत्र है ।

1 त. भा मे 'आकाशदेशद्रव्याणि' सूत्र है । 2 इस सूत्र के स्थान पर त भा. मे दो सूत्र हैं —असख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयो ॥7॥ जीवस्य ॥8॥ 3 विसर्गाभ्या— त. भा । 4 स्थित्युपग्रहो —त. भा । 5 वर्तना परिणाम. क्रिया त भा. । 5 सघातभेदेभ्य त भा । 7. चाक्षुषा. । 8 त भा मे यह सूत्र नही है । 9. वन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ त भा. । 10 पर्यायवद् द्रव्यम् त भा ।

इति पञ्चमोऽध्याय ।

छठा अध्याय

---

1 कालश्चेत्येके त मा । 2 इस सूत्र से आगे त भा मे तीन सूत्र और पाये जाते हैं। वे इस प्रकार हैं —अनादिरादिमाश्च ॥42॥ रूपिष्वादिमान् ॥43॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥44॥ 3 इसके स्थान पर त मा मे दो सूत्र हैं—शुभ पुण्यस्य ॥3॥ अशुभ पापस्य ॥4॥ 4 अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया । त. भा. । 5. ज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेष । त मा. । 6 भूतव्रत्यनुकम्पादान सरागसयमादि योग । त भा । 7 कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणाम– त मा. । 8 परिग्रहत्व च त. भा । 9 17-18 न. के सूत्रो के स्थान पर त भा. मे एक सूत्र है —अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्दवार्जव च मानुषस्य । 10. त. भा. मे यह सूत्र नही है ।

इति षष्ठोऽध्यायः।

सातवाँ अध्याय

1 अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग-- त. भा.। 2 संघसाधुसमाधिवैयावृत्त्य-- त. भा.। 3 तीर्थकृत्त्वस्य। त. भा.। 4 गुणाच्छाद- त. भा.। 5 तद्विपर्ययो त. भा.। 6 इससे आगेके भावनावाले पाँचो सूत्र त. भा. मे नही है। 7 --मुत्र चापाया। त. भा.। 8 माध्यस्थ्यानि त. भा.। 9. त. भा. मे 'च' पद नही है। 10 त. भा. मे 'वा' के स्थान मे 'च' पाठ है। 11 पौषधोप- त. भा.। 12 सल्लेखना त. भा.।

इति सप्तमोऽध्याय ।

आठवाँ अध्याय

1 -रतिचारा त भा । 2 वधच्छविच्छेदा- त भा । 3. रहस्याभ्याख्यान- त भा. । 4. करणेत्वर-परिगृहीता- त भा. । 5 क्रीडातीव्रकामाभि- त. भा. । 6 स्मृत्यन्तर्धानानि । त भा. । 7 भोगाधिकत्वानि । त भा । 8. -नुपस्थापनानि । त. भा । 9 निक्षेपसस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि । त भा. । 10 सबद्ध- त भा । 11 निक्षेपविधान । त भा। 12 निदानकरणानि । त भा । 13 त भा मे 'सम्बन्ध' इतना अ श पृथक् सूत्र है । 14 -त्यनुभाव- त भा । 15 -नीयायूष्कनाम- । त भा. । 16. त भा. मे 'मत्यादीनाम्' इतना ही सूत्र है । 17. स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च । त. भा ।

इत्यष्टमोऽध्याय ।

नौवाँ अध्याय

---

1 दर्शनचारित्रमोहनीयकषायाकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदा सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसज्वलनविकल्पाश्चैकश क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा ॥10॥ त भा । 2. पूर्व्यगुरु—त भा. । 3 यशासि सेतराणि त. । भा । 4. तीर्थकृत्व च । त भा. । 5 -दानादीनाम् त भा । 6 नामगोत्रयोर्विंशति । त भा । 7 -माण्यायुष्कस्य त भा । 8 -मन्तर्मुहूर्तम् त भा । 9 -नुभाव त भा । 10 वगाढस्थिता त भा । 11 सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि त भा । 12 त । भा मे यह सूत्र नही है ।

5	ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा समितय ।	794
6.	उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्म ।[1]	796
7.	अनित्याशरणससारैकत्वान्यत्वाशुच्या[2]स्रवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ।	798
8	मार्गाच्यवननिर्जरार्थ परिषोढव्या परीषहा ।	812
9	क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।	814
10.	सूक्ष्मसापरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।	838
11.	एकादश जिने ।	840
12	बादरसापराये सर्वे ।	842
13	ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।	844
14.	दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।	946
15	चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ।	847
16	वेदनीये शेषा ।	849
17.	एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशते[3] ।	851
18	सामायिकच्छेदोपस्थापना[4]परिहारविशुद्धिसूक्ष्म[5]सापराययथाख्यातमिति[6] चारित्रम् ।	853
19	अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा वाह्य तप ।	855
20	प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।	857
21	नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा[7]यथाक्रम प्राग्ध्यानात् ।	859
22	आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापना.[8] ।	861
23	ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ।	863
24	आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष[9]ग्लानगणकुलसघसाधु[10]मनोज्ञानाम् ।	865
25	वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशा ।	868
26	वाह्याभ्यन्तरोपध्यो ।	869
27.	उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्[11] ।	871
28	आर्तरौद्रध[12]र्म्यशुक्लानि ।	873
29	परे मोक्षहेतू ।	875
30	आर्तममनोज्ञस्य[13]सप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ।	877
31	विपरीत मनोज्ञस्य[14] ।	879
32	वेदनायाश्च ।	881
33.	निदान च ।	883
34.	तदविरतदेशविरतप्रमत्तसयतानाम् ।	885
35	हिंसानृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो ।	887

1. उत्तम क्षमा । त भा । 2. शुचित्वास्रव । त भा । 3. युगपदैकोनविंशते । त. भा. । 4. -पस्थाप्यपरिहार । त. भा । 5 सूक्ष्मसपराय । त भा. । 6 यथाख्यातानि । त भा । 7 द्विभेद त. भा. । 8. स्थापनानि त भा । 9 शैक्षक- त भा । 10 साधुनमनोज्ञानाम् त. भा । 11 इस सूत्र के स्थान मे त भा मे उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥27॥ आ अन्तर्मुहूर्तात् ॥28॥ ये दो सूत्र हैं। 12 धर्म । त भा । 13 -ममनोज्ञाना त. भा । 14 त भा मे 'विपरीतं मनोज्ञानाम्' ऐसा पाठ है और यह सूत्र 'वेदनायाश्च' इस सूत्र के बादमे है ।

इति नवमोऽध्याय ।

दसवाँ अध्याय

इति दशमोऽध्याय ।

*

1 धर्म्यमप्रमत्तसयतस्य त भा । 2 इस सूत्रके पूर्व त भा मे 'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च' ऐसा एक सूत्र और है । 3 निवृत्तीनि त भा । 4 तत् त्र्येककाययोगा- त भा । 5 सवितर्के पूर्वे त भा. । 6 अविचार त भा. । 7. लेश्योपपातस्थान- त भा । 8 त भा मे 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥2॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष ॥3॥ इस प्रकारके दो सूत्र है । 9 त. भा मे तीसरे चौथे सूत्रके स्थानपर 'औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य ' ऐसा एक सूत्र है । 10 परिणामाच्च तद्गति ' त. भा । 11 त भा मे सातवे और आठवें नम्बरके दो सूत्र नही है ।

परिशिष्ट 2

श्रीप्रभाचन्द्रविरचिततत्त्वार्थवृत्तिपदम्

सिद्धं जिनेन्द्र[1]ममलप्रतिमबोधं त्रैलोक्यवन्द्यमभिवन्द्य गतप्रबन्धम् ।
दुर्वारदुर्जयतमःप्रविभेदनार्कं तत्त्वार्थवृत्तिपदमप्रकटं प्रवक्ष्ये ॥

अंकों मे पहला सन्दर्भ पैराग्राफ (§) का है, तथा दूसरा पृष्ठ का और तीसरा पंक्ति का है ।

§. 1

1.1 'मोक्षमार्गस्य' मीमांसं प्रति । 'भेत्तारं' यौगं प्रति । 'ज्ञातारं' सौगतं प्रति ।

[मंगलाचरणमे 'मोक्षमार्गस्य' पद मीमांसकको लक्ष्य करके रखा गया है, क्योकि वह मोक्ष को स्वीकार नही करता । 'भेत्तारं कर्मभूभृतां' पद नैयायिक वैशेषिकको लक्ष्य करके रखा गया है, क्योकि वे ईश्वरको अनादि सिद्ध मानते है । तथा 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां' पद बौद्धको लक्ष्य करके रखा गया है ।]

1 2 विविक्ते असबाधारहिते ।

1 3 कश्चिद्भव्यः प्रसिद्धैकनामा । 'प्रत्यासन्ननिष्ठ' निष्ठाशब्देन निर्वाणं चारित्रं चोच्यते । प्रत्यासन्ना निष्ठा यस्यासौ प्रत्यासन्ननिष्ठः ।

1 4 अवाग्विसर्गं न विद्यते वाचा विसर्गो विसर्जनमुच्चारणं यत्र निरूपणकर्मणि ।

1 5 उपसद्य समीपे गत्वा ।

1 8 कर्म द्रव्यकर्म, मलं भावकर्म ।

§ 2

1.10 प्रमाणेन शून्यो वादः प्रवादः । तीर्थङ्करमिवात्मानं मन्यन्ते तीर्थङ्करंमन्याः निश्चयस्वरूपशून्यत्वात् ।

2.1 निराकारत्वात् स्वपरव्यवसायलक्षणाकारशून्यत्वात् ।

2.1 'बुद्धि - सुख- दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।'

'वर्ग[2] शक्तिसमूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता ।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः ॥'
—[अमित० पञ्चस० 1/45]

2 3 आहत्यनिरूपिता हठात् समर्थिता ।

सम्यग्दर्शन···॥1॥

§ 5

4 5 लक्षणतः लक्षणमाश्रित्य विधानतो विधानप्रकारमाश्रित्य । उद्देश्यमात्रं स्वरूपकथनमात्रम् ।

4 5 एतेषां निर्देक्ष्यामः निर्देशं करिष्यामः ।

4.7 मोहः अनध्यवसायम् (य)

4 8 आगूर्णस्य उद्यतस्य ।

§. 22

नामस्थापना· ॥4॥

13 2 अतद्गुणे न विद्यते शब्दवृत्तिनिमित्तभूताः ते प्रसिद्धजाति-गुण-क्रिया-द्रव्यलक्षणगुणाः विशेषणानि यत्र वस्तुनि तद् अतद्गुणं तस्मिन् । पुरुषाकारात् हठात् । पुस्तकर्म लेपकर्म ।

13.6 अक्षाणां पाशानां, निक्षेपो विवक्षितप्रदेशे स्थापनम् । आदि शब्दात् वराटकादी (दि) निक्षेपग्रहणम् ।

13 11 मनुष्यभाविजीवो यदा जीवादिप्राभृतं न जानाति अग्रे तु ज्ञास्यति तद्भाविनो आगमः ।

---

1 'मलमप्रतिमप्रबोधं' इत्यपि पाठान्तरं । अनेकान्त वर्ष 1, कि० 1, पृ० 197

2 एतत्पद्यं किमर्थमत्रायातमिति न प्रतीयते । अमितगतिकृतपञ्चसंग्रहस्य पञ्चचत्वारिंशत् सङ्ख्याकमिदं पद्यमस्ति ।

13.12 औदारिक-वैक्रियिकाहारकलक्षणत्रयस्य षट्-पर्याप्तीना च योग्यपुद्गलादान'नोकर्म ।

13 13 आविष्टः परिणत ।

13. 15 अप्रकृतनिराकरणाय अप्रकृतस्याप्रस्तुतस्य मुख्यजीवादेर्निराकरणाय । प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य नाम-स्थापनाजीवादेर्निरूपणाय ।

§ 23

प्रमाणनयै···॥6॥

§ 24

15 5 प्रगृह्य-परिच्छिद्य । प्रमाणत —प्रमाणेनार्थ, पश्चात् स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वमेव पररूपादि-चतुष्टयापेक्षयाऽसत्त्वमेवेत्यादिरूपतया, परिणतिवि-शेषात् प्रवीणिताविशेषात् । यदि वा परिणतिविशे-षात् सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वादिलक्षणमर्थगत परिणामविशेषमाश्रित्य ।

निर्देशस्वामित्व···॥7॥

§ 26

16 6 नरकगतौ पूर्वं बद्धायुष्कस्य पश्चाद् गृहीत-क्षायिकक्षयोपशमिकसम्यक्त्वस्याध पृथिव्यामुत्पादा-भावात्। प्रथमपृथिव्या पर्याप्तकापर्याप्तकाना क्षायिक क्षायोपशमिक चास्ति । ननु वेदकयुक्तस्य तिर्यक्नर-केषू[1]त्पादाभावात् कथमपर्याप्तकाना तेषा क्षायोपश-मिकमिति । तदयुक्त, सप्तप्रकृतीना क्षपणाप्रारम्भ-कवेदकयुक्तस्य कृतकरणस्य जीवस्यान्तर्मुहूर्ते सति क्षायिकाभिमुखस्य तत्रोत्पादे विरोधाभावात् । एव तिरश्चामप्यपर्याप्तकाना क्षायोपशमिक ज्ञेयम् ।

[जिसने पहले नरकगतिकी आयुका बन्ध किया है और पीछे क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण किया हैं वह जीव नीचेके नरकोमे उत्पन्न नही होता । अतः पहले नरकमे पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियोके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होते है ।

शका—वेदक सम्यक्त्व सहित जीव तिर्यचो में नरको में उत्पन्न नही होता । तव कैसे उनके अपर्याप्त अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सम्भव है ?

उत्तर—ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि सात प्रकृतियोकी क्षपणाके प्रारम्भक वेदकसम्यक्त्वसे युक्त जीव कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि होकर जव क्षायिकसम्यक्त्वके अभिमुख होता है तव यदि वह मरता है तो कृतकृत्य वेदक कालके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण चार भागोमे-से यदि प्रथम भागमे मरता है तो देवोमे उत्पन्न होता है, दूसरे भागमे मरने पर देव या मनुष्योमे उत्पन्न होता है, तीसरे भागमें मरने पर देव, मनुष्य या तिर्यंचोमें उत्पन्न होता है और चतुर्थ भागमे मरने पर चारोमें से किसी भी गतिमे उत्पन्न होता है, अत. वेदक सम्यग्दृष्टिके तिर्यंचगति और नरकगतिमें उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नही है, इसी तरह तिर्यंच अपर्याप्तकोके भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जानना चाहिए ।]

17 1 तिरश्चीना क्षायिक नास्ति । कुत इति चेदु-च्यते—कर्मभूमिजो मनुष्य एव दर्शनमोहक्षपण-प्रारम्भको भवति । क्षपणप्रारम्भकालात्पूर्व तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽप्युत्कृष्टभोगभूमिजतिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु । तदुक्तम्—

'दसणमोहक्खवगो पट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु ।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥

(कसायपा० 106)

पट्ठवगो प्रारम्भकः । णिट्ठवगो स्फेटिक ।

[तिर्यंचोके क्षायिक सम्यक्त्व नही होता, क्योकि कर्मभूमिमें जन्मा हुआ मनुष्य ही दर्शन मोहके क्षपणका प्रारम्भ करता है । क्षपण प्रारम्भ करनेसे पहले तिर्यंचोकी आयु बाँध लेने पर भी वह मर-कर उत्कृष्ट भोगभूमिके तिर्यंच पुरुषोमें ही उत्पन्न होता है तिर्यंचस्त्रियोमें नही । कहा भी है 'दर्शन मोहकी क्षपणाका प्रारम्भक नियमसे मनुष्य गतिमें कर्मभूमिमें जन्मा जीव ही होता है और निष्ठापक सव गतियोमें होता है ।' गाथामे आये 'पट्ठवगो' शब्द का अर्थ प्रारम्भक है और 'णिट्ठवगो' का अर्थ पूरक है ।]

17 4 मानुषीणा भाववेदस्त्रीणा न द्रव्यवेदस्त्रीणा तासा क्षायिकासभवात् ।

मानुषी का अर्थ भाववेदी स्त्री है, द्रव्यवेदी स्त्री

1. उत्पद्यते हि वेदकदृष्टिः स्वमरेषु कर्मभूमिनृषु ।
कृतकृत्य. क्षायिकदृग् वद्धायुष्कश्चतुर्गतिषु ॥'

नही, क्योकि द्रव्यवेदी स्त्रियोके क्षायिक सम्यक्त्व सभव नहीं है।]

17.5 अपर्याप्तावस्थाया देवाना कथमौपशमिक तद्यु-क्ताना मरणामभवात् । तदनुपपन्न मिथ्यात्वपूर्वकौप-शमिकयुक्तानामेव मरणासभवात् वेदकपूर्वका औप-शमिकयुक्तास्तु नियमेन श्रेण्यारोहण कुर्वन्तीति श्रेण्या-रूढान् चारित्रमोहोपशमेन सह मृतानपेक्ष्यापर्याप्ता-वस्थायामपि देवानामौपशमिक सभवति।

[शका—अपर्याप्त अवस्थामे देवोके कैसे औपश-मिक सम्यक्त्व हो सकता है, क्योकि औपशमिकसम्य-क्त्वसे युक्त जीवोका मरण असभव है? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही है। जो जीव मिथ्यात्व गुण-स्थानसे औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं उनका ही मरण असभव है, किन्तु जो वेदकसम्यक्त्व-पूर्वक औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त होते हैं वे नियम-से श्रेणिपर आरोहण करते है। श्रेणिपर आरूढ होकर चारित्रमोहनीयके उपशमकके साथ मरणको प्राप्त हुए जीव मरकर नियमसे देव होते हैं। उन देवोके अपर्याप्तावस्थामे भी औपशमिक सम्यक्त्व होता है।]

§ 27

18 2 परिहारशुद्धिसयतानामौपशमिक कुतो नास्तीति चेदुच्यते, मन.पर्ययपरिहारशुद्ध्यौपशमिक-सम्यक्त्वाहारकर्धीना मध्येऽन्यतरसभवे पर त्रितय न सभवत्येव। यतो मन पर्यये तु मिथ्यात्वपूर्वकौपश-मिकप्रतिषेधो द्रष्टव्यो न वेदकपूर्वस्य। उक्त च—

'मणपज्जवपरिहारो उवसमसम्मत्तहारया दोण्णि।
एदेसि एक्कगदे [1]सेसाण सभवो णत्थि॥'

आहारया दोण्णि -आहारकाहारकमिश्रकौ—

[परिहार शुद्धि सयतोंके औपशमिकसम्यक्त्व क्यो नही होता? इसका उत्तर है कि मन पर्यय, परिहार-शुद्धि, औपशमिक सम्यक्त्व और आहारकऋद्धिमे-से किसी एकके होनेपर शेष तीन नही होते। किन्तु मन.पर्ययज्ञान के साथ मिथ्यात्वगुणस्थानपूर्वक होने-वाले औपशमिक सम्यक्त्व का निषेध जानना चाहिए, वेदकसम्यक्त्वपूर्वक होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्व का नही। कहा भी है—'मन पर्यय, परिहारशुद्धि सयम, उपशम सम्यक्त्व और दोनो आहारक, इनमेसे एकके होने पर शेष नही होते।' 'आहारया दोण्णि'से आहारक और आहारकमिश्र लेना चाहिए।]

§ 28

19 7 नवग्रैवेयकवासिनामहमिन्द्रत्वात् कथ धर्मश्रव-णमिति चेत्, उच्यते—कश्चित् सम्यग्दृष्टि परिपाटी करोति ता श्रुत्वाऽन्यस्तत्र स्थित एव सम्यक्त्व गृह्णाति। अथवा प्रणामादिक (प्रमाणादिक) तेषा न (?) विद्यते तत्त्वविचारस्तु लिङ्गिनामिव विद्यते इति न दोष।

[शका—नव ग्रैवेयकवासी देव तो अहमिन्द्र होते हैं उनके धर्मश्रवण कैसे सभव है? उत्तर—कोई सम्य-ग्दृष्टि पाठ करता है उसे सुनकर दूसरा कोई वही रहते हुए सम्यक्त्वको ग्रहण करता है। अथवा उनमे प्रमाणनय आदिको लेकर चर्चा नही होती। लिंगि-योकी तरह सामान्य तत्त्वविचार कोई होता है अत दोष नही है।]

§ 30

20 5 ससारिक्षायिकसम्यक्त्वस्योत्कृष्टा स्थितिः त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि। सागरोपमस्य लक्षण—"दहकोडाकोडिओ पल्लजाव, सा सायर उच्चइ एक्कु-ताव।" सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि। पश्चात् ससारिविशिष्टत्व तस्य व्यावर्तते। तथाहि—कश्चित् कर्मभूमिजो मनुष्य—

'पुव्वस्स दु[2] परिमाण सदरिं खलु सदसहस्सकोडीओ।
छप्पण्णं च सहस्सा णायव्वा वासगणनाए॥'

इत्येवविधवर्षपरिमाणपूर्वकोट्यायुरुत्पन्नो गर्भाष्टम-वर्षानन्तरमन्तर्मुहूर्तेन दर्शनमोह क्षपयित्वा क्षायिक-सम्यग्दृष्टि सजातः। तपश्चरण विधाय सर्वार्थसिद्धा-वुत्पन्नस्तत आगत्य पुनः पूर्वकोट्यायुरुत्पन्न, कर्म-क्षय कृत्वा मोक्ष गत। तस्याधिककालावस्थित्यसभ-वात्। यद्भवेऽसौ दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति ततोऽन्यद्भवत्रय नातिक्रामतीति तदुक्त—

'खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे नियमदो तदो अण्ण।
णाकामदि तिण्णि भवे दसणमोहम्मि खीणम्मि॥'

(प्रा० पञ्चस० 1/203)

1 गो० जी०, गा० 728। प्रा० पञ्चस० 1/194 'पन्विति असेमय जाणे।'

2. पु 'कोटिसदसहस्साइ।'''बोद्धव्वा वासकोडीण॥—सर्वा०सि० उद्धृत। जम्बू० प्र० 13/12

[ससारी क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अन्तर्मुहूर्त आठ वर्ष कम दो पूर्वकोटि होती है। सागरोपम का लक्षण—दस कोडाकोडी पल्यो का एक सागर कहा जाता है। उतने कालके पश्चात् ससारी विशेषण छूट जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—कोई कर्मभूमिया जीव एक पूर्वकोटि की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। वर्षो की गणना के अनुसार सत्तर लाख छप्पन हजार करोड वर्षों का एक पूर्व होता है। इन प्रकार आयु लेकर उत्पन्न होनेके पश्चात् गर्भसे आठ वर्ष अनन्तर अन्तर्मुहूर्तमे दर्शनमोहका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया। तथा तपश्चरण करके सर्वार्थसिद्धि मे उत्पन्न हुआ। वहाँसे आकर पुनः एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ तथा कर्मो का क्षय करके मोक्ष गया क्योकि वह इससे अधिक समय तक ससारमे नही रह सकता। ऐसा नियम है कि जिस भवमे वह दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भक होता है उससे अन्य तीन भवोको नही लांघता है। कहा भी है—'जिस भवमे क्षपणाका प्रारम्भक होता है, दर्शनमोहके क्षीण हो जानेपर नियमसे उससे अन्य तीन भवोका अतिक्रमण नही करता है।']

20 7 वेदकस्य षट्षष्टि । तथाहि सौधर्मशुक्रशतारा-ग्रग्रैवेयकमध्येन्द्रकेषु यथासख्य द्वि-षोडशाष्टादशत्रिंश-त्सागरोपमाणि । अथवा सौधर्मे द्विरुत्पन्नस्य चत्वारि सागरोपमाणि, सानत्कुमारब्रह्मलान्तवाग्रग्रैवेयकेषु यथाक्रम सप्तदशचतुर्दशैकत्रिंशत्सागरोपमाणि । मनुष्यायुषा सहाधिकानि प्राप्नुवन्तीति नाशकनीयम्, अन्त्यसागरोपमायुःशेषेऽवशिष्टातीतमनुष्यायु काल - परिमाणो तत्त्यागात् ।

[वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर है। वह इस प्रकार है—सौधर्मस्वर्ग, शुक्रस्वर्ग, सतारस्वर्ग और उपरिम ग्रैवेयक के मध्यम इन्द्रक विमान मे क्रम से दो सागर, सोलह सागर, अठारह सागर और तीस सागर की स्थिति है (इन सबका जोड छियासठ सागर है) अथवा सौधर्मस्वर्ग-मे दो बार उत्पन्न होनेपर चार सागर होते हैं। और सानत्कुमार, ब्रह्मस्वर्ग, लान्तवस्वर्ग और उप-रिमग्रैवेयकमे क्रमसे सात सागर, दस सागर, चौदह सागर और इकतीस सागरकी स्थिति है (इन सब-का जोड भी छियासठ सागर होता है)।

शका—इससे मनुष्यायु को जोडने पर छियासठ सागर से अधिक काल प्राप्त होता है?

उत्तर—ऐसी आशका नही करनी चाहिए। क्योकि स्वर्गो की आयु के अन्तिम सागर मे-से मनुष्यायु कम कर दी जाती है।]

§ 31

21 2 सख्येया विकल्पा शब्दतः । एक सम्यग्दर्शन-मित्यादि सम्यग्दर्शनप्ररूपकशब्दाना सख्यातत्वात् । असख्येया अनन्ताश्च भवन्ति तद्विकल्पा श्रद्धातृश्रद्धा-तव्यभेदात् । तत्र श्रद्धातृणा भेदोऽसख्यातानन्तमानाव-च्छिन्नतद्वृत्तित्वात् । श्रद्धेयस्याप्येतदवच्छिन्नत्वमेव भेदस्तद्विषयत्वात् सम्यग्दर्शनस्य तावद्धा विकल्पा भवन्तीति ।

[शब्द की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के सख्यात भेद हैं, क्योकि सम्यग्दर्शन का कथन करनेवाले शब्द सख्यात हैं। श्रद्धा करनेवाले जीवो और श्रद्धा के योग्य भावो के भेद से सम्यग्दर्शन के असंख्यात और अनन्त भेद है, क्योकि श्रद्धा करनेवालो की वृत्तियाँ असख्यात और अनन्त प्रमाण होती है। श्रद्धेय के भी असख्यात और अनन्त भेद होते हैं और सम्यग्दर्शन का विषय श्रद्धेय होता है अतः उसके भी असख्यात और अनन्त भेद होते है।]

§ 32

सत्संख्या···॥8॥

§ 34

22 3 अवरोधः स्वीकारः । सदाद्यनुयोगः सदाद्य-धिकारः ।

§ 35

23 1 एकस्यैवानिवृत्तिगुणस्थानस्य सवेदत्वमवेदत्व च कथमिति चेदुच्यते, अनिवृत्ति षड्भागीक्रियते। तत्र प्रथमे भागत्रये वेदानामनिवृत्ते सवेदत्वमन्यत्र तेषा निवृत्तेरवेदत्वम् ।

[शका—एक ही अनिवृत्तिगुणस्थान मे सवेदपना और अवेदपना कैसे सम्भव है ?

उत्तर—अनिवृत्ति गुणस्थानके छह भाग किये जाते हैं उनमेसे प्रथम तीन भागोमे वेद रहता है अत. सवेदपना है। शेष भागोमें वेद चला जाता है अतः अवेदपना है।]

§. 37

23 5 सम्यगित्यविरोध । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञान वा केवल न सभवति । तस्याज्ञानत्रयमिश्रज्ञानत्रयाधारत्वात् । उक्त च—

'मिस्से णाणाणतय मिस्स अण्णाणतिदयेण' इति । तेन ज्ञानानुवादे तस्य वृत्तिकारैरनभिधान परमार्थतस्तु तस्याज्ञानप्ररूपणायामेवाभिधान द्रष्टव्य तद्ज्ञानस्य यथावस्थितार्थविषयत्वाभावात् ।

[सम्यग्मिथ्यादृष्टिके न तो अकेला ज्ञान ही होता है और न अज्ञान ही होता है। किन्तु उसके तीन अज्ञानोसे मिश्रित तीन ज्ञान होते है । कहा भी है—'मिश्र गुणस्थानमें तीन ज्ञान तीन अज्ञानोसे मिले हुए होते हैं।' इसीगे ज्ञानकी अपेक्षा कथन करते हुए सर्वार्थसिद्धिकारने उसका कथन नही किया, परमार्थसे तो उसका अज्ञान प्ररूपणमे ही कथन देखना चाहिए क्योकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यथावस्थित अर्थको नही जानता ।]

§ 45

24 15 सख्या, सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिसयतासयतान्ताः पल्योपमासख्येयभागप्रमिता. । शब्दतश्चात्र साम्य नार्थत परस्पर स्तोकवहुत्वभेदात् । तत्र प्रथमापेक्षया द्वितीया वहव । द्वितीयापेक्षया तृतीया वहव । सयतासयतास्तु सर्वतः स्तोकाः । प्रमत्तसयता कोटिपृथक्त्वसख्या —कोटिपञ्चकत्रिनवतिलक्षाष्टनवतिसहस्रषडधिकशतद्वयपरिमाणा भवन्ति (59398206) ।

[आगे सख्या कहते है—सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर सयतासयत पर्यन्त प्रत्येककी सख्या पल्पोपमके असख्यातवे भाग प्रमाण है । इस सख्या मे केवल शब्दो से समानता है अर्थरूपसे नहीं, क्योकि सख्या मे कमनी वटतीपना है। सासादनसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिश्र गुणस्थान-वालोकी सख्या अधिक है और मिश्रसे सम्यग्दृष्टियोकी सख्या वहुत है। सयतासयत तो सवसे कम हैं। प्रमत्त सयतोकी सख्या कोटि पृथक्त्व प्रमाण है अर्थात् पांच करोड तिरानवे लाख अठानवे हजार दो सौ छह है ।]

24 17 अप्रमत्तसयता' सख्येया । तदर्धेन कोटिद्वयषण्णवतिलक्षनवनवतिसहस्रत्र्यधिकशतपरिमाणा (29699103) । तदुक्त—

'छ सुण्णवेण्णिअट्ठयणवतियणव पच होति हु पमत्ता । ताणद्धमप्पमत्ता इति ।'

[अप्रमत्त सयत सख्यात है अर्थात् प्रमत्त सयतो से आधे हैं—दो करोड छियानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन हैं। कहा भी है—प्रमत्त सयत 59398206 हैं और अप्रमत्त उनसे आधे है]

चत्वार उपशमकास्ते प्रत्येकमेकत्रैकत्र गुणस्थाने अष्टसु-अष्टसु समयेषु एकस्मिन्नेकस्मिन् समये यथासख्य षोडश चतुर्विंशति त्रिंशत् षट्त्रिंशत् द्विचत्वारिंशत् अष्टचत्वारिंशत् द्वि चतु पञ्चाशद् भवन्तीति । अष्टसमयेषु चतुर्गुणस्थानवर्तिना सामान्येनोत्कृष्टा सख्या 16,24,30,36,42,48,54,54 । विशेषेण तु प्रथमादिसमयेष्वेको वा द्वौ वा त्रयो वेत्यादि षोडशाद्युत्कृष्टसख्या यावत् प्रतिपत्तव्या । उक्त च—

'सोलसग चउवीस तीस छत्तीसमेव जाणाहि । वादालं अडदाल दो चउवण्णा य उवसमगा ।।'

प्रवेशेनैको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशदिति तु वृत्तिकारैरुत्कृष्टाष्टमसमयप्रवेशापेक्षया प्रोक्तम् । स्वकालेन समुदिता सख्येया नवनवत्यधिकशतद्वयपरिमाणा एकत्रैकत्र गुणस्थाने भवन्ति ।299। तदुक्तम्—

णवणवदी दोण्णि सया एअट्ठाणम्मि उवसता ।। इति ।

चार उपशमकोमे-से प्रत्येक एक-एक गुणस्थानमे आठ-आठ समयोमेसे एक-एक समयमे क्रमसे १६, 24,30,36,४2,48,54,54 होते हैं । आठ समयोमे चार गुणस्थानवर्तियोकी सामान्यसे उत्कृष्ट सख्या 16,24,30,36,४2,48,54,54 होती है। विशेपसे प्रथमादि समयोमे एक अथवा दो अथवा तीन इत्यादि 16 उत्कृष्ट सख्या पर्यन्त जानना चाहिए। कहा है—'उपशमको की संख्या सोलह, चौवीस, तीस, छत्तीस, वयालीस, अडतालीस, चौवन और चौवन जानो ।'

-प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्टसे चौवन जो सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है वह उत्कृष्टमे आठवें समयमे प्रवेशकी अपेक्षा कहा है। अपने काल

मे एकत्र हुए जीवोकी सख्या सख्यात अर्थात् एक-एक गुणस्थानमे 299 होती है। कहा भी है—'एक गुण-स्थान मे 299 उपशमक होते है।'

विशेषार्थ—उपशम श्रेणीके प्रत्येक गुणस्थानमे एक समयमे चारित्रमोहनीयका उपशम करता हुआ जघन्यसे एक जीव प्रवेश करता है और उत्कृष्टसे चौवन जीव प्रवेश करते है। यह कथन सामान्य से है। विशेषकी अपेक्षा तो आठ समय अधिक वर्ष पृथक्त्व कालमे उपशम श्रेणीके योग्य लगातार आठ समय होते हैं। उनमेसे प्रथम समयमे एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे सोलह जीव तक उपशम श्रेणीपर चढते है। दूसरे समयमे एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे चौबीस जीव तक चढते हैं। तीसरे समयमे एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से तीस जीव तक चढते है। चौथे समय मे एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे छत्तीस जीव तक चढते हैं। पाँचवें समयमे एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे बयालीस जीव तक चढते हैं। इसी तरह छठे समय मे अडतालीस जीव तक और सातवे तथा आठवे समय में एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट से चौवन-चौवन जीव तक उपशम श्रेणीपर चढते हैं। इन सबका जोड 304 होता है, किन्तु कितने ही आचार्य उसमे पाँच कम करके 299 कहते हैं। धवलामें वीरसेन स्वामीने 299 के प्रमाण को ही आचार्यपरम्परागत कहा है। देखो पु० 3, पृ० 92।

ननु चाष्टसमयेषु षोडशादीनां समुदिताना चतुरधिकशतत्रय प्राप्नोति, तदयुक्तम्, अष्टसमयेषूपशामका निरन्तरं भवन्त. परिपूर्णा न लभ्यन्ते। किं तर्हि? पञ्चहीना भवन्तीति चतुर्गुणस्थानवर्तिनामप्युपशमकानां समुदिताना षण्णवत्यधिकान्येकादशशतानि भवन्ति ॥1196॥

[शका—आठ समयोमे सोलह आदि सख्याओ का जोड तीन सौ चार प्राप्त होता है? समाधान—ऐसा कहना युक्त नही है। आठ समयोमे उपशामक निरन्तर होते हुए भी पूर्ण नही होते हैं किन्तु पाँच कम होते हैं। इसलिए आठवें से ग्यारहवें तक चार गुणस्थानवर्ती उपशमकोका जोड ग्यारह सौ छियानवे होता है।]

25.2—चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिना चाष्टधा समयक्रम पूर्ववद् द्रष्टव्य। केवल तेषामुपशामकेभ्यो द्विगुणा सख्या प्रतिपत्तव्या। तदुक्त--

'बत्तीसं अडदाल सट्ठी बाहत्तरीय चुलसीदि।
छण्णऊदी अट्ठुत्तर सयमट्ठुत्तरसय च बोधव्वा ॥'
(गो० जी०, 627)

32,48,60,72,84,96,108,108। अत्राप्येको वा द्वौ वा इत्याद्युत्कृष्टाष्टमसमयप्रवेशापेक्षया प्रोक्तम्। स्वकालेन समुदिता प्रत्येकमष्टानवत्युत्तरपञ्चशतपरिमाणा भवन्ति (598) गुणस्थानपञ्चकवर्तिना क्षपकाणा समुदिताना दशोनानि त्रीणि सहस्राणि भवन्ति। तदुक्तम्—

'खीणकसायाण पुणो तिण्णि सहस्सा दसूयणा भणिया।' ॥2990॥

[चारो क्षपको का और अयोगकेवलियो का आठ रूप समयक्रम उपशमको की तरह जाना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि उनकी सख्या उपशमकोसे दूनी जाननी चाहिए, कहा है—'बत्तीस, अडतालीस साठ, बहत्तर, चौरासी, छियानवे, एक सौ आठ, एक सौ आठ जानना चाहिए ॥'

यहाँ भी एक, दो या तीन आदि से लेकर उत्कृष्टसे आठवें समयमे प्रवेश तक उक्त सख्या कही है। अपने कालमे एकत्र हुए प्रत्येक क्षपकका परिमाण 598 होता है। और चारो क्षपक तथा पाँचवें अयोगकेवलि गुणस्थानवर्ति जीवोका परिमाण दस कम तीन हजार होता है। कहा भी है—क्षीणकषायोका परिमाण दस कम तीन हजार अर्थात् दो हजार नौ सौ नब्बे होता है।]

25 4—सयोगकेवलिनामप्युपशमकेभ्यो द्विगुणत्वादष्टसमयेषु प्रथमादिसमयक्रमेणैको वा द्वौ वेत्यादि द्वात्रिंशदाद्युत्कृष्टसख्या यावत् सख्याभेद. प्रतिपत्तव्य नन्वेवमुदाहृतक्षपकेभ्यो भेदेनाभिधानमेषामर्थकमिति चेत् न, स्वकालसमुदितसख्यापेक्षया तेषा तेभ्यो विशेषसभवात्। सयोगकेवलिनो हि स्वकाले समुदिता शतसहस्रपृथक्त्वसख्या, अष्टलक्षाष्टनवतिसहस्राद्यधिकपञ्चशतपरिमाणा (898502)। उक्त च—

'[1]अट्ठे व सयसहस्सा अट्ठानवदि तहा सहस्साणं।
संखाजोगिजिणाणं पंचेव सया विउत्तरा होंदि ।।'
—[गो० जी० ६२८]

[सयोगकेवलियो की सख्या भी उपशमको से दूनी होती है, अतः आठ समयोमे प्रथम आदि समय के क्रमसे एक अथवा दो इत्यादिसे लेकर वत्तीस आदि उत्कृष्ट सख्या पर्यन्त सख्या भेद जानना चाहिए।

शका—तब तो कहे गये क्षपको से सयोग केवलियो का भिन्न कथन करना व्यर्थ है (क्योकि क्षपक भी उपशमकोसे दूने हैं ?)

उत्तर—नहीं, क्योकि स्वकाल मे समुदित (एकत्रीभूत) सख्या की अपेक्षा सयोगकेवलियो मे क्षपकोसे भेद सम्भव है। स्वकाल मे समुदित सयोगकेवलियो का परिमाण लाखपृथक्त्व है अर्थात् आठ लाख अठानवे हजार पांच सौ दो है। कहा भी है—'सयोगकेवली जिनो की सख्या आठ लाख अठानवे हजार पाँच सौ दो है।']

सर्वेऽप्येते प्रमत्ताद्ययोगकेवल्यन्ता समुदिता उत्कर्षेण यदि कदाचिदेकस्मिन् समये सभवन्ति तदा त्रिहीननवकोटिसख्या एव भवन्ति (89999997)। तदुक्तम्—

'[2]सत्ताई अट्ठंता छण्णवमज्झा य सजदा सव्वे ।
अंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धो णमंसामि ।।'
(गो० जी० 632)

[प्रमत्त सयतसे लेकर अयोग केवली पर्यन्त ये सभी सयत उत्कृष्ट रूप से यदि एक समय मे एकत्र होते हैं तो उनकी सख्या तीन कम नौ करोड होती है। कहा भी है—सभी सयतोका परिमाण आठ करोड निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तानवे होता है। हाथो की अजुलि वनाकर और मन वचन कायको शुद्ध करके उन्हें नमस्कार करता हूँ।]

§. 46

25 7 असख्येयाः श्रेणय । अथ केय श्रेणिरिति चेदुच्यते—सप्तरज्जूमयी मुक्ताफलमालावदाकाशप्रदेशपक्तिः श्रेणिर्मानविशेषः । किं विशिष्टास्ता इत्याह—प्रतरासख्येयभागप्रमिताः । श्रेणिः श्रेण्या गुणिता प्रतरा भवति । तदसख्यातभागप्रमितानामसख्यातश्रेणीना यावदन्तःप्रदेशास्तावन्तस्तत्र नारका इत्यर्थ ।

[प्रथम पृथिवी मे मिथ्यादृष्टि नारकी असख्यात श्रेणि प्रमाण हैं। शका—यह श्रेणी क्या वस्तु है ? उत्तर—सात राजू लम्वी मोतियो की मालाके समान आकाशके प्रदेशोकी पक्तिको श्रेणि कहते हैं। यह श्रेणि एक परिमाणविशेष है। वे श्रेणियाँ प्रतरके असख्यातवें भागप्रमाण यहाँ जानना। श्रेणिको श्रेणि से गुणा करने पर प्रतर होता है। उस प्रतरके असख्यातवें भागप्रमाण, असख्यात श्रेणियो के अन्तर्गत जितने प्रदेश होते है उतने ही प्रथम नरकमें मिथ्यादृष्टि नारकी है।]

25 11 सूक्ष्ममनुष्य प्रति मनुष्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसख्येयभाग प्रमिता । सासादनादिसयतासयतान्ताः सख्येया । तद्यथा सासादनाः 520000000। मिश्राः 1040000000। असयता —7000000000। देशा 130000000। तथा चोक्तम्—

'[3]तेरसकोडी देसे वावण्णं सासणे मुणेयव्वा ।
मिस्से वि य तद्दुगुणा असजदा सत्तकोडिसया ।।'

[मनुष्यगतिमे सासादन गुणस्थानी से लेकर सयतासयत पर्यन्त मनुष्यसख्या सख्यात है। कहा भी है—'पाँचवें देशविरत गुणस्थान मे तेरह करोड मनुष्य होते हैं, सासादन गुणस्थानमे वावन करोड और मिश्र गुणस्थान मे उनसे दुगुने अर्थात् एक सौ चार करोड मनुष्य होते है। असयतसम्यग्दृष्टि सात सौ करोड़ होते हैं।]

§. 48

26 7 पर्याप्तपृथिव्यादिकायिका असख्येयलोकाः। अथ कोऽय लोको नाम। प्रतर श्रेण्या गुणितो लोको भवति मानविशेषः।

[पर्याप्त पृथिवीकायिक आदि जीवो का परिमाण असख्यात लोक है। प्रतरको श्रेणिसे गुणा करनेपर लोक होता है यह एक परिमाणका भेद है।]

---

1. धवला पु० 3, पृ० 96। गो० जी० गा० 629। 2. गो जी०, गा० 633। 3. धवला पु० 3, पृ० 254। गो० जी० गा० 641।

§ 60

29 12 क्षेत्र, सयोगकेवलिना दण्डकवाटावस्थापेक्षया लोकस्यासंख्येयभाग क्षेत्रम्, प्रतरापेक्षया असंख्येय-भागा वातवलयत्रयादर्वागेव तदात्मप्रदेशैर्निरन्तर लोकव्याप्ते । लोकपूरणापेक्षया सर्वलोक ।

[सयोगकेवलियोका क्षेत्र दण्ड और कपाटरूप समुद्घातकी अपेक्षा लोकका असख्यातवा भाग है। प्रतररूप समुद्घातकी अपेक्षा असख्यात बहुभाग क्षेत्र है, क्योकि तीनो वातवलयसे पहले तक ही उनकी आत्माके प्रदेशोमे विना किसी अन्तरालके लोक व्याप्त होता है। और लोक पूरण समुद्घातकी अपेक्षा सयोगकेवलियो का क्षेत्र सर्वलोक है।]

§ 62

30 5 एकेन्द्रियाणा क्षेत्र सर्वलोक., तेषा सर्वत्र सभवात्। विकलेन्द्रियाणा लोकस्यासंख्येयभाग । देवनारकमनुष्यवत्तेषा नियतोत्पादस्थानत्वात्। ते हि अर्धतृतीयद्वीपे लवणोदकालोद-समुद्रद्वये स्वयम्भूर-मणे द्वीपे समुद्रे चोत्पद्यन्ते, न पुनरसख्यातद्वीपसमुद्रेषु नरकस्वर्गादिषु भोगभूमिषु म्लेच्छादिषु च। पञ्चे-न्द्रियाणां मनुष्यवत्। इत्ययुक्तम्, मनुष्याणा प्राग्मा-नुषोत्तरादेव सभवाल्लोकस्यासंख्येयभागो युक्तो न पुन पञ्चेन्द्रियाणा नारकतिर्यग्लोके देवलोके च तत्सभवात्। तदयुक्त तेषामपि त्रसनाड्या मध्ये नियतेष्वेव स्थानेषूत्पादसभवात् लोकस्यासंख्येय-भागोपपत्तेः।

[एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्वलोक है क्योंकि वे सर्वत्र पाये जाते हैं। विकलेन्द्रियों का क्षेत्र लोकका असंख्यातवाँ भाग है क्योंकि देव और नारकियों और मनुष्यों की तरह विकलेन्द्रिय भी नियत स्थानमें उत्पन्न होते हैं। वे अढाई द्वीपमें लवणोद और कालोद समुद्रमें तथा स्वयम्भूरमणद्वीप और स्वयम्भूरमण समुद्र में उत्पन्न होते हैं। शेष असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें नरक और स्वर्गादिमें भोगभूमियोंमें और म्लेच्छादिमें विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न नहीं होते। पंचेन्द्रियों का क्षेत्र मनुष्योंकी तरह कहा है। शंका — यह युक्त नहीं है क्योंकि मनुष्य तो मानुषोत्तर पर्वतसे पहले तक ही पाये जाते हैं अतः उनका क्षेत्र तो लोकका असंख्यातवाँ भाग उचित है। पंचे-न्द्रियोंका नही, क्योकि पचेन्द्रिय तो नरक लोकमे, मध्यलोकमे तथा देवलोकमे पाये जाते है ? उत्तर— ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि पचेन्द्रिय भी त्रस-नालीके भीतर नियत स्थानोमे ही पाये जाते हैं, अत उनका क्षेत्र भी लोकका असख्यातवां भाग बनता है।]

§ 75

33 1 स्पर्शनम्। असख्यातयोजनकोट्याकाशप्रदेश-परिमाणा रज्जू । तल्लक्षणसमचतुरस्ररज्जुत्रिचत्वा-रिंशदधिकशतत्रयपरिमाणो लोकः। तत्र स्वस्थान-विहार· परस्थानविहारो मारणन्तिकमुत्पादश्च जीवै क्रियते। तत्र स्वस्थानविहारापेक्षया सासादन-सम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासख्येयभाग. स्पृष्ट । सर्वत्राग्रे लोकस्यासख्येयभाग स्वस्थानविहारापेक्षया द्रष्टव्य । परस्थानविहारापेक्षया तु सासादनदेवाना प्रथम पृथिवीत्रये विहाराद् रज्जुद्वयम्। अच्युतान्तोपरि विहारात् षड्रज्जव इत्यष्टौ चतुर्दशभागाः। त्रसनाडी चतुर्दशरज्जूना मध्ये अष्टौ रज्जव इत्यर्थ । सर्व-त्राप्यष्टौ चतुर्दशभागा इत्थ द्रष्टव्या·। तथा द्वादश । तथाहि सप्तमपृथिव्या परित्यक्तसासादनादिगुणस्थान एव मारणान्तिक करोतीति नियमात्। षष्ठीतो मध्य-लोके पञ्चरज्जू सासादनो मारणान्तिक करोति । मध्यलोकाच्च लोकाग्रे बादरपृथिव्या वनस्पतिकायि-केषु सप्तरज्जव इति द्वादश। सासादनो हि वायुकाय-तेजस्कायनरकसर्वसूक्ष्मकायलक्षणानि चत्वारि स्थान-कानि वर्जयित्वान्यत्र सर्वत्रोत्पद्यते। तदुक्तम्—

'वज्जिय ठाणचउक्कं तेऊ वाऊ य णिरयसुहुमं च ।
अण्णत्थ सव्वट्ठाणे उववज्जदि सासणो जीवो ।।'

केचित्प्रदेशा सासादनस्य स्पर्शनयोग्या न भवन्तीति देशोना । सर्वत्र चाग्रे स्पर्शनायोग्यप्रदेशापेक्षया देशो-नत्व द्रष्टव्यम्।

[आगे स्पर्शनका कथन करते हैं। असंख्यात करोड़ योजन आकाश प्रदेशों के परिमाणवाली एक राजू होती है। और तीन सौ तेतालीस घन राजु प्रमाण लोक होता है। उसमें जीवोंके द्वारा स्वस्थानविहार, परस्थानविहार, मारणान्तिकसमुद्घात और उत्पाद किया जाता है। उसमें स्वस्थानविहार की अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्शन किया है। आगे भी सर्वत्र स्वस्थान विहारकी अपेक्षा लोकका असंख्यातवाँ भाग जानना

चाहिए। परस्थानविहारकी अपेक्षा तो सासादन सम्यग्दृष्टि देवोका प्रथम तीन पृथिवियोमे विहार करनेसे दो राजु और ऊपर अच्युत स्वर्ग तक विहार करनेसे छह राजू इस तरह आठ बटे चौदह राजु स्पर्शन होता है अर्थात् त्रसनाडीके चौदह राजुओमेसे आठ राजु प्रमाण। सर्वत्र आठ बटे चौदह इसी प्रकार जानना। तथा बारह बटे चौदह इस प्रकार जानना—सातवी पृथ्वीमे सासादन आदि गुणस्थानोको छोडकर मिथ्यात्व गुणस्थानवाला जीव ही नियमसे मारणान्तिक समुद्घात करता है ऐसा नियम है। और छठी पृथ्वीसे मध्य लोक पर्यन्त पाँच राजू सासादन सम्यग्दृष्टि मारणान्तिक करता है। और मध्यलोकसे लोकके अग्रभागमे बादर पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकायमे मारणान्तिक करनेसे सात राजू, इस तरह बारह राजू स्पर्श होता है। सासादनसम्यग्दृष्टि वायुकाय, तेजस्काय, नरक और सर्व सूक्ष्मकाय, इन चार स्थानोको छोडकर सर्वत्र उत्पन्न होता है। कहा भी है—'तेजस्काय, वायुकाय, नरक और सूक्ष्मकायोको छोडकर, अन्यत्र सर्वत्र सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होता है।' कुछ प्रदेश सासादन जीवके स्पर्शन योग्य नही होते, इसलिए देशोन (कुछ कम) कहा है। आगे सर्वत्र स्पर्शनके अयोग्य प्रदेशो की अपेक्षा देशोनपना जानना।]

§. 76

351 **सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्देवैः परस्थानविहारापेक्षयाष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः। संयतासंयतैः** स्वयभूरमणतिर्यग्भिरच्युते मारणान्तिकापेक्षया षड्रज्जवः स्पृष्टाः। प्रमत्तसयतादीना नियतक्षेत्रत्वात् भवान्तरे नियतोत्पादस्थानत्वाच्च उत्पादे चतुर्थगुणभावात् समचतुरस्ररज्जूप्रदेशव्याप्त्यभावाल्लोकस्यासख्येयभाग। सयोगकेवलिना क्षेत्रवल्लोकस्यासख्येयभागोऽसख्येया भागा सर्वलोको वा स्पर्शनम् सर्वनारकाणा नियमेन सज्ञिपर्याप्तकपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु वा प्रादुर्भाव। तत्र प्रथमपृथिव्या सनिहितत्वेनाधोरज्जुपरिमाणाभावात्तत्रत्यना रकैश्चतुर्भुणस्थानैर्लोकस्यासख्येयभाग स्पृष्ट। द्वितीयपृथिव्यास्तिर्यग्लोकादधो रज्जूपरिमाणत्वादधःपृथिवीनां चैकैकाधिकरज्जूपरिमाणत्वात् तत्रत्यमिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्यथासख्यमेका द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च रज्जव स्पृष्टा। सम्यग्मिथ्यादृष्टीना मारणान्तिकोत्पादायुर्बन्धावस्थाया नियमेन तद्गुणस्थानत्यागात् स्वस्थानविहारापेक्षया लोकस्यासख्येयभाग स्पर्शनम्। असयतसम्यग्दृष्टीना मारणान्तिकापेक्षयापि लोकस्यासख्येयभाग. तेषा नियमेन मनुष्येष्वेवोत्पादात्तेषा चाल्पक्षेत्रत्वात्।

सप्तम्यां मिथ्यादृष्टिभिर्मारणान्तिकोत्पादापेक्षया षड्रज्जव **शेषैस्त्रिभिर्लोकस्यासख्येयभागः।** स्वस्थानविहारापेक्षया मारणान्तिकापेक्षयाप्येषा स्पर्शन कुतो न कथितमिति चेत् तत्रत्यनारकाणा मारणान्तिकोत्पादात्पूर्वकाले नियमेन तद्गुणस्थानत्यागात्। सासादनोऽधो न गच्छतीति नियमात्तिर्यक्सासादनस्य लोकाग्रे बादरपृथिव्यादिषु मारणान्तिकापेक्षयापि सप्त रज्जव।

मनुष्यैर्मिथ्यादृष्टिभिर्मारणान्तिकापेक्षया सर्वलोकः स्पृष्ट। पृथिवीकायिकादेस्तत्रोत्पादापेक्षया वा। यो हि यत्रोत्पद्यते तस्योत्पादावस्थाया तद् व्यपदेशो भवति। सर्वलोकस्पर्शन चाग्रे सर्वत्रेत्य द्रष्टव्यम्। मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिदेवाना तृतीयपृथिवीगताना लोकाग्रे बादरपृथिव्यादिषु मारणान्तिकापेक्षया नव रज्जव। नवरज्जुस्पर्शनमग्रेऽपीत्य द्रष्टव्यम्। **सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीना** त्वेकेन्द्रियेषूत्पादाभावात् विहारापेक्षयाष्टौ रज्जव।

[सम्यग्मिथ्यादृष्टि असयत सम्यग्दृष्टि देवोके द्वारा परस्थान विहारकी अपेक्षा आठ राजु स्पृष्ट किये गये हैं। स्वयभूरमणके पचमगुणस्थानवर्ती तिर्यंचोके द्वारा अच्युत स्वर्गमे मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा छह राजू स्पष्ट किये गये हैं। प्रमत्तसयत आदि गुणस्थानवर्ती जीवोका क्षेत्र नियत है, भवान्तरमे उत्पादस्थान भी नियत है तथा उत्पाद अवस्थामे चौथा गुणस्थान हो जाता है अत समचतुरस्र रज्जू प्रदेशमे व्याप्त न होनेसे उनका स्पर्शन लोकका असख्यातवां भाग है। सयोगकेवलियोका स्पर्शन क्षेत्रकी तरह लोकका असख्यातवां भाग, असख्यात बहुभाग और सर्वलोक है। सब नारकी नियमसे सज्ञी पर्याप्तक पचेन्द्रिय तिर्यंचो अथवा मनुष्योमे उत्पन्न होते हैं। उनमेसे पहली पृथिवी तो मध्यलोकके निकट है, मध्यलोकसे नीचे पहली पृथिवी तक एक राजुका भी परिमाण नही है। अत पहली पृथिवीके

चारो गुणस्थानवर्ती नारकियोका स्पर्शन लोकका असख्यातवाँ भाग है। दूसरी पृथिवी मध्यलोकसे नीचे एक राजूके परिमाणपर स्थित है तथा उससे नीचेकी तीसरी आदि पृथिवियाँ भी एक-एक राजूका अन्तराल देकर स्थित हैं अत उन पृथिवियोके मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि नारकियोने क्रमसे एक, दो, तीन, चार और पाँच राजुका स्पर्शन किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि मारणान्तिकसमुद्घात, उत्पाद और आयुबन्धके समय नियमसे तीसरे गुणस्थानको छोड देते हैं क्योकि तीसरे गुणस्थान मे ये तीनो कार्य नही होते। अत स्वस्थान विहारकी अपेक्षा उनका स्पर्शन लोकका असख्यातवाँ भाग है। असयतसम्यग्दृष्टि नारकियोका स्पर्शन मारणान्तिककी अपेक्षा भी लोकका असख्यातवाँ भाग है क्योकि वे नियमसे मनुष्योमे ही उत्पन्न होते हैं और मनुष्योका क्षेत्र अल्प है।

सातवी पृथिवी मे मिथ्यादृष्टि नारकियोने मारणान्तिक और उत्पादकी अपेक्षा छह राजुका स्पर्श किया है। शेष तीन गुणस्थानवर्ती नारकियो का स्पर्शन लोकका असख्यातवाँ भाग है।

शका—स्वस्थानविहारकी अपेक्षा और मारणान्तिककी अपेक्षा इन तीन गुणस्थानवर्ती नारकियोका स्पर्शन क्यो नही कहा?

उत्तर—सप्तम पृथिवीके नारकी मारणान्तिक और उत्पादसे पूर्व नियमसे उन गुणस्थानोको छोड देते हैं।

सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरकमे नही जाता ऐसा नियम है। अतः सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंचका स्पर्शन लोकाग्रमे वादर पृथिवी आदिमे मारणान्तिककी अपेक्षा भी सात राजु है। मिथ्यादृष्टि मनुष्योका स्पर्शन मारणान्तिककी अपेक्षा सर्वलोक है। अथवा पृथिवीकायिक आदिके मनुष्योमे उत्पन्न होनेकी अपेक्षा सर्वलोक है, क्योकि जो मरकर जहाँ उत्पन्न होता है वह उत्पाद अवस्थामे वही कहा जाता है अर्थात् पृथिवीकायिक आदिसे मरकर मनुष्योमे उत्पन्न होनेवाले जीव उत्पाद अवस्थामे मनुष्य ही कहलाते हैं। सर्वलोक स्पर्शन आगे सर्वत्र इसी प्रकार जानना चाहिए। तीसरे नरक गये मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवोका लोकके अग्रभागमे वादरपृथिवीकायिक आदिमे मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा नौ राजु स्पर्शन है। नौ राजू स्पर्शन आगे भी इसी प्रकार जानना चाहिए। और सम्यग्मिथ्यादृष्टि तथा असंयत सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियोमे उत्पन्न नही होते। उनका विहारवत्स्वस्थानकी अपेक्षा आठ राजू स्पर्शन है।]

§ 77

35.4 पञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिभिः अष्टौ देवान् प्रति सर्वलोको मनुष्यान् प्रति। सयोगकेवलिनां दण्डाद्यवस्थाया वाङ्मनसवर्गणामवलम्ब्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दाभावाल्लोकस्यासंख्येयभाग॰।

[पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टियोका आठ राजु स्पर्शन देवोकी अपेक्षा जानना अर्थात् पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिदेव तीसरे नरक तक विहार करते हैं अत. मेरुके मूलसे ऊपर छह राजु और नीचे दो राजु, इस प्रकार आठ राजु क्षेत्रके भीतर सर्वत्र उक्त प्रकारसे पंचेन्द्रिय पाये जाते हैं। सर्वलोक स्पर्शन मनुष्योकी अपेक्षा है सयोगकेवलियोके दण्ड आदि अवस्थामे वचनवर्गणा मनोवर्गणाका अवलम्बन लेकर आत्मप्रदेशोका परिस्पन्दन नही होता अतः लोकका असंख्यातवाँ भाग स्पर्शन है]

§ 85

37.9 सप्तनरकेषु नारका यथासख्यमेतल्लेश्या भवन्ति। उक्त च—

"[1]काऊ काऊ तह काउणीला णीला य णीलकिण्हाए।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा रयणादिपुढवीसु॥'
—(मूलाचार ११३४)

तत्र षष्ठपृथिव्या कृष्णलेश्यैः सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्मारणान्तिकाद्यपेक्षया पञ्च। पञ्चमपृथिव्यां कृष्णलेश्याऽविवक्षया नीललेश्यैश्चतस्रो रज्जव स्पृष्टाः। तृतीयपृथिव्या नीललेश्याविवक्षया कापोततलेश्यैर्द्वे रज्जू स्पृष्टे। सप्तमपृथिव्या यद्यपि कृष्णलेश्यास्ति तथापि मारणान्तिकाद्यवस्थायां सासादनस्य तत्र न सा संभवति तदा नियमेन मिथ्यात्वग्रहणादिति नोदाहृता। तेजोलेश्यैः संयतासंयतै प्रथमस्वर्ग

1. गो० जो० गा०। मूलाचार गा० 1134

मारणान्तिकाद्यपेक्षया सार्धरज्जु स्पृष्टा । पद्मलेश्यैः सयतासंयतैः सहस्रारे मारणान्तिकादिविधानात् पञ्च रज्जवः स्पृष्टा । शुक्ललेश्यैर्मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तैर्मारणान्तिकाद्यपेक्षया षट्रज्जव स्पृष्टा । सम्यग्मिथ्यादृष्टिभिस्तु मारणान्तिके तद्गुणस्थानत्यागाद्विहारापेक्षया षड्रज्जव स्पृष्टा । अष्टावपि कुतो नेति नाशङ्कनीयम्, शुक्ललेश्यानामधो विहाराभावात् । यथा च कृष्णलेश्यादित्रयापेक्षयावस्थितलेश्या नरिका, तथा तेजोलेश्यादित्रयापेक्षया देवा अपि । तदुक्तम्—

'तेऊ तेऊ तह तेऊपम्मा पम्मा य पम्मसुक्काय ।
सुक्का य परमसुक्कालेस्सा भवणादिदेवाण ॥
—(प्रा० पचस० 189)

तद्यथा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्केषु जघन्या तेजोलेश्या । सौधर्मैशानयोर्मध्यमा । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोरुत्कृष्टा तेजोलेश्या जघन्यपद्मलेश्याविवक्षया । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रेषु मध्यमा पद्मलेश्या । शतारसहस्रारयोरुत्कृष्टा पद्मलेश्या जघन्यशुक्ललेश्याविवक्षया । आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकेषु मध्यमा शुक्ललेश्या । नवानुदिशपञ्चानुत्तरेषूत्कृष्टा । उक्त च—

'तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्ह च ।
एत्तो य चोदसण्ह लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥'
—(पच० गा० 188)

ततोऽन्यत्र लेश्यानियमाभाव ।

[सातो नरकोमे नारकियोंके ये लेश्या होती हैं। कहा भी है—'रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमे क्रमसे कापोत, कापोत, कापोत-नील, नील, नील-कृष्ण, कृष्ण और परमकृष्ण लेश्या होती हैं।' उनमें-से छठी पृथिवी में कृष्णलेश्यावाले सासादन सम्यग्दृष्टि नारकियो ने मारणान्तिक आदिकी अपेक्षा पाँच राजु और पाँचवी पृथ्वीमे कृष्णलेश्याकी विवक्षा न करके नीललेश्यावाले नारकियो ने चार राजु स्पृष्ट किये है। तीसरी पृथ्वीमे नीललेश्याकी विवक्षा न करके कापोत लेश्यावाले नारकियो ने दो राजु स्पृष्ट किये हैं। सातवी पृथिवीमे यद्यपि कृष्णलेश्या है तथापि मारणान्तिक आदि अवस्थामें सासादन सम्यग्दृष्टिके वहाँ कृष्णलेश्या नही होती, क्योकि उस अवस्थामे नियमसे वह मिथ्यात्वमे चला जाता है इसलिए यहाँ उसका कथन नही किया है।

तेजोलेश्यावाले सयतासयत जीवोंने प्रथम स्वर्ग पर्यन्त मारणान्तिक समुद्घात आदि करनेकी अपेक्षा डेढ राजु स्पृष्ट किया है। पद्मलेश्यावाले सयतासयतोंने सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त मारणान्तिक आदि करनेकी अपेक्षा पाँच राजु स्पृष्ट किये है। शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयतासयत पर्यन्त जीवोने मारणान्तिक आदिकी अपेक्षा छह राजु स्पृष्ट किये हैं। किन्तु मारणान्तिक समुद्घात होनेपर सम्यग्मिथ्यादृष्टि उस गुणस्थान को छोड देता है अत उनमे विहार की अपेक्षा छह राजु स्पर्शन होता है।

शका—विहारकी अपेक्षा आठ राजु स्पर्श क्यो नही कहा ?

समाधान—ऐसी आशका नही करनी चाहिए क्योकि शुक्ललेश्यावाले देवोका नीचे विहार नहीं होता।

जैसे कृष्ण आदि तीन लेश्याओकी अपेक्षा नारकी जीवोकी लेश्या अवस्थित होती है वैसे ही तेजोलेश्या आदि तीन लेश्याओकी अपेक्षा देव भी अवस्थित लेश्यावाले होते हैं। कहा भी है—भवनवासी आदि देवोंमे तेजोलेश्या, तेजोलेश्या, तेज और पद्मलेश्या, पद्मलेश्या, पद्म और शुक्ललेश्या, शुक्ललेश्या और परमशुक्ललेश्या होती है।' इसका अभिप्राय यह है कि भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमे जघन्य तेजोलेश्या होती है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गों मे मध्यमतेजोलेश्या होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमे उत्कृष्ट तेजोलेश्या तथा अविवक्षासे जघन्य पद्मलेश्या होती है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गों मे मध्यम पद्मलेश्या होती है। शतार और सहस्रार स्वर्गोंमे उत्कृष्ट पद्मलेश्या तथा अविवक्षासे जघन्य शुक्ललेश्या होती है। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और नौ ग्रैवेयकोमे मध्यम शुक्ललेश्या होती है। नौ अनुदिशो और पाँच अनुत्तरोमे उत्कृष्ट शुक्ललेश्या होती है। कहा भी है—

'भवनवासी आदि देवोमे-से तीनमे, दोमे, दोमे, छहमे, दोमे, तेरहमें और चौदहमे (उक्त क्रमसे) लेश्या होती है।'

इनके सिवाय अन्यत्र लेश्याका नियम नही है।

§. 87

39 3 क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तसयतासयतानामितर-सम्यक्त्वयुक्तसयतासयतानामिव षडपि रज्जवः कुतो नेति नाशकनीय तेषा नियतक्षेत्रत्वात्। कर्मभूमिजो हि मनुष्य सप्तप्रकृतिक्षयप्रारम्भको भवति। तद्दर्शन-लाभात्प्रागेव तिर्यक्षु बद्धायुष्कस्तु सयतासयतत्व न प्रतिपद्यते। औपशमिकसम्यक्त्वयुक्त-सयतासयताना कुतो लोकस्यासख्येयभाग इति चेत् मनुजेष्वेव तत्सभ-वात्। वेदकपूर्वकौपशमिकसम्यक्त्वयुक्तो हि श्रेण्या-रोहण विधाय मारणान्तिक करोति। मिथ्यात्वपूर्व-कौपशमिकयुक्ताना मारणान्तिकासभवात्।

[शका—क्षायिकसम्यक्त्वसे युक्त सयतासयतोका अन्य सम्यक्त्वसे युक्त सयतासयतोकी तरह छह राजु स्पर्शन क्यो नही है?

उत्तर—ऐसी आशका नही करनी चाहिए क्योकि उनका क्षेत्र नियत है। कर्मभूमिमे जन्मा-मनुष्य सात प्रकृतियोके क्षयका प्रारम्भ करता है। क्षायिक-सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे पहले ही जो तिर्यचगतिकी आयुका बन्ध कर लेता है वह तो सयतासयतपनेको प्राप्त नही कर सकता।

शका—औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त सयतासयतोका स्पर्शन कैसे लोकका असख्यातवा भाग है?

उत्तर—औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त सयतासयत मनुष्योमे ही होते हैं, क्योकि वेदकसम्यक्त्वपूर्वक औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त मनुष्य श्रेणिपर आरोहण करके मारणान्तिक समुद्घात करता है। और मिथ्यात्वपूर्वक औपशमिक सम्यग्दृष्टि मारणान्तिक समुद्घात नही करते।]

§ 89

39 12 सयोगकेवलिना लोकस्यासख्येयभाग कुत। इति चेत्, आहारकावस्थाया समचतुरस्ररज्ज्वादि-व्याप्त्यभावात् दण्डद्वयावस्थाया कपाटद्वयावस्थाया च सयोगकेवली औदारिकौदारिकमिश्रशरीरयोग्यपुद्-गलादानेनाहारक।

उक्त च—

दंडदुगे ओराले कवाटजुगले य पयरसंवरणे।
मिस्सोराल भणिय[1] सेसतिए जाण कम्मइयं॥

दण्डकवाटयोश्च पिण्डतोऽल्पक्षेत्रतया समचतुरस्र-रज्ज्वादिव्याप्त्यभावात् सिद्धो लोकस्यासंख्येय-भागः। अनाहारकेषु सासादनस्य षष्ठपृथ्वीतो निसृत्य तिर्यग्लोके प्रादुर्भावात् पञ्च, अच्युतादागत्य तत्रैवो-त्पादात् षडित्येकादश। ननु पूर्वं द्वादशोक्ता इदानी त्वेकादशेति पूर्वापरविरोध। तदयुक्तम्, मारणान्ति-कापेक्षया पूर्वं तथाभिधानात्। न च मारणान्तिकाव-स्थायामनाहारकत्व किन्तूत्पादावस्थायाम्। सासा-दनश्च मारणान्तिकमेकेन्द्रियेषु करोति नोत्पाद तदा सासादनत्वत्यागात्।

[शका—सयोगकेवलियोका स्पर्शन लोकके असख्या-तवें भाग कैसे है?

उत्तर—आहारक अवस्थामे समचतुरस्र रज्जु आदि-की व्याप्तिका अभाव होनेसे सयोगकेवलीके आहारक अवस्थामे स्पर्शन लोकका असख्यातवाँ भाग है। तथा विस्तार और सकोचरूप दोनो दण्डसमुद्घातोमे तथा दोनो कपाटसमुद्घातोमे औदारिक और औदा-रिकमिश्र शरीरके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करनेसे सयोगकेवली आहारक होते हैं। कहा भी है—

'विस्तार और सकोचरूप दोनो दण्डसमुद्घातोमे औदारिककाययोग होता है। विस्तार और सकोच-रूप दोनो कपाट समुद्घातोमे तथा सकोचरूप प्रतर समुद्घातमे औदारिकमिश्रकाययोग होता है। शेष तीनमे कार्मणकाययोग होता है।'

दण्ड और कपाटमे पिण्डरूपसे अल्पक्षेत्र होनेके कारण समचतुरस्ररज्जु आदिकी व्याप्तिका अभाव होनेसे लोकका असख्यातवाँ भाग स्पर्शन सिद्ध होता है। अनाहारकोमे सासादन सम्यग्दृष्टिके छठी पृथिवीसे निकलकर तिर्यग्लोकमे उत्पन्न होनेसे पाँच राजु होते हैं और अच्युतस्वर्गसे आकर तिर्यग्लोकमे उत्पन्न होनेसे छह राजु होते है इस तरह ग्यारह राजु होते है।

1. 'कम्मइओसेस तत्थ अणहारी' ॥—प्रा० प स 1/199

शङ्का—पहले तो आपने बारह राजु कहे थे अब ग्यारह कहे हैं इससे तो पूर्वापर विरोध आता है? उत्तर—ऐसा कहना उचित नही है, पहले मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा बारह राजु स्पर्शन कहा है। किन्तु मारणान्तिक अवस्थामे जीव अनाहारक नहीं होता किन्तु उत्पाद अवस्थामे अनाहारक होता है। सासादन सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियोमे मारणान्तिक करता है उत्पाद नही करता, क्योकि उत्पाद अवस्थामे सासादनपना छूट जाता है।]

§. 90

40.1 काल—जघन्येनान्तर्मुहूर्तः मुहूर्तश्च सहस्रत्रितयसप्तशतत्र्यधिकसप्ततिपरिमाणोच्छ्वासलक्षण.। तस्यान्तरन्तर्मुहूर्त समयाधिकामावलिकामादि कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत्। स चेत्थमसख्यातभेदो भवति। तदुक्तम्—

'तिण्णि सहस्सा सत्तय सदाणि तेहत्तरिं च उस्सासा।
एसो हवदि मुहुत्तो सव्वेसिं चेव मणुयाणं।।'[1]

उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्त्तो देशोन। स च 'ससारिणो मुक्ताश्च' (त० सू० 2,10) इत्यत्र वक्ष्यते। सासादनैकजीव प्रत्युत्कर्षेण षडावलिका। आवलिका चासख्यातसमयलक्षणा भवति।

'आवलि[2] असंखसमया संखेज्जा आवली य उस्सासो।
सत्तुस्सासो थोवो सत्तत्थोवो लवो भणियो।।
अट्ठत्तीसद्धलवा णाली बे णालियामुहुत्तं तु।
तीसमुहुत्त दिवस पणरस दिवसाण हवइ तह पक्खं।।'

इति वचनात्। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रति जघन्येन जघन्योऽन्तमुहूर्त, उत्कर्षेण चोत्कृष्टो अन्तर्मुहूर्तश्च। पश्चाद् गुणान्तर यातीत्यग्रे बोद्धव्यम्। असंयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। तथाहि कश्चिज्जीव. पूर्वकोट्यायुरुत्पन्नस्सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षानन्तर सम्यक्त्वमादाय तपोविशेष विधाय सर्वार्थसिद्धावुत्पद्यन्ते ततश्च्युत्वा पूर्वकोट्यायुरुत्पन्नोऽष्टवर्षानन्तर सयममाददातीति। जघन्येनैक समय। तथाहि-सर्वो जीवः परिणामविशेषवशात् प्रथमोऽप्रमत्तगुण प्रतिपद्यते। पश्चात्तत्प्रतिपक्षभूत प्रमत्तगुणम्। तत्र गुणस्थानान्तरस्थितो निजायु समयशेषेऽप्रमत्तगुण प्रतिपद्य म्रियत इत्यप्रमत्तैकजीवप्रति जघन्येनैकसमयः तथाऽप्रमत्तस्थाने स्थितो निजायु कालान्त्यसमये प्रमत्तगुण प्रतिपद्य म्रियते इति प्रमत्तैकजीव प्रत्यपि जघन्येनैकसमय. चतुर्णामुपशमकाना चतुःपञ्चाशद्यावद्यथासभव भवता युगपदपि प्रवेशमरण[3]सभवान्नानाजीवापेक्षयैकजीवापेक्षया च जघन्येनैक समय.। नन्वेव मिथ्यादृष्टेरप्येकसमयः कस्मान्न सभवतीत्यप्यनुपपन्न, प्रतिपन्नमिथ्यात्वस्यान्तर्मुहूर्तमध्ये मरणासभवात्। तदुक्त, श्लोकः—

'मिथ्यादर्शनसंप्राप्तेर्नास्त्यनन्तानुबन्धिनाम्।
यावदावलिकापाकोऽन्तर्मुहूर्ते मृतिर्न च।।'

सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि मरणकाले तद्गुणस्थानत्यागान्नैकसमय सभवति। प्रतिपन्नासयतसयतासयतगुणोऽपि नान्तर्मुहूर्तमध्ये म्रियते ततो नासयतसयतासयतयोरप्येकसमय सभवति। चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलीना च मुक्तिभाक्त्वेनावान्तरमरणासभवान्नानैकजीवापेक्षया जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त। सयोगकेवल्येकजीव प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तस्तद्गुणस्थानप्राप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमध्येऽयोगगुणस्थानप्राप्ते.। उत्कर्षेण पूर्वकोटी अष्टवर्षानन्तर तपो गृहीत्वा केवलमुत्पादयतीति कियद्वर्षहीनत्वात् देशोना।

[अब कालका कथन करते हैं। जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासोका एक मुहूर्त होता है। उसके अन्तर्गत अन्तर्मुहूर्त होता है। अर्थात् एक समय अधिक आवलीसे लेकर एक समय

---

1 गो० जी० 573। 2. गो० जी० 574। 'एगसमएण हीण भिण्णमुहुत्त तदो सेस' इति उत्तरार्धपाठ जम्बू० प० 13/5-6। 3 अपूर्वकरणस्य अवरोहणकाले मरणमवबोद्धव्यम्। आरोहकापूर्वकरणस्य प्रथमभागे—'मिस्साहारस्स य खवगा चढमाणपढमपुव्वा य। पढमुवसम्मा तमतमगुणपडिवण्णा य ण मरति।।' इत्यागमोक्तप्रकारेण मरणाभावात्। ननु अधस्तनगुणस्थानेभ्य स्वस्वगुणस्थानानि प्राप्य तत्रैकैकसमयान् स्थित्वा निवृत्ताना चतुर्णामुपशमकानामप्येकैकसमयाः सभवन्तीति न शङ्कनीयम्, तदसभवात्, तत्संभवे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तान्तरवचनानुपपत्ते। वक्ष्यते च तत् चतुर्णामुपशमकानामेकजीव प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त इति।

कम मुहूर्त पर्यन्त अन्तर्मुहूर्त होता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तके असख्यात भेद होते हैं। कहा भी है—'सभी मनुष्योके तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासोका एक मुहूर्त होता है।'

उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्त है। उसका कथन आगे 'ससारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रके अन्तर्गत करेंगे। सासादन गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे छह आवली है। असख्यात समयोकी एक आवली होती है। कहा है—असख्यात समयकी एक आवली होती है। सख्यात आवलीका एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढे अडतीस लवकी एक नाली होती है। दो नाली का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका एक दिन होता है और पन्द्रह दिनका एक पक्ष होता है।'

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त आगे गुणित होता जाता है ऐसा आगे जानना चाहिए। असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे कुछ अधिक तेतीस सागर है। उसका खुलासा इस प्रकार है—कोई जीव एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। एक अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्षके पश्चात् सम्यक्त्वको ग्रहण करके तथा तपस्या करके सर्वार्थसिद्धिमे उत्पन्न हुआ। वहाँसे च्युत होकर पुन: एकपूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। आठ वर्षके पश्चात् सयम को स्वीकार किया। इस तरह सातिरेक तेतीस सागर काल होता है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे एक समय है, वह इस प्रकार है—सभी जीव विशेष परिणामोके वश सर्वप्रथम अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। उसके पश्चात् उसके प्रतिपक्षी प्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। अत. अन्य गुणस्थानमे स्थित जीव अपनी आयुमे एक समय शेष रहनेपर अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करके मर जाता है। इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षा अप्रमत्तका काल जघन्यसे एक समय होता है। तथा अप्रमत्त गुणस्थान मे स्थित जीव अपनी आयुके कालमे एक समय शेष रहनेपर प्रमत्तगुणस्थानको प्राप्त करके मरता है। इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षा प्रमत्त गुणस्थानका काल भी एक समय है। चारो उपशमकोका यथा सम्भव चौवन सख्यापर्यन्त एक साथ प्रवेश और मरण सम्भव होनेसे नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है।

शका—इस तरह मिथ्यादृष्टिका भी काल एक समय क्यो नही होता ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही है। मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवका मरण अन्तर्मुहूर्तके मध्य असम्भव है। कहा है—'अनन्तानुबन्धीका विसयोजन करनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर एक आवलीकाल तक अनन्तानुबन्धीका उदय नही होता तथा एक अन्तर्मुहूर्त काल तक मरण नही होता। सम्यग्मिथ्यादृष्टि का भी काल एक समय नही है क्योकि मरणकाल आनेपर वह गुणस्थान छूट जाता है। असयत और सयतासयत गुणस्थानको प्राप्त होनेवाला भी अन्तर्मुहूर्त तक नही मरता अत: असयत और सयतासंयत का भी काल एक समय नही होता।

चारो क्षपको और अयोगकेवलियोके मुक्तिगामी होनेके कारण अवान्तर मे मरण सम्भव न होनेसे नाना जीवो और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सयोगकेवलीका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त है क्योकि उस गुणस्थानको प्राप्त होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तमे अयोगकेवली गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है। उत्कृष्टकाल कुछ कम पूर्वकोटि है क्योकि जन्मसे आठ वर्षके पश्चात् तप स्वीकार करके केवलज्ञानको उत्पन्न करता है इसलिए पूर्वकोटिमे कुछ वर्ष कम हो जाते हैं।

§. 92

41.8 तिर्यगसयतसम्यग्दृष्ट्येकजीवं प्रत्युत्कर्षेण दर्शनमोहक्षपकवेदकापेक्षया त्रीणि पल्योपमानि। पश्चाद् गत्यतिक्रम.।

[तिर्यंचगतिमे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्ष से दर्शनमोहका क्षय करनेवाले वेदक सम्यक्दृष्टि की अपेक्षा तीन पल्योपम है। उसके पश्चात् गति बदल जाती है]

§. 93

41.10 मिथ्यादृष्टिमनुष्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वै. सप्तचत्वारिंशत् पूर्वकोटिभिरभ्यधिकानि । तथाहि—नपुसक-स्त्री-पुवेदेनाष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोट्यायुषोत्पद्यावान्तरेऽन्तर्मुहूर्तमध्येऽपर्याप्तकमनुष्यक्षुद्रभवेनाष्टौ वारानुत्पद्यते। पुनरपि नपुसकस्त्रीवेदेनाष्टावष्टौ पुवेदेन तु सप्तति । ततो भोगभूमौ त्रिपल्योपमायुष्क, भोगभूमिजाना नियमेन देवेषूत्पादात् । पश्चाद् गत्यतिक्रम । असयतसम्यग्दृष्टिमनुष्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि । कर्मभूमिजो हि मनुष्य' क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तो दर्शनमोहक्षपकवेदकयुक्तो वा भोगभूमिजमनुष्येषूत्पद्यते। इति मनुष्यगत्यपरित्यागात् सातिरेकाणि पश्चाद्गत्यतिक्रम. ।

[मनुष्य गतिमे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे पूर्वकोटि पृथक्त्व अर्थात् सैंतालीस पूर्वकोटिसे अधिक तीन पल्य है। उसका खुलासा इस प्रकार है—नपुसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेदके साथ आठ-आठ बार पूर्वकोटिकी आयुसे उत्पन्न होकर अवान्तरमे अन्तर्मुहूर्तके अन्दर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यके क्षुद्रभवके साथ आठ बार उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् पुन नपुसकवेद और स्त्रीवेदके साथ आठ-आठ बार उत्पन्न होता है किन्तु पुरुषवेदके साथ सात-सात बार उत्पन्न होता है। उसके बाद भोगभूमिमे तीन पल्यकी आयुसे उत्पन्न होता है। भोगभूमिके जीव मरकर देवोमे ही उत्पन्न होते हैं। अत उसके बाद गति बदल जाती है। असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानका उत्कृष्ट काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे तीन पल्य है। क्योकि कर्मभूमिका जन्मा (बद्धमनुष्यायु) मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्वसे युक्त हो या दर्शनमोहके क्षपक वेदकसम्यक्त्वसे युक्त हो, मरकर भोगभूमिज मनुष्योंमे उत्पन्न होता है। अत' मनुष्यगतिके न छूटनेसे साधिक तीन पल्य काल होता है। उसके बाद गति बदल जाती है]

§. 95

42 7 एकेन्द्रियैकजीव प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । तत्कीदृशमिति चेदुच्यते । उक्तलक्षणमुहूर्तमध्ये तावदेकेन्द्रियो भूत्वा कश्चिज्जीव: षट्षष्टिसहस्रद्वात्रिंशदधिकशतपरिमाणानि जन्ममरणान्यनुभवति। 66132 । तथा स एव जीवस्तस्यैव मुहूर्तस्य मध्ये द्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियो भूत्वा यथासख्यमशीतिषष्ठिचत्वारिंशच्चतुर्विंशतिजन्ममरणानि स्वकृतकर्मवैचित्र्यादनुभवति ।।80।60।40।24।। सर्वेऽप्येते समुदिता क्षुद्रभवा एतावन्तो भवन्ति ।।66336।। उक्त च—

"[1]तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठीसहस्सजम्ममरणाणि ।
एवदिया खुद्दभवा हवति अंतोमुहुत्तस्स ।।
[2]विगलिंदिए असीदिं सट्ठी चालीसमेव जाणाहि ।
पंचेंदिय चउवीसं खुद्दभवांतोमुहुत्तस्स ।।"

यदा चैवमुहूर्तस्य मध्ये एतावन्ति जन्ममरणानि भवन्ति तदैकस्मिन्नुच्छ्वासेऽष्टादश जन्ममरणानि लभ्यन्ते। तत्रैकस्य क्षुद्रभवसज्ञा। उत्कर्षेणानन्तकालोऽसख्यातपुद्गलपरिवर्तनलक्षणो निरन्तरमेकेन्द्रियत्वेन मृत्वा मृत्वा पुनर्भवनात् । ततो विकलेन्द्रिय. पञ्चेन्द्रियो वा भवति ।

[एकेन्द्रिय एक जीवके प्रति जघन्यकाल क्षुद्रभवग्रहण है। वह क्षुद्रभव किस प्रकार है यह कहते हैं—उक्त लक्षणवाले मुहूर्तमे एकेन्द्रिय होकर कोई जीव छियासठ हजार एक सौ बत्तीस जन्म मरणका अनुभव करता है। तथा वही जीव उसी मुहूर्तके भीतर दो इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होकर यथाक्रमसे अस्सी, साठ, चालीस और चौबीस जन्म मरणोको अपने द्वारा किये गये कर्मबन्धकी विचित्रतासे अनुभव करता है। ये सभी क्षुद्रभव मिलकर छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस होते हैं। कहा है—'छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस जन्ममरण होते हैं। एक अन्तर्मुहूर्तमें उतने ही क्षुद्रभव होते हैं। इसी अन्तर्मुहूर्तमे विकलेन्द्रियके अस्सी, साठ और चालीस तथा पञ्चेन्द्रियके चौबीस क्षुद्रभव जानना चाहिए।'

जब एक मुहूर्तके भीतर (अन्तर्मुहूर्तमे) इतने जन्ममरण होते हैं तब एक उच्छ्वासमे 18 जन्ममरण प्राप्त होते हैं। उनमेसे एककी सज्ञा क्षुद्रभव है। उत्कर्षसे अनन्तकाल है जो असख्यात पुद्गल परावर्त

---

1. गो० जी० गा० 122,123 । 2. कल्लाणा-लोयणा 6 ।

रूप है। इस कालमे निरन्तर एकेन्द्रिय रूपसे मर-मरकर पुन जन्म लेते रहते हैं। उसके बाद विकलेन्द्रिय या पचेन्द्रिय होते हैं]।

§. 95

42.11 पञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्ट्येकजीव प्रति उत्कर्षेण सागरोपमसहस्र (—स्र) पूर्वकोटीपृथक्त्वैः पण्णवति पूर्वकोटिभिरम्यधिकम्। तथाहि—नपुसकस्त्रीपुवेदे सज्ञित्वेनाष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोट्यायुषोत्पद्यते। तथासंज्ञित्वेन चावान्तरेऽन्तर्मुहूर्तमध्ये पञ्चेन्द्रियक्षुद्रभवेनाष्टौ। पुनरपि नपुसकस्त्रीपुवेदे सज्ञित्वासज्ञित्वाभ्यामष्टचत्वारिंशत्पूर्वकोट्यो योजनीया। एव त्रसकायेऽपि पूर्वकोटिपृथक्त्वै पण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिकत्व द्रष्टव्यम्।

[पचेन्द्रियमे मिथ्यादृष्टि एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे पूर्वकोटिपृथक्त्व अर्थात् छियानवे पूर्वकोटियोसे अधिक एक हजार सागर काल होता है। उसका खुलासा इस प्रकार है—नपुसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेदमे सज्ञीरूपसे आठ-आठ बार एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न होता है। इसी तरह असज्ञीरूपसे उत्पन्न होता है। बीचमे अन्तर्मुहूर्तमे आठ बार क्षुद्रभवधारी पचेन्द्रिय होता है। पुन दूसरी बार नपुसकवेद स्त्रीवेद और पुरुषवेदमे सज्ञी और असंज्ञीके रूपमे अडतालीस पूर्वकोटि लगा लेना चाहिए। इसी तरह त्रसकायमे भी पूर्वकोटिपृथक्त्व के साथ छियानवे पूर्वकोटि अधिक जानना चाहिए।]

§ 97

42.16 वाङ्मनसयोगिषु मिथ्यादृष्ट्यादीना योगपरावर्तगुणपरावर्तापेक्षया जघन्येनैकः समय। तथाहि-विवक्षितयोगयुक्तमिथ्यात्वादिगुणस्थानकालान्त्यसमये वाङ्मनसान्यतरयोगसङ्क्रमण योगपरावर्तस्तदपेक्षया गुणान्तरयुक्वाङ्मनसान्यतरयोगकालान्त्यसमये मिथ्यात्वादिगुणसङ्क्रमो गुणपरावर्तस्तदपेक्षया वा। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तो योगकाल यावदित्यर्थ। पश्चात्तेषा योगान्तरसङ्क्रम। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया योगगुणपरावर्तमपेक्ष्य जघन्येनैक समयः। तथाहि—केषाचिद् गुणान्तरयुक्तवाङ्मनसान्यतरयोगकालान्त्यसमये यदा (यथा) सम्यग्मिथ्यात्वसङ्क्रमण तथैवान्येषा योगान्तरानुभूतसम्यग्मिथ्यात्वकालान्त्यसमये वाङ्मनसान्यतरयोगसङ्क्रम इति क्षपकोपशमकानामप्येवमेक समयो द्रष्टव्य, शेषाणा सासादनादीना मनोयोगिवत्। यथा मनोयोगिनो योगगुणपरावर्तापेक्षेतराभ्या जघन्योत्कृष्टः कालस्तद्वत्तेषामपि।

[वचनयोगी और मनोयोगियोमे मिथ्यादृष्टि आदिका कालयोगपरिवर्तन और गुणस्थानपरिवर्तनकी अपेक्षा जघन्यसे एक समय है जो इस प्रकार है—विवक्षित योगसे युक्त मिथ्यात्व आदि गुणस्थानके कालके अन्तिम समय मे वचनयोग और मनोयोग मे से किसी एक योगका बदलना योगपरिवर्तन है उसकी अपेक्षामे एक समय काल होता है। तथा गुणस्थानान्तरमे युक्त वचनयोग और मनोयोगमेसे किसी एक योगके कालके अन्तिम समयमे मिथ्यात्व आदि गुणस्थानका बदलना गुणस्थान परिवर्तन है उसकी अपेक्षासे एक समय होता है। उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्तकाल है अर्थात् योगकाल पर्यन्त, क्योकि वचनयोग और मनोयोगका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। उसके बाद योग बदल जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नानाजीवोकी अपेक्षा योगपरिवर्तन और गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षासे जघन्यसे एक समय है जो इस प्रकार है— किन्हीके अन्यगुणस्थानसे युक्त वचनयोग और मनोयोगमेसे किसी एक योगके कालके अन्त समयमे जैसे सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थानमे सक्रमण हो जाता है वैसे ही दूसरोके योगान्तरसे अनुभूत सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थानके कालके अन्त समयमे वचनयोग और मनोयोगमे से कोई एक योग बदल जाता है। क्षपक और उपशमकोके भी इसी प्रकार एक समय जानना चाहिए। शेष सासादन आदिका काल मनोयोगीकी तरह जानना। अर्थात् जैसे मनोयोगियो के योगपरिवर्तन और गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल होता है उसी प्रकार उनका भी जानना।]

1. उक्कस्सेण सागरोवमसहस्साणि पुव्वकोडिपुधत्तेणब्भहियाणि। 136। षट्ख० पु० ४। 'उत्कर्षेण सागरोपमसहस्र पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकम्।'—सर्वार्थ० 1।8।

§ 98

43 8 एकजीवस्य मिथ्यात्वयुक्तस्त्रीवेदकालो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। ततो गुणान्तरसंक्रम । उत्कर्षेण-पल्योपमशतपृथक्त्वम्। तथाहि—स्त्रीवेदयुक्तो मिथ्यादृष्टिर्देवेषु आयुर्बध्नाति । ततस्तिर्यग्मनुष्येषु नारकसम्मूर्च्छनवर्ज तावद्यावत्पल्योपमशतपृथक्त्व ततो वेदपरित्याग । स्त्रीवेदासयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीव प्रति उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशतपल्योपमानि, गृहीत-सम्यक्त्वस्य स्त्रीवेदेनोत्पादाभावात् पर्याप्त· सम्यक्त्व ग्रहीष्यतीति पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्तहीनत्वाद्देशोनानि। नपुसकवेदासयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण सप्तमपृथिव्या त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तत्र च पर्याप्त· कियत्काल विश्रम्य विशुद्धो भूत्वा सम्यक्त्व गृह्णात्यन्ते त्यजति चेति देशोनानि।

[एक जीवके मिथ्यात्वयुक्त स्त्रीवेदका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त है। उसके वाद गुणस्थान वदल जाता है। उत्कर्षसे सौ पल्योपमपृथक्त्व है जो इस प्रकार है—स्त्रीवेदसे युक्त मिथ्यादृष्टि देवगतिकी आयु का वन्ध करता है। वहाँसे तिर्यच और मनुष्योमे उत्पन्न होता है। इस तरह नारक और सम्मूर्च्छनको छोडकर सौ पल्योपमपृथक्त्व तक स्त्रीवेद सहित रहता है फिर वेद वदल जाता हैं। स्त्रीवेद सहित असयत सम्यग्दृष्टि एक जीवका उत्कर्षसे पचपन पल्य काल हैं। सम्यग्दृष्टि तो स्त्रीवेदके साथ उत्पन्न नही होता अत स्त्रीवेदी जीव पर्याप्त अवस्थामे सम्यक्त्वको ग्रहण करता हैं इसलिए पर्याप्तिकी पूर्ति मे लगनेवाला अन्तर्मुहूर्त कम कर देनेसे देशोन (कुछ कम पचपन पल्य) होता हैं। नपुसकवेदी असयत सम्यग्दृष्टि एक जीव का उत्कर्षसे सातवे नरकमे तेतीस सागर काल है। क्योकि वहाँ पर्याप्त होकर कुछ काल विश्राम करके विशुद्ध होकर सम्यक्त्वको ग्रहण करता हैं और अन्तमें छोड देता है इसलिए देशोन (कुछ कम) तेतीससागर होता हैं।]

§ 99

44 5 चतुकषायाणा मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ताना कषायगुणपरावर्तापेक्षया एकजीव प्रति मनोयोगिवज्जघन्येनैक समय , उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त ।

[चारो कषायोका मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त कषाय और गुणस्थान के वदल जानेकी अपेक्षासे एक जीव के मनोयोगी की तरह जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल हैं।]

§ 100

44 8 विभङ्गज्ञानिमिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण नारकापेक्षया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। पर्याप्तश्च विभङ्गज्ञान प्रतिपद्यत इति पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्तहीनत्वाद्देशोनानि।

[विभगज्ञानी मिथ्यादृष्टि एक जीवके उत्कर्षसे नारको की अपेक्षासे तेतीस सागर काल हैं। पर्याप्त जीव ही विभगज्ञान को प्राप्त होता हैं इसलिए पर्याप्तिके समापक अन्तर्मुहूर्तके कम कर देनेसे देशोन लेना चाहिए।]

§ 103

45 3 कृष्णनीलकापोतलेश्यमिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, तिर्यग्मनुष्यापेक्षया तेषामेव लेश्यापरावर्तसभवात्। सर्वत्र च लेश्यायुक्तस्यान्तर्मुहूर्त तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्य । उत्कर्षेण नारकापेक्षया यथासख्य सप्तमपञ्चम-तृतीयपृथिव्या त्रयस्त्रिंशत् सप्तदशसप्तसारोपमाणि देवनारकाणामवस्थित-लेश्यत्वात्। व्रजन्नियमेन तल्लेश्यायुक्तो व्रजति आगच्छतो नियमो नास्तीति सातिरेकाणि। उक्तलेश्यायुक्तासयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण नारकापेक्षया उक्तान्येव सागरोपमाणि। पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्त सप्तम्या मारणान्तिके च सम्यक्त्वाभावाद्देशोनानि। तेज पद्मलेश्यामिथ्यादृष्ट्यसयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण यथासख्य प्रथमद्वादशस्वर्गापेक्षया द्वे सागरोपमे अष्टादश च। तद्युक्ताना मारणान्तिकोत्पाद मभवतीति सातिरेकाणि। शुक्ललेश्यमिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण एकत्रिंशत्सारोपमाणि अग्रग्रैवेयकदेवापेक्षया तेषा मारणान्तिकोत्पादावस्थायामपि शुक्ललेश्यासभवात् सातिरेकाणि। सयतासयतशुक्ललेश्यैकजीव प्रति गुणलेश्यापरावर्तापेक्षेतराभ्या जघन्येनैक समय· उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त ।

[कृष्ण, नील या कापोतलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति जघन्यमे अन्तर्मुहूर्तकाल है क्योकि तिर्यच और मनुष्यकी अपेक्षामे उनकी लेश्यामे परिवर्तन

सम्भव है। सर्वत्र लेश्यायुक्त जीवका अन्तर्मुहूर्तकाल तिर्यंच और मनुष्यकी अपेक्षामे देखना चाहिए। उत्कर्पसे नारकोकी अपेक्षा सातवी, पाँचवी और तीसरी पृथिवीमे क्रमसे तेतीम मागर, सतरह सागर और सात सागर काल होता है क्योंकि देवो और नारकोकी लेश्या अवस्थित होती है। जव वे अपनी गतिमे जाते है तो नियमसे उसी लेश्याके साथ जाते हैं किन्तु वहाँसे आते हुए नियम नही है इसलिए कुछ अधिक उक्त काल होता है। उक्त लेश्याओमे युक्त असयत सम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्पसे नारको की अपेक्षासे उक्त तेतीस आदि सागर ही काल है। किन्तु पर्याप्ति समापक अन्तर्मुहूर्तमे और सातवी पृथिवी मे मारणान्तिक समुद्घातने सम्यक्त्व नही होता इसलिए कुछ कम उक्त काल होता है। तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और असयत-सम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्ष से क्रमानुसार प्रथम और वारहवें स्वर्गकी अपेक्षा दो सागरोपम और अठारह सागरोपमकाल है। उक्त अवस्था-विशिष्ट उन जीवो के मारणान्तिक और उत्पाद सम्भव है इसलिए कुछ अधिक उक्त काल लेना चाहिए। शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्पसे सवसे ऊपरवाले ग्रैवेयकके देवोकी अपेक्षा इकतीस सागर काल है। उनके मारणान्तिक और उत्पाद अवस्था में भी शुक्ललेश्या होती है अतः कुछ अधिक इकतीस सागर लेना चाहिए। शुक्ल-लेश्यावाले सयतासयत-गुणस्थानवर्ती एक जीवके प्रति गुणस्थान और लेश्यापरिवर्तन की अपेक्षा जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल है।]

§ 107

471 आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। वक्रेण गतः [1]क्षुद्रभवेनोत्पन्नः पुनरपि वक्रेण गत। उत्कर्षेणासख्यातासख्यातमानावच्छिन्नोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणोऽगुल्यसख्येयभाग शश्वदृजुगतिमत्त्वात्। अनाहारकसासादनसम्यग्दृष्ट्यसयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षयोत्कर्षेणावलिकाया असख्येयभाग। नन्वावलिकाया असख्यातसमयमानलक्षणत्वात्तदसख्येयभाग एकसमय एव स्यात्। तदयुक्त, वृहदसख्यातसमयमानलक्षणत्वात्। आवलिकासख्येयभागस्य चाल्पासख्यातसमयमानलक्षणत्वादिति। सयोगकेवलिना नानाजीवापेक्षया जघन्येन त्रयः समया, समसमये दण्डादिप्रारम्भकत्वात्। उत्कर्षेण सख्येया समया अजघन्योत्कृष्टसख्यातमानावच्छिन्ना निरन्तर विपमसमये दण्डादिप्रारम्भकत्वात्। एकजीव प्रति जघन्य उत्कृष्टश्च त्रय, समया, प्रतरद्वयलोकपूरणलक्षणा।

[आहारकोमे मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त काल है, वक्रगतिसे जाकर क्षुद्रभवसे उत्पन्न हुआ और पुन मरकर वक्रगतिसे गया (वक्रगतिमे अनाहारक रहा और मध्यमे आहारक)। उत्कर्पसे अगुलके असख्यातवें भाग है जो असख्याता-सख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालप्रमाण है।

शंका—आवलीका प्रमाण असख्यात समय है अत उसका असख्यातवाँ भाग एक समय ही होगा ?

उत्तर—ऐसा कहना युक्त नही है क्योंकि आवलीके समयो का प्रमाण वृहत् असख्यात है और आवलीके असख्यातवे भागके समयोका प्रमाण अल्प असख्यात है।

सयोगकेवलियोका काल नाना जीवोकी अपेक्षा जघन्यसे तीन समय है, क्योंकि समान समयमे दण्डादि समुद्घात का प्रारम्भ करते है। उत्कर्षसे सख्यात समय है जो मध्यमसख्यात प्रमाण है, क्योंकि लगातार विभिन्न समयोमे दण्डादिसमुद्घातका प्रारम्भ करते हैं। एक जीवकी अपेक्षा अनाहारकका जघन्य और उत्कृष्ट काल तीन समय है, विस्तार और सकोचरूप दो प्रतर और एक लोकपूरणसमुद्घात के समय।]

§ 108

479 अन्तरम्। मिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रत्यन्तरमुत्कर्षेण द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणाम्। तथाहि—वेदकसम्यक्त्वेन युक्त एका षट्षष्टी तिष्ठति तत्सम्यक्त्वस्योत्कर्षेणैतावन्मात्रस्थितिकत्वात्। पुनरवान्तरे

1. आदावन्ते च वक्रगतिकालयोरनाहारक। मध्येऽन्तर्मुहूर्तं यावदाहारक इत्यर्थः।

अन्तर्मुहूर्तं यावत् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते। पुनरपरा षट्षष्टी वेदकसम्यक्त्वेन तिष्ठति। अन्त्यसागरोपमावसानशेषे मिथ्यात्वं प्रतिपद्यत इति देशोने। सासादनैकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागः। अन्तर्मुहूर्तं कस्मान्नेति च न चोद्यम्, अन्तर्मुहूर्तमध्ये पुनः सासादनगुणग्रहणे योग्यतासंभवात्। परित्यक्तौपशमिकसम्यक्त्वो हि मिथ्यात्वप्राप्त्यन्तराले वर्तमानः सासादनोऽभिधीयते। तस्य च मिथ्यात्वं गतस्य पुनरौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणे योग्यता पल्योपमासंख्येयभागे सत्येव नावान्तरे तत्र वेदकग्रहणयोग्यताया एव संभवात्।

[आगे अन्तरका कथन करते हैं। मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति अन्तरकाल उत्कर्षसे दो छियासठ सागर है जो इस प्रकार है—वेदकसम्यक्त्वसे युक्त जीव एक छियासठसागर तक रहता है क्योंकि वेदकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही है। उसके [1]पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तके लिए सम्यक्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त करता है। पुनः दूसरे छियासठ सागर तक वेदकसम्यक्त्वके साथ रहता है। अन्तिम सागरके अन्तमें कुछ काल शेष रहनेपर मिथ्यात्वमें चला जाता है। इस प्रकार देशोन दो छियासठ सागर अन्तरकाल होता है। सासादन एक जीवके प्रति अन्तरकाल जघन्यसे पल्योपमके असंख्यातवें भाग है।

शंका—अन्तर्मुहूर्त अन्तरकाल क्यों नहीं है?

उत्तर—ऐसा तर्क नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तकालके अन्दर पुनः सासादनगुणस्थान को ग्रहण करने की योग्यता सम्भव नहीं है। उसका कारण यह है कि जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वको छोडकर मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्तिके बीचके समयमें रहता है उसे सासादन कहते हैं। उसके मिथ्यात्वमें चले जानेपर पुनः औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता पल्योपमके असंख्यातवें भाग काल बीतनेपर ही आती है उससे पहले नहीं। उससे पहले वेदक सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता ही सम्भव है।]

§ 110

484 तिर्यग्मिथ्यादृष्ट्येकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमान्यन्तरम्। अधिकमपि कस्मान्नेति चेत्, वेदकयुक्तस्य तिर्यक्षूत्पादाभावात् तद्युक्तो हि देवेष्वेवोत्पद्यते। अतो मिथ्यात्वयुक्तस्त्रिपल्योपमायुष्को भोगभूमिषूत्पद्यते। तत्र चोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां किंचिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनेषु सम्यक्त्वग्रहणयोग्यता भवतीति नियमादेतावद्दिनेषु गतेषु मिथ्यात्वपरित्यागेन सम्यक्त्वं गृह्णातीति त्रिपल्योपमायुःशेषे पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यत इति गर्भकालेन किंचिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनैरवसानकालशेषेण च हीनत्वाद्देशोनानि।

[तिर्यंचमिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे तीन पल्योपम अन्तरकाल है।

शंका—अधिक क्यों नहीं है?

उत्तर—क्योंकि वेदक सम्यक्त्वसे युक्त जीव तिर्यंचोंमें उत्पन्न नहीं होता, देवोंमें ही उत्पन्न होता है। अतः तीन पल्यकी आयुका बन्ध करनेवाला मिथ्यादृष्टि भोगभूमिमें उत्पन्न होता है। भोगभूमिमें उत्पन्न हुए तिर्यंच और मनुष्योंमें कुछ अधिक अड़तालीस दिन बीतने पर सम्यक्त्वग्रहणकी योग्यता आती है ऐसा नियम है। अतः इतने दिन बीतने पर वह मिथ्यात्वको त्याग कर सम्यक्त्वको ग्रहण करता है और तीन पल्यकी आयु में कुछ शेष रहने पर पुनः मिथ्यात्वको ग्रहण कर लेता है। इस तरह गर्भकाल से किंचित् अधिक अड़तालीस दिनों और अन्तिमकालसे हीन होनेसे देशोन[2] तीन पल्य अन्तरकाल होता है।]

§ 111

49.6 मनुष्यगतौ सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टयः पूर्वकोटिपृथक्त्वायुष्काः स्वस्वगुणं परित्यज्य भोगभूमावुत्पद्यन्ते। पश्चात् स्वगुणं गृह्णन्ति। एकमेव जीवं प्रति उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिकानि भवन्ति।

1. धवला पु० 5, पृ० ७ में प्रथम छियासठ सागरमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर ही सम्यक् मिथ्यात्वमें प्राप्त कराया है।—सं०। 2 धवला पु० 5, पृ० 32 में आदिके मुहूर्तपृथक्त्व अधिक दो मास और आयुके अवसानमें उपलब्ध दो अन्तर्मुहूर्तोंसे हीन तीन पल्योपम अन्तरकाल कहा है।—सं०।

[मनुष्यगतिमे सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि जीव अपने-अपने गुणस्थानको छोडकर पूर्वकोटिपृथक्त्वकाल होनेपर भोगभूमिमे उत्पन्न होते है। पीछे अपने गुणस्थान को ग्रहण करते है। इस तरह एक जीवके प्रति उत्कर्षसे पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम अन्तरकाल होता है।]

§. 112

50.5 देवगतौ मिथ्यादृष्टेरेकजीव प्रत्युत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि। तथाहि—मिथ्यात्वयुक्तोऽग्रग्रैवेयकेषूत्पद्यते पश्चात् सम्यक्त्वमादायैकत्रिंशत्सागरोपमाणि तिष्ठति। अवसानकालशेषे पुनर्मिथ्यात्व प्रतिपद्यतेऽन्यथा गत्यतिक्रम स्यादिति देशोनानि। एवमसयतसम्यग्दृष्टेरपि योजनीयम्।

[देवगतिमे मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे इकतीस सागर अन्तरकाल है जो इस प्रकार है—एक द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि उपरिमग्रैवेयकमे उत्पन्न हुआ। पीछे सम्यक्त्वको ग्रहण करके इकतीस सागर तक रहा। अन्त समयमे पुनः मिथ्यादृष्टि हो गया। यदि ऐसा न हो तो गति वदल जायेगी। अत. देशोन इकतीस सागर होता है। इसी तरह असयत सम्यग्दृष्टिका भी अन्तरकाल लगा लेना चाहिए।]

§ 113

50.9 एकेन्द्रियैकजीवस्योत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटिपृथक्त्वैः पण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिकेऽन्तरम्। अग्रे हीत्य सर्वत्र सागरोपमसहस्रद्वयस्य पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकत्व द्रष्टव्यम्। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणा च गुणस्थानान्तराभावादिन्द्रियेणान्तरम्। पञ्चेन्द्रियाणा तु तत्सभवान्मिथ्यात्वादे सम्यक्त्वादिनान्तर द्रष्टव्यम्।

[एकेन्द्रिय एक जीवका अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व छियानवे पूर्वकोटियोसे अधिक दो हजार सागर है। आगे इस प्रकार सर्वत्र पूर्वकोटिपृथक्त्वसे अधिक दो हजार सागर जानना चाहिए। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोके मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त अन्य गुणस्थान नही होता इसलिए इन्द्रियो की अपेक्षा अन्तर लगा लेना अर्थात् विकलेन्द्रिय जीव एकेन्द्रियोमे उत्पन्न होकर पुन विकलेन्द्रियोमे उत्पन्न हो और एकेन्द्रियजीव विकलेन्द्रियोमे उत्पन्न होकर पुन एकेन्द्रियमे उत्पन्न हो तो अन्तराल आता है। किन्तु पचेन्द्रियोमे तो गुणस्थान वदलना सम्भव है अत मिथ्यात्व आदिका अन्तर सम्यक्त्व आदिके द्वारा लगा लेना चाहिए।]

§ 114

51 5 पृथिव्यादिकायिकाना वनस्पतिकायिकैरन्तरमुत्कर्षेणासख्येया पुद्गलपरावर्ता। तेषा तु नैरन्तरमुत्कर्षेणासख्येया लोका वनस्पतिकायिकेभ्योऽन्येषामल्पकालत्वात्।

[पृथिवीकायिकोका वनस्पतिकायिक जीवोके द्वारा अन्तर उत्कर्षसे असख्यात पुद्गलपरावर्त है और वनस्पतिकायिकोका पृथिवीकायिक आदि के द्वारा अन्तर उत्कर्षसे असख्यातलोक है क्योकि वनस्पतिकायिकोसे पृथिवीकायिक आदिका काल थोडा है।]

§ 115

52.3 कायवाङ्मनसयोगिना मिथ्यादृष्ट्यादिषड्गुणस्थानाना नानैकजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवापेक्षया कथ नास्तीति चेत् कायादियोगानामन्तर्मुहूर्तकालत्वात् कायादियोगे स्थितस्यात्मनो मिथ्यात्वादिगुणस्य गुणान्तरेणान्तर पुनस्तत्प्राप्तिश्च सभवतीति। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्येकजीवापेक्षया तत एव नास्त्यन्तरम्।

[काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगियोमे मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत और सयोगकेवलीका नानाजीवो और एकजीवको अपेक्षा अन्तर नही है।

शका—एक जीवकी अपेक्षा अन्तर क्यो नही है?
उत्तर—क्योकि कायादियोगोका अन्तर्मूहूर्त काल है इसलिए कायादि योगमे स्थित जीवके मिथ्यात्व आदि गुणस्थानका अन्य गुणस्थानसे अन्तर करके पुनः उसी गुणस्थानमे आना सम्भव नही है। सासादन सम्यग्दृष्टि आदिका भी एक जीवकी अपेक्षा इसीलिए अन्तर नही है।]

§ 117

53.6 पुवेदे द्वयो क्षपकयोरिति पृथग्वचनमुत्तरत्र

वेदाभावात्। नानाजीवापेक्षया उत्कर्षेण संवत्सरं सातिरेकः अष्टादशमासा इत्यर्थः।
[पुरुषवेद मे 'दो 'क्षपकोका' पृथक् कथन इसलिए किया है कि आगे वेदका अभाव हो जाता है। नाना जीवोकी अपेक्षा उत्कर्ष से कुछ अधिक एक वर्ष अन्तर है। कुछ अधिक एक वर्षसे १८ मास लेना चाहिए।]

§. 118

53.13 अवेदेषूपशान्तकषायैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं सवेदत्वात्।
[अपगत वेदियो मे उपशान्तकषाय एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योकि उपशान्तकषायसे नीचेके गुणस्थान नौवे आदि मे वेद पाया जाता है अर्थात् नीचे गिरनेपर अवेदरूपसे उपशान्तकषाय गुणस्थानको प्राप्त करना सम्भव नही है।]

§. 120

54.5 अज्ञानत्रययुक्तैकजीवेऽपि मिथ्यात्वस्यान्तरं नास्ति गुणान्तरेऽज्ञानत्रयव्यभिचारात्। सासादनेऽस्तीति चेन्न, तस्य सम्यक्त्वग्रहणपूर्वकत्वात् सम्यग्दृष्टेश्च मिथ्याज्ञानविरोधात्। आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिष्वसंयतसम्यग्दृष्ट्येकजीवं प्रत्युत्कर्षेण पूर्वकोटी देशविरतादिगुणस्थानेनान्तरमवसानकाले शेषे पुनरसंयतत्वं प्रतिपद्यत इति देशोना। संयतासंयतैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि, असंयतप्रमत्तादिगुणस्थानेनान्तरं पूर्वकोटिचतुष्टयाष्टवर्षैः सातिरेकाणि मनुजेषूत्पन्नो हि अष्टवर्षानन्तरं संयतासंयतत्वं प्रतिपद्यत इति। मनःपर्ययज्ञानिष्वेकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तं। अधिकमपि कस्मान्नेति चेत् अधोगुणस्थानेषु वर्तमानाना मनःपर्ययासंभवात्। तेषु वर्तमानाना चाधिकमन्तरं संभवतीति। चतुर्णामुपशमकानामुत्कर्षेण पूर्वकोटी। उपशमश्रेणितो हि पतितास्ते मनःपर्ययज्ञानमपरित्यजन्तः प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थाने वर्तन्ते यावत्पूर्वकोटिकालशेषं पुनस्तदारोहणं कुर्वन्तीति देशोना।

[कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभङ्गज्ञानसे युक्त एक जीवके प्रति मिथ्यात्वका अन्तर नही है क्योकि अन्य गुणस्थानमे कुमति आदि तीनो ज्ञान नही होते।

शंका—सासादन मे जानेपर अन्तर पड सकता है?

उत्तर—नही, क्योकि सासादन गुणस्थान सम्यक्त्व ग्रहण करनेके बाद होता है और सम्यग्दृष्टिके मिथ्याज्ञान नही होता। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी अवधिज्ञानियोमे असंयतसम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे देशविरत आदि गुणस्थानके द्वारा पूर्वकोटि अन्तर काल है। अर्थात् एक असंयतसम्यग्दृष्टि जीव संयमासंयमको प्राप्त हुआ। कुछ कम पूर्वकोटिकाल तक संयमासंयमका पालन करके अन्तमे असंयमी हो गया तो कुछ कम पूर्वकोटि अन्तर होता[1] है। संयतासंयत[2] एक जीवके प्रति उत्कर्षसे छियासठ सागर अन्तरकाल है। असंयत प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानके द्वारा अन्तर होने पर चार पूर्वकोटि और आठ वर्ष अधिक छियासठ सागर होता है क्योकि मनुष्योमे उत्पन्न हुआ जीव आठ वर्षके अनन्तर संयतासंयतपने को प्राप्त करता है। मनःपर्यय ज्ञानियो मे एक जीवके प्रति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है।

शंका—अधिक अन्तर क्यो नही होता?

उत्तर—नीचे के गुणस्थानोमे आनेपर ही अधिक अन्तर संभव है किन्तु उनमे मनःपर्ययज्ञान संभव नही है। मनःपर्ययज्ञानी चारो उपशमकोका उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटि है क्योकि उपशमश्रेणीसे गिरकर मनःपर्ययज्ञानको अपनाये हुए प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमे

---

1. धवलामे लिखा है—पूर्वकोटिकाल प्रमाण संयमासंयमको पालकर मरा और देव हुआ। पु० 5, पृ० 113।
2. धवला मे लिखा है—एक जीव मनुष्योमे उत्पन्न हुआ। आठ वर्षका होकर एक साथ संयमासंयम और वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। पुनः अन्तर्मुहूर्तसे संयमको प्राप्त करके अन्तरको प्राप्त हुआ। संयमके साथ पूर्वकोटि काल बिताकर तेतीस सागरकी आयुके साथ देव हुआ। वहाँसे च्युत होकर पूर्वकोटि आयुके साथ मनुष्य हुआ। पुनः मरकर तेतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ से च्युत हो पुनः पूर्वकोटि आयु लेकर मनुष्य हुआ। वहाँ दीर्घकाल तक रहकर संयमासंयमको प्राप्त हुआ। इस तरह आठ वर्ष कुछ अन्तर्मुहूर्त कम तीन पूर्वकोटि अधिक 66 सागर अन्तर होता है।—पु० 5, पृ० 116।

(कुछ कम) पूर्वकोटि काल तक रहता है पुनः उपशम-श्रेणिपर आरोहण करता है। इस तरह देशान पूर्व-कोटि अन्तर होता है।]

§. 121

55.5 सामायिकछेदोपस्थापनशुद्धिसयतेषु द्वयोरुपशमकयोरेकजीव प्रत्युत्कर्षेण पूर्वकोटी अष्टवर्षानन्तर तपो गृहीत्वोपशमश्रेणिमारुह्य पतित प्रमत्ताप्रमत्तयो पूर्वकोटिकालशेष यावद् वर्तित्वा पूनस्तदारोहण करोतीति देशोना। सूक्ष्मसापरायसयमे उपशमकस्यैकजीव प्रति नास्त्यन्तर गुणान्तरे तत्सयमाभावात्। असयमेषु मिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रत्युत्कर्षेण नरके सप्तम पृथिव्यामुत्पद्यतेऽन्तर्मुहूर्ते गते सम्यक्त्व प्रतिपद्यते मुहूर्तशेषे त्यजतीति देशोनानि।

[सामयिक छेदोपस्थापना सयमियो मे दो उपशमकोका एक जीवके प्रति उत्कर्पसे कुछ कम पूर्वकोटि अन्तर है क्योकि पूर्वकोटिकी आयुवाला मनुष्य आठवर्षके पश्चात् सयमको ग्रहण करके उपशम श्रेणिपर आरोहण करके गिरा और प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानोमे पूर्वकोटिकालके शेष होने तक रहकर पुन उपशम-श्रेणिपर आरोहण करता है इस तरह देशोन होता है। सूक्ष्मसाम्पराय सयममे एक जीवके प्रति उपशमकका अन्तर नही है क्योकि सूक्ष्मसाम्पराय सयम दसवें गुणस्थानमे ही होता है। असयमियोमे मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे कुछ कम तेतीससागर अन्तर है क्योकि एक मिथ्यादृष्टि जीव सातवी पृथिवीमे उत्पन्न होता है। अन्तर्मुहूर्त बीतनेपर सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहनेपर सम्यक्त्वको छोडकर मिथ्यात्वमे आ जाता है। इस प्रकार देशोन तेतीससागर अन्तर होता है।]

§ 124

57.1 तेज.पद्मलेश्यसयतासयतप्रमत्ताप्रमत्तसयतानामेकजीवापेक्षयापि नास्त्यन्तरमन्तर्मुहूर्ते परावर्तमानलेश्यत्वात्।

[तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावाले संयतासयत, प्रमत्त-सयत, और अप्रमत्तमयतोका एक जीवकी अपेक्षासे भी अन्तर नही है क्योकि अन्तर्मुहूर्तमे लेश्या वदल जाती है (और लेश्याके कालसे गुणस्थानका काल वहुत है।]

§ 125

57. 10 शुक्ललेश्येष्वप्रमत्तादीनामुपशमश्रेण्यारोहणाभिमुख्यारोहणसद्भावाभ्या लेश्यान्तरपरावर्ताभावादेकजीव प्रति जघन्यमुत्कृष्ट चान्तर्मूहूर्तः। उपशान्तकपायस्य पतितस्य प्रमत्ते लेश्यान्तर संस्पृश्य श्रेण्यारोहणादेकजीव प्रति न स्त्यन्तरम्।

[शुक्ललेश्या मे अप्रमत्तमयत आदिका एक जीवके प्रति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है क्योकि शुक्ललेश्यावाला कोई एक अप्रमत्तसयत उपशम श्रेणिपर चढकर अन्तरको प्राप्त हुआ और सर्वजघन्यकालमे लौटकर अप्रमत्त सयत हुआ। इसी प्रकार उत्कृष्ट अन्तर भी होता है, इस कालमे लेश्या परिवर्तन नही होता। शुक्ललेश्यावाले उपशान्त कषायका जीवके प्रति अन्तर नही है क्योकि उपशान्तकषायसे गिरकर छठे गुणस्थानमे लेश्या परिवर्तन होकर ही श्रेणिपर आरोहण होता है।]

§ 129

58 10 औपशमिकासयतसम्यग्दृष्टीना सान्तरत्वान्नानाजीवापेक्षया सप्तरात्रिदिनानि। औपशमिकसम्यक्त्व हि यदि कश्चिदपि न गृह्णति तदा सप्तरात्रिदिनान्येव। सयतासयतस्य चतुर्दश, प्रमत्ताप्रमत्तयोः पञ्चदश एकजीव प्रति जघन्येन जघन्य उत्कर्षेण चोत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्त। तदुक्तम्—

सम्मत्ते सत्तदिणा विरदाविरदेसु चोद्दसा होंति।
विरदेसु य पण्णरसा विरहणकालो य बोधव्वो॥

[प्रा० पं० स० 205]

उपशान्तकषायैकजीव प्रति नास्त्यन्तर वेदकपूर्वकौपशमिकेन हि श्रेण्यारोहणभाग् भवति, तस्या पतितो न तेनैव श्रेण्यारोहण करोति, सम्यक्त्वान्तर मिथ्यात्व वा गत्वा पश्चात्तदारोहण करोतीति। अतो नास्ति तस्यान्तरम्। सासादनसम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वयुक्तैकजीव प्रति नास्त्यन्तर गुणे गुणान्तरविरोधतः सासादनादिगुणे स्थितस्य मिथ्यात्वादिनान्तरासभवात्।

[औपशमिक असयतसम्यग्दृष्टियोके सान्तर होनेसे नाना जीवोकी अपेक्षा सात रातदिन अन्तरकाल है।

यदि कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण नहीं करता तो सात रातदिन तक ही ग्रहण नही करता। औपशमिक सम्यक्त्वके साथ सयतासंयतोका अन्तरकाल चौदह दिन है और प्रमत्तसंयत तथा अप्रमत्तसंयतका पन्द्रह दिन है। एक जीवके प्रति जघन्य अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तरकाल उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। कहा है—औपशमिक सम्यक्त्वका अन्तरकाल सात दिन, औपशमिक सम्यक्त्वके साथ विरताविरतका अन्तरकाल चौदह दिन और विरतोका अन्तरकाल पन्द्रह दिन जानना चाहिए।

उपशान्तकषाय का एक जीवके प्रति अन्तर नही है क्योकि वेदकसम्यक्त्वपूर्वक होनेवाले औपशमिकसम्यक्त्वसे जीव उपशमश्रेणिपर आरोहण करता है। उससे गिरने पर पुन. उसी सम्यक्त्वसे श्रेणिपर आरोहण नहीं करता किन्तु अन्य सम्यक्त्वको ग्रहण करके या मिथ्यात्वमे जाकर पुन सम्यक्त्वको ग्रहण करके तब श्रेणिपर आरोहण करता है। अत उसका अन्तर नहीं है। सासादनसम्यक्त्व, सम्यक्मिथ्यात्व और मिथ्यात्वसे युक्त एक जीवके प्रति अन्तर नही है क्योंकि एक गुणमें दूसरे गुणका विरोध होनेसे सासादन आदि गुणस्थानमे स्थित जीवका मिथ्यात्व आदि गुणस्थानसे अन्तर असम्भव है।]

§ 130

59. 13. असंज्ञिनां नानैकजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् एक मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तित्वेन तेषा सासादिनान्तरासंभवात्।

[असंज्ञियोंका नाना और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है क्योंकि असज्ञियोंके केवल एक मिथ्यात्वगुणस्थान ही होता है अतः उनका सासादन आदि गुणस्थानोंसे अन्तर सम्भव नहीं है।]

§. 132

60.8 अनाहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यैकजीव प्रति नास्त्यन्तरमनाहारकत्वस्यैक-द्वि-त्रिसमयत्वात् गुणस्थानस्य च ततो बहुकालत्वात् तत्र तस्य गुणान्तरेणान्तरासंभवादिति।

[अनाहारकोंमे मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि अनाहारकपनेका काल एक, दो या तीन समय है, उनके गुणस्थानका काल उससे बहुत है अतः वहाँ उसका अन्य गुणस्थानसे अन्तर असम्भव है।]

§ 133

61 1 भाव—मिथ्यादृष्टिरित्यौदयिको भावो मिथ्यात्वप्रकृतेरुदये प्रादुर्भावात्। सासादनसम्यग्दृष्टिरिति पारिणामिको भावः। नन्वनन्तानुबन्धिक्रोधाद्युदयेऽस्य प्रादुर्भावादौदयिकत्व कस्मान्नोच्यत इति चेत्, अविवक्षितत्वात्। दर्शनमोहापेक्षया हि मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टये भावो निरूपयितुमभिप्रेतोऽत्र सासादने सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयलक्षणस्य त्रिविधस्यापि दर्शनमोहस्योदय-क्षय-क्षयोपशमाभावात् पारिणामिकत्वम्। सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति क्षायोपशमिको भावः। ननु सर्वघातिनामुदयाभावे देशघातीना चोदये य उत्पद्यते भावः स क्षायोपशमिकः। न च सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतेर्देशघातित्व सभवति, सर्वघातित्वेनागमे तस्या प्रतिपादितत्वादिति। तदयुक्तम्, उपचारतस्तस्या देशघातित्वस्यापि सभवात्। उपचारनिमित्त च देशत सम्यक्त्वस्य घातित्व, न हि मिथ्यात्वप्रकृतिवत् सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृत्या सर्वस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्वरूपस्य (सम्यक्त्वस्वरूपस्य) घातः सभवति सर्वज्ञोपदिष्टतत्त्वेषु रुच्यशस्यापि सभवात्। तदुपदिष्टतत्त्वेषु रुच्यरुच्यात्मको हि परिणाम सम्यग्मिथ्यात्वमिति।

[अब भावका कथन करते हैं—मिथ्यादृष्टि यह औदयिक भाव है क्योकि मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमे होता है। सासादनसम्यग्दृष्टि यह पारिणामिक भाव है।

शंका—अनन्तानुबन्धि क्रोध आदि कषायके उदयमे सासादन गुणस्थान प्रकट होता है तो इसे औदयिक क्यो नही कहते?

उत्तर—उसकी यहाँ विवक्षा नही है। दर्शनमोहकी अपेक्षासे ही मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानोमे भाव बतलाना इष्ट है अतः सासादनमे सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहकी तीनो प्रकृतियोका उदय, क्षय और क्षयोपशमका अभाव होनेसे पारिणामिक भाव कहा है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक भाव है।

शङ्का—सर्वघातिप्रकृतियो के उदयके अभावमे और देशघाती प्रकृतियोके उदयमे जो भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिको देशघातिपना तो सभव नही हैं क्योकि आगममे उसे सर्वघाती कहा है ?

उत्तर—ऐसा कहना युक्त नही है, उपचारसे सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृतिका देशघातिपना भी सम्भव है। उपचार का निमित्त है एक देशसे सम्यक्त्वका घाती होना। मिथ्यात्वप्रकृतिकी तरह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके द्वारा समस्त सम्यक्त्वरूप और मिथ्यात्वरूप-का घात सम्भव नही है। सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोमे रुचिका भी अश रहता है। सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोमे रुचि और अरुचिरूप परिणामको सम्यग्मिथ्यात्व कहते है।]

§. 148

63.11 अल्पबहुत्वम्। उपशमकानामितरगुणस्थान-वर्तिभ्योऽल्पत्वात् प्रथमतोऽभिधानम्। तत्रापि त्रय उपशमकाः सकषायत्वादुपशान्तकषायेभ्यो भेदेन निर्दिष्टाः। प्रवेशेन तुल्यसख्या. सर्वेऽप्येते षोडशादि-सख्या। त्रय क्षपका सख्येयगुणा उपशमकेभ्यो द्विगुणा इत्येवमादिसख्या सख्याविचारे विचारितमिह द्रष्टव्यम्। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसयता विशेषाधिकास्त-त्सयमयुक्तानामुपशमकानामिव क्षपकाणामपि ग्रह-णात्। सयतासयताना नास्त्यल्पबहुत्वमेकगुणस्थान-वर्तित्वात् सयतानामिव गुणस्थानभेदासभवादिति।

[उपशमक उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाले अन्य गुणस्थानवर्ती जीवोसे अल्प होते है इसलिए उनका प्रथम कथन किया है। उनमे भी तीन उपशमकोको कषायसहित होनेके कारण उपशान्तकषायोसे भिन्न निर्दिष्ट किया है। प्रवेशकी अपेक्षा इन सभीकी सख्या सोलह आदि समान है। तीन क्षपक सख्यातगुने हैं, उपशमकोसे दूने हैं इत्यादि सख्याका सख्याविचारमे विचार किया है उसे ही यहाँ देख लेना चाहिए। सूक्ष्मसाम्पराय सयमवाले विशेष हैं क्योकि सूक्ष्म-साम्पराय सयम से युक्त उपशमकोकी तरह क्षपकोको भी ग्रहण किया है। सयतासयतोमे अल्पबहुत्व नही है क्योकि उनके एक ही गुणस्थान होता है, सयतोकी तरह उनमे गुणस्थानभेद नही है।]

§. 164

मति······॥9॥

67.13 अवाग्धानात् अधस्ताद् बहुतरविषयग्रहणात्। अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा रूपिलक्षणविविक्तविषय-त्वाद्वा।

68.2 स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते यथा परमनस्थितमर्थं मनसा परिविद्यत (परिच्छिद्यत) इति।

68.3 यदर्थं केवन्ते सेवा कुर्वन्ति। कस्येति चेत्, केवलस्यैव सपन्नतत्प्राप्तिपरिज्ञाततदुपायस्यार्हदा-देर्वा।

68 6 सुगमत्वात् सुखप्राप्यत्वात्।

68 7 मतिश्रुतपद्धति —मतिश्रुतानुपरिपाटी। तस्या वचनेन श्रुताया. सकृत्स्वरूपसवेदनमात्रत्व परिचि-तत्वम्। अशेषविशेषत. पुनश्चेतसि तत्स्वरूपपरि-भावनमनुभूतत्वम्।

बहुबहुविध····॥16॥

§. 195

81 5 अपरेषां निस्सृत इति पाठः। तत्र द्वि. सकार-निर्देशस्यायमर्थो मयूरस्य कुररस्य वेति स्वतः परोपः देशमन्तरेणैव कश्चित् प्रतिपद्यते। येषा तु निसृत इति पाठस्तेषा 'अपर:' प्रतिपत्तौ स्वरूपमेव शब्दमेवाश्रित्य विशेषरूपतयानवधार्य प्रतिपद्यत इति व्याख्या।

§. 200

व्यजनस्य···॥18॥

83.1 व्यञ्जन शब्दादिजात शब्दादिसघातः।
83 3 अन्तरेणैयकार—एवकार विना।

§. 202

न चक्षु······॥19॥

84 2 अविदिक्क—यन्मुखदिशम्।

§. 206

श्रुतं मतिपूर्वं·······॥20॥

85.4 उपादाय—आश्रित्य।
85.5 पर्यवदाते क्षेमे।

§. 207

86.2 द्रव्यादिसामान्यार्पणात्—द्रव्यक्षेकालभावार्पणात्।

86.3 उत्प्रेक्षित—कृतम्। तेषामेव—द्रव्यादीनामेव।

§. 208

86.8 सम्यक्त्वस्य—समीचीनत्वस्य। ज्ञाने तदपेक्षत्वात्-सम्यक्त्वापेक्षत्वात्। तदुक्तम्—

[1]कारणकज्जविहाणं दीवपयासाण जुगवजम्मे वि।
जुगवुप्पण्णं पि तहा हेऊ णाणस्स सम्मत्तं॥

§. 209

86.11 आहितो धृत स्थापितो वा। कृतसंगीति.—कृतसंकेत। घट इत्युक्ते घकार-टकार-विसर्जनीयात्मकं शब्दं मतिज्ञानेन प्रतिपद्यते। ततो घटशब्दात् घटाद्यर्थं श्रुतज्ञानेन तस्मादपि घटार्थाज्जलधारणादिकार्यम्। तथा चक्षुरादिविषयाद्धूमादे। तत्रापि धूमदर्शन मतिज्ञान तस्मादग्निविषय ज्ञान श्रुतज्ञानम्। तस्मादपि दाहादिकार्यज्ञान श्रुतमिति।

§. 211

87.11 आरातीयोऽवान्तरः।

§. 212

88.3 व्याक्रियता—व्युत्पाद्यताम्।

§. 213

भवप्रत्यय······॥21॥

89.7 प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिरागमतः। तथाहि, देवाना तावत्—

सक्कीसाणा पढमं वोच्चं[2] च सणक्कुमारमाहिंदा।
बह्मालांतव तइयं सुक्कसहस्सारया चउत्थीओ॥
पचम माणदपाणद छट्ठीओ आरणाच्चुदाय पस्संति।
णवगेवेज्जा सत्तम[3] माणुत्तरा सव्वलोयं तु॥

तथा नारकाणा—

रयणप्पहाए जोयणमेगं ओहिविसओ मुणेयव्वो।
पुढवीदो पुढवीदो गाउदयद्धं[4] परिहरेज्जा॥

[अवधिज्ञानकी हीनाधिकता आगमसे जाननी चाहिए। जो इस प्रकार है—देवोमे सौधर्म-ऐशान स्वर्गके देव पहली पृथिवीपर्यन्त, सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्गके देव दूसरी पृथिवीपर्यन्त, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लान्तव-कापिष्ठ स्वर्गके देव तीसरी पृथिवीपर्यन्त, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार स्वर्गके देव चतुर्थ पृथिवीपर्यन्त, आनत - प्राणत स्वर्गके देव पाँचवी पृथिवीपर्यन्त, आरण-अच्युत स्वर्गके देव छठी पृथिवीपर्यन्त, नवग्रैवेयकोंके देव सातवी पृथिवीपर्यन्त और अनुदिश-अनुत्तरवासी सर्वलोकको जानते हैं। तथा नारकोमे रत्नप्रभा पृथिवीमे एक योजन क्षेत्र अवधिज्ञानका विषय है। आगे प्रत्येक पृथिवीमे आधा-आधा कोस कम करते जाना चाहिए।

§ 215

क्षयोपशमनिमित्त ······॥22॥

90.2 देशघातिस्पर्धकाना किं पुन. स्पर्धकम् इति चेत्, कर्मपुद्गल-शक्तिना क्रमवृद्धि क्रमहानिश्च स्पर्धकम्। शान्त—उपशान्त। उन्मुग्धेत्यादि, उन्मुग्धस्य विवेकपराङ्मुखस्य, प्रश्ने सति आदेशिपुरुषवचन यथा तत्रैवातिपतति नाभिहितेऽर्थे तेनाग्रे प्रवर्तते। लिङ्गवत्—लाञ्छनवत्।

रूपि······॥27॥

---

1. कारणकार्यविधान समकाल जायमानयोरपि हि। दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥—पुरुषार्थ०, 34। 2. विदियं···।—मूलाचार 1148। 3. ···सत्तमि अणुदिस अणुत्तराय लोगं तु॥—मूलाचार 1149। 4. गाऊ अद्धद्ध परिहाणी॥—मूलाचार, 1152।

न च पुद्गलद्रव्यसबन्धजीवानां रूपित्वाभिधाने प्रवचनविरोध । तत्रापि तेषा तथाभिधानात् । उक्तञ्च—

[1]'बध पडि एयत्त लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयत्तो हवदि जीवाणं ॥'

नैगम · · ॥33॥

वस्तुनि—जीवादौ। अनेकात्मन्यनेकरूपे। अविरोधेन-प्रतीत्यनतिक्रमेण हेत्वर्पणात्—द्रव्यपर्यायार्पणात् । साध्यविशेषस्य-नित्यत्वादेः । याथात्म्यप्रापणप्रवण-प्रयोगो यथावस्थितस्वरूपेण प्रदर्शनसमर्थव्यापारो नयो वस्त्वेक-देशग्राही ज्ञातुरभिप्राय । उक्त च—

'[2]अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
स्यान्नयोऽर्थान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतेः ॥'

अनभिनिवृत्तार्थ.—अनिष्पन्नार्थ. ।

उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वात् । नैगमात् खलु सग्रहोऽल्पविषयः, सन्मात्रग्राहित्वात्, नैगमस्तु भावाभाव-विषयत्वाद् वहुविषय. । यथैव हि भावे सकल्पस्था-भावेऽपि । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । अर्थमात्र·—प्रयोजनलेश ।

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्त. ।

औपशमिकक्षायिकौ · ·॥1॥

§ 253

107·10 औपशमिकमादौ लभ्यते । तदुक्तम्—

'पढमप्पढमं णियदं पढम विदियं च सव्वकालेसु ।
खाइयसम्मत्तं पुण जत्थ जिणा केवलीकाले ।''

द्रव्यत जीवत. । ससारिक्षायिकसम्यग्दृष्टिजीवाना तत औपशमिकसम्यग्दृष्टिजीवेभ्योऽसख्येयगुणत्वात् ।

संसारिण.···· ·॥10॥

§. 275

119 3 नोकर्मपरिवर्तनम्—औदारिकवैक्रियिकाहारकलक्षणानां त्रयाणा शरीराणामाहारशरीरेन्द्रियानप्राणभाषामनोलक्षणषट्पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकजीवेन एकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्धादिस्वरूपैस्तीव्रमन्द मध्यभावेन चेति । तेषा फलदानसामर्थ्यस्वरूपनिरूपणम् । तेषामल्पकालत्वात् । द्वितीयादिसमयेषु यथावस्थितास्तीव्रादिभावेन स्थिता निर्जीर्णा फलमनुभूय त्यक्ताः । पश्चाद्ये कदाचनापि । शरीरत्रयादिरूपतया न गृहीतास्तानेवागृहीतान् गृहीत्वा त्यजत्यवान्तरे स पूर्वान् मिश्रकाश्च गृहीतानपरिगणय्य यावत्तेषामेवानन्तवारत्वरत्व पश्चादेकवार मध्ये मिश्रकान् स्वगृहीतानादाय त्यजति । पुनरप्यगृहीतानेवानन्तवारानादाय त्यजति । पुनरप्येकवार मिश्रकानेव तावद्यावन्मिश्रकाणामप्यनन्तवारत्व पश्चाद् गृहीतानेवैकवारमादाय त्यजति । अनेनोक्तविधिनाऽरगर्तभ्रमणन्यानेन मिश्रकाननन्तवारान् गृहीत्वा गृहीतानेवादाय त्यजति । यावत्तेषामप्यनन्तवारत्व पश्चात्त एव ये प्रथमतो गृहीतास्तेनैव स्निग्धादितीव्रादिप्रकारेण तस्यैव नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत् समुदित नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते । तदेवार्द्धितमर्धपुद्गलावर्त इति । कर्मद्रव्यपरिवर्तनं संसारयोग्यं वहुस्थितिकं कर्म वध्नाति । तस्यापक्वपाचनलक्षणोदीरणापेक्षया समयाधिकामावलिकामतीत्येत्युक्तम् । पूर्ववत् प्रक्रिया द्रष्टव्या ।

§ 276

119 13 क्षेत्रपरिवर्तनम् । अनन्तमानावच्छिन्नवनस्पतिकायाः साधारणशरीराहारोच्छ्वासनि श्वासमरणोत्पादा निगोता. । जघन्यावगाहप्रतिपादनार्थं सूक्ष्म-अपर्याप्तकविशेषणम् । तेषामपि परस्परतः तरतमभावसद्भावात् सर्वजघन्यप्रदेशशरीरत्वविशेषणम् । स इत्थमूतो जीवो मेरोरधोभागे गोस्तनाकाराष्टलोकमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्न. । सर्वजघन्यप्रदेशशरीरस्याष्टप्रदेशव्यापित्व विरुद्धमिति चेत् न, तच्छरीरस्यासंख्याताकाशप्रदेशावगाहित्वात् । क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृत. स

1. सर्वार्थसिद्धिमे उद्धृत । 2 अकलकदेवकृत अष्टशतीमे उद्धृत, अष्टस०, पृ० 290 ।

एव पुनस्तेनैव सर्वजघन्यशरीराष्टलोकमध्यप्रदेशावगाहेन द्विरुत्पन्नो निरन्तरम् । अन्यत्रोत्पद्य वा तत्रैवाधिकामवगाहेन वा उत्पद्यमान न गणयित्वा तथा त्रिस्तथा चतुरिति एव यावतो विस्तारोत्सेधावगाहत समचतुरस्रोत्सेधागुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाश - प्रदेशास्तावतो वारान् तत्रैवोत्पद्य पुनर्व्याप्तक्षेत्रापरित्यागेनाभिनवैकैकप्रदेशादिकावगाहेनैव सर्वलोकव्याप्ति. । नन्वेवं लोकपरिमाण तत् शरीर स्यादिति चेत् न, पूर्वपूर्वव्याप्ताकाशप्रदेशपरित्यागेन तद् व्याप्त्यभ्युपगमात् ।

§. 277

120.5 कालपरिवर्तनम् । प्रथमद्वितीयाद्युत्सर्पिणीना क्रमेण प्रथमद्वितीयादिसमयेषूत्पद्यते यावद्दशसागरोपमकोटीकोटिपरिमाणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता भवति । तथा तत्परिमाणावसर्पिणी च । एव मरणनैरन्तर्यमपि ज्ञेयम् । क्रमातिक्रमेणोत्पन्नस्योत्पत्तिमरणे न परिगण्येते ।

§. 279

121.6 भावपरिवर्तनम् । ज्ञानावरणप्रकृतेराद्यत्वात्तामधिकृत्योच्यते । पञ्चेन्द्रियादिविशेषेण विशिष्टो मिथ्यादृष्टिरेवैकविधा सर्वजघन्यां स्थितिं बध्नातीति तस्य सा स्वयोग्येत्युच्यते । सागरोपमैककोट्या उपरिकोटीकोट्या मध्यमन्त कोटीकोटीत्युच्यते । कषायाध्यवसायस्थानानि असंख्यातलोकमानावच्छिन्नानि षट्स्थानानि अनन्तभागवृद्ध्यसंख्यातभागवृद्धि-संख्यातभागवृद्धि-सख्यातगुणवृद्ध्यसंख्यातगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरूपाणि तेषु पतितानि तद्वृद्ध्य वृद्धिं गतानि । अनेन तेषां न्यूनाधिकत्वं सूचितम् । तानीत्थंभूतानि कषायाध्यवसायस्थानानि तस्य मिथ्यादृष्टिजीवस्य तत्स्थितिं बध्नतो योग्यानि भवन्ति । तेषां मध्ये सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानमुक्तस्थितियोग्यकषा - याध्यवसायस्थानेभ्योऽतिशयेन मन्दकषायाध्यवसायस्थानं जघन्यत्वमुत्कृष्ट च स्वरूपं तेषां स्थितिकार्यं प्रति सर्वेषा विशेषाभावात् । तथाविधां स्थिति कुर्वत्तदेव कषायाध्यवसायस्थानं कर्मणा फलदानसामर्थ्यलक्षणानुभवान्नाना करोतीति तन्निमित्तानीत्युच्यते । 'जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि' इत्यभिधानात् । अतस्तदेव जघन्यनानाशक्तिविशेषैर्युक्तमनुभवाध्यवसायस्थानान्यसख्येय - लोकप्रमितानि विदधते । सर्वजघन्यमेतत्त्रितयमेवमास्कन्दतः कर्तृत्वेन व्रजतस्तद्योग्य तदनुकूल सर्वजघन्ययोगस्थान भवति । योगादीना च अन्तर्मुहूर्तकालत्वाद्योगान्तर कषायान्तर च प्रतिपद्य कदाचित् कालविशेषे प्रथमसर्वजघन्ययोगस्थानात्तेषामेव सर्वजघन्यस्थित्यादीना सम्बन्धि द्वितीयमसख्येयभागवृद्धियुक्त योगस्थानं भवति । एव चतु स्थानपतितानि । अनन्तभागानन्तगुणवृद्धिहीनेतरचतु स्थानवृद्ध्या वृद्धिं नीतानि तावद् भवन्ति यावच्छ्रेण्यसख्येयभागप्रमितानि । एवं सर्वजघन्यानुभवाध्यवसायस्थाने श्रेण्यसख्येयभागपरिमितेषु योगस्थानेषु सत्सु सर्वजघन्यस्थिति-कषायाध्यवसायस्थानयुक्तस्यैव द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति । तस्यापि योगस्थानानि चतु स्थानपतितानि । तानि श्रेण्यसख्येभाग परिमितानि पूर्ववद् वेदितव्यानि । एव तृतीयाद्यनुभवस्थानेषु आ असख्येयलोकपरिसमाप्तेरय क्रमो वेदितव्यः । एव तामेव सर्वजघन्या स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीय कषायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि असंख्यातलोकपरिमितानि प्रत्येक चतु:स्थानपतितश्रेण्यसख्येयभागपरिमितयोगस्थानयुक्तानि पूर्ववद् वेदितव्यानि । उक्तसर्वजघन्यस्थितेरैकैकसमयाधिकक्रमेण वृद्धिं गच्छन्त्यास्त्रिशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिमितोत्कृष्टस्थितिः यावत् कषायानुभवयोगस्थानानि प्रत्येकमुदाहृतक्रमेण वेदितव्यानि ।

§. 284

संसारिणस्त्रस···· ·।।12।।

124.5 अभ्यर्हितत्वात् पूज्यत्वात् ।

§. 285

124.7 विभज्यानुपूर्वी उल्लङ्घ्यानुपूर्वी ।

§. 286

124.10 पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तम् । तथाहि—

पुढवी पुढवीकाओ पुढवीकाया य पुढविजीवा य ।
साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ।।

पञ्चेन्द्रियाणि······॥15॥

126.4 कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाद-पाणि-पायूपस्थान-लक्षणानाम्।

§. 294

निर्वृत्ति ······॥16॥

127.5 उत्सेधांगुलपरिभाषानिष्पन्नं यस्यैकस्मिन् प्रमाणांगुले पञ्चशतानि भवन्ति।

§. 316

विग्रहवती······॥28॥

135.2 सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे सर्वोत्कृष्टविग्रहस्त्रिवक्रता, तस्य निमित्तं यन्निष्कुटक्षेत्रं वक्रक्षेत्रम्।

§. 320

एकं द्वौ······॥30॥

135.13 यथेच्छातिसर्गः यथेष्टप्रवृत्तिः।

§. 322

संमूर्छ······॥31॥

136.6 उपेत्य—गत्वा पद्यते—उत्पद्यते।

§. 324

सचित्त······॥32॥

138.3 तद्भेदाश्चतुरशीतिसहस्रसंख्या। तथाहि—नित्येतरनिगोतस्य पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां च प्रत्येकं सप्त सप्त योनिलक्षाणि। वनस्पतिकायिकानां दश। द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वे द्वे। सुरनारकतिरश्चां प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि। मनुष्याणां चतुर्दशेति॥ तदुक्तम्—

'णिच्चिदरधादु सत्तय तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुर-णिरय-तिरिय चउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा॥'

[बारसअणु० गा० 35]

औदारिक······॥36॥

§. 331

139.12 अष्टगुणैश्वर्ययोगात् अणिमा-महिमा-लघिमा-प्राकाम्य-प्राप्तीशित्व-वशित्व-कामरूपित्वलक्षणात्।

प्रदेशतो······॥38॥

§. 335

140.12 को गुणाकारः। पल्योपमासंख्येयभागः। तथाहि—औदारिकात् पल्योपमासंख्येयभागाधिकं वैक्रियिकं तस्मादप्याहारकम्।

अनन्तगुणे······॥39॥

§. 337

141.3 को गुणकारोऽभव्यानन्तगुणः सिद्धानन्तभागः। अत्रोभयोरेकार्थत्वं यदेव ह्यभव्यानामनन्तगुणत्वं तदेव सिद्धानामनन्तभागत्वमिति। अनेनाजघन्योत्कृष्टं चानन्तमानमत्र द्रष्टव्यम्।

निरुपभोगः······॥44॥

§. 347

143.3 इन्द्रियप्रणालिकया इन्द्रियद्वारेण। इन्द्रियलब्धी-इन्द्रियशक्ती।

शुभं······॥49॥

§. 357

145.9 प्रत्याम्नायः पुरभिधानम्।

§. 365

148.1 चरमदेहस्योत्तमविशेषणात्तीर्थंकरदेहो गृह्यते। ततोऽन्येषां चरमदेहानामपि गुरुदत्तपाण्डवादीनामग्न्यादिना मरणदर्शनात्। उक्तेभ्योऽन्येषां विषादिनापवर्त्यमायुः उक्तं च—

'विसवेयणरत्तक्खय-भय सत्थग्गहणसंकिलेसेहिं।
आहारुस्सासाण णिरोहओ छिज्जए आऊ।'

—[गो० कर्म० गा० 57]

[चरम शरीरके साथ उत्तम विशेषण लगाने से तीर्थंकरका शरीर ग्रहण किया जाता है क्योंकि चरमशरीरी भी गुरुदत्त, पाण्डवो आदिका अग्नि आदिसे मरण देखा गया है। इनसे जो अतिरिक्त

होते हैं उनकी आयुका विषादिके द्वारा घात होता है। कहा है—विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुकनेसे आयु छिद जाती है] ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

तासु त्रिंश ··· ॥2॥

§. 369

152.7 इतरो विशेषो नरकप्रस्ताराणां रचना-प्रमाणादिलक्षणो लोकनुयोगतः लोकानुयोगनाम्न आगमविशेषात् ।

परम्परो ··· ॥4॥

§. 372

154.7 भिण्डिमवालो—गोफणा ।

सक्लिष्टा ··· ॥5॥

§. 375

155.6 कूटशाल्मलि. कृत्रिमशाल्मलिः । अम्बरीषो भ्राष्ट्रः ।

तद्विभाजिनः ··· ॥11॥

§. 387

159.9 क्षुद्रहिमवान् लघुहिमवान् । हरिवर्षस्य हरिक्षेत्रस्य ।

हेमार्जुन ··· ॥12॥

§. 389

160.2 चीनपट्टं—शुभ्रपट्टोलकम् ।

पद्म ····॥14॥

§. 395

161.2 प्राक् पूर्वः । प्रत्यङ् पश्चिमः । उदक् उत्तरः । अवाक् दक्षिणः ।

§. 399

161.10 जलतलाज्जलोपरितनभागात् तावद्‌बहुल-पत्रप्रचय क्रोशद्वयस्थौल्योपेतपत्रप्रचयम् ।

द्विर्धातकी ··· ॥33॥

§. 430

169.13 टंकच्छिन्नतीर्थः टंकछिन्नतटः ।

भरते ··· ॥37॥

§. 437

173.8 नन्वशुभकर्मणः सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनमित्याद्युक्तं, स्वयंभूरमणजलधिज-मत्स्यानां सप्तमनरकप्रापकाशुभकर्मारम्भकत्वा-भावप्रसगात् । तदयुक्तं तत्परभागस्य कर्मभूमित्वात् । तथाहि—स्वयंभूरमणद्वीपमध्ये तद्द्वीपार्धकारी मानु-षोत्तराकारः स्वयंप्रभनगवरो नाम नगो व्यवस्थित-स्तस्यार्वाग्भाग आमानुषोत्तराद् भोगभूमिभागः । तत्र चतुर्गुणस्थानवर्तिनस्तिर्यञ्चः सन्ति । ततः परतः आलोकान्तात् कर्मभूमिभागः । तत्र पञ्चगुणस्थान-वर्तिनः प्रकृष्टशुभाशुभकर्मारम्भकास्ते सन्तीति कर्म-भूमित्वम् । कथमन्यथा तत्र पूर्वकोट्यायुरर्वाग्भागे चासंख्येयवर्षायुरिति । मनुष्यक्षेत्रप्रधानतयाभिधा-नाद्वा न दोषः ।

[शंका—सातवें नरकमे ले जानेवाले अशुभकर्मका उपार्जन भरत आदिमे ही होता है यह कथन मिथ्या होनेसे अयुक्त है । क्योकि ऐसा कहनेसे स्वयम्भूरमण समुद्रमे वर्तमान महामत्स्यके सातवें नरकमे ले जाने-वाले अशुभ कर्मके उपार्जन के अभावका प्रसग आता है ।

उत्तर—ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि स्वयंभू-रमणका पर भाग कर्मभूमि है । इसका खुलासा इस प्रकार है—स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें उस द्वीपको दो भागोमे विभाजित करनेवाला, मनुपोत्तर पर्वतके आकार स्वयंप्रभ नामक पर्वत स्थित है। उसके पूर्वभागमें मानुपोत्तर पर्यन्त भोगभूमि है। वहाँ चारगुणस्थानवाले तिर्यंच रहते हैं । स्वयंप्रभ पर्वतसे आगेवाले भागमें लोकान्त तक कर्मभूमि है । वहाँ पाँच गुणस्थानवाले प्रकृष्ट शुभ और अशुभ

कर्मोका उपार्जन करनेवाले तिर्यंच रहते हैं अतः वहाँ कर्मभूमि है। यदि ऐसा न होता तो वहाँ पूर्वकोटिकी आयु और उससे पूर्वके भागमे असख्यात वर्षकी आयु कैसे होती। अथवा उक्त कथन मनुष्य-क्षेत्रकी प्रधानतासे किया है इसलिए कोई दोष नही है।]

नृस्थिती ··· ॥38॥

§. 439

174.9 उत्सर्पिण्या अन्त्यचक्रवर्तिनः अवसर्पिण्याश्च प्रथमचक्रवर्तिन. अंगुलप्रमाणं प्रमाणांगुलम्। अविकवालाः—मेषकेशाः।

इति तृतीयोऽध्यायः।

इन्द्र ··· ॥4॥

§. 449

179.9 अर्थंचरो अर्थचिन्तकः। आरक्षिकः कोट्ट-पालः। पदात्यादीनि सप्तानीकानि हस्त्यश्वरथपदा-तिवृषगन्धर्व-नर्तकीलक्षणानि। उत्सर्गेण सामान्येन।

पूर्व ··· ॥6॥

§. 463

1809 सप्तेपर्णः—पर्वणि पर्वणि सप्त पर्णानि यस्यासौ सप्तपर्णो वृक्षविशेषः। तथा अष्टापदः—पङ्क्तौ पङ्क्तौ अष्टौ पदानि यस्यासौ अष्टापदो द्यूतफलक.।

तत्कृतः ··· ॥14॥

§. 469

185.6 क्रियाविशेषपरिच्छिन्न—आदित्यगमनेन परिच्छिन्नः। अन्यस्य जात्यादेः अपरिच्छिन्नस्य कालनैयत्यैनानवधारितस्य परिच्छेदहेतुः।

सौधर्म ··· ॥19॥

§. 479

189.3 सर्वमन्यद् विमानरचना प्रमाणादिकं लोकानुवेदाद्वेदितव्यम्।

स्थिति ··· ॥20॥

वसन वस्त्रं।

गति ··· ॥21॥

'दो दो चउ चउ दो दो तिय तिय चोद्दस य अंग उस्सेहो।
सत्त छप्पं च चउरो हत्थादो अद्धद्ध हीणादो॥'

पीत ··· ॥22॥

औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं यथा[1] द्रुतायाः तपरकरणे मध्य-मविलम्वितयोरुपसंख्यानमिति। भरते हि द्रुतरीतिः लक्षणसूत्रं 'द्रुतौ वैस्त' इति। तत्र द्रुतोर्वैरिति सिद्धे तपरकरणं व्यर्थमतस्तस्यां लक्षणसूत्रे तपकरणे मध्यविलम्वितयोरुपसंख्यानसंग्रहो भवति। अत्र च यथोत्तरपदिक ह्रस्वत्वमेवं पीतपद्मादावपि द्रष्टव्यम्।

इति चतुर्थोऽध्याय.।

अजीव ··· ॥1॥

§. 527

202.3 जीवलक्षणाभावमुखेन जीवलक्षणाभाव-द्वारेण।

द्रव्याणि ··· ॥2॥

§. 529

202 9 गुणसंद्रावो गुणसंघातः।

§ 530

203.5 अद्यावाधार्थं (अध्यापरोपणार्थं) समुच्चयार्थम्

जीवाश्च ··· ॥3॥

---

1. पा० महाभा० 1।1।9।69।

§. 531

204.6 तेषामपि वायुमनःपुद्गलानामपि, तदुपपत्तेः रूपादिमत्कार्योपपत्तेः ।

रूपिणः ··· ॥5॥

§. 535

206.4 तद्विकल्प. स्कन्धपरमाणुरूपपुद्गलभेद. । उपरिष्टात् अग्रे ।

आकाशस्य ··· ॥9॥

§. 543

209.3 पूर्ववद् धर्मादीनामजघन्योत्कृष्टासंख्येयप्रदेशवत् अस्याप्याकाशस्यापि अजघन्योत्कृष्टानन्तप्रदेशकल्पना अवसेया ।

लोकाकाशे ··· ॥12॥

एवंभूतनयापेक्षया निश्चयनयापेक्षया ।

एक प्रदेश ··· ॥14॥

§. 557

212.10 अविरोधेनावरोधः अविरोधेनावस्थानम् ।

प्रदेश ··· ॥16॥

§. 557

214.3 मानिका ढक्कणिका ।

गति ··· ॥17॥

§. 559

215.1 पृथिवीधातुरिव-ददातीति (दधातीति) शि (?) धातुः आधारः । पृथिव्येव धातु पृथिवीधातुरिति ।

शरीर ··· ॥19॥

§. 563

219.5 मूर्तिमता श्रोत्रेण ग्रहण मूर्तिमता भीत्यादिनाऽवरोधकः प्रतिवन्धः मूर्तिमतश्च श्रोत्रस्य काहलादिशब्देन व्याघातो वाधिर्यादिलक्षणः। मूर्तिमता प्रतिकूलवायुना वा शब्दस्य व्याघातो विवक्षितदेशे गच्छतो व्यावर्तनम् । अभिभवः श्रोत्रस्य झटिति शब्दप्रतिपत्तिजननसामर्थ्यखण्डन घण्टादिशब्देन क्रियते । तिर्यग्वातेन वा शब्दस्य तथा तज्जननसामर्थ्यखण्डनं भेर्यादिशब्दैर्वा मशकादिना स्वरूपाभिभव. । साचिव्यं सहायत्वम् ।

स्पर्शरस ··· ॥23॥

§. 570

224.2 त एते स्पर्शादीना मूलभेदाः प्रत्येकं द्वित्र्यादिसयोगेन सख्येयासख्येयानन्ताश्च भवन्ति ।

शब्दबन्ध ··· ॥4॥

§. 570

224.12 अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामेकेन्द्रियापेक्षया यदतिशयज्ञान तस्य स्वरूपप्रतिपादनहेतु । तथाहि—तेषा शब्दविषय विशिष्ट ज्ञानमस्ति शब्दकरणान्यथानुपपत्ते· एकेन्द्रियाणा तु ज्ञानमात्र नातिशयज्ञान तत्करणाभावात् । अथवा अतिशयज्ञान केवलज्ञान तस्य स्वरूपप्रतिपादनहेतु· । अतिशयज्ञानवान् सर्वज्ञोऽनक्षरात्मकशब्देनार्थप्रतिपादकत्वात् । यस्तु नेत्य स न तथा, यथा रथ्यापुरुषः । उक्त च—

'नष्टो वर्णात्मको ध्वनि.' । इति । वलाहको—मेघः । पुष्कर.—पटहः। दर्दुरो रुजा (?) । सुघोषः किन्नरकः । जतु—लाक्षा ।

उत्पाद ··· ॥0॥

§. 584

229.14 समाधिवचनस्तादात्म्यवचन । युक्तशब्दो युजिर योग इत्यस्य त्यागेन 'युज् समाधौ' इत्यस्य ग्रहणात् ।

तद्भावा ··· ॥1॥

§. 586

230.6 तदेवेदमिति स्मरण तदेवेदमिति विकल्पः ।

बन्धेऽधिकौ ··· ॥7॥

§ 598

235.12 तृतीयमेव तार्तीयकम् । 'स्वार्थे तीयादिकण्' ।

कालश्च ··· ॥9॥

§. 602

239.11 पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयो व्यवहारनय ।

सोऽनन्त · · · ॥40॥

§. 604

242.1 परमनिरुद्धो बुद्ध्या अविभागभेदेन भेदित. ।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

काय · · · ॥1॥

§. 610

244.7 औदारिकादिसप्तविधः काय. औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणलक्षणो । मिश्रत्व च कायस्यापरिपूर्णत्वम् ।

शुभ · · · ॥3॥

§. 614

245 11 शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् । यथा उपोषितादे पठतो विश्रम्यतामिति वागादियोगस्य ।

सकषाय · · · ॥4॥

§ 616

246.7 ईरणमीर्या यमाह योग इति कायादिव्यापार इत्यर्थ । अस्यापि तात्पर्यमाह गतिरित्यर्थं । कायादिवर्गणालम्बी आत्मप्रदेशपरिस्पन्द इत्यर्थ.। सैव न कषायादिद्वारमास्तव मार्गो यस्य तत्तद्द्वारक कर्म ।

इन्द्रिय···॥5॥

§. 618

247.15 विशसन मारणम् ।

निवर्तना···॥9॥

§. 626

251.7 अनाभोगनिक्षेपः पुनरनालोकितस्वरूपस्योपकरणादिस्थापनम् ।

तत्प्रदोष · · ·॥10॥

§. 628

251.12 अनभिव्याहरत· । वचनमनुच्चारयतः ।

दुःखशोक ··· ॥11॥

§. 630

252 11 वैक्लव्यविशेषो दीनत्वविशेषः । आविलान्त करणस्य कलुषितान्तःकरणस्य । तीव्रानुशयो अतिशयेन पश्चात्ताप ।

§. 630

253.8 आस्थीयते (आस्तीर्यते) प्रतिज्ञायते ।

§. 630

253 14 न दु ख न सुखमित्यादि । चिकित्सिते हेतु — शस्त्रादि , स न दु ख सुखो वा दु.खरूप. सुखरूपो वा स्वरूपेण न भवति जडत्वात् । चिकित्साया तु युक्तस्य वैद्यादेर्यदि क्रोधादिरस्ति तदा दु ख स्यात् दुःखहेत्वधर्मोपार्जनत्वात् । एव मोक्षसाधने हेतुः उपवासलोचादिः, स स्वरूपेण दु खरूप सुखरूपो वा न भवति । यस्तु तेन युक्तो गुरुशिष्यादि स पूर्ववत् सुखदुःखरूपो वेदितव्यः क्रोधादिसद्भावासद्भावाभ्याम् ।

भूत · · ॥12॥

§ 632

254 9 अक्षीणाशयः—गृहाद्यविनिवृत्ताभिप्रायः । अवरोधः (अनुरोध)—स्वीकारः ।

कषायोदय · · · ॥14॥

§. 636

256.6 अतिसन्धानं—वंचनम् ।

§ 336

256 7 व्यपरोपणं विनाशनम् । पराङ्गनावस्कन्दः परभार्यापहार. ।

बह्वारम्भ ··· ॥15॥

§. 638

257.1 अजस्रं---अनवरतम् ।

अल्पारम्भ ··· ॥17॥

§. 642

257.11 सद्व्यासः···प्रपञ्चः ।

सरागसंयम··· ॥20॥

§. 648

258.11 चारकनिरोधवन्धनवद्धेपु चारकेण वन्धन विशेषेण निरोधवन्धनवद्धेषु—गाढवन्धनवद्धेपु ।

तद्विपरीतं ··· ॥23॥

§. 654

260 4 सभ्रमसद्भावोपनयन सभ्रम —आदर,
सद्भावेन—अमायया उप—समीपे गमनम् ।

दर्शनविशुद्धि ··· ॥24॥

§. 656

260.15 सत्कार पूजा। अनिगूहितवीर्यस्य प्रकटीकृतस्वसामर्थ्यस्य ।

261.5 प्रत्यूहे विघ्ने ।

इति षष्ठोऽध्याय ।

हिंसानृत ··· ॥1॥

§. 664

264.7 सभिन्नबुद्धिः विपरीतमति. ।

§. 664

265 4 संवरपरिकर्मत्वात्—संवरपरिकरत्वात् । कृतपरिकर्मा कृतानुष्ठान ।

हिंसादि ··· ॥9॥

§ 679

268 6 मिथ्याभ्याख्यान—मिथ्यावचनम् । वासितावचित.—हस्तिनीवचित ।

जगत्···॥ 12 ॥

§. 685

270 11 दुःख भोज भोज—दुःख भुक्त्वा भुक्त्वा ।

प्रमत्त ··· ॥13॥

§. 687

271 13 आवादेज्ज—आपतेत् । कुलिङ्गः सूक्ष्मजन्तु । त जोगमासेज्ज—पादयोगमासाद्य । मुच्छापरिग्गहोत्तिय-मूर्छापरिग्रह इति । अज्झप्पपमाणदो—अध्यात्मप्रमाणत । अन्त्य सकल्पानतिक्रमेणेत्यर्थः । तथा हिंसापीति ।

अगार्य ··· ॥19॥

§. 699

276.9 प्रतिश्रयार्थिभि —गृहार्थिभि ।

दिग्देशा ··· ॥31॥

§. 703

279 10 अवहितान्तःकरण —एकाग्रमनाः । शृगवेरमार्द्रकम् ।

मिथ्योपदश ··· ॥36॥

§ 712

284.2 पराकूत पराभिप्राय. ।

क्षेत्रवस्तु ·· ॥29॥

§ 715

285.9 क्षौम शुभ्रपटोलक । कौशेय तसरीचीर ।

§. 717

286.4 आविष्टाभिनन्धिः (आभिव्याभि) आविष्टाभिप्रायो लोभावेशात् । यथा मान्यसेटावम्पितेन केनचिच्छ्रावकेण क्षेत्रपरिमाण कृत दाग (धारा) लपनं मया न कर्तव्यमिमि । पश्चादुक्त-

यिन्यामनेन भाण्डेन महान् लाभ इति तदतिक्रम्य गच्छति।

§. 719

286.11 तदेवोभयं—प्रहासाशिष्टवागुभय दुष्टकायकर्मप्रयुक्तं भण्डिमाप्रदर्शककार्यव्यापारविशिष्ट । परत्र उपहसनीये प्राण्यन्तरे।

§. 721

287.12 क्षुदर्म्यादितत्वात्—बुभुक्षापीडितत्वात्।

§ 722

288.3 द्रवो वृष्यो वाभिषव—द्रवो रात्रिचतुःप्रहरैः क्लिन्न ओदनादिः। वृष्य इन्द्रियवलवर्धन मापविकारादि। दुष्पक्वस्य प्रासुकत्वात्तत्सेवने को दोष । इति चेदुच्यते दुष्पक्वोऽक्लिन्नस्तत्सेवने चोदरपीडादिप्रादुर्भावादग्न्यादिप्रज्वालने महानसयम इति तत्परिहारः श्रेयान।

§ 723

288.8 परव्यपदेशः कथमतीचार । इति चेदुच्यते, लोभावेशादतिथिवेलायामपि द्रव्योपाय परित्यक्तुमशक्नुवताऽन्यदानृहस्तेन दाप्यते इति।

§ 728

289.12 विधि प्रतिग्रहादिक्रम ।

[1]पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदगमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धीए णवविहं पुण्णं॥
—[वसु० श्रा० 224]

इति सप्तमोऽध्यायः।

§ 732

292.7 षट्वाय षड्गैरनिरायः। चत्वारो मनोयोगाः सत्यासत्योभयानुभयविकल्पात्। तथा वाग्योगाश्च। एव काययोगा औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रकार्मणभेदात् पञ्च। शुद्ध्यष्टकम् शुद्ध्या उपलक्षितमष्टक शुद्ध्यष्टकम्। किं पुनरष्टकमिति चेत्। मनोवाक्काय-भैक्षेर्यापथशयनासनविनयप्रतिष्ठापनलक्षणम्।

§ 734

293.6 जठराग्न्याशयात् जठराग्निवशात्। अहस्त अवाहु.। मिथ्यादर्शनाद्यावेशात् मिथ्यादर्शनाद्याग्रहात् आर्द्रीकृतस्य सकषायीकृतस्य। अविभागेन एकाकारेण।

§ 736

295.12 अपरिणद उपशान्तकषायः। उच्छिण्णः क्षीणकषायादि। अथवा अपरिणदो—नित्यैकान्तवादी। उच्छिण्ण—क्षणिकैकान्तवादी।

§. 749

300.10 सत्कमपेक्षया—कर्मसत्तामात्रापेक्षया। निरुत्सुकः पराङ्मुख.। शुभपरिणामनिरुद्धस्वरस—शुभपरिणामनिराकृतफलदानसामर्थ्यम्। सामिशुद्धस्वरस ईषत्प्रक्षालितसामर्थ्यम्।

§. 755

304.3 शरीरनिर्वृत्ति.—शरीरनिष्पत्तिः। अगोपाग: तत्राष्टावङ्गानि।

उक्त च—

णलया वाहू या तहा णियम्बपुट्ठी उरो य सीस च।
अट्ठेवदु अगाइं सेह[2] उवंगा दु देहस्स॥

कर्णनासिकानयनोत्तराधरौष्ठागुल्यादीन्युपाङ्गानि। न्यग्रोधो वटवृक्ष। स्वाति वल्मीक। हुण्डसस्थानमविच्छिन्नावयवमस्थानम्। असृक्पाटिका चिचा।

§. 755

305.8 स्वयकृतोद्बन्धन—उद्वेगाद् गले पाश बद्ध्वा मरणार्थं वृक्षादावलम्बनम्। मरुत्पतन—प्राणायातनिरोधन गिरिपतनं च।

---

1. वसु० श्रा०, 224। 2 देहे [illegible] ।—कर्म० गो०, गा० 28।

§. 755

305.13 साधारण शरीरमनन्तकायिकानाम्।

तदुक्तम्—

"[1]साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एद ॥
[2]गूढसिरसंधिपव्वं समभगमहीरुह च छिण्णरुहं।
साहारणं शरीर तव्विवरीयं च पत्तेय ॥"

§ 759

दान····॥13॥

308 3 भेदनिर्देश —षष्ठीनिर्देश ।

आदितस्तिसृणा ···॥14॥

§ 761

309.6 अन्येषामागमात् सप्रत्ययः। तथाहि—एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणामसज्ञिपर्याप्तकाना यथा-सख्य प्रत्येक त्रिगुणितसप्तविभक्त एक-पञ्चविंशति-पञ्चाशच्छतसहस्रसागरोपमाणि । तदुक्तम्—

'एइदिय वियलिदिय-असण्णिपज्जत्तयाण बोधव्वा।
एगं तह पणुवीसं पंचासं तह सयसहस्सं च॥
तिहयं सत्तविहत्त सायरसंखा ट्ठिदी एसा॥'

तेषा चापर्याप्तकानामियमेव स्थितिरेकेन्द्रियाणा पल्योपमासख्येयभागोना । शेषाणा सख्येयभागोना।

उक्त च—

अप्पजत्ताणं पुणो थावर वियलिंदियाणीणं।
ठिदि एसा परिहीणा पल्लासखेयसंखभागेहि॥
अतोकोडाकोडी सण्णी अपज्जत्तयस्स णायव्वा।
दंसणणाणावरणे वेदे तह अंतराये य॥'

[अन्य जीवोंके आगमसे जानना चाहिए। वह इस प्रकार है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असज्ञी पर्याप्तकोंके क्रमानुसार प्रत्येकके तीनसे गुणित और सातसे भाजित एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और हजार सागर प्रमाण स्थिति जाननी चाहिए। कहा भी है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकके तीनसे गुणित और सातसे भाजित एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण स्थिति जाननी चाहिए।

आशय यह है कि संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टिके मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण होता है किन्तु एकेन्द्रिय पर्याप्तकके एक सागर प्रमाण, दोइन्द्रिय पर्याप्तकके पचास सागर प्रमाण, तेइन्द्रिय पर्याप्तकके पचास सागर प्रमाण, चौइन्द्रिय पर्याप्तकके सौ सागर प्रमाण और असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तकके एक हजार सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। इसी अनुपातसे त्रैराशिक द्वारा इन जीवोंके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मका भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जाना जाता है। इन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। अतः तीस कोड़ाकोडी सागर मे सत्तर कोडाकोडी सागरसे भाग देकर एक, पच्चीस, पचास, सौ और एक हजार से गुणा करनेपर उक्त जीवोके इन कर्मोके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण निकलता है। इन्ही जीवोके अपर्याप्तक अवस्थामें यही स्थिति एकेन्द्रियोंके पल्योपमके असख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण तथा दोइन्द्रिय आदिके पल्यके सख्यातवें भाग कम पच्चीस सागर आदि प्रमाण बँधती है। कहा भी है—

अपर्याप्तक एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकी वही स्थिति पल्यके असख्यातवें भाग और सख्यातवें भाग कम जानना चाहिए तथा सज्ञी अपर्याप्तकके अन्तः-कोडाकोडी सागर प्रमाण जानना चाहिए।]

§ 763

सप्तति ···॥15॥

309.10 इतरेषा वयागम तथाहि—

एग पणवीसं पि य पचासं तह सय सहस्स च।
ताणं सायर सखा ठिदि एसा मोहणीयस्स॥

अय तु विशेषो मोहनीयस्येय स्थिति सप्तगुणाः सप्त विभक्ता च कर्तव्या। इयमेवापर्याप्तकाना पल्योपमासख्येयसख्येयभागोना पूर्ववत् प्रतिपत्तव्या।

1. गो० जी०, गा० 192। 2. वही गा० 187।

[मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति अन्य जीवोके आगमके अनुसार जानना चाहिए। वह इस प्रकार है—एकेन्द्रिय आदि जीवोके मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर होती है। इतना विशेष है कि मोहनीयकी इस स्थितिमे सातसे गुणा और सातसे भाग देना चाहिए। अपर्याप्तक जीवोके उक्त स्थिति पूर्ववत् पल्यके असख्यातवें भाग और सख्यातवें भाग कम जानना।]

विंशतिर्नाम • • • ॥6॥

§. 765

310.2 इतरेषा यथागमम्—या पूर्वं चतसृणा कर्मप्रकृतीना स्थितिरुक्ता सा न त्रिगुणा किन्तु द्विगुणा कर्तव्या ततो नामगोत्रयोर्भवति। शेष पूर्ववत्।
[अर्थात् पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवके नाम और गोत्र-कर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक सागरके सात भागोमे से दो भाग प्रमाण है। पर्याप्तक दो इन्द्रिय जीवके पच्चीस सागरके सात भागोमे से दो भाग है। पर्याप्तक तीन इन्द्रिय जीवके पचास सागरके सात भागोमे से दो भाग है। पर्याप्तक चार इन्द्रिय जीव के सौ सागर-के सात भागोमे से दो भाग है। असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके हजार सागरके सात भागोमे से दो भाग है। इनके जघन्य स्थिति पूर्ववत् पल्यके असख्यातवें भाग और सख्यातवें भाग कम जाननी चाहिए।]

त्रय • • • ॥7॥

§. 767

310 6 शेषाणामागमत, तथाहि—असज्ञिन स्थितिरायुष पल्योपमासख्येयभागः, तिर्यसज्ञी हि स्वर्गे नरके वा पल्योपमासख्येयभागमायुर्बध्नाति। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियास्तु पूर्वकोटिप्रमाण, पश्चाद्विदेहा-दावुत्पद्यन्ते।

[असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति पल्यके असख्यातवें भाग है क्योकि तिर्यंच असंज्ञी स्वर्ग या नरककी पल्योपमके असंख्यातवें भाग आयु का बन्ध करता है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव पूर्वकोटि प्रमाण आयुका बन्ध करते है। पीछे विदेह आदिमे उत्पन्न होते हैं।]

अपरा • • • ॥8॥

§. 769

310 10 सूक्ष्मसाम्पराये इति वाक्यशेषः।

विपाक: • • • ॥21॥

§ 774

311.12 स्वमुखेन मतिज्ञानावरण मतिज्ञानावरण-रूपेणैव। परमुखेन श्रुतज्ञानावरणरूपेणापि भुज्यते।

§ 775

312 1 प्रसख्यातोऽन्वर्थं। अप्रसख्यातोऽनन्वर्थं।

स यथा • • • ॥22॥

§ 776

312.3 दर्शनशक्त्युपरोधो—दर्शनशक्तिप्रच्छा-दनता।

ततश्च ॥23॥

§. 778

312.9 जातिविशेषावगूर्णिते एकेन्द्रियादिजीवविशेषैः सस्कृते। अनुभवोदयावलीस्रोत अनुभवोदयावली-प्रवाह।

नामप्रत्याय—॥24॥

§. 780

315 3 नामप्रत्ययाः कर्मकारणभूताः। ये पुद्गलै. कर्माणि प्रारभ्यन्ते त एव कृष्यन्ते नान्ये इति। एकक्षेत्रावगाहस्थिताः—जीव सलग्ना इत्यर्थः। पञ्चरस—मधुररसे लवणरसस्यान्तर्भावात्। स्पर्श-स्याष्टविधत्वात्कथ चतु स्पर्शास्ते, इति नाशङ्कनीय, शीतोष्णस्पर्शादीना विरोधिना सहभावाभावात्।

इत्यष्टमोऽध्यायः।

स गुप्ति ··· ॥2॥

§. 789

321.6 शीर्षोपहारो—मस्तकेन पूजा ।

उत्तम ·· ॥6॥

§ 797

323 4 मार्गणार्थं अन्वेषणार्थम् । धर्मोपबृंहणार्थं धर्मोपचयार्थम् ।

अनित्य ··· ॥7॥

§. 799

324.11 समुदित समुत्पन्नम् । अभिष्वगाभावात् अनुबन्धाभावात् । विनिपातो दुःखम् ।

§ 800

325 2 व्यसनोपनिपाते दु.खोपनिपाते ।

§ 801

325.14 निर्वेदो वैराग्यम् ।

§ 806

327 8 क्रमस्रुतजलाभिप्लवे—क्रमप्रविष्टजलेन नावो निमज्जते ।

§. 808

328 2 बहुमध्यप्रदेशे अतिशयेन मध्यप्रदेश. ।

§ 809

328 8 सरीसृप. करकेन्दुकः । दुरासदो दुष्प्राप ।

§. 810

329.2 नियताऽवश्यभाविनी ।

मार्गा ·· ॥8॥

§. 813

329.12 तन्मार्गपरिक्रमणपरिचयेन—जिनोपदिष्टमार्गानुशीलसबन्धेन ।

क्षुत्पिपासा ··· ॥9॥

§ 816

330 10 आमन उपवेशस्थापनम् । आवसथो गृहम् । महर्द्धि महिमानम् ।

§ 819

331.8 पुत्तिका मधुमक्षिका ।

§. 820

?31.11 जातरूपवत् जातिसुवर्णवत् । कुणप मृतकम् ।

§. 822

332.4 स्मित—ईषद्हसितम् ।

§. 823

332.6 अनूषित सेवितम् । सयमायतन यति ।

§ 824

333 1 चतुर्विधोपसर्ग देवमानवतिर्यगचेतनकृतोप-सर्गभेदात् ।

§. 825

333.5 व्यपगतासुवत् मृतकवत् ।

§ 826

333 8 मिथ्यादर्शनोद्दृप्त मिथ्यादर्शनोद्धत

§. 827

333 12 विशसन शस्त्रम् ।

§ 828

354 2 निस्सारीकृतमूर्ते कृशतरशरीरस्य ।

§ 829

334 6 वाचयमस्य मौनिन. । तत्समितस्य परिमित-भाषिण ।

§ 830

334.12 विरुद्धाहारस्य सकृदुपभोग नेवा, पुन पुनरुपभोग आसेवा पथ्यापथ्याहारसेवन वैषम्यम् ।

§ 832

335 5 नग्नतो—नग्न. । भिन्न—दुर्भिन्न (?) ।

§ 833

335.9 चिरोषितब्रह्मचर्यस्य चिरतपस्विन । प्रत्यग्रपूजा झटितिपूजा ।

§ 836

336.8 एवमसमादधानस्य एवमसमाहितचेतसः ।

एकादश ·· ॥11॥

§ 841

338.2 तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया चिन्ताकार्य-कर्माभावफलापेक्षया ।

ज्ञानावरणे ·· ॥13॥

§ 845

340 5 क्षायोपशमिकी श्रुतविपया प्रज्ञा अन्यस्मिन-वध्यावावरणे सति मद जनयति ।

सामायिक ॥18॥

§ 854

343 9 प्रमादेन कृतो योऽनर्थप्रवन्धो हिंसाद्य-व्रतानुष्ठान नम्य विलोपे सर्वथा परित्यागे सम्यगा-गमोक्तविधिना प्रतिक्रिया पुनर्व्रतारोपण छेदोपस्था-पना । छेदेन दिवसपक्षमासादिप्रव्रज्याहापनेन उपस्था-पना व्रतारोपणम् ।

अनशन ॥19॥

§ 856

345 6 शून्यागारादिविषयो य संकल्प तेन चित्त-स्यावरोधः [illegible] । दुःखतितिक्षा दुःखसहनम् । सुखानभिष्वङ्ग सुखासक्त्यभाव ।

§ 862

346 12 [illegible] । दशदोषवर्जितमा-लोचनम् । [illegible] उपकरणादिदानेन गुरुमनुकम्प्य आलोचयति, [illegible] वा । यल्लोकैर्दृष्टं तदेव वा, स्थूलमेव वा, सूक्ष्ममेव वा [illegible] वा । यादृ-शस्तस्य दोपस्तादृशो ममापीति । शब्दाकुलो वा यथा गुरुर्न शृणोति, बहुगुरुजनस्य वा । अव्युक्तस्य वा तद्दोषसेविनो वा । यास्त्वेवमालोचयनीति आलोचना-दोषा' । तदुक्तम्—

[1]आकंपिय अणुमाणिय ज दिट्ठ बादर च सुहुम च ।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजण अव्वत्त तस्सेवि ॥

अन्नपानाद्युपकरणस्य पूर्वं परित्यक्तस्य पश्चात् कुत-श्चित् कारणात् ससक्तस्य उपढौकितस्य प्राप्तस्येति यावत् । यद्विभजन विरतसेवन परित्याग इत्यर्थः । तदेव प्रायश्चित्तम् ।

ज्ञान ··· ॥23॥

§ 864

348 4 सबहुमान —बहुपूजासहितम् ।

आचार्यो ·· ॥24॥

§ 866

348.12 क्लिष्टशरीर'—पीडितशरीर । सस्त्यायः-सघात. ।

उत्तम ॥27॥

§ 872

350 12 हेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्व-सिद्धि.—तदुक्तम्—

[2]भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तर भाववदर्हतस्ते ।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थाङ्गममेयमन्यत् ॥

—[युक्त्यनुशा० 60]

निदान ··· ॥33॥

§ 884

353.1 तृतीयस्य—चतुर्थस्य ।

1. भगवती आरा० गा० 562 । 2. युक्त्यनुशा० श्लो० 60 ।

आज्ञा ··· ॥36॥

§. 890

354.8 हेतुदृष्टान्तोपरमे हेतुदृष्टान्ताभावे । गहनपदार्थश्रद्धानात्—अशेषविशेषतोऽस्मदादिबुद्ध्यगोचरपदार्थसंघातश्रद्धानात् । विमुखा. पराङ्मुखा ।

एकाश्रये ··· ॥41॥

§. 900

358 15 प्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेन प्राप्तश्रुतज्ञानपर्यवसानेन ।

वीचारो ··· ॥44॥

§. 906

358.15 द्रव्यपरमाणु—द्रव्यस्य सूक्ष्मत्वम । भावपरमाणु—पर्यायस्य सूक्ष्मत्वम् । अपर्याप्तबालोत्साहवत्—असमर्थबालोत्साहवत् । समूलतूल—तत्कारणभूतसूक्ष्मलोमेन सह । निरुपलेप—अकलङ्क । गभस्ति —किरण । मेघपञ्जरवि (नि) रोध —मेघपटलप्रच्छादनम् । घर्मरश्मि —आदित्य । आत्मन उपयोगातिशयस्य—व्यापारविशेषस्य । विशिष्टकरणस्य—विशिष्टानि दण्डकपाटादीनि करणानि यत्र । सामायिकसहायस्य—सामायिक यथाख्यातचारित्र सहाय यस्य ।

पुलाक · · ॥46॥

§. 910

363.6 अविशुद्धपुलाकसादृश्यात्—अविशुद्धतण्डुलसादृश्यात् । अविविक्तपरिवारः—असयतपरिवारः । परिपूर्णोभया —परिपूर्णमूलोत्तरगुणा । दण्डराजिवत्—दण्डरेखावत् । उद्भिद्यमानः—उत्पद्यमानः ।

सयम ··· ॥47॥

§. 912

364.5 अनुयोगैः—प्रश्नैः ।

§. 913

364.9 अभिन्नाक्षरदशपूर्वधरा —परिपूर्णदशपूर्वधराः अक्षरेणापि भिन्नानि न्यूनानि न भवन्तीति ।

§. 913

364.11 अष्टौ प्रवचनमातरः— पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकागम ।

§ 914

364.12 पञ्चाना मूलगुणाना रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद्—परोपरोधात् । श्रावकाद्युपकारोऽनेनेति मत्वा । अन्यतममेक प्रतिसेवमानो—विराधयन् । रात्रिभोजनवर्जनस्य कथ विराधनेति चेत् छात्रादिक रात्रौ भोजयन् विराधको भवति ।

§. 914

364 14 शरीरसस्कारो—अभ्यङ्गमर्दनादिः ।

§. 917

365 6 बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयो. षडपि । कृष्णलेश्यादित्रय कथ तयोरिति चेदुच्यते तयोरुपकरणासक्तिसभवादार्तध्यान कादाचित्क सभवति । आर्तध्यानेन च कृष्णलेश्यादित्रय सभवतीति । कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तराः कापोतलेश्या ततोऽप्युक्तन्यायेन बोधव्या तस्यापि सज्वलनमात्रान्तरङ्गकषायसद्भावेन परिग्रहासक्तिमात्रसद्भावात् ।

§ 919

365 12 कषायनिमित्तानि—कषायास्तरतमभावेन भिद्यन्ते इति कषायनिमित्तानीत्युच्यन्ते । तत्र तेषु असख्यातमानावच्छिन्नसयमस्थानेषु मध्ये सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि—सयमस्थानानि ।

इति नवमोऽध्याय ।

मोहक्षयात् · · ॥1॥

§ 921

367.12 अथाप्रवृत्तकरणपूर्वचारित्रम् । यदि वा अथाप्रवृत्तकरण—अथाप्रवृत्तकरणमुच्यते परिणामविशेष इत्यर्थ । कीदृशास्ते तच्छब्दवाच्या इति चेत् उच्यते—एकस्मिन्नेकस्मिन् समये एकैकजीवस्या-

सङ्ख्येयलोकमानावच्छिन्ना परिणामा भवन्ति । तत्रा-प्रमत्तादिगुणस्थाने पूर्वसमये प्रवृत्ता यादृशा परिणा-मास्तादृशा एव । अथानन्तरमुत्तरसमयेषु आसमन्तात्प्रवृत्ता विशिष्टचारित्ररूपा अथाप्रवृत्तकरणशब्द-वाच्या । अभिनवशुभाभिसंधि — धर्म्यशुक्लध्याना-भिप्राय । कषायाष्टक—अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्ट-यस्य पूर्वमेव विनष्टत्वात् मध्यमकषायाष्टकं गृह्यते । बादरकृष्टिविभागेन—स्थूलकर्मपर्यायभेदेन उपायद्वारेण फलमनुभूय निर्जीर्यमाणमुद्धरितशेषमुपहृतशक्तिक कर्म कृष्टिरित्युच्यते । घृतकृष्टिवत् । सा च द्वि-प्रकारा भवति बादरेतरविकल्पात् । 'बादर किट्टी सुहुम किट्टी इत्यभिधानात् ।' अवतारितमोहनीयभारः —स्फोटितमोहनीयभारः । अप्रतर्क्यविभूतिविशेष—अचिन्त्यविभूतिमाहात्म्यम् ।

औपशमिक ··· ॥3॥

§ 925

370.4 अन्यपारिणामिकभावसत्त्ववस्तुत्वामूर्तत्वादि ।

अन्यत्र ॥4॥

§ 927

371.1 अवशेषः —अवस्थिति ।

पूर्वप्रयोगात् ··· ॥6॥

§ 932

372 1 हेत्वर्थ' पुष्कलोऽपि—हेतुरूप प्रचुरोऽपि ।

आविद्ध ·· ॥7॥

372 12 सबन्धनिरुत्सुका—सबन्धरहिता ।

क्षेत्र ·· ॥9॥

§ 937

373 8 प्रत्युत्पन्न —ऋजुसूत्र. । भूतानुग्रहतन्त्रो—व्यवहारः । संहरण प्रति क्रोधादिवशाद्देशान्तरे नयनं संहरणम् । मनुष्यक्षेत्रे अर्धतृतीयद्वीपेषु । अव्यपदेशेन —विशेषव्यपदेशरहितेन सर्वसावद्यविरतोऽस्मीत्येवं-रूपेण सामायिकेन, ऋजुसूत्रनयापेक्षयाऽन्येनैकेन व्यव-हारनयात् पञ्चभिः परिहाररहितैश्चतुर्भिर्वा सिद्धिः । स्वयमेव ज्ञान स्वशक्तिः । ऋजुसूत्रनयादेकेन केवल-ज्ञानेन, व्यवहारनयात् पश्चात्कृतमतिश्रुतज्ञानद्वयेन मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयेण मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानत्रयेण वा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानचतुष्टयेन वा सिद्धिः । मतिश्रुतयो पूर्वं स्थित्वा पश्चात् केवलमुत्पाद्य सिद्ध्यन्तीत्येव सर्वत्र योज्यम् । तदुक्तम्—

पच्छायडेयरसिद्धे दुगतिगचदुणाण पंचचदुरयमे ।

—प्रा० सिद्धभक्ति, गा० 4 ।

अर्धचतुर्थारत्नय । तथाहि—यः षोडशवर्षे सप्त-हस्तो भविष्यति गर्भाष्टमवर्षेऽर्धचतुर्थारत्निप्रमाणो भवति । तस्य च मुक्तिरस्ति । एव कालादिविभागेऽपि कालगतिलिङ्गादिभेदेऽपि । तत्र कालस्त्रिविध उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभेदात् । तत्र सर्वत्रः स्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः । अवसर्पिणीसिद्धा विशेषा-धिकाः । अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । ऋजुसूत्रनयापेक्षया त्वेकसमये सिद्ध्यन्तीति नास्त्य-ल्पबहुत्वम् । गतिं प्रति ऋजुसूत्रनयापेक्षया सिद्धिगतौ सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । व्यवहारनयापेक्षया पुनरनन्तरमनुष्यगतौ सिद्ध्यन्तीत्यल्पबहुत्वाभावः । एकान्तरगतौ त्वस्तीति तदुच्यते—सर्वत' स्तोका स्तिर्यग्योन्यन्तरगतिसिद्धाः, मनुष्ययोन्यन्तर-गतिसिद्धाः सङ्ख्येयगुणा. । नरकयोन्यन्तरगतिसिद्धा. सङ्ख्येयगुणा । देवयोन्यन्तरगतिसिद्धा सङ्ख्येयगुणा । ऋजुसूत्रनयापेक्षयाऽवेदास्सिद्ध्यन्तीत्यल्पबहुत्वाभाव. । व्यवहारनयात् सर्वत. स्तोका नपुंसकवेदसिद्धा । स्त्रीवेदसिद्धा सङ्ख्येयगुणाः । पुंवेदसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । तदुक्तम्—

'वीस णवुंसयवेदा थीवेदा तहय होंति चालीसं ।
अडदालं पुंवेदा समयेणेगेण ते सिद्धा ।"

इत्येवमाद्यशेषतः प्रवचनादवगन्तव्यमिति ।

दशमोऽध्यायः समाप्त. ।

प्रशस्ति

ज्ञानस्वच्छजलस्सुरत्ननिचयश्चारित्रवीचिचय-
सिद्धान्तादि-समस्तशास्त्रजलधि. श्रीपद्मनन्दिप्रभुः।
तच्छिष्यान्निखिलप्रबोधजनन तत्त्वार्थवृत्तेः पद
सुव्यक्तं परमागमार्थविषय जात प्रभाचन्द्रत ॥

श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालय ।
प्रभाचन्द्रश्चिर जीयात् पादपूज्यपदे रत ॥

मुनीन्दुर्नन्दितादिन्दन्निजमानन्दमन्दिरम् ।
सुधाधारोद्गिरन्मूर्ति' काममामोदयज्जनम् ॥

इति तत्त्वार्थवृत्तिपदं समाप्तम् ।

ग्रन्थोऽयं वेणुपुरे (जैनमूडबिद्री) निवसिता 'एन नेमिराजेन'
हस्ताक्षेन मया लिखित. । रक्ताक्षि स० कार्तिक कृ०प०
सप्तम्यां तिथौ समाप्तश्चेति विरम्यते
समाप्तः ।

परिशिष्ट 3

तत्त्वार्थवृत्तिपदे उद्धृतपद्यानुक्रमणी

परिशिष्ट 4

उद्धृतवाक्य-सूचि

[सर्वार्थसिद्धिमे हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे जो गाथा, श्लोक या वाक्य उद्धृत मिलते हैं
वे किन ग्रन्थो के हैं या किन ग्रन्थोंके अग वन गये हैं यहाँ उन ग्रन्थोंके
नाम निर्देशके साथ यह सूची दी जा रही है ।]

परिशिष्ट 5

शब्दानुक्रमणिका

क्ष

ख

ग

ब

भ

ह